'कल्याण'के सम्मान्य ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१-'कल्याण'के ६२वे वर्ष (सन् १९८८ ई०) का यह विशेषाङ्क 'शिक्षाङ्क' पाठकोकी सेवामे प्रस्तुत है । इसमे ४७२ पृष्ठोमे पाठ्यसामग्री और ८ पृष्ठोमे सूची आदि है । कई बहुरंगे तथा सादे चित्र भी यथास्थान दिये गये है ।

२-जिन ग्राहकोसे शुल्क-राशि अग्रिम मनीआर्डरद्वारा प्राप्त हो चुकी है, उन्हे 'विशेषाङ्क' फरवरी-अङ्कके सहित रजिस्ट्रीद्वारा भेजे जा रहे है तथा जिनसे शुल्क-राशि प्राप्त नहीं हुई है, उन्हे अङ्क बचनेपर ही ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार वी० पी० पी० द्वारा भेजा जा सकेगा । रजिस्ट्रीकी अपेक्षा वी० पी० पी० द्वारा 'विशेषाङ्क' भेजनेमे डाकखर्च अधिक लगता है, अतः ग्राहक महानुभावोसे विनम्र अनुरोध है कि वे वी० पी० पी० की प्रतीक्षा और अपेक्षा न करके अपने तथा 'कल्याण'के हितमे वार्षिक शुल्क-राशि कृपया मनीआर्डरद्वारा ही भेजे । 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क डाकखर्चसहित ३८.०० (अड़तीस) रु० मात्र है, जो मात्र विशेषाङ्कका ही मूल्य है ।

३-ग्राहक सज्जन कृपया मनीआर्डर-कूपनपर अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखे । ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोमे लिखा जा सकता है, जिससे आपकी सेवामे 'शिक्षाङ्क' नयी ग्राहक-संख्याके क्रमसे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्याके क्रमसे इसकी वी० पी० पी० भी जा सकती है । ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप शुल्क-राशि मनीआर्डरसे भेज दे और उसके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० पी० भी चली जाय । ऐसी स्थितिमे आपसे प्रार्थना है कि आप कृपया वी० पी० पी० लौटाये नहीं, अपितु प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर वी० पी० पी० से भेजे गये 'कल्याण'अङ्क उन्हे दे दे और उनका नाम तथा पूरा पता सुस्पष्ट, सुवाच्य लिपिमे लिखकर हमारे कार्यालयको भेजनेका अनुग्रह करे । आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका अपना 'कल्याण' व्यर्थ डाक-व्ययकी हानिसे तो बचेगा ही, इस प्रकार आप भी 'कल्याण'के पावन प्रचारमे सहायक एवं सहयोगी बनकर पुण्यके भागी होगे ।

४-विशेषाङ्क 'शिक्षाङ्क'के साथमे 'फरवरी' १९८८का दूसरा अङ्क भी ग्राहकोकी सेवामे (शीघ्र और सुरक्षित पहुँचानेकी दृष्टिसे) रजिस्टर्ड-पोस्टसे भेजा जा रहा है । यद्यपि यथाशक्य तत्परता और शीघ्रता करनेपर भी सभी ग्राहकोको अङ्क भेजनेमे अनुमानतः ६-७ सप्ताह तो लग ही सकते है, तथापि विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार ही भेजनेकी प्रक्रिया होनेसे किन्हीं महानुभावोको अङ्क कुछ विलम्बसे मिले तो वे अपरिहार्य कारण समझकर कृपया हमे क्षमा करेगे ।

५-विशेषाङ्कके लिफाफे (या रैपर) पर आपकी जो ग्राहक-संख्या लिखी गयी है, उसे आप कृपया पूर्ण सावधानीसे नोट कर ले । रजिस्ट्री या वी० पी० पी० का नंबर भी नोट कर लेना चाहिये, जिससे आवश्यकतानुसार पत्राचारके समय उल्लेख किया जा सके । इससे कार्यकी सम्पन्नतामें शीघ्रता एवं सुविधा होगी एवं कार्यालयकी शक्ति और समय व्यर्थ नष्ट होनेसे बचेगे ।

६-'कल्याण'-व्यवस्था-विभाग एवं 'गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभाग'को अलग-अलग समझकर सम्बन्धित पत्र, पार्सल, पैकेट, मनीआर्डर, बीमा आदि पृथक्-पृथक् पतोपर भेजने चाहिये । पतेके स्थानपर केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुरके साथ पिनकोड सं०-२७३००५ भी अवश्य लिखना चाहिये ।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन-२७३००५
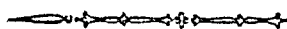
श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस दोनो विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थरत्न हैं । इनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोंमे अपना कल्याण-साधन कर सकता है । इनके स्वाध्यायमे वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था आदि कोई भी बाधक नहीं है । आजके समयमे इन दिव्य ग्रन्थोके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है । अतः धर्मपरायण जनताको इन कल्याणमय ग्रन्थोमे प्रतिपादित सिद्धान्तो एवं विचारोसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघकी स्थापना की गयी है । इसके सदस्योकी संख्या इस समय लगभग बावन हजार है । इसमे श्रीगीताके छः प्रकारके और श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके सदस्य बनाये गये है । इसके अतिरिक्त उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी पूजा अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योकी श्रेणी भी है । इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन तथा उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है । सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है । इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगवाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करे एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमे सम्मिलित होकर अपने जीवनका कल्याणमय पथ प्रशस्त करे ।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, *पत्रालय*—स्वर्गाश्रम—२४९३०४ (वाया-ऋषिकेश), *जिला*—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्म-विकासपर ही अवलम्बित है । आत्म-विकासके लिये जीवनमे सत्यता, सरलता, निष्कपटता, सदाचार, भगवत्परायणता आदि दैवी गुणोका ग्रहण और असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, हिंसा आदि आसुरी गुणोका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ और सरल उपाय है । मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ४० वर्षपूर्व 'साधक-संघ'की स्थापना की गयी थी । इसका सदस्यता-शुल्क नहीं है । सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये । सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम बने है । प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको (इधरमे डाक-खर्चमे विशेष वृद्धि हो जानेके कारण साधक-दैनन्दिनीका मूल्य ०.४५पैसे तथा डाकखर्च०.३०पैसे) मात्र ०.७५पैसे डाकटिकट या मनीआर्डरद्वारा अग्रिम भेजकर उन्हे मँगवा लेना चाहिये । साधक उस दैनन्दिनीमे प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते है । विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगवाइये ।

पता—*संयोजक*, 'साधक-संघ' द्वारा—'कल्याण' सम्पादन-विभाग, *पत्रालय*—गीताप्रेस, *जनपद*—गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस दोनों मङ्गलमय एवं दिव्यतम ग्रन्थ है । इनमे मानवमात्रको अपनी समस्याओका समाधान मिल जाता है तथा जीवनमे अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है । प्रायः सम्पूर्ण विश्वमे इन अमूल्य ग्रन्थोका समादर है और करोड़ो मनुष्योने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है । इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक परिष्कृत करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओका प्रबन्ध किया गया है । दोनो ग्रन्थोकी परीक्षाओंमे बैठनेवाले लगभग बीस हजार परीक्षार्थियोके लिये ४०० (चार सौ) परीक्षा-केन्द्रोकी व्यवस्था है । नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार करे—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, *पत्रालय*—स्वर्गाश्रम, पिन—२४९३०४ (वाया-ऋषिकेश), *जनपद*—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

'शिक्षाङ्क' की विषय-सूची

प्राचीन भारतकी शिक्षा—

प्राच्य शिक्षा—

भारतीय शिक्षा-पद्धति—

गुरु-शिष्य—

विविध शिक्षा—

चित्र-सूची

(बहुरंगे चित्र)

इकरंगे (सादे चित्र)

—०—

शिक्षाकी अधिष्ठात्री भगवती सरस्वती

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

विद्या नाम नरस्य कीर्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रयो धेनुः कामदुघा रतिश्च विरहे नेत्रं तृतीयं च सा।
सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नैर्विना भूषणं तस्मादन्यमुपेक्ष्य सर्वविषयं विद्याधिकारं कुरु॥

वर्ष ६२ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१३, जनवरी १९८८ ई० { संख्या १
पूर्ण संख्या ७३४

भगवती सरस्वतीकी वन्दना

हंसारूढा हरहसितहारेन्दुकुन्दावदाता
वाणी मन्दस्मिततरमुखी मौलिबद्धेन्दुलेखा।
विद्यावीणामृतमयघटाक्षस्रजा दीप्तहस्ता
श्वेताब्जस्था भवदभिमतप्राप्तये भारती स्यात्॥

जो हंसपर सवार है, शिवजीके अट्टहास, हार, चन्द्रमा और कुन्दके समान उज्ज्वल वर्णवाली है तथा वाणीस्वरूपा हैं, जिनका मुख मन्द-मुसकानसे सुशोभित है और मस्तक चन्द्ररेखासे विभूषित है तथा जिनके हाथ पुस्तक, वीणा, अमृतमय घट और अक्षमालासे उद्दीप्त हो रहे हैं, जो श्वेत कमलपर आसीन है, वे सरस्वती देवी आपलोगोंकी अभीष्ट-सिद्धि करनेवाली हो।

स्वस्त्ययन

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

गुरुके यहाँ अध्ययन करनेवाले छात्र अपने गुरु, सहपाठियो तथा मानवमात्रका कल्याण-चिन्तन करते हुए देवताओसे प्रार्थना करते हैं—'देवगण। हम अपने कानोसे शुभ—कल्याणकारी वचन ही सुनें। निन्दा, चुगली, गाली या दूसरी-दूसरी पापकी बाते हमारे कानोमे न पड़े। हमारा जीवन यजन-परायण हो—हम सदा भगवान्‌की आराधनामें ही लगे रहे। नेत्रोसे हम सदा कल्याणका दर्शन करें। किसी अमङ्गलकारी अथवा पतनकी ओर ले जानेवाले दृश्यकी ओर हमारी दृष्टिका आकर्षण कभी न हो। हमारे शरीरके एक-एक अवयव सुदृढ़ एव सुपुष्ट हो, हम उनके द्वारा आप सबका स्तवन करते रहे। हमारी आयु भोग-विलास या प्रमादमे न बीतकर आपलोगोकी सेवामे व्यतीत हो। जिनका सुयश सब ओर फैला है, वे देवराज इन्द्र, सर्वज्ञ पूषा, अरिष्टनिवारक तार्क्ष्य (गरुड) और बुद्धिके स्वामी बृहस्पति— ये सभी देवता भगवान्‌की दिव्य विभूतियाँ हैं। ये सदा हमारे कल्याणका पोषण करे। इनकी कृपासे हमारे सहित प्राणिमात्रका कल्याण होता रहे। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सभी प्रकारके तापोंकी शान्ति हो।'

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

हे परमात्मन्। आप हम गुरु-शिष्य दोनोकी साथ-साथ सब प्रकारसे रक्षा करे, हम दोनोका आप साथ-साथ समुचितरूपसे पालन-पोषण करे, हम दोनों साथ-ही-साथ सब प्रकारसे बल प्राप्त करे, हम दोनोकी अध्ययन की हुई विद्या तेजस्विनी हो—हम कही किसीसे विद्यामे परास्त न हों और हम दोनो जीवनभर परस्पर स्नेह-सूत्रसे बँधे रहे, हमारे अंदर परस्पर कभी द्वेष न हो। हम दोनोके तीनो तापोंकी निवृत्ति हो।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

हे परमात्मन्! मेरे सारे अङ्ग, वाणी, नेत्र, श्रोत्र आदि सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणसमूह, शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा ओज—सब पुष्टि एवं वृद्धिको प्राप्त हो। उपनिषदोमे सर्वरूप ब्रह्मका जो स्वरूप वर्णित है, उसे मैं कभी अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म भी मेरा कभी परित्याग न करे। मुझे सदा अपनाये रखे। मेरे साथ ब्रह्मका और ब्रह्मके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध बना रहे। उपनिषदोमे जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है, वे सारे धर्म उपनिषदोके एकमात्र लक्ष्य परब्रह्म परमात्मामे निरन्तर लगे हुए मुझ साधकमे सदा प्रकाशित रहे, मुझमे नित्य-निरन्तर बने रहे और मेरे त्रिविध तापोकी निवृत्ति हो।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

श्रीसिद्धसरस्वती-स्तोत्र-मन्त्र-पाठ

भारतीय शास्त्रोंके अनुसार अपने अभ्युदय और कल्याणके लिये लौकिक पुरुषार्थके साथ-साथ दैवी पुरुषार्थका भी महत्त्व है । बुद्धिकी अधिष्ठात्री भगवती सरस्वतीकी कृपासे ही मूढ़ताका अपोहन होकर सद्बुद्धि, सत्-शिक्षा, वाग्विलास और वास्तविक ज्ञानकी उपलब्धि होती है । श्रेयार्थीको साधनाकी परम आवश्यकता है ।

यहाँ जिज्ञासु शिक्षार्थीके लिये सिद्ध-सरस्वती-मन्त्र-स्तोत्रका प्रयोग प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसे परमगुरु साक्षात् भगवान् सदाशिवसे प्राप्त हुआ मानकर सम्यक्‌रूपसे नियमित अनुष्ठान करनेपर भगवती सरस्वतीकी प्रसन्नता निश्चितरूपसे प्राप्त होती है ।

प्रयोग-विधि

प्रात काल स्नान-सध्यासे निवृत्त होकर उत्तराभिमुख या पूर्वाभिमुख आसनपर बैठकर सर्वप्रथम निम्नलिखित मन्त्रोसे आचमन करे—

ॐ ऐं आत्मतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा ।
ॐ क्लीं विद्यातत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा ।
ॐ सौ शिवतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा ।
ॐ ऐं क्लीं सौं सर्वतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा ।

संकल्प—ॐ अद्य ······ गोत्रोत्पन्नोऽहं ········ नामाऽहं मम कायिकवाचिकमानसिक ज्ञाताज्ञातसकल-दोषपरिहारार्थं श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तफलप्राप्त्यर्थं परमेश्वरीभगवतीसरस्वतीप्रसादसिद्ध्यर्थं सिद्धसरस्वती-बीजमन्त्रस्य जपं सरस्वतीस्तोत्रपाठं च करिष्ये ।

विनियोग—ॐ अस्य श्रीसिद्धसरस्वतीस्तोत्रमन्त्रस्य भगवान् सनत्कुमार ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, श्रीसिद्धसरस्वती देवता, ऐं बीजम्, वदवदेति शक्तिः, सर्वविद्याप्रपन्नायेति कीलकम्, मम वाग्विलाससिद्ध्यर्थं जपे विनियोगः ।

करन्यास

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
ॐ ऐं श्रीं ह्रीं तर्जनीभ्यां नमः ।
ॐ क्लां क्लीं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः ।
ॐ श्रां श्रीं श्रूं अनामिकाभ्यां नमः ।
ॐ आं ह्रीं क्रौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।
ॐ ध्रां ध्रीं ध्रूं करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।
ॐ हूं अस्त्राय फट् ।
रं रं इत्यग्निप्रकारान् मूलेन व्यापकं कृत्वा सौ सरस्वतीयोगपीठासनाय नमः ।

ध्यान

दोर्भिर्युक्ताश्चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।
या सा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमाना समाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥

जो चार हाथोसे सुशोभित है और उन हाथोमे क्रमश· स्फटिकमणिकी बनी हुई अक्षमाला, श्वेत कमल, शुक और पुस्तक धारण किये हुए है तथा जो कुन्द, चन्द्रमा, शङ्ख और स्फटिक मणिके सदृश देदीप्यमान होती हुई समान रूपवाली है, वे ही ये वाग्देवता सरस्वती परम प्रसन्न होकर सर्वदा मेरे मुखमे निवास करे ।

आरूढा श्वेतहंसे भ्रमति च गगने दक्षिणे चाक्षसूत्रं
वामे हस्ते च दिव्याम्बरकनकमयं पुस्तकं ज्ञानगम्या ।
सा वीणां वादयन्ती स्वकरकरजपैः शास्त्रविज्ञानशब्दैः
क्रीडन्ती दिव्यरूपा करकमलधरा भारती सुप्रसन्ना ॥

श्वेतपद्मासना देवी श्वेतगन्धानुलेपना ।
अर्चिता मुनिभिः सर्वैर्ऋषिभिः स्तूयते सदा ॥
एवं ध्यात्वा सदा देवीं वाञ्छितं लभते नरः ॥

जो श्वेत हंसपर सवार होकर आकाशमे विचरण करती हैं, जिनके दाहिने हाथमे अक्षसूत्र और बायें हाथमे दिव्य स्वर्णमय वस्त्रसे आवेष्टित पुस्तक शोभित है, जो वीणा बजाती हुई क्रीडा करती है और अपने हाथकी करमालासे शास्त्रजन्य विज्ञानशब्दोंका जप करती रहती है, जिनका दिव्य रूप है, जो ज्ञानगम्या है, हाथमे कमल धारण करती है और श्वेत कमलपर आसीन है, जिनके

शरीरमे श्वेत चन्दनका अनुलेप लगता है, मुनिगण जिनकी अर्चना करते है तथा सभी ऋषि सदा जिनका स्तवन करते हैं, वे सरस्वतीदेवी मुझपर परम प्रसन्न हों । इस प्रकार सदा देवीका ध्यान करके मनुष्य मनोवाञ्छित फल प्राप्त कर लेता है ।

भगवती सरस्वतीका पञ्चोपचार मानस-पूजन

(१) ॐ लं पृथ्व्यात्मकं गन्धं परिकल्पयामि ।
(मैं पृथ्वीरूप गन्ध (चन्दन) अर्पित करता हूँ ।)

(२) ॐ हं आकाशात्मकं पुष्पं परिकल्पयामि ।
(आकाशरूप पुष्प अर्पित करता हूँ ।)

(३) ॐ यं वाय्वात्मकं धूपं परिकल्पयामि ।
(वायुदेवके रूपमे धूप प्रदान करता हूँ ।)

(४) ॐ रं वह्न्यात्मकं दीपं दर्शयामि ।
(अग्निदेवके रूपमे दीपक प्रदान करता हूँ ।)

(५) ॐ सौ सर्वात्मकं सर्वोपचारं परिकल्पयामि ।
(सर्वात्माके रूपमे संसारके सभी उपचार भगवतीके चरणोमे समर्पित करता हूँ ।)

इस प्रकार चतुर्भुजा वीणापाणि भगवती सरस्वतीका मानसिक ध्यान करते हुए मानसपूजा करनी चाहिये । इसके अनन्तर योनि-मुद्रा प्रदर्शित करे ।

तदनन्तर भगवतीके बीजमन्त्रका नीचे लिखे अनुसार एकमाला जप करना चाहिये । (कभी समयकी कमी हो तो कम-से-कम २१ मन्त्रका जप अवश्य करना चाहिये ।)

'ॐ ऐ क्लीं सौ ह्रीं श्रीं ध्रीं वदवद वाग्वादिनी सौ क्लीं ऐ श्रीसरस्वत्यै नमः ।'

जपके अनन्तर **'अनेन जपकृतेन सरस्वती देवता प्रीयतां न मम ।'**—इस मन्त्रसे जल छोड़ना चाहिये । इसके अनन्तर निम्नलिखित स्तोत्रका पाठ करना चाहिये—

विनियोग

ॐ अस्य श्रीसिद्धसरस्वतीस्तोत्रमन्त्रस्य मार्कण्डेय ऋषिः, स्त्रग्धरा अनुष्टुप् छन्दः, मम वाग्विलाससिद्ध्यर्थ पाठे विनियोगः ।

शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीं
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम् ।
हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थितां
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम् ॥

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा॥

ह्रीं ह्रीं हृद्यैकबीजे शशिरुचिकमले कल्पविस्पष्टशोभे
भव्ये भव्यानुकूले कुमतिवनदवे विश्ववन्द्याङ्घ्रिपद्मे ।
पद्मे पद्मोपविष्टे प्रणतजनमनोमोदसम्पादयित्रि
प्रोत्फुल्लज्ञानकूटे हरिनिजदयिते देवि संसारसारे॥

ऐं ऐं ऐं इष्टमन्त्रे कमलभवमुखाम्भोजभूते स्वरूपे
रूपारूपप्रकाशे सकलगुणमये निर्गुणे निर्विकारे ।
न स्थूले नैव सूक्ष्मेऽप्यविदितविभवे नापि विज्ञानतत्त्वे
विश्वे विश्वान्तरात्मे सुरवरनमिते निष्कले नित्यशुद्धे॥

ह्रीं ह्रीं ह्रीं जाप्यतुष्टे हिमरुचिमुकुटे वल्लकीव्यग्रहस्ते
मातर्मातर्नमस्ते दह दह जडतां देहि बुद्धिं प्रशस्ताम् ।
विद्ये वेदान्तवेद्ये परिणतपठिते मोक्षदे मुक्तिमार्गे
मार्गातीतस्वरूपे भव मम वरदा शारदे शुभ्रहारे ॥

धीं धीं धीं धारणाख्ये धृतिमतिनतिभिर्नामभिः कीर्तनीये
नित्येऽनित्ये निमित्ते मुनिगणनमिते नूतने वै पुराणे ।
पुण्ये पुण्यप्रवाहे हरिहरनमिते नित्यशुद्धे सुवर्णे
मातर्मात्रार्धतत्त्वे मतिमतिमतिदे माधवप्रीतिमोदे॥

ह्रूं ह्रूं ह्रूं स्वस्वरूपे दह दह दुरितं पुस्तकव्यग्रहस्ते
संतुष्टाकारचित्ते स्मितमुखि सुभगे जृम्भिणि स्तम्भविद्ये ।
मोहे मुग्धप्रवाहे कुरु मम विमतिध्वान्तविध्वंसमीडे
गीर्गौर्वाग्भारति त्वं कविवररसनासिद्धिदे सिद्धिसाध्ये ॥

स्तौमि त्वां त्वां च वन्दे मम खलु रसनां नो कदाचित्त्यजेथा
मा मे बुद्धिर्विरुद्धा भवतु न च मनो देवि मे यातु पापम् ।
मा मे दुःखं कदाचित्क्वचिदपि विषयेऽप्यस्तु मे नाकुलत्वं
शास्त्रे वादे कवित्वे प्रसरतु मम धीर्माऽस्तु कुण्ठा कदापि ॥

इत्येतैः श्लोकमुख्यैः प्रतिदिनमुषसि स्तौति यो भक्तिनम्रो
वाणी वाचस्पतेरप्यविदितविभवो वाक्पटुर्मृष्टकण्ठः ।

स स्यादिष्टार्थलाभैः सुतमिव सततं पाति तं सा च देवी
सौभाग्यं तस्य लोके प्रभवति कविता विघ्नमस्तं प्रयाति ॥
निर्विघ्नं तस्य विद्या प्रभवति सततं चाश्रुतग्रन्थबोधः
कीर्तिस्त्रैलोक्यमध्ये निवसति वदने शारदा तस्य साक्षात्।
दीर्घायुर्लोकपूज्यः सकलगुणनिधिः संततं राजमान्यो
वाग्देव्याःसम्प्रसादात् त्रिजगति विजयी जायते सत्सभासु॥
ब्रह्मचारी व्रती मौनी त्रयोदश्यां निरामिषः।
सारस्वतो जनः पाठात् सकृदिष्टार्थलाभवान् ॥
पक्षद्वये त्रयोदश्यामेकविंशतिसंख्यया ।
अविच्छिन्नः पठेद्धीमान् ध्यात्वा देवीं सरस्वतीम् ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः सुभगो लोकविश्रुतः ।
वाञ्छितं फलमाप्नोति लोकेऽस्मिन् नात्र संशयः ॥
ब्रह्मणेति स्वयं प्रोक्तं सरस्वत्याः स्तवं शुभम् ।
प्रयत्नेन पठेन्नित्यं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मणा विरचितं सरस्वतीस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

नीलसरस्वतीस्तोत्रम्

।। श्रीगणेशाय नमः ॥

घोररूपे महारावे सर्वशत्रुभयंकरि ।
भक्तेभ्यो वरदे देवि त्राहि मां शरणागतम् ॥ १ ॥
ॐ सुरासुरार्चिते देवि सिद्धगन्धर्वसेविते ।
जाड्यपापहरे देवि त्राहि मां शरणागतम् ॥ २ ॥
जटाजूटसमायुक्ते लोलजिह्वान्तकारिणि ।
द्रुतबुद्धिकरे देवि त्राहि मां शरणागतम् ॥ ३ ॥
सौम्यक्रोधधरे रूपे चण्डरूपे नमोऽस्तु ते ।
सृष्टिरूपे नमस्तुभ्यं त्राहि मां शरणागतम् ॥ ४ ॥
जडानां जडतां हन्ति भक्तानां भक्तवत्सला । ५ ॥
मूढतां हर मे देवि त्राहि मां शरणागतम् ॥५॥
वं ह्रूं ह्रूं कामये देवि बलिहोमप्रिये नमः ।
उग्रतारे नमो नित्यं त्राहि मां शरणागतम् ॥ ६ ॥
बुद्धिं देहि यशो देहि कवित्वं देहि देहि मे ।
मूढत्वं च हरेद् देवि त्राहि मां शरणागतम् ॥ ७ ॥
इन्द्रादिविलसद्द्वन्द्ववन्दिते करुणामयि ।
तारे ताराधिनाथास्ये त्राहि मां शरणागतम् ॥ ८ ॥
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां नवम्यां यः पठेन्नरः ।
षण्मासैः सिद्धिमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ ९ ॥
मोक्षार्थी लभते मोक्षं धनार्थी लभते धनम् ।
विद्यार्थी लभते विद्यां तर्कव्याकरणादिकम् ॥ १० ॥
इदं स्तोत्रं पठेद्यस्तु सततं श्रद्धयाऽन्वितः ।
तस्य शत्रुः क्षयं याति महाप्रज्ञा प्रजायते ॥ ११ ॥
पीडायां वापि संग्रामे जाड्ये दाने तथा भये ।
य इदं पठति स्तोत्रं शुभं तस्य न संशयः ॥ १२ ॥
इति प्रणम्य स्तुत्वा च योनिमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥ १३ ॥

।। इति नीलसरस्वतीस्तोत्रम् ॥

वीणाधरे विपुलमङ्गलदानशीले भक्तार्तिनाशिनि विरञ्चिहरीशवन्द्ये ।
कीर्तिप्रदेऽखिलमनोरथदे महार्हे विद्याप्रदायिनि सरस्वति नौमि नित्यम् ॥
श्वेताब्जपूर्णविमलासनसंस्थिते हे श्वेताम्बरावृतमनोहरमञ्जुगात्रे ।
उद्यन्मनोज्ञसितपङ्कजमञ्जुलास्ये विद्याप्रदायिनि सरस्वति नौमि नित्यम् ॥

वैदिक बाल-प्रार्थना

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद् भद्रं तन्न आसुव ॥ (यजु० ३० । ३)

दिव्य-गुण-धारी जगके जनक, दुरित-दल सकल भगा दो दूर ।
किंतु जो करे आत्म-कल्याण, उसीको भर दो प्रभु ! भरपूर ॥

ॐ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ (यजु० ४० । १६)

सुपथपर प्रभु ! हमको ले चलो, प्राप्त हो संतत ध्रुव कल्याण ।
सकल कृतियाँ हैं तुमको विदित, पाप-दलको कर दो म्रियमाण ॥
पुण्यकी प्रभा चमकने लगे, पापका हो न लेश भी शेष ।
भक्तिमें भरकर तुमको नमें, सहस्रों बार परम प्राणेश ॥

ॐ असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्माऽमृतं गमय ॥ (शत० १४ । ३ । १ । ३०)

असतसे सत, तममें नव ज्योति, मृत्युसे अमृत तत्त्वकी ओर ।
हमें प्रतिपल प्रभुवर ! ले चलो, दिखाओ अरुणा करुणा-कोर ॥

ॐ उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धियावया । नमो भरन्त एमसि ॥ (ऋ० १ । १ । ७)

दिवसके प्रथम, रात्रिसे पूर्व, भक्तिसे स्वार्थ-त्यागके साथ ।
आ रहे हैं प्रतिदिन ले भेंट, तुम्हारी चरण-शरणमें नाथ ॥

ॐ त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अधा ते सुम्नमीमहे ॥ (ऋ० ८ । ९८ । ११)

हमारे जनक, हमारी जननि तुम्हीं हो, हे सुरेन्द्र सुखधाम ।
तुम्हारी स्तुतिमें रत करबद्ध, करें हम बाल विनीत प्रणाम ॥

ॐ मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः । मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥ (ऋ० १० । ५७ । १)

चलें हम कभी न सत्पथ छोड़, विभवयुत होकर तजें न त्याग ।
हमारे अंदर रहें न शत्रु, सुकृतमें रहे हमारा भाग ॥

ॐ इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् । जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥ (ऋ० २ । ४१ । १२)

सर्वदर्शक प्रभु खल-बल-दलन, विभव-सम्पन्न इन्द्र अधिराज ।
दिशा-विदिशाओंमें सर्वत्र, हमें कर दो निर्भय निर्व्याज ॥

ॐ आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररभ्मा शवसस्पते । उश्मसि त्वा सधस्थ आ ॥ (ऋ० ८ । ४५ । २०)

निखिल बल अधिपति ! मैंने आज, वृद्धकी आश्रय, लकुटि समान ।
तुम्हारा अवलम्बन है लिया, शरणमें रक्खो, हे भगवान् ॥

ॐ सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा । मर्य इव स्व ओक्ये ॥ (ऋ० १ । ९१ । १३)

मनुज अपने घरमें ज्यों रहें, चरें गौएँ ज्यों जौका खेत ।
हृदयमें रम जाओ त्यों नाथ, बना लो अपना इसे निकेत ॥

ॐ यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् । मिनीमसि द्यविद्यवि ॥ (ऋ० १ । २५ । १)

वरुण ! हम अविवेकी दिन-रात किया करते हैं जो व्रत-भङ्ग ।
समझकर अपनी संतति पिता ! उबारो हमें क्षमाके संग ॥

ॐ यद्वीळाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम् । वसु स्पार्हं तदा भर ॥ (ऋ० ८ । ४५ । ४१)

परम ऐश्वर्ययुक्त हे इन्द्र ! हमें दो ऐसा धन स्पृहणीय ।
वीर दृढ स्थिर जन चिन्तनशील बना लेते हैं जिसे स्वकीय ॥

ॐ आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात् । अग्ने त्वांकामया गिरा ॥ (ऋ० ८ । ११ । ७)

उठ रही मेरी वाणी आज, पिता ! पानेको तेरा धाम ।
अरे वह ऊँचा-ऊँचा धाम, जहाँ है जीवनका विश्राम ॥
तुम्हारे वत्सल रससे भीग, हृदयकी करुण कामना कान्त ।
खोजने चली विवश हो तुम्हें, रहेगी कबतक भवमें भ्रान्त ॥
दूर-से-दूर भले तुम रहो, खींच लायेगी किंतु समीप ।
विरत कबतक चातकसे जलद, स्वातिसे मुक्ता-भरिता सीप ? ॥
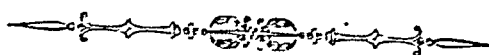
आदर्श वैदिक शिक्षा

१. सत्यं वद—सच बोलो ।

२. धर्म चर—धर्मका पालन करो ।

३. स्वाध्यायान्मा प्रमदः—स्वाध्यायमे प्रमाद मत करो ।

४. देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्—देवता और पितरोके कार्योमे प्रमाद नही करना चाहिये ।

५. मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव—माताको देवता मानो, पिताको देवता मानो, आचार्यको देवता मानो, अतिथिको देवता मानो ।

६. यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि—जो अनिन्द्य कर्म है उन्हीका सेवन करना चाहिये, दूसरोका नही ।

७. श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयादेयम्—श्रद्धापूर्वक देना चाहिये, अश्रद्धापूर्वक नही देना चाहिये ।

८. ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्यु. । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।—वहॉ जो विचारशील, कर्ममे नियुक्त, आयुक्त (स्वेच्छासे कर्मपरायण), अलूक्ष (सरलमति) एव धर्माभिलाषी ब्राह्मण हो, वे उस प्रसगमे जैसा व्यवहार करे वैसा ही तुम भी करो । इसी प्रकार जिनपर सशययुक्त दोष आरोपित किये गये हो, उनके विषयमे वहॉ जो विचारशील, नियुक्त अथवा आयुक्त (दूसरोसे प्रेरित न होकर स्वत कर्ममे परायण), सरलहृदय और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हो, वे उनके प्रति जैसा व्यवहार करे तुम भी वैसा ही करो । यह आदेश है । यह उपदेश है । यह वेदका रहस्य है और ईश्वरकी आज्ञा है । इसी प्रकार तुम्हे उपासना करनी चाहिये, ऐसा ही आचरण करना चाहिये ।

९. अन्नं न निन्द्यात् । तद् व्रतम् । प्राणो वा अन्नम् ।—अन्नकी निन्दा न करो । यह ब्रह्मयज्ञका व्रत है । प्राण ही अन्न है ।

१०. न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद् व्रतम् ।—अपने यहाँ रहनेके लिये आये हुए किसीका भी परित्याग न करो । यह व्रत है ।

११. अक्षैर्मा दीव्यः—जुआ मत खेलो ।

१२. न परस्त्रियमुपेयात्—पर-स्त्रीका सड्‌ग नही करना चाहिये ।

१३. मा हिंसीः पुरुषान् पशूंश्च—मनुष्य और पशुओको (मन-कर्म-वाणीसे) कष्ट मत दो ।

१४. मा गामनागामदितिं वधिष्ट—निरपराध उपकारी गायकी हिंसा मत करो ।

१५. न मांसमश्नीयात्—मास नही खाना चाहिये ।

१६. न सुरां पिबेत्—मद्यपान मत करो ।

१७. मा गृधः कस्य स्विद् धनम्—पराये धनका लोभ मत करो ।

१८. क्रतो स्मर । कृतँ्स्मर । क्रतो स्मर । कृतँ्स्मर ।—यज्ञादि कर्मोको याद करो । सामर्थ्यको स्मरण रखो । दूसरेके उपकारको याद रखो ।

१९. इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम् । मायया शाशदानाम् ।—इन्द्र ! जो पुरुष और स्त्री छल-कपटसे मानव-समाजका नाश करनेवाले हो तथा जो यातुधान निरपराध मनुष्योको दु ख देते हो, उनका नाश करो ।

२०. वृद्धसेवया विज्ञानम्—वृद्धोकी सेवासे दिव्य ज्ञान होता है ।

२१. भूत्यै न प्रमदितव्यम्—सम्पत्तिका दुरुपयोग नही करना चाहिये ।

२२. अस्तीत्येवोपलब्धव्यः—'ईश्वर सदा सर्वत्र है' ऐसा सोचकर उसकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिये ।

२३. स्त्रीणां भूषणं लज्जा—स्त्रियोकी शोभा लज्जा है ।

२४. विप्राणां भूषणं वेदः—ब्राह्मणोका भूषण वेद है ।

२५. सर्वस्य भूषणं धर्मः—सबका भूषण धर्म है ।

२६. सुखस्य मूलं धर्मः—सुखका मूल धर्म है ।

२७. ऋतस्य पथा प्रेत—सत्यके पथपर चलो ।

२८. असतो मा सद्गमय—मुझे असत्से सत्की ओर ले चलो ।

२९. तमसो मा ज्योतिर्गमय—मुझे तमसे प्रकाशकी ओर ले चलो ।

३०. मृत्योर्मामृतं गमय—मुझे मृत्युसे अमरताकी ओर प्रवृत्त करो ।

३१. त्यक्तेन भुञ्जीथाः—त्यागपूर्वक भोग करो ।

३२. नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च ।
नमः सर्वसहाभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः ॥
—इस मन्त्रको बोलकर प्रतिदिन गौको नमस्कार करना चाहिये ।

३३. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत—उठो, जागो और महापुरुषोसे ज्ञान प्राप्त करो ।

३४. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः—कार्य करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा रखे ।

३५. ऋतून् न निन्द्यात्, तद् व्रतम्—किसी भी ऋतुकी निन्दा न करे, यह व्रत है ।

३६. विनयस्य मूलं विनयः—विनयका मूल विनय धारण करना है ।

३७. विद्यैव सर्वम्—विद्या ही सब कुछ है ।

ऋग्वेदकी शिक्षाएँ

१-अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव । (१।९४।४)
परमेश्वर ! हम तेरे मित्रभावमे दुःखी और विनष्ट न हो ।

२-एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति । (१।१६४।४६)
उस एक प्रभुको विद्वान् लोग अनेक नामोसे पुकारते है ।

३-एको विश्वस्य भुवनस्य राजा । (६।३६।४)
वह सब लोकोका एकमात्र स्वामी है ।

४-यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति । (१।१६४।३९)
जो उस ब्रह्मको नही जानता, वह वेदसे क्या करेगा ?

५-सं गच्छध्वं सं वदध्वम् । (१०।१९१।२)
मिलकर चलो और मिलकर बोलो ।

६-शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः । (१०।१८।२)
शुद्ध और पवित्र बनो तथा परोपकारमय जीवनवाले हो ।

७-सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुः । (४।३३।६)
नरो (पुरुषो) ने सत्यका ही प्रतिपादन किया है और वैसा ही आचरण किया है ।

८-न स सखा यो न ददाति सख्ये । (१०।११७।४)
वह मित्र ही क्या, जो अपने मित्रको सहायता नही देता ?

९-सुगा ऋतस्य पन्थाः । (८।३१।१३)
सत्यका मार्ग सुखसे गमन करने योग्य है ।

१०-ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः । (९।७३।६)
सत्यके मार्गको दुष्कर्मी पार नहीं कर पाते ।

११-स्वस्ति पन्थामनु चरेम । (५।५१।१५)
हम कल्याण-मार्गके पथिक हो ।

१२-दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते । (१।१२५।६)
दानी अमर-पद प्राप्त करते है ।

१३-देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम् । (१।८९।२)
हम देवो (विद्वानो) की मैत्री करे ।

१४-समाना हृदयानि वः । (१०।१९१।४)
तुम्हारे हृदय (मन) एकसे हो ।

१५-विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् । (१।११४।१)
इस ग्राममे सब नीरोग और हृष्ट-पुष्ट हो ।

१६-सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते । (१०।१७।७)
देवपदके अभिलाषी सरस्वतीका आह्वान करते है ।

१७-न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः । (४।३३।११)

बिना स्वयं परिश्रम किये देवोकी मैत्री नहीं मिलती ।

१८-उप सर्प मातरं भूमिम् । (१०।१८।१०)

मातृभूमिकी सेवा करो ।

१९-न देवानामति व्रतं शतात्मा चन जीवति । (१०।३३।९)

देवताओके नियमको तोड़कर कोई सौ वर्ष नही जी सकता ।

२०-सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् (९।७३।१)

धर्मात्माको सत्यकी नाव पार लगाती है ।

२१-यतेमहि स्वराज्ये । (५।६६।६)

हम स्वराज्यके लिये सदा यत्न करे ।

२२-अहमिन्द्रो न पराजिग्ये । (१०।४८।५)

मै आत्मा हूँ, मुझे कोई हरा नही सकता ।

२३-भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि । (१।१२३।१३)

हे प्रभो ! हम लोगोमे सुख और कल्याणमय उत्तम सङ्कल्प, ज्ञान और कर्मको धारण कराओ ।

२४-उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः । (१०।१०१।१)

हे एक विचार और एक प्रकारके ज्ञानसे युक्त मित्रजनो ! उठो, जागो ।

२५-इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति । (८।२।१८)

देवता यज्ञकर्ता, पुरुषार्थी तथा भक्तको चाहते है, आलसीसे प्रेम नही करते ।

यजुर्वेदकी शिक्षाएँ

१-भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम । (२५।२१)

हम कानोसे सदा भद्र—मङ्गलकारी वचन ही सुने ।

२-सऽओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु । (३२।८)

वह व्यापक प्रभु सब प्रजाओमे ओतप्रोत है ।

३-शं नः कुरु प्रजाभ्यः । (३६।२२)

प्रभो ! हमारी संतानका कल्याण करो ।

४-मा गृधः कस्य स्विद् धनम् । (४०।१)

किसीके धनपर न ललचाओ ।

५-मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । (३६।१८)

हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखे ।

६-वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः । (९।२३)

हम अपने देशमे सावधान होकर पुरोहित (नेता), अगुआ बने ।

७-तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा । (३१।१९)

उस परमात्मामे ही सम्पूर्ण लोक स्थित हैं ।

८-अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्याः । (२।१०)

हमारी कामनाएँ सच्ची हो ।

९-अहमनृतात् सत्यमुपैमि । (१।५)

मै झूठसे बचकर सत्यको धारण करता हूँ ।

१०-यशः श्रीः श्रयतां मयि । (३९।४)

यश और ऐश्वर्य मुझमे हो ।

११-सुसस्याः कृषीस्कृधि । (४।१०)

अच्छे सस्यसे युक्त खेती कर ।

१२-तमेव विदित्वाति मृत्युमेति । (३१।१८)

उस ब्रह्म (प्रभु) को जानकर ही मनुष्य मृत्युको लाँघ जाता है ।

१३-भूत्यै जागरणम् । अभूत्यै स्वपनम् । (३०।१७)

जागना (ज्ञान) ऐश्वर्यप्रद है । सोना (आलस्य) दरिद्रताका मूल है ।

१४-कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । (४०।२)

मनुष्य इस संसारमे कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे ।

१५-ऋतस्य पथा प्रेत । (७।४५)

सत्यके मार्गपर चलो ।

१६-अदीनाः स्याम शरदः शतम् । (३६।२४)

हम सौ वर्षोतक दीनतारहित होकर जीयें ।

१७-पश्येम शरदः शतम्। (३६।२४)
हम सौ वर्षोतक देखते रहें ।

१८-तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु। (६४।१)
मेरा मन उत्तम सङ्कल्पोंवाला हो ।

१९-अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः। (१९।७७)
प्रभुने झूठमें अश्रद्धाको और सत्यमें श्रद्धाको रखा है ।
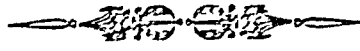
अथर्ववेदकी शिक्षाएँ

१-तस्य ते भक्तिवांसः स्याम । (६।७९।३)
हे प्रभो! हम तेरे भक्त हों ।

२-स एष एक एकवृदेक एव। (१३।५।७)
वह ईश्वर एक और सचमुच एक ही है ।

३-एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। (२।२।१)
एक परमेश्वर ही पूजाके योग्य और प्रजाओंमें स्तुत्य है ।

४-स नो मुञ्चत्वंहसः। (४।२३।१)
वह ईश्वर हमें पापसे मुक्त करे ।

५-तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः। (१०।८।४४)
उस आत्माको ही जान लेनेपर मनुष्य मृत्युसे नहीं डरता ।

६-य इत् तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः । (९।१०।१)
जो उस ब्रह्मको जान लेते हैं, वे मोक्षपद पाते हैं ।

७-सं श्रुतेन गमेमहि। (१।१।४)
हम वेदोपदेशसे युक्त हों ।

८-रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्। (७।११५।४)
पुण्यकी कमाई मेरे घरकी शोभा बढ़ाये, पापकी कमाईको मैंने नष्ट कर दिया है ।

९-प्रियं मा कृणु देवेषु। (१९।६२।१)
हे परमात्मा! मुझे ब्रह्मज्ञानी विद्वानोंमें प्यारा बनाओ ।

१०-मा जीवेभ्यः प्रमदः। (८।१।७)
प्राणियोंकी ओरसे असावधान मत हो ।

११-अयज्ञियो हतवर्चा भवति। (१२।२।३७)
यज्ञहीनका तेज नष्ट हो जाता है ।

१२-सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु । (१९।१५।६)
सभी दिशाएँ हमारे लिये हितकारिणी हों ।

१३-वयं देवानां सुमतौ स्याम। (६।४७।२)
हम विद्वान् पुरुषोंकी शुभमतिमें (उत्तम उपदेशोंके अनुसार) रहें ।

१४-वयं सर्वेषु यशसः स्याम। (६।५८।२)
हम समस्त जीवोंमें यशस्वी हों ।

१५-आ रोह तमसो ज्योतिः। (८।१।८)
अन्धकार (अविद्या) से निकलकर (ऊपर उठकर) प्रकाश (ज्ञान) की ओर बढ़ो ।

१६-यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः । (९।१०।१४)
यज्ञ ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको बाँधनेवाला नाभिस्थान है ।

१७-उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। (८।१।६)
पुरुष (मर्द)! तेरे लिये ऊपर उठना है, न कि नीचे गिरना ।

१८-मा नो द्विक्षत कश्चन। (१२।१।२४)
हमसे कोई भी द्वेष करनेवाला न हो ।

१९-सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया । (३।३०।३)
समान गति, समान कर्म, समान ज्ञान और समान नियमवाले बनकर परस्पर कल्याणी वाणीमें बोलो ।

२०-मा मा प्रापत पाप्मा मोत मृत्युः । (१७।१।२९)
मुझे पाप और मौत न व्यापे ।

२१-अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्। (६।७८।२)
मनुष्य दुग्धादि पदार्थोंसे बढ़े और राज्यसे बढ़े ।

२२-अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः । (५।३।५)
हम शरीरसे नीरोग हों और उत्तम वीर बनें ।

२३-आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। (५।३०।७)
उन्नत होना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीवका लक्ष्य है ।

२४-ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत । (११ । ७ । १९)

ब्रह्मचर्यरूपी तपोबलसे ही विद्वान् लोगोने मृत्युको जीता है ।

२५-कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः । (७ । ५२ । ८)

मेरे दाहिने हाथमे कर्म—पुरुषार्थ है और सफलता बाये हाथमे रखी हुई है ।

२६-मधुमतीं वाचमुदेयम् । (१६ । २ । २)

मै मीठी वाणी बोलूँ ।

२७-माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः । (१२ । १ । १२)

भूमि मेरी माता है और मै उस मातृभूमिका पुत्र हूँ ।

२८-सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम । (६ । ११७ । ३)

हमलोग ऋणरहित होकर परलोकके सभी मार्गोपर चले ।

२९-वाचा वदामि मधुमद् । (१ । ३४ । ३)

मै वाणीसे माधुर्ययुक्त ही बोलता हूँ ।

३०-ज्योगेव दृशेम सूर्यम् । (१ । ३१ । ४)

हम सूर्यको बहुत कालतक देखते रहे ।

३१-मा पुरा जरसो मृथाः । (५ । ३० । १७)

हे मनुष्य! तू बुढापेसे पहले मत मर ।

३२-शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । (३ । २४ । ५)

सैकडो हाथोसे इकट्ठा करो और हजारो हाथोसे बाँटो ।

३३-परैतु मृत्युरमृतं न एतु । (१८ । ३ । ६२)

मृत्यु हमसे दूर हो और अमृत-पद हमे प्राप्त हो ।

३४-सर्वमेव शमस्तु नः । (१९ । ९ । १४)

हमारे लिये सब कुछ कल्याणकारी हो ।

३५-ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति । (५ । १ । १७)

ब्रह्मचर्यरूप तपके द्वारा राजा राष्ट्रका सरक्षण करता है ।

३६-शं मे अस्त्वभयं मेऽस्तु । (१९ । ९ । १३)

मुझे कल्याणकी प्राप्ति हो और किसी प्रकारका भय न हो ।

३७-शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् । (६ । ७१ । ३)

मेरे लिये अन्न कल्याणकारी और स्वादिष्ट हो ।

उपनिषदोंकी शिक्षाएँ

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

(केन० २ । ५)

इस जीवनमे यदि परब्रह्मको जान लिया, तब तो कुशल है, नही तो महान् विनाश है । बुद्धिमान् पुरुष प्रत्येक प्राणीमे परब्रह्मको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमरत्वको प्राप्त हो जाते है ।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

(कठ० १ । २ । २४)

जिस मनुष्यने बुरे आचरणोका त्याग नही कर दिया है, जिसका मन शान्त नहीं है, जिसका चित्त एकाग्र नही है तथा जिसने मन-बुद्धिको वशमे नही कर लिया है, उसे प्रज्ञान—सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति नही हो सकती ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

(कठ० २ । ३ । १४)

जब इसके हृदयमे स्थित सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती है, तब यह मरणधर्मा मानव अमर हो जाता है और यही ब्रह्मका अनुभव करता है ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(मुण्डक० २ । २ । ८)

कार्य-कारणरूप परात्पर ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर हृदयकी अविद्यारूप ग्रन्थि टूट जाती है, समस्त सशय-सदेह कट जाते है और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते है ।

जनार्दनके अन्त.करणमे जो पूर्वजन्मके संस्कार भरे थे, वे कैसे रुक सकते थे। इसके सिवा उसके हृदयपर महात्माजीकी शिक्षाका भी पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। जनार्दन अपने समान आयुवाले लड़कोके साथ खेलता था, किंतु उसका मन खेल-तमाशो और भोग-आराममे कभी लगता नहीं था। वह जब कभी पर्यटनके लिये बाहर जाता, तब राजाके सिखाये-समझाये हुए बुद्धिमान् मन्त्री विद्यासागर सदा उसके साथ रहते थे।

जब जनार्दनकी आयु १८ वर्षकी हो गयी, तब उसका विवाह कर दिया गया और वह अपनी पत्नीके साथ रहने लगा। कुछ दिनो बाद उसकी स्त्री गर्भवती हुई। जब संतान होनेका समय आया, तब दिनमे स्त्रीको बड़ा कष्ट हुआ। उसी रातमे लडका पैदा हुआ, उस समय जर्नादन अपनी स्त्रीके पास ही था। प्रसव-कष्टको देखकर वह बहुत ही घबराया। जेर और मैलेके साथ बच्चेका पैदा होना देखकर उसे बडी ही ग्लानि हुई और उसीके साथ सहज ही वैराग्यका भाव भी प्रकट हुआ।

सबेरा होनेपर मन्त्री आ गये। सब घरवाले एकत्र हुए। रात्रिमे जनार्दनकी पत्नीकी प्रसव-वेदनाका हाल सुनकर सबको बडी चिन्ता हुई। उन्होने वैद्योको बुलाकर दिखलाया। वैद्योने कहा—'कष्ट तो लडकेको अधिक हुआ, पर कोई चिन्ताकी बात नही है।'

तब जनार्दनने मन्त्री विद्यासागरसे पूछा—'मन्त्रीजी! पैदा होते ही लड़का बहुत ही चिल्लाया और तडफड़ाया, ऐसा क्यो हुआ?'

विद्यासागर बोले—'जब बच्चा गर्भमे रहता है, तब सब द्वार बंद रहते हैं और जब वह बाहर निकलता है, तब एक बार उसे बहुत कष्ट होता है।'

जनार्दन—'यह जेर और मैला क्यो रहता है?'

विद्यासागर—'ये सब तो गर्भमे इसके साथ रहते है।'

जनार्दन—'तब तो गर्भमे बड़ा कष्ट रहता होगा?'

विद्यासागर—'इसमे क्या संदेह है। गर्भकष्ट तो भयानक होता ही है।'

जनार्दन—'गर्भमे यह कष्ट क्यों होता है?'

विद्यासागर—'पूर्वजन्मके पापोके कारण।'

जनार्दन—'पूर्वजन्म क्या होता है?'

विद्यासागर—'जीव पहले जिस मनुष्य-शरीरमे था, वह इसका पूर्वजन्म था। वहाँ इसने कोई पाप किया था, उसीके कारण इसे विशेष कष्ट हुआ।'

जनार्दन—'पाप किसे कहते है?'

विद्यासागर—'झूठ बोलना, कपट करना, चोरी करना, परस्त्रीगमन करना, मांस-मदिरा खाना, दूसरोको कष्ट पहुँचाना आदि जिन आचरणोका शास्त्रोमें निषेध किया गया है, वे सभी पाप है।'

जनार्दन—'शास्त्र क्या होते हैं?'

विद्यासागर—'श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराण आदि धर्मग्रन्थ शास्त्र है।'

जनार्दन—'अपने घरमे ये है?'

विद्यासागर—'नही।'

जनार्दन—'तो मॅगा दो मै उन्हे पढ़ूँगा।'

मन्त्री विद्यासागर चुप रहे। उन्होने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। मन्त्रीकी उपर्युक्त बातोको सुनकर जनार्दनका चित्त उदास-सा हो गया। वह गर्भ और जन्मके दु.खको समझकर मन-ही-मन चिन्ता करने लगा—'अहो! कैसा कष्ट है।' उसका प्रफुल्ल मुखकमल कुम्हला गया। उसके मुखपर विषादकी रेखा प्रत्यक्ष दिखलायी देने लगी। यह देखकर राजाने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्रिवर! राजकुमारका चेहरा उदास क्यो है?'

विद्यासागरने कहा—'लडका पैदा हुआ है, इससे इनके चित्तमें कुछ ग्लानि-सी है।'

राजा बोला—'लड़का होनेसे तो उत्साह और प्रसन्नता होनी चाहिये', फिर उन्होने जनार्दनसे पूछा—'तुम्हारे चेहरेपर उदासी क्यो है?'

जनार्दन—'ऐसे ही है।'

राजा विष्वक्सेनने फिर मन्त्रीको आदेश दिया कि इसे हवाखोरीके लिये ले जाओ और चित्तकी प्रसन्नताके लिये बाग-बागीचोमे घुमा लाओ।

विद्यासागरने वैसा ही किया। बढिया घोडोसे जुती हुई एक सुन्दर बग्गीमे बैठाकर वह उसे हवाखोरीके लिये शहरके बाहर बगीचेमे ले गया। शहरसे बाहर निकलते

ही जनार्दनकी एक गलित कुष्ठीपर दृष्टि पड़ी । उस कुष्ठग्रस्त मनुष्यके हाथकी अङ्गुलियाँ गिरी हुई थीं, पैर, कान, नाक, आँख बेडौल थे । वह लँगड़ाता हुआ चल रहा था ।

जनार्दनने पूछा—'मन्त्रीजी ! यह क्या है ?'

विद्यासागर—'यह कुष्ठरोगी है ।'

जनार्दन—'इसकी ऐसी दशा क्यो हो गयी ?'

विद्यासागर—'पूर्वजन्मके बड़े भारी पापोके कारण ।'

जनार्दन—'क्या मेरी भी यह दशा हो सकती है ?'

विद्यासागर—'परमात्मा न करे, ऐसा हो । आप तो पुण्यात्मा है ।'

जनार्दन—'हो तो सकती है न ?'

विद्यासागर—'कुमार ! जो बहुत पापी होता है, उसीके यह रोग होता है । आपके विषयमे कैसे क्या कहूँ । इतना अवश्य है कि आपके भी यदि पूर्वके बडे-बडे पाप हो तो आपकी भी यह दशा हो सकती है ।'

जनार्दन—'इन भारी-भारी पापोका तथा उनके फलोका वर्णन जिन ग्रन्थोमे हो, उन ग्रन्थोको मेरे लिये मँगवा दीजिये । मैंने पहले भी आपसे कहा था । अब शीघ्र ही मँगा दे ।'

विद्यासागर—'आपके पिताजीका आदेश होनेपर मँगवाये जा सकते है ।'

इतनेमे ही आगे एक दूसरा ऐसा मनुष्य मिला, जिसके शरीरपर झुर्रियाँ पडी हुई थी, बाल पककर सफेद हो गये थे, अङ्ग सूखे हुए थे, आँखोकी ज्योति मन्द पड़ गयी थी, कमर झुकी थी, वह लकड़ीके सहारे कुबडाकर चल रहा था, उसके हाथ-पैर काँप रहे थे एवं बार-बार कफ और खाँसीके कष्टके कारण वह बहुत तग हो रहा था । उसे देखकर राजकुमारने पूछा—'यह कौन है ?'

विद्यासागर—'यह एक नब्बे वर्षका बूढ़ा आदमी है ।'

जनार्दन—'जब मै नब्बे वर्षका हो जाऊँगा, तब क्या मेरी भी यही दशा होगी ?'

विद्यासागर—'कुमार ! आप दीर्घायु हो । मनुष्य जब वृद्ध होता है, तब सभीकी यही दशा होती है ।'

यह सुनकर राजकुमार जनार्दनको बड़ी ही चिन्ता हुई कि मेरी भी ऐसी दशा हो सकती है । इस प्रकार व्याधि तथा जरासे पीडित पुरुषोको देखकर राजकुमारके मनमे शरीरकी स्वस्थता और सुन्दरतापर अनास्था हो गयी ।

तदनन्तर लौटते समय रास्तेमे श्मशान-भूमि पडी । वहाँ एक मुर्दा तो जल रहा था और एक दूसरे मुर्देको कितने ही लोग 'राम-नाम सत्य है' पुकारते हुए मरघटकी ओर लिये जा रहे थे और कुछ मनुष्य उनके पीछे रोते हुए चल रहे थे ।

कुमारने पूछा—'यह कौन स्थान है ?'

विद्यासागर—'यह श्मशान-भूमि है ।'

जनार्दन—'यहाँ यह क्या होता है ?'

विद्यासागर—'जो आदमी मर जाता है, उसे यहाँ लाकर जलाया जाता है ।'

जनार्दन—'यह जुलूस किसका आ रहा है ? जुलूसके पीछे चलनेवाले लोग रोते क्यो हैं ?'

विद्यासागर—'मालूम होता है, किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है, उसके घरवाले श्मशान-भूमिमे उसके शवको ला रहे है । ये रोनेवाले लोग उसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते है ।'

जनार्दन—'मृत्यु और शव किसे कहते है ?'

विद्यासागर—'इस शरीरसे मन, इन्द्रिय और प्राणका निकल जाना 'मृत्यु' है । जब आदमी मर जाता है, तब उसके शरीरको 'शव' कहा जाता है और फिर घरवाले उसे यहाँ लाकर जला देते है एव फिर वापस घर चले जाते है ।'

जनार्दन—'तो फिर ये रोते क्यो है ?'

विद्यासागर—'मालूम होता है, मरनेवालेका इन सबके साथ बहुत प्रेम रहा है । अब वह पुरुष सदाके लिये इनसे बिछुड गया है, इस बिछोहके दुःखसे ये घरवाले रो रहे है ।'

जनार्दन—'क्या हम भी एक दिन मरेगे ?'

विद्यासागर—'कुमार ! ऐसा न कहे । परमात्मा आपको सौ वर्षकी आयु दे ।'

जनार्दन—'जो कुछ भी हो, पर अन्तमे एक दिन

तो मरना ही होगा न ?'

विद्यासागर—'कुमार! एक दिन तो सभीको मरना है। जो पैदा हुआ है, उसका एक दिन मरना अनिवार्य है।'

मन्त्रीके वचन सुनकर राजकुमार चिन्तामग्न हो गया। तदनन्तर आगे चलनेपर मार्गमे एक विरक्त महात्मा दिखलायी पड़े। राजकुमारने पूछा—'यह कौन है ?'

विद्यासागर— 'ये एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा हैं।'

जनार्दन— 'जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा किसे कहते है ?'

विद्यासागर—'जिन्होने भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है।'

जनार्दन—'कल्याण किसे कहते है ?'

विद्यासागर—'विवेक-वैराग्य और भजन-ध्यान आदिके साधनोद्वारा होनेवाली परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्तिको 'कल्याण' कहते हैं। कल्याणप्राप्त मनुष्यको ही 'जीवन्मुक्त महात्मा' कहते हैं। वह सदाके लिये परमात्माको प्राप्त हो जाता है और फिर वह लौटकर जन्म-मृत्युरूप असार ससारमे नहीं आता। वस्तुत संसारमे ऐसे ही पुरुषका जन्म लेना धन्य है।'

जनार्दन—'क्यो मन्त्री महोदय! क्या मैं भी ऐसा बन सकता हूँ ?'

विद्यासागर—'क्यो नहीं, जो हृदयसे चाहता है, वही बन सकता है, किंतु आप अभी बालक है, आपको तो ससारके सुख-विलास और भोग भोगने चाहिये। यह तो शेष कालकी बात है।'

जनार्दन—'तो क्या युवावस्थामे आदमी मर नही सकता ? अभी रास्तेमे जो जुलूस जाता था, उसके विषयमे तो आपने बतलाया था न कि यह जवान लड़का मर गया है ?'

विद्यासागर—'मर सकता है। पर पूर्वका कोई बडा भारी पाप होता है, तभी मनुष्य युवावस्थामे मरता है।'

जनार्दन—'तो क्या मेरे युवावस्थामे न मरनेकी कोई गारंटी है ?'

विद्यासागर—'गारटी किसीकी भी नही हो सकती। मरनेमे प्रधान कारण प्रारब्ध ही है।'

यह सुनकर राजकुमार जनार्दन बहुत ही शोकातुर हो गया और मन-ही-मन विचारने लगा कि मेरा जल्दी-से-जल्दी कल्याण कैसे हो। वह घरपर आया। उसके चेहरेपर पहलेकी अपेक्षा अधिक उदासी देखकर राजा विष्वक्सेन चिन्ता करने लगा। तीसरे दिन फिर राजकुमारकी वही अवस्था देखकर विष्वक्सेनने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्रीजी! मै देखता हूँ, राजकुमारका चेहरा नित्य मुरझाया हुआ रहता है, इसपर प्रसन्नताका कोई चिह्न नही दिखायी देता। ऐसा क्यो हो गया ?'

विद्यासागर—'राजन्! क्या कहा जाय ? तीन दिन हो गये, जबसे कुमारके पुत्र हुआ है, तभीसे इनकी यही अवस्था है।'

राजाने मन्त्रीसे पुन कहा—'इसे खूब सुख-विलास और विषयभोगमे लगाओ। इसके साथी मित्रोको समझाकर उनके साथ इसे नाटक-खेल और कौतुक-गृहोंमे ले जाओ। खानेके लिये नाना प्रकारके स्वादिष्ट पदार्थ और मेवे-मिष्ठान्न दो। सुन्दर-सुन्दर चित्ताकर्षक दृश्य दिखाओ। इत्र, फुलेल आदि इसके सिरपर छिडको। नृत्य-वाद्य आदिका आयोजन करके इसके मनको रागरगमे लगाओ।'

मन्त्रीने राजाके आज्ञानुसार सारी व्यवस्था की, किंतु सब निष्फल। राजकुमारको तो अब ससारकी कोई भी वस्तु सुखदायक प्रतीत नही होती थी। उसे सभी पदार्थ क्षणभङ्गुर, दु:खदायी और अत्यन्त रूखे प्रतीत होते थे। भोगोसे ग्लानि हो जानेसे वे त्याज्य प्रतीत होते थे। भोगोका सेवन राजकुमारको एक महान् झंझट-सा प्रतीत होता था। इत्र, फुलेल आदि उसे पेशाबके तुल्य मालूम होते थे। पुष्पोकी शय्या, पुष्प और मालाएँ तथा चन्दन उसे वैसे ही नही सुहाते थे, जैसे कफ-खाँसीके रोगीको गीले वस्त्र। वीणा-सितारका बजाना, सुनना उसके कानोको एक कोलाहल-सा प्रतीत होता था। नाटक-खेल, कौतुक-तमाशे व्यर्थके झंझट दीखने लगे। बढिया-बढिया फल, मेवे, मिष्ठान्न आदि पदार्थ ज्वराक्रान्त रोगीकी तरह अरुचिकर और बुरे मालूम देने लगे। शरीर और विषयोमें उसका तीव्र वैराग्य होनेके कारण ससारका कोई भी पदार्थ उसे सुखकर नही प्रतीत होता था। उसका कही किसी भी विषयमे कोई भी आकर्षण नहीं रह गया था।

उसके मुखमण्डलकी विशेष विषण्ण तथा चिन्तायुक्त उदासीन मुद्राको देखकर राजाने पूछा—'तीन दिन हुए, जबसे तुम्हारे लडका पैदा हुआ है, मैं तुम्हारे मुखको ग्लानियुक्त और चिन्तामग्न देख रहा हूँ, इसका क्या कारण है? हर्ष और उत्साहके अवसरपर यह ग्लानि और चिन्ता कैसी?'

जनार्दनने कहा—'पिताजी! आपका कहना सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य है। जब लड़का पैदा हुआ, तब गंदी झिल्ली और मलसे सयुक्त उसकी उत्पत्तिको देखकर तथा उसके अत्यन्त दुःखभरे रुदनको सुनकर मुझे बहुत ही दु ख तथा आश्चर्य हुआ और मैंने बड़े ही आग्रहसे मन्त्रीजीसे पूछा। मन्त्रीजीने बतलाया कि 'इसे यह कष्ट इसके पूर्वजन्मके पापोके कारण हुआ है।' यह सुनकर मुझे यह चिन्ता हुई कि यदि मैं झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, हिंसा, मांस-मदिरा आदिके सेवनरूप पाप करूँगा तो मुझे भी इसी तरह गर्भवास और जन्मका दु.ख भोगना पड़ेगा।'

राजा विष्वक्सेनने कहा—'यह सब झूठ है, कपोलकल्पना है। मरनेके बाद फिर जन्म होता ही नहीं।' तदनन्तर राजाने झिड़ककर मन्त्रीसे कहा—'क्यों जी! क्या तुमने ये सब बाते इससे कही थीं?'

मन्त्री कॉपता हुआ बोला—'सरकार! मुझसे कही गयी।'

जनार्दन कहने लगा—'आपकी आज्ञासे मन्त्रीजी मुझे हवाखोरीके लिये शहरसे बाहर ले गये थे तब मैंने मार्गमे एक कुष्ठरोगीको देखा। उसे देखकर मैं उदास हो गया और मैंने इनसे पूछा, तब पता लगा कि पूर्वके वड़े भारी पापोंके कारण यह रोग होता है।'

राजा बोला—'पाप कोई वस्तु नहीं है। यह तो इस मन्त्री-जैसे मूर्खोंकी कल्पना है। तुमने जिस कुष्ठीको देखा है, वह वैसा ही जन्मा है और वैसा ही रहेगा। तुमसे उसकी क्या तुलना? तुम जैसे हो, वैसे ही जन्मे थे और वैसे ही रहोगे।'

फिर राजाने कुपित होकर मन्त्रीसे कहा—'तुम्हारी बुद्धिपर बडी तरस आती है, तुमने इस लड़केको क्यों वहका दिया?'

मन्त्री बोला—'सरकार। इस विषयमें मैं जैसा समझता था वैसा ही कहा।'

जनार्दनने फिर कहा—'उसके बाद रास्तेमें मुझे एक अत्यन्त दुःखी बूढ़ा आदमी दिखायी दिया। मैंने पहले कभी वैसा आदमी नहीं देखा था। जानकारीके लिये मन्त्रीजीसे पूछनेपर उन्होने बतलाया कि यह वृद्ध है। जब मनुष्य बहुत बड़ी आयुका हो जाता है, तब सभीकी ऐसी ही दशा होती है। यह देखकर मुझे चिन्ता हुई कि एक दिन मेरी भी यही दशा होगी।'

राजा बोला—'नहीं, कभी नहीं। जो वृद्ध होते हैं, वे वृद्ध ही रहते हैं और जो जवान होते हैं, वे जवान ही रहते हैं।'

राजाने फिर क्रोधमे भरकर मन्त्रीसे कहा—'क्या तुम्हे यही सब शिक्षा देनेके लिये यहाँ नियुक्त किया गया था?'

मन्त्री बोला—'राजकुमारके पूछनेपर मेरी जैसी जानकारी थी, वैसा ही मेरे द्वारा कहा गया।'

राजाने कहा—'धिक्कार है तुम्हारी जानकारीको! क्या ये सब बाते बालकोसे कहनेकी होती हैं?'

फिर जनार्दन कहने लगा—'पिताजी! उसके बाद हम सब भ्रमण करके वापस लौट रहे थे, तब मैंने देखा कि बहुत-से आदमी एक मरे हुए आदमीको लेकर जला रहे हैं और सब उसके चारों ओर खड़े हैं। उसी समय मैंने देखा कि नगरसे एक जुलूस वहाँ आ रहा है। चार आदमियोंने एक किसी वस्तुको कंधोंपर उठा रखा है। कुछ लोग 'रामनाम सत्य है' चिल्ला रहे हैं और उसके पीछे-पीछे कुछ आदमी रोते चले आ रहे हैं। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मन्त्रीजीसे पूछनेपर उन्होने बतलाया कि 'किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है, इसके घरवाले इसे श्मशान-भूमिमे ला रहे हैं और ये रोनेवाले इसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते हैं। ये लोग इसके वियोगमे दुःखके कारण रो रहे हैं।' इस दृश्यको जबसे मैंने देखा, तबसे मुझे मृत्युकी चिन्ता लग रही है। मैं समझता हूँ कि जब मेरी मृत्यु होगी, तब मेरी भी यही दशा होगी।'

विष्वक्सेन बोला—'इस मूर्ख मन्त्रीकी बातपर तुम्हे ध्यान न देना चाहिये। जवान आदमीकी कभी मृत्यु हो ही नहीं सकती। इन्होने जो कुछ कहा है, सब बेसमझीकी बात है।'

फिर उसने मन्त्रीसे कहा—'क्या तुम्हे हमारे लड़केको इस प्रकार बहकाना उचित था? तुमने सचमुच मुझे बड़ा धोखा दिया।'

विद्यासागरने हाथ जोड़कर कहा—'सरकार! पूछनेपर जो बात उस समय समझमें आयी, वही कही गयी।'

जनार्दनने कहा—'उसके बाद जब हमलोगोने लौटकर शहरमे प्रवेश किया तब एक गेरुआ वस्त्रधारी पुरुष मिले। पूछनेपर मन्त्रीजीने बतलाया कि 'ये एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा हैं। इन्होने भजन-ध्यान और सत्सङ्ग-स्वाध्याय करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है, जिससे इन्हे हर समय परम शान्ति और परम आनन्द रहता है। ये भगवान्के परम धाममे चले जायँगे और फिर लौटकर कभी दुःखरूप संसारमे नहीं आयेगे। वही नित्य परम शान्ति और परम आनन्दमे मग्न होकर रहेगे। इन्हींका जन्म धन्य है।' उसी समयसे मेरे मनमे बार-बार यही आता है कि क्या कभी मैं भी ऐसा बन सकूँगा। पूछनेपर पता लगा कि ये सब बाते श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोमे लिखी हैं। अतः मैंने इन पुस्तकोंको मँगानेके लिये मन्त्रीजीसे कहा था, किंतु उन्होने उत्तर दिया कि मैं आपके पिताजीका आदेश लेकर ही मँगा सकता हूँ। अतएव पिताजी! अब ये पुस्तके मेरे लिये शीघ्र मँगवा दीजिये।'

विष्वक्सेन बोला—'बेटा! ये सब पुस्तके तुम्हारे देखने लायक नही है।'

राजाने फिर मन्त्रीसे कहा—'मालूम होता है, तुमने इन पुस्तकोके नाम बतलाकर लड़केका मस्तक बिगाड़ दिया। तुम्हारी ही शिक्षाका यह फल है, जो मेरा यह सुकुमार सुन्दर राजकुमार इतनी छोटी उम्रमे ही संसारके विषयभोगोसे विरक्त होकर रात-दिन वैराग्य और ज्ञानकी चिन्तामे डूबा रहता है। मैंने जिस उद्देश्यसे तुम्हे नियुक्त किया था, उसका विपरीत परिणाम हुआ। तुम मेरे यहाँ रहने योग्य नहीं हो। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वही जा सकते हो।'

विद्यासागर हाथ जोड़कर बोला—'सरकार! मेरी बेसमझीके कारणसे ही यह सब हुआ। लड़केने जो कुछ पूछा, मैने अपनी समझके अनुसार ठीक-ठीक कह दिया, इसके लिये आप मुझे क्षमा करे।'

विष्वक्सेनने कहा—'आग लगे तुम्हारी ऐसी समझपर। मेरा तो बसता हुआ घर ही तुमने उजाड़ दिया। मेरे यहाँ अब तुम्हारी आवश्यकता नही है।' यह कहकर उसे मन्त्रीपदसे हटा दिया।

जनार्दन बोला—'पिताजी! आप ऐसा क्यो कह रहे हैं? इसमे मन्त्रीजीका कुछ भी दोष नही है। इन्होने तो जो कुछ कहा, उचित ही कहा और वह भी मेरे पूछनेपर ही कहा। मुझमे ज्ञान, वैराग्य और भक्तिका लेशमात्र नही है। हाँ, मै चाहता हूँ कि मुझे ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी प्राप्ति हो जाय तो मैं भी जीवन्मुक्त महात्मा बनकर अपने आत्माका उद्धार कर लूँ। धन्य है उन पुरुषोको जिन्होने संसारसे विरक्त होकर परमात्माके भजन, ध्यान, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमे अपना जीवन बिताकर अपने आत्माका कल्याण कर लिया है। आप मुझे आशीर्वाद दे, जिससे इस शरीर और संसारसे विरक्त होकर मेरा मन नित्य-निरन्तर परमात्मामे ही लगा रहे।'

इसपर राजा विष्वक्सेनने राजकुमार जनार्दनको इसके विरुद्ध बहुत कुछ समझाया, परंतु उसके एक भी नहीं लगी; क्योंकि राजकुमार योगभ्रष्ट पुरुष तो था ही, मन्त्रीकी शिक्षाने भी उसके हृदयमे विशेष काम किया था। राजकुमार वैराग्यके नशेमे चूर हो गया। वह अहङ्कार और ममतासे रहित होकर संसारसे उपरत रहता हुआ परमात्माकी खोजमे जीवन बिताने लगा।

कुछ दिनो बाद जब उसे तीव्र वैराग्य और उपरति हो गयी, तब वह सहज ही राज्यकी ओरसे सर्वथा बेपरवाह होकर उन महात्माजीके पास चला गया, जिससे बाल्यावस्थामे उसने यह श्लोक सुना था—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

इस श्लोकका भाव राजकुमार जनार्दनमे अक्षरशः संघटित था। उसने भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके लिये महात्माजीसे प्रार्थना की। तब महात्माजीने उसे आश्वासन देते हुए भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा दी। उन्होने कहा—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्॥

(गीता १३।९-११)

अभिप्राय यह है कि स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्राय. इन्हींमे उसकी विशेष आसक्ति होती है। इन्द्रियोके शब्दादि साधारण विषयोंमे वैराग्य होनेपर भी इनमे छिपी आसक्ति रह जाया करती है, इसलिये मनुष्यको इनमे छिपी आसक्तिका सर्वथा अभाव करना चाहिये।

यहाँ **'अनभिष्वङ्ग'** का अर्थ है— 'ममताका अभाव।' ममत्वके कारण ही मनुष्यका स्त्री-पुत्रादिसे घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। उससे उनके सुख-दुःख और लाभ-हानिसे वह स्वयं सुखी-दुःखी होता रहता है। ममताके अभावसे ही इसका अभाव हो सकता है। इसलिये मनुष्यको इन सब पदार्थोंमे ममताका अभाव करना चाहिये।

अनुकूल व्यक्ति, क्रिया, घटना और पदार्थोका संयोग तथा प्रतिकूलताका वियोग सबको 'इष्ट' है। इसी प्रकार अनुकूलका वियोग और प्रतिकूलताका संयोग 'अनिष्ट' है। इन 'इष्ट' और 'अनिष्ट' के साथ सम्बन्ध होनेपर हर्ष-शोकादिका न होना अर्थात् अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमे राग, काम और हर्ष आदि न होना तथा प्रतिकूलके सयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके द्वेष, शोक, भय और क्रोध आदिका न होना—सदा ही निर्विकार, एकरस सम रहना—इसे इष्ट और अनिष्टकी उत्पत्तिमें 'समचित्तता' कहते हैं।

भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करने योग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं, उन्हे छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्ययोग' है। इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्मे ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करके निरन्तर भगवान्का ही भजन, ध्यान करते रहना ही 'अनन्ययोगके द्वारा भगवान्मे अव्यभिचारिणी भक्ति करना है।'

इस प्रकारकी भक्ति करनेवाले मनुष्यमे न तो स्वार्थ और अभिमानका लेश रहता है और न संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका ममत्व ही रह जाता है। संसारके साथ उसका भगवान्के सम्बन्धसे ही सम्बन्ध रहता है, किसीसे भी किसी प्रकारका स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं रहता। वह सब कुछ भगवान्का ही समझता है तथा श्रद्धा और प्रेमके साथ निष्कामभावसे निरन्तर भगवान्का ही चिन्तन करता रहता है। उसकी जो भी क्रिया होती है, वह सब भगवान्के लिये ही होती है।

साधकको सदा विविक्त देशका सेवन करना चाहिये। जहाँ किसी प्रकारका होहल्ला या भीड़-भाड़ न हो, जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी आपत्ति या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा-कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जहाँके जल-वायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोका और हिंसाका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हो—ऐसे देवालय, तपोभूमि, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन, गिरि-गुहा आदि निर्जन, एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्त देश' कहते हैं तथा ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमे निवास करना ही उसका सेवन करना है।

साधकका कभी भी प्रमादी और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेम नही होना चाहिये। यहाँ **'जनसंसदि'** पद 'प्रमादी' और 'विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोके सङ्गको साधनमे सब प्रकारसे बाधक समझकर उनसे विरक्त रहना ही उनमे प्रेम नहीं

करना है । संत, महात्मा और साधक पुरुषोका सङ्ग तो साधनमे सहायक होता है, अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ **'जनसंसदि'** पद नहीं समझना चाहिये ।

आत्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है, उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तनशील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं, वे सब अनात्मा हैं, आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है— शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे इस प्रकार आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'अध्यात्मज्ञान' है और बुद्धिमे ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उस आत्मतत्त्वका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमे नित्य स्थित रहना' है ।

तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा, क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हीकी प्राप्ति होती है । उन सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे नित्य-निरन्तर ध्यान करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है ।

इस प्रकार उपदेश देकर महात्माजी चुप हो गये । राजकुमार पात्र तो था ही, महात्माजीकी शिक्षाके अनुसार साधन करनेसे उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी ।

इधर दूसरे दिन प्रातःकाल जब राजा उठा, तब पता लगा कि राजकुमार आज रातमे महलसे निकलकर कहीं चला गया । इधर-उधर चारो ओर बडी खोज करायी गयी, किंतु कही भी पता नही लगा । तब राजा विष्वक्सेन बहुत दु:खित हो गया ।

कुछ दिनो बाद राजा उन महात्माजीका दर्शन करने गया, जिनके बतलाये हुए अनुष्ठानसे राजकुमार उत्पन्न हुआ था । राजाने महात्माजीको साष्टाङ्ग अभिवादन किया और कहा—'महाराजजी ! आपने मुझे जो लड़का दिया था, वह कई दिनोसे लापता हो गया है ।'

महात्माजीने कहा—'क्या तुम्हे पता नही, वह तो कई दिनोसे मेरे पास है । वह सदा-सर्वदा ज्ञान-ध्यानमे निमग्न रहता है । उसने तो अपने जीवनको सफल बना लिया । मैंने तो तुमसे पहले ही कहा था कि यह लडका एक बहुत उच्चकोटिका विरक्त महापुरुष बननेवाला है, वही बात आज प्रत्यक्ष हो गयी । राजन्! तुम्हारा जन्म भी धन्य है, जो तुमने ऐसे पुत्रको जन्म दिया और यह लड़का तो सौभाग्यशाली है ही ।'

राजकुमारकी इतनी शीघ्र और आशातीत उन्नति सुनकर तथा उसकी स्थितिको प्रत्यक्ष देखकर राजाको बडा ही आश्चर्य हुआ । उसे जो पुत्रके घरसे निकल जानेका दुःख था, वह सब शान्त हो गया । उसने अपना बड़ा सौभाग्य समझा ।

तदनन्तर राजाने महात्माजीसे प्रार्थना की कि मुझे ऐसा कोई उपदेश करे जिससे शरीर और संसारसे वैराग्य हो जाय । इसपर महात्माजीने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

अभिप्राय यह है कि इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ है—अन्तःकरण और इन्द्रियोद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिन्हे मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किंतु वास्तवमे जो दुःखके कारण है—उन सबमे प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना **'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्'** अर्थात् इन्द्रियोके विषयोमे वैराग्य होना है ।

मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमे जो 'अहं'- बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्म-वस्तुओमे आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहङ्कार' कहलाता है ।

जन्मका कष्ट सहज नही है । पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमे लम्बे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश सहन करने पड़ते हैं, फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमे असह्य यन्त्रणा भोगनी पडती है । नाना प्रकारकी योनियोमे बार-बार जन्म ग्रहण करनेमे ये जन्म-दुःख होते हैं । मृत्युकालमे भी महान् कष्ट होता है । जिस शरीर और घरमे आजीवन ममता रही, उसे बलात्कारसे छोडकर जाना पड़ता है । मरण-समयके निराश नेत्रोको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है । बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नही होती, इन्द्रियाँ शिथिल

और शक्तिहीन हो जाती है, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमे नित्य लालसाकी तरङ्गे उठती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है । इस अशक्त अवस्थामे जो कष्ट होता है वह बड़ा ही भयानक होता है । इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःखदायिनी होती है । शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे है, दूसरोकी अधीनता है, निरुपाय स्थिति है, यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं । इन दुःखोको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमे दुःखोको देखना है ।

यो तो एक चेतन आत्माको छोड़कर वस्तुत. संसारमे ऐसी कोई भी वस्तु नही है, जिसमे ये चारो दोष न हो । जड मकान एक दिन बनता है, यह उसका जन्म हुआ, कहींसे टूट-फूट जाता है, यह व्याधि हुई; मरम्मत करायी, इलाज हुआ; पुराना हो जाता है, बुढ़ापा आ गया; अब मरम्मत नही हो सकती । फिर जीर्ण होकर गिर जाता है, मृत्यु हो गयी । छोटी-बड़ी सभी वस्तुओकी यही अवस्था है । इस प्रकार जगत्की प्रत्येक वस्तुको ही जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधिमय देख-देखकर उनसे वैराग्य करना चाहिये ।

महात्माजीके इस सुन्दर उपदेशको सुनकर राजा अपने राजमहलपर लौट आया और उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न करने लगा । इससे थोड़े ही समयमे राजाको शरीर और संसारसे तीव्र वैराग्य हो गया । तब रानीको साथ लेकर राजा पुन. महात्माजीके पास गया और बोला—'आपके उपदेशसे मुझे बहुत लाभ हुआ । अब मेरी यह इच्छा है कि जनार्दनका युवराजपदपर अभिषेक करके मै भक्ति, ज्ञान, वैराग्यमे ही अपना शेष जीवन बिताऊँ ।' इसपर महात्माजीने जनार्दनको बुलाकर कहा—'वत्स ! तुम राज्यका काम करो, अब तुम्हें कोई भय नहीं है । अतः अब अपने पिताजीको अवकाश दो, जिससे ये भी भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण करें ।'

जनार्दन नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित था ही, वह बडी प्रसन्नतासे पिताके आज्ञानुसार राज्यकार्य करने लगा । अब रानीके सहित राजा विष्वक्सेन समय-समयपर महात्माजीका सत्सङ्ग करने लगा और उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार तत्परतासे चेष्टा भी करने लगा ।

एक दिन राजा विष्वक्सेनने महात्माजीके चरणोंमे नमस्कार करके उनसे विनय और करुणाभावपूर्वक प्रार्थना की—'महाराजजी ! मुझे भक्ति,. ज्ञान, वैराग्यकी ऐसी शिक्षा दीजिये, जिससे मेरी भी स्थिति जनार्दनकी भाँति नित्य-निरन्तर अटल हो जाय ।'

तब महात्माजीने जो शिक्षा विस्तारपूर्वक जनार्दनको दी थी, वही राजाको भी दी । महात्माजीकी शिक्षा सुनकर राजा और रानी—दोनोने श्रद्धा और प्रेमपूर्वक बड़ी लगनके साथ उनके बतालाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न किया, जिसके फलस्वरूप राजा और रानी दोनोंको ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी ।

इस कहानीसे हमलोगोको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भी शरीर और संसारसे विरक्त राजकुमार जनार्दनकी भाँति ऊपर बतलाये हुए साधनके अनुसार अपने बचे हुए जीवनको ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें लगाकर सफल बनावे ।

धर्म, अर्थ और काम एक साथ ही रहते है—इस विषयमे कोई संशय नहीं है । पर यदि धर्म किसी रास्तेसे जा रहा हो और अर्थ एवं काम किसी दूसरे रास्तेसे तो अर्थ और कामका साथ छोड़कर धर्मका ही साथ देना चाहिये । कारण, धर्म ही अर्थ और कामका नियामक है, अर्थ और काम धर्मके नियामक नहीं ।

योगिराज श्रीदेवराहा बाबाके अमृत-वचन

'सा विद्या या विमुक्तये'—संसार-सम्बन्धको छुड़ानेवाली विद्या ही सच्ची विद्या है। भक्तिहीन विद्यासे मनुष्यको कोई लाभ नही हो सकता। ज्ञान ईश्वरका आराधन करनेके लिये है।

श्रीशकराचार्यने कहा है—

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।
प्राप्ते संनिहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे॥

अर्थात् हे मूर्ख! भगवान्का बार-बार भजन कर। मृत्युके समीप आनेपर सीखी हुई सभी विद्याएँ निरर्थक हो जाती है। अत. तू भगवान्की ही शरण ले, उन्हीको पुकार। ईश्वर-भक्तिके बिना पठन-पाठन या कोई भी विद्या व्यर्थ है। विद्यासे यदि भगवद्भक्ति न जाग्रत् हो तो केवल श्रम ही रह जाता है। विद्याका फल मोक्ष है, धन नही, जीवके जीवनकी पूर्ण सफलता ईश्वर-प्राप्ति है। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

बिद्या बिनु बिबेक उपजाएँ। श्रम फल पढे किएँ अरु पाएँ॥
(रा० च० मा० ३।२०।९)

गोविन्द भगवान्के प्रति एकान्त भक्ति करना और चराचर समस्त प्राणियोमे भगवान् है—ऐसी भावना करना ही समस्त शास्त्रादिके अध्ययनका सार है—

भगवान् वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः।
एतज्ज्ञानं हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम्॥
(श्रीमद्भा०)

मौक्तिकोपनिषद्मे कहा है—

अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
आत्मानं नैव जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा॥
(२।१।६५)

कुछ लोग चारो वेद और अनेक धर्मशास्त्रोको पढते है, परंतु अपने स्वरूपको जानकर सत्याचरण नही करते, तो वे कडछीके समान है, जो नित्य अनेक बार दाल-सब्जियोमे जाती है, परंतु उसका स्वाद नही जानती।

भारतवर्ष तत्त्वज्ञानमे समग्र विश्वके लिये गुरुस्थानीय था। वही भारतवर्ष आज अनाचार और दुराचारमे सर्वोपरि हो रहा है। इसका मूल कारण शास्त्रानुकूल शिक्षाका अभाव ही है।

हम जैसे है या बनेगे, हमारे बच्चे भी उसी अनुरूप होगे। अत यदि देशकी भावी प्रगति अभीष्ट है और राष्ट्रका चरित्र उज्ज्वल बनाना है तो आजके शिक्षणमे सुधार लानेकी नितान्त आवश्यकता है। इस क्षेत्रकी त्रुटियोमे सुधार करनेके लिये प्रयत्न करना प्रत्येक शिक्षाप्रेमी तथा देशभक्तका परम कर्तव्य है। जिस शिक्षासे मनुष्यका चारित्रिक उत्कर्ष न हो, वह भक्तिशील न बने, वह शिक्षा अधूरी है।

[प्रेषक— श्रीमदनजी शर्मा शास्त्री]

उपदेशका सार-तत्त्व

तन्नामरूपचरितादिसुकीर्तनानुस्मृत्योः क्रमेण रसनामनसी नियोज्य।
तिष्ठन् व्रजे तदनुरागिजनानुगामी कालं नयेदखिलमित्युपदेशसारम्॥

(उपदेशामृत ८)

श्रीकृष्णके नाम, रूप, चरितादिकोके कीर्तन और स्मरणमे क्रमसे रसना और मनको लगा दे—जिह्वासे श्रीकृष्ण-नाम रटता रहे और मनसे उनकी लीलाओका स्मरण करता रहे तथा श्रीकृष्णके अनन्यभक्तोका दास होकर व्रजमे निवास करते हुए अपने जीवनके सम्पूर्ण कालको व्यतीत करे। यही सारे उपदेशोका सार है।

वर्तमान शिक्षा

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

आर्यसभ्यताके अनुसार शिक्षाका उद्देश्य है उसके द्वारा इहलोकमे सर्वाङ्गीण (शारीरिक, मानसिक, साम्पत्तिक और नैतिक) अभ्युदय और परलोकमे परम निःश्रेयस्—मोक्षकी प्राप्ति । ऋषियोकी दृष्टिमे विद्या वही है जो हमे अज्ञानके बन्धनसे विमुक्त कर दे—'**सा विद्या या विमुक्तये**' । भगवान् श्रीकृष्णने गीतामे '**अध्यात्मविद्या विद्यानाम्**' कहकर इसी सिद्धान्तका समर्थन किया है । इसी उद्देश्यसे आर्यजातिके पवित्रहृदय और समदर्शी त्रिकालज्ञ ऋषियोने चार आश्रमोकी (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) सुन्दर व्यवस्था की थी । ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोका पालन करता हुआ ब्रह्मचारी विद्यार्थी जब संयमकी व्यावहारिक शिक्षाके साथ-ही-साथ लौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी विद्याओंको पढ़कर, सब प्रकारसे शरीर, मन और वाणीसे स्वस्थ एवं संयमी होकर गुरुकुलसे निकलता था, तब वह गृहस्थ-आश्रममे प्रवेश कर क्रमशः जीवनको और भी संयममय, सेवामय और त्यागमय बनाता हुआ अन्तमे सर्वत्याग करके परमात्माके स्वरूपमे निमग्न हो जाता था । यही आर्यसंस्कृतिका स्वरूप था । जबतक देशमे यह आश्रम-सम्मत शिक्षा-पद्धति प्रचलित थी, तबतक आर्यसंस्कृति सुरक्षित थी और सभी श्रेणीके लोग प्रायः सुखी थे । जबसे अनेक प्रकारकी विपरीत परिस्थितियोमे पडकर मोहवश हमने अपनी इस आश्रम-सम्मत शिक्षा-पद्धतिको ठुकराया, तभीसे हमारी आदर्श आर्यसंस्कृतिमे विकार आने लगे । आज बीसवी शताब्दीमे तो हमारी उस संस्कृतिकी सुदृढ नौका हमारे ही हाथो नष्ट-भ्रष्ट होकर डूबने जा रही है । ऐसा मतिभ्रम हुआ है कि विनाशके गहरे गर्तमे गिरना ही आज हमारे उन्नयनका निदर्शन हो गया है । जिस चोटी और जनेऊको मुसलमानोकी तलवार नहीं काट सकी, उसीको आज हम शिक्षाभिमानी हिंदू स्वयं ही उन्नतिके नामपर कटवा रहे है । अग्निकुण्डकी लाल-लाल लपटोमे पडकर भी हिंदू-नारीके जिस सतीत्वको जरा-सी भी आँच नहीं लगी, अपितु उससे वह और भी चमक उठा, वही सतीधर्म आज शिक्षाके फलस्वरूप हमारी बहन-बेटियोंके लिये भाररूप हो चला है और उसे उतार फेंकनेके लिये चारों ओर सुसगठितरूपसे कमर कसी जा रही है ।

जिस धर्म और ईश्वरको हमने अपने समाज-शरीरका मेरुदण्ड समझ रखा था, आज उसी धर्मकी आवश्यकता और ईश्वरके अस्तित्वको अपने शिक्षित-समुदायके सामने स्वीकार करनेमे हमारे शिक्षित युवकोंको सकोच और लज्जाका अनुभव होता है । मानो वे किसी मूर्खतापूर्ण कुसंस्कारका समर्थन कर अपनी विद्वत्तामे बट्टा लगा रहे है अथवा कोई गुरुतर अपराध कर रहे हैं । कामोपभोग ही आज हमारे जीवनका चरम लक्ष्य बन गया है । कामपरायण होकर आज हम अदूरदर्शी शिक्षाभिमानी लोग आपात-इन्द्रियसुखको ही परम सुख समझकर अग्निशिखामे पड़कर भस्म हो जानेवाले मूढ़ पतंगोकी भाँति कामाग्निमे भस्म होनेके लिये अन्धे होकर उड़ने लगे हैं । इसमे युगप्रभाव तो प्रधान कारण है ही, परंतु उसकी सिद्धिमें एक बडा निमित्त है हमारी यह वर्तमान धर्महीन शिक्षा-पद्धति । इस शिक्षाके पीछे एक प्रबल 'संस्कृति' की प्रेरणा है, जिसने हमारी आँखोको चौंधिया दिया है और इसीसे हम आज मायामरीचिकामे फँसकर उसे अपनानेके लिये बेतहाशा दौड लगा रहे है, इसीसे आज हम अपने सरलहृदय बालक-बालिकाओके हृदयमे कामोपभोगमयी उस सभ्यताका भीषण विष प्रवेश कराकर उन्हे ध्वंसके मुखमे ढकेल रहे हैं तथा इसीमे उनका और अपना कल्याण मान रहे है । जिन देशोंकी यह 'सभ्यता' है, वे तो आज तंग आकर इससे मुक्त होनेकी राह ढूँढने लगे हैं और हम भाग्यहीन उसीको अपनानेके लिये आँख मूँदे दौड़ रहे है । भगवान् हमारी बुद्धिका यह विभ्रम कब दूर करेगे ?

वर्तमान शिक्षासे उत्पन्न दोष

आजकलके कालेजोमे पढ़नेवाले अधिकांश विद्यार्थियोमे न्यूनाधिक रूपसे—क्रियारूपमे अथवा विचाररूपमे आपको निम्नलिखित दोष प्राय. मिलेगे, जो विद्यार्थी—ब्रह्मचारी—जीवनसे सर्वथा प्रतिकूल है—१. ईश्वर और धर्ममे अविश्वास । २. संयमका अभाव । ३. ब्रह्मचर्यका अभाव । ४. माता-पिता आदि गुरुजनोमे अश्रद्धा । ५. प्राचीनताके प्रति विद्वेष । ६. विलासिता और फिजूलखर्ची । ७. खेती, दुकानदारी और घरेलू कलाकौशलके कार्योके करनेमे लज्जा और ८. सरलताका अभाव ।

स्त्री-शिक्षा

पुरुषोकी भॉति ही स्त्री-शिक्षाका भी पर्याप्त प्रचार बढ रहा है । पुरुषोमे शिक्षा बढ़नेके साथ-ही-साथ हमे स्त्री-शिक्षाकी भी आवश्यकता प्रतीत हुई । स्त्रियोके लिये विद्यालय, स्कूल और कालेजोकी स्थापना हुई । स्त्री-शिक्षाका भी वही आदर्श माना गया जो पुरुषोके लिये था; क्योंकि दृष्टिकोण ही ऐसा था । उच्च शिक्षा होनी चाहिये और उच्च शिक्षाका अर्थ ही है कालेजोकी शिक्षा, बी०ए०, एम्०ए० की डिग्री प्राप्त करना, वकालत या डाक्टरी पास करना । स्त्रियॉ भी इसी पथपर चली और चल ही रही है । वे भी पढ-लिखकर अध्यापक, क्लर्क, वकील, बैरिस्टर, लेखिका, नेता, म्युनिसिपलिटी या कौंसिलोकी मेम्बर बन रही हैं । यही उन्नतिका स्वरूप है । चारो ओर इस उन्नतिके लिये उल्लास प्रकट किया जा रहा है और यह उन्नति पूर्णरूपसे हो जाय इसके लिये अथक चेष्टा हो रही है । ऐसी स्त्री-शिक्षा देनेवाले स्कूल-कालेजोकी और छात्राओकी संख्या दिनोंदिन बढ़ रही है । शिक्षाके साथ-साथ शिक्षाके अवश्यम्भावी फलरूप उपर्युक्त दोष स्त्रियोमे भी आ रहे हैं । वे भी ईश्वर और धर्मका विरोध करने लगी हैं । सरलता, कोमलता, श्रद्धा, संकोच, प्राचीनतासे प्रेम आदि स्वाभाविक गुणोके कारण यद्यपि पुरुषोकी तरह ईश्वर और धर्मका खुला और आत्यन्तिक विरोध करनेवाली स्त्रियॉ अभी नही पैदा हुई है, परंतु सूत्रपात हो चला है । सयमका अभाव भी बढ रहा है । पुरुषोकी अपेक्षा स्वभावसे ही स्त्री कई बातोमे अधिक संयमी होती है, इससे उसकी इधर प्रगति यद्यपि रुक-रुककर होती है, परंतु उसका देखा-देखी करनेका स्वभावदोष उसे असंयमकी ओर खीचे लिये जाता है, इसीसे आज शिक्षित स्त्रियोमे असंयमकी मात्रा बढ़ रही है । जिस बातको मनमे लानेमे भी स्वभावसे ही शुद्ध और लज्जाशील स्त्रीका हृदय कॉप उठता था, आज वही बात पुकार-पुकारकर कहनेमे उसे लज्जा नही आती ।

याद रखना चाहिये कि सौन्दर्य फैशनमे नही है, सौन्दर्य हृदयके आदर्श गुणोमे है । सौन्दर्य बोल-चाल, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, विनय-नम्रता, सचाई-सफाई, स्वास्थ्य और शक्ति आदिकी स्वाभाविक उच्चतामे है । जिसका हृदय सुन्दर और मधुर है, जिसके कार्य सुन्दर और मधुर है, वही सबसे बढकर सुन्दर है, फिर शारीरिक सौन्दर्यकी रक्षाके लिये भी उचित और कमखर्चीले पदार्थोका यथासाध्य उपयोग करनेमे कोई बुराई नही है । बुराई तो फैशनकी गुलामीमे है । जहॉ फैशनकी गुलामी होगी, वहॉ उसकी पूर्तिके लिये धनकी भी विशेष आवश्यकता होगी और वह धनकी आवश्यकता ही आज स्त्रियोके स्वाभाविक गुण सरलताको कपटाचारके द्वारा पराजित करवा रही है ।

उपर्युक्त दोषोके अतिरिक्त स्त्रियोमे कुछ मुख्य दोष और आ गये है, जिनमे सबसे प्रधान विवाहविच्छेद और संततिनिरोधकी भावना, सब बातोमे समान अधिकारकी अव्यावहारिक इच्छा और सिनेमाओमे नाचनेका शौक है ।

सिनेमा

सिनेमा भी आजकलकी सभ्यताका एक अङ्ग है और शिक्षित स्त्री-पुरुष सभ्यताके सभी अङ्गोमे प्रवेश करना चाहते हैं, अतएव स्वाभाविक ही इधर भी उनका प्रवेश खूब हो रहा है । नि.सदेह चित्रपट एक कला है और सयमी, सदाचारी तथा निःस्वार्थ पुरुषोके द्वारा इसका सदुपयोग हो तो इससे मनोरञ्जनके साथ ही बहुत कुछ उपकार भी हो सकता है, परंतु उपकारकी जितनी सम्भावना

है उससे अधिक अपकारकी है । जन्म-जन्मान्तरके बुरे संस्कारोके कारण प्रायः मनुष्य बुरी बातोको जितनी जल्दी ग्रहण करता है, उतनी अच्छी बातोको नहीं करता ।

शिक्षा कैसी हो ?

बालकोको वैसी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे उनमे ईश्वरभक्ति, धर्म, सदाचार, त्याग, संयम आदिका विकास हो । वे ईश्वरसे डरनेवाले, आत्मामे विश्वास करनेवाले, वीर, धीर और परदुःखकातर यथार्थ मनुष्य बने और इसके साथ-साथ वे अन्यान्य सभी आवश्यक बातोको भी सीखे । खर्चीली शिक्षा कम हो जाय तो अच्छा है, परंतु उसकी सम्भावना बहुत कम प्रतीत होती है । विचारशील विद्वानोको इस ओर विशेषरूपसे ध्यान देकर शिक्षाके सुधारका कोई क्रियात्मक उपाय शीघ्र-से-शीघ्र निकालना चाहिये । मेरी तुच्छ सम्मतिमे नीचे लिखी बातोपर ध्यान देनेसे शिक्षा-प्रणालीके बहुत-से दोष नष्ट हो सकते है और शिक्षाके असली उद्देश्यकी किसी अंशमें पूर्ति हो सकती है ।

१. पाठ्य-पुस्तकोमे हमारी प्राचीन आर्य-संस्कृतिका सच्चा महत्त्व बतलाया जाय, पौराणिक और ऐतिहासिक महापुरुषोके जीवनकी प्रभावोत्पादक और शिक्षाप्रद घटनाओका सच्चा वर्णन रहे और प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोके उपयोगी अंशोका समावेश किया जाय ।

२. ईश्वर और धर्मके ठोस संस्कार बालकोके हृदयमे जमे, ऐसी बाते पाठ्य-पुस्तकोमे अवश्य रहे । गीता-जैसे सर्वमान्य ग्रन्थको उच्च शिक्षामे रखा जाना चाहिये ।

३. सदाचार और दैवी सम्पत्तिको बढ़ानेवाले उपदेश सदाचारी और दैवी सम्पत्तिसम्पन्न पुरुषोके चरित्रसहित पाठ्यपुस्तकोमे रहे और उनका विशेषरूपसे महत्त्व बतलाया जाय ।

४. धार्मिक शिक्षाकी स्वतन्त्र व्यवस्था भी हो जिसमे १ ईश्वर-भक्ति, २. माता-पिताकी भक्ति, ३. शास्त्र-भक्ति और देश-भक्ति,४. सत्य, ५. प्रेम, ६. ब्रह्मचर्य, ७. अहिंसा, ८. निर्भयता, ९. दानशीलता, १०. निष्कपट व्यवहार, ११. परस्त्रीको माँ-बहन समझना, १२. किसीकी निन्दा न करना, १३. किसी भी दूसरे धर्म या धर्माचार्यको नीची दृष्टिसे न देखना, १४. आजीविका आदिके कार्यमें छल, कपट और चोरीका त्याग, १५. शारीरिक श्रम या मेहनतकी कमाईका महत्त्व और १६. सबसे प्रीति करना—इन १६ गुणोपर विशेष जोर दिया जाय और बालकोंके हृदयमें इनके विकास और विस्तार करनेकी चेष्टा की जाय । प्रतिदिन पढ़ाई आरम्भ होनेके समय सब अध्यापक और विद्यार्थी मिलकर ऐसी ईश्वर-प्रार्थना करे, जिसके करनेमे किसी भी धर्मके बालकको आपत्ति न हो ।

५. अवतारो और महापुरुषोकी जन्मतिथियोंपर उत्सव मनाये जायँ और उनके जीवनकी महत्त्वपूर्ण बातोपर प्रकाश डाला जाय ।

६. खान-पानकी शुद्धि और संयमके महान् लाभ बालकोको समझाये जायँ ।

७. किसी भी पाठ्य-पुस्तकमे खुले शृंगारका वर्णन न हो । ऐसा कोई काव्य या नाटक पढाना आवश्यक हो तो उसमेसे उतना अंश पढ़ाईके क्रमसे निकाल दिया जाय । (मैंने सुना है कि कई पाठ्य-पुस्तकोके ऐसे पाठ अच्छे अध्यापक अपने विद्यार्थियोंको नहीं पढ़ा सकते और बालिकाओको तो वैसा पाठ आ जानेपर विचारशील प्रोफेसर जितने दिनोतक वह पाठ चलता है, उतने दिनोंके लिये उस घंटेमे अनुपस्थित रहनेकी अनुमति देनेको बाध्य होते है ।)

८. साम्प्रदायिक विद्वेष बढ़ानेवाली बाते किसी भी पाठ्य-पुस्तकमे नही रहनी चाहिये ।

९. विलासिता और फिजूलखर्चीके दोष पाठ्य-पुस्तकोमे बतलाये जायँ । जहाँतक हो विद्यार्थियोका जीवन अधिक-से-अधिक सादा और निर्मल रहे, ऐसी चेष्टा हो ।

१०. जहाँतक हो शिक्षा देशी भाषामे देनेकी व्यवस्था की जाय ।

११. अध्यापक और छात्रावासके व्यवस्थापक ऐसे सज्जन हो जो स्वयं सदाचारी, धार्मिक, ईश्वरमे विश्वासी, विलासिताके विरोधी और मितव्ययी हो । (याद रहे, अध्यापको और व्यवस्थापकोके चरित्रका प्रभाव बालकोपर सबसे अधिक पड़ता है ।)

१२. सभी शिक्षालयोमे कुछ-न-कुछ हाथकी कारीगरीका काम अवश्य सिखाया जाय, जिससे कालेजोसे निकले हुए विद्यार्थी शारीरिक परिश्रम तथा कारीगरीका काम हाथसे करनेमे सकुचाये नही, अपितु सम्मानका अनुभव करे ।

१३. छात्रावास बहुत सादे और संयमके नियमोसे पूर्ण हो । वहाँ विद्यार्थीगण यथासाध्य सभी काम हाथसे करे, जिससे घर आनेपर हाथसे काम करना बुरा न मालूम हो । तन-मनसे पवित्र रहनेकी आदत डाली जाय । शरीरकी सफाई देशी तरीकेसे की जाय । अवकाशके समय कथा आदिकी व्यवस्था हो ।

१४. जहाँतक हो, स्कूल-कालेज प्राकृतिक शोभायुक्त स्थानोमे हो, खास करके पवित्र नदीके तटपर । उनमे यथासाध्य खर्चीला सामान, विदेशी फैशनका फरनीचर आदि न रहे ।

१५. माता-पिता, गुरुके प्रति आदरबुद्धि हो, उनका सेवन और पोषण करना कर्तव्य समझा जाय, किसीका भी अनादर न हो, किसीका मखौल न उड़ाया जाय । ऐसी शिक्षा बालकोको दी जाय ।

१६. लड़के-लडकियोको एक साथ बिलकुल न पढ़ाया जाय ।

१७. लडकियोको पढ़ानेके लिये सदाचारिणी और सद्‌गृहस्था अध्यापिका ही रहे और कन्यापाठशालाओकी पढाई स्वतन्त्र रहे तथा पढ़ाईका समय भी गृहस्थकी सुविधाके अनुकूल हो ।

१८. लड़कियोकी शिक्षामे इस बातका प्रधानरूपसे ध्यान रखा जाय कि बड़ी होनेपर उनके सतीत्व, मातृत्व और सद्‌गृहिणीपनका नाश न होकर पूर्ण विकास हो ।

१९. आर्य-संस्कृतिके अनुकूल सद्व्यवहार, सेवा-शुश्रूषा और आहार-व्यवहारकी शिक्षा पाठ्य-पुस्तकोमे रहे ।

२०. सात्त्विक त्याग, तितिक्षा और सात्त्विक दानकी शिक्षा दी जाय ।

२१. बलका संचय और सदुपयोग करना सिखाया जाय ।

सदुपदेश

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते । स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः । मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम् ॥

(मार्क० ३७ । २३-२४)

सङ्ग (आसक्ति)का सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये, किंतु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषोका सङ्ग करना चाहिये, क्योंकि सत्पुरुषोका सङ्ग ही उसकी ओषधि है । कामनाको सर्वथा छोड़ देना चाहिये, परंतु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मुक्तिकी इच्छा)के प्रति कामना करनी चाहिये; क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामनाको मिटानेकी दवा है ।

प्राचीन-अर्वाचीन भारतीय शिक्षा-पद्धतिका तुलनात्मक अध्ययन

(वीतराग स्वामी श्रीनन्दनन्दनानन्दजी सरस्वती एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, भूतपूर्व संसद्-सदस्य)

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक विश्वप्रपञ्चका आविर्भाव पूर्ण सत्ता-स्फुरताद्वारा '**एकोऽहं बहु स्यामिति**'—इस संकल्पसे आत्मशक्तिकी इयत्ता तथा ईदृक्ताके अनुभव-विनोदसे हुआ । चित् अर्थात् ज्ञानशक्ति ही सत्ताका एकमात्र प्रमाण है । इस कारण अनन्त सत्ता एवं अनन्त चित्से संवलित अपने स्वरूपमें परिपूर्णानन्दका निरन्तर अनुभव करे—यही उच्चतम विचारकोंका अन्तिम सिद्धान्त है, यह वेद-शिर·स्थानीय उपनिषदोका निर्मथितार्थ है ।

उस चित्-शक्तिका अनुभव तीन रूपमें होता है, जिन्हें विचारक लोग इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामोसे अभिहित करते हैं । इस चित्-शक्तिके अनुभवमें पूर्वानुभवके परिणामरूप उत्तरवर्ती इच्छा, ज्ञान, क्रियामे परिवर्तन, संशोधन, परिवर्धन अथवा संकोचकी प्रवृत्तिका नाम शिक्षा है । यह शिक्षा आत्म-प्रेरित अथवा गुरु-प्रेरित होती है । गुरु-प्रेरित शिक्षा अनियमित अथवा सुनियोजित तथा सोद्देश्य होती है । सुनियोजित तथा सोद्देश्य शिक्षाको ही शिक्षा-पद्धतिके नामसे व्यवहारमें लाया जाता है । भारतमे मुख्यरूपसे परमेश्वरको ही समस्त विश्वका प्रथम गुरु माना गया है । व्यष्टिरूपसे वह परमात्मा सबके हृदयमें बैठकर जीवमात्रको बाह्य परिस्थितियोंकी प्रतिक्रियाके लिये प्रेरित करता है । भौतिकवादी इसी आत्म-प्रेरणाको 'प्रकृति' अथवा स्वभाव-प्रेरित मानते हैं । समष्टि जगत्मे परमात्मा जीवमात्रके लिये समष्टि गुरु तथा समष्टि बन जाता है, जिसे तन्त्र-शास्त्रोंमें 'प्रकाश' और 'विमर्श' अथवा 'शिव' और 'शक्ति' नामोंसे कहा गया है, इस सिद्धान्तसे श्रीसदाशिव सभी विद्याओं, कलाओं तथा ज्ञान-विज्ञानके आदिगुरु हैं ।

ब्रह्म-विद्याके क्षेत्रमे कुछ लोग 'नारायण'को आदिगुरु मानकर पुनः वसिष्ट, शक्ति, पराशर, व्यास, शुक, गौडपादादि वडे-वड़े ऋषि, महर्पि, मुनि और आचार्यवर्गको ही समस्त लौकिक-अलौकिक विद्याओ, कला और विज्ञानका प्रवर्तक मानते हैं । अनादिकालसे मानव-समाज भारतीय संस्कृतिके अनुसार गुण, कर्म, स्वभावके आधारपर चार वर्णो और चार आश्रमोंमें विभक्त रहा । यह गुण, कर्म और स्वभाव एक व्यक्तिका नहीं अपितु जातिगत अर्थात् पितृ-पैतामहिक परम्परासे माना जाता रहा तथा वही व्यक्तिकी शिक्षाका निर्देशक रहा । इस प्रकार ब्राह्मणको यज्ञ-यागादिके साथ वेद तथा वेदानुसारी शास्त्रो, मर्यादाओ और परम्पराओं, सदाचार, धर्मशास्त्र, कर्तव्य और अधिकारकी शिक्षा विहित थी, क्षत्रियके लिये व्यक्ति, समाज और राष्ट्रकी रक्षा तथा तदर्थ आवश्यक युद्ध, अस्त्र-शस्त्र-विद्या तथा शासन और व्यवहार, राजनीति तथा समाजनीति एवं अभिव्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र-हितमें उपयोगी शिक्षा विहित थी । इसी प्रकार वैश्यके लिये कृपि, गोरक्षा और वाणिज्य-व्यापारसे सम्वन्धित विद्याओंकी शिक्षा तथा शूद्रके लिये शिल्पकला, स्थापत्य, यान्त्रिकी, स्वर्णादिक धातु तथा रत्नादिका तक्षण और आभूषण-निर्माणकी शिक्षाका विधान है ।

मानवके दैनिक जीवनमे ज्ञान, इच्छा तथा क्रियाका समन्वय रहा है । जीवनका प्रथम भाग ब्रह्मचर्य-व्रत-पालनपूर्वक विद्याध्ययन, द्वितीय भाग गृहस्थाश्रम, तृतीय भाग पुन शान्ति और निवृत्तिके अभ्यासपूर्वक वनमे निवास अर्थात् वानप्रस्थाश्रम और चौथा भाग ब्रह्मचिन्तन, एषणा-त्याग तथा ब्रह्म-विलयनके लिये निर्धारित किया गया है । ब्रह्मचर्यमे ही मुख्यत· शिक्षाका विधान है; किंतु यह शिक्षा केवल अक्षर-ज्ञान और पुस्तक पढ़ना मात्र नहीं है । ब्रह्मचर्य जीवनकी एक निराली पद्धति है । प्राचीन शिक्षा भारतमे जीवनकी साधना मानी गयी है, जो जीवनके चरम लक्ष्यतक पहुँचनेमें साधक हो । गुरुकुलमे निवास, गुरु-शुश्रूषा, ग्रन्थोका अध्ययन-अभ्यास, ब्रह्मचर्य-व्रत-पालन, भिक्षाचर्या आदि ब्रह्मचारीकी शिक्षाके अभिन्न अङ्ग हैं । महाकवि कालिदासने रघुवंशी राजकुमार

ब्रह्मचारियोकी तपोमयी जीवनीका वर्णन किया है । भारतीय प्राचीन शिक्षा-प्रणालीका अनुसरण समाजके सभी अङ्ग समान रूपसे करते थे ।

धनवान्, धनहीन, राजा और रंककी शिक्षामे कोई भेद-भाव नही था । शिक्षाका क्षेत्र केवल धननिरपेक्ष ऋषियोके हाथमे था और माता-पितापर ब्रह्मचारीके अध्ययनकालमे कोई आर्थिक बोझ नही पड़ता था । यह एक बहुत गम्भीर और ध्यान देने योग्य बात है कि भारतकी प्राचीन शिक्षा न तो शासकके हाथमे थी और न राजनीतिक अथवा अन्य ससारी नेताओके प्रभावमे थी । एक राजा हो अथवा एक ब्रह्मचारी, विद्यार्थीकी शिक्षापर उसका कोई प्रभाव नही था । इसी कारणसे लाखो वर्षतक इस सस्कृतिका लोप नही हुआ । नेता लोग अपनी बुद्धि अथवा पूर्व धारणा-मान्यताके अनुसार शिक्षाके परिवर्तनमे समर्थ नही थे । शासकके हाथमे शिक्षाकी बागडोर न होनेसे देशकी संस्कृतिके अनुरूप शिक्षा रहनेमे कोई बाधा नही थी, इसी कारण लाखो वर्षसे भी प्राचीन वेदानुसारी प्राचीन आर्य संस्कृति अक्षुण्ण रही । पवित्र शिक्षा और निष्कलङ्क नित्य जीवनके कारण प्राचीन भारतका ब्रह्मचारी राजाके लिये भी पूजनीय माना जाता था । ब्रह्मचर्य-आश्रममे अर्थ, कामसे सर्वथा अस्पृष्ट होनेसे ब्रह्मचारीके प्रति सबकी श्रद्धा रही और उसे सम्मान प्राप्त था ।

प्राचीन शिक्षाके केन्द्र ऋषिलोग थे । महर्षि दुर्वासाका चलता-फिरता विश्वविद्यालय प्राय. दस हजार शिक्षार्थियोसे पूर्ण था । वाल्मीकि, वसिष्ठ, अघोर, अङ्गिरा, भरद्वाज आदि प्राचीन कुलपति थे । सांदीपनि ऋषि भगवान् श्रीकृष्ण और सुदामाके गुरु थे । तक्षशिला, राजगृह, नालन्दा आदि प्राचीन शिक्षा-केन्द्र थे ।

भारतीय इतिहासका यह मध्यवर्ती भाग महाभारत-महायुद्धके अनन्तर प्राय. डेढ़ सहस्र वर्ष बादसे आरम्भ होता है । पश्चिमी राजनीतिज्ञ एवं इतिहासकार जिसे 'एशियाका प्रकाश' मानते है, वही वास्तवमे पश्चिमका प्रकाश और पूर्व (अर्थात् भारत) की अन्धकारमयी सध्याका सूत्रपात है । सम्राट् अशोकद्वारा कलिग-युद्धके अनन्तर क्षात्रधर्मसे वैराग्य लेनेपर भारतीय सीमा-सुरक्षामे शिथिलता आयी । तदनन्तर बारहवीं शताव्दी ईस्वीसे लेकर प्राय· अठारहवी शताब्दीतक भारतीय शिक्षाको फारसी, उर्दू तथा अरबी भाषाओ एवं इसी संस्कृतिसे अनुरञ्जित किया गया । प्राचीन भारतीय संस्कृतिसे सर्वथा भिन्न और विशेषत· विपरीत रहन-सहनवाली संस्कृति भारतपर अपनी छाप डालकर भी इसका उन्मूलन नही कर सकी तथा प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति अशत क्षीण होनेपर भी जीवित रही, किंतु अब कुछ ऐसे विचारक प्रकट हुए है जो एकके स्थानपर दो सस्कृति मानने लगे है ।

ईस्ट-इंडिया-कम्पनीके पदार्पणके साथ धीरे-धीरे अंग्रेजी शासनकी नीव पडने लगी । उन्नीसवी शतीके प्रारम्भकालसे ही शिक्षामे परिवर्तन होने लगा । लार्ड मैकालेने मदरसा स्थापित कर ऐसी शिक्षाकी नीव डाली जिसके फलस्वरूप भारतीय केवल रंगका भारतीय तथा मनसे यूरोपीय सभ्यताका अनुयायी रह गया, उसीका परिणाम हिंदी-सस्कृत तथा भारतीय परम्पराकी उपेक्षा है । शिक्षाका भी धर्म एव परलोकसे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया और शिक्षाका उद्देश्य ऐहलौकिक जीवन, भोजन, आच्छादन, उत्पादन, वितरण और उपभोग मात्र ही रह गया ।

भारत-सरकार, प्रारम्भिक शिक्षा-मन्त्री आदि प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धतिके आदर्शोकी कल्पना भी नही कर सके । भारत-सरकारद्वारा स्थापित आयोग भी प्राय. उन्हीं भौतिक लक्ष्योकी ओर शिक्षाको मोडनेमे व्यस्त हुए । वे पाश्चात्त्य भौतिक दर्शनोसे प्रेरित जॉन स्टुअर्ट मिलके 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' के भौतिक लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये शिक्षाको प्रेरित करने लगे तथा भारतीय परम्परामे भी प्राचीन सामाजिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्योके विरोधी सभी प्राचीन शिक्षाओका उन्मूलन करके उसके स्थानपर वर्गविहीन तथा वर्णविहीन समाजकी स्थापनाके लिये केवल भौतिकवादी शिक्षा-पद्धतिकी स्थापनाके लिये प्रवृत्त हुए ।

भारत-सरकारद्वारा सन् १९८५ ई०मे प्रकाशित 'नयी शिक्षा-नीति' नामक सरकारी पुस्तिकामें इस दृष्टिकोणका

स्पष्टीकरण मिलता है। इन प्रयासोंमे भारत-सरकारकी शिक्षा-पद्धति कितनी विफल रही है, यह प्रतिदिनके कटु अनुभव और समाचार-जगत्से स्पष्ट है। धर्म तथा आध्यात्मिकताकी शिक्षाको विदा कर देनेका प्रभाव भारतीय समाजके नैतिक स्तरपर बुरी तरह पडा है।

धर्म, नैतिकता, सत्यनिष्ठा तथा आध्यात्मिकतासे हीन वर्तमान शिक्षा राष्ट्रके प्रत्येक स्तरपर अस्थिरता एवं अशान्तिका निमित्त बन रही है। प्राचीन भारतीय ऋषियोने शिक्षाको इसी कारण शासन और आर्थिक प्रभावसे मुक्त रखा था। इस समय वर्तमान शिक्षा-पद्धतिमे शिक्षाशास्त्री, शिक्षक तथा शिष्य सभी अर्थप्रेरित लोभसे सग्रस्त होनेके कारण शिक्षा-मन्दिरको ही सुरा-सुन्दरीसे दूषित कर रहे हैं। शिक्षा दूषित होनेसे शिक्षित भी दूषित होगा तथा जीवनके सभी क्षेत्र दूषित हो जायँगे। **'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा'**—इन सब दूषणोंसे राष्ट्र और समाज व्याप्त है। जैसे दुष्ट बीजसे दुष्ट अङ्कुर और सदोष फल होगे, वैसे ही दोषयुक्त शिक्षासे सदोष नागरिक बनकर समाज, राष्ट्र एव अन्ताराष्ट्रिय जगत्के लिये घातक होगे।

इसी कारण यदि राष्ट्र और मानवको बचाना इष्ट हो तो तत्काल सावधान होकर वर्तमान शिक्षामें आमूल-चूल परिवर्तन एव संशोधन करना चाहिये। शिक्षाको केवल अक्षर एव पुस्तक-ज्ञानका माध्यम न बनाकर शिक्षितको केवल भौतिक उत्पादन-वितरणका साधन न बनाया जाय, अपितु नैतिक मूल्योंसे अनुप्राणित कर आत्मसंयम, इन्द्रियनिग्रह, प्रलोभनोपेक्षा तथा नैतिक मूल्योका केन्द्र बनाकर भारतीय समाज, अन्ताराष्ट्रिय जगत्की सुख-शान्ति और समृद्धिको माध्यम तथा साधन बनाया जाय। ऐसी शिक्षा निश्चित ही **'स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।'** कामधेनु बनकर सभी कामनाओको पूर्ण करनेवाली और सुख-समृद्धि तथा शान्तिका संचार करनेवाली होगी।
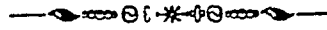
गुरु-शिष्य-सम्बन्ध और भारतीय संस्कृति

(काशी हिंदू विश्वविद्यालयमे पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीके भाषणका एक अंश)

कुछ वर्षो पूर्व काशी हिंदू विश्वविद्यालयकी विद्यार्थि-परिषद्का उद्घाटन करते हुए श्रीब्रह्मचारीजीने ओजस्वी भाषामे कहा था—

आज मैं विद्यार्थियोके मध्यमे बैठकर अत्यन्त प्रसन्नताका अनुभव कर रहा हूँ। भारत राष्ट्रकी उन्नति आपलोगोपर ही निर्भर है, आपलोग ही भावी भारतके सुयोग्य नागरिक होगे, भारतकी उन्नतिके आपलोग ही प्रतीक हैं, हमलोगोकी दृष्टि आपलोगोपर ही लगी हुई है। इसलिये आपलोग साधारण नागरिक नही, आपलोगोका एक विशिष्ट महत्त्व है।

भारतदेश स्वतन्त्र हो गया है। स्वतन्त्र देशके इतने लक्षण होते हैं—(१) उस देशकी प्राचीन परम्परा, (२) उस देशकी विशेष सस्कृति-धर्म, (३) उस देशकी अपनी भाषा, (४) उस देशका अपना निजी विधान और (५) अपनी मातृभूमिका एक विशिष्ट गौरव। स्वतन्त्र देशोमे ये सब निजी परम्पराएँ होती हैं। मुझे अत्यन्त दुःखके साथ कहना पडता है कि हम कहनेको तो स्वतन्त्र हो गये हैं, किंतु हमारी मानसिक दासता अभी नही गयी है। हम अब भी पाश्चात्त्य परम्पराका अनुकरण करते हैं।

भारतवर्षकी प्राचीन परम्परा ही है, गुरु-शिष्यका सौहार्द—आदर। हमारे देशकी परम्परा यह है कि हमारे सभी कार्य भगवान्को लक्ष्य करके ही हो। आज हममे अनेक त्रुटियाँ आ गयी है। आज भारतीयोमे गुरु-शिष्य-सम्बन्ध भारतीय नही रहा। मेरी आपलोगोसे प्रार्थना है कि आपलोग आस्तिकताको, जो हमारे देशका प्राण है, न भुलाये। करने-करानेवाले भगवान् ही है,

अत. आपलोग भगवान्को न भूले । भगवान् तर्ककी वस्तु नही, प्रत्युत श्रद्धाकी वस्तु है । इसीलिये वेदोमे बार-बार कहा गया है—'श्रद्धा करो, श्रद्धा करो ।' भारतवर्ष धर्मप्रधान देश है । भारतकी प्रसिद्धि इसलिये नही है कि हमारे यहाँ मशीने है, कारखाने है । हमारे देशका गौरव धर्मके कारण है, अतः आपलोग धर्मको न भूले । भारतीय सस्कृति कहे या भारतीय धर्म कहे, दोनो एक ही बात है । हिंदू-धर्मको छोडकर हिंदू-सस्कृतिके नामसे जो नर्तकियो और गायक-गायिकाओके विशिष्ट मण्डल भेजे जाते है, यह भारतीय संस्कृतिका उपहास है । भारतीय सस्कृति तो धर्ममे सनिहित है । नृत्य, वाद्य और गान—ये भी भारतकी विशेष धार्मिक पद्धतियाँ है, किंतु नाचना-गाना ही भारतीय सस्कृति नही है । अत· आपलोग धर्मको न भूले, अपनी धार्मिक भावनाओकी अवहेलना न करे ।

भारतकी मूल भाषा संस्कृत है । संस्कृतसे ही प्रायः सभी भारतीय भाषाओकी उत्पत्ति हुई है । हिंदी सस्कृतकी पुत्री है । अतः आपलोग जहाँतक हो संस्कृत और हिंदी भाषामे सब विषयोका अध्ययन करे । सस्कृत और हिंदीके अध्यापको तथा छात्रोको जो हेयकी दृष्टिसे देखनेकी एक चाल चल रही है, उसे मिटाइये । अपनी भाषाको पढने-पढ़ानेवालोको विदेशी भाषाओके शिक्षको और छात्रोंसे अधिक गौरवकी दृष्टिसे देखिये । अपने दैनिक व्यवहार, बोल-चाल, व्याख्यान, पत्र-व्यवहार हिंदीमे कीजिये, पुस्तके-कविताएँ हिंदीमे ही लिखिये । भाषा अपनी राष्ट्रियताकी सबसे बडी निधि तथा प्राण है ।

हमारा विधान वेद-शास्त्र-स्मृतियोके आधारपर होना चाहिये । मुझे दुःख है कि आज जो विधान बना है, वह इंग्लैड-अमेरिकाका उच्छिष्ट है । उसमे भारतीयता नही है । हमे अपना निजी विधान पुन बनाना है और उसमे भारतीयताको लाना है ।

हम भारतको एक निर्जीव भूमिका टुकड़ा नही मानते, अपितु हमने इसे माताका रूप दिया है । हिमालय उसका सिर है, कन्याकुमारी, मलयालम दक्षिणके देश उसके पैर है; उड़ीसा, बंगाल, पंजाब, सिंध उसके चार हाथ है, ऐसी हमारी भारतमाता है । इसके अङ्गोका खण्ड कर दिया गया है । हमे पुन अपनी खण्डित माताको अखण्डित करना है ।

गौकी सेवा भारतीय सस्कृतिका मूलाधार है । सभी सम्प्रदाय, सभी वर्ग, सभी दल गौको सदासे अवध्या मानते रहे है । हमे देशसे गोवधको सर्वथा प्राणोकी बाजी लगाकर बंद कराना है ।

अन्तमे भाषण समाप्त करते हुए ब्रह्मचारीजीने कहा—'इन शब्दोके साथ मै आपलोगोकी विद्यार्थि-परिषद्के कार्यका उद्घाटन करता हूँ । परमपिता परमात्माके पाद-पद्मोमे मेरी यही प्रार्थना है कि वे हम सबको विशुद्ध भारतीय बनावे । हम सबमे धर्मके प्रति आस्था हो । मङ्गलमय भगवान् हम सबका सर्वत्र मङ्गल करे ।'
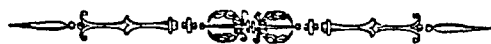
सच्ची शिक्षा

सच्ची शिक्षा उस समय आरम्भ होती है, जब मनुष्य समस्त बाहरी सहारोको छोड़कर अपनी अन्तरङ्ग अनन्तताकी ओर ध्यान देता है । उस समय मानो वह मौलिक ज्ञानका एक स्वाभाविक स्रोत बन जाता है अथवा महान् नवीन-नवीन विचारोका चश्मा बन जाता है ।

गीताकी अलौकिक शिक्षा

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

प्राणिमात्रके परम सुहृद् भगवान्‌के मुखसे निःसृत 'श्रीमद्भगवद्गीता' मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये व्यवहारमें परमार्थकी अलौकिक शिक्षा देती है। कोई भी व्यक्ति (स्त्री-पुरुष) हो और वह किसी भी वर्णमें हो, किसी भी आश्रममें हो, किसी भी सम्प्रदायमें हो, किसी भी देशमें हो, किसी भी वेशमें हो, किसी भी परिस्थितिमें हो, वहीं रहते हुए ही वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर सकता है। यदि वह निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे और निष्कामभावसे विहित कर्मोंको करता रहे तो इसीसे उसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पाप (बन्धन) को प्राप्त नहीं होगा।'

युद्धसे बढ़कर घोर परिस्थिति और क्या होगी? परंतु जब युद्ध-जैसी घोर परिस्थितिमें भी मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है, तो फिर ऐसी कौन-सी परिस्थिति होगी, जिसमें रहते हुए मनुष्य अपना कल्याण न कर सके?

सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि सब आते हैं और चले जाते हैं, पर हम ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं। अतः समतामें हमारी स्थिति स्वतःस्वाभाविक है। उसी समताकी ओर गीता लक्ष्य करा रही है कि ये जो तरह-तरहकी परिस्थितियाँ आ रही हैं, उनके साथ मिलो मत, उनमें प्रसन्न-अप्रसन्न मत होओ, प्रत्युत उनका सदुपयोग करो। अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो दूसरोंको सुख पहुँचाओ, दूसरोंकी सेवा करो और प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग करो। गीता कितनी अलौकिक शिक्षा देती है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ (३।११)

'एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

सभी एक-दूसरेके अभावकी पूर्ति करें, एक-दूसरेको सुख पहुँचायें, एक-दूसरेका हित करें तो अनायास ही सबका कल्याण हो जाय—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (१२।४)। इसलिये दूसरेका हित करना है, दूसरेको सुख देना है, दूसरेको आदर देना है, दूसरेकी बात रखनी है, दूसरेको आराम देना है, दूसरेकी सेवा करनी है। दूसरा हमारी सेवा करे या न करे, इसकी परवाह नहीं करनी है अर्थात् हमें दूसरेका कर्तव्य नहीं देखना है, प्रत्युत निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करना है, क्योंकि दूसरेका कर्तव्य देखना हमारा कर्तव्य नहीं है। यहाँ एक खास बात समझनेकी है कि हमें मिलनेवाली वस्तु, परिस्थिति आदि दूसरे व्यक्तिके अधीन नहीं है, प्रत्युत प्रारब्धके अधीन है। प्रारब्धके अनुसार जो वस्तु, परिस्थिति आदि हमें मिलनेवाली है, वह न चाहनेपर भी मिलेगी। जैसे न चाहनेपर भी प्रतिकूल परिस्थिति अपने-आप आती है, ऐसे ही अनुकूल परिस्थिति भी अपने-आप आयेगी। दूसरे व्यक्तिको भी वही मिलेगा, जो उसके प्रारब्धमें है, पर हमें उसकी ओर न देखकर अपने कर्तव्यकी ओर देखना है अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन (सेवा) करना है। दूसरी बात, हमारी सेवाके बदलेमें दूसरा भी हमारी सेवा करेगा तो हमारी सेवाका मूल्य कम हो जायगा, जैसे—हमने दूसरेको दस रुपये दिये और उसने हमें पाँच रुपये लौटा दिये तो हमारा देना आधा ही रह गया! अतः यदि दूसरा बदलेमें हमारी सेवा न करे तो हमारा बहुत जल्दी कल्याण होगा। यदि दूसरा हमारी सेवा करे अथवा हमें दूसरेसे सेवा लेनी पड़ी तो उसका बड़ा उपकार मानें, पर उसमें प्रसन्न न हों। प्रसन्न होना भोग है और भोग दुःखका कारण है—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते**' (५।२२)।

मै सुख ले लूँ, मेरा आदर हो जाय, मेरी बात रह जाय, मुझे आराम मिले, दूसरा मेरी सेवा करे—यह भाव महान् पतन करनेवाला है। अर्जुनने भगवान्से पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यो करता है? तो भगवान्ने कहा कि 'मुझे मिले' यह कामना ही पाप कराती है (३।३६-३७)। जहाँ व्यक्तिगत सुखकी कामना हुई कि सब पाप, सताप, दु.ख, अनर्थ आदि आ जाते है। इसलिये अपनी सामर्थ्यके अनुसार सबको सुख पहुँचाना है, सबकी सेवा करनी है, पर बदलेमे कुछ नही चाहना है। हमारे पास जो बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता आदि है, उसे निष्कामभावसे दूसरोकी सेवामे लगाना है।

हमारे पास वस्तुके रहते हुए दूसरेको उस वस्तुके अभावका दु.ख क्यो भोगना पड़े? हमारे पास अन्न, जल और वस्त्रके रहते हुए दूसरा भूखा, प्यासा और नंगा क्यो रहे? — ऐसा भाव रहेगा तो सभी सुखी हो जायँगे। एक-दूसरेके अभावकी पूर्ति करनेकी रीति भारतवर्षमे स्वाभाविक ही रही है। खेती करनेवाला अनाज पैदा करता था तो वह अनाज देकर जीवन-निर्वाहकी सब वस्तुएँ ले आता था। उसे सब्जी, तेल, घी, बर्तन, कपड़ा आदि जो कुछ भी चाहिये, वह सब उसे अनाजके बदलेमे मिल जाता था। सब्जी पैदा करनेवाला सब्जी देकर सब वस्तुएँ ले आता था। इस प्रकार मनुष्य कोई एक वस्तु पैदा करता था और उसके द्वारा वह सभी आवश्यक वस्तुओकी पूर्ति कर लेता था। पैसोकी आवश्यकता ही नहीं थी। परतु अब पैसोको लेकर अपनी आदत बिगाड़ ली। पैसोके लोभसे अपना महान् पतन कर लिया। पैसोका संग्रह करनेकी ऐसी धुन लगी कि जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुएँ मिलनी कठिन हो गयी! कारण कि वस्तुओको बेच-बेचकर रुपये पैदा कर लिये और उनका संग्रह कर लिया। इस बातका ध्यान ही नही रहा कि रुपये पड़े-पडे स्वय क्या काम आयेगे! रुपये स्वयं किसी काममे नही आयेगे, प्रत्युत उनका खर्च ही अपने या दूसरोके काममे आयेगा। परतु अन्त करणमे पैसोका महत्त्व बैठा होनेसे ये बाते सुगमतासे समझमे नही आती। पैसोकी यह भूख भारतवर्षकी स्वाभावि[क] नहीं है, प्रत्युत कुसंगतिसे आयी है।

एक मार्मिक बात है कि जो दूसरेका अधिकार हो[ता] है, वही हमारा कर्तव्य होता है। जैसे दूसरेका हि[त] करना हमारा कर्तव्य है और दूसरोका अधिकार है। माता-पिताकी सेवा करना, उन्हे सुख पहुँचाना पुत्र[का] कर्तव्य है और माता-पिताका अधिकार है। ऐसे [ही] पुत्रका पालन-पोषण करना और उसे श्रेष्ठ, सुयोग्य बना[ना] माता-पिताका कर्तव्य है और पुत्रका अधिकार है। गुरु[की] सेवा करना, उनकी आज्ञाका पालन करना शिष्यका कर्तव्य है और गुरुका अधिकार है। ऐसे ही शिष्यका अज्ञानान्धकार मिटाना, उसे परमात्मतत्त्वका अनुभव कराना गुरुका कर्तव्य है और शिष्यका अधिकार है। अत मनुष्यको अप[ने] कर्तव्य-पालनके द्वारा दूसरोके अधिकारकी रक्षा कर[नी] है। दूसरोका कर्तव्य और अपना अधिकार देखनेवाल[ा] मनुष्य अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है। इसलि[ये] मनुष्यको अपने अधिकारका त्याग करना है और दूसरे[के] न्याययुक्त अधिकारकी रक्षाके लिये यथाशक्ति अप[ने] कर्तव्यका पालन करना है। दूसरोका कर्तव्य देखना औ[र] अपना अधिकार जमाना इहलोक और परलोकमे पत[न] करनेवाला है। वर्तमानमे जो अशान्ति, कलह, संघ[र्ष] देखनेमे आ रहा है, उसका मुख्य कारण यही है कि लोग अपने अधिकारकी माँग तो करते है, पर अप[ने] कर्तव्यका पालन नही करते। इसलिये गीता कहती है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (२।४७)

'अपने कर्तव्यका पालन करनेमे ही तुम्हारा अधिका[र] है, उसके फलोमे नहीं।'

ससारमे अपने-अपने क्षेत्रमे जो मनुष्य दूसरोके द्वार[ा] मुख्य, श्रेष्ठ माने जाते है, उन आचार्य, गुरु, अध्यापक, व्याख्यानदाता, महन्त, शासक, मुखिया आदिपर दूसरोको शिक्षा देनेकी, दूसरोका हित करनेकी विशेष जिम्मेवारी रहती है। अतः उनके लिये गीता कहती है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३।२१)

नाश कर देते हैं[४], उसका मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार कर देते हैं[५] और उसे तत्त्वज्ञान भी करा देते हैं[६], भक्तियोगमे यह विशेषता है कि भक्त भगवत्कृपासे भगवान्‌को तत्त्वसे जान भी जाता है, भगवान्‌के दर्शन भी कर लेता है और भगवान्‌को प्राप्त भी कर लेता है[७]।

इस प्रकार गीतामे ऐसी अनेक अलौकिक शिक्षाएँ दी गयी हैं, जिनके अनुसार आचरण करके मनुष्य सुगमतासे अपने परम लक्ष्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है।

शिक्षातत्त्व-विमर्श

(स्वामी श्रीनिश्चलानन्दसरस्वतीजी महाराज)

(१) शक्तिस्वरूपा शिक्षा—'सीतोपनिषद्‌के अनुसार परब्रह्मस्वरूपा पराम्बा पराचिति षडैश्वर्यसम्पन्ना मूलप्रकृति सीता 'शिक्षा'- स्वरूपा हैं। प्रपञ्च और प्रणवकी प्रकृति होनेके कारण वे 'प्रकृति' कही जाती हैं। श्रीरामवल्लभा सीता प्रपञ्चोपरत ब्रह्मजिज्ञासुओके लिये ब्रह्मसूत्रादिके परम तात्पर्यरूपसे वरेण्य हैं। ये सृष्टि-स्थिति, संहार-तिरोधान और अनुग्रहादि समस्त सामर्थ्योसे समलंकृत हैं। शक्तिस्वरूपा सीता श्रीदेवी, भूदेवी और नीलादेवीरूपा इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और साक्षात् शक्ति—इन तीनों रूपोमे स्फुरित होती हैं। क्रियाशक्तिरूपा सीता श्रीहरिके मुखारविन्दसे नाद (ध्वनि) रूपमे प्रकट होती हैं। उस नादसे विन्दु (स्फुट अभिव्यक्तिके अभिमुख) और विन्दुसे ॐकार (अ, उ, म् रूप कलात्मक प्रणव) अभिव्यक्त होता है। प्रणव वेदात्मक है। प्रणव और प्रणवात्मक वेदकी तरह कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द, मीमांसा और न्याय, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, वास्तुवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा आयुर्वेद, दण्ड, नीति, व्यापार और विविध उपासना-सम्बन्धी विद्याओकी अभिव्यक्ति क्रियाशक्तिस्वरूपा श्रीसीताजीसे होती है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह तथ्य सिद्ध है कि 'शिक्षा' पराचितिस्वरूपा भगवतीकी क्रिया और ज्ञानप्रधान अभिव्यक्ति है। क्रियामे विनियुक्त शिक्षा क्रियाशक्तिप्रधाना है और ज्ञानमे विनियुक्त शिक्षा ज्ञानशक्तिस्वरूपा। धर्मज्ञानका फल अभ्युदय (लौकिक और पारलौकिक सुख) है और ब्रह्मज्ञानका फल निःश्रेयस्। 'धर्म' भव्य (साध्य, अनुष्ठेय) है, अत· धर्मज्ञान क्रियामे विनियुक्त होता है। 'ब्रह्म' साक्षादपरोक्ष प्रत्यगात्मस्वरूप है; अत· ब्रह्मज्ञान आवरण-भङ्गमात्रसे श्रेयप्रद होता है। वह क्रियान्तरमे विनियुक्त नहीं होता। इस तरह अभ्युदयप्रधान धर्मशिक्षा क्रियाप्रधाना है और निःश्रेयस्प्रधान ब्रह्मशिक्षा ज्ञानशक्तिप्रधाना। शिक्षा नामक वेदाङ्ग तो शिक्षा है ही, सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्गादि और प्रभेदसहित लौकिक विद्या भी पारिभाषिक 'शिक्षा' ही है।

(२) वेदाङ्ग- शिक्षा—शिक्षाशास्त्रका साररूप इस प्रकार है—वर्णोकी संख्या तिरसठ अथवा चौसठ मानी गयी है। इनमे इक्कीस 'स्वर' (अ, इ, उ, ऋ, ह्रस्व-दीर्घ और प्लुतभेदसे बारह, ए, ओ, ऐ और औ दीर्घ और प्लुतभेदसे आठ तथा स्वरोके दु.स्पृष्ट मध्यवर्ती 'ल' एक,=इक्कीस),

---

४ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज। अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥(१८।६६)
५ तेषामह समुद्धर्ता मृत्युससारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥(१२।७)
६ तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानज तम। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥(१०।११)
७ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽर्जुन। ज्ञातु द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टु च परतप॥(११।५४)

पचीस 'स्पर्श' (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग), आठ यादि (य, र, ल, व, श, ष, स, ह) एवं चार 'यम'[१] माने गये है । अनुस्वार, विसर्ग, दो पराश्रित (क, ख तथा प, फ परे रहनेपर विसर्गके स्थानमे क्रमशः ≍ क, ≍ ख तथा ≍ प ≍ फ आदेश होते है, अत. ये दोनो 'पराश्रित' है । इन्हींको 'जिह्वामूलीय' और 'उपध्मानीय' कहते हैं।) वर्ण ≍ क, ≍ प और दु.स्पृष्ट लकार—ये तिरसठ ('ॡ' का 'ॠ' मे अन्तर्भाव मानकर) वर्ण हैं । इनमे प्लुत ॡकारको सम्मिलित कर लेनेपर वर्णोकी संख्या चौसठ हो जाती है ।

आत्मा (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) संस्काररूपसे अपने भीतर विद्यमान घट-पटादि पदार्थोको अपनी बुद्धिवृत्तिसे संयुक्त करके अर्थात् उन्हे एक बुद्धिका विषय बनाकर बोलने या दूसरोपर प्रकट करनेकी इच्छासे मनको उनसे संयुक्त करता है । संयुक्त हुआ मन कायाग्नि—जठराग्निको आहत करता है। फिर वह जठरानल प्राणवायुको प्रेरित करता है । वह प्राणवायु हृदयदेशमे विचरता हुआ धीमी ध्वनिमे उस प्रसिद्ध स्वरको उत्पन्न करता है, जो प्रात·-सवनकर्मके साधनभूत मन्त्रके लिये उपयोगी है तथा जो गायत्री नामक छन्दके आश्रित है । तदनन्तर वह प्राणवायु कण्ठदेशमे भ्रमण करता हुआ 'त्रिष्टुप्' छन्दसे युक्त माध्यन्दिन-सवनकर्म-साधन मन्त्रोपयोगी मध्यम स्वरको उत्पन्न करता है । तत्पश्चात् उक्त प्राणवायु शिरोदेशमे पहुँचकर उच्चध्वनिसे युक्त एवं 'जगती' छन्दके आश्रित सायं-सवन-कर्मसाधन मन्त्रोपयोगी स्वरको प्रकट करता है । इस प्रकार ऊपरकी ओर प्रेरित वह प्राण मूर्धामे टकराकर अभिघात नामक संयोगका आश्रय बनकर, मुखवर्ती कण्ठादि स्थानोमे पहुँचकर वर्णोको उत्पन्न करता है । स्वरसे, कालसे, स्थानसे, आभ्यन्तर प्रयत्नसे और बाह्य प्रयत्नसे वर्ण पञ्च प्रकारके हो जाते हैं । हृदय, कण्ठ, मूर्धा, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठद्वय तथा तालु—ये आठ वर्णोके उच्चारण-स्थान हैं । विसर्गका अभाव, विवर्तन (विवृत्ति), संधिका अभाव, शकारादेश, षकारादेश, सकारादेश, रेफादेश, जिह्वामूलीयत्व और उपध्मानीयत्व—'ऊष्मा वर्णोकी ये आठ प्रकारकी गतियाँ हैं । इन आठोंके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार है—शिवो वन्द्यः, क ईशः, हरिश्शेते, आविष्कृतम्, कस्कः, अहर्पति., क ≍ करोति, क ≍ पचति ।

जो उत्तमतीर्थ (कुलीन, सदाचारी, सुशील और सुयोग्य गुरु) से पढ़ा गया है, सुस्पष्ट उच्चारणमे युक्त है, सम्प्रदायशुद्ध है, सुव्यवस्थित है, उदात्तादि शुद्धस्वरसे तथा कण्ठ-ताल्वादि शुद्ध स्थानसे प्रयुक्त हुआ है, वह वेदाध्ययन शोभित होता है (अग्निपुराण, अ० ३३६ शिक्षा-निरूपण)।

(३) वैदिकी शिक्षा—'**शिक्षा शिक्ष्यतेऽनयेति वर्णाद्युच्चारणलक्षणम् । शिक्ष्यन्त इति वा शिक्षा वर्णादयः । शिक्षैव शीक्षा । दैर्घ्य छान्दसम् ।**' 'जिससे वर्णादिका उच्चारण सीखा जाय उसे 'शिक्षा' कहते हैं अथवा जो सीखे जायँ वे वर्ण आदि ही शिक्षा है । शिक्षाको ही 'शीक्षा' कहा गया है । शिक्षाके स्थानपर 'शीक्षा' वैदिक प्रक्रियाके अनुसार है ।' (शांकरभाष्य तैत्तिरीयोपनिषद् १।२।१)

'कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक'के प्रपाठक ७ को 'सांहिती उपनिषद्' कहते है । इसीको 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की 'शीक्षावल्ली' कहते हैं । इसकी दार्शनिकता यह है कि सम्पूर्ण जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म है । सम्पूर्ण अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवमण्डलके रूपमे वही अचिन्त्या, अनिर्वचनीया मायाशक्तिके योगसे विलसित हो रहा है । अधिदैवमण्डलके अनुग्रहसे जीवन सुखद होता है । देहेन्द्रिय, प्राण, मन और सम्पूर्ण जीवनकी सुपुष्ट तथा स्वस्थ उपलब्धि तथा अभिव्यक्ति सूर्य, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु, वायु आदि देवोकी अनुकम्पासे सम्भव है । इनकी ब्रह्मरूपसे

---

१. श्रीभट्टोजिदीक्षित लिखते है—'वर्गेष्वाद्याना चतुर्णा पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्ण· प्रातिशाख्ये प्रसिद्ध ।' यथा-पलिक्क्नी, चख्ख्नतु आदि । वर्गोके पञ्चम वर्णके परे रहते आदिके चार वर्णो तथा पञ्चमके मध्यमे जो उन्हींके सदृश वर्ण उच्चारित होते हैं, उन्हे 'यम' कहते है ।

वन्दना करनी चाहिये । गुरु और शिष्य दोनोके प्रीतिवर्धक, हितप्रद, योगक्षेमनिर्वाहक देववृन्द अवश्य ही आराध्य है । सुन्दर और सुखद प्रज्ञाशक्ति और प्राणशक्तिकी समुपलब्धिके लिये देवाराधन अवश्यकर्तव्य है ।

'सांहिती उपनिषद्' (शीक्षावल्ली) के अनुसार जीवनोपयोगी पञ्चविध दर्शन इस प्रकार है—

१-अधिलोकदर्शन—वायुके सधान (योग) से पृथ्वी और द्युलोक आकाशको द्योतित करते है । संहिताका प्रथम वर्ण पृथ्वी है, अन्तिम वर्ण द्युलोक है, मध्यभाग आकाश है और वायु सधान (उनका परस्पर सम्बन्ध) करानेवाला है ।

२-अधिज्योतिदर्शन—विद्युत्के योगसे अग्नि और आदित्य जलको व्यक्त करते है । सहिताका प्रथम वर्ण अग्नि है, अन्तिम वर्ण आदित्य है, मध्यभाग जल है और विद्युत् संधान है ।

३-अधिविद्यदर्शन—प्रवचन (प्रश्नोत्तररूपसे निरूपण) के योगसे गुरु-शिष्य विद्याको व्यक्त करते हैं । संहिताका प्रथम वर्ण आचार्य है, अन्तिम वर्ण शिष्य है, विद्या सधि है और प्रवचन सधान है ।

४ – अधिप्रजदर्शन—प्रजनन (ऋतुकालमे उपयुक्त मुहूर्त और तिथिमे) के योगसे माता-पिता प्रजाको व्यक्त करते है । संहिता (संधि) का प्रथम वर्ण माता है, अन्तिम वर्ण पिता है, प्रजा (संतान) सधि है और प्रजनन संधान है ।

५ – अध्यात्मदर्शन—जिह्वाके योगसे नीचे और ऊपरके हनु (होठ) वाणीको व्यक्त करते है । सहिताका प्रथम वर्ण नीचेका हनु है, अन्तिम वर्ण ऊपरका हनु है, वाणी संधि है और जिह्वा सधान है ।

अभिप्राय यह है कि पुरुषार्थचतुष्टयकी सिद्धिके लिये जिन हेतुओके संधानसे जिस संधि (फल) की प्राप्ति होती है, उसका परिज्ञान अत्यावश्यक है । 'कपालद्वयके सधानसे घट-सधि (कार्य) की सिद्धि होती है ।' इस तथ्यका ज्ञान हुए बिना कुलाल घट नही बना सकता । 'उपादान और निमित्तके योगसे कार्योत्पत्ति होती है' ऐसा बोध परमावश्यक है । क्रिया और ज्ञानकी सिद्धिमे अभिव्यञ्जक हेतुओ और उपयुक्त सधानोका बोध अपेक्षित है । अधिलोक और अधिज्योति-दर्शन अर्थ-पुरुषार्थके साधक है । अधिविद्यदर्शन मोक्ष-पुरुषार्थका साधक है । अधिप्रज-दर्शन काम-पुरुषार्थका साधक है । अध्यात्मदर्शन धर्मका साधक है । दर्शन अपने-आपमे उपासना है । उपर्युक्त दर्शनसे अर्थार्थीको अभीष्ट पशु (वाहन) और अन्नकी प्राप्ति होती है । कामार्थीको प्रजाकी प्राप्ति होती है । धर्मार्थीको स्वर्गकी सिद्धि होती है । मोक्षार्थीको ब्रह्मतेज (मोक्ष) की सिद्धि होती है ।

(४) शिक्षान्त- शिक्षा—वेदाध्ययन करानेके अनन्तर आचार्य शिष्यको उद्बोधित करते हुए सदाचार, संयम, शील, सत्य, स्वाध्याय, सत्संग और सन्मार्गदर्शनकी शिक्षा अनुपम रीतिसे प्रदान करते है । वे धर्मनियन्त्रित अर्थ और कामके द्वारा मोक्षोपयोगी जीवन जीनेकी अद्भुत विद्याका दिग्दर्शन कराते हैं । साथ ही 'श्रद्धा वह है जो श्रद्धेयमे स्थित दोषोका दर्शन कर श्रद्धेयके प्रति हेयभाव उदित न होने दे और हेयगुणोमे गुणबुद्धि न कराये ।' इस अनुपम रहस्यका भी प्रतिपादन करते है । प्राय· आचार्य बल-विशेषके बलपर स्वभावसिद्ध दोष और दुर्बलताओसे शिष्यको अवगत न कराकर अन्धानुकरणकी अपेक्षा रखते हैं । साथ ही अपनेसे भिन्न किन्ही सन्मार्गगामी सत्पुरुषके मार्गदर्शनका भी निषेध करते है । श्रौत आचार्य ऐसा नही करते । वे देव-पितृकार्योसे विमुख नही करते । माता-पिता-आचार्यके प्रति कृतज्ञ तथा अतिथिके प्रति अनुरक्त बनाते हैं—

'देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः ।' (तैत्तिरीयोपनिषद् १ । ११)

(५) वेदान्त- शिक्षा— ज्ञानी तत्त्वदर्शी

सद्गुरुदेवके कृपाकटाक्षका आलम्बन प्राप्तकर भगवत्कथा-श्रवण और ध्यानादिमें श्रद्धाकी अभिव्यक्ति होती है । उससे हृदयस्थित अनादि दुर्वासना-ग्रन्थिका विनाश होता है । उससे हृदयस्थित सभी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं । उससे हृदय-कमलकी कर्णिकामें हृदयेश्वरका आविर्भाव होता है । उससे दृढतरा वैष्णवी भक्तिकी अभिव्यक्ति होती है । उससे उत्कृष्ट वैराग्य होता है । वैराग्यसे बौद्धविज्ञानका आविर्भाव होता है । अभ्याससे क्रमश वह ज्ञान परिपक्व होता है । परिपक्वविज्ञानसे जीवन्मुक्त होता है । उससे शुभाशुभ सर्वकर्मोंका वासनासहित नाश होता है—

'यदा सद्गुरुकटाक्षो भवति तदा भगवत्कथा-श्रवणध्यानादौ श्रद्धा जायते । तस्माद्धृदयस्थितानादिदुर्वासनाग्रन्थिविनाशो भवति । ततो हृदयस्थिताः कामाः सर्वे विनश्यन्ति । तस्माद्धृदयपुण्डरीककर्णिकायां परमात्माविर्भावो भवति । ततो दृढतरा वैष्णवी भक्तिर्जायते । ततो वैराग्यमुदेति । वैराग्याद्बुद्धिविज्ञानाविर्भावो भवति । अभ्यासात्तज्ज्ञानं क्रमेण परिपक्वं भवति । पक्वविज्ञानाज्जीवन्मुक्तो भवति । ततः शुभाशुभकर्माणि सर्वाणि सवासनानि नश्यन्ति ।।'
(त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् ५)

(६) सारांश और उद्बोधन—इस प्रकार 'शिक्षा' पराचितिस्वरूपा भगवतीकी क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिप्रधान अभिव्यक्ति है । पराचितिरूपसे अवस्थितिमें ही शिक्षाकी सार्थकता है । इस योग्यताके लिये ही समस्त प्रवृत्तियों और निवृत्तियोंका शास्त्रोंमें विधान है । प्रवृत्तिका फल निवृत्ति और निवृत्तिका फल निर्वृति (परमानन्द) की प्राप्ति है ।

आजके इस वैज्ञानिक युगमे भी व्यक्तिका परम कल्याण वेदोक्त शिक्षा-प्रणालीसे ही सम्भव है । धर्मनियन्त्रित शिक्षापद्धतिके बिना वेदोक्त ज्ञान-विज्ञानकी अभिव्यक्ति असम्भव है । दूषित शिक्षा व्यक्तिको विनाशोन्मुख करनेमें समर्थ है । वह वस्तुत शिक्षा कहने योग्य ही नहीं है ।

सेवा, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य और शिक्षाविभागमें हुए आश्चर्यजनक आविष्कारोका उपयोग भी 'जीविका है जीवनके लिये और जीवन है जीवनधन कमनीय, वरणीय, परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये' इसी उद्देश्यसे होना चाहिये ।

मत्सम्प्रदायके अनुगत होकर अधिदैवमण्डलसे दिव्य सम्बन्ध स्थापित कर यान्त्रिक, मान्त्रिक और तान्त्रिक विधाओंका परिज्ञान प्राप्तकर सम्पूर्ण विश्वको अभ्युदय—निःश्रेयसप्रद स्वस्थ मार्गदर्शन प्रदान करना भारतीय मनीषियोंका अनुग्रहपूर्ण दायित्व है ।

आध्यात्मिक सुखका महत्त्व

मानव-जीवनकी सार्थकता और कृतकृत्यता आध्यात्मिक सुख-शान्तिमें है । उसके लिये सदैव जागरूक रहना चाहिये । चित्तका संशोधन अनेक उपायोंसे करना चाहिये । परदोष, पर-निन्दा, परस्वापहरणकी भावनाओंसे, जो आज मानवको दानव बना रही हैं, बचना चाहिये । असत्यभाषणका अवरोध और सत्यभाषणकी चेष्टा सदैव करनी चाहिये, तभी मनुष्य अपने लक्ष्यकी पूर्ति कर सकता है और मानव-शरीरकी सफलता प्राप्त कर सकता है । अन्यथा—'तस्यामृतं क्षरति हस्तगतं प्रमादात् ।'के अनुसार मानव अमृतके हस्तगत घटको अपने हाथसे गिराकर प्रमादका परिचय देगा । अतः आध्यात्मिक सुखकी प्राप्तिके लिये सदैव प्रयत्न करना चाहिये ।

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायणमें शिक्षा

(स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराज, लक्ष्मणकिलाधीश)

आर्यावर्त भारतवर्षमे प्राचीनकालसे मानव-जीवनमे शिक्षाका विशेष महत्त्व रहा है। तत्त्व-साक्षात्कारसे लेकर चरित्र-निर्माणपर्यन्त जीवनके विविध पक्षोमें सत्-शिक्षा मानवको सदा उन्नत करती रही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्ण तो क्या पशु-पक्षी—अश्व, हस्ती, शुक आदि भी यथायोग्य भिन्न-भिन्न शिक्षाओमे अधिकृत थे। गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रमको सर्वविध सुखमय बनाने-हेतु ब्रह्मचर्याश्रम (बाल्यावस्था) मे ही शिक्षाके लिये गुरुकुलमें जाकर अध्ययनद्वारा वेद-वेदाङ्ग आदि शास्त्रोमे योग्यता प्राप्त की जाती थी। यहाँतक कि भारतभूमिमें अवतार लेनेवाले ईश्वरको भी गुरुद्वारा शिक्षा प्राप्त करनेकी विचित्र परम्पराका निर्वाह यहाँ दृष्टिगोचर होता है—श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्ध, अध्याय पैतालीसमे स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलरामजी सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये अवन्तीपुर—उज्जैन-निवासी काश्यगोत्रीय श्रीसान्दीपनि मुनिके समीप गये थे—

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ।

× × × ×

अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः।
काश्यं सांदीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम्॥

× × × ×

अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः।

(३०, ३१, ३६)

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम भी गुरुकुलमे जाकर महर्षि वसिष्ठसे सम्पूर्ण विद्याओंकी शिक्षा स्वल्पकालमे ही ग्रहण कर लेते हैं—

गुरगृहँ गए पढन रघुराई। अलप काल विद्या सब आई॥
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी॥

(रा० च० मा० बा० २०४। ४-५)

प्राचीन शिक्षा-प्रणालीकी यह विशेषता थी कि वेदसे लेकर रामायणपर्यन्त सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मय विद्वानोको कण्ठस्थ रहते थे। इसीलिये वेदका दूसरा नाम अनुश्रव है; क्योंकि गुरुके उच्चारणके बाद जिसका उच्चारण किया जाय उसे अनुश्रव (वेद) कहते है। मुण्डकोपनिषद्मे परा तथा अपरा—इन दो विद्याओका वर्णन है—'**द्वे विद्ये वेदितव्ये—परा चैवापरा च।**' ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष—ये सभी अपरा विद्याके अन्तर्गत हैं। जिससे अविनाशी परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वह परा विद्या है।

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।

पुराकालमे सर्वज्ञ महर्षिगण भी कभी-कभी किसी महापुरुषके समीप जाकर शिक्षा ग्रहण करते थे। छान्दोग्य-उपनिषद्मे स्पष्ट है कि एक बार देवर्षि नारद महर्षि सनत्कुमारके समीप शिक्षा ग्रहण करनेके लिये पधारे तथा उनसे प्रार्थना की—'प्रभो! मुझे उपदेश कीजिये।' महर्षि सनत्कुमारने कहा—'तुम्हे जो कुछ ज्ञात है उसे बताओ, तत्पश्चात् मेरे प्रपन्न होओ, तब उससे आगे मैं तुम्हे उपदेश करूँगा।' श्रीनारदजीने कहा—'मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद जानता हूँ। इसके अतिरिक्त इतिहास-पुराणरूप पञ्चम वेद, वेदोका वेद व्याकरण, श्राद्ध, कल्प, गणित, उत्पातविज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या—यह सब मैं जानता हूँ।' श्रीसनत्कुमारजीने कहा—'तब तो तुम सब कुछ जानते हो।' देवर्षि बोले—'मैं मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नही हूँ। आप-जैसे महापुरुषोसे मैंने सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पार कर लेता है। मुझे शोक है; अतः आप मुझे शोकसे पार करे।' इसपर महर्षि सनत्कुमारने देवर्षि नारदको नामकी उपासनाका उपदेश किया। इसका विशद वर्णन छान्दोग्योपनिषद्मे किया गया है—'**अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः**

·····नामैवैतत्' । इससे स्पष्ट है कि देवर्षि नारदको श्रीसनत्कुमारजीने परा विद्याका ही उपदेश किया था ।

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण साक्षात् वेदावतार है । वेदवेद्य पुरुषोत्तम भगवान् जब दशरथनन्दन श्रीरामके रूपमे अवतीर्ण हुए, तब वेद भी महर्षि वाल्मीकिके द्वारा रामायणके रूपमे अवतरित हुए—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना ॥

जब महर्षि वाल्मीकिने सम्पूर्ण श्रीमद्रामायणका निर्माण कर लिया, तब उन्हे यह चिन्ता हुई कि चौबीस हजार श्लोकोके इस समग्र आदिकाव्यको कौन कण्ठस्थ करेगा? महर्षि इस प्रकार चिन्ता कर ही रहे थे कि कुश-लव दोनो भ्राताओने उनके चरण पकड़कर कहा कि हम दोनो भाई इसे कण्ठस्थ करेगे ।

धर्मज्ञ, यशस्वी, कुश-लव मुनिवेश धारण किये हुए वस्तुत· राजकुमार ही है । चारो वेदोमे पारङ्गत एवं आश्रमवासी होनेके कारण अत्यन्त प्रीतिसे महर्षिने स्वरसम्पन्न दोनो भाइयोको देखा । वेदार्थके विस्तारके लिये महर्षिने दोनो भाइयोको रामायणकी शिक्षा दी—

स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥
(वाल्मी० १ । ४ । ६)

जिस समय महर्षिने कुश-लवको रामायणकी शिक्षा दी थी, उस समय दोनो भाइयोकी अवस्था प्राय· बारह वर्षकी थी । इस स्वल्प वयमे अङ्गोसहित समस्त वेद, उपवेदोका ज्ञान चमत्कार ही कहा जा सकता है—ऋक्, यजु·, साम, अथर्वके भेदसे चार वेद प्रसिद्ध हैं तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थशास्त्र—ये चार उपवेद हैं—

आयुर्वेदो धनुर्वेदो वेदो गान्धर्व एव च ।
अर्थशास्त्रमिति प्रोक्तमुपवेदचतुष्टयम् ॥

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिषके भेदसे वेदाङ्ग छ· हैं—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः ।
छन्दसां विचितिश्चेति षडङ्गानि प्रचक्षते ॥

धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा, आन्वीक्षिकी (तर्क-विद्या) अङ्गोके साथ ये चार उपाङ्ग भी है—

धर्मशास्त्रं पुराणं च मीमांसान्वीक्षिकी तथा ।
चत्वार्येतान्युपाङ्गानि शास्त्रज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥

इन समस्त वेद-शास्त्रोमे तो कुश-लवजी निष्णात थे ही, किंतु संगीत-शास्त्रमे उनकी प्रतिभा असाधारण थी । वे वीणावादनसे लेकर मूर्छनापर्यन्त संगीतकी समस्त विद्याओमे पारङ्गत थे । उन्होने चौबीस हजार श्लोकोको कण्ठस्थ कर गान किया था—

वाचो विधेयं तत्सर्वं कृत्वा काव्यमनिन्दितौ ।
× × × ×
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ ॥

'वाचो विधेयम्'का अर्थ है—बारंबार आवृत्ति करनेसे जो प्रबन्ध अपनी वाणीके वशमे हो जाता है उसे **'वाचो विधेयम्'** कहते है । इस प्रकार मैथिली-पुत्र श्रीकुश-लवजीकी वाणीके वशमे श्रीमद्रामायण महाकाव्य था । इन्होने सत महापुरुषो, ऋषि-महर्षियोके मध्य एव भगवान् श्रीरामके दरबारमे रामायण महाकाव्यका गान कर अपनी असाधारण योग्यताको प्रकट कर दिया ।

इसी प्रकार रुद्रावतार ज्ञानियोमे अग्रगण्य श्रीहनुमान्जी भगवान् सूर्यके पास पधारे । भगवान् सूर्यने बाल्यकालमे इन्हे वरदान देते समय कहा था कि जब इन्हे शास्त्राध्ययन करनेकी सामर्थ्य आ जायगी तब किशोरावस्थामे इन्हे शास्त्रोका ज्ञान प्रदान करूँगा, जिससे ये महान् वक्ता होगे तथा शास्त्रज्ञानमे इनकी समता करनेवाला कोई नही होगा । तदनुसार श्रीहनुमान्जी व्याकरणशास्त्रका अध्ययन करनेके लिये श्रीसूर्य भगवान्के पास पहुँचे तथा सूर्यकी ओर मुख करके वे महान् ग्रन्थका अध्ययन करते हुए उनके आगे-आगे उदयाचलसे अस्ताचलतक जाते थे । उन्होने इसी क्रमसे अत्यन्त क्लिष्ट कर्म करके सूत्र, वृत्ति, वार्तिक, महाभाष्य, व्याडिकृत-संग्रह आदि समस्त ग्रन्थोका भलीभाँति अध्ययन किया । शास्त्रोके ज्ञान तथा छन्द·-शास्त्रके ज्ञानमे भी उनकी समता करनेवाला दूसरा कोई विद्वान् नही हुआ । समस्त विद्याओके ज्ञान तथा तपमे वे देवगुरु

वृहस्पतिकी समता करते हैं । श्रीहनुमान्‌जी नवों व्याकरणोंके ज्ञाता हैं—

असौ पुनर्व्याकरणं ग्रहीष्यन् .....
ब्रह्मा भविष्यत्यपि ते प्रसादात्।

(वा० रा० ७ । ३६ । ४५, ४६)

वटु-वेषधारी श्रीहनुमान्‌जीने किष्किन्धाकाण्डमें जव भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणसे उनका परिचय करनेकी जिज्ञासा की थी, उस समय उनकी सुव्यवस्थित और मधुर वाणी सुनकर इनके असाधारण पाण्डित्य एवं माधुर्यकी प्रशंसा करते हुए स्वयं श्रीरघुनाथजीने कहा था—'लक्ष्मण ! जिसे ऋग्वेदकी शिक्षा प्राप्त न हुई हो, जिसने यजुर्वेदका अभ्यास न किया हो तथा जो सामवेदका विद्वान् न हो वह इस प्रकार सुन्दर भाषामें वार्तालाप करनेमे समर्थ नहीं हो सकता, अतः निश्चय ही इन्होंने सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्रका अनेक बार स्वाध्याय किया है; क्योंकि वहुत वोलनेपर भी इन्होंने किसी अशुद्ध वाक्यका उच्चारण नहीं किया—एक भी अशुद्धि नहीं हुई । सम्भाषणके समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य अङ्गोंमें कोई दोष प्रकट नहीं हुआ ।'

पाणिनीय शिक्षामें स्पष्ट है कि गाकर, अतिशीघ्र, सिरको हिलाकर, स्वयं लिखकर, अर्थज्ञानरहित, अत्यन्त धीमे स्वरमे अस्पष्ट उच्चारण—ये छः पाठक एवं वक्ताके दोष हैं । (जो श्रीहनुमान्‌जीमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते ।) सिर, भौंह, नेत्र तथा शरीरके अन्य अङ्गोंको विना हिलाये तैलपूर्ण पात्रकी भाँति स्वयंको स्थिर रखकर प्रत्येक वर्णका प्रयोग (उच्चारण) करना चाहिये[1]।

श्रीहनुमान्‌जीने विना विस्तार किये, थोड़ेमे ही अत्यन्त स्पष्ट संदेहरहित, विना रुके किंतु धीरे-धीरे अद्भुत मधुर वाणीका उच्चारण किया है । इनकी वाणी हृदयमे मध्यमारूपसे स्थित है तथा कण्ठसे वैखरीरूपमें प्रकट होती है, अत. वार्तालाप करते समय इनका स्वर अत्यन्त मन्द या ऊँचा नहीं था । मध्यम स्वरमें ही इन्होंने वार्तालाप किया है ।

श्रीहनुमान्‌जीने संस्कार और क्रमसे सम्पन्न, अद्भुत, अविलम्बित तथा हृदयहारिणी कल्याणमयी वाणीका उच्चारण किया है । हृदय, कण्ठ और मूर्धा—इन तीन स्थानोंद्वारा स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त होनेवाली इनकी इस विचित्र वाणीको सुनकर किसका चित्त प्रसन्न न होगा ? यह वाणी वध करनेके लिये तलवार उठाये हुए शत्रुके चित्तको भी विमुग्ध कर लेगी, फिर सज्जनों एवं मित्रोंके मनको आकृष्ट कर ले इसमें आश्चर्य ही क्या है ?[2]

इस प्रकार विद्याओंके सागर होनेपर भी रुद्रावतार श्रीहनुमान्‌जीने सूर्यसे व्याकरणशास्त्रकी शिक्षा ग्रहण कर अपने वैदुष्यसे श्रीराघवेन्द्रको भी चकित कर दिया ।

रामायणकालमें तो अयोध्यानगरीमे कोई भी मनुष्य अविद्वान्, मूर्ख एवं नास्तिक दृष्टिगोचर नहीं होता था । वेदके छः अङ्गोंके ज्ञानसे रहित उस पुरीमें कोई नहीं था अर्थात् सभी वेदज्ञ और शास्त्रज्ञ थे । उस कालमें शिक्षाका अत्यधिक प्रचार-प्रसार था—

द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः ॥
× × × ×
नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्रदः ॥

(वा० रा० १ । ६ । ८,१५)

इतना ही नहीं, उस समय राक्षस भी वेदोंमें पारङ्गत तथा यज्ञ-यागादिका यजन करनेमें दत्तचित्त होते थे । श्रीजानकीजीके अन्वेषणार्थ जव श्रीहनुमान्‌जी लङ्काकी अशोकवाटिकामें पहुँचे, उस समय श्रीसीताजीका दर्शन कर परम हर्षित हो श्रीहनुमान्‌जी शिंशपा वृक्षपर ही छिपे रहे । उस समय एक पहर रात्रि अवशिष्ट थी । रात्रिके उस पिछले पहरमें छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके विद्वान्

---

१. गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठक· । अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च पडेते पाठकाधमा ॥
न शिरः कम्पयेद् गात्र भ्रुवौ चाप्यक्षिणी तथा । तैलपूर्णमिवात्मान तत्तद्वर्णे प्रयोजयेत् ॥

२. संस्काक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम् । उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहारिणीम् ॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया । कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥

तथा श्रेष्ठ यज्ञोद्वारा यजन करनेवाले ब्रह्मराक्षसोके घरमे होनेवाले वेदपाठकी ध्वनिका श्रीहनुमान्‌जीने श्रवण किया—

षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मनिर्घोषं विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥

इसी प्रकार स्त्रियाँ भी शिक्षाओमे पारङ्गत, शास्त्रज्ञा एव मन्त्रवेत्री होती थीं। महारानी कौसल्या श्रीरामके राज्याभिषेकका संवाद श्रवणकर उनकी मङ्गलकामनासे भगवान् विष्णुका पूजन कर रही थीं। भगवान् श्रीरामने अन्त·पुरमे प्रविष्ट होकर देखा कि श्रीकौसल्याम्बा रेशमी वस्त्र धारण कर अत्यन्त हर्षपूर्ण हृदयसे व्रत करती हुई मङ्गलकृत्य पूर्णकर ब्राह्मणोद्वारा अग्निमे आहुतियाँ दिला रही थी—

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला॥

किंतु जब श्रीकौसल्याम्बाने प्रभु श्रीरामके वनगमनका समाचार सुना, तब अन्तमे उन्होने अपने प्यारे पुत्रके लिये (अयोध्याकाण्डके पचीसवे सर्गमे) जो मङ्गलाशासन किया है इससे उनके असाधारण वैदुष्यका प्रबल प्रमाण उपलब्ध होता है। माताने श्रीरामको आशीर्वाद देते हुए कहा—'महर्षियोंसहित साध्य, विश्वेदेव, मरुद्‌गण, धाता, विधाता, पूषा, भग, अर्यमा, इन्द्र, लोकपाल, स्कन्ददेव, सोम, बृहस्पति, सप्तर्षिगण, नारद आदि समस्त देवता तुम्हारा कल्याण करे। छहो ऋतुएँ, मास, सवत्सर, रात्रि, दिन, मुहूर्त सभी तुम्हारा मङ्गल करे तथा श्रुति, स्मृति, धर्म आदि सभी ओरसे तुम्हारी रक्षा करे।'

इस प्रकार विस्तारपूर्वक मङ्गलाशासन करके विशाललोचना श्रीकौसल्याजीने श्रीरामके मस्तकपर चन्दन, अक्षत और रोली लगायी तथा सम्पूर्ण मनोरथोको सिद्ध करनेवाली विशल्यकरणी नामक शुभ औषध लेकर रक्षाके उद्देश्यसे मन्त्र पढ़ते हुए उसे श्रीरामके हाथमे बाँध दिया तथा उसमे उत्कर्ष लानेके लिये मन्त्रका जप भी किया एव स्पष्टरूपसे मन्त्रोच्चारण भी किया—

ओषधिं च सुसिद्धार्थां विशल्यकरणीं शुभाम्।
चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च॥

मङ्गलाशासन-प्रसङ्गसे स्पष्ट है कि महारानी कौसल्या पौराणिक गाथाओसे भी सुपरिचित थी।

विदेहनन्दिनी श्रीजानकीजीके तो वैदुष्यकी कोई सीमा ही नहीं है। वे लोकगाथाओसे लेकर पौराणिक गाथाओ, राजधर्म आदि विषयोकी सम्यक् ज्ञात्री है। वे अपने प्रियतम प्रभु श्रीरामकी मङ्गलकामना करती हुई कहती हैं—'आप राजसूय-यज्ञमे दीक्षित होकर व्रतसम्पन्न श्रेष्ठ मृगचर्मधारी, पवित्र एवं हाथमे मृगका शृग धारण करनेवाले हो—इस रूपमे मैं आपका दर्शन करती हुई आपकी सेवा करूँ।'—

दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वराजिनधरं शुचिम्।
कुरङ्गशृङ्गपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम्॥

पुन· मङ्गलाशासन करते हुए उन्होने कहा—'पूर्व दिशामे वज्रधारी इन्द्र, दक्षिण दिशामे यमराज, पश्चिम दिशामे वरुण और उत्तर दिशामे कुबेर आपकी रक्षा करे'—

पूर्वां दिशं वज्रधरो ···· धनेशस्तूत्तरां दिशम्।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकके शुभ संवादको श्रवणकर राजधर्मोको जाननेवाली श्रीसीताजी सामयिक कर्तव्योको पूराकर तथा देवताओका अर्चन करके प्रसन्न-चित्तसे श्रीरामके आगमनकी प्रतीक्षा कर रही थी—

देवकार्यं स्वयं कृत्वा कृतज्ञा हृष्टचेतना।
अभिज्ञा राजधर्माणां राजपुत्रं प्रतीक्षते॥

इसी प्रकार परम विदुषी श्रीजानकीजीको रावणसे संस्कृतमे वार्तालाप करते देखकर ही श्रीहनुमान्‌जीने विचार किया था कि यदि मैं द्विजकी भाँति संस्कृत-भाषाका प्रयोग करूँगा तो श्रीसीताजी मुझे रावण समझकर भयभीत हो जायँगी, अत· मैं उनसे लोकभाषा अवधीमे ही वार्तालाप करूँगा—

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥
अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्।

(वा० रा० सु० ३०।१८, १९)

रावण-वधके पश्चात् श्रीमैथिलीने हनुमान्‌जीको प्राचीन

पौराणिक गाथा सुनाकर राक्षसियोके वधसे विरत कर दिया था—

अयं व्याघ्रसमीपे तु पुराणो धर्मसंहितः।
ऋक्षेण गीतः श्लोकोऽस्ति तं निबोध प्लवङ्गम॥

इतना ही नहीं, वाल्मीकि-रामायणके अनेक स्थलोमे श्रीजानकीजीका वैदुष्य प्रकट हुआ है। वालिपत्नी ताराको भी महर्षिने मन्त्रवेत्री कहा है—तारा पतिकी विजय चाहती थी और उसे मन्त्रका भी ज्ञान था, इसलिये उसने वालिकी मङ्गल-कामनासे स्वस्तिवाचन किया—

ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद्विजयैषिणी।

(वा० रा० ४।१६।१२)

एतावता वाल्मीकि-रामायणमे प्राचीन भारतकी शिक्षा-पद्धतिका सम्यक् दर्शन होता है तथा स्त्रीशिक्षाका महत्त्व भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यदि आजके युगमें भी प्राचीन शिष्य-परम्परा और नैतिकतापूर्ण शिक्षाका अनुसरण किया जाय तो देशका भविष्य उज्ज्वल होकर सर्वत्र शान्तिकी स्थापना हो सकती है।
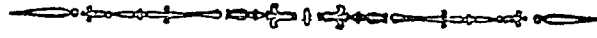
मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका विद्याध्ययन

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

उपनीता वसिष्ठेन सर्वविद्याविशारदाः।
धनुर्वेदे च निरताः सर्वशास्त्रार्थवेदिनः॥

गुरु वसिष्ठजीने चारो भाइयोका उपनयन-सस्कार किया। रघुनाथजी भाइयोके साथ गुरु वसिष्ठजीके घर विद्याध्ययनके लिये गये। प्राचीन कालमे ऐसी मर्यादा थी कि महाराजाका पुत्र क्यो न हो, किंतु उसे भी पढ़ानेके लिये गुरु राजमहलमे नही जाते थे। राजकुमार गुरुके आश्रममे जाकर ही वेद-शास्त्रका अध्ययन करता था। आजकल तो मास्टर लड़केको पढ़ानेके लिये घर जाता है। मास्टर घरमे पढ़ाने आवे तो लड़का ऐसा समझता है कि मेरे पिताने यह एक नौकर रख लिया है। मास्टरमे ऐसी श्रद्धा नहीं होती कि यह तो ज्ञानदान करनेवाला गुरु है। गुरुदेवका ऋण अनन्त है। सद्गुरुकी कृपासे ही ज्ञान सफल होता है।

श्रीराम पढ़नेके लिये गुरु वसिष्ठजीके आश्रममे गये थे। श्रीराम परमात्मा है, परंतु इस संसारमे आनेके बाद उन्हें भी गुरुदेवकी आवश्यकता पड़ती है। यह संसार ऐसा मायामय है कि इसमे जो कोई आता है उसे कुछ-न-कुछ माया तो व्याप्त होती ही है। कोयलेकी खानमे कोई उतरे और बढ़-चढ़कर बाते करे कि 'मैं बहुत चतुर हूँ, सावधान रहता हूँ कि जिससे मुझे तनिक-सा भी काला धब्बा न लगे'—क्या यह शक्य है? अरे! जो कोयलेकी खानमे उतरा है, उसे तो धब्बा लगना ही है। यह संसार मायामय है। इस मायामय संसारमें जो कोई आया, उसे कुछ तो माया व्यापती ही है।

मायासे बचना हो तो सद्गुरुकी शरणमें जाना अत्यन्त आवश्यक है—

माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पडन्त।
कहै कबीर गुरु ग्यान ते एक आध उबरन्त॥

श्रीरामचन्द्रजी तो परमात्मा है, मायारहित शुद्ध ब्रह्म हैं। श्रीरामजी जगत्को ज्ञान देते हैं कि 'मै ईश्वर हूँ, उसपर भी मुझे सद्गुरुकी आवश्यकता पडती है।' आजकल तो बहुत-से लोग आराम-कुर्सीपर पडे-पड़े पुस्तके पढ़कर ही ज्ञानी हो जाते है और व्याख्यान भी अच्छा देते हैं। पुस्तकोको पढ़कर मिला हुआ ज्ञान तुम्हे कदाचित् दो पैसा प्राप्त करा दे, प्रतिष्ठा दिला दे, परंतु अंदरकी शान्ति नही दिलायेगा। पुस्तके पढ़कर मिला हुआ ज्ञान भूल जाता है। छ.-आठ महीने कोई न पढ़े तो धीरे-धीरे उसे भूलने लग जाता है। पुस्तकोसे मिला हुआ ज्ञान पुस्तकोमे ही रहता है, मस्तकमे आता नहीं

श्रीरामकी गुरुजनभक्ति

और आ भी जाय तो ठहरता नहीं, किंतु परमात्माकी कृपासे जिसे ज्ञान मिला है, वह भूलता नहीं। जिसे सद्गुरुका आशीर्वाद मिला है, जिसने सद्गुरुकी सेवा की है, उसका ज्ञान स्थायी होता है। गुरुदेवके आशीर्वादसे ज्ञानमे स्थिरता आती है। ज्ञान मिलना बहुत कठिन नहीं, अपितु उसका स्थिर रहना बहुत कठिन है।

मनुष्य मूर्ख नहीं, परतु मनुष्यका ज्ञान स्थिर रहता ही नहीं। परमात्मा जिसे ज्ञान देते हैं, उसीका ज्ञान स्थिर रहता है। परमात्माको जिसपर दया आयी, उसीको विषयोमे वैराग्य दीखता है। उसीको संसारके सुख तुच्छ लगते है। ससार-सुखके प्रति मनमे घृणा आवे तो मानना चाहिये कि परमात्माने कृपा की है। पूर्ण संयमके बिना ज्ञान आता नही। पुस्तके पढ़कर जो शब्दज्ञान मिलता है, उससे अभिमान हो जाता है, किंतु सद्गुरु-कृपासे, ईश्वर-कृपासे प्राप्त हुआ ज्ञान विनय, विवेक, सद्गुण और सदाचार लाता है।

पारसके परसन ते, कचन भई तलवार।
तुलसी तीनो ना गये, धार मार आकार॥
ज्ञान हथौडा हाथ लै, सद्गुरु मिला सुनार।
तुलसी तीनो मिट गये, धार मार आकार॥

सद्गुरु ही संसार-सागरके माया-मगरसे बचाते है, अदरकी वृत्तियोका विनाश करते है, वासना-विकार मिटा देते है और संसार-सागरसे पार करा देते है। ऐसे सद्गुरुकी आज उपेक्षा होती है और केवल पुस्तकीय ज्ञानका प्रचार चलता है। बहुत वर्षोतक पुस्तक पढ़ते हुए भी जो ज्ञान नही प्राप्त होता, वह संतकी कृपासे क्षण-मात्रमे प्राप्त हो जाता है। किसी संत महापुरुषकी तन, मन, धनसे सेवा करोगे तो संतका हृदय पिघलेगा और अन्तरका आशीर्वाद प्राप्त होगा। सेवासे विद्या सफल होती है। श्रीरामजी गुरुकुलमे रहकर गुरुजीकी सेवा करने लगे। श्रीकृष्णने भी सांदीपनि ऋषिके आश्रममे रहकर गुरुजीकी खूब सेवा करके ज्ञान प्राप्त किया था।

भगवान् शकर माँ पार्वतीसे कहते है—'देवि! जिन परमात्माकी श्वाससे वेद प्रकट हुए है, वे ही भगवान् गुरु वसिष्ठके घर पढ़ने बैठे है।' धनुर्वेदका अध्ययन प्रभुने वही किया। समस्त वेद-शास्त्रोका अध्ययन किया। श्रीरामजीने गुरु वसिष्ठके पास पैसा कमानेकी विद्या नही पढ़ी, अध्यात्म-विद्या पढी थी। आत्माका स्वरूप क्या है? परमात्मा क्या है? कैसा है? आत्मा-परमात्माका सम्बन्ध क्या है? यह जगत् क्या है? जीवन क्या है? जीवनका लक्ष्य क्या है? इस अध्यात्म-विद्याका श्रीरामजीने अध्ययन किया था।

आजकल अधिकतर स्कूल-कॉलेजोमे पैसा कमानेकी ही विद्या पढायी जाती है। जीवनमे पैसेकी आवश्यकता है, परतु पैसा मुख्य नही, परमात्मा मुख्य है। ऋषियोने धनको साधन माना है, साध्य नही। पैसा कमानेकी विद्या कोई विद्या नही। अध्यात्म-विद्या ही विद्या है। संसार-बन्धनसे छुड़ानेवाली विद्या ही सच्ची विद्या है। आजकल ज्ञान तो बहुत बढ़ा है, परंतु उसका उपयोग छल-कपट करनेमे ही होता है। यह भी क्या ज्ञान है? यह कोई विद्या कही जा सकती है? सच्ची विद्या तो यह है कि जिसे प्राप्त होनेपर आत्म-स्वरूपका ज्ञान हो। शरीर और इन्द्रियोका सुख मेरा सुख नही। मैं शरीरसे भिन्न हूँ। शरीरसे आत्मा पृथक् है—जो ऐसा ज्ञान प्रदान करे, वही विद्या सच्ची है। सच्ची विद्या वही है जो जीवको प्रभुके चरणोमे ले जाती है, मुक्ति दिलाती है—**सा विद्या या विमुक्तये।**

ज्ञान पैसा कमानेके लिये नही, प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये नही, अपितु परमात्माको प्राप्त करनेके लिये है। ज्ञान ईश्वरकी आराधना करनेके लिये है, परमात्माके साथ एक होनेके लिये है। जिसके जीवनमे पैसा और काम-सुख मुख्य है, उसका जीवन व्यर्थ है। जो विद्याका उपयोग भोगके लिये करे, वह विद्वान् नही। विद्याका उपयोग जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेके लिये करे, वह विद्वान् है। विद्याके साथ सयम तथा सदाचारका शिक्षण मिले तभी विद्या सफल होती है। प्राचीन कालमे ऋषि ब्रह्मचारीको विद्याके साथ संयम-सदाचारका शिक्षण देते थे।

पढ़ानेवाले ऋषि जितेन्द्रिय और विरक्त होते थे, इसलिये पढ़नेवाले विद्यार्थियोमे भी संयम उत्पन्न होता था। संयम ही सुख देनेवाला है। विद्यार्थी-अवस्थामे

संयमकी अत्यन्त आवश्यकता है । गुरुकुलमे रहकर तीन बार संध्या करना, वेदाध्ययन करना, सादा भोजन करना, गुरुकी सेवा करना—इन सब प्रकारके सद्‌गुणोका संग्रह करते हुए विद्यार्थी संयम और सात्त्विकता जीवनमे उतारते थे । बड़े-बडे राजाओके बालक भी गुरुकुलमे रहते हुए सादा भोजन करते और सादा जीवन व्यतीत करते थे ।

गुरुके संस्कार विद्यार्थियोमे आते है । डिग्री मिले, इससे गुरु होनेका अधिकार नही मिल जाता । जो विलासी जीवन बितावे और वह 'शांकरभाष्य' पढ़ावे, उसका कोई अर्थ नही । गृहस्थाश्रमी विलासी जीवन व्यतीत करे, वह तो किसी प्रकार क्षम्य है, परंतु विद्यार्थी विलासी जीवन बितावे, यह बिलकुल अक्षम्य है; क्योंकि विद्यार्थी यदि विलासमे फँसे तो विद्याका नाश हो जाता है ।

भारतमे जबतक ब्रह्मचर्य-आश्रमका पालन होता था, तबतक भारत-भूमि दिव्य थी । जबसे ब्रह्मचर्यकी प्रथा छिन्न-भिन्न हुई, तबसे अपने देशकी दशा बिगड़ने लगी । एक साधुने हमसे कहा—अपने भारतकी दशा कहाँसे बिगडी ? इस देशमे सिनेमा, रेडियो आये, तबसे भारतकी दशा बहुत ही बिगडने लगी । सहशिक्षणके दूषणका प्रवेश हुआ, तबसे बहुत ही बिगड़ी । लडके-लड़कियाँ एक साथ पढे और संयम रखे, यह कठिन है ।

ब्रह्मचारी स्त्रीका स्पर्श न करे, स्त्रीका चित्र भी न देखे, शृंगारके गीत न सुने और न गाये । वह क्रम-क्रमसे संयमका पालन करे । श्रीरामचन्द्रजीने पूर्ण संयमका पालन किया, जिससे छोटी अवस्थामें थोड़े समयमें ही उन्होंने वेदाभ्यासमें निपुणता प्राप्त कर ली । विद्याध्ययनके उपरान्त श्रीरामचन्द्रजी पिताकी आज्ञा लेकर तीर्थयात्रा करने गये । वहाँसे लौटनेके पश्चात् उनके मनमे उदासी छा गयी । भगवान्‌की यह लीला थी । परमात्माको इसके द्वारा जगत्‌को वैराग्यका उपदेश दिलानेकी इच्छा थी । श्रीरामजी उपदेश देते हैं आचरणसे । वे बहुत बोलते नहीं, परंतु आचरण करके बताते है । उन्होंने जीवनमें वैराग्यका आचरण करके बताया । उनकी उस समय सोलह वर्षकी अवस्था थी, वे विचारने लगे कि जो आज खिला हुआ हैं उसे कल मुरझाना हैं, कुम्हलाना है । जिसका आज विकास है, उसका आनेवाले कलको विनाश हैं । यौवन क्षणभङ्गुर है । वृद्धावस्था तो अवश्य आनी ही है । क्षणिक सुखके लिये मनुष्य पूरे दिन मन्थन करे और उसीमे जीवन बिगाडे, यह अज्ञान है । इस जीवनमें सच्चा सुख क्या है ? सच्चा सुख कहाँ है ? इस जगत्‌मे जो कुछ भी दिखायी देता है, वह सब झूठा है, अनित्य है । ऐसे अनित्य सुखके पीछे जीवन गवाँना उचित नही । हमे शाश्वत सुखकी खोज करनी चाहिये, जहाँ परम शान्ति प्राप्त होती है ।

शिक्षकका वास्तविक विद्या-प्रेम

यदि शिक्षक स्वयं अध्ययन नहीं करता तो वह सच्ची शिक्षा नहीं दे सकता । जो दीपक स्वयं बुझ गया है, वह दूसरे दीपकको क्या जलायेगा ? यदि किसी शिक्षकने अपने विषयके अध्ययनकी इतिश्री कर ली है, जिसने अपना ज्ञानवर्धन समाप्त कर दिया है और जो पिछली बाते ही दुहराता है, वह विद्यार्थियोके प्रति न्याय नहीं करता । वह उनका मस्तिष्क प्रखर नहीं बना सकता । अतः शिक्षकको यावज्जीवन अध्ययनपरायण रहना चाहिये ।

—गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर

राष्ट्रिय शिक्षा-नीति

[भारत-सरकारद्वारा २९ जून १९६७को अन्तिमरूपसे तैयार किये गये राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिके प्रारूपपर असहमति टिप्पणीके कतिपय अंश]

(ब्रह्मलीन महन्त श्रीदिग्विजयनाथजी)

मुझे ऐसा लगता है कि प्रस्तावित राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिके प्रारूपके पहले पैरेमे उल्लिखित शिक्षाके उद्देश्यकी अभिव्यक्ति उचित शब्दोमे नहीं की गयी है। मेरे विचारसे इसकी भाषा इस प्रकार होनी चाहिये—'शिक्षा राष्ट्रिय, सास्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकासका एक प्रबल साधन है। अत राष्ट्रिय शिक्षा-प्रणालीके विकासको सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिये, जो भारतवासियोमे देशकी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृतिपर आधारित एक राष्ट्रिय व्यक्तित्वका विकास करे।'

वर्तमान भारतीय शिक्षा-पद्धतिका वास्तविक दोष यह है कि वह मैकालेके २ फरवरी १८३५के कुख्यात मिनिटपर आधारित है, जिसका मुख्य उद्देश्य उसीके शब्दोमे इस प्रकार था—'इस समय हमे एक ऐसा वर्ग बनानेका प्रयास करना चाहिये, जो हमारे तथा हमारे शासनाधीन करोडो लोगोके बीच द्विभाषियेका काम करे। ऐसे व्यक्तियोका वर्ग रक्त तथा रंगमे तो भारतीय हो, किंतु रुचियो, विचारो, नैतिकता तथा बुद्धिकी दृष्टिमे अंग्रेज हो।' भारतसरकार ७ मार्च १८३५से आजतक इसी उद्देश्यकी पूर्तिमे लगी हुई है। भारतमे अग्रेजी शिक्षाको प्रारम्भ कराते समय मैकालेके मनमे एक दूसरा विचार भी था, उनके अनुसार 'मुझे उन (पूर्वी भाषाओके समर्थको) मे एक भी सदस्य ऐसा नही मिला, जो इस बातसे इनकार करता हो कि किसी एक उच्च स्तरीय यूरोपियन पुस्तकालयकी एक आलमारीके एक खानेमे जितना ज्ञान भरा होता है उसकी तुलनामे भारत तथा अरबका समूचा साहित्य कुछ भी नही है।' पिछली सात पीढ़ियोमे मैकालेकी यह धारणा भारतवासियोके मस्तिष्कमे निरन्तर इस प्रकार घर कर गयी है कि आज प्रत्येक भारतवासी हर भारतीय वस्तुको घटिया तथा हर पाश्चात्त्य वस्तुको उच्चकोटिका समझता है। ऐसी परिस्थितियोमे भारतमे शिक्षाके पुनर्निर्माणका आधारभूत लक्ष्य इस धारणा तथा इसपर आधृत व्यवस्थाको नष्ट किया जाना चाहिये, जिससे भारतकी नयी पीढियोके हृदयमे हीनताकी यह भावना न रहे तथा नवयुवकोमे हमारे महान् देशकी प्राचीन सस्कृति तथा सभ्यतापर आधारित एक राष्ट्रिय भावनाका विकास हो सके।

२८ अप्रैल १९६८ को नयी दिल्लीमे हुए राज्यशिक्षा-मन्त्रियोके दसवे सम्मेलनके प्रारम्भिक अधिवेशनके अवसरपर अपने भाषणमे तत्कालीन शिक्षामन्त्री महोदयने कहा था—'राष्ट्रिय जागरूकतामे वृद्धि और राष्ट्रिय एकीकरण तथा एकताके दृढीकरणका कार्यक्रम भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रताके पश्चात् सर्वप्रथम देशभक्तिका ही नाश हुआ। अब आवश्यकता इस बातकी है कि राष्ट्रिय जागरूकताकी वृद्धि तथा राष्ट्रिय एकीकरण एवं एकताके दृढीकरणका उत्तरदायित्व शिक्षा-सस्थाएँ सँभाले।' इस सम्मेलनका उद्घाटन करते हुए तत्कालीन प्रधानमन्त्रीने स्पष्ट रूपसे कहा था—'कुछ तो स्वय प्रणालीके कारण और कुछ अन्य कारणोसे वर्तमान समयकी स्थितिके फलस्वरूप शिक्षा-पद्धतिने एक बडी मात्रामे पृथक्ता तथा मूलतत्त्वोकी शून्यताको जन्म दिया। अनेक नवयुवक तो परम्परागत मूल्योको खो बैठे है और साथ ही उनके स्थानपर उन्हे किसी प्रकारके आधुनिक रचनात्मक मूल्योका आश्रय प्राप्त नही हुआ है। शिक्षाके सम्बन्धमे देशके सर्वोच्च नेताओके भावोसे इस बातका तो स्पष्ट संकेत मिलता है कि भविष्यके लिये हमारी शिक्षा-पद्धतिका पुनर्गठन किस प्रकार किया जाना चाहिये।' शिक्षा-आयोगसे मुझे ऐसी आशा थी कि वह स्पष्ट करता कि राष्ट्रियकरणकी इस प्रक्रियाके

बदलनेका काम हमारी पुनर्गठित शिक्षा-प्रणाली किस प्रकारसे करेगी, जिससे भावी पीढ़ियोमे एक राष्ट्रिय व्यक्तित्वका उदय हो सके। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस शिक्षा-आयोगका निर्माण प्रारम्भसे ही दोषपूर्ण था। शिक्षा-आयोगकी रिपोर्टमे हमारी राष्ट्रिय अनेकताकी बातपर अत्यधिक बल दिया गया है। उदाहरणके रूपमे कहा गया है कि 'हमारे राष्ट्रमे विभिन्न धर्मावलम्बी हैं और जाति तथा अप्रजातन्त्रात्मक धाराके कारण स्थिति और भी जटिल हो गयी है। शिक्षाको परम्पराओपर आधारित न होनेके फलस्वरूप शिक्षित वर्ग अपनी ही संस्कृतिसे दूर होता जा रहा है। स्थानीय धार्मिक भाषाई तथा राज्य-सम्बन्धी निष्ठाओके अभावसे लोग भारतके समूचे रूपको ही भूल गये है—इससे सामाजिक विघटनके असख्य लक्षण सर्वत्र दृष्टिगत हो रहे हैं और बढ़ते ही जा रहे हैं।' भारतीय समाजके सम्बन्धमे यह कहना भ्रमपूर्ण है। संसारमें कोई भी बडा देश ऐसा नहीं, जिसमे अल्पसंख्यक न रहते हो, किंतु इन अल्पसंख्यकोके कारण इन राष्ट्रोका स्वरूप नही बदल जाता। इसलिये आजका यह बहुचर्चित मत मूलतः असत्य है कि भारत एक बहुधर्मी तथा बहुभाषी देश है।

शिक्षा-आयोगने धर्मनिरपेक्ष शब्दपर अनावश्यक बल दिया है। भ्रमपूर्ण अर्थमे प्रयुक्त यह शब्द बड़ा पवित्र माना जाने लगा, जबकि वास्तवमे यह अर्थहीन है। इसमे केवल भौतिकताकी ही गन्ध आती है। यही कारण है कि भारतके संविधानमे इस शब्दको कोई स्थान प्राप्त नहीं है। इसमें आगे कहा गया है कि बहुधर्मी धर्म-निरपेक्ष राज्यके लिये किसी एक धर्मकी शिक्षाकी व्यवस्था करना व्यवहार्य नहीं होगा।

स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्रीलालबहादुरशास्त्रीने एक बार कहा था कि 'भारतके प्रत्येक राज्यमे एक संस्कृत-विश्वविद्यालय होना चाहिये।' किंतु श्रीशास्त्रीजीके इस आवश्यक सुझावका शिक्षा-आयोगने कोई समर्थन नहीं किया। जैसा हम सभी जानते है कि संस्कृत-भाषा समस्त ज्ञान तथा विज्ञानका बृहत् भण्डार है। चाहे वह गणित हो या खगोल विद्या, चाहे गणित ज्योतिष हो या शल्य-चिकित्सा, चाहे दर्शनशास्त्र हो या तर्कशास्त्र या कोई अन्य विज्ञान हो, संस्कृत-भाषा समस्त भारतीय भाषाओ और समस्त विज्ञानोकी जननी है, अतः उसका अध्ययन आरम्भसे ही समस्त छात्रोके लिये अनिवार्य कर दिया जाना चाहिये, जिससे वे जब बड़े हो तो इस भाषाके पण्डित बन सके और परम्परा-प्राप्त वैज्ञानिक खोज और आविष्कारको आसानीसे समझ सकें।

भाषा-नीतिके सम्बन्धमे बड़े ही अनुचित ढंगसे विचार किया गया है। प्राथमिक कक्षाओमें छोटी-छोटी कहानियोके रूपमे भाषाओको तथा गणितके प्रारम्भिक सिद्धान्त और सामान्यज्ञानके विषय ही पढ़ाये जाने चाहिये। इस दृष्टिसे राष्ट्रभाषाके रूपमे हिंदी एक प्रादेशिक भाषा और एक अन्य भारतीय भाषाके साथ-ही-साथ प्रारम्भमें संस्कृत भी पढ़ायी जानी चाहिये। इसके पश्चात् संस्कृत, हिंदी तथा एक अन्य भारतीय भाषा समस्त शैक्षिक जीवनकालमे बनी रहनी चाहिये।

कोई कारण नही है कि हमारी भारत-सरकार अपने सब साधनोंके होते हुए भी संसारकी विभिन्न भाषाओकी समस्त महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक पुस्तकोका हमारे छात्रोके लिये हमारी अपनी भाषाओमें अनुवाद नहीं करा सकती। यदि भारत-सरकार अरबो रुपया विभिन्न कार्योपर व्यय कर सकती है तो फिर इसका कोई कारण नहीं कि वह केवल अनुवादके इस कार्यपर कुछ करोड़ रुपया नहीं लगा सकती, जिससे कि जहाँतक सम्भव हो हम कम-से-कम अपनी भाषाओके माध्यमसे राष्ट्रकी अधिक वैज्ञानिक उन्नति कर सके। इन कारणोसे हिंदीके साथ-साथ अंग्रेजीको सहयोगी राजभाषाके रूपमे बनाये रखनेका घोर विरोध करना चाहिये; क्योंकि जबतक अंग्रेजी भारतके किसी रूपमे शिक्षाका माध्यम बनी रहेगी, तबतक उस कुकृत्यका अन्त करना सम्भव नहीं है, जो मानसिक दृष्टिसे भारतवासियोको अंग्रेजीका दास बनाये रखनेके लिये मैकालेने किया था।

श्रीअरविन्द तथा श्रीमाताजीके शिक्षा-विषयक कुछ प्रेरक वचन

(प्रेषक—श्रीअरविन्द-विद्या-मन्दिर-परिवार)

जीवनका सच्चा लक्ष्य

जीवनका एक प्रयोजन है । वह प्रयोजन है भगवान्‌को खोजना और उनकी सेवा करना । भगवान् दूर नहीं हैं, 'वे' हमारे अंदर है, अंदर गहराईमे, भावनाओ और विचारोंसे ऊपर । भगवान्‌के साथ है शान्ति, निश्चितता और सभी कठिनाइयोका समाधान ।

मेरे बच्चो ! यदि तुम अपने-आपसे कहो—'हम ससारमे भागवत संकल्पको प्रकट करनेके लिये यथासम्भव पूर्ण यन्त्र बनना चाहते हैं', तो इस यन्त्रको पूर्ण बनानेके लिये इसे परिष्कृत करना होगा, शिक्षा और प्रशिक्षण देना होगा । इसे एक अनगढ़ पत्थरके टुकड़ेकी तरह नही छोड़ा जा सकता । जब तुम पत्थरसे कुछ बनाना चाहो तो उसपर छैनी चलानी पड़ती है, जब तुम एक रूपहीन ढेलेमेसे सुन्दर हीरा बनाना चाहो तो उसे तराशना पड़ता है । हॉ, तो यहॉ भी वही बात है । जब तुम अपने शरीर और मस्तिष्कसे भगवान्‌के लिये एक सुन्दर यन्त्र बनाना चाहते हो तो उसे परिष्कृत करना होगा, उसे सूक्ष्म बनाना होगा, जो कमी है उसे पूरा करना और जो है उसे पूर्ण बनाना होगा ।

शिक्षाका सच्चा उद्देश्य

* शिक्षाका मुख्य उद्देश्य होना चाहिये— अन्तरात्माकी इस बातमे सहायता करना कि वह अपने अन्तरकी अच्छी-से-अच्छी वस्तुको बाहर लाये और उसे किसी श्रेष्ठ एव उदार उपयोगके लिये पूर्ण बनाये ।

मूलत· एक वस्तु, एकमात्र वस्तु जो तुम्हे अध्यवसायके साथ करनी चाहिये वह यह है—उन्हे (बालकोको) अपने-आपको जानना, अपनी निजी नियति, अपना-अपना मार्ग चुनना सिखाओ । अपने-आपको देखना, समझना और सकल्प करना सिखाओ । पहले पृथ्वीपर क्या हुआ था ? पृथ्वी कैसे रची गयी थी ? आदि सिखानेकी अपेक्षा यह अनन्तगुना महत्त्वपूर्ण है ।

सब विद्यार्थियोद्वारा नित्य दोहराये जानेके लिये—

'हम अपने परिवारके लिये नही पढते, हम कोई अच्छा पद पानेके लिये नहीं पढ़ते, हम पैसा कमानेके लिये नहीं पढ़ते, हम कोई उपाधि पानेके लिये नहीं पढ़ते । हम सीखनेके लिये, जाननेके लिये, संसारको समझनेके लिये और इससे मिलनेवाले आनन्दके लिये पढ़ते हैं ।'

सर्वाङ्गीण शिक्षा

भारतके पास 'आत्मा'का ज्ञान है या यो कहें था, किंतु उसने भौतिक तत्त्वकी उपेक्षा की और उसके कारण कष्ट भोगा ।

पश्चिमके पास भौतिक तत्त्वका ज्ञान है, पर उसने 'आत्मा'को अस्वीकार किया और इस कारण बुरी तरह कष्ट पाता है ।

सर्वाङ्गीण शिक्षाको, जो कुछ थोड़ेसे परिवर्तनोके साथ ससारके सभी देशोमें अपनायी जा सके, पूर्णतया विकसित और उपयोगमे लाये हुए 'भौतिक तत्त्व' पर 'आत्मा'के वैध अधिकारको वापस लाना होगा ।

शिक्षाके पूर्ण होनेके लिये उसमे पॉच प्रधान पहलू होने चाहिये । इनका सम्बन्ध मनुष्यकी पॉच प्रधान क्रियाओंसे होगा—भौतिक, प्राणिक, मानसिक, आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक । साधारणतया शिक्षाके ये सब पहलू व्यक्तिके विकासके अनुसार एकके बाद एक करके कालक्रमसे आरम्भ होते हैं, परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक पहलू दूसरेका स्थान ले ले, अपितु सभी पहलुओको जीवनके अन्तकालतक परस्पर एक-दूसरेको पूर्ण बनाते हुए जारी रखना चाहिये ।

---

* ताराङ्कित उद्धरण श्रीअरविन्दकी रचनाओसे तथा शेष सभी उद्धरण श्रीमाताजीकी रचनाओंमेसे लिये गये है ।

हम यहाँ शिक्षाके इन पाँचों पहलुओंपर एक-एक करके विचार करेंगे—

१. शारीरिक शिक्षा—शरीरकी शिक्षाके तीन प्रधान रूप हैं—(१) शारीरिक क्रियाओंको संयमित और नियमित करना, (२) शरीरके सभी अङ्गों और क्रियाओंका सर्वाङ्गपूर्ण, प्रणालीवद्ध और सुसामञ्जस्यपूर्ण विकास करना और (३) यदि शरीरमें कोई दोष और विकृति हो तो उसे सुधारना ।

यह कहा जा सकता है कि जीवनके एकदम आरम्भिक दिनोंसे ही, अपितु लगभग आरम्भिक घंटोंसे ही, वच्चेको भोजन, नींद, मलत्याग आदिके विषयमें पहले प्रकारकी शिक्षा देनी चाहिये । यदि वच्चा अपने जीवनके एकदम प्रारम्भसे अच्छी आदतें डाल ले तो वह जीवनभर वहुत-से कष्टों और असुविधासे वचा रहेगा ।

जैसे-जैसे वच्चा वड़ा हो वैसे-वैसे उसे अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी क्रियाओंको देखनेका अभ्यास कराना चाहिये, जिससे वह उन्हें अधिकाधिक नियमित कर सके, इस वातका ध्यान रख सके कि उनकी क्रियाएँ स्वाभाविक और सुसमञ्जस हों । जहाँतक उठने-वैठने, हिलने-डुलने एवं अन्य चेष्टाओके ढंगका प्रश्न है वहाँतक वुरी आदतें वहुत कम आयुमें और वहुत शीघ्र ही वन जाती हैं और वे सारे जीवनके लिये वड़े खतरनाक परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं । विलकुल छोटी आयुसे ही वच्चोंको शारीरिक स्वास्थ्य, शक्ति-सामर्थ्य और संतुलनका आदर करना सिखाना चाहिये ।

२. प्राणकी शिक्षा—सव प्रकारकी शिक्षाओंमें सम्भवतः प्राणकी शिक्षा सवसे अधिक आवश्यक है । फिर भी इसका ज्ञानपूर्वक तथा विधिवत् आरम्भ और अनुसरण वहुत कम लोग करते हैं । इसके कई कारण हैं, सवसे पहले इस विशेष विषयका जिन वातोंसे सम्वन्ध है उनके स्वरूपके विषयमें मानव-वुद्धिकी कोई सुस्पष्ट धारणा नहीं है । दूसरे यह कार्य वड़ा ही कठिन है और इसमें सफलता प्राप्त करनेके लिये हमारे अंदर सहनशीलता, अनन्त अध्यवसाय और किसी भी असफलतामें निर्वल न होनेवाला संकल्प आवश्यक है ।

सत्य यह है कि जो कुछ भी है वह सत्ताके आनन्दपर आधारित है और सत्ताके आनन्दके विना जीवनका अस्तित्व नहीं रहेगा, परंतु सत्ताका यह जो आनन्द है, भगवान्का एक गुण है और इसलिये किसी भी शर्तसे वँधा नहीं है । उसे जीवनमें सुखकी खोजके साथ मिला-जुला नहीं देना चाहिये; क्योंकि यह तो अधिकांशमे परिस्थितियोंपर निर्भर करता है । ***वास्तवमें, जगत् जैसा है, इसमें जीवनका लक्ष्य व्यक्तिगत सुख प्राप्त करना नहीं, अपितु व्यक्तिको उत्तरोत्तर सत्य चैतन्यके प्रति जाग्रत् करना है ।***

दूसरी वात यह है कि स्वभावमें कोई मूलगत परिवर्तन ले आनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी अवचेतनाके ऊपर लगभग पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करे और साथ ही निश्चेतनासे जो कुछ भी उठता है—जो सामान्य प्रकृतियोंमें, वंशानुक्रमके या जिस पारिपार्श्विक अवस्थामें मनुष्य जन्मा होता है उसके परिणामोंका प्रकाश होता है—उसे वड़ी कठोरतापूर्वक संयमित करे ।

प्राणकी शिक्षाके दो प्रधान रूप हैं । वे दोनों ही लक्ष्य और पद्धतिकी दृष्टिसे एक-दूसरेसे वहुत भिन्न हैं, पर हैं दोनों ही एक समान महत्त्वपूर्ण । पहला इन्द्रियोंके विकास और उनके उपयोगसे सम्वन्ध रखता है और दूसरा है अपने चरित्रके विषयमें सचेतन होना और धीरे-धीरे उसपर प्रभुत्व स्थापित कर अन्तमें उसका रूपान्तर साधित करना ।

यदि एक समुचित साधनाका लगातार अनुसरण किया जाय तो जो लोग सच्चे दिलसे इनके विकास तथा उनके परिणामोंमें रुचि रखते हैं, वे सभी इन्हें प्राप्त कर सकते हैं । उदाहरणार्थ, जिन अनेक शक्तियोंकी लोग प्राय. ही चर्चा किया करते हैं, उनमेंसे एक है—अपनी शरीर-चेतनाको विस्तारित कर देना, अपनेसे वाहर इस प्रकार फैला देना कि उसे किसी एक निश्चित विन्दुपर एकाग्र किया जा सके और इस तरह दूरकी वस्तुओंको देखा, सुना, सूँघा, चखा और यहाँतक कि छुआ जा सके ।

इन्द्रियों और उनके व्यापारकी सामान्य शिक्षाके साथ ही यथाशीघ्र विवेक और सौन्दर्य-वोधके विकासकी शिक्षा

भी देनी होगी। अर्थात् जो कुछ सुन्दर और सामञ्जस्यपूर्ण है, सरल, स्वस्थ और शुद्ध है, उसे चुन लेने और ग्रहण करनेकी क्षमता—क्योंकि शारीरिक स्वास्थ्यके समान ही मानसिक स्वास्थ्य भी होता है, जिस तरह शरीर और उसकी गतियोका एक सौन्दर्य है, उसी तरह इन्द्रियानुभवोका भी एक सौन्दर्य और सामञ्जस्य है। जैसे-जैसे बच्चेकी सामर्थ्य और समझ बढ़े वैसे-वैसे उसे अध्ययनकालमे ही यह सिखाना चाहिये कि वह शक्ति और यथार्थताके साथ-साथ सौन्दर्यविषयक सुरुचि और सूक्ष्म वृत्तिका भी विकास करे। उसे सुन्दर, उच्च, स्वस्थ और महान् वस्तुएँ, चाहे वे प्रकृतिमे हो या मानव-सृष्टिमे, दिखानी होगी, उन्हे पसद करना और उनसे प्रेम करना सिखाना होगा। वह एक सच्चा सौन्दर्यानुशीलन होना चाहिये, जो पतनकारी प्रभावोसे उसकी रक्षा करेगा। मालूम होता है कि गत महायुद्धोके तुरंत बाद और उनके द्वारा उद्दीपित भयानक स्नायविक उत्तेजनाके फलस्वरूप, मानो मानव-सभ्यताके पतन और समाज-व्यवस्थाके भंग होनेके चिह्नके रूपमे, एक प्रकारकी बढ़ती हुई नीचताने मनुष्य-जीवनको, व्यक्तिगत रूपसे और सामूहिक रूपसे भी, अधिकृत कर लिया है, विशेषकर सौन्दर्य-लक्षी जीवन और इन्द्रियोके जीवनके स्तरमे। यदि इन्द्रियोका विधिवत् तथा ज्ञानपूर्वक सस्कार किया जाय तो बच्चेमे संसर्गदोषके कारण जो निकृष्ट, सामान्य और असंस्कृत वस्तुएँ आ गयी है, वे धीरे-धीरे दूर की जा सकती है और साथ ही, यह संस्कार उसके चरित्रपर भी सुखद प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करेगा; क्योंकि जिस व्यक्तिने सचमुच एक समुन्नत रुचि विकसित की है, वह स्वयं उस सुरुचिके कारण ही भद्दे, बर्बर या हीन ढंगसे कार्य करनेमे अपनेको असमर्थ अनुभव करेगा। यह सुरुचि, यदि सच्ची हो तो, व्यक्तिके अंदर एक प्रकारकी महानता और उदारता ले आयेगी, जो उसके कार्य करनेकी पद्धतिमे सहज-स्वाभाविक ढंगसे प्रकट होगी और उसे बहुत-सी नीच और उल्टी क्रियाओसे अलग रखेगी। इससे स्वभावत· ही हम प्राणकी शिक्षाके दूसरे पहलूपर पहुँच गये हैं, उस पहलूपर जिसका सम्बन्ध चरित्र और उसके रूपान्तरसे है।

अपने अंदरकी बहुत-सी क्रियाओके विषयमें सचेतन होना, यह देखना कि हम क्या करते हैं और क्यो करते है, अत्यन्त आवश्यक आरम्भ है। बच्चेको सिखाना चाहिये कि वह आत्म-निरीक्षण करे, अपनी प्रतिक्रियाओ तथा आवेगो और उनके कारणोको समझे, अपनी वासनाओका, उग्रता और उत्तेजनाकी अपनी क्रियाओका, अधिकार जमाने, अपने उपयोगमे लाने और शासन करनेकी सहज प्रेरणाका तथा मिथ्याभिमान-रूपी आधार-भूमिका—जिसपर ये चेष्टाएँ अपनी परिपूरक दुर्बलता, अनुत्साह, अवसाद और निराशाके साथ स्थित होती हैं—स्पष्टदर्शी साक्षी बने।

स्पष्ट ही प्रक्रिया तभी लाभदायक होगी जब निरीक्षण करनेकी शक्ति बढ़नेके साथ-साथ प्रगति करने और पूर्णता पानेका सकल्प भी बढ़ता जाय। ज्यो ही बच्चा इस संकल्पको धारण करनेकी योग्यता प्राप्त कर ले त्यो ही अर्थात् साधारण विश्वासके विपरीत बहुत कम आयुमे ही यह उसके अदर भर देना चाहिये।

प्रभुत्व और विजय-प्राप्तिके इस सकल्पको जाग्रत् करनेकी विधियाँ विभिन्न व्यक्तियोके लिये विभिन्न प्रकारकी होती हैं। कुछ व्यक्तियोके लिये युक्तिपूर्ण तर्क सफल होता है, दूसरोके लिये भावुकता और शुभकामनाको व्यवहारमे लाना पड़ता है, फिर अन्योके लिये मर्यादा और आत्म-सम्मानका भाव ही पर्याप्त होता है। परतु सभी लोगोके लिये अत्यन्त शक्तिशाली उपाय है—उसके सामने निरन्तर और सच्चाईके साथ दृष्टान्त उपस्थित करना।

साररूपमे कह सकते है—हमे अपने स्वभावका पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और फिर अपनी क्रियाओपर ऐसा संयम प्राप्त करना चाहिये कि हमे पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाय और जिन चीजोको रूपान्तरित करना है उनका रूपान्तर साधित हो जाय।

३. मनकी शिक्षा—हमारे पास अङ्ग हैं, पेशियाँ है, नसे हैं, वस्तुत· वह सब है जिनसे मिलकर शरीर बनता है, यदि हम उन्हे विशिष्ट विकास और विशिष्ट प्रशिक्षण न दे तो ये सब शरीरकी 'शक्ति'को यथाशक्ति

व्यक्त तो करेंगे, परंतु वह अभिव्यञ्जना होगी—निपट भद्दी और अधूरी। निस्संदेह एक शरीर जो शारीरिक शिक्षाके अत्यन्त पूर्ण और यथोचित तरीकोंसे प्रशिक्षित किया गया है, वह ऐसी वस्तुएँ करनेमें समर्थ होगा जो इसके विना कभी न कर पाता। मेरा विचार है कि कोई इस वातसे इनकार नहीं कर सकता। हाँ, तो मनके लिये भी यही वात लागू होती है। तुम्हारे पास एक मानसिक यन्त्र है, जिसमें अनेक सम्भावनाएँ हैं, अनेक क्षमताएँ हैं, किंतु ये छिपी हुई हैं, इन्हें विशिष्ट शिक्षणकी, विशिष्ट रूपसे साधनेकी आवश्यकता है, जिससे ये ज्योतिको व्यक्त कर सकें। यह निश्चित है कि साधारण जीवनमे दिमाग मानसिक चेतनाकी वाह्य अभिव्यञ्जनाका आसन है, तो यदि दिमाग विकसित न हो, यदि यह अनगढ़ रहे तो ऐसी असंख्य वस्तुएँ हैं जो व्यक्त नहीं की जा सकेंगी; क्योंकि अपने-आपको व्यक्त करनेके लिये उनके पास आवश्यक यन्त्र नहीं होगा। यह एक वाद्ययन्त्रकी तरह होगा जिसमें अधिकतर स्वर नहीं है, वह कुछ मोटा सादृश्य तो उत्पन्न कर देगा, पर यथार्थ कुछ भी नहीं कर सकेगा। मानसिक शिक्षा, वौद्धिक शिक्षा तुम्हारे मस्तिष्ककी वनावटको वदल देती है, पर्याप्त हदतक वढ़ा देती है और परिणामस्वरूप अभिव्यञ्जना अधिक समृद्ध और यथार्थ हो उठती है। यदि तुम जीवनसे भागना चाहो और अनिर्वचनीय शिखरोंपर चढ़ना चाहो तो यह आवश्यक नहीं है, पर यदि तुम अपनी अनुभूतिको वाह्य जीवनमे मूर्त-रूप देना चाहो तो यह अपरिहार्य है।

सव प्रकारकी शिक्षाओंमे सवसे अधिक प्रचलित है मनकी शिक्षा। तो भी, कुछ एक अपवादोको छोड़कर, साधारणतया इसमे ऐसे छिद्र रह जाते है, जो इसे वहुत ही अपूर्ण और अन्तमें एकदम निरर्थक वना देते हैं।

मोटे तौरपर हम कह सकते हैं कि शिक्षाका अर्थ लोग समझते हैं मनकी आवश्यक शिक्षा। वच्चेको कुछ वर्ष एक कठोर शिक्षा-पद्धतिके अनुसार शिक्षा दे चुकनेपर, जो उसके मस्तिष्कको प्रवुद्ध करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक उसमें ज्ञानसामग्रीको ठूँस देती है, हम समझ लेते है कि उसके मानसिक विकासके लिये जो कुछ करना आवश्यक था वह पूरा हो गया। पर वात ऐसी नहीं है। यदि शिक्षा समुचित मात्रामे और विचार-विवेकके साथ दी भी जाती है और वह मस्तिष्कको कोई हानि नहीं पहुँचाती, तो भी वह मानव-मनको वे सव क्षमताएँ नही दे पातीं जो उसे एक अच्छा और उपयोगी यन्त्र वनानेके लिये आवश्यक हैं। साधारणतया, जो शिक्षा वच्चोंको दी जाती है वह अधिक-से-अधिक शारीरिक व्यायामकी तरह मस्तिष्कतककी नमनीयताको वढ़ा सकती है।

मनकी सच्ची शिक्षाके, उस शिक्षाके जो मनुष्यको एक उच्चतर जीवनके लिये तैयार करेगी, पाँच प्रधान अङ्ग हैं। साधारणतया ये अङ्ग एकके वाद एक आते हैं, पर विशेष व्यक्तियोंमे वे अदल-वदलकर या एक साथ भी आ सकते हैं। ये पाँचों अङ्ग संक्षेपमे इस प्रकार हैं—(१) एकाग्रताकी शक्तिका, मनोयोगकी क्षमताका विकास करना। (२) मनको व्यापक, विशाल, वहुविध और समृद्ध वनानेकी क्षमताएँ विकसित करना। (३) जो केन्द्रीय विचार या उच्चतर आदर्श या परमोज्ज्वल भावना जीवनमे पथ-प्रदर्शकका काम करेगी उसे केन्द्र बनाकर समस्त विचारोंको सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित करना। (४) विचारोंको संयमित करना, अनिष्ट विचारोंका त्याग करना, जिससे मनुष्य अन्तमें जैसा चाहे वैसा और जव चाहे तव विचार कर सके। (५) मानसिक निश्चलताका, परिपूर्ण शान्तिका और सत्ताके उच्चतर क्षेत्रोंसे आनेवाली अन्तःप्रेरणाओंको अधिकाधिक पूर्णताके साथ ग्रहण करनेकी क्षमताका विकास करना।

४. आन्तरात्मिक शिक्षा—हम कह सकते हैं कि शारीरिक, प्राणिक तथा मानसिक शिक्षाएँ व्यक्तित्वका निर्माण करने, मनुष्यको अस्पष्ट और अवचेतन जडतासे उवारने तथा उसे एक सुनिश्चित और आत्म-चेतन सत्ता वनानेके साधन हैं। अन्तरात्माकी शिक्षाके द्वारा हम जीवनके सच्चे आशय, पृथ्वीपर अपने अस्तित्वके कारण तथा जीवनकी खोजके लक्ष्य और उसके परिणाम—अपनी नित्य सत्ताके प्रति व्यक्तिके आत्मसमर्पणके प्रश्न आते हैं।

यदि हम आन्तरात्मिक शिक्षाकी एक सामान्य रूपरेखा खींचना चाहे तो अन्तरात्मासे हमारा अभिप्राय क्या है, इस विषयमे हमे कुछ विचार अवश्य बना लेना चाहिये, चाहे वह विचार कितना ही सापेक्ष क्यों न हो । उदाहरणार्थ, यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्तिकी रचना उन असंख्य सम्भावनाओमेसे किसी एकके देश और कालमे प्रक्षेपणके द्वारा होती है जो समस्त अभिव्यक्तिके सर्वोच्च उद्‌गममे गुप्त-रूपसे विद्यमान है । यह उद्‌गम एकमेव विश्वव्यापी चेतनाके द्वारा व्यक्तिके नियम या सत्यमे मूर्तरूप धारण कर लेता है और इस प्रकार उत्तरोत्तर विकास करते हुए उसकी आत्मा या चैत्य पुरुष (अन्तरात्मा) बन जाता है ।

आन्तरात्मिक उपस्थितिके द्वारा ही व्यक्तिका सच्चा अस्तित्व व्यक्ति तथा उसके जीवनकी परिस्थितियोसे सम्पर्क प्राप्त करता है । यह कहा जा सकता है कि अधिकाश व्यक्तियोमे यह उपस्थिति अज्ञात और अपरिचित-रूपमे पर्देके पीछेसे कार्य करती है, पर कुछमे यह अनुभव-गोचर होती है तथा इसकी क्रियाको भी पहचाना जा सकता है, बहुत ही विरले लोगोमे यह उपस्थिति प्रत्यक्ष रूपमे प्रकट होती है और इन्हीमे इसकी क्रिया भी अधिक प्रभावशाली होती है । ऐसे लोग ही एक विशेष विश्वास और निश्चयके साथ जीवनमे आगे बढ़ते हैं, ये ही अपने भाग्यके स्वामी होते हैं । इस स्वामित्वको प्राप्त करने तथा अन्तरात्माकी उपस्थितिके प्रति सचेतन होनेके लिये ही आन्तरात्मिक शिक्षाके अनुशीलनकी आवश्यकता है, पर इसके लिये एक विशेष साधन, अर्थात् व्यक्तिके निजी-सकल्पका होना आवश्यक है; क्योंकि अभीतक अन्तरात्माकी खोज तथा इसके साथ तादात्म्य-शिक्षाके स्वीकृत विषयोका अङ्ग नही बना है ।

इस सचेतनताको प्राप्त करनेके लिये और अन्तमे इस तादात्म्यको सिद्ध करनेके लिये देश और कालके अन्तर्गत बहुत-सी पद्धतियॉ निश्चित की गयी है और कुछ यान्त्रिक भी है । सच पूछा जाय तो प्रत्येक मनुष्यको वह पद्धति ढूँढ निकालनी होगी जो उसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त हो और यदि साधकमे सच्ची और सुदृढ अभीप्सा हो, अटूट और सक्रिय संकल्प-शक्ति हो तो यह निश्चित है कि वह एक-न-एक तरीकेसे, बाहरसे अध्ययन और उपदेशके द्वारा, भीतरसे एकाग्रता, ध्यान, अनुभव और दर्शनके द्वारा उस सहायताको अवश्य पायेगा जो लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये उसके लिये आवश्यक है । केवल एक ही वस्तु है जो पूर्णरूपसे अनिवार्य है और वह है उसे खोज निकालने और प्राप्त करनेका संकल्प । यह खोजने और प्राप्त करनेका प्रयास ही जीवनका सबसे पहला कार्य होना चाहिये, यही वह बहुमूल्य मोती है जिसे हमे चाहे किसी मूल्यपर प्राप्त करना चाहिये । तुम चाहे जो कुछ करो, तुम्हारा व्यवसाय और कार्य जो भी हो, अपनी सत्ताके सत्यको पाने और उसके साथ युक्त होनेका तुम्हारा सकल्प बराबर ही जीवन्त बना रहना चाहिये । जो कुछ तुम करते हो, जो कुछ तुम अनुभव करते हो और जो कुछ तुम विचार करते हो, उस सबके पीछे उसे सदा विद्यमान रहना चाहिये ।

५. आध्यात्मिक शिक्षा—आन्तरात्मिक जीवन एक ऐसा जीवन है जो अमर है, अनन्तकालतक असीम देशमे नित्य प्रगतिशील परिवर्तन है और बाह्य रूपोके संसारमे एक अविच्छिन्न धारा है । दूसरी ओर आध्यात्मिक चेतनाका अर्थ है नित्य और अनन्तमे निवास करना तथा देश-कालसे, सृष्टिमात्रसे बाहर स्थित हो जाना । अपनी अन्तरात्माको पूर्णरूपसे जानने और आन्तरात्मिक जीवन बितानेके लिये मनुष्यको समस्त स्वार्थपरताका त्याग करना होगा, किंतु आध्यात्मिक जीवनके लिये अहमात्रसे मुक्त हो जाना होगा ।

आध्यात्मिक शिक्षामे यहॉ भी, मनुष्यका स्वीकृत लक्ष्य, उसके वातावरण, विकास तथा स्वभावकी रुचियोके सम्बन्धमे, मानसिक निरूपणमे, भिन्न-भिन्न नाम धारण कर लेगा । धार्मिक प्रवृत्तिवाले उसे ईश्वर कहेगे और उनका आध्यात्मिक प्रयत्न फिर इस रूपातीत परात्पर ईश्वरके साथ तादात्म्य प्राप्त करनेके लिये होगा, न कि उस ईश्वरके साथ जो वर्तमान सब रूपोमे है । कुछ लोग इसे 'परब्रह्म' या 'सर्वोच्च आदिकारण' कहेगे और कुछ 'निर्वाण', कुछ और, जो संसारको तथ्यहीन भ्रम समझते है, इसे **'एकमद्वितीयं सत्'** का नाम देगे, जो लोग

अभिव्यक्तिमात्रको असत्य मानते है उनके लिये यह 'एकमात्र सत्य' होगा । लक्ष्यकी ये सब परिभाषाएँ अंशत ठीक है, पर है सब अधूरी, ये केवल सद्वस्तुके एक-एक पक्षको ही व्यक्त करती हैं । यहाँ भी मानसिक निरूपणोका कुछ महत्त्व नही, बीचकी अवस्थाओको एक बार पार कर जानेके बाद मनुष्य सदा एक ही अनुभवपर पहुँचता है । जो भी हो, आरम्भ करनेके लिये सबसे अधिक सफल तथा शीघ्र पहुँचानेवाली वस्तु पूर्ण आत्म-समर्पण है । इसके साथ ही जिस उच्च-से-उच्च सत्ताकी मनुष्य कल्पना कर सकता है उसके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पणके आनन्दसे अधिक पूर्ण आनन्द और नहीं है, कुछ इसे 'ईश्वर'का नाम देते है और कुछ 'पूर्णता'का । यदि यह समर्पण लगातार स्थिर भावमे तथा उत्साहपूर्वक किया जाय तो एक ऐसा समय आता है जब मनुष्य इस कल्पनासे ऊपर उठकर एक ऐसे अनुभवको प्राप्त कर लेता है, जिसका वर्णन तो नही हो सकता, परंतु जिसका फल व्यक्तिपर प्राय सदा एक समान होता है । जैसे-जैसे उसका आत्म-समर्पण अधिकाधिक पूर्ण और सर्वाङ्गीण होता जायगा, उसके अदर उस सत्ताके साथ एक होनेकी तथा उसमे पूर्ण रूपसे मिल जानेकी अभीप्सा पैदा होती जायगी, जिसे उसने समर्पण किया है और क्रमश यह अभीप्सा सब विषमताओ और बाधाओको पार कर लेगी, विशेषकर उस अवस्थामे जब इस अभीप्साके साथ-साथ व्यक्तिमे प्रगाढ और सहज प्रेम भी हो; क्योंकि तब कोई भी वस्तु उसकी विजयशील प्रगतिके रूपमे मार्गमें बाधक नही हो सकेगी ।

सच्चे शिक्षणके सिद्धान्त

* सच्चे शिक्षणका पहला सिद्धान्त है कि कुछ भी सिखाया नही जा सकता । अध्यापक कोई निर्देशक या काम लेनेवाला स्वामी नही है, वह एक सहायक एवं मार्ग-प्रदर्शक है । उसका काम सुझाव देना है, थोपना नहीं । वह सचमुच विद्यार्थीके मानसको प्रशिक्षित नही करता । वह उसे केवल यह बतलाता है कि अपने ज्ञानके उपकरणोको कैसे पूर्ण बनाया जाय और वह उसे इस कार्यमे सहायता देता और प्रोत्साहित करता है । वह उसे ज्ञान नहीं देता अपितु उसे यह बतलाता है कि अपने लिये ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय । वह अंदर स्थित ज्ञानको प्रकट नहीं करता, केवल यह दिखलाता है कि वह कहाँ स्थित है और उसे बाह्य स्तरपर आनेके लिये कैसे अभ्यस्त किया जा सकता है ।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि मनके विकासमें स्वयं उसकी सलाह ली जाय । बच्चेको हथौड़ी मार-मारकर माता-पिता या अध्यापकके चाहे रूपमे गढ़ना एक अज्ञानपूर्ण और बर्बर अन्धविश्वास है । उसे यह प्रेरणा देनी चाहिये कि वह अपनी प्रकृतिके अनुसार अपना विस्तार करे । माँ-बापके लिये इससे बड़ी भूल नहीं हो सकती कि वे पहलेसे ही ठीक कर लें कि उनका बेटा अमुक गुण, अमुक क्षमताएँ, विचार या विशेषताएँ विकसित करेगा या उसे पहलेसे ही निश्चित अमुक प्रकारकी जीविकाके लिये तैयार किया जाय । प्रकृतिको इस बातके लिये बाधित करना कि वह स्वधर्म छोड दे, उसे स्थायी क्षति पहुँचाना, उसके विकासको विकृत करना और उसकी पूर्णताको विरूप कर देना है । यह मानव-आत्मापर स्वार्थपूर्ण अत्याचार है । राष्ट्रपर एक आघात है, जिसके कारण वह मनुष्यके सर्वोत्तम कार्यके लाभसे वञ्चित हो जाता है और उसके बदले अपूर्ण, कृत्रिम, घटिया, औपचारिक और सामान्य वस्तु स्वीकार करनेके लिये बाधित होता है । प्रत्येकमें कुछ दिव्य अंश होता है, कुछ ऐसा जो उसका अपना होता है । भगवान् स्वीकार करने या त्याग देनेके लिये एक क्षेत्र देते हैं, वह चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो, जिसमे वह पूर्णता और शक्ति पा सकता है । मुख्य काम है खोजना, विकसित करना और उसका उपयोग करना ।

शिक्षणका तीसरा सिद्धान्त है निकटसे दूरकी ओर काम करते चलना, जो है उससे जो होगा उसकी ओर जाना । प्राय सदा ही मनुष्यके स्वभावका आधार उसकी आत्माके अतीतके अतिरिक्त बहुत-सी वस्तुओपर निर्भर होता है, जैसे—उसकी आनुवंशिकता, उसका पास-पड़ोस, उसकी राष्ट्रियता, उसका देश, वह धरती जहाँसे वह आहार पाता है, वह हवा जिसमे वह साँस लेता है, वे

दृश्य, वे आवाजे और वे आदते जिनके लिये वह अभ्यस्त है। ये वस्तुएँ उसके जाने बिना, किंतु इस कारण कम बलके साथ नही, उसे ढालती हैं और हमे वहीसे आरम्भ करना चाहिये। हमे स्वभावको उस जमीनमेसे जड़ोसे उखाड़ देना चाहिये जहाँ उसे पनपना है। मनको ऐसे बिम्बो और ऐसे जीवनके विचारोसे नहीं घेर देना चाहिये जो उस जीवनके विरोधी हो, जिनमे उसे हिलना-डुलना है। यदि बाहरसे कोई वस्तु लानी है तो मनपर जोरसे आरोपित न की जाय, उसे भेट की जा सकती है। सच्चे विकासके लिये एक आवश्यक शर्त है—स्वाभाविक और मुक्त वृद्धि। कृत्रिम रूपोमे ढाले जानेपर अधिकतर लोग क्षीण, रिक्त और बनावटी बन जाते है। भगवान्‌की व्यवस्था है कि अमुक लोग किसी राष्ट्र-विशेष, देश, युग, समाजके हो। वे अतीतके बालक, वर्तमानके भोक्ता और भविष्यके निर्माता हो। अतीत हमारी नीव है, वर्तमान हमारा उपादान राष्ट्रिय (साधन) है, भविष्य हमारा लक्ष्य और शिखर है। राष्ट्रिय शिक्षा-पद्धतिमे प्रत्येकको अपना उचित और स्वाभाविक स्थान मिलना चाहिये।

कुछ लोग कहते है—'बच्चोंको स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये, क्योंकि वे अनुभवद्वारा ही सबसे अच्छी तरह सीख सकते हैं।' यो विचारके रूपमे यह बहुत बढ़िया है, व्यवहारमे स्पष्ट है कि इसमे कुछ प्रतिबन्धोकी आवश्यकता होती है, क्योंकि यदि तुम एक बच्चेको किसी दीवारके किनारेपर चलने दो और वह गिरकर पाँव या अपना सिर तोड़ ले, तो यह अनुभव जरा भारी पडेगा, या यदि तुम उसे दियासलाईसे खेलने दो और वह अपनी आँखें जला ले, तब समझे तो यह जरा-से ज्ञानके लिये बहुत दाम देना होगा।

साथ ही इसके विपरीत अति करना, सारे समय बच्चेके साथ रहना और उसे परीक्षण करनेसे रोकना, उससे कहना—'यह मत करो, यह हो जायगा', 'वह मत करो, वह हो जायगा'—तो अन्तमे वह बिलकुल अपने अंदर ही सिमट जायगा और उसके जीवनमे न साहस होगा, न निर्भीकता और यह भी बहुत बुरा है। वस्तुत. निष्कर्ष यह निकलता है कि हर क्षण तुम जिस ऊँचे-से-ऊँचे सत्यका बोध प्राप्त कर सकते हो उसीका उपयोग करनेकी चेष्टा करो। यह बहुत अधिक कठिन है, किंतु एकमात्र उपाय है। तुम जो कुछ भी करो, पहलेसे नियम न बना लो, क्योंकि एक बार नियम बना लेनेपर तुम लगभग अधे होकर उसका पालन करते हो और तब तुम निश्चित रूपसे सौमे-से साढ़े निन्यानबे बार भूल करोगे। सच्चे ढंगसे काम करनेका, बस एक ही तरीका है, हर क्षण, हर सेकेंड, हर गतिमे, तुम जिस उच्चतम सत्यका बोध पा सकते हो उसीको प्रकट करो और यह जानो कि इस बोधको क्रमशः प्रगतिशील होना चाहिये कि तुम्हे अभी जो सबसे अधिक सच्चा मालूम होता है वह कल ऐसा न रहेगा और तुम्हे अपने द्वारा उच्चतर सत्यको अधिकाधिक प्रकट करना होगा। यह तुम्हे आरामदायक तमस्‌मे पड़कर सोनेके लिये अवकाश नहीं देता, तुम्हे सदा जाग्रत् रहना चाहिये। मैं भौतिक नींदकी बात नही कर रही हूँ—सदा जाग्रत्, सचेतन और प्रदीप्त ग्रहणशीलता और सद्भावनासे भरा रहना चाहिये।

मनको ऐसी कोई भी शिक्षा नहीं दी जा सकती जिसका बीज मनुष्यकी विकासशील अन्तरात्मामें पहलेसे ही निहित न हो। अतएव मनुष्यका बाह्य व्यक्तित्व जिस पूर्णताको पहुँच सकता है वह भी सारी-की-सारी उसकी अपनी अन्तःस्थ आत्माकी सनातन पूर्णताको उपलब्ध करना मात्र है। हम भगवान्‌का ज्ञान प्राप्त करते हैं और भगवान् ही बन जाते हैं, क्योंकि हम अपनी प्रच्छन्न प्रकृतिमे पहलेसे वही हैं। आत्म-उपलब्धि ही रहस्य है, आत्मज्ञान और वर्द्धमान चेतना उसके साधन तथा प्रक्रिया हैं।

शिक्षा और उसका स्वरूप

(गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)

ऋषि-महर्षियोकी परम पवित्र तप.स्थली भारत-भूमिपर सदैव संत-महात्माओं, महायोगियो, धर्माचार्यो, महापुरुषोका अवतरण होता रहा है । इन महापुरुषोको महान् गुणोंसे सम्पृक्त करनेमे हमारी शुचितासम्पन्न धरित्रीके आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उर्वरताका विशिष्ट योगदान है । इन महापुरुषोकी प्रेरणासे भारतीय संस्कृतिके मूल संस्कारोंसे सम्पन्न ब्रह्मचर्यव्रती स्नातक और विद्यार्थियोंने महामानव होनेकी प्रतिष्ठा प्राप्त की और अपनी ज्ञान-ज्योतिसे विश्वको ज्योतित किया । भारतके सुनहरे भविष्यके महापौरुष्ययुक्त कर्णधार हमारी शिष्टवाटिकाके नवोदित कोमल-कुसुम तरुणोके कधोपर ही परम्परा-प्रदत्त धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा साहस, शौर्य एवं पराक्रमसे परिपूर्ण इतिहासके अमूल्य वैभवकी सुरक्षा तथा तदनुरूप आचरणका गम्भीर दायित्व है । इस आत्मबोधके साथ ऐतिहासिक, राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, सास्कृतिक एवं सामाजिक प्रभृति समस्त विषयोंके ज्ञानको बालको और नवयुवकोमे आत्मसात् कराना आचार्यवृन्दका महान् कर्तव्य है, जिससे वे बड़े होकर राष्ट्रहितके गम्भीर उत्तरदायित्वको वहन कर सके । सामाजिक विषयोके साथ ही आजीविका-हेतु बालकोंकी अभिरुचिके अनुसार व्यावसायिक तथा तकनीकी ज्ञानकी भी नितान्त आवश्यकता है, जिससे अपने हाथों एवं बुद्धि-वैभवसे वे अपनी जीविकाका भी प्रबन्ध करे । नैतिकता, सदाचार, सद्व्यवहार एवं सद्वृत्तियोसे सम्पन्न संस्कृत-साहित्यके माङ्गलिक संस्कारोंसे सुसंस्कृत होकर ही प्रतिभाका उन्नयन सम्भव है । बालकके विकासमे उसके व्यक्तित्व और चारो ओर फैले हुए समाज—इन दोनोका हाथ है । शिक्षकका कर्तव्य है कि बालकके व्यक्तित्वमे समाहित पैतृक संस्कार, स्वभाव, चाल-चलन, भावनाएँ एवं शक्ति-सामर्थ्यका मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे अध्ययन करके उसकी विकासोन्मुखतामे उचित सहायता प्रदान करे । बालकोंकी पारिवारिक परिस्थिति, मित्रो, सम्बन्धियों और हितैषियोंका वातावरण तथा सामाजिक परिवेश भी उनकी विकासोन्मुखी स्थितिको प्रभावित करता है । बालक जिस सामाजिक, मानसिक विकासकी प्रक्रियामे संतरण करता है वही उसकी शिक्षा है । शिक्षा तो जीवनपर्यन्त चलनेवाली प्रक्रिया है । बालकका भलीभाँति निरीक्षण करके मानसिक तथा सामाजिक प्रभावसे प्रेरित कर उसे शारीरिक और आत्मिक विकास तथा चरित्रनिर्माणके साथ-ही-साथ आजीविका उपलब्ध करनेके योग्य बनाना शिक्षाका महनीय उद्देश्य है । उद्देश्यसे ही बालकमें क्रियाशीलता उत्पन्न होती है । विद्या स्वयंमे उद्देश्य नहीं है, अपितु उद्देश्यकी पूर्तिका साधन है और लक्ष्यकी ओर ले जानेका प्रशस्त मार्ग है ।

घर-परिवार, पत्र-पत्रिका, वाचनालय, धार्मिक सस्थान आदि विद्यालयसे असम्बद्ध शिक्षाके साधन—अङ्ग हैं, जिनके द्वारा प्रभावित होकर बालकका व्यक्तित्व संशोधित, परिवर्धित और परिष्कृत होता रहता है । विद्यालयोंसे सम्बद्ध आगमन एवं निगमन-पद्धतियाँ भी बालकोंमें जिज्ञासु-प्रवृत्ति उत्पन्न करती हैं, अतएव वे स्वयं संयमित जीवन और सदाचार तथा सद्विचारके नियम बनानेके लिये उत्सुक होते हैं तथा स्वयं ज्ञानकी प्राप्ति करते हैं । स्वयं ज्ञान-प्रणालीका वर्तमान शिक्षापर विशेष प्रभाव लक्षित किया जा सकता है । कार्य-कारणके ज्ञानके लिये और मस्तिष्कके समविकास-हेतु यह पद्धति विशेष फलदायी है । बालकोंद्वारा 'चार सत्ते अट्ठाईस' न रटाकर चारको सात बार जोड़नेके लिये प्रेरित करना कारणसहित कार्य-सिद्धिमें ज्ञानका स्थायित्व है, जो मस्तिष्कमें सदैवके लिये घर कर लेता है । यह विधि उचित तथा शिक्षार्थीकी प्रोन्नतिमें सहायक है । आगमन-प्रणालीमें वस्तु-पाठद्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान वैज्ञानिक दृष्टिसे लाभदायक है । प्रत्येक ज्ञानकी परिपुष्टताके लिये सरस्वती-यात्राओंकी व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है—जिससे बालकोकी निरीक्षण-शक्तिमें

तीव्रताका समावेश होगा। वैयक्तिक शिक्षण-पद्धतिमे व्यक्तिगत लाभ होते हुए भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। यद्यपि प्रत्येक बालकके लिये अलग-अलग आचार्योंकी व्यवस्था करना तथा तदनुसार वेतनकी व्यवस्था भी दुष्कर है तथापि इस पद्धतिसे बालकोंको निकटसे समझनेमे सरलता होती है, जो उनके सर्वाङ्गीण विकासमें सहायक भी है। सम्पन्न व्यक्तियोके लिये इसे प्रयोगमें लाया जाता है।

समाजमे बैठनेसे बालकोमे अनुभव-शक्ति और क्रिया-शक्तिका विकास होता है। बहुधा यह देखनेमे आता है कि सामूहिक कार्योमे प्रतिस्पर्धाकी भावना बढ़ती है। प्रतिस्पर्धात्मक विकासकी दृष्टिसे कक्षा-शिक्षण-पद्धति व्यक्ति-शिक्षण-प्रणालीकी अपेक्षा श्रेयस्कर है। विचारोका सश्लेषण ही मन है। शिक्षकका कर्तव्य है कि वह विद्यार्थीके मनके रचनानुसार शिक्षण-कार्यका सम्पादन करे। केन्द्रीकरण अनुबन्धके स्थापनके लिये केन्द्रीभूत विषयके साथ अन्य विषयोका सम्बन्ध स्थापित करते हुए नाना प्रकारके दृष्टान्तोसे केन्द्रीभूत विषयकी व्यापकताका बोध हो जाता है। बालक उन्हे अच्छी तरह सीख जाता है, समझ लेता है।

केन्द्रीकरण अनुबन्ध-स्थापनके लिये ही हमारे देशमे कताई-बुनाई आदि विषयोको केन्द्र बनाकर उनके साथ अन्य विषयोका सम्बन्ध स्थापित करके बेसिक शिक्षा-पद्धतिपर बल दिया जा रहा है। क्रियाद्वारा शिक्षणकी पद्धति ही आजकल अधिक प्रचलित है, जिसमे बालक स्वय परीक्षण करता है तथा पुस्तक पढता है। अध्यापक निरीक्षक और श्रोताके रूपमें रहकर स्थान-स्थानपर उसकी त्रुटिपूर्ण पठन-शैलीको, शब्द-विन्यास एवं उच्चारणको शुद्धरूपमे अभिव्यक्त करके परिष्कृत करता है। यह बहुत अच्छी विधि है; इसमे बालकोका प्रत्यक्ष लाभ और सहज प्रगति संनिहित है। विचारात्मक पक्षके साथ क्रियात्मक पक्षपर ध्यान देना भी अत्यन्त आवश्यक है। किंडर-गार्टन, डाल्टन, मांटेसरी, प्रोजेक्ट तथा बेसिक शिक्षाकी नवीन प्रणालियोके मूलमे यही दोनो दृष्टियाँ काम कर रही हैं। प्रेरक कारणोके माध्यमसे बालकोंकी क्रियाशीलताको उत्तेजित करके उनकी जिज्ञासाको इतना तीव्र कर देना चाहिये कि वे अभीष्ट कार्य-सिद्धिसे संतुष्ट हो सके। प्रतिभा-जागरणकी दृष्टिसे यह बहुत उचित है। मानसिक, वैचारिक तथा शब्द-रचनाके खेल भी बालकोमें औत्सुक्यके साथ-साथ ज्ञानकी अभिवृद्धि करते हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रमके अन्तर्गत उद्वेगात्मक नाटकोके माध्यमसे भाव-विभाव-प्रसूत, रस-संगुम्फित स्वस्थ उच्चारणकी उपलब्धि होती है। हास्य-रससे सिक्त कहानियोसे क्रियात्मक पक्ष सबल होता है और मानसिक स्फुरताकी सृष्टि तथा ताजगी प्राप्त होती है। बालकके सुचारु विकासकी ये प्रशस्त भूमिकाएँ हैं। हमारे देशमें प्राथमिक शिक्षाके परिवर्धन एवं परिष्करणकी सबसे बड़ी समस्या है। आजकल समूह-शिक्षाका प्रचलन है। समूह-शिक्षणकार्य चलाते हुए बच्चोंकी व्यक्तिगत अभिरुचिके अनुसार विषय-चयन लाभदायक सिद्ध होता है। विषय-चयनके साथ-ही-साथ बालकोमे अनुशासनके प्रति प्रेम, नियम-पालनके प्रति निष्ठा, स्वच्छतामे लगन तथा श्रमपूर्वक वस्तुओको यथास्थान रखनेकी प्रवृत्तिका निरन्तर अभ्यास कराना चाहिये। अध्ययनके बाद अभ्यास और तब अनुभूतिकी उपलब्धि होती है। स्वास्थ्य-रक्षा-हेतु बालकोके वस्त्र, भोजन, दाँत, सिर एवं पेटकी सफाई तथा सम्यक् साँस और सम्यक् निद्रा लेनेका ज्ञान तथा इनके अभ्यासके लिये उन्हें निरन्तर प्रेरित करके उनकी अभिरुचिमें वृद्धि करनी चाहिये। पुस्तक पढ़ते समय एवं गुरुसे प्रवचन श्रवण करते समय बैठनेके तरीकेका समुचित अभ्यास कराना चाहिये। महर्षियोद्वारा उद्भाषित जन्मके पूर्व तथा पश्चात् गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, अन्नप्राशन, निष्क्रमण तथा कर्णवेध आदि जीवन-विकासके प्रेरक संस्कारोका बालकोंके स्वास्थ्यके लिये विशेष महत्त्व है। हमारे ऋषि-महर्षियोंने चार वर्णोंकी तरह समाजमें चार आश्रमो—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासकी व्यवस्था की है। चारो वर्णके व्यक्तियोको वेदाज्ञानुसार यथाक्रम-यथोचित संस्कारोसे सुसंस्कृत होनेका अधिकार प्राप्त है। वौधायन एवं आपस्तम्ब-सूत्र इसके प्रमाण है।

इन आश्रमोका व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमे विशेष योगदान है । शिक्षाके श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन—तीनो अङ्गोपर समुचित ध्यान देना चाहिये ।

इस समय आत्यन्तिक भौतिकताके दुष्प्रभावसे शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक प्रत्येक रूपमे आबाल-वृद्धोके व्यक्तित्वका प्रत्यक्ष ह्रास हो रहा है । इससे राष्ट्रपर भी भयानक संकटके बादल मँडरा रहे हैं । ऐसे समयमे हमे अपने परिवार तथा समाजके वातावरणमे यथावश्यक सुधार और उचित संशोधनको प्रभावी करना अत्यन्त आवश्यक है । बालकोके मनमे गम्भीर उत्तरदायित्व ग्रहण करनेकी क्षमता तथा सफलता प्राप्त करनेकी प्रबल आकाङ्क्षाकी भावनाका विकास करना अत्यन्त आवश्यक है । उनके अंदर आत्मविश्वास, त्याग, तपश्चर्या, राष्ट्रके प्रति निष्ठा, सभ्यता, संस्कृति तथा प्राचीन आदर्शोके प्रति आस्थाका भाव जाग्रत् करके उन्हे सुयोग्य नागरिक बनाना आचार्यो और शिक्षक-वर्गका महान् कर्तव्य है । किसी भी राष्ट्रकी सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रगतिमे उस राष्ट्रकी शिक्षा-प्रणाली, शैक्षणिक सुविधाएँ, शिक्षाके स्तर, शिक्षितोकी संख्या और नित्य-प्रतिके व्यावहारिक जीवनमे उनके पारस्परिक सम्बन्धोका विशेष हाथ होता है ।

अनुशासित विधिसे बालकोकी सुप्त प्रतिभाको विकसित करके समाजका उत्तरदायी घटक तथा राष्ट्रका प्रखर चारित्र्य-सम्पन्न नागरिक बनाना हमारी शिक्षा-पद्धति तथा समस्त विद्यालयोका प्रमुख उद्देश्य है । जब भारतीय (हिंदू) संस्कृतिकी शक्तिसम्पन्न नींवपर भारतीय शिक्षा-प्रणालीकी दीवार खड़ी होगी तभी हम एक सभ्य, सुसंस्कृत, शिष्ट, सौम्य एवं परिष्कृत नागरिकका निर्माण कर सकेगे जो राष्ट्रके सर्वतोमुखी विकासमें सहायक सिद्ध होगा । बालकोंके अभ्यन्तरमें निर्भीकता, साहस, शौर्य एवं आत्म-विश्वासकी अभिवृद्धिके लिये सामूहिक खेलकूद तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमोंका आये दिन आयोजन करना चाहिये और उसमे भाग लेनेके लिये उन्हें निरन्तर प्रेरित करना चाहिये । हमारी संस्कृतिमे गुरुजनोका सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है । गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति तथा प्राचीन आदर्श प्रलापमात्र नहीं हैं, प्रत्युत उस पद्धति तथा आदर्शोके आचरणीय अंशको ग्रहण करके परम्परागत मूल्योंकी प्रतिष्ठाकी महती आवश्यकता है । वर्तमान समयमें शिक्षाके स्वरूप-निर्माणमे इन आधारभूत मान्यताओंपर ध्यान देकर ही हम भारतीय आदर्शके अनुरूप व्यक्तित्वका निर्माण कर सकते हैं जो सच्चे अर्थमे भारतीय कहलानेका अधिकारी होगा । हमे शिक्षाके आधारपर स्वदेश, स्वधर्म, स्वराज्य और आर्ष भारतीय संस्कृतिको सत्य, शिव और सुन्दरके संकल्पसे निरन्तर प्राणान्वित करते रहना चाहिये ।
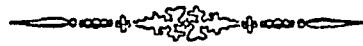
व्रजेश्वरका स्वरूप

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैः वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥

प्रातःकालका समय है, माता यशोदाने श्रीश्यामसुन्दरका शृङ्गार कर दिया है । उन श्रीनन्दनन्दनके मस्तकपर मयूरके पंखोका मुकुट लहरा रहा है, श्रेष्ठ नटके समान गठीला तथा सजा हुआ उनका श्यामवर्ण शरीर है, उनके कानोंमें अमलतासके फूलोके गुच्छे लटक रहे हैं, शरीरपर सोनेके समान चमचम चमकता हुआ वस्त्र है, गलेमे वैजयन्ती माला लटक रही है, ओष्ठपर वंशी लगी है और उसे वे बड़े ललित ढंगसे बजा रहे है, सहस्रो गोपकुमार उन्हें घेरकर उनका सुयश गाते चल रहे हैं । इस प्रकार वे त्रिभुवनसुन्दर गोचारणके लिये अपने चरणचिह्नोसे भूमिको अलंकृत करते हुए वृन्दावनमे प्रवेश कर रहे हैं ।
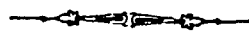
प्राचीन भारत की शिक्षा

शिक्षाके संदर्भमें भारतका प्राचीन दृष्टिकोण

('पद्मश्री' डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम०ए०, डि० लिट्०)

शिक्षाकी चर्चा करते समय साधारणतया मनमे जिन प्रश्नोका उदय होता है, वे ये हैं—१-शिक्षा किसे कहते हैं? २-शिक्षाका स्रोत क्या है? ३-शिक्षा कौन देता है? ४-शिक्षा कौन लेता है? और ५-शिक्षाका लाभ क्या है? इन प्रश्नोके संक्षिप्त उत्तरके रूपमे निम्न पङ्क्तियाँ प्रस्तुत हैं।

'शिक्षा' सस्कृत-भाषाका शब्द है और इसका व्याकरण-सम्मत अर्थ है—विद्याको ग्रहण करना। विद्याका प्रत्नतम स्रोत वेद है। शिक्षक अर्थात् गुरु विद्या देता है। शिक्ष्य अर्थात् शिष्य विद्याको ग्रहण करता है और इसका लाभ द्विविध है—(अ) सांसारिक अभ्युदय एवं (आ) निःश्रेयस्की प्राप्ति।

विद्याका वैविध्य

छान्दोग्य-उपनिषद्के एक प्रसङ्गमे यह कहा गया है कि एक बार देवर्षि नारद विद्या-प्राप्तिके लिये सनत्कुमारजीके पास गये। सनत्कुमारजीने पूछा—'नारदजी! आपने अबतक क्या-क्या सीख लिया है?' इस प्रश्नके उत्तरमे नारदजीने अनेक लौकिक विद्याओके नाम गिना दिये।

विद्याएँ और कलाएँ

१४ विद्याएँ और ६४ कलाएँ शिक्षणीय हैं। ४ वेद, ६ अङ्ग, पुराण-साहित्य, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र—ये १४ विद्याओके भण्डार हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति १।१।३)

६४ कलाओके नाम वात्स्यायन-विरचित कामसूत्र आदि ग्रन्थोमे दिये गये है। इनमे नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र और वास्तु (गृह-निर्माण)—ये कलाएँ प्रमुख हैं।

परा और अपरा विद्या

विद्याके १४ स्रोत ऊपर गिनाये गये है। इनमे दो प्रकारकी विद्याओका समावेश है—एक अपरा कहलाती है और दूसरी परा। संसारमे अभ्युदय दिलानेवाली अपरा है और भव-बन्धनसे मोक्ष दिलाकर परमात्म-सायुज्यकी प्राप्ति करानेवाली परा है—

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥

(मुण्डकोपनिषद् १।५)

शिक्षकके स्तर

शिक्षा देनेवाले व्यक्तिको शिक्षक कहा जाता है, किंतु प्राचीन ग्रन्थोमे इसके तीन स्तर प्राप्त होते है। सर्वोच्च आचार्य था तथा दूसरे स्तरपर उपाध्याय और तीसरे स्तरपर गुरु था—

(अ) उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
साङ्गं च सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

(मनुस्मृति २।१४०)

अर्थात् 'आचार्य उसे कहते है, जो शिष्यको उसके उपनयनके पश्चात् शिक्षादि अङ्गोके साथ तथा रहस्योकी व्याख्याके साथ समग्र वेदकी विद्या प्रदान करता है।'

(आ) एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥

(मनुस्मृति २।१४१)

अर्थात् 'उपाध्याय वह कहलाता है, जो अपनी आजीविकाके लिये शिष्यको वेदके एक अङ्गकी अथवा वेदके सभी अङ्गोकी शिक्षा देता है।'

(इ) निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥

(मनुस्मृति २। १४२)

अर्थात् 'गुरु वह व्यक्ति कहलाता है, जो अपने यजमानके यहाँ गर्भाधान आदि संस्कारोको विधिपूर्वक कराता है और (अपने गुरु-कुलमे) शिष्योके भोजनका प्रबन्ध करता है।'

गुरुकी गरिमा

शिक्षक, आचार्य, उपाध्याय और अध्यापक शब्दोकी अपेक्षा लोकव्यवहारमे पढ़ानेवाले व्यक्तिके लिये 'गुरु' का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा। गुरु शब्दकी व्याख्या कई प्रकारसे की जाती है। उदाहरणार्थ—

(अ) **'गरति सिञ्चति कर्णयोर्ज्ञानामृतम् इति गुरुः'** अर्थात् जो शिष्यके कानोमे ज्ञानरूपी अमृतका सिचन करता है वह गुरु है **(गृ सेचने भ्वादिः)**।

(आ) **'गिरति अज्ञानान्धकारम् इति गुरुः'** अर्थात् जो अपने सदुपदेशोके माध्यमसे शिष्यके अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट कर देता है वह गुरु है **(गृ निगरणे तुदादिः)**।

(इ) **'गृणाति धर्मादिरहस्यम् इति गुरुः'** अर्थात् जो शिष्यके प्रति धर्म आदि ज्ञातव्य तथ्योका उपदेश करता है वह गुरु है **(गॄ शब्दे क्र्यादिः)**।

(ई) **'गारयते विज्ञापयति शास्त्ररहस्यम् इति गुरुः'** अर्थात् जो वेदादि शास्त्रोके रहस्यको समझा देता है वह गुरु है **(गृ विज्ञाने चुरादिः)**।

शिष्य-वर्गमे अपने गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश और परब्रह्मके समकक्ष माननेकी यह सूक्ति बहुत प्रचलित है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

सब प्रकारके शिक्षकोके लिये गुरु शब्दका प्रयोग सार्वभौमवत् प्रतीत होता है। महर्षि याज्ञवल्क्यने लिखा है—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति १। २। १५)

अर्थात् 'उपनयनकी विधि सम्पन्न हो जानेपर गुरु अपने शिष्यको 'भूः भुवः स्वः'—इन व्याहृतियोंका उच्चारण कराकर वेद पढावे और दन्तधावन एवं स्नान आदिके द्वारा शौचके नियमोको सिखावे तथा उसके हितावह आचारकी भी शिक्षा दे।' आचार परम धर्म माना गया है। इसके सम्बन्धमे शास्त्रोमे बहुत कुछ लिखा गया है। उदाहरणार्थ—याज्ञवल्क्यस्मृति तीन प्रधान अध्यायोमे विभक्त है। इनमे प्रथम अध्याय आचाराध्याय ही है। आचारादर्श आदि अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी आचार-विषयक सामग्रीसे परिपूर्ण है।

गुरुतम गुरु

प्राय सभी व्यक्तियोके गुरु पृथक्-पृथक् होते है, किंतु श्रीभगवान् तो सभीके गुरु है। वे लोक-पितामह ब्रह्माजीके भी गुरु है—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(योगसूत्र १। २६)

ब्रह्माजीने सर्गके आरम्भमे श्रीविष्णु भगवान्से ही वेद-विद्या प्राप्त की थी—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १८)

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये।

(श्रीमद्भागवत १। १। १)

अतएव श्रीभगवान्‌को 'गुरुतम गुरु' मानना समीचीन है। श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रमे यह २१०वाँ नाम है।

शिष्यकी योग्यता

आचार्य यास्कने निरुक्तमे संहितोपनिषद्से विद्या-ब्राह्मण-सवादके चार मन्त्र उद्धृत किये है। उनसे विदित होता है कि शिक्षक कैसे व्यक्तिको शिष्यरूपमे अङ्गीकार करके उसे विद्याका उपदेश दे—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।

अर्थात् 'विद्या (की अधिष्ठात्री देवता) ने विद्वान् ब्राह्मणके निकट आकर कहा कि 'मैं तुम्हारी सम्पत्ति हूँ। अतएव मेरी रक्षा करो। योग्य व्यक्तिको ही उपदेश देना, अयोग्यको नहीं। यदि ऐसा करोगे तो मै शक्ति-सम्पन्न बनी रहूँगी।' निरुक्त २।१।४ मे कहा गया है—

असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्।

अर्थात् 'गुणोमे दोषदर्शी, कुटिल स्वभाववाले और मन आदि इन्द्रियोको वशमे न रखनेवाले व्यक्तिको मुझे मत देना।'

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत कतमच्चनाह॥

अर्थात् 'शिष्यका यह कर्तव्य है कि जो व्यक्ति उसके कानोमे सुखपूर्वक सत्य सिद्धान्तामृतका सिचन करता है और उसे इस प्रकार अमृतका दान करता है, उसे अपना पिता और माता समझे एवं उस गुरुसे कभी द्रोह न करे।'

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥

अर्थात् 'वे छात्र अपने गुरुसे (गुरुकुलमें) भोजन प्राप्त करनेके योग्य नही हैं जो मन, वाणी और कर्मसे उनका आदर न करें। विद्या ऐसे छात्रोकी रक्षा नही करती।'

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।

अर्थात् जिस व्यक्तिको तुम शुचि, अप्रमत्त, मेधावी और ब्रह्मचर्य-सम्पन्न समझो, उसे उपदेश दो। शुचिका अर्थ है पवित्र। जो दन्तधावन एवं स्नान आदिद्वारा शरीरको तथा अपनी वस्त्रादि सामग्रीको शुद्ध रखता है वह शुचि है। जो अपने कार्य-कलापमे सर्वदा और सर्वथा सावधान रहता है, वह अप्रमत्त कहलाता है। मेधावी वह है जो एक बार गुरुमुखसे सुने सिद्धान्तको समग्ररूपसे याद रखता है। ब्रह्मचारी वह है जो अष्टधा (श्रवण, स्मरण, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्तिवाले) मैथुनसे अपनेको बचाये रखता है। ऐसे योग्य व्यक्तिको विद्याका उपदेश दो।

गुरुकुल

शिक्षाके लिये ऋषि-मुनियोने गुरुकुलकी प्रणालीका आविष्कार किया था। ये गुरुकुल ग्रामो और नगरोसे दूर प्रकृतिके शान्त वातावरणमे होते थे। नैसर्गिक जलवायु और सात्त्विक आहार-विहारके परिवेशमे प्राप्त शिक्षा आनन्दमयी ही होती थी, किंतु वहाँ विलासमय जीवनकी नही, अपितु तपोमयी चर्याकी मान्यता थी। आर्थिक वैषम्य अथवा जाति-वर्णका पार्थक्य गुरुकुलमे छात्रोके प्रवेशमे बाधक नही था। श्रीकृष्ण और सुदामाका एवं आचार्य द्रोण और द्रुपदका छात्र-जीवन इसमे निदर्शन है। समस्त अन्तेवासीवर्गमे अपने गुरुजन तथा कुलपतिके प्रति अगाध श्रद्धा रहती थी। प्रत्येक छात्र अपने गोत्र और नामका उच्चारण करता हुआ अपने शिक्षकका अभिवादन करता था और प्राप्त करता था दीर्घायुष्य तथा वैदुष्यका आशीर्वाद। विद्या एवं व्रतकी समाप्तिपर, गृहस्थाश्रममे प्रवेशसे पूर्व, सभी छात्र यथाशक्ति गुरु-दक्षिणा दिया करते थे। वरतन्तुके शिष्य कौत्सने महाराज रघुसे याचना करके विपुल धन-राशि गुरु-चरणोमे अर्पित कर दी थी— (द्रष्टव्य रघुवंशका पञ्चम सर्ग) और भगवान् श्रीकृष्णने गुरु-पत्नीके आदेशका पालन करते हुए संयमनीसे उनकी दिवंगत सतान लाकर दी थी (द्रष्टव्य-श्रीमद्भागवत १०।४५।४७)। इतिहास ऐसी घटनाओका साक्षी है।

शिक्षाके क्षेत्रमे नर-नारीका साहचर्य प्राचीन ऋषि-मुनियोको मान्य नहीं था। **'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्'** का उपदेश देनेवाले मनु आदि स्मृतिकार गुरुकुलमे बालक-बालिकाओके, किशोर-किशोरियोके, युवक-युवतियोके सहाध्ययनकी आज्ञा कैसे दे सकते थे?

कैशोर अथवा नवयौवन समाप्त होनेपर कन्याओके समक्ष दो मार्ग थे—(१) विवाह और (२) वीतराग तपस्वीके चरणोमे योग-चर्याका अवलम्बन अथवा रुचि-भेदके कारण ज्ञान-निष्ठाका आश्रय। सुलभा नामकी महिला योग-सिद्धा थी और गार्गी वाचक्नवी ज्ञान-निष्ठा थी, किंतु ऐसी महिलाएँ संख्यामे विरली ही होती थी। प्राय. कन्याएँ विवाहके अनन्तर पति-सेवाके द्वारा उसी पुण्यको प्राप्त कर लेती थी, जिसे ब्रह्मवादिनी या योगाभ्यासिनी महिलाएँ किसी तपोवनके वीतराग महर्षिके चरणोमे रहकर प्राप्त करती थीं **'पतिसेवा गुरौ वासः।'**

किशोर-किशोरियोका साहचर्य किसी सीमातक क्षम्य हो सकता है। शुक्राचार्यके गुरुकुलमे दैत्य-गुरुकी पुत्री देवयानीने देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र कचसे अपने प्रणयकी प्रार्थना कर ही दी थी। देवगुरुका पुत्र संयमी था, अतएव उसने देवयानीके प्रणयको अनय (नीति-विरुद्ध) मानकर उसे स्वीकार नहीं किया।

शिक्षाकी वेदाङ्गता

विविध विद्याओके प्राचीनतम भाण्डागार वेदके अध्ययनमे किसी प्रकारकी असावधानी न हो जाय—इस बातका ध्यान रखते हुए तैत्तिरीयोपनिषद्मे कहा गया है—

अथ शीक्षां व्याख्यास्यामो वर्णः स्वरो मात्रा बलं साम संतान इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।

अर्थात् अब हम शिक्षाकी व्याख्या करेगे कि शिक्षा क्या है? सीखना क्या है? स्वर और व्यञ्जनके रूपमे विभक्त वर्ण-समुदायका स्पष्ट उच्चारण नितान्त आवश्यक है। दन्त्य सकार, तालव्य शकार और मूर्धन्य षकारके उच्चारणमे छात्र प्राय. अनवधानतावश दोषी पाये जाते हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नामवाले स्वरोके समीचीन प्रयोगके लिये अध्येता अपने हाथका संकेत किया करते हैं। लघु और गुरु मात्राका ध्यान परम आवश्यक है। पाठ करते समय किस शब्दपर अथवा किस वर्णपर बलका प्रयोग करना है—यह गुरुजन अपने शिष्योको सिखाया करते है। मन्त्रके उच्चारणमे न बहुत शीघ्रता करनी चाहिये और न बहुत विलम्ब। इस अद्रुतविलम्बोच्चारणको साम कहा जाता है। वर्णोके परम संनिकर्षको सतान नाम दिया गया है। 'ज' और 'ञ' के सतानसे बननेवाले 'ज्ञ' का उच्चारण गुरूपदिष्ट प्रणालीसे ही होना चाहिये। संयुक्ताक्षरोके शुद्ध उच्चारणसे पाठमे सरसता आती है। यह थी मन्त्रोके उच्चारणके विषयमे शिष्योके लिये गुरुजनकी प्रारम्भिक सीख।

उपरितन विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त है, अतएव परवर्ती विद्वान् लेखकोंने अपनी रचनाओमे इसका विस्तार किया है। इनके वनाये पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य-शिक्षा आदि ग्रन्थ अध्येतृवर्गमे समादृत हैं। ६० पद्योवाली पाणिनीय शिक्षासे पाठकोके परिचयके लिये ३२वे और ३३वे पद्योको उद्धृत कर रहा हूँ—

गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥
माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥

अर्थात् 'गाकर पढनेवाला, बहुत शीघ्र पढनेवाला, सिरको हिला-हिलाकर पढ़नेवाला, जैसा लिखा हो वैसा ही पढ देनेवाला (अर्थात् लिपिकके भ्रमसे लिखे गये अशुद्ध शब्दोको अशुद्ध ही पढनेवाला), अर्थको विना जाने पढनेवाला और निर्बल गलेवाला व्यक्ति अच्छा पाठक नही माना जाता। इसके विपरीत अच्छे पाठकके पाठमे मधुरता होती है, प्रत्येक अक्षर स्पष्ट सुनायी देता है, पदोका पार्थक्य विशद और निर्भ्रान्त होता है, स्वर-श्रवण सुखद होता है, गाम्भीर्य होता है और होती है भावानुकूल लय।

छ शास्त्रोको वेद-पुरुषके अङ्गोके समान माना गया है। उनमे शिक्षाशास्त्रको नासिकाका स्थान दिया गया है—

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य।

शिक्षाकी सार्थकता

प्रकृतिके साम्राज्यमे सर्वत्र सत्त्व, रज और तमकी त्रिवेणीका प्रवाह बह रहा है। शिक्षा भी इस प्रवाहसे पूर्णरूपसे मुक्त नही है। वह भी सात्त्विकी, राजसी और तामसीके भेदसे तीन प्रकारकी है। तामसी शिक्षाके स्रोत वे व्यक्ति है, जो स्वयं अनाचार और दुराचारमे आकण्ठ निमग्न है और अपने सम्पर्कमे आनेवालोको भी वैसा ही बनानेके लिये लालायित रहते है। राजसी शिक्षाके पक्षपाती वे व्यक्ति हैं, जो सासारिक वैभवकी लिप्सामे अपना समय व्यतीत करते है और अपने सुहृद्-वर्गको भी वैसे कष्ट-बहुल वैभवके भोगकी प्रेरणा देते रहते है। तीसरी सात्त्विकी शिक्षाके शिक्षक वे महानुभाव है, जो व्यक्तिगत सुख-शान्तिकी कामना करते हुए तथा पारिवारिक उन्नतिको दृष्टिमे रखते हुए बहुजन-हिताय यत्नशील हैं। इनका लक्ष्य है जागतिक सर्वाङ्गीण अभ्युदय एव पारमार्थिक चिरन्तन नि श्रेयस्।

ऐसी सात्त्विकी शिक्षाके स्रोत हैं हमारे वेद और वेदानुयायी अन्य सभी शास्त्र। वेदोमे मानवमात्रके उद्धारके लिये दो प्रकारके वचन मिलते है, जिन्हे विधि और निषेध कहा गया है। विधि-वाक्यके द्वारा किसी कामको करनेके लिये शिक्षा दी जाती है और निषेध-वाक्यके द्वारा किसी कामको न करनेकी शिक्षा दी जाती है। उदाहरणार्थ—

विधिवाक्य—(१)'**जिजिविषेच्छत ँ समाः**' अर्थात् मनुष्यको सौ वर्षतक जीवित रहनेकी इच्छा करनी चाहिये। (२) '**कृषिमित् कृषस्व**' अर्थात् खेती-बाड़ी करो। (३) '**सत्यं ब्रूयात्**' अर्थात् सच बोलना चाहिये। (४) '**मातृदेवो भव**' अर्थात् माताका देवताके समान अदार करो।

निषेध-वाक्य—(१) '**मा गृधः कस्यस्विद् धनम्**' अर्थात् किसीके धनको गृध्र-दृष्टिसे मत देखो। (२) '**अक्षैर्मा दीव्यः**' अर्थात् जुआ मत खेलो। (३) '**मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि**' अर्थात् प्राणियोकी हिंसा मत करो।

(४) '**न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्**' अर्थात् ऐसा सच मत बोलो जो सुननेवालेको अप्रिय लगे।

ऐसे वचनोसे हमे अनेकानेक शिक्षाएँ प्राप्त होती है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमे उपयोगी शिक्षाओका समुदाय हमारे आर्ष ग्रन्थोमे उपलब्ध है। उनका आश्रय लेकर, उनके अनुसार अपना आचरण बनाकर, हम न केवल अपने वर्तमान जीवनको सुखमय बना सकते है, अपितु कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, योगमार्ग अथवा भक्ति-मार्गद्वारा उन्नतिके पथपर अग्रसर होकर परम आनन्दका भी अनुभव कर सकते है। शिक्षाके संदर्भमे यही प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण है।
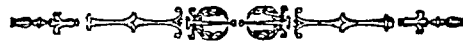
भारतीय प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था

(आचार्य पं० श्रीसीतारामजी चतुर्वेदी)

भारतीय वैदिक विधानके अनुसार बालकका प्रथम विद्यापीठ माताका गर्भ ही माना जाता था। इसी कारण गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारोमे गर्भस्थ बालकके कल्याणके साथ-साथ उसके तेज, पराक्रम, ब्रह्मवर्चस्व तथा मेधा आदिके सवर्धनकी भी मङ्गल-कामना की जाती थी। जन्मके पश्चात् माता ही बालकका प्रथम गुरु होती है। वही बालकको समयसे सोने-जागने, उठने-बैठने, अभिवादन करने, बडोका आदर करने तथा उचित संस्कारके साथ बोलने-चालनेका अभ्यास कराती थी। यह शिक्षा माताएँ तीन वर्षतक बालकोको देती रहती थीं।

माताके पश्चात् बालकका दूसरा गुरु पिता होता था, जो पॉच वर्षकी अवस्थातक बालकमे सामाजिक तथा धार्मिक आचार-व्यवहार, परिवार और पडोसके लोगोके साथ सद्व्यवहारके साथ पैतृक-व्यवसायका प्रारम्भिक संस्कार डाल देता था। इसी अवस्थामे या तो पिता ही अक्षर-ज्ञान और अङ्कज्ञान करा देता था या खण्डिकोपाध्यायकी चटसालमे भेज देता था, जहॉ वह गुरुके प्रति आदर और सहपाठियोके साथ स्नेह, सहयोग, सेवा तथा सद्भावका अभ्यास करता हुआ लिखना-पढना, गिनती-पहाड़ा और भाषा सीखता चलता था। विद्यारम्भ प्रायः पॉचवे वर्षमे कराया जाता था, किंतु कभी-कभी उपनयन-सस्कारोके साथ भी करा दिया जाता था।

परिषद् या सावासविद्यालय

प्राचीन भारतमे शिक्षाकी सबसे महत्त्वपूर्ण सस्था परिषद् थी। ये परिषदे अत्यन्त गण्य-मान्य विद्वानोकी समितियॉ थी, जो समय-समयपर सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक समस्याओपर विचार करके देश, काल, नीति, धर्म तथा औचित्यके अनुसार व्यवस्था या निर्णय दिया करती थीं। इनकी दी हुई व्यवस्था राजा और प्रजा

दोनोंको समान रूपसे मान्य होती थी। इन परिषदोंके सभी सदस्य धुरंधर विद्वान्, नीतिज्ञ, विवेकशील, निष्पक्ष, महापुरुष ही होते थे। इन विद्वानोंकी विद्वत्ता, निरीहता, आत्मत्याग और सुशीलतासे आकृष्ट होकर अनेक विद्याप्रेमी और ज्ञान-पिपासु छात्र तथा विद्वान् दूर-दूरसे उनसे ज्ञान प्राप्त करने या शङ्काओका समाधान कराने आते थे। धीरे-धीरे इन्हीं परिषदोने महागुरुकुलों या सावास-विश्वविद्यालयोंका रूप ग्रहण कर लिया।

इन परिषदोंमे प्राय· इक्कीस सदस्य होते थे, जो वेद, शास्त्र, धर्म और नीतिके प्रकाण्ड सर्वमान्य पण्डित होते थे। इन परिषदोंके सदस्योंकी आदर्श संख्या तो दस थी, किंतु परिस्थितिके अनुसार इनकी सख्या घटकर चारतक आ गयी थी। इन परिषदोंका एक केन्द्र तो काशी था और दूसरा गान्धारकी राजधानी तक्षशिला नगर था।

गुरु

हमारे यहाँ गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् परब्रह्मतक महनीय बताया गया है। प्राचीन युगमे गुरु बननेका अधिकार केवल ब्राह्मणोको ही मिला था, जो अन्य विद्याओंके साथ-साथ शस्त्र-विद्या, युद्धनीति तथा अर्थशास्त्र भी पढ़ाते थे, किंतु यह छूट अवश्य थी कि यदि ब्राह्मण गुरु न मिले तो क्षत्रिय गुरुसे भी विद्या प्राप्त की जा सकती थी और ब्रह्मविद्या तो किसी भी अधिकारीसे प्राप्त की जा सकती थी।

आगे चलकर इन गुरुओंके दो भेद हो गये—एक शिक्षा-गुरु, दूसरे दीक्षा-गुरु। जो विद्वान् केवल विभिन्न शास्त्र मात्र पढ़ाता था, वह शिक्षा-गुरु कहलाता था और जो उपनयनके पश्चात् छात्रको अपने साथ रखकर उसे आचार-विचार भी सिखाता था, उसे दीक्षा-गुरु कहते थे। ये दीक्षा-गुरु अपने छात्रोंको रहनेका स्थान भी देते थे और उनके भोजनकी व्यवस्था भी करते थे। इतना ही नहीं, यदि कोई छात्र किसी दूसरे आचार्यसे कोई विद्या पढ़ना चाहता था तो उसे दूसरे गुरुके पास जाकर पढ़नेकी सुविधा भी देते थे।

स्मृतियोंमें चार प्रकारके शिक्षक माने गये हैं—कुलपति, आचार्य, उपाध्याय और गुरु। जो ब्रह्मर्षि विद्वान् दस सहस्र मुनियो (विद्याका मनन करनेवाले ब्रह्मचारियों) को अन्न-वस्त्र आदि देकर पढ़ाता था, वह 'कुलपति' कहलाता था। जो अपने छात्रोंको कल्प (यज्ञ करनेकी विधि) और रहस्य (उपनिषद्) के साथ वेद पढ़ाता था, वह 'आचार्य' कहलाता था। जो विद्वान् मन्त्र और वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, व्याकरण और छन्द) पढाता था, वह 'उपाध्याय' कहलाता था और जो विद्वान् अपने छात्रोंको भोजन देकर वेद-वेदाङ्ग पढ़ाता था, वह 'गुरु' कहलाता था। उस समय यही विश्वास था कि विद्या-दानसे बढ़कर कोई दान नहीं है, क्योंकि विद्या पढानेसे जीवकी मुक्ति हो जाती है। इसीलिये अनेक विद्वान् सब प्रकारकी तृष्णाको त्यागकर लोक-कल्याणकी कामनासे छात्रोंको विद्या-दान करते ही रहते थे।

शिक्षामें शिष्टाचार

उपनयनके पश्चात् गुरु अपने समागत शिष्यको ऐसे शिष्टाचारकी शिक्षा देते थे कि किस प्रकार अपने गुरु, सहपाठी और अतिथिके साथ व्यवहार करना चाहिये। इस शिष्टाचारकी शिक्षाके साथ-साथ बालकमें नियमित नित्यकर्म, संध्यावन्दन, हवन, गुरु-शुश्रूषा तथा अपनेसे बड़े छात्रोंके प्रति आदरका संस्कार डाला जाता था। ऐसे शिष्टाचारका संस्कार पड़ चुकनेपर ही बालककी शिक्षा प्रारम्भ होती थी।

गुरु और शिष्य

गुरुका कार्य केवल पढ़ाना ही नहीं था। उनका यह भी धर्म था कि वे छात्रोंके आचरणकी भी रक्षा और देख-रेख करें, उनमे सदाचारकी भावना भरें, उनकी बौद्धिक योग्यतामें संवर्धन करे, उनके कौशल और उनकी प्रतिभाकी सराहना करके उनकी सर्वाङ्गीण अभिवृद्धिमें सहायता करें, वात्सल्य-भावसे उनका पोषण करें, उनके भोजन-वस्त्रकी समुचित व्यवस्था करें, उनके रुग्ण हो जानेपर उनकी सेवा करें, जिस समय भी वे विद्या सीखने या शङ्काका समाधान कराने आवें उसी समय उनकी शङ्काका समाधान करें, उन्हे पुत्रके समान मानें और यदि कोई शिष्य विद्या-बुद्धि-कौशलमें अपनेसे बढ़ जाय तो इसे अपना गौरव समझें।

शिष्य भी गुरुको पिता और देवता मानकर उनमे अखण्ड श्रद्धा रखते थे। गुरुकुलमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी सब समान रूपसे रहते थे। उनमे छोटे-बड़े, राजा-रंक, धनी-निर्धनका कोई भेद नहीं होता था। गुरुके एक वाक्यको शिष्य अपने लिये अमृत-वाक्य समझता था और उनके आदेशके पालनको अपना अहोभाग्य मानता था। वह सब प्रकारसे गुरुकी कृपा तथा आशीर्वाद प्राप्त करने और उन्हे प्रसन्न रखनेके लिये प्रयत्नशील रहता था। यही कारण था कि उस युगके सभी शिष्य एक-से-एक बढ़कर सच्चरित्र, मेधावी, विद्वान् और तेजस्वी होकर निकलते थे। वे तपस्वी और गुरु-भक्त शिष्य अपने गुरुओंकी सेवा करते थे, उनके पैर दबाते थे, उनके जूठे बर्तन माँजते थे, उनके लिये दूर-दूरसे जल भरकर लाते थे और शुद्ध हृदयसे उनका इतना सम्मान करते थे कि गुरुजीकी जो भी आज्ञा होती थी उसका तत्परताके साथ तत्काल पालन करते थे। वे सदा गुरुजीके पीछे चलते थे, गुरुजी यदि उन्हें बुलाते तो वे गुरुजीकी बाँयीं ओर खड़े होकर उनकी बात सुनते। यदि गुरुजी हाथमें कुछ लेकर चलते होते तो शिष्य दौड़कर स्वयं वह वस्तु उनके हाथसे लेकर उनके पीछे-पीछे चलने लगते। वे सदा यह ध्यान रखते थे कि गुरुजीको किसी प्रकारका कष्ट या असुविधा न हो। अध्ययनके समय वे गुरुजीके दोनो पैर धोकर आचमन करके गुरुजीके सामने बैठकर अध्ययन करते थे।

गुरुकुलमें ब्रह्मचारीका धर्म था कि वह गुरुके बुलानेपर निकट आकर उनसे वेद पढ़े, मननपूर्वक वेदके अर्थपर विचार करे, मूँजकी मेखला, कृष्णाजिन (काले हरिणकी छाल), दण्ड, रुद्राक्षकी जपमाला, ब्रह्मसूत्र और कमण्डलु धारण करे, स्वयं बढी हुई जटाएँ धारण किये रखे, दन्तधावन करे, पहननेके वस्त्र न धुलावे, रंगीन आसनपर न बैठे, कुशा लिये रहे, स्नान, भोजन, जप और मल-मूत्र त्यागनेके समय मौन रहे, नख न काटे, पवित्र और एकाग्र होकर प्रात.-सायं संध्याओमे मौन होकर गायत्रीका जप करता हुआ अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, बड़े-बूढ़ो और देवताओकी उपासना करता हुआ संध्या-वन्दन करे। आचार्यको सदा साक्षात् ईश्वर समझे, उनकी किसी भी बातका बुरा न माने, जो कुछ भिक्षा मिले सब गुरुजीके आगे लाकर रख दे। उनके भोजन कर चुकनेपर गुरुकी आज्ञा पाकर संयत-भावसे उसमेसे स्वयं भी भोजन करे, नम्रतापूर्वक गुरुके निकट ही रहकर सदा गुरुकी सेवा करे, गुरु चलने लगे तो स्वयं भी उनके पीछे-पीछे चले, गुरु सो जायँ तभी सोये, गुरु लेटे हो तो पास बैठकर उनके पैर दबाता रहे और जबतक विद्याध्ययन पूर्ण न हो जाय तबतक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुलमे रहे। यदि उसे महः, जन., तप. अथवा ब्रह्मलोकमे जानेकी इच्छा हो तो बृहद्व्रत (नैष्ठिक ब्रह्मचर्य) धारण करके जीवनभर गुरुकी सेवा करता हुआ विद्याएँ सीखता रहे। इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य ब्रह्मचारी प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी हो जाता है। ऐसे निष्काम नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी कर्म-वासनाएँ तीव्र तपसे भस्म हो जाती हैं और अन्तमे वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

यह भारतका दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि ऐसी उदात्त शिक्षाव्यवस्था हमारे देशसे पूर्णतः लुप्त हो गयी और आज हमारी सम्पूर्ण शिक्षा केवल परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने-करानेका साधनमात्र बनी रह गयी हैं। गुरु-शिष्यका पवित्र सम्बन्ध समाप्त हो गया है और शिक्षा एक व्यवसाय मात्र रह गयी है, विमुक्ति दिलानेवाली विद्या स्वप्न हो गयी है।

जिस वाणीसे सत्त्वगुण, ज्ञान और भक्तिकी वृद्धि हो तथा मन शान्त हो ऐसा भाषण करना ही मुख्य कर्तव्य है। यदि मनुष्यको प्रेमी, निःस्वार्थी, उदारप्रकृति, निरभिमान, श्रोत्रिय और भगवन्निष्ठ गुरु प्राप्त हो तो उनके ही चरणकमलोमे आत्मविसर्जन करना उसका मुख्य कर्तव्य है।

भारतीय प्राचीन शिक्षाका स्वरूप

(श्रीनारायणजी पुरुषोत्तम सांगाणी)

हमारे ऋषि-मुनि प्रातःस्मरणीय हैं। उनके द्वारा प्रणीत इतिहास-पुराणोंको देखनेसे प्रतीत होता है कि पूर्वकालमें भारत राष्ट्र सभी प्रकारसे उन्नति-अभ्युदयके शिखरपर था। ज्ञान-विज्ञान, बल-बुद्धि, धन-धान्य, सुख-सम्पत्ति, ऐश्वर्य-वैभव, प्रेम-परोपकार, शील-सदाचार, व्यापार-वाणिज्य, कारीगरी-उद्योग और कला-कौशल आदि प्रत्येक विषयमे इस देशने अत्यधिक विकास करके कल्पनातीत सामर्थ्य प्राप्त किया था।

प्राचीनकालमें ऐसे अनुपम एवं अद्‌भुत शक्ति-सामर्थ्यके प्राप्त होनेका कारण यह था कि यहाँके लोग अध्यात्मवादी ज्ञानपरायण थे। वे ईश्वर और धर्मको ही अपना सर्वस्व मानते थे। उनकी वेद-शास्त्रो और वर्णाश्रम-धर्ममें अटल श्रद्धा थी और तदनुसार आचरणके लिये वे सदैव प्राणोंकी बाजी लगानेमे भी कटिबद्ध थे।

शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये बालक-अवस्थामें ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुके घर रहकर विद्याभ्यास करनेका निर्देश है। प्राचीनकालमें ब्राह्मणोंके आश्रम—घर विद्यार्थियोंके लिये सर्वथा निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करनेके लिये स्थान थे। भगवान् वेदव्यास, भृगु, भरद्वाज, वसिष्ठ, च्यवन, याज्ञवल्क्य, अङ्गिरा-जैसे महाशाल कुलपतिके आश्रमोंमे दस-दस हजार बालक ब्रह्मचर्यसे रहकर संयम-नियमका पालन, सत्य-सदाचारका सेवन और गुरु तथा गायोंकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए यथाधिकार उपनयन-संस्कार कराकर विद्याज्ञानका उपार्जन करते थे।

आजकलके स्कूल-कालेजोंमें जहाँ अपनी शक्तिसे वाहर कक्षाशुल्क भरकर, आत्माको कुचलकर और कापी-पुस्तकोंपर भी पर्याप्त व्यय करके भी बालक केवल विदेशी 'भाषाज्ञान'- विज्ञान ही सीखते हैं और धर्म-कर्म तथा शौर्य-वीर्य-मन्त्रशक्तिसे वञ्चित होकर स्वच्छन्दाचारी बनकर केवल नौकरी-गुलामीके लिये ही तैयार होते हैं, वहाँ प्राचीन शिक्षण-प्रथा इससे सर्वथा विलक्षण थी। प्राचीन शिक्षामें अष्टादश विद्याएँ मुख्य थीं और उन्हींका शिक्षण फल-फूलोंसे लदे हुए पवित्र वन-जंगलोंके एकान्त रमणीय प्रदेशोंमें, गङ्गा, यमुना, नर्मदा, कावेरी, तुङ्गभद्रा, गोदावरी-जैसी पवित्र नदियोंके तटपर प्रतिष्ठित ऋषियोंके गुरुकुलोंमें अथवा ब्रह्मचर्याश्रमोंमें दिया जाता था। इन अठारह विद्याओंका स्वरूप महर्षि याज्ञवल्क्य आदिने इस प्रकार बतलाया है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥
(उपवेदसहिता होता विद्या ह्यष्टादशस्मृताः ॥

श्रीमद्भागवत, स्कन्द, पद्म, ब्रह्म आदि पुराण, न्यायशास्त्र, पूर्व और उत्तरमीमांसा आदि दर्शन-शास्त्र, मनु-याज्ञवल्क्य-पराशर-यम-आपस्तम्बादिके धर्मशास्त्र, शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त—ये छः वेदके अङ्ग तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—ये चारों वेद और आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और शिल्पादि-वेद—ये चार उपवेद—यों सब मिलाकर अठारह विद्याओंका बालक गुरुकी आज्ञामें रहकर तप-योग-अनुष्ठान-भक्तिपूर्वक अभ्यास करके सम्पादन करते थे, जिससे वे प्रौढावस्थामे सहज ही सर्वत्र महापुरुष बन जाते थे।[१]

पुराण-विद्यामें वेदोंका गूढ़ ज्ञान—मनुष्य अपने चारों पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षको सरलतासे सिद्ध कर सके, ऐसी पद्धतिसे, महापुरुषोंके दिव्य चरित्रोंके द्वारा निरूपण किया गया है। वास्तवमें पुराण भारतीय एवं विश्वविज्ञान-कला-विद्याओंके महान् विश्वकोश हैं। उनमें सब कुछ सच्चे रूपमें प्रतिपादित है। न्याय-शास्त्रकी विद्यासे तर्कबुद्धिके विकासद्वारा वेद-वेदाङ्गके सत्य अर्थका

१. शुक्रने ३२ विद्याएँ एव ६४ कलाएँ प्रदिष्ट की हैं। 'अनन्तशास्त्र बहुलाश्च विद्या'—इस वाक्यसे इनकी अनन्तता भी सकेतित है।

तात्पर्य समझमे आता है। पूर्वमीमांसा-शास्त्रकी विद्यामे वेदोंकी शङ्का-गुत्थियोका पूरा परिहार, यज्ञ-याग, होम-हवनके द्वारा एवं यज्ञस्वरूप विष्णु तथा इन्द्रादि देवताओको प्रसन्न करके पर्जन्य, ऐश्वर्य, संतति, विश्वके लोगोकी सुख-शान्ति तथा स्वर्गप्राप्तिका साधन समझाया गया है और उत्तरमीमांसा—ब्रह्मसूत्रमें समस्त वेद-वेदान्त-उपनिषदोकी शङ्काओका समाधानपूर्वक अन्य वादोका निरसन करके ब्रह्मके विशुद्ध स्वरूपका निर्देश किया गया है।

मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि स्मृति-धर्मशास्त्रोकी विद्यामे मनुष्यको जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त और प्रातःकालसे लेकर सायंकालतक किये जानेवाले समस्त कर्तव्योका निर्देश तथा जीवन-व्यवहार और राजनीति-सम्बन्धी सर्वोत्तम उपदेश दिया गया है।

शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त आदि वेदाङ्गोंकी विद्यामे शुद्ध संस्कारी भाषाके पूर्ण ज्ञानके साथ वेदोंके कठिन अर्थोको कैसे समझना चाहिये, इस बातको तथा भूत, भविष्य और वर्तमान कालकी गतिका सूक्ष्म ज्ञान बहुत ही अच्छी रीतिसे समझाया गया है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदमे कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्डके द्वारा निष्काम-कर्म, भक्ति तथा तत्त्वज्ञानसे प्रभु-साक्षात्कार किंवा मोक्षके साधन बताये गये हैं और आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, शिल्पादि-वेदोंके द्वारा लोगोंकी नीरोगता, अस्त्र-शस्त्रादि-विद्यामे निपुणता, चौंसठ कलाओका ज्ञान तथा गानके द्वारा प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनका अद्वितीय मार्ग आदि बतलाये गये हैं, जो मनुष्यमात्रके लिये इहलोक-परलोकको सफल बनानेवाले अमोघ साधन समझे जाते हैं।

यूरोपके विचक्षण-बुद्धि विद्वानोने जहाँ भारतीय संस्कृतिके मौलिक ग्रन्थोंको जिस-किसी प्रकारसे उपलब्ध कर, उनके मनन-चिन्तन-अभ्यास-अन्वेषणसे विज्ञानका (अनेक प्रकारकी वैज्ञानिक वस्तुओका आविष्कार) निर्माण करके दुनियाके लोगोको आश्चर्यचकित कर दिया, वहाँ अपनी संस्कृति और अपनी विद्याके स्वरूपको भूलकर जडवादी यूरोप-अमेरिकाका अन्धानुकरण करते हुए प्रस्तुत भारतके कर्णधारोने कोमल अन्तःकरणके बालकोके लिये अभीतक वही अंग्रेज मेकाले साहबका बोया हुआ विषवृक्षरूपी स्कूल-कॉलेजोका प्रशिक्षण ही ज्यो-का-त्यो चालू कर रखा है।

स्कूल-कॉलेजोमे हमारे निर्मल अन्तःकरणके बालकोके अंदर कैसे-कैसे कुत्सित, अनिष्टकारक, आत्मघाती, राष्ट्रघाती विचार ठूँसे जाते हैं, इसका कुछ नमूना देखिये—'हिंदू-आर्य भारतके मूल निवासी नहीं थे, वे उत्तर ध्रुवके मेसिडोनिया-ग्रीक आदि प्रदेशोसे आये थे और यहाँके मूल निवासी अनार्योंको लूट-मारकर हिंदुस्तानको बना गये थे। हिंदुओके पूर्वज जंगली थे। वेद, शास्त्र, पुराण गपोड़ोसे भरे हैं और उनमे कही हुई बाते स्वार्थियोने लिखी हैं। वे कुल तीन हजार वर्षोकी ही हैं। यह दुनिया जंगली हालतमे थी। तीन हजार वर्षके पहलेका कोई इतिहास नहीं है। भारतके श्रेष्ठ एक करोड़ संस्कृत-ग्रन्थ गुप्त-राज्यमे लिख डाले गये। यूरोपियन लोगोने पुरुषार्थ तथा अनुसधान करके संस्कृति तथा विज्ञानका उद्भव और विकास कर जगत्के लोगोकी उन्नति की है।' आदि-आदि।

इन्हे उनके अनुयायी अंग्रेजी पढ़े-लिखे हमारे भाइयोने भी सत्य मान लिया और उसीका रात-दिन प्रचार करना आरम्भ कर दिया। हिंदूकोडबिल-जैसे हिंदुत्वनाशक बिलको प्रकारान्तरसे स्वीकार करानेका कार्य इसीका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इस समय भारतमे तथा दुनियाके प्रायः सभी राष्ट्रोमे घोर अशान्ति, कलह, भुखमरी, रोग, भूकम्प, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, बाढ़, भयानक महँगी, आकस्मिक दुर्घटना, बेकारी तथा युद्ध आदि विपत्तियाँ पूरे वेगसे आ रही हैं और लोग बल-बुद्धि तथा साधनरहित होकर दरिद्र, कंगाल-पराधीन बनकर चोरी, डकैती, लूट, खून तथा असहनीय करोके बोझसे बिंधकर हाहाकार मचा रहे हैं। इसका कारण अध्यात्मवाद अथवा ईश्वर और धर्मके प्रति विमुख जडवादिता ही है। ऐसी जडवादी नास्तिक नीतिको धर्मनिरपेक्ष बतलाकर चाहे कुछ लोग अपना बचाव कर लें, परंतु संस्कृति और देशके शुभचिन्तकोको समय रहते ही चेतकर लोगोको सर्वनाशसे शीघ्र बचाना चाहिये। ऐसे दुर्घट समयमे देश तथा दुनियाका कल्याण चाहनेवाले

बुद्धिमान् सत्पुरुषोका यह अनिवार्य कर्तव्य है कि बड़ी आयुके पुरुषोंपर उपदेश चाहे असर न करे, परंतु कोमलमति बालकोको तो उनके माता-पिता घरमे ही उपदेश दे और रहस्य समझाकर कर्तव्य-ज्ञान करावे तथा वैसे ही सार्वजनिक विद्यालयो, पाठशालाओं एवं गुरुकुल-ब्रह्मचर्याश्रमोंकी स्थापना करें और मुख्य पाठ्य-पुस्तकोंको अपनी संस्कृतिके अनुरूप निर्माण करावे तथा बालकोको सिखावे कि—

(१)अनन्त प्रकारकी सृष्टिका सृजन, नियन्त्रण, पालन, पोषण तथा रक्षण करनेवाले श्रीहरि केवल क्षीरसागर, वैकुण्ठ, गोलोक अथवा श्वेतद्वीपमें विराजते हैं, इतना ही नहीं है, वे सर्वशक्तिमान् प्रभु प्राणिमात्रके अन्तःकरणमे विराजमान हैं। उन्होंने ही लोक-व्यवस्था तथा कल्याणके लिये वेद, शास्त्र आदिकी रचना की है। जब कोई अनजानमे या जान-बूझकर उनकी अवहेलना करता है और जब धर्मज्ञा पतिव्रता स्त्री और गायोकी पुकार मचती है, तब वे प्रभु अवश्य अवतार धारण करके धर्म और धर्मज्ञोकी रक्षा करते हैं तथा दुष्टोंको दण्ड देते हैं। अतएव दुःख-कष्ट पड़नेपर किसीको भी स्वधर्म और संस्कृतिसे कभी विचलित नही होना चाहिये।

(२)हम भारतके ही मूल निवासी हैं। विदेशियोके कथनानुसार बाहरसे नहीं आये हैं। लाखो वर्ष पहले प्रकट हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा पाँच हजार वर्ष पहले प्रकट होनेवाले परमात्मा श्रीकृष्ण भारतवर्षमें ही अयोध्या और मथुराकी पवित्र भूमिपर अवतरित हुए थे। राजा सगरके दुर्गति-प्राप्त पुत्रोके उद्धारके लिये राजा भगीरथ कितने हजारो वर्षपूर्व तप करके पतितपावनी गङ्गाजीको हिमालय—गङ्गोत्री नामक स्थानमें प्रकट कराकर प्रयाग, कानपुर, काशी और कलकत्ते होकर गङ्गासागरपर्यन्त ले गये थे और सूर्यपुत्री यमुनाजी भी भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये हिमालय—यमुनोत्री नामक स्थानमें प्रकट होकर दिल्ली-मथुराके लोगोंको पवित्र करती हुई बह रही हैं। वही यह हिंदुओंकी मूल भूमि हिंदुस्तान है।

फिर आर्योंके आर्यावर्तके सम्बन्धमें एक सबल प्रमाण यह है कि भगवान् नारायणके नाभिकमलसे सृष्टिकर्ता पितामह ब्रह्मा प्रथम प्रकट हुए। इन पितामह ब्रह्माजीके पुत्र प्रजापति मनु महाराज कहते हैं—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥
(२।२२)

पूर्वके समुद्रसे पश्चिमके समुद्रतक और उत्तरके हिमालय पर्वतसे लेकर दक्षिणके विन्ध्याचल पर्वततकके प्रदेशको जानकार लोग 'आर्यावर्त' कहते हैं। यही पीछे राजा भरतके उत्कर्षसे 'भरतखण्ड' या 'भारतवर्ष' कहलाया। राजा अजके यशसे इसीका 'अजनाभ-खण्ड' नाम हुआ, हिंदुओंका निवासस्थान होनेसे 'हिंदुस्थान' कहा गया और अंग्रेजोने इसका नाम 'इंडिया' रखा, यह वही भारतीयोंका मूल निवासस्थान भारतवर्ष है।

(३) वेद-शास्त्र ईश्वरके निःश्वासरूप होनेसे ईश्वर-स्वरूप अपौरुषेय ही हैं। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत एवं पुराणोमे जैसा सर्वोत्कृष्ट कोटिका तत्त्वज्ञान देखा जाता है, वैसा अन्यत्र किसी भी धर्ममे नहीं है। हिंदुओंके पूर्वज ऋषि-मुनियोने लाखों वर्षोतक तपश्चर्या और योगसाधना करके दिव्य ज्ञानको प्राप्त किया और फिर उसे जगत्के लोगोके कल्याणके लिये पात्रानुसार वितरित किया। आज पृथिवीपर जो कुछ भी ज्ञान-विज्ञानकी छाया दृष्टिगोचर होती है, सब उन्हींका प्रताप है, अतएव श्रद्धा-भक्तिके साथ उस ज्ञानका सम्पादन करना चाहिये।

(४) धनुर्वेदके अभ्याससे भारतीयोंने अणुबम और हाइड्रोजनबमसे भी करोड़ो गुने अधिक उत्कृष्ट और शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र, नारायणास्त्र, वायव्यास्त्र, आग्नेयास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, पाशुपतास्त्र आदिका महान् ज्ञान मन्त्र-विद्याके साथ प्राप्त किया था, पर उन्होने कभी भी किसी निर्बल, अशक्त, न लड़नेवाले लोगोपर उनका उपयोग नहीं किया। यह क्या उनकी कम योग्यता थी?

(५) ईश्वरके द्वारा रचित सृष्टिके लोगोको शुभाशुभ कर्मका फल तो अवश्य भोगना ही पडता है। कोई जीवात्मा उच्च योनिमें जन्म लेकर सुख भोगता है, तो कोई निकृष्ट योनिमें जन्म लेकर दुःख भोगता है। इसका कारण उसके पूर्वजन्मके अच्छे-बुरे कर्म ही हैं। जीवात्माकी

शुद्धि तथा अभ्युदयके लिये ही शास्त्रकारोने विवाह-मर्यादा, पवित्र खान-पान आदिकी मर्यादा स्थिर की है। कोई यदि उसका अतिक्रमण करके स्वेच्छाचार फैलाता है तो पाप-अनाचारकी ही वृद्धि होती है और लोगोको नारकीय दुःख भोगने पड़ते है। अतएव अल्प-बुद्धिके अज्ञानी लोग धर्मके स्वरूपको समझे बिना यदि धर्म-मर्यादाको मिटानेकी चेष्टा करे तो धर्मज्ञोको चाहिये कि वे उसका प्रबल विरोध करके धर्म और संस्कृतिको सुरक्षित रखे, इससे धर्म ही उनकी रक्षा करेगा।

इस प्रकार बालकोके शङ्का-भ्रमको मिटाकर, हितकारी उपदेश देकर आधुनिक लाक्षागृहोके सदृश स्कूल-कॉलेजोकी विषैली शिक्षासे पिण्ड छुड़ाकर गुरुकुल-ब्रह्मचर्याश्रमोमे चौदह विद्याओके साथ देशके लिये प्रयोजनीय समस्त आवश्यक वस्तुओके निर्माणका स्थान-स्थानपर, गॉव-गॉवमे सुप्रबन्ध किया जाय तो अपने देशसे चले जानेवाले करोड़ो-अरबो रुपये देशमे ही रह जायँ और सहज ही लोगोकी बेकारीका अन्त हो जाय।

बालक-बालिकाओकी सहशिक्षा भी अनुचित है। इससे राष्ट्रिय चरित्रकी हानि और उनका जीवन भी दूषित एव भीषण क्लेशपूर्ण हो जाता है, इसमे लेशमात्र संदेह नही है। यथार्थ बात तो यह है कि जबतक गुरुकुल-आश्रमो-जैसे विद्यालयोमे पवित्रतम शिक्षा नही दी जायगी, तबतक देशमे सच्चा सुख और स्वाधीनताकी प्राप्ति न होगी। अतएव संस्कृति और देशके हितचिन्तक साधन-सम्पन्न सज्जनोको चाहिये कि वे खुले हाथो धन खर्च करके पूर्ण जितेन्द्रिय बनने-बनानेके लिये भारतीय विद्या और कला-उद्योगसे युक्त पाठ्यपुस्तके तुरत तैयार कराये और गुरुकुल-ब्रह्मचर्याश्रम तथा प्रयोगशालाओमे बालकोको सत्वर ऐसी शिक्षा दिलानेकी व्यवस्था करे।
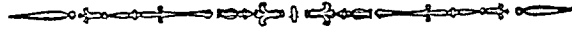
संस्कृत-भाषा और शिक्षा

[शिक्षा-वेदाङ्गका विशेष परिचय]

(डॉ॰ श्रीशिवशंकरजी अवस्थी, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰)

विधाताने सृष्टिके आदिमे ही मनुष्यको भाषा और धर्म साथ-साथ प्रदान किया था। मुख्य भाषा थी संस्कृत, जिससे लोकव्यवहार चलता था और मुख्य धर्म था सनातन, जिसमे विश्व-संस्थाको चलानेके लिये आचार-विचार एव नियम-उपनियम निहित थे। कालान्तरमे जब मानव (मनुकी संतति) भारतवर्षसे पूर्व और पश्चिम देशोमे फैला, तब संस्कृत-भाषा भी देशान्तरोमे जाकर अपभ्रष्ट होती हुई संसारकी नाना भाषाओके रूपमे बिखर गयी। हॉ, भारतमे उसका मूल रूप सुरक्षित रहा, जो आजतक विद्यमान है। सनातनधर्मके ही आचार-विचार आंशिक रूपमे जगत्‌के मतो एव सम्प्रदायोमे संगृहीत हुए है, इसमे संदेह नही है। प्रसिद्ध पाश्चात्त्य ऐतिहासिक एव दार्शनिक विल ड्यूरॉ (Will Durant) ने लिखा है—

'भारत हमारी जातिका मातृदेश रहा है और संस्कृत समस्त यूरोपीय भाषाओकी जननी। भारतभूमि हमारे दर्शनशास्त्रकी जननी थी, अरबोके माध्यमसे हमारे अधिकांश गणितशास्त्रकी भी जननी रही है। बुद्धदेवके माध्यमसे ईसाई-धर्ममे व्याप्त उत्तम सिद्धान्तोकी तथा ग्रामसमाजके माध्यमसे स्वायत्तशासन एव प्रजातन्त्रकी जननी थी। भारतमाता अनेक प्रकारसे हम सभीकी मॉ है[1]'।

1 'India was the motherland of our race and Sanskrit the mother of European languages She was the mother of our philosophy, mother through the Arabs, of much of our Mathematics, mother through Buddha, of the ideals embodied in Christianity, mother through the village community, of self government and democracy Mother India, in many ways is the mother of us all (Our Oriental Heritage)

संस्कारसम्पन्न भाषाको संस्कृतभाषा कहते है । संस्कार शब्दके अनेक अर्थ हैं, किंतु यहाँ संस्कार पदोमे विद्यमान प्रकृति और प्रत्यय आदिको कहते हैं । मलापनयन और गुणाधान—ये संस्कारके प्रचलित अर्थ हैं । इसी आधारपर कुछ अज्ञ लोग—'जो पहले विकृत थी, पश्चात् सुधारी गयी, वही संस्कृत भाषा है'—ऐसा बताते हैं । ये लोग परम्परासे सर्वथा अनभिज्ञ हैं । शुक्लयजुः-प्रातिशाख्यका सूत्र है—

'प्रकृतिप्रत्ययादिः संस्कारः ।'

इसपर भाष्यकार उवटने लिखा है—

'आदिशब्देन वर्णागमलोपविकारा गृह्यन्ते ।'

तात्पर्य यह है कि जिस भाषाके शब्दोमे प्रकृति और प्रत्ययका विभाग परिलक्षित होता हो तथा वर्णका आगम, वर्णका लोप और वर्ण-विकार भी ज्ञात हो—ऐसे शब्दोसे युक्त भाषा ही सस्कृत भाषा है ।

वाक्यपदीयके प्राचीन टीकाकार श्रीवृषभाचार्य लिखते हैं—

'न विशिष्टोत्पत्तिरत्र संस्कारः, अपितु प्रकृतिप्रत्यया-दिभिर्विभागान्वाख्यानम्'

यहाँ सस्कार शब्दोमे किसी वैशिष्ट्यके जननकी बात अभीष्ट नही है, किंतु प्रकृति और प्रत्यय आदिका विभागात्मक अन्वाख्यान अभिप्रेत है । यह बात वाक्यपदीयके ब्रह्मकाण्डकी ग्यारहवी कारिकाकी वृत्तिकी टीकामे कही गयी है ।

यह संस्कार वेदाङ्ग-व्याकरणद्वारा किया जाता है । संस्कृत-भाषा-गत वर्णोके यथातथ्य उच्चारण और परिज्ञानके लिये एक अन्य स्वतन्त्र वेदाङ्ग विश्वप्रसिद्ध है, जिसे 'शिक्षा' कहते हैं । कहा गया है—**'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य'** (पाणिनीय शिक्षा) अर्थात् शिक्षा-शास्त्र वेदपुरुषका नासिकास्थानीय है । ऋक्प्रातिशाख्यके भाष्यमे विष्णुमित्रने लिखा है—**'शिक्षा स्वरवर्णोपदेशकशास्त्रम् ।'** उदात्तादि स्वरो तथा वर्णोच्चारणके स्थान, करण और प्रयत्नके उपदेशक शास्त्रको शिक्षा कहते हैं ।

'शिक्ष विद्योपादाने' (भ्वादिगण) धातुसे **'गुरोश्च हलः'** (पा० ३।३।१०३) सूत्रद्वारा 'अ' प्रत्यय तथा 'टाप्' करके शिक्षा शब्द निष्पन्न होता है । शिक्षण अर्थात् विद्या-ग्रहण या विद्या-दान—यह शिक्षाका सामान्य अर्थ है । उपर्युक्त शिक्षा शब्द विशेष अर्थमें प्रयुक्त है ।

संस्कृत-भाषामे इस विशेष शिक्षासे सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ हैं, जिसमे पाणिनीय शिक्षा और याज्ञवल्क्य-शिक्षा अधिक प्रसिद्ध हैं । सन् १८९३ ई०में इकतीस शिक्षाओंका एक संग्रह काशीसे प्रकाशित हुआ था, जो आज अनुपलब्ध है । अन्य सोलह शिक्षा-ग्रन्थोकी पाण्डुलिपियाँ मद्रासके प्राच्य-पाण्डु-लिपि-पुस्तकालयमे संगृहीत है । भण्डारकर-प्राच्य-अनुसंधान-संस्थानमे तीन अन्य हस्तलेख उपलब्ध हैं ।

शिक्षा-ग्रन्थोको वेदोके साथ सम्बद्ध किया गया है । ऋग्वेदसे सम्बद्ध शिक्षाएँ ये हैं—१-स्वर-व्यञ्जन-शिक्षा, २-उपध्मान-शिक्षा ।

शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध शिक्षाएँ ये है— १-याज्ञवल्क्य-शिक्षा, २-वासिष्ठी-शिक्षा, ३-कात्यायनी-शिक्षा, ४-पाराशरी, ५-गौतमी, ६-माण्डवी, ७-अमोघानन्दिनी, ८-पाणिन्या और ९-माध्यन्दिनी-शिक्षा । दो अन्य शिक्षाएँ भी मिलती हैं—१-वर्णरत्नदीपिका शिक्षा और २-केशवी ।

कृष्णयजुर्वेदसे सम्बद्ध शिक्षाएँ ये हैं—

१-चारायणीय शिक्षा, २-भारद्वाज-शिक्षा, ३-व्यास, ४-शम्भु, ५-पाणिनि, ६-कोहलीय, ७-बोधायन, ८-वाल्मीकि, ९-हारीति या हरित, १०-सर्वसम्मत, ११-आरण्य तथा सिद्धान्त-शिक्षा । इनके अतिरिक्त अन्य शिक्षा-ग्रन्थ भी हैं । यथा—१-आपिशलि-शिक्षा, २-पारिशिक्षा । शौनकीय शिक्षाका उल्लेख भी सर्वत्र मिलता है । यह उत्तम ग्रन्थ था, पर आज प्राप्त नहीं है ।

सामवेदसे सम्बद्ध शिक्षाएँ ये है—१-नारदीय शिक्षा, २-लोमशीय शिक्षा तथा ३-गौतमी शिक्षा ।

अथर्ववेदसे सम्बद्ध शिक्षा है— १-माण्डुकी ।

वैदिक साहित्यसे सम्बद्ध प्रातिशाख्य-ग्रन्थोमे, वैदिक व्याकरणके अतिरिक्त शिक्षा-सम्बन्धी विचार भी उपलब्ध होते हैं । तैत्तिरीय-प्रातिशाख्यकी टीका 'वैदिकाभरण' मे गार्ग्यगोपाल यज्वाने लिखा है—

'शिक्षाव्याकरणानां यदयं विवरणात्मकग्रन्थस्ततोऽत्र

तीव शब्दसंकोच इष्यते।'

(१ ।२१)

शिक्षा और व्याकरणका विवरणात्मक यह प्रातिशाख्य न्थ है, इसलिये यहाँ शब्द-संकोच इष्ट नहीं है।

उवटने भी वाजसनेय प्रातिशाख्यके भाष्यमे लिखा है—

'शिक्षाविहितं व्याकरणविहितं चास्मिन् शास्त्र उभयं तः प्रक्रियते—'। (१ ।१५९)

इस प्रातिशाख्य नामक शास्त्रमे शिक्षा और व्याकरण नोका विधान है।

इन शिक्षा-ग्रन्थोमे वर्णोके उच्चारण-स्थान अर्थात् ाणिनिके अनुसार उर, कण्ठ, सिर, जिह्वामूल, दन्त, ओष्ठ, तालु और नासिका—ये आठ स्थान अथवा ारायणीय शिक्षाके अनुसार सृक्व या सृक्क (ओठोका ान्तभाग) और वर्त्स्य (दन्तमूल)को मिलाकर दस स्थान विवेचित हैं।

जिसके आघातसे भिन्न-भिन्न स्थानोमे वर्णकी अभिव्यक्ति या उत्पत्ति होती है, उसे करण कहते हैं। मुख्यतया जिह्वाग्र, जिह्वोपाग्र, जिह्वामूल और जिह्वामध्य करण कहलाते हैं। कुछ स्थान भी किन्ही-किन्हीं वर्णोके उच्चारणमे करण बनते हैं। जैसे—उकार, उपध्मानीय और पवर्ग तथा ओकार-औकारका ओष्ठ ही स्थान और करण हैं।

आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न प्रसिद्ध है। शिक्षा-ग्रन्थोके ये मुख्य विषय हैं। ध्वनि-विज्ञानसम्बन्धी विचार भारतवर्षमे अत्यन्त प्राचीनकालमे प्रौढताको प्राप्त हो चुके थे। पाश्चात्त्य देशोमे जब संस्कृत-भाषाके पठन-पाठनका प्रचलन हुआ, तब उसके अनन्तर ही वहाँ तुलनात्मक भाषा-विज्ञानकी नींव पड़ी और तब बीसवीं शतीमे ध्वनि-विज्ञान विकसित हुआ।

वर्णों या स्थूल शब्दोकी अभिव्यक्तिके सम्बन्धमे संस्कृत-साहित्यमे तीन मत मिलते हैं। एक तो वैयाकरणोका मत है, जिसके अनुसार ज्ञान ही स्थूल शब्दका रूप ग्रहण करता है।

अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥

(वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड ११२)

मनुष्योके शरीरमे सूक्ष्म वाक्‌के रूपमे स्थित जो आन्तरिक ज्ञान (ज्ञाता) है, वही अपने रूपकी अभिव्यक्तिके लिये शब्द या ध्वनिके रूपमे परिणत होता है।

अथवा ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति।

अर्थात् जैसे ज्योति या ज्वालाका रूप अविच्छिन्नतया उत्पन्न होता हुआ सादृश्यके कारण उसी रूपमे ग्रहण किये जानेसे अपनी निरन्तरता बनाये रखता है, वैसे ही उपाध्याय या गुरुका ज्ञान विविध शब्द-रूपोको धारण करता हुआ सततरूपमे भासित होता है।—कैयट।

शब्दके परमाणु घनीभूत होकर स्थूल शब्दका रूप लेते हैं—यह दूसरा मत है। भर्तृहरिने इसे शिक्षाकारोका मत माना है। वैसे यह जैनमत भी है।

तीसरा मत है कि वायु ही शब्दके रूपमे परिणत होती है। यह भी शिक्षाकारोका मत है।

'वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।'

(वाक्यपदीय, प्रथमकाण्ड)

जहाँतक सामान्य शिक्षाका सम्बन्ध है, वहाँ संस्कृत-वाङ्मयमे चौदह या अट्ठारह विद्याओका पठन-पाठन होता था। प्राचीन गुरुकुलोमे विद्याध्ययनकी समाप्तिके अनन्तर तथा गार्हस्थ्यमे प्रवेशके पूर्व कुलपति सभी छात्रोको **'सत्यं वद'**, **'धर्मं चर'** आदि अन्तिम शिक्षा या उपदेशद्वारा सम्बोधित करते थे, जो तैत्तिरीय-शिक्षा या शीक्षावल्लीमे सगृहीत है।

आज नयी शिक्षा-नीतिमे माध्यमिक विद्यालय-स्तरमे संस्कृत-भाषाको स्थान नहीं दिया जा रहा है। भविष्यमे स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओंमे इसकी क्या गति होगी, यह स्पष्ट है। किंतु संस्कृत-भाषाका विनाश कोई चाहकर या लाख प्रयत्नकर भी नही कर सकता। संस्कृत-भाषा अनेक विपत्तियोका सामना करती हुई अतीतकालमे जीवित रही है, आज भी विद्यमान है और भविष्यमे भी अपनी गरिमाके साथ जीवित रहेगी। इसे उचित स्थान देकर ही हम अपने राष्ट्रमे आत्मचेतनाका दीप जला सकेगे तथा राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रियताका भाव भी जगा सकेगे। तभी शिक्षा अपने आदर्श स्वरूपसे प्रतिष्ठित हो पायेगी।

भारतका नक्षत्र-विज्ञान

शंकर बालकृष्ण दीक्षितने सभी प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया है कि विश्वमें गणित एवं ज्योतिर्नक्षत्र-विद्या भारतसे ही फैली है। खगोल एवं भूगोल-विद्यामें ज्योतिषके प्रायः ३०० अङ्गभूत विद्याएँ हैं। आकाश भी शून्य नहीं है। वह अपार क्षेत्र है, जिसमें अनन्त विशाल सूर्यादि ज्योतिर्मय लोक, नक्षत्र आदि स्थित हैं। इस आकाशको ऋषियोंने तीन भागोंमें विभाजित किया था—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। प्रत्यक्षदर्शी होनेके कारण ऋषियोंके लिये कुछ परोक्ष न था। शुनःशेप ऋषि द्युलोकको देखकर कहते हैं—

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद् दिवेयुः।
अदव्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥

(ऋक्० १।२४।१०)

'ये ऊँचे आकाशमें स्थित नक्षत्रगण रात्रिको दिखलायी देते हैं तथा दिनमें कहीं और चले जाते हैं। आदित्यके कर्म आश्चर्ययुक्त हैं, वह जिधर होकर जाता है, उधर ये नक्षत्र निष्प्रभ हो दिखलायी नहीं देते और दूसरी ओर चमकने लगते हैं। उसीकी किरणोंसे चन्द्रमा प्रकाशमान होकर रातको उगता है।'

वरुण अर्थात् आदित्यको देखकर वहाँ शुनःशेप ऋषि अगले सूक्तमें कहते हैं—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः॥
वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः।
वेदा य उपजायते॥

'जो आदित्य अन्तरिक्षमें उड़ती हुई चिड़ियोंकी गतिको देखता है तथा जो समुद्रके मध्यमे नौकाओंको देखता है, अर्थात् पृथिवी और अन्तरिक्षमें होनेवाली सारी घटनाओंको देखता है, जो धृतव्रत अर्थात् नियमपूर्वक होनेवाले और अपनी नयी छटा दिखानेवाले बारह महीनोंको देखता है।'

प्रस्कण्व ऋषि ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ५०वें सूक्तमें कहते हैं—

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः।
सूराय विश्वचक्षसे॥

'सारे संसारको प्रकाश देनेवाले सूर्यका आगमन होनेपर चोरोंके समान सारे नक्षत्र रात्रिके साथ चले जाते हैं।'

आगे अङ्गिराके पुत्र कुत्स ऋषि ११५वें सूक्तमें कहते हैं—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

'यह पूजनीय रश्मियोंका आश्चर्यजनक समूह मित्र, वरुण और अग्निको प्रकाश प्रदान करनेवाला आदित्य पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकको अपनी रश्मियोंसे व्याप्त कर रहा है। यह समस्त स्थावर और जंगम जगत्का प्राण है।'

ऋग्वेदकी एक दूसरी ऋचा कहती है—

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम्॥

(१।१६४।१२)

द्युलोकके परे अर्धस्थानमें स्थित आदित्यने पाँच श्रुतिरूपी पैरवाले तथा द्वादश मासरूपी आकृतिवाले सबके पालक संवत्सरको प्रदान किया है और दूसरी ओर इस आकाशमें अवस्थित अन्य सप्त ऋषियोंने (दस-दस वर्षके) छः अरोंवाले अर्थात् साठ संवत्सररूपी चक्रमें सूर्यको अर्पित किया है। अर्थात् साठ संवत्सररूपचक्रको लेकर सूर्य आकाशमें विराजित हो रहा है। जिस प्रकार बारह महीनोंको लेकर एक संवत्सर चलता है, उसी प्रकार संवत्सर-चक्रको लेकर सूर्य घूमता है। बारह महीनोंमें चन्द्रमाके बारह चक्कर लगते हैं और संवत्सर-चक्रमे साठ बार सूर्य चक्कर लगाता है।

शतपथ ब्राह्मण (अध्याय २।१।३।१,३)में लिखा है—

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा। ते देवाऋतवः। शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्यतेऽर्धमासः स देवा योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्णो

देवाऽअपराह्णः पितरः ॥

स यत्रोदङ्ङावर्तते । देवेषु तर्हि भवति देवॉस्तर्ह्यभिगोपायत्यथ यत्र दक्षिणाऽऽवर्त्तते पितृषु तर्हि भवति पितृंस्तर्ह्यभिगोपायति ॥

'वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा—ये देवोकी ऋतुएँ है और शरद्, हेमन्त तथा शिशिर—ये पितरोकी ऋतुएँ है । शुक्लपक्ष देवताओका है और कृष्णपक्ष पितरोका है । दिनके अधिपति देवता हैं और रात्रिके पितर हैं । फिर दिनका पूर्वार्ध देवताओका और उत्तरार्ध पितरोंका है ।

'जब सूर्य उत्तरकी ओर बढ़ता है अर्थात् उत्तरायणमे वह देवताओका अधिपति होता है और दक्षिणायनमे पितरोका अधिपति होता है ।'

ऋक्संहिता और शतपथ-ब्राह्मणके इन अवतरणोसे स्पष्ट जाना जाता है कि नक्षत्र, चान्द्रमास, सौरमास, मलमास, ऋतु-परिवर्तन, दक्षिणायन-उत्तरायणके साथ-साथ आकाशचक्रमें सूर्यकी महिमाका तात्त्विक ज्ञान ऋषियोने हमे प्रदान किया है । भारतीय नक्षत्र-विज्ञान और आधुनिक पाश्चात्योके नक्षत्र-विज्ञानकी पद्धतिमे अन्तर यह है कि भारतीय नक्षत्र-विज्ञान वेदका एक मुख्य अङ्ग अर्थात् नेत्र माना जाता था, क्योंकि वैदिक अनुष्ठानोके लिये काल-निर्णय करनेमे नक्षत्रोकी गतिपर विशेष ध्यान दिया जाता था । दर्श-पौर्णमास यज्ञ, सावत्सरिक अहीन याग तथा सहस्रो वर्षोंमे समाप्त होनेवाले सत्रोके अनुष्ठानमे काल-गणना करनेके लिये जो नक्षत्रोके बीच विविध स्थितियोमें सूर्यका संक्रमण होता था, उसका अवलोकन करके नक्षत्र-विद्याका व्यावहारिक ज्ञान ऋषियोने प्रदान किया है । तदनन्तर उसी आधारपर आगे नक्षत्रोके बीचमे सक्रमण करनेवाले सूर्यमण्डलके अन्यान्य ग्रहोकी गति और स्थिति तथा उसके द्वारा होनेवाले प्रभावोका अध्ययन किया गया । नक्षत्र-मण्डलको राशिचक्रमे विभाजित कर प्रत्येक राशिके साथ सूर्य-संक्रमणको देखकर राशियोंके नामपर मेषादि द्वादश सौरमासोका अवलोकन किया गया तथा पूर्ण चन्द्रकी अर्थात् पूर्णिमाकी रात्रिमें नक्षत्रविशेषके पास चन्द्रमाको देखकर चान्द्रमासोका ज्ञान प्राप्त किया गया । अर्थात् जिस मासकी पूर्णिमा चित्रा नक्षत्रसे युक्त थी, उसे चैत्रमास, विशाखासे युक्त पूर्णिमावाले मासको वैशाखमास, ज्येष्ठासे ज्येष्ठ, पूर्वाषाढा या उत्तराषाढ़ासे आषाढ, श्रवणसे श्रावण, पूर्वभाद्रपद या उत्तरभाद्रपदसे भाद्रपद, अश्विनीसे आश्विन, कृत्तिकासे कार्तिक, मृगशिरासे मार्गशीर्ष, पुष्यसे पौष, मघासे माघ, पूर्वाफाल्गुनी तथा उत्तराफाल्गुनीसे फाल्गुनमास नाम प्रदान किया गया ।

पाश्चात्त्य देशोमे प्रकारान्तरसे जो कुछ भारतीय नक्षत्र-विज्ञानका अरब-ग्रीक लोगोके द्वारा प्रसार हुआ, वही उनके एतद्विषयक ज्ञानका मूलधन था । इसीके आधारपर यन्त्रयुगके विकासके साथ उन्होने दूरवीक्षण यन्त्रोका क्रमशः आविष्कार किया और उसके द्वारा उनकी स्थितिको प्रत्यक्ष अवलोकन करनेका प्रयत्न किया । इस विज्ञानके साथ-साथ उन्हे हमसे गणितकी जो सम्पत्ति मिली थी, उसे उन्होने बहुत कुछ समृद्ध किया—यह उनकी विशेषता है; परंतु दिन, मास, ऋतु, अयन अथवा राशि-चक्रका जो यहाँ नामकरण हुआ था, उसे उन्होने अधूरा ही अपनाया । यहाँ दिनोंका नाम रवि, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र और शनि प्रभृति ग्रहोके नामसे आबद्ध था । उसे तो उन्होने ग्रहण किया, परंतु महीनोका नाम उनके यहाँ अवैज्ञानिक ढगसे रखा गया, चन्द्र और सूर्यकी गतिके साथ जो नक्षत्र अथवा राशियाँ महीनोका निर्माण करती हैं, उनकी पर्याप्त उपेक्षा की गयी और जनवरी, फरवरी आदि नाम ही नहीं, अपितु इनकी स्थिति भी चन्द्र, सूर्यकी गतिसे कुछ सम्बन्ध नही रखती । अतएव पाश्चात्योकी मास और वर्षोकी गणना हमारे सौर वर्षके आधारपर होते हुए भी अनर्गल-सी है और भारतीय शैली सर्वथा पूर्ण और वैज्ञानिक है ।

सूर्य जिस आकाशमार्गसे नक्षत्रमण्डलमे होकर जाता है उसके द्वादश समान भाग करके मेष, वृष प्रभृति राशियोकी अवतारणा की गयी । मेषराशिके प्रथम बिन्दुपर जब सूर्य उदय होता है, तबसे लेकर जबतक पुनः उसी बिन्दुपर आ जाता है, तबतक हिंदुओका एक सौर वर्ष होता है । अर्थात् नक्षत्र-मण्डलमे सूर्यका एक संक्रमणकाल एक सौरवर्ष कहलाता है । सूर्यसिद्धान्तमें सौर वर्ष ३,६५,२५,८७,५६,४८४ दिनोका माना जाता है । आधुनिक

युगके सुप्रसिद्ध नक्षत्रविज्ञानवेत्ता डब्ल्यू० एम० स्माटके अनुसार यह संख्या ३६,५२,५६४ दिनोकी है । भारतीय वर्ष इससे .००२३ दिनका अधिक हो जाता है। आजकलके पाश्चात्य नक्षत्रविज्ञानके मतसे यह वर्ष अनुमानतः ३६,५२,५९६ दिनोका होता है, जो भारतीय मतसे .०००८ दिन बड़ा होता है। भारतवर्षमे जो मेष-संक्रान्तिसे वर्ष-गणना की जाती है, उससे साठ वर्षोंके संवत्सर-चक्रका हिसाब ठीक-ठीक मिलता है । इन सवत्सरोके अलग-अलग प्रभव-विभव और शुक्ल आदि नाम दिये गये हैं ।

सूर्यसिद्धान्तके अनुसार हिंदुओके द्वारा जो काल-गणना की जाती है, उसके सामने विश्वकी किसी जातिकी कोई भी काल-गणना नगण्य सिद्ध होती है । हमारे शास्त्रोके मतसे ४,३२,००० सौर वर्षोका कलियुग होता है, द्वापरमे ८,६४,००० वर्ष होते हैं, त्रेतामे १२,९६,०००वर्ष और कृतयुगमे १७,२८,००० वर्ष होते हैं, इस प्रकार कुल मिलाकर ४३,२०,००० वर्षोंका एक महायुग होता है । १००० महायुगोका एक कल्प होता है । अर्थात् एक कल्पमें ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं । कल्पकी गणना करनेवाले ज्योतिर्विदोने यह भी निश्चय किया था कि प्रत्येक ७१४ वर्षोंमे अयनान्त १० अंश पीछे चला जाता है। इसके अतिरिक्त वर्षमें १२ राशियाँ, एक राशिमें ३० अंश, एक अंशमे ६० कला, एक कलामे ३० काष्ठा और एक काष्ठामे १८ निमेष अर्थात् पलकी सूक्ष्मतम काल-गणना देखकर ज्ञात होता है कि भारतीय मस्तिष्कने इस विषयमे कितना सफल प्रयास किया है। इतना बड़ा काल-ज्ञान दूसरे किसी देशके निवासियोको अबतक नही हुआ ।

भारतीय नक्षत्र-विज्ञानवेत्ताओंने क्रान्तिवृत्तको २८ भागोमे विभाजित किया, इस प्रकार चन्द्रमाके मार्गमे पडनेवाले २८ तारा-समूह हो गये, जिन्हे चान्द्र-नक्षत्रोके नामसे पुकारते हैं । पीछे चलकर इसमे सुधार हुआ और २८ के स्थानमे २७ ही चान्द्र नक्षत्र माने गये और क्रान्तिवृत्तके २७ बराबर भाग करके १३ं, २०′ (तेरह अंश, बीस कला) प्रत्येक नक्षत्रका क्षेत्र रखा गया । प्रत्येक क्षेत्रमे जो सबसे अधिक चमकता हुआ तारा दीख पडता है, उसका नाम योग-तारा रखा गया और नक्षत्रका जो उपर्युक्त क्षेत्र था, वह उसका भोग कहलाया । साथ-साथ कुछ महत्त्वपूर्ण और सुप्रकाशित ताराओंका भी नाम और स्थान निश्चय किया गया । उनमें दक्षिणमें लुब्धक और अगस्त्य तथा उत्तरमें अभिजित्, ब्रह्महृद्य, अग्नि और प्रजापति मुख्य हैं । इनके सिवा क्रान्ति-वृत्तके समीप रहनेवाले दूसरे प्रकाशमान तारे, जिनकी आवश्यकता ग्रहोके ध्रुवकी गणनामें पड़ती है, निश्चित किये गये । उनमें मघा, रेवती, पुष्य, शततारका और चित्रा मुख्य हैं । *'रत्नमाला'* नामक ग्रन्थमें इन तारोंका उल्लेख आता है । पाश्चात्य ज्योतिर्विदोंने सम्पूर्ण आकाशके ताराओंको ऐंड्रोमेडा आदि विभिन्न प्रकारके ८८ तारा-मण्डलमें विभाजित किया है । इस तारा-मण्डलकी सूची बनानेकी शैली चीन-निवासियोंकी प्राचीन शैलीका अनुकरण है । भारतमें अनावश्यक ताराओंकी सूची न बनाकर काल-गणना तथा सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहणादिकी स्थितिका निश्चय अपने धार्मिक कृत्योंके लाभार्थ किया गया था । सूर्य और चन्द्र-ग्रहणके साथ-साथ चन्द्रकी गतिसे होनेवाले तारा-ग्रहणका भी सूक्ष्मज्ञान भारतीयोको था । इस प्रकार चन्द्रके द्वारा मघाका ग्रहण प्राय: हुआ करता है । ग्रहोंके सिद्धान्तपर भास्कराचार्यने अपने *'सिद्धान्तशिरोमणि'* नामक ग्रन्थमें विस्तारसे विवेचन किया है। परवर्तीकालमें आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्यने इस विज्ञानके विषयमें विशेष अनुसंधान किया है ।

नक्षत्र-मण्डलके बीच होकर भ्रमण करनेवाले केवल चन्द्र और सूर्यकी स्थिति और गतिका निरीक्षण आर्योंने नही किया, प्रत्युत इनके साथ-साथ मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि नामक पाँच ग्रहोंकी गति और स्थितिका भी निरीक्षण किया तथा क्रान्तिवृत्तमें इनकी ऋजु-वक्र गतियोंके साथ अतिचार और मन्दगतिको भी देखा । इन पाँचोके अतिरिक्त रवि-चन्द्र तथा तमोग्रह राहु-केतुको लेकर कुल नौ ग्रह माने गये हैं । पाश्चात्य लोगोने चन्द्रके स्थानमे पृथिवीको ग्रह माना है । उनके मतमे राहु-केतुको छोडकर यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो—इन तीन ग्रहोको लेकर कुल १० ग्रह माने गये हैं । ग्रह-गतिके

विषयमे भारतीय और पाश्चात्त्य गणनामे बहुत ही थोड़ा अन्तर पडता है ।

वराहमिहिरकी बृहत्संहितामे केतु अर्थात् पुच्छल ताराओका वर्णन आता है । उन्होने पहले शुभकेतु और धूमकेतु नामसे दो भेद किये हैं और छोटे आकारके देखनेमे शोभनीय, सीधे और श्वेतवर्णके केतुको, जो थोडे समयमे ही अस्त हो जाता है, शुभकेतु नाम दिया गया है । इसके विपरीत अशुभ दर्शनवाले धूमकेतु हैं । बृहत्संहितामे सूर्यादि ग्रहो तथा पृथिवी और विभिन्न नक्षत्रोसे उत्पन्न होनेवाले सहस्रो केतुओका वर्णन मिलता है, जिसमे उनकी गति, स्थिति तथा उनके उदयसे होनेवाले शुभाशुभ परिणामोका भी वर्णन किया गया है । सुदीर्घकालके अध्ययनका यह परिणाम है कि हमारे यहॉ धूमकेतुके इतने भेदोका अवलोकन करके उसके पश्चात् होनेवाले फलोका निरीक्षण कर उसे लिपिबद्ध कर दिया गया है । बृहत्संहितामे तो अत्यन्त भयानक रँगीली पूँछवाले अग्निकेतु, जो अग्निकोणमे उगते और विलीन हो जाते है, तीन पूँछोवाले ब्रह्मदण्ड-केतु, लाल रगका कौकुम नामक केतु, बॉसकी आकृतिवाले चन्द्रमाके समान प्रभावपूर्ण कंक नामक केतु आदि सहस्रों धूमकेतुओका वर्णन पाया जाता है ।

उल्काओके विषयमे भी बृहत्संहितामें जो वर्णन मिलता है, वह आधुनिक पाश्चात्त्य ज्योतिर्विज्ञानकी अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है । अन्तर केवल यह है कि वराहमिहिरने द्युलोकसे फलोपभोग करके गिरनेवाले 'लोक' के नामसे उन्हे पुकारा है और पाश्चात्त्य ज्योतिर्विद् उन्हे नीहारिका-पुञ्जके रूपमे देखते हैं । भारतका दृष्टिकोण आध्यात्मिक होनेके कारण सर्वत्र, यहाँतक कि ज्योतिर्लोकोमे भी उन्हे धर्म-तत्त्वकी ही चमक दीख पडी है, परंतु पश्चिमका विज्ञान जडवादी होनेके कारण सर्वत्र जडबुद्धिकी प्रधानताको ही द्योतित करता है । चिरकालसे दृष्ट और अनुभूत होनेके कारण हमारा दैवी विज्ञान सर्वथा पूर्ण है, आकाशमें होनेवाली प्रमुख घटनाओके विषयमे हमारी गणना ठीक-ठीक उतरती है । इसके विपरीत पाश्चात्त्योका विज्ञान सर्वथा अपूर्ण है; क्योंकि भारतीय ज्योतिर्विज्ञान हमारे धार्मिक जीवनके लिये उपयोगी है और पाश्चात्त्योका सामाजिक जीवन इससे वञ्चित रहता है, अतएव इस विज्ञानकी महिमा वहॉ इतनी नहीं है जितनी कि हमारे यहॉ है । इसी कारण शास्त्रकार कहते हैं—

वेदस्य चक्षुः किल शास्त्रमेतत् प्रधानताङ्गेषु ततोऽथ जाता ।
अङ्गैर्यतोऽन्यैरपि पूर्णमूर्त्तिश्चक्षुर्विना कः पुरुषत्वमेति ॥
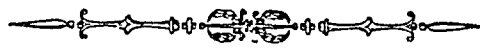
भवसागरके कर्णधार गुरु

न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत् । न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमःस्मृतः ॥
गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते । विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत् ॥

(महा० शान्ति० ३२६ । २२-२३)

जैसे ज्ञान-विज्ञानके बिना मोक्ष नही हो सकता, उसी प्रकार सद्‌गुरुसे सम्बन्ध हुए बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती । गुरु इस संसार-सागरसे पार उतारनेवाले है और उनका दिया हुआ ज्ञान नौकाके समान बताया गया है । मनुष्य उस ज्ञानको पाकर भवसागरसे पार और कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे नौका और नाविक दोनोकी ही अपेक्षा नही रहती ।

भारतीय साहित्यमें रत्न-विज्ञान

भारतीय साहित्यमे रसरत्नसमुच्चय, रत्नसार, गरुडपुराण-पूर्वखण्ड, युक्तिकल्पतरु, मानसोल्लास, शैवरत्नाकर आदि ग्रन्थोमे रत्नोके विषयमे हजारो पृष्ठ भरे पड़े है और इनके पचासो उपयोग-प्रकार भी है ।

महर्षि कश्यपका कहना है कि माणिक्यादि रत्नोको धारण करनेसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता, अतएव रोग-दु:ख, दु:स्वप्न-कष्ट आदिकी निवृत्ति तथा सूर्यादि ग्रहोकी प्रीतिके लिये क्रमशः माणिक्य, मौक्तिक, विद्रुम, मरकत, पुष्पराग, वज्र, नीलम, गोमेद और वैदूर्य धारण करने चाहिये—

सूर्यादीनां च संतुष्ट्यै माणिक्यं मौक्तिकं तथा ।
सुविद्रुमं मरकतं पुष्परागं च वज्रकम् ॥
नीलगोमेदवैदूर्य धार्य स्वस्वदृढक्रमात् ।

गरुडपुराण एव बृहन्नारदीयका भी यही मत है—

मणिमुक्ताफलं विद्रुमाख्यं मरकतं तथा ।
पुष्परागं तथा वज्रं नीलं गोमेदसंज्ञकम् ॥
वैदूर्यं भास्करादीनां तुष्ट्यै धार्य यथाक्रमम् ॥

(पू० भा० ५६ । २८२)

अग्निपुराणके २४५वे अध्यायमे रत्नपरीक्षाप्रकरणमे बहुत-से रत्नोके नाम आते है । यथा—वज्र, मरकत, पद्मराग, मुक्ता, महानील, इन्द्रनील, वैदूर्य, गन्धशस्य, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, स्फटिक, पुलक, कर्केतन, पुष्पराग, ज्योतीरस, राजपट्ट, राजमय, सौगन्धिक, गञ्ज, शंख, गोमेद, रुधिराक्ष, भल्लातक, धूली, तुथक, सीस, पीलु, प्रवाल, गिरिवज्र, भुजगमणि, वज्रमणि, टिट्टिभ, पिण्ड, भ्रामर, उत्पल ।

शुक्रका कहना है कि वज्र (हीरा), मोती, मूँगा, गोमेद, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुखराज, पाचि और माणिक्य—ये नौ महारत्न हैं ।[1]

इनमे लाल वर्णका इन्द्रगोपके समान कान्तिवाला माणिक्य सूर्यको प्रिय है तथा लाल, पीला, श्वेत और श्याम कान्तिवाला मोती चन्द्रमाको प्रिय है । इसी प्रकार पीलापन लिये लाल मूँगा मगलको प्रिय है तथा मोर या चाषके पंखोके समान वर्णवाला पाचि रत्न बुधको प्रिय है । सोनेकी झलकवाला पुखराज बृहस्पतिको प्रिय है और तारोके समान कान्तिवाला वज्र शुक्रको प्यारा है । शनैश्चरको सजल मेघके समान कान्तिवाला इन्द्रनील प्रिय है, किञ्चित् लाल-पीला कान्तिवाला गोमेद राहुको तथा बिलावके नेत्रोके समान कान्तिवाला एवं रेखासे युक्त वैदूर्य केतुको प्रिय है ।[2]

शुक्र कहते हैं कि सभी रत्नोमे वज्र (हीरा) श्रेष्ठ है, पर संतानकी इच्छावाली स्त्री इसे कभी धारण न करे । गोमेद और मूँगा सभी रत्नोमे नीच हैं—

रत्नं श्रेष्ठतरं वज्रं नीचं गोमेदविद्रुमम् ।
न धारयेत् पुत्रकामा नारी वज्रं कदाचन ॥

रत्नोकी परीक्षाके लिये 'युक्तिकल्पतरु'मे राजा भोजने तथा अपने 'अर्थशास्त्र'मे कौटिल्यने बड़े लंबे-चौड़े विवेचन लिखे है । अग्निपुराणका कहना है कि जो हीरा पानीमें तैर सके, भारी चोट सह सके, षट्कोण हो, इन्द्रधनुषके आकारका हो, हल्का हो या सुगेके पखके सदृश रंगवाला हो, चिकना हो, कान्तिमान् तथा विमल हो, वह श्रेष्ठ है ।[3]

---

१ वज्रं मुक्ता प्रवाल च गोमेदश्चेन्द्रनीलक· । वैदूर्यः पुष्परागश्च पाचिर्माणिक्यमेव च ॥
महारत्नानि चैतानि नव प्रोक्तानि सूरिभिः । (शुक्रनीति ४ । २ । २५६)

२. रवे प्रिय रक्तवर्णमाणिक्यं त्विन्द्रगोपरुक् । रक्तपीतसितश्यामच्छविर्मुक्ता प्रिया विधो ॥
सपीतरक्तरुग् भौमप्रियं विद्रुममुत्तमम् । मयूरचाषपत्राभा पाचिर्बुधहिता हरित् ॥
स्वर्णच्छवि पुष्परागः पीतवर्णो गुरुप्रिय । अत्यन्तविशदं वज्रं तारकाभं कवे· प्रियम् ॥
हित शनेरिन्द्रनीलो ह्यसितो घनमेघरुक् । गोमेदः प्रियकृद्राहोरीषत्पीतारुणप्रभ ॥
ओत्वक्ष्याभश्चलत्तन्तुर्वैदूर्य केतुप्रीतिकृत् । (शुक्रनीति ४ । २ । १५८-१६१)

३ अम्भस्तरति यद्वज्रमभेद्यं विमल च यत् । षट्कोणं शक्रचापाभ लघु चार्कनिभ शुभम् ॥
शुकपक्षनिभ स्निग्ध· कान्तिमान् विमलस्तथा । (अग्निपुराण २४६ । ९-१०)

कौटिल्य कहते हैं कि मोटा, चिकना, भारी चोटको सहनेवाला, बराबर कोनोवाला, पानीसे भरे हुए पीतल आदिके बर्तनमे डालकर हिलाये जानेपर बर्तनमे लकीर डाल देनेवाला, तकवेकी तरह घूमनेवाला और चमकदार हीरा प्रशस्त समझा जाता है[4]।

नष्टकोण, तीक्ष्ण कोनेसे रहित तथा एक ओरको अधिक निकले हुए कोनोवाला हीरा दूषित समझा जाता है—

नष्टकोणं निरश्रि पार्श्वापवृत्तं चाप्रशस्तम्।

हीरा छ· स्थानोंसे उत्पन्न होता है तथा छः रगोवाला होता है। यह बरार, कोसल, कास्तीर (कश्मीर), श्रीकरनक, मणिमन्तक तथा कलिंग—इन छ· स्थानोमे उत्पन्न होता है तथा बिलावकी ऑखके समान, सिरसके फूलके समान, गोमूत्रके समान, गोरोचनके समान, श्वेत वर्णके स्फटिकके समान और मूलारीके फूलके रंगवाला होता है।

मोतियोके वर्णनमे कौटिल्यने अपार बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की है। उनका कहना है कि मोती तीन कारणोसे उत्पन्न होता है—शङ्खसे, शुक्तिसे तथा हाथी, सर्पादिके मस्तकसे। इनमे भी स्थानभेद दस प्रकारके होते है। मोटा, गोलाकार, तलरहित (चिकनी जगहपर बराबर लुढकते जानेवाला), दीप्तियुक्त, श्वेत, भारी, चिकना तथा ठीक मौकेपर बिंधा मोती उत्तम समझा जाता है। अग्निपुराणका कहना है कि मोती शुक्तिसे उत्पन्न होते है, किंतु शंखसे बने मोती उनकी अपेक्षा विमल एवं उत्कृष्ट होते है। हाथीदॉतसे उत्पन्न, सूकर-मत्स्यसे उत्पन्न, वेणुनागसे उत्पन्न या मेघोद्वारा उत्पन्न मोती अत्यन्त श्रेष्ठ होते है[5]।

स्वच्छता, वृत्तता (गोलाई), शुक्लता (उजलापन) एवं महत्ता (भारीपन)—ये मौक्तिकमणि (मोती) के गुण है—

वृत्तत्वं शुक्लता स्वाच्छ्यं महत्त्वं मौक्तिके गुणाः।

(अग्निपुराण २४६। १४)

शुक्रका कहना है कि सिंहलद्वीपवाले कृत्रिम मोती भी बना लेते है, इसलिये मोतीकी परीक्षा करनी चाहिये। रातभर उसे नमक मिले हुए गर्म जलमे रखे, फिर उसे धानोमे मले, इतनेपर भी जो मैला न हो, वह असली मोती होता है। शुक्तिसे उत्पन्न मोतीकी कान्ति सर्वाधिक होती है—

कुर्वन्ति कृत्रिमं तद्वत्सिंहलद्वीपवासिनः।
तत्संदेहविनाशार्थं मौक्तिकं सुपरीक्षयेत्॥
उष्णे सलवणस्नेहे जले निश्युषितं हि तत्।
व्रीहिभिर्मर्दिते नेयाद्वैवर्ण्यं तदकृत्रिमम्॥
श्रेष्ठाभं शुक्तिजं विद्यान्मध्याभं त्वितरं विदुः॥

(शुक्रनीतिसार ४। २। १७६-१७८)

कौटिल्यने मोतियोकी मालाओके वर्णनमे बड़ी दक्षता दिखायी है। वे कहते हैं कि मालाओके गूँथनेके तरीकेसे उनके शीर्षक, उपशीर्षक, प्रकाण्डक, अवघाटक और सरल प्रबन्ध—ये पॉच भेद हैं। फिर मोतियोकी संख्याके अनुसार इनके दस भेद हैं। जैसे १००८ लडोकी मालाका नाम 'इन्द्रच्छन्द', ५०४का नाम 'विजयच्छन्द', १००यष्टिका नाम 'देवच्छन्द', ६४का 'अर्धहार', ५४का 'रश्मिकलाप', ३२का 'गुच्छ', २७का 'नक्षत्रमाला', २४का 'अर्धगुच्छ', २०का 'माणवक' और १० लड़ोकी मालाका नाम 'अर्धमाणवक' है। इन्ही मालाओके बीच मणि पिरो देनेसे फिर इनके ५० और भेद होते है, जिनके बड़े-बडे लम्बे नाम हो जाते हैं। जैसे—'इन्द्रच्छन्दोपशीर्षकार्ध-माणवक', 'इन्द्रच्छन्दप्रकाण्डार्धमाणवक' आदि। शुक्रका कहना है कि मोती और मूँगा—ये दो ही रत्न ऐसे है, जिनपर पत्थर और लोहेकी लकीर पड़ती है और जो घिसकर हल्के होते है, अन्यथा अन्य सभी रत्न सर्वदा एक-समान निष्कलक रहते है—

नायसोल्लिख्यते रत्नं विना मौक्तिकविद्रुमात्।
पाषाणेनापि च प्राय इति रत्नविदो विदुः॥

× × × ×

न जरां यान्ति रत्नानि विद्रुमं मौक्तिकं विना।

---

४. स्थूल गुरुप्रहारसह समकोटिकं भाजनलेखितं कुभ्रामि भ्राजिष्णु च प्रशस्तम्॥ (कौटलीय अर्थशास्त्र २। ११। ४१)

५. मुक्ताफलास्तु शुक्तिजा .... । विमलास्तेभ्य उत्कृष्टा ये च शंखोद्भवा मुने॥
नागदन्तभवाश्चाग्र्या कुम्भसूकरमत्स्यजा। वेणुनागभवा· श्रेष्ठा मौक्तिकं मेघजं वरम्॥ (अग्निपु० २४५। १२-१३)

इसी प्रकार इन ग्रन्थोंमे तथा 'युक्तिकल्पतरु' आदिमें प्रवालादि अन्यान्य मणियोका भी विस्तारसे लक्षण, यष्टिभेद, अवान्तर-भेद तथा मूल्यादिका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

भारतवर्षमें पहले रत्नोका कैसा बाहुल्य था, यह 'मत्स्यपुराण'के रत्नाचलवर्णनमें देखते बनता है। वहाँ कहा गया है कि १००० मोतियोंका एक जगह ढेर करे। इसके पूर्व ओर वज्र और गोमेदका ढेर रखे, इनमे प्रत्येककी संख्या २५० होनी चाहिये। इतनी ही संख्यामें इन्द्रनील और पद्मराग मणियोंको दक्षिण दिशाकी ओर रखकर गन्धमादनकी कल्पना करे। पश्चिममे वैदूर्य और प्रवाल (विद्रुम या मूँगों)का विमलाचल बनाये एवं उत्तरमें पद्मराग और सोनेके ढेर रखे। धान्यके पर्वत भी सर्वत्र वनाये एवं जगह-जगहपर सोनेके वृक्ष एवं देवताओकी रचना करे, फिर इनकी पुष्प-गन्धादिसे पूजा करे एवं **'यदा देवगणाः सर्वे'**[६] आदि मन्त्रोको पढ़कर इस रत्नाचलको विधिपूर्वक ऋत्विजों या आचार्य आदिको दान कर दे (मत्स्यपुराण ९०।१-९)।

महाभारतका कहना है कि जो इन रत्नोंको बेचकर सौम्य प्रकारके यज्ञ करता है या प्रतिग्रह लेकर इन्हे किसी अन्यको दान कर देता है, उन दोनोंको अक्षय पुण्य होता है—

यस्तान् विक्रीय यजते ब्राह्मणो ह्यभयंकरम्।
यद्वै ददाति विप्रेभ्यो ब्राह्मणः प्रतिगृह्य वै॥
उभयोः स्यात् तदक्षय्यं दातुरादातुरेव च।

(अनु० ६८।२९-३०)

महर्षि वाल्मीकिने अयोध्यापुरीका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह सव प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी और विमानाकार गृहोंसे सुशोभित थी—

प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिताम्।
सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम्॥

(वाल्मीकि० वाल० ५।१५-१६)

अपनी गीतावलीमें गोस्वामीजीने भी इसका खूब चित्रण किया है—

कोसलपुरी सुहावनी सरि सरजूके तीर।
भूपावली मुकुटमनि नृपति जहाँ रघुबीर॥

× × × × ×

गृह गृह रचे हिंडोलना महि गच काँच सुढार।
चित्र विचित्र चहू दिसि परदा फटिक-पगार॥
सरल बिसाल बिराजहीं बिद्रुम-खंभ सुजोर।
चारु पाटि पटी पुरट की झरकत मरकत भौंर॥
मरकत भवँर डाँडी कनक मनि-जटित दुति जगमगि रही।
पटुली मनहुँ बिधि निपुनता निज प्रगट करि राखी सही॥
वहुरंग लसत बितान मुकुतादाम-सहित मनोहरा।
नव-सुमन माल-सुगंध लोभे मंजु गुंजत मधुकरा॥

(गीता० उत्तर० १९।१,३)

जनकपुरीकी शोभाका भी आपने ऐसा ही वर्णन किया है। मण्डप-रचनाकी शोभामें अपने अनूठे रत्नविज्ञानका ज्ञान प्रदर्शित किया है—

हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुमरागके फूल।
रचना देखि विचित्र अति मनु बिरंचि कर भूल॥
बेनु हरित मनिमय सव कीन्हे। सरल सपरव परहिं नहिं चीन्हे॥
कनक कलित अहिबेलि बनाई। लखि नहिं परइ सपरन सुहाई॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाए। बिच बिच मुकता दाम सुहाए॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥

—आदिमें भला कितना ठोस रत्न-विज्ञान भरा है। वाल्मीकीयका लंका-वर्णन भी ऐसा ही है।

कनक कोट मनि खचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव।

—इस दोहेमें गोस्वामीजीने इसकी विचित्रता कह डाली है।

सचमुच भारतकी अलौकिक विभूतिकी बात पढ़-सुनकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। पर इसमे आश्चर्य क्या, इन सभी ऐश्वर्योका कारण इसकी एकमात्र धर्मपरायणता थी, पर आज तो हम इस तरह धर्मके पीछे पड़ गये हैं कि यह शब्द ही हमारे कानमें खटकने लगा है और धर्मविहीनता दिखलानेमें ही हम सभी प्रकार गौरवका अनुभव करने लगे हैं। इसका जो उचित परिणाम है, वह भी हमारे सामने है।

६ यदा देवगणाः सर्वे सर्वरत्नेष्ववस्थिताः। त्व च रत्नमयो नित्यं नमस्तेऽस्तु सदाचल॥
यस्माद्रत्नप्रदानेन तुष्टिं प्रकुरुते हरिः। सदा रत्नप्रदानेन तस्मात्र पाहि पर्वत॥

प्राचीन शिक्षामें चौंसठ कलाएँ

(स्व० पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी)

प्राचीन कालमे भारतीय शिक्षाक्रमका क्षेत्र बहुत व्यापक था। शिक्षामे कलाओकी शिक्षा भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। कलाओके सम्बन्धमे पुराण, रामायण, महाभारत, काव्य आदि ग्रन्थोमे जाननेयोग्य सामग्री भरी पड़ी है, परंतु इनका थोड़ेमे पर सुन्दर ढंगसे विवरण शुक्राचार्यके नीतिसार नामक ग्रन्थके चौथे अध्यायके तीसरे प्रकरणमे मिलता है। उनके कथनानुसार कलाएँ अनन्त है, उन सबके नाम भी नहीं गिनाये जा सकते, परंतु उनमे ६४ कलाएँ मुख्य हैं। कलाका लक्षण बतलाते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिसे एक मूक (गूँगा) व्यक्ति भी, जो वर्णोच्चारण भी नहीं कर सकता, कर सके, वह कला है—

शक्तो मूकोऽपि यत् कर्तुं कलासंज्ञं तु तत् स्मृतम्।

केलदि-नरेश श्रीबसवराजेन्द्रविरचित शिवतत्त्वरत्नाकरमे मुख्य-मुख्य ६४ कलाओका नाम-निर्देश इस प्रकार किया गया है—

१-इतिहास, २-आगम, ३-काव्य, ४-अलंकार, ५-नाटक, ६-गायकत्व, ७-कवित्व, ८-कामशास्त्र, ९-दुरोदर (द्यूत), १०-देशभाषालिपिज्ञान, ११-लिपिकर्म, १२-वाचन, १३-गणक, १४-व्यवहार, १५-स्वरशास्त्र, १६-शाकुन, १७-सामुद्रिक, १८-रत्नशास्त्र, १९-गज-अश्वरथकौशल, २०-मल्लशास्त्र, २१-सूपकर्म (रसोई पकाना), २२-भूरुहदोहद (बागवानी), २३-गन्धवाद, २४-धातुवाद, २५-रससम्बन्धी खनिवाद, २६-बिलवाद, २७-अग्निसंस्तम्भ, २८-जलसंस्तम्भ, २९-वाच:स्तम्भन, ३०-वय:स्तम्भन, ३१-वशीकरण, ३२-आकर्षण, ३३-मोहन, ३४-विद्वेषण, ३५-उच्चाटन, ३६-मारण, ३७-कालवञ्चन, ३८-परकायप्रवेश, ३९-पादुकासिद्धि, ४०-वाक्सिद्धि, ४१-गुटिकासिद्धि, ४२-ऐन्द्रजालिक, ४३-अञ्जन, ४४-परदृष्टिवञ्चन, ४५-स्वरवञ्चन, ४६-मणिमन्त्र-औषधादिकी सिद्धि, ४७-चोरकर्म, ४८-चित्रक्रिया, ४९-लोहक्रिया, ५०-अश्मक्रिया, ५१-मृत्क्रिया, ५२-दारुक्रिया, ५३-वेणुक्रिया, ५४-चर्मक्रिया, ५५-अम्बरक्रिया, ५६-अदृश्य-करण, ५७-दन्तिकरण, ५८-मृगयाविधि, ५९-वाणिज्य, ६०-पाशुपाल्य, ६१-कृषि, ६२-आसवकर्म, ६३-लाव-कुक्कुट-मेषादियुद्धकारक कौशल तथा ६४-शुक-सारिका-प्रलापन।

वात्स्यायनप्रणीत कामसूत्रके टीकाकार जयमंगलने दो प्रकारकी कलाओका उल्लेख किया है—पहली कामशास्त्राङ्गभूता और दूसरी तन्त्रावापौपयिकी। इन दोनोमेसे प्रत्येकमे ६४ कलाएँ हैं। इनमे कई कलाएँ समान ही हैं और शेष पृथक्। पहले प्रकारमे २४ कर्माश्रया, २० द्यूताश्रया, १६ शयनोपचारिका और ४ उत्तर कलाएँ—इस तरह ६४ मूल कलाएँ हैं। इनकी भी अवान्तर कलाएँ और हैं, जो सब मिलकर ५१८ होती हैं।

कर्माश्रया २४ कलाओके नाम इस प्रकार हैं—१-गीत, २-नृत्य, ३-वाद्य, ४-कौशल-लिपिज्ञान, ५-उदारवचन, ६-चित्रविधि, ७-पुस्तकर्म, ८-पत्रच्छेद्य, ९-माल्यविधि, १०-गन्धयुत्स्वाद्यविधान, ११-रत्नपरीक्षा, १२-सीवन, १३-रंगपरिज्ञान, १४-उपकरणक्रिया, १५-मानविधि, १६-आजीवज्ञान, १७-तिर्यग्योनिचिकित्सित, १८-मायाकृतपाषण्डपरिज्ञान, १९-क्रीडाकौशल, २०-लोकज्ञान, २१-वैचक्षण्य, २२-संवाहन, २३-शरीर-संस्कार और २४-विशेष कौशल।

द्यूताश्रया २० कलाओमे १५ निर्जीव और ५ सजीव हैं। निर्जीव कलाएँ ये हैं— १-आयु:प्राप्ति, २-अक्षविधान, ३-रूपसंख्या, ४-क्रियामार्गण, ५-बीजग्रहण, ६-नयज्ञान, ७-करणादान, ८-चित्राचित्रविधि, ९-गूढराशि, १०-तुल्याभिहार, ११-क्षिप्रग्रहण, १२-अनुप्राप्तिलेखस्मृति, १३-अग्निक्रम, १४-छलव्यामोहन और १५-ग्रहदान। सजीव ५ कलाएँ ये हैं— १-उपस्थान-विधि, २-युद्ध, ३-सत, ४-गत और ५-नृत्त।

शयनोपचारिका १६ कलाएँ ये हैं— १-पुरुषका भावग्रहण, २-स्वराग-प्रकाशन, ३-प्रत्यङ्गदान, ४-नख-

दन्तविचार, ५-नीवीस्रंसन, ६-गुह्याङ्गका संस्पर्शनानुलोम्य, ७-परमार्थ-कौशल, ८-हर्षण, ९-समानार्थता-कृतार्थता, १०-अनुप्रोत्साहन, ११-मृदुक्रोधप्रवर्तन, १२-सम्यक्क्रोध-निवर्तन, १३-क्रुद्धप्रसादन, १४-सुप्त-परित्याग, १५-चरमस्वापविधि और १६-गुह्यगूहन ।

४ उत्तर कलाएँ ये हैं—१-साश्रुपात रमणको शापदान, २-स्वशपथक्रिया, ३-प्रस्थितानुगमन और ४-पुनः-पुनर्निरीक्षण । इस प्रकार दूसरे प्रकारकी भी सर्वसाधारणके लिये उपयोगिनी ६४ कलाएँ है ।

विष्णुपुराण एवं श्रीमद्भागवतके टीकाकार श्रीधर स्वामीने भी 'श्रीमद्भागवत'के दशम स्कन्धके ४५वे अध्यायके ६४वें श्लोककी टीकामें तथा 'विष्णुपुराण'के ५वें अंशकी टीकामें प्रायः दूसरे प्रकारकी कलाओंका नाम-निर्देश किया है, किंतु शुक्राचार्यने अपने 'नीतिसार'में जिन कलाओंका विवरण दिया है, उनमें कुछ तो उपर्युक्त कलाओंसे मिलती हैं पर शेष सभी भिन्न है । यद्यपि जयमगल-टीकोक्त दूसरे प्रकारकी कलाओंका केवल नाम ही पाठकोंकी जानकारीके लिये देकर उसके बाद 'शुक्रनीतिसार' के क्रमानुसार कलाओंका दिग्दर्शन कराया जायगा ।

जयमंगलके मतानुसार ६४ कलाएँ ये हैं—१-गीत, २-वाद्य, ३-नृत्य, ४-आलेख्य, ५-विशेषकच्छेद्य (मस्तकपर तिलक लगानेके लिये कागज, पत्ती आदि काटकर आकार या साँचे बनाना), ६-तण्डुल-कुसुमबलिविकार (देव-पूजनादिके अवसरपर तरह-तरहके रँगे हुए चावल, यव आदि वस्तुओं तथा रंग-बिरंगे फूलोंको विविध प्रकारसे सजाना), ७-पुष्पास्तरण, ८-दशन-वसनाङ्गराग (दाँत, वस्त्र तथा शरीरके अवयवोंको रँगना), ९-मणिभूमिकाकर्म (घरके फर्शके कुछ भागोंको मोती, मणि आदि रत्नोंसे जड़ना), १०-शयन-रचन (पलग लगाना), ११-उदक-वाद्य (जलतरंग), १२-उदकाघात (दूसरोंपर हाथों या पिचकारियोंसे जलके छींटे मारना), १३-चित्रास्त्रयोग (जड़ी-बूटियोंके योगसे विविध वस्तुएँ ऐसी तैयार करना या ऐसी औषधें तैयार करना अथवा ऐसे मन्त्रोंका प्रयोग करना जिनसे शत्रु निर्बल हो या उसकी हानि हो), १४-माल्य-ग्रथन-विकल्प (माला गूँथना), १५-शेखरकापीडयोजन (स्त्रियोंकी चोटीपर पहननेके विविध अलंकारोंके रूपमें पुष्पोंको गूँथना), १६-नेपथ्यप्रयोग (शरीरको वस्त्र, आभूषण, पुष्प आदिसे सुसज्जित करना), १७-कर्ण-पत्रभंग (शंख, हाथी-दाँत आदिके अनेक तरहके कानके आभूषण बनाना), १८-गन्धयुक्ति (सुगन्धित धूप बनाना), १९-भूषण-योजन, २०-ऐन्द्रजाल (जादूके खेल), २१-कौचुमारयोग (बल-वीर्य बढ़ानेवाली ओषधियाँ बनाना), २२-हस्तलाघव (हाथोकी काम करनेमें फुर्ती और सफाई), २३-विचित्र शाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया (तरह-तरहके शाक, कढ़ी, रस, मिठाई आदि बनानेकी क्रिया), २४-पानक-रस-रागासव-योजन (विविध प्रकारके शर्बत, आसव आदि बनाना), २५-सूचीवानकर्म (सूईका काम— जैसे सीना, रफू करना, कसीदा काढ़ना, मोजे-गंजी बुनना), २६-सूत्रक्रीडा (तागे या डोरियोंसे खेलना, जैसे कठपुतलीका खेल), २७-वीणाडमरुवाद्य, २८-प्रहेलिका (पहेलियाँ बूझना), २९-प्रतिमाला (श्लोक आदि कविता पढ़नेकी मनोरञ्जक रीति), ३०-दुर्वाचकयोग (ऐसे श्लोक आदि पढ़ना, जिनका अर्थ और उच्चारण दोनों कठिन हो), ३१-पुस्तक-वाचन, ३२-नाटकाख्यायिका-दर्शन, ३३-काव्य-समस्यापूरण, ३४-पट्टिकावेत्रवानविकल्प (पीढ़ा, आसन, कुर्सी, पलंग, मोढ़े आदि चीजे बेंत आदि वस्तुओसे बनाना), ३५-तक्षकर्म (लकड़ी, धातु आदिको मनोऽकूल विभित्र आकारोंमें काटना), ३६-तक्षण (बढ़ईका काम), ३७-वास्तुविद्या, ३८-रूप्यरत्न-परीक्षा (सिक्के, रत्न आदिकी परीक्षा करना), ३९-धातुवाद (पीतल आदि धातुओंको मिलाना, शुद्ध करना आदि), ४०-मणिरागाकरज्ञान (मणि आदिका रँगना, खान आदिके विषयका ज्ञान), ४१-वृक्षायुर्वेदयोग, ४२-मेषकुक्कुटलावक-युद्धविधि (मेढ़े, मुर्गे, तीतर आदिको लड़ाना), ४३-शुकसारिकाप्रलापन (तोता-मैना आदिको बोली सिखाना), ४४-उत्सादनसंवाहन—केशमर्दनकौशल (हाथ-पैरोसे शरीर दबाना, केशोंका मलना, उनका मैल दूर करना आदि), ४५-अक्षरमुष्टिका-कथन (अक्षरोंको ऐसी युक्तिसे कहना कि उस संकेतका जाननेवाला ही उनका अर्थ समझे, दूसरा नहीं, मुष्टिसंकेतद्वारा बातचीत करना, जैसे दलाल आदि कर लेते हैं), ४६-म्लेच्छित विकल्प (ऐसे संकेतसे लिखना, जिसे उस संकेतको जाननेवाला ही समझे), ४७-देशभाषाविज्ञान,

४८-पुष्पशकटिका, ४९-निमित्तज्ञान (शकुन जानना), ५०-यन्त्रमातृका (विविध प्रकारके मशीन, कल, पुर्जे आदि बनाना), ५१-धारणमातृका (सुनी हुई बातोंका स्मरण रखना), ५२-सम्पाठ्य, ५३-मानसी काव्यक्रिया (किसी श्लोकमे छोड़े हुए पदको मनसे पूरा करना), ५४-अभिधानकोश, ५५-छन्दोज्ञान, ५६-क्रियाकल्प (काव्यालंकारोका ज्ञान), ५७-छलितक-योग (रूप और बोली छिपाना), ५८-वस्त्रगोपन (शरीरके अङ्गोको छोटे या बड़े वस्त्रोसे यथायोग्य ढँकना), ५९-द्यूत-विशेष, ६०-आकर्ष-क्रीडा (पासोसे खेलना), ६१-बालक्रीडनक, ६२-वैनयिकी-ज्ञान (अपने और परायेसे विनयपूर्वक शिष्टाचार करना), ६३-वैजयिकी-ज्ञान (विजय प्राप्त करनेकी विद्या अर्थात् शस्त्रविद्या) और ६४-व्यायामविद्या । इनका विशेष विवरण जयमंगलने कामसूत्रकी व्याख्यामे किया है ।

शुक्राचार्यका कहना है कि कलाओके भिन्न-भिन्न नाम नही है, अपितु केवल उनके लक्षण ही कहे जा सकते हैं, क्योंकि क्रियाके पार्थक्यसे ही कलाओमे भेद होता है । जो व्यक्ति जिस कलाका अवलम्बन करता है, उसकी जाति उसी कलाके नामसे कही जाती है । पहली कला है नृत्य (नाचना) । हाव-भाव आदिके साथ गतिको नृत्य कहा जाता है । नृत्यमे अनुकरण, अङ्गहार, विभाव, भाव, अनुभाव और रसोकी अभिव्यक्ति की जाती है । नृत्यके दो प्रकार हैं—एक नाट्य, दूसरा अनाट्य । स्वर्ग अथवा नरक या पृथ्वीके निवासियोकी कृतिका अनुकरण 'नाट्य' कहा जाता है और अनुकरणविरहित नृत्य 'अनाट्य' । यह कला अति प्राचीनकालसे यहाँ बडी उन्नत दशामे थी । भगवान् शंकरका ताण्डव-नृत्य प्रसिद्ध है । आज तो इस कलाकी पेशा करनेवाली एक जाति ही कत्थक नामसे प्रसिद्ध है । वर्षा-ऋतुमे घनगर्जनासे आनन्दित मोरका नृत्य बहुतोने देखा होगा । नृत्य एक स्वाभाविक वस्तु है, जो हृदयमे प्रसन्नताका उद्रेक होते ही बाहर व्यक्त हो उठती है । कुछ कलाविद् पुरुषोंने इसी स्वाभाविक नृत्यको अन्यान्य अभिनय-विशेषोसे रँगकर कलाका रूप दे दिया है । जगंली-से-जगंली और सभ्य-से-सभ्य समाजमे नृत्यका अस्तित्व किसी-न-किसी रूपमे देखा ही जाता है । आधुनिक पाश्चात्योमे नृत्य-कला एक प्रधान सामाजिक वस्तु हो गयी है । प्राचीनकालमे इस कलाकी शिक्षा राजकुमारोतकके लिये आवश्यक समझी जाती थी । अर्जुनद्वारा अज्ञातवासकालमे राजा विराटकी कन्या उत्तराको बृहन्नलाके रूपमे इस कलाकी शिक्षा देनेकी बात महाभारतमे प्रसिद्ध है । दक्षिण-भारतमे यह कला अब भी थोड़ी-बहुत विद्यमान है । 'कथाकलि' में उसकी झलक मिलती है ।

२-अनेक प्रकारके वाद्योका निर्माण करने और उनके बजानेका ज्ञान कला है । वाद्योके मुख्यतया चार भेद हैं—१-तत, २-सुषिर, ३-अवनद्ध और ४-घन । तार अथवा ताँतका जिसमे उपयोग होता है, वे वाद्य 'तत' कहे जाते हैं—जैसे वीणा, तम्बूरा, सारंगी, बेला, सरोद आदि । जिसका भीतरी भाग सच्छिद्र (पोला) हो और जिसमें वायुका उपयोग होता हो उसे 'सुषिर' कहते हैं—जैसे बाँसुरी, अलगोजा, शहनाई, बैड, हार्मोनियम, शंख आदि । चमड़ेसे मढ़ा हुआ वाद्य 'अवनद्ध' कहा जाता है—जैसे ढोल, नगारा, तबला, मृदंग, डफ, खँजड़ी आदि । परस्पर आघातसे बजाने योग्य वाद्य 'घन' कहलाता है । जैसे झाँझ, मजीरा, करताल आदि । यह कला गानेसे सम्बन्ध रखती है । बिना वाद्यके गानमें मधुरता नहीं आती । प्राचीनकालमे भारतके वाद्योमे वीणा मुख्य थी । इसका उल्लेख प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोमे भी उपलब्ध होता है । सरस्वती और नारदका वीणा-वादन, श्रीकृष्णकी वंशी, महादेवका डमरू तो प्रसिद्ध ही है । वाद्य आदि विषयोके संस्कृतमे अनेक ग्रन्थ हैं । उनमें अनेक वाद्योके परिमाण, उनके बनाने और मरम्मत करनेकी विधियाँ मिलती हैं । राज्याभिषेक, यात्रा, उत्सव, विवाह, उपनयन आदि माङ्गलिक कार्योके अवसरोपर भिन्न-भिन्न वाद्योका उपयोग होता था । युद्धमे सैनिकोके उत्साह, शौर्यको बढ़ानेके लिये अनेक तरहके वाद्य बजाये जाते थे ।

३-स्त्री और पुरुषोको सुचारुरूपसे वस्त्र एवं अलंकार पहनाना 'कला' है । ४-अनेक प्रकारके रूपोका आविर्भाव करनेका ज्ञान 'कला' है । इसी कलाका उपयोग हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीके साथ पहली बार मिलनेके समय ब्राह्मण-वेश धारण करनेमे किया था । ५-शय्या और आस्तरण (बिछौना) सुन्दर रीतिसे बिछाना और पुष्पोको अनेक प्रकारसे गूँथना 'कला' है । ६-द्यूत (जूआ) आदि अनेक

क्रीडाओसे लोगोका मनोरञ्जन करना 'कला' है। प्राचीनकालमे द्यूतके अनेक प्रकारोके प्रचलित होनेका पता लगता है। उन सबमे अक्षक्रीडा (चौपड़) विशेष प्रसिद्ध थी। नल, युधिष्ठिर, शकुनि आदि इस कलामे निपुण थे। ७-अनेक प्रकारके आसनोद्वारा सुरत-क्रीडाका ज्ञान 'कला' है। इन सात कलाओका उल्लेख 'गान्धर्ववेद'मे किया गया है।

८-विविध प्रकारके मकरन्दो (पुष्परस)से आसव, मद्य, आदिकी कृति 'कला' है। ९-शल्य (पादादि अङ्गमे चुभे काँटे) की पीड़ाको अल्प कर देना या शल्यको अङ्गमेसे निकाल डालना, शिरा (नाडी) और फोड़े आदिकी चीरफाड़ करना 'कला' है। हकीमोकी जर्राही और डाक्टरोकी सर्जरी इसी कलाके उदाहरण हैं। १०-हींग आदि रस (मसाले) से युक्त अनेक प्रकारके अन्नोका पकाना 'कला' है। महाराज नल और भीमसेन-जैसे पुरुष भी इस कलामे निपुण थे। ११-वृक्ष, गुल्म, लता आदिको लगाने, उनसे विविध प्रकारके फल-पुष्पोको उत्पन्न करने एवं उन वृक्षादिका अनेक उपद्रवोसे संरक्षण करनेकी कृति 'कला' है। प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोमे सुरम्य उद्यान, उपवन आदिका बहुत उल्लेख मिलता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अग्निपुराण तथा शुक्रनीतिसारमें इस विषयपर बहुत प्रकाश डाला गया है। इससे मालूम होता है कि बहुत प्राचीनकालमे भी यह कला उन्नत दशामे थी। १२-पत्थर, सोने-चाँदी आदि धातुओको (खानमेसे) खोदना, उन धातुओका भस्म बनाना 'कला' है। १३-सभी प्रकारके इक्षु (ईख)से बनाये जा सकनेवाले पदार्थ—जैसे राब, गुड़, खाँड, चीनी, मिश्री, कन्द आदि बनानेका ज्ञान 'कला' है। १४-सुवर्ण आदि अनेक धातु और अनेक ओषधियोको परस्पर मिश्रित करनेका ज्ञान 'कला' है। १५-मिश्रित धातुओंको उस मिश्रणसे अलग-अलग कर देना 'कला' है। १६-धातु आदिके मिश्रणका अपूर्व (प्रथम) विज्ञान 'कला' है। १७-लवण (नमक) आदिको समुद्रसे या मिट्टी आदि पदार्थोसे निकालनेका विज्ञान 'कला' है। इन आठसे सतरहतककी कलाओका आयुर्वेदसे सम्बन्ध है, इसलिये ये कलाएँ आयुर्वेदके अन्तर्भूत हैं। इनमें आधुनिक बॉटनी, गार्डनिंग, माइनिंग, मेटलर्जी, केमिस्ट्री आदि आ जाते हैं।

१८-पैर आदिके अङ्गोके विशिष्ट संचालनपूर्वक (पैंतरा बदलते हुए) शस्त्रोका लक्ष्य स्थिर करना और उनका चलाना 'कला' है। १९-शरीरकी सन्धियों (जोडों) पर आघात करते हुए या भिन्न-भिन्न अङ्गोंको खींचते हुए दो मल्लो (पहलवानो)का युद्ध (कुश्ती) 'कला' है। इस कलामे भी भारत प्राचीनकालसे अबतक सर्वश्रेष्ठ रहा है। श्रीकृष्णने कंसकी सभाके चाणूर, मुष्टिक आदि प्रसिद्ध पहलवानोंको इस कलामें पछाडा था। भीमसेन और जरासंधकी कुश्ती कई दिनोंतक चलनेका उल्लेख 'महाभारत'में आया है। आज भी गामा आदिके नाम जगद्विजयी मल्लोमें है। पंजाव, मथुरा आदिके मल्ल अभी भी इस कलामे अच्छी निपुणता रखते हैं। इस युद्धका एक भेद 'बाहुयुद्ध' है। इसमें मल्ललोग किसी शस्त्रका उपयोग न कर केवल मुष्टिसे युद्ध करते हैं। इसे 'मुक्की' या 'मुक्कावाजी' (वाक्सिंग) कहते हैं। काशीके दुर्गाघाटपर कार्तिकमे होनेवाली मुक्की सुप्रसिद्ध है। बाहुयुद्धमें लड़कर मरनेवालेकी शुक्राचार्यने निन्दा की है। वे लिखते हैं—

मृतस्य तस्य न स्वर्गो यशो नेहापि विद्यते।
बलदर्पविनाशान्तं नियुद्धं यशसे रिपोः॥
न कस्यचिद् विकुर्याद् वै प्राणान्तं बाहुयुद्धकम्॥

बाहुयुद्धमें मरनेवालेको न तो इस लोकमें यश मिलता है, न परलोकमे स्वर्ग-सुख, किंतु मारनेवालेका यश अवश्य होता है; क्योंकि शत्रुके बल और दर्प (घमंड) का अन्त करना ही युद्धका लक्ष्य होता है। इसलिये प्राणान्त (शत्रुके मर जानेतक) बाहुयुद्ध करना चाहिये। ऐसे युद्धका उदाहरण मधु-कैटभके साथ विष्णुका युद्ध है, जो समुद्रमे पाँच हजार वर्षोतक होता रहा।

२०-कृत और प्रतिकृत आदि अनेक तरहके अति भयंकर बाहु (मुष्टि) प्रहारोसे अकस्मात् शत्रुपर झपटकर किये गये आघातोसे एवं शत्रुको असावधान पाकर ऐसी दशामे उसे पकडकर रगड़ देने आदि प्रकारोसे जो युद्ध किया जाता है, उसे 'निपीडन' कहते हैं और शत्रुद्वारा

किये गये ऐसे 'निपीडन'से अपनेको बचा लेनेका नाम 'प्रतिक्रिया' है। अर्थात् अपना बचाव करते हुए शत्रुपर केवल बाहुओसे भयंकर आघात करते हुए युद्ध करना 'कला' है। २१-अभिलक्षित देश (निशाने) पर विविध यन्त्रोसे अस्त्रोको फेकना और किसी तुरही आदि (वाद्यके संकेतसे) व्यूह रचना (किसी खास तरीकेसे सैन्यको खड़ा करनेकी क्रिया करना) 'कला' है। इससे पता चलता है कि मन्त्रोसे फेके जानेवाले अस्त्र आजकलके बंदूक, तोप, मशीनगन, तारपीडो आदिकी तरह प्राचीन कालमे भी उपयोगमे लाये जाते रहे होंगे, किंतु उनसे होनेवाली भारी क्षतिको देखकर उनका उपयोग कम कर दिया गया होगा। मनुने भी महायन्त्र-निर्माणका निषेध किया है। २२-हाथी, घोड़े और रथोकी विशिष्ट गतियोसे युद्धका आयोजन करना 'कला' है। १८ से २२ तककी पाँच कलाएँ 'धनुर्वेद'से सम्बन्ध रखती हैं।

२३-विविध प्रकारके आसन (बैठनेका प्रकार) एवं मुद्राओ (दोनो हाथोकी अँगुलियोसे बननेवाली अंकुश, पद्म, धेनु आदिकी आकृतियो) से देवताओको प्रसन्न करना 'कला' है। इस कलापर आधुनिकोका विश्वास नहीं है तो भी कहीं-कहीं इसे जाननेवाले व्यक्ति पाये जाते हैं। इसका प्राचीन समयमे खूब प्रचार था। संस्कृतमें तन्त्र एवं आगमके अनेक ग्रन्थोमे मुद्रा आदिका वर्णन देखनेमें आता है। हिप्नॉटिज्म जाननेवालोमे कुछ मुद्राओका प्रयोग देखा जाता है। वे मुद्राद्वारा अपनी शक्तिका संक्रमण अपने प्रयोज्य-विधेयमे करते हैं। २४-सारथ्य-रथ हाँकनेका काम (कोचवानी) एवं हाथी-घोड़ोको अनेक तरहकी गतियो (चालो) की शिक्षा देना 'कला' है। इसकी शिक्षा किसी समयमे सभी राजकुमारोके लिये आवश्यक समझी जाती थी। यदि विराट-पुत्र उत्तर इस कलामे निपुण न होते तो जब दुर्योधन आदि विराटकी गौओका अपहरण करनेके लिये आये, उस समय अर्जुनका सारथ्य वे कैसे कर सकते थे। महाभारत-युद्धमे श्रीकृष्ण अर्जुनका रथ कैसे हाँक सकते थे या कर्णका सारथ्य शल्य कैसे कर सकते थे। आज भी शौकीन लोग सारथि (ड्राइवर) को पीछे बैठाकर स्वयं मोटर आदि हाँकते हुए देखे जाते हैं। २५-मिट्टी, लकड़ी, पत्थर और पीतल आदि धातुओंसे बर्तनोका बनाना 'कला' है। यह कला भी इस देशमें बहुत पुराने समयसे अच्छी दशामे देखनेमे आती है। इसका अनुमान जमीनकी खुदाईसे निकले हुए प्राचीन बर्तनोंको 'वस्तु-संग्रहालय' (म्यूजियम) में देखनेसे हो सकता है। २६-चित्रोका आलेखन 'कला' है। प्राचीन चित्रोको देखनेसे प्रमाणित होता है कि यह कला भारतमे किस उच्च-कोटितक पहुँची हुई थी। प्राचीन मन्दिर और बौद्ध विहारोंकी मूर्तियो और अजन्ता आदि गुफाओके चित्रोको देखकर आश्चर्य होता है। आज कई शताब्दियोके व्यतीत हो जानेपर भी वे ज्यो-के-त्यों दिखलायी पड़ते हैं। उनके रंग ऐसे दिखलायी पड़ते हैं कि जैसे अभी कारीगरने उनका निर्माण-कार्य समाप्त किया हो। प्रत्येक वर्ष हजारो विदेशी यात्री उन्हे देखनेके लिये दूर-दूरसे आते हैं। प्रयत्न करनेपर भी वैसे रंगोका आविष्कार अबतक नहीं हो सका है। यह कला इतनी व्यापक थी कि देशके हर एक कोनेमे—घर-घरमे इसका प्रचार था। अब भी घरोके द्वारपर गणेशजी आदिके चित्र बनानेकी चाल प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। कई सामाजिक उत्सवोके अवसरोंपर स्त्रियाँ दीवाल और जमीनपर चित्र लिखती हैं। प्राचीनकालमे भारतकी स्त्रियाँ इस कलामे बहुत निपुण होती थीं। बाणासुरकी कन्या ऊषाकी सखी चित्रलेखा इस कलामें बड़ी सिद्धहस्त थी। वह एक बार देखे हुए व्यक्तिका बादमे हूबहू चित्र बना सकती थी। चित्रकलाके ६ अङ्ग हैं—१-रूप-भेद (रंगोकी मिलावट), २-प्रमाण (चित्रमे दूरी, गहराई आदिका दिखलाना और चित्रगत वस्तुके अङ्गोका अनुपात), ३-भाव और लावण्यकी योजना, ४-सादृश्य, ५-वर्णिका (रंगोका सामञ्जस्य) और ६-भंग (रचना-कौशल)। 'समराङ्गणसूत्रधार' आदि प्राचीन शिल्पग्रन्थोमे इस कलाका विशदरूपसे विवरण उपलब्ध होता है।

२७-तालाब, बावली, कूप, प्रासाद (महल और देव-मन्दिर) आदिका बनाना और भूमि (ऊँची-नीची) का सम (बराबर) करना 'कला' है। 'सिविल इंजीनियरिंग'

का इसमे भी समावेश किया जा सकता है। २८-घटी (घडी) आदि समयका निर्देश करनेवाले यन्त्रों एवं २९-अनेक वाद्योंका निर्माण करना 'कला' है। प्राचीनकालमें समयका माप करनेके लिये जल-यन्त्र, बालुका-यन्त्र धूप-घड़ी आदि साधन थे। अब घड़ीके बन जानेसे यद्यपि उनका व्यवहार कम हो गया है, तथापि कई प्राचीन शैलीके ज्योतिषी लोग अब भी विवाह आदिके अवसरपर जल-यन्त्रद्वारा ही सूर्योदयसे इष्ट-कालका साधन करते हैं एव कई प्राचीन राजाओकी ड्योढ़ीपर अब भी जल-यन्त्र, बालुका-यन्त्र या धूप-घड़ीके अनुसार समय-निर्देशक घंटा बजानेकी प्रथा देखनेमे आती है। आश्चर्य है कि इन्हीं यन्त्रोकी सहायतासे प्राचीन ज्योतिषी लोग सूक्ष्मातिसूक्ष्म समयके विभागका ज्ञान स्पष्टतया प्राप्त कर लिया करते थे और उसीके आधारपर बनी जन्म-पत्रिकासे जीवनकी घटनाओका ठीक-ठीक पता लगा लिया जाता था।

३०-कतिपय रंगोके अल्प, अधिक या सम संयोग (मिलावट)से बने विभिन्न रंगोसे वस्त्र आदि वस्तुओका रँगना—यह भी 'कला' है। पहले यह कला घर-घरमें थी, किन्तु इसका भार अब मालूम होता है रँगरेजोंके ऊपर ही छोड़ दिया गया है। यहाँके रंग बडे सुन्दर और टिकाऊ होते थे। यहाँके रंगोसे रँगे वस्त्रोका बाहरके देशोमे बडा आदर था। अब भी राजपूतानेके कई नगरोमे ऐसे-ऐसे कुशल रँगरेज हैं कि जो महीन-से-महीन मलमलको दोनों ओरसे दो विभिन्न रगोमे रँग देते हैं। जोधपुरमे कपडेको स्थान-स्थानपर बाँधकर इस तरह रँग देते हैं कि उसमे अनेक रंग और बेलबूटे बैठ जाते हैं।

३१-जल, वायु और अग्निके संयोगसे उत्पन्न वाष्प (भाप) के निरोध (रोकने) से अनेक क्रियाओका सम्पादन करना 'कला' है—

जलवाय्वग्निसंयोगनिरोधैश्च क्रिया कला।

भोजदेव (वि०सं० १०६६-९८) कृत 'समराङ्गणसूत्रधार' के ३१वें अध्यायका नाम ही 'यन्त्रविधान' है। उस अध्यायमें २२३$\frac{१}{२}$ श्लोक हैं, जिनमे विलक्षण प्रकारके विविध यन्त्रोके निर्माणकी संक्षिप्त प्रक्रियाका दिग्दर्शन कराया गया है। इससे तो यह बात स्पष्ट रीतिसे जानी जा रही है कि प्राचीन भारतके लोगोंको भापके यन्त्रोंका ज्ञान था और वे उन यन्त्रोंसे अपने व्यावहारिक कार्योंमें आजकी तरह सहायता लिया करते थे।

३२-नौका, रथ आदि जल-स्थलके आवागमनके साधनोका निर्माण करना 'कला' है। पहलेके लोग स्थल और यातायातके साधनोंका अच्छे-से-अच्छे उपकरणोंसे सम्पन्न अश्व, रथ, गौ (बैलो) के रथ आदिका बनाना तो जानते ही थे, साथ ही अच्छे-से-अच्छे सुदृढ़, सुन्दर, उपयोगी, सर्वसाधनोंसे सम्पन्न बड़े-बड़े जहाजोंका बनाना भी जानते थे। जहाजोके उपयोगका वर्णन वेदोमें भी मिलता है। जहाजोंपर दूर-दूरके देशोंके साथ अच्छा व्यापार होता था।

जलयानोंसे आने-जानेवाले मालपर कर आदिकी व्यवस्था थी। पाश्चात्योंकी तरह यहाँके मल्लाह भी बड़े साहसी और यात्रामें निडर होते थे, किंतु पाश्चात्त्य शासकोकी कृपासे अन्यान्य कलाओकी तरह भारतमें यह कला भी बहुत क्षीण हो गयी है।

३३-सूत्र, सन आदि तन्तुओसे रसीका बनाना 'कला' है। ३४-अनेक तन्तुओंसे पटबन्ध (वस्त्रकी रचना) 'कला' है। यह कला भी बहुत प्राचीन समयसे भारतमें बडी उन्नत दशामे थी। भारतमे 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी'के शासनके पहले यहाँ ऐसे सुन्दर, मजबूत और महीन वस्त्र बनाये जाते थे, जिनकी बराबरी आजतक कोई दूसरा देश कर नहीं सका। 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के समयमे यहाँके वस्त्र-निर्माण एवं वस्त्र-निर्यातके व्यवसायको पाश्चात्त्य स्वार्थी व्यापारियोने कई उपायोसे नष्ट कर दिया।

३५-रत्नोकी पहचान और उनमे वेध (छिद्र) करनेकी क्रियाका ज्ञान 'कला' है। प्राचीन समयसे ही अच्छे-बुरे रत्नोकी पहचान तथा उनके धारण करनेसे होनेवाले शुभाशुभ फलका ज्ञान यहाके लोगोको था। ग्रहोके अनिष्ट फलोको रोकनेके लिये विभिन्न रत्नोको धारण करनेका शास्त्रोने उपदेश किया है। उसके अनुसार रत्नोको धारण करनेका फल आज भी प्रत्यक्ष दिखलायी देता है। पर आज तो भारतवर्षकी यह स्थिति है कि अधिकांश लोगोंको उन रत्नोका धारण करना तो दूर रहा, दर्शन

भी दुर्लभ है ।

३६-सुवर्ण, रजत आदिके याथात्म्य (असलीपन) का जानना 'कला' है । ३७-नकली सोने-चाँदी और हीरे-मोती आदि रत्नोके निर्माण करनेका विज्ञान 'कला' है । पुराने किमियागरोकी बातें सुननेमे आती हैं । वे कई वस्तुओके योगसे ठीक असली-जैसा सोना-चाँदी आदि बना सकते थे । अब तो केवल उनकी बाते ही सुननेमे आती हैं । रत्न भी प्राचीनकालमे नकली बनाये जाते थे । मिश्रीसे ऐसा हीरा बनाते थे कि अच्छे जौहरी भी उसे जल्दी नही पहचान सकते थे । इससे मालूम होता है कि 'इमिटेशन' हीरा आदि रत्न तथा 'कलचर' मोतियोका आविष्कार पाश्चात्त्योने कुछ नया निकाला हो— यह बात नहीं है । किंतु यह भी मानना ही पड़ेगा कि उस समय इन नकली वस्तुओका व्यवसाय आजकलकी तरह अधिक विस्तृत नहीं था । देशके सम्पन्न होनेके कारण उन्हे नकली वस्तुओसे अपनी शोभा बढ़ानेकी आवश्यकता ही क्या थी । पर आजकी स्थिति कुछ और है, इसीसे इन पदार्थोंका व्यवहार अधिक बढ़ गया है । ३८-सोने-चाँदीके आभूषण बनाना एवं लेप (मुलम्मा) आदि (मीनाकारी) करना 'कला' है—

स्वर्णाद्यलंकारकृतिः कलालेपादिसत्कृतिः ।

३९-चमड़ेको मुलायम करना और उससे आवश्यक उपयोगी सामान तैयार करना एवं ४०—पशुओके शरीरपरसे चमड़ा निकालकर अलग करना 'कला' है—

मार्दवादिक्रियाज्ञानं चर्मणां तु कला स्मृता ।
पशुचर्माङ्गनिर्हारक्रियाज्ञानं कला स्मृता ॥

आज तो यह कला भारतके लोगोके हाथसे निकलकर विदेशियोके हाथमे चली गयी है । यहाँ केवल हरिजनोके घरोमे कुछ अवशिष्ट रही है, किंतु वे भी चमड़ोको कमाकर विदेशियोके समान उन्हे मुलायम करना नहीं जानते ।

४१-गौ, भैंस आदिको दुहनेसे लेकर दही जमाना, मथना, मक्खन निकालना तथा उससे घी बनानेतककी सब क्रियाओका जानना 'कला' है । इसे पढ़कर हृदयमे दुःखकी एक टीस उठ जाती है । वह भारतका सौभाग्य-काल कहाँ जब घर-घरमे अनेक गौओका निवास था, प्रत्येक मनुष्य इस कलासे अभिज्ञ होता था और कहाँ वह श्रीकृष्णके समयका व्रज-वृन्दावनका दृश्य और कहाँ आज बड़े-बड़े शहरोंके पास बने बूचड़खानोंमे प्रतिदिन हजारोकी संख्यामें वध किये जानेवाली गौमाता और उनके बच्चोका करुण-क्रन्दन ।

४२-कुर्ता आदि कपड़ोको सीना 'कला' है—

सीवने कंचुकादीनां विज्ञानं तु कलात्मकम् ।

४३-जलमे हाथ, पैर आदि अङ्गोसे विविध प्रकारसे तैरना 'कला' है । तैरनेके साथ-साथ डूबते हुएको कैसे बचाना चाहिये, थका या डूबता हुआ व्यक्ति यदि उसे बचानेके लिये आये व्यक्तिको पकड ले तो वैसी स्थितिमे किस तरह उससे अपनेको छुड़ाकर और उसे लेकर किनारेपर पहुँचना चाहिये आदि बातोका जानना भी बहुत आवश्यक है ।

४४-घरके बर्तनोको माँजनेका ज्ञान 'कला' है । पहले यह काम घरकी स्त्रियाँ ही करती थी, आज भी कई घरोमे यही चाल है, परंतु अब बडे घरानोकी स्त्रियाँ इसमे अपना अपमान समझती हैं । ४५-वस्त्रोका सम्मार्जन (अच्छी तरह धोकर साफ करना) 'कला' है । ४६-क्षुरकर्म (हजामत बनाना) 'कला' है । आजकल यह बड़ी उन्नतिपर है । गङ्गा-यमुनाके घाटो, बाजारोमे चले जाइये, आपको इस कलाका उदाहरण प्रत्यक्ष देखनेको मिल जायगा । कोई पढ़ा-लिखा आधुनिक सभ्य पुरुष प्रायः ऐसा न मिलेगा, जिसके आह्निकमे अपना 'क्षुरकर्म' सम्मिलित न हो—

वस्त्रसम्मार्जनं चैव क्षुरकर्म ह्युभे कले ।

४७-तिल, तीसी, रेड़ी आदि तिलहन पदार्थोमेंसे तेल निकालनेकी कृति 'कला' है । ४८-हल चलाना जानना और ४९-पेड़ोपर चढना जानना भी 'कला' है । हल चलाना तो कृषिका प्रधान अङ्ग ही है । पेड़ोपर चढ़ना भी एक 'कला' ही है । सभी केवल चाहनेमात्रसे ही पेड़ोपर चढ़ नही सकते । खजूर, ताड़, नारियल, सुपारी आदिके पेडोपर चढ़ना कितना कठिन है—इसे देखनेवाला ही जान सकता है । इसमें जरा-सी भी असावधानी होनेपर मृत्यु यदि न हो तो भी अङ्ग-भङ्ग होना मामूली बात है ।

५०-मनोऽनुकूल (दूसरेकी इच्छाके अनुसार उसकी) सेवा करनेका ज्ञान 'कला' है । राजसेवक, नौकर, शिष्य आदिके लिये इस कलाका जानना परमावश्यक है । इस कलाको न जाननेवाला किसीको प्रसन्न नही कर सकता ।

५१-बाँस, ताड़, खजूर, सन आदिसे पात्र (टोकरी, झाँपी आदि) बनाना 'कला' है । ५२-काँचके वरतन आदि सामान बनाना 'कला' है ।

५३-जलसे संसेचन (अच्छी तरहसे खेतोको सींचना) और ५४-संहरण (अधिक जलवाली या दलदलवाली भूमिसे जलको बाहर निकाल डालना अथवा दूरसे जलको आवश्यक स्थानपर ले आना) 'कला' है । ५५-लोहेके अस्त्र-शस्त्र बनानेका ज्ञान 'कला' है । ५६-हाथी, घोड़े, बैल और ऊँटोंकी पीठपर सवारीके उपयुक्त पल्याण (जीन, काठी) बनाना 'कला' है । ५७-शिशुओका संरक्षण (पालन) और ५८-धारण (पोषण) करना एवं ५९-बच्चोके खेलनेके लिये तरह-तरहके खिलौने बनाना 'कला' है—

शिशोः संरक्षणे ज्ञानं धारणे क्रीडने कला ।

६०-अपराधियोको उनके अपराधके अनुसार ताड़न (दण्ड) देनेका ज्ञान 'कला' है । ६१-भिन्न-भिन्न देशोकी लिपिको सुन्दरतासे लिखना 'कला' है । भारत इस कलामे बहुत उन्नत था । ऐसे सुन्दर अक्षर लिखे जाते थे कि उन्हे देखकर आश्चर्य होता है । लिखनेके लिये स्याही भी ऐसी सुन्दर बनती थी कि सैकडो वर्षोंकी लिखी हुई पुस्तके आज भी नयी-सी मालूम होती हैं । छापनेके प्रेस, टाइपराइटर आदि साधनोका उपयोग होता जा रहा है, जिससे लोगोके अक्षर बिगडते जा रहे हैं । स्थिति यहाँतक आ पहुँची है कि लोगोको अपनेसे लिखा हुआ अपनेसे नहीं पढा जा सकता । पहले यह कला इतनी उन्नत थी कि महाभारत-जैसा सवा लाख श्लोकोका विशाल ग्रन्थ आदिसे अन्ततक एक ही साँचेके अक्षरोमे लिखा हुआ देखनेमें आता है । कहीं एक अक्षर भी छोटा-बडा नही हो पाया है, स्याही भी एक-जैसी ही है—न कही गहरी न पतली । विशेष आश्चर्य तो यह है कि सारी पुस्तकमे न तो एक अक्षर गलत लिखकर कहीं काटा हुआ है न कही कोई धब्बा ही है ।

६२-पानकी रक्षा करना—ऐसा उपाय करना कि जिससे पान बहुत दिनोतक सूखने न पाये, न गले-सड़े, 'कला' है । आज भी बहुत-से ऐसे तमोली है, जो मगही पानको महीनोतक ज्यों-का-त्यो रखते है, इस तरह ये ६२ कलाएँ अलग-अलग हैं, किंतु दो कलाएँ ऐसी है जिन्हें सब कलाओका प्राण कहा जाता है । ये ही सब कलाओंके गुण भी कही जा सकती हैं । इन दोनोंमें पहली है—६३ आदान और दूसरी ६४-प्रतिदान । किसी कामको करनेमें आशुकारित्व (जल्दी-फुर्तीसे करना) 'आदान' कहा जाता है और उस कामको चिरकाल (बहुत समय) तक करते रहना 'प्रतिदान' है । विना इन दो गुणोंके कोई भी कला अधिक उपयुक्त नही हो सकती । इस तरह ६४ कलाओंका यह संक्षिप्त विवरण है ।

यह पाठ्यक्रम कितना व्यापक है, इसमें प्रायः सभी विषयोका समावेश हो जाता है । शिक्षाका यह उद्देश्य माना जाता है कि उससे ज्ञानकी वृद्धि हो, सदाचारमें प्रवृत्ति हो और जीविकोपार्जनमे सहायता मिले । इस क्रममें इन तीनोका ध्यान रखा गया है । इतना ही नहीं, पारलौकिक कल्याण भी नहीं छोड़ा गया है । संक्षेपमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको ध्यानमे रखकर ही शिक्षाका यह क्रम निश्चित किया गया है । इससे पता लगता है कि उस समयकी शिक्षाका आदर्श कितना उच्च तथा व्यावहारिक था । श्रीकृष्णचन्द्रको इन सभी विषयोकी पूरी शिक्षा दी गयी थी और वे प्राय· सभीमे प्रवीण थे । अर्जुन नृत्यकला और नल, भीम आदि पाकविद्यामे निपुण थे । परशुराम, द्रोणाचार्य-सरीखे ब्राह्मण धनुर्वेदमे दक्ष थे । इससे जान पडता है कि गुरुकुलोमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योके बालकोंको प्राय. इन सभी विषयोकी थोड़ी-बहुत शिक्षा दी जाती रही होगी । परंतु इस शिक्षासे ऐसा न हो कि जो काम जिसके जीमें आया करने लगा, जैसा कि आजकल होता है— इसका भी ध्यान रखा गया था; क्योंकि ऐसा होनेसे सारी समाज-व्यवस्था ही बिगड़ जाती, श्रेणी-संघर्ष और बेकारीकी उत्पत्ति होती, जैसा कि आजकल देखनेमें आ रहा है । सब मनुष्योंका स्वभाव एक-सा नहीं होता, किसीकी प्रवृत्ति

किसी ओर तो किसीकी किसी ओर होती है। जिसकी जिस ओर प्रवृत्ति होती है, उसीमे अभ्यास करनेसे कुशलता प्राप्त होती है। इसीलिये शुक्राचार्यने लिखा है—

यां यां कलां समाश्रित्य निपुणो यो हि मानवः।
नैपुण्यकरणे सम्यक् तां तां कुर्यात् स एव हि॥

वंशागत कलाके सीखनेमे कितनी सुगमता होती है, यह प्रत्यक्ष है। एक बढ़ईका लड़का बढ़ईगिरी जितनी शीघ्रता और सुगमताके साथ सीखकर उसमे निपुण हो सकता है, उतना दूसरा नहीं, क्योंकि वंश-परम्परा और बालकपनसे ही उसके उस कलाके योग्य संस्कार बन जाते हैं। इन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोके आधारपर प्राचीन शिक्षा-क्रमकी रचना हुई थी।

क्या ही अच्छा होता, यदि हमारे शिक्षा-आयोजकोका ध्यान एक बार हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धतिकी ओर भी जाता।

भारतकी प्राचीन वैमानिक कला

वर्तमान समयमे कुछ दिन पूर्व वैमानिक कला प्राय लुप्त-सी हो गयी थी। बादमे पाश्चात्त्य विद्वानोके बुद्धिविकाससे विमान फिर इस संसारमे दिखायी देने लगे। कहा जाता है कि विमान नामकी कोई वस्तु पहले नही थी, अपितु पक्षियोको आकाशमें उडते देखकर भारतीयोकी यह निरी कपोल-कल्पना थी कि विमान नामकी कोई वस्तु पहले देशमे थी, जो आकाशमे उड़ती थी एवं जिसका उल्लेख रामायणादि ग्रन्थोमे पाया जाता है। महर्षि कर्दमके विमानके विषयमे भी उनकी यही धारणा है, किंतु आज भी हमारे समक्ष उदाहरणार्थ एक ऐसा ग्रन्थरत्न उपस्थित है, जिससे यह मानना पडेगा कि विमानके विषयमे हमारे पूर्वजोने जिस उच्च कोटिका वैज्ञानिक तत्त्व ढूँढ निकाला था, उसे आज भी पाश्चात्त्य विज्ञानवेत्ता खोज निकालनेमे असमर्थ ही है। वह ग्रन्थ है प्राचीनतम महर्षि भारद्वाजका बनाया हुआ 'यन्त्रसर्वस्व'।

यह ग्रन्थ बड़ौदा राज्यके पुस्तकालयमे हस्तलिखित रूपमें वर्तमान है, जो कुछ खण्डित है। उसका 'वैमानिक प्रकरण' बोधानन्दकी बनायी हुई वृत्तिके साथ छप चुका है। इसके पहले प्रकरणमे प्राचीन विज्ञान-विषयके पचास ग्रन्थोकी एक सूची है, जिनमे अगस्त्यकृत 'शक्तिसूत्र', ईश्वरकृत 'सौदामिनी कला', भारद्वाजकृत 'अंशुमत्तन्त्र', 'आकाश-शास्त्र' तथा 'यन्त्रसर्वस्व', शाकटायनकृत 'वायुतत्त्वप्रकरण', नारदकृत 'वैश्वानरतन्त्र' एवं 'धूमप्रकरण' आदि हैं। वृत्तिकार बोधानन्द लिखते है—

निर्मथ्य तद्वेदाम्बुधिं भारद्वाजो महामुनिः।
नवनीतं समुद्धृत्य यन्त्रसर्वस्वरूपकम्॥
प्रायच्छत् सर्वलोकानामीप्सितार्थफलप्रदम्।
तस्मिन् चत्वारिंशतिकाधिकारे सम्प्रदर्शितम्॥
नानाविमानवैचित्र्यरचनाक्रमबोधकम्।
अष्टाध्यायैर्विभजितं शताधिकरणैर्युतम्॥
सूत्रैः पञ्चशतैर्युक्तं व्योमयानप्रधानकम्।
वैमानिकाधिकरणमुक्तं भगवता स्वयम्॥

अर्थात् 'भारद्वाज महामुनिने वेदरूपी समुद्रका मन्थन कर 'यन्त्रसर्वस्व' नामका ऐसा मक्खन निकाला है, जो मनुष्यमात्रके लिये इच्छित फल देनेवाला है। उसमे उन्होने चालीसवे अधिकरणमे वैमानिक प्रकरण कहा है। जिस प्रकरणमे विमानविषयक रचनाके क्रम कहे गये हैं, वह आठ अध्यायोमे विभक्त है तथा उसमे एक सौ अधिकार और पॉच सौ सूत्र है। उसमे विमानका विषय ही प्रधान है।'

एवं विधाय विधिवन्मङ्गलाचरणं मुनिः।
पूर्वाचार्यांश्च तद्ग्रन्थान् द्वितीयश्लोकतोऽब्रवीत्॥
विश्वनाथोक्तनामानि तेषां वक्ष्ये यथाक्रमम्।
नारायणः शौनकश्च गर्गो वाचस्पतिस्तथा॥
चाक्रायणिर्धुण्डिनाथश्चेति शास्त्रकृतः स्वयम्।
विमानचन्द्रिका व्योमयानतन्त्रस्तथैव च॥

यन्त्रकल्पो यानविन्दुः खेटयानप्रदीपिका ।
तथैव व्योमयानार्कप्रकाशश्चेति षट् क्रमात् ।
नारायणादिमुनिभिः प्रोक्तानि ज्ञानवित्तमैः ॥

अर्थात् 'भारद्वाज मुनिने इस तरह विधानपूर्वक मङ्गलाचरण करके दूसरे श्लोकमे विमानशास्त्रके पूर्वाचार्यो तथा उनके बनाये हुए ग्रन्थोके नाम भी कहे हैं । उनके नाम विश्वनाथके कथनानुसार इस प्रकार हैं—नारायण, शौनक, गर्ग, वाचस्पति, चाक्रायणि और धुण्डिनाथ । ये छः ग्रन्थकार हैं तथा विमानचन्द्रिका, व्योमयानतन्त्र, यन्त्रकल्प, यानबिन्दु, खेटयानप्रदीपिका और व्योमयानार्कप्रकाश—ये छ. क्रमसे इनके बनाये हुए ग्रन्थ हैं ।'

विमानकी परिभाषा बतलाते हुए कहा गया है—

पृथिव्यप्स्वन्तरिक्षेषु खगवद्वेगतः स्वयम् ।
यः समर्थो भवेद् गन्तुं स विमान इति स्मृतः ॥

अर्थात् 'जो पृथ्वी, जल और आकाशमे पक्षियोके समान वेगपूर्वक चल सके, उसका नाम विमान है।'

'रहस्यज्ञोऽधिकारी ।' (भारद्वाज-सूत्र अ० १, सू० २) वृत्ति—

वैमानिकरहस्यानि यानि प्रोक्तानि शास्त्रतः ।
द्वात्रिंशदिति तान्येव यानयन्तृत्वकर्मणि ॥
एतेन यानयन्तृत्वे रहस्यज्ञानमन्तरा ।
सूत्रेऽधिकारसंसिद्धिर्नेति सूत्रेण वर्णितम् ॥
विमानरचने व्योमारोहणे चालने तथा ।
स्तम्भने गमने चित्रगतिवेगादिनिर्णये ॥
वैमानिकरहस्यार्थज्ञानसाधनमन्तरा ।
यतोऽधिकारसंसिद्धिर्नेति सम्यग्विनिर्णितम् ॥

विमानके रहस्योको जाननेवाला ही उसके चलानेका अधिकारी है । शास्त्रोंमे जो बत्तीस वैमानिक रहस्य बतलाये गये हैं, विमान-चालकोंको उनका भलीभाँति ज्ञान रखना परम आवश्यक है और तभी वे सफल चालक कहे जा सकते हैं । सूत्रके अर्थसे यह सिद्ध हुआ कि रहस्य जाने बिना मनुष्य यान चलानेका अधिकारी नहीं हो सकता; क्योंकि विमान बनाना, उसे जमीनसे आकाशमे ले जाना, खड़ा करना, आगे बढ़ाना, टेढ़ी-मेढ़ी गतिसे चलाना या चक्कर लगाना और विमानके वेगको कम अथवा अधिक करना आदि वैमानिक रहस्योंका पूर्ण अनुभव हुए बिना यान चलाना असम्भव है । विमान चलानेके जो बत्तीस रहस्य कहे गये हैं, उनमेंसे कुछ रहस्योका यहाँ संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जा रहा है, जिनके द्वारा यह ज्ञात होता है कि पाश्चात्त्य विद्वानोंकी वैज्ञानिक कला भारतकी प्राचीन वैज्ञानिक कलासे कितनी पिछड़ी हुई है ।

(३) **'कृतकरहस्यो नाम विश्वकर्मछायापुरुषमनुमयादिशास्त्रानुष्ठानद्वारा तत्तच्छक्त्यनुसंधानपूर्वकं तात्कालिकसङ्कल्पानुसारेण विमानरचनाक्रमरहस्यम् ।'**

अर्थात् 'उन बत्तीस रहस्योमेसे यह 'कृतक' नामका तीसरा रहस्य है । विश्वकर्मा, छायापुरुष, मनु, मयदानव आदि विमानशास्त्रकारोंके बनाये हुए शास्त्रोंका अनुशीलन करनेसे उन-उन धातु-क्रिया आदिमे जो सामर्थ्य है, उसका अनुभव होनेपर इच्छानुसार नवीन विमानकी रचना करनी चाहिये ।'

(५) **'गूढरहस्यो नाम वायुतत्त्वप्रकरणोक्तरीत्या वातस्तम्भाष्टमपरिधिरेखापथस्य यासावियासाप्रयासादिवातशक्तिभिः सूर्यकिरणान्तर्गततमश्शक्तिमाकृष्य तत्संयोजनद्वारा विमानाच्छादनरहस्यम् ।'**

अर्थात् 'गूढ' नामक पाँचवाँ रहस्य है । वायुतत्त्वप्रकरणमे कही गयी रीतिके अनुसार वातस्तम्भकी जो आठवीं परिधिरेखा है, उस मार्गकी यासा, वियासा, प्रयासा आदि वायु-शक्तियोके द्वारा सूर्य-किरणमें रहनेवाली जो अन्धकार-शक्ति है, उसका आकर्षण करके विमानके साथ उसका सम्बन्ध करानेपर विमान छिप जाता है ।'

(९) **'अपरोक्षरहस्यो नाम शक्तितन्त्रोक्तरोहिणीविद्युत्प्रसारणेन विमानाभिमुखस्थवस्तूनां प्रत्यक्षनिदर्शनक्रियारहस्यम् ।'**

अर्थात् 'अपरोक्ष' नामक नवे रहस्यके अनुसार शक्तितन्त्रमे कही गयी रोहिणी-विद्युत् (कोई विशेष प्रकारकी बिजली)के फैलानेसे विमानके सामने आनेवाली वस्तुओको प्रत्यक्ष देखा जा सकता है ।'

(२२) **'सार्पगमनरहस्यो नाम दण्डवक्रादिसप्तविध-**

मातरिश्वार्ककिरणशक्तीराकृष्य यानमुखस्थवक्रप्रसारण-केन्द्रमुखे नियोज्य पश्चात्तदाहृत्य शक्त्युद्गमननाले प्रवेशयेत् । ततः तत्कीलीचालनाद्विमानस्य सर्पवद्गमन-क्रियारहस्यम् ।'

अर्थात् 'सार्पगमन' नामक बाईसवे रहस्यके अनुसार दण्ड, वक्र आदि सात प्रकारके वायु और सूर्य-किरणोकी शक्तियोका आकर्षण करके यानके मुखमे जो तिरछे फेकनेवाला केन्द्र है, उसके मुखमे उन्हे नियुक्त करके पश्चात् उसे खीचकर शक्ति पैदा करनेवाले नालमे प्रवेश कराना चाहिये, तब उसके बटन दबानेसे विमानकी गति सॉपके समान टेढ़ी हो जाती है ।'

(२५) **'परशब्दग्राहकरहस्यो नाम सौदामनीकलोक्त-प्रकारेण विमानस्थशब्दग्राहकयन्त्रद्वारा परविमानस्थ-जनसंभाषणादिसर्वशब्दाकर्षणरहस्यम् ।'**

अर्थात् 'परशब्दग्राहक' नामक पचीसवे रहस्यके अनुसार 'सौदामनी कला'मे कही गयी रीतिसे विमान-पर जो शब्दग्राहक-यन्त्र है, उसके द्वारा दूसरे विमानपरके लोगोकी बातचीत आदि शब्दोका आकर्षण किया जाता है ।'

(२६) **'रूपाकर्षरहस्यो नाम विमानस्थरूपाकर्षण-यन्त्रद्वारा परविमानस्थवस्तुरूपाकर्षणरहस्यम् ।'**

अर्थात् 'रूपाकर्ष' नामक छब्बीसवे रहस्यके अनुसार रूपाकर्षण-यन्त्रद्वारा दूसरे विमानमें रहनेवाली वस्तुओका रूप दिखलायी देता है ।'

(२८) **'दिक्प्रदर्शनरहस्यो नाम विमानमुखकेन्द्रे कीलीचालनेन दिशाम्पतियन्त्रनालपत्रद्वारा परयानागमन-दिक्प्रदर्शनरहस्यम् ।'**

अर्थात् 'दिक्प्रदर्शन' नामक अट्ठाईसवे रहस्यानुसार विमानके मुख-केन्द्रकी कीली (बटन) चलानेसे 'दिशाम्पति' नामक यन्त्रकी नलीमे रहनेवाली सुईद्वारा दूसरे विमानके आनेकी दिशा जानी जाती है ।'

(३१) **'स्तब्धकरहस्यो नाम विमानोत्तरपार्श्वस्थसंधि-मुखनालादपस्मारधूमं संग्राह्य स्तम्भनयन्त्रद्वारा तद्धूमप्रसारणात् परविमानस्थसर्वजनानां स्तब्धीकरण-रहस्यम् ।'**

अर्थात् 'स्तब्धक' नामक इकतीसवे रहस्यके अनुसार विमानकी बायीं बगलमे रहनेवाली 'संधिमुख' नामकी नलीके द्वारा 'अपस्मार' नामक (किसी विशेष छेदसे निकलनेवाले) धुएँको इकट्ठा करके स्तम्भनयन्त्रद्वारा दूसरे विमानपर फेकनेसे उस दूसरे विमानमे रहनेवाले सब व्यक्ति स्तब्ध (बेहोश) हो जाते है ।'

(३२) **'कर्षणरहस्यो नाम स्वविमानसंहारार्थ परविमानपरम्परागमने विमानाभिमुखस्थवैश्वानरनाला-न्तर्गतज्वालिनीप्रज्वालनं कृत्वा सप्ताशीतिलिङ्कप्रमाणोष्णं यथा भवेत् तथा चक्रद्वयकीलिचालनाच्छत्रुविमानोपरि वर्तुलाकारेण तच्छक्तिप्रसारणद्वारा शत्रुविमाननाशन-क्रियारहस्यम् ।'**

अर्थात् 'कर्षण' नामक बत्तीसवॉ रहस्य है । उससे अपने विमानका नाश करनेके लिये शत्रु-विमानोंके आनेपर विमानके मुखमें रहनेवाली 'वैश्वानर' नामकी नलीमें ज्वालिनी (किसी गैसका नाम)को जलाकर सत्तासी लिङ्क प्रमाण (लिङ्क डिग्रीकी तरह किसी मापका नाम है) गर्मीसे दोनो चक्कीकी कीली (बटन) चलाकर शत्रु-विमानोपर गोलाकारसे उस शक्तिको फैलानेसे शत्रुके विमान नष्ट होते हैं ।'

इस वैमानिक प्रकरणमे कहे गये ग्रन्थ और ग्रन्थकारोके नामसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वज विमान-शास्त्रमे अत्यन्त निपुण थे । इसके रहस्योको देखनेसे यह पता लगता है कि आजकल वैज्ञानिक विमानद्वारा जिन-जिन कलाओका उपयोग करते हैं, वे सभी कलाएँ तो उन लोगोके पास थीं ही, प्रत्युत जिन कलाओकी खोजमे आधुनिक वैज्ञानिक व्यस्त हैं या जिनकी कल्पना भी वे अभी नहीं कर पाये हैं, उन्हे भी हमारे पूर्वज जानते थे । नवे रहस्यसे यह पता लगता है कि दूरबीनकी तरह कोई दूरदर्शक यन्त्र उनके पास था । पचीसवे रहस्यसे यह सिद्ध होता है कि 'वायरलेस' रेडियो भी उनके पास था । अट्ठाईसवॉ रहस्य बतलाता है कि आजकलके वैज्ञानिकोकी तरह दूरसे प्रत्येक शत्रु-विमानका पता लगा लेनेकी कला भी उनके पास थी । बत्तीसवे रहस्यसे यह स्पष्ट है कि ये लोग गैस, बम आदिद्वारा शत्रु-संहार करते थे । छब्बीसवे रहस्यसे मालूम होता है कि आजके

वैज्ञानिकोंने टेलीफोन आदिपर बात करते समय आकृति दिखा देनेवाले जिस 'टेलिविजन' नामक यन्त्रका आविष्कार किया है, वह इससे अधिक चमत्कारिक रूपमें हमारे पूर्वजोंके पास था। इसमें जो विमानोंको अदृश्य करनेवाला पाँचवाँ रहस्य है तथा उसके सदृश अन्य कई रहस्य हैं जो विस्तारभयसे यहाँ उद्धृत नहीं किये गये हैं, उन सबके विषयमें आजके वैज्ञानिक अबतक सोच भी नहीं सके हैं।
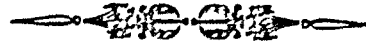
प्राचीन भारतमें मूर्तिकला

भारतीय विद्वानोंने पूर्ण परिश्रम करके भारतीय मूर्तिकलाका इतिहास तैयार किया है। विभिन्न समयकी मूर्तियोंकी रूप-रेखाका उन्होंने अध्ययन किया है और यह सिद्ध हो गया है कि एक समयकी मूर्तिका आकार-प्रकार दूसरे समयकी मूर्तिके आकार-प्रकारसे सर्वथा भिन्न है। मूर्तिको देखते ही यह कहा जा सकता है कि यह मूर्ति गुप्तकालीन है या चेदि-महाराजाओंके समयकी। भगवान् विष्णु या शंकरकी दो मूर्तियाँ कहीं रख दीजिये, तुरंत पहचान हो जायगी कि कौन-सी मूर्ति चौथी-पाँचवीं सदीकी गुप्तकालीन है और कौन मध्यकालीन ग्यारहवीं-बारहवीं सदीकी। पहचानमें भूल न होगी। दोनोंके चेहरेमें वैसा ही भेद प्रकट है, जैसा रामदास तथा शिवशंकरके चेहरोंमें है। अस्तु।

शिल्परत्न, विश्वकर्मशिल्प, समराङ्गणसूत्रधार, मत्स्य-विष्णुधर्मादि पुराणोंके अवलोकनसे सिद्ध है कि मूर्तिकलाका उत्तरोत्तर ह्रास ही हुआ है। कृष्ण एवं साम्बकालीन प्रतिमाएँ श्रेष्ठ थीं। शुंगकालीन तथा गुप्तकालीन मूर्तियाँ भी बड़ी मनोमोहक हैं। मध्यकालीन ग्यारहवीं-बारहवीं सदीतककी मूर्तियाँ भी बहुत अच्छी हैं। बादमें तो ह्रास ही हो गया—ऐसा मानना होगा।

भारतीय मूर्तिकलाके सम्बन्धमें हम सबका ज्ञान अति सीमित है। विद्यालयोंमें अथवा पुस्तकोंद्वारा कुछ विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती, कुछ विद्वानोंके साथ कुछ प्राचीन स्थलोंके देखनेसे ही कुछ ज्ञान हो पाता है। इस कारण इस लेखमें अखिल भारतीय उदाहरण न प्राप्त होकर मध्यभारतीय ही प्राप्त होंगे। अवश्य ही वे अखिल भारतीय कलाके प्रतीक हैं और अधिकांशमें अप्रकाशित है।

सबसे प्राचीन प्रस्तर-मूर्तियाँ भरहुत, बुद्धगया तथा सांचीकी मिलती हैं। ये ईसापूर्व तीसरी सदीकी मानी जाती हैं। ये भरहुत तथा सांचीके स्तूपोंके तथा बुद्धगयाके मन्दिरके परिक्रमापथकी बाड (परकोटा-रेलिंग) में थीं। सांचीका तो अधिकांश सुरक्षित है। भरहुत तथा बुद्धगयाका अल्पांश ही बचा है। इनमे भी भरहुतकला कुछ श्रेष्ठ है। इसके उदाहरण साथमें प्रकाशित हैं। यह बौद्धकला है शुंगकालीन। कमलके बीच रानीकी मूर्ति बड़ी सुन्दर है।

गुप्तकाल (चौथी-पाँचवीं सदी) भारतका सुवर्णयुग था। उस समयकी मूर्तियाँ भी बहुत सुन्दर थीं। वे पशु-पक्षियोंकी भी श्रेष्ठ मूर्तियाँ बनाते थे।

मध्यकाल (दसवींसे चौदहवीं सदीतक) की प्रारम्भिक कला अच्छी थी, परंतु इसके बाद यह नीचे स्तरमें आ गयी। हमारे पास इसके कई उदाहरण हैं।

आधुनिक पौराणिक मूर्तियोंके दर्शन तो नित्य मन्दिरोंमें मिलते ही हैं। उनमें केवल चेहरा ठीक बनानेका उद्योग किया जाता है। शेष शरीरको तो कारीगर किसी प्रकार भी सीधा-सादा गढ़ देता है। दर्जीकी कला उनकी कमीकी पूर्ति कर ही देगी। मूर्तिको तो कपडोंसे ढक ही दिया जायगा। इधर कुछ दिनोंसे कलामें पुनः उन्नति प्रारम्भ हुई है। रामवनकी श्रीमारुति-मूर्ति, जो आजसे प्रायः चालीस वर्ष पूर्व निर्मित हुई थी, इसका उदाहरण है।

हमारी मूर्तिकलाके क्रमिक ह्रासका कारण विचारणीय है। यह मिलता है निर्माणक्रममें। कहते हैं प्राचीन समयमें कारीगरोंके काफिले थे। उनका अपना चलता-फिरता समाज था। वे धनके लोभमे मूर्ति-निर्माण नहीं करते थे। जब कहीं मन्दिर बनवानेका निश्चय हुआ, तब इन

श्रीमारुति (सगमरमर प्रतिमा)

ग्राम्य देवता

भारहुतकी रानी (३०० ई० पूर्व)
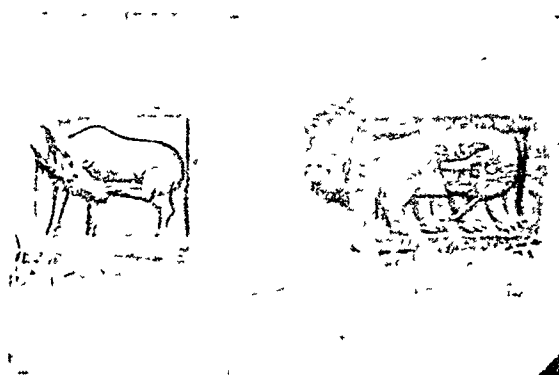
ईसापूर्वकी पशु-प्रतिमाएँ
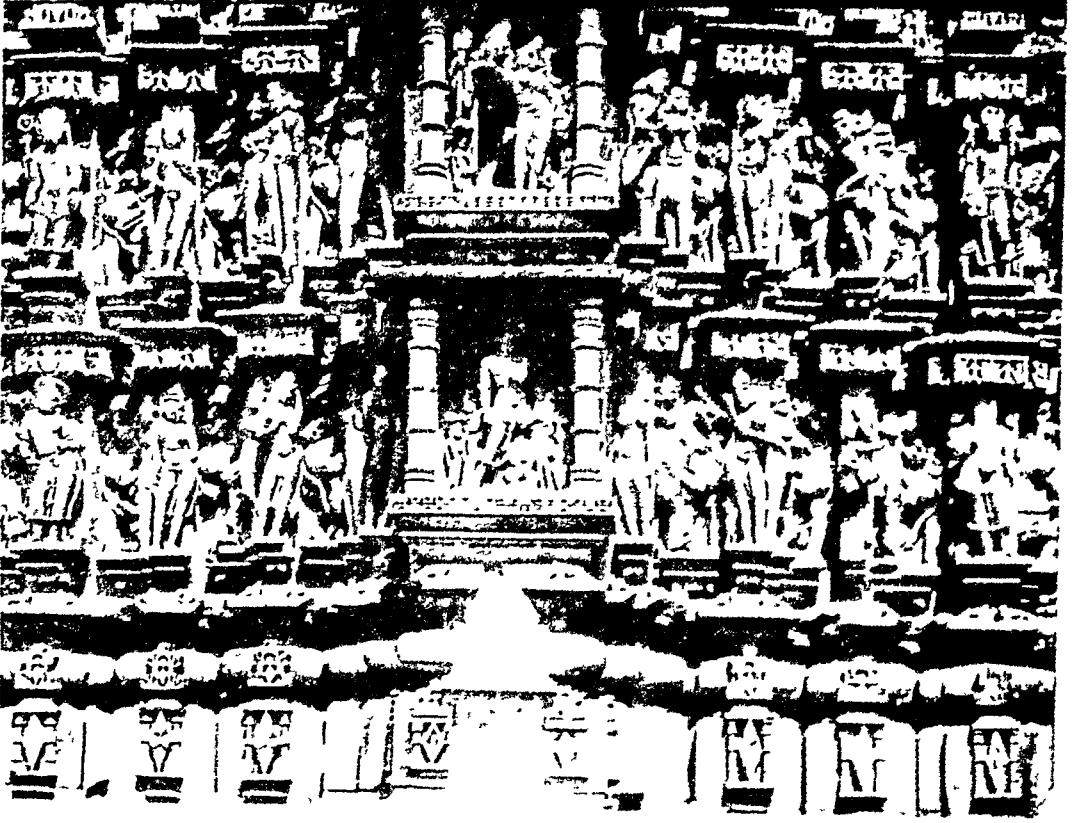
वामन-मन्दिर खजुराहो (पूर्वभित्तिकी कलाकृति)
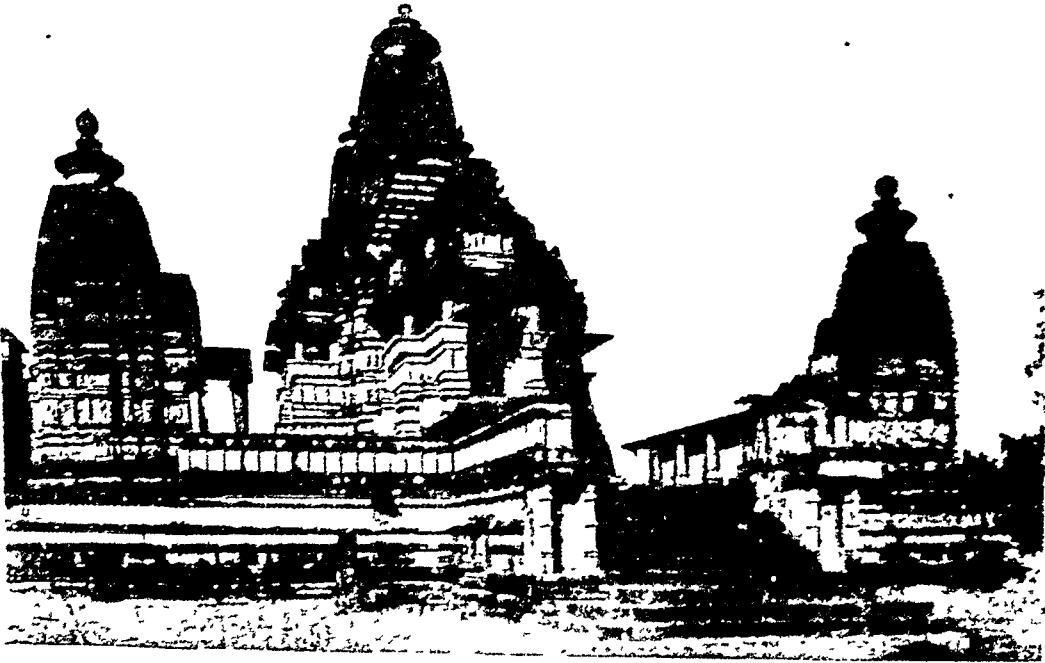
लक्ष्मण-मन्दिर, खजुराहो

समाजोसे बात की जाती थी। जो समाज खाली होता, वह आकर वहाँ बस जाता था। बनवानेवाले उनके रहने, भोजन, वस्त्र आदिका भार उठा लेते थे। प्रमुख कारीगर पूजा-पाठ-ध्यानमे लग जाते थे। अनुष्ठान आदि करने लगते थे। इस प्रकार उन्हे ध्यानमे देव-दर्शन होते थे। जो मूर्ति उनके सम्मुख प्रकट होती थी, उसीके अनुसार वे बनानेका उद्योग करते थे। जबतक कारीगरको देव-दर्शन प्राप्त नहीं होता था, तबतक वह ध्यान आदिमे ही लगा रहता था। बनवानेवाला यह नहीं कहता कि 'भाई! पाँच वर्ष बीत गये, तुमने एक दिन भी छेनी हाथमे नहीं ली। हम तुम्हारा वेतन क्यो दे?' वेतन? वेतनपर तो काम ही नहीं था। इस प्रकार धर्मात्मा कारीगरोकी बनायी मूर्तियाँ क्यो न कलामे उत्कृष्ट हो।

अब तो दैनिक वेतन या ठेकेपर मूर्तियाँ बनती हैं। जितनी जल्दी बने, उतना अधिक पैसा मिले। पैसे-जैसी निकृष्ट वस्तुसे जिसका मूल्य अङ्कित किया जाता है, वह उत्कृष्ट कैसे हो।

लेख समाप्त करनेके पूर्व मध्यकालीन मूर्तिकलाके स्वर्ग खजुराहोके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—खजुराहो विन्ध्यप्रदेशमे है। कहते है यहाँ ८४ मन्दिर थे। सम्भवतः २२ तो अब भी हैं। मन्दिर इतने विशाल और सुन्दर हैं कि एक-एकको देखते रहिये, मन न भरेगा। यहाँके कारीगरोंने अनेक स्थलोपर संवत् खोद दिये हैं। सं० १००० से १४०० तककी मूर्तियाँ यहाँ हैं। ४०० वर्षतक बराबर काम जारी रहा। राजनीतिक बाधाएँ न पडतीं तो सम्भवतः यहाँका कारीगर-समाज आगे भी काम करता जाता। साक्षात् कुबेरकी धनराशि भी ऐसे मन्दिर बनवा नहीं सकती। वे तो प्रेमसे ही बने हैं। राजकुलमे तो समस्त समाजके कुल खर्च तथा सम्मानकी ही व्यवस्था रही होगी।

देखिये खजुराहोका एक विशाल मन्दिर तथा उसके प्राङ्गणके कोनोके दो छोटे मन्दिर। यह लक्ष्मणजीके मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है। मन्दिर-निर्माणके शास्त्रीयक्रमका पालन खजुराहोमे किया गया है। उन्हे वर्णन करनेका यहाँ अवसर नहीं है। कुल मन्दिरोकी कुल दीवाले मूर्तिमय मिलेगी।

वामनजीके मन्दिरकी दीवालका एक छोटा-सा अंश भी चित्रमे देखिये। मन्दिरोके भीतर गर्भगृहके चारों ओरका परिक्रमा-पथ बहुधा इतना कम चौडा है कि दो आदमी एक साथ चल नहीं सकते। पर दोनो ओरकी दीवाले यहाँ भी मूर्तिमय हैं।

अपनी भग्न दशामे खजुराहो देशका माथा ऊँचे उठा रहा है और भारतीय संस्कृतिके नामपर गला फाड़नेवालोके लिये दो-चार जन्मतक अध्ययन करनेकी सामग्री प्रस्तुत कर रहा है। हमने ताजमहलको संसारके सप्त आश्चर्योमे गिन लिया है। खजुराहोको समझेगे, तब संसारका वह सर्वप्रथम महान् आश्चर्य माना जायगा। मुझे तो संदेह है कि स्वर्गीय कलाके स्थलको अभी किसीने देखा ही नहीं।

इस छोटेसे लेखमे रामवनमे संगृहीत दो-एक मूर्तियोका तथा खजुराहोमे स्थित कुछ मन्दिरोका अति सक्षिप्त वर्णन किया गया है। केवल विहंगम दृष्टिपात हुआ है। भारत देश बहुत बड़ा है। भारतीय मूर्तियोकी सुरक्षा तथा उनके प्रकाशनका प्रबन्ध हो जाय तो संसारको चकाचौधमे पड़ जाना पड़ेगा। शिक्षा और कलाके क्षेत्रमे इन मूर्तियोका कितना ऊँचा स्थान है, वह तो सहज ही समझा जा सकता है।

बुद्धि और विचारशीलतामे हिंदू सभी देशोसे ऊँचे है। गणित तथा फलित ज्योतिषमे उनका ज्ञान किसी भी अन्य जातिसे अधिक यथार्थ है। चिकित्साविषयक उनकी सम्मति प्रथम कोटिकी होती है।

—याकूबी (नवम शताब्दी)

भारतीय नौका-निर्माण-कला

(स्व॰ पं॰ श्रीगगाशंकरजी मिश्र)

इतिहास, पुराण तथा अपने यहाँके अन्य प्राचीन साहित्यमे बडे-बड़े जहाजोकी बहुत चर्चा आयी है। रामायण 'अयोध्याकाण्ड'मे ऐसी बड़ी-बडी नावोका उल्लेख है, जिनमें सैकड़ो कैवर्त योद्धा तैयार रहते थे—

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम्।
सन्नद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत्॥

'महाभारत'मे तो यन्त्र-संचालित नावोका भी वर्णन आया है—

सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्।

समुद्र-मार्गसे विभिन्न देशोसे बराबर व्यापार होता था। 'वाराह-पुराण' मे गोकर्ण वैश्यकी कथा आती है, जो विदेशोमे रत्नोका व्यापार किया करता था—

पुनस्तत्रैव गमने वणिग्भावे मतिर्गता।
समुद्रयाने रत्नानि महास्थौल्यानि साधुभिः॥

दण्डीके 'दशकुमारचरित'मे रत्नोद्भव वणिक्की कथा है, जिसका जहाज पटना जाते हुए डूब गया था—

ततः सोदरविलोकनकुतूहलेन रत्नोद्भवः कथञ्चिच्छ्रूरमनुनीय चपललोचनयानया सह प्रवहणमारुह्य पुरुषपुरमभिप्रतस्थे। कल्लोलमालिकाभिहतः पोतः समुद्राम्भस्यमज्जत।

दूसरा वणिक् मित्रगुप्त किसी द्वीपमे पहुँचा, वहाँ श्वान जैसे वराहको घेर लेते है, वैसे ही यवनोकी नावोने उसके जहाजको घेर लिया—

तावदतिजवा नौकाः श्वान इव वराहमस्मत्पोतं पर्यरुत्सत।

भर्तृहरिने लिखा है कि दुस्तर समुद्रको पार करनेमे जहाज काम देता है—**'पोतो दुस्तरवारिराशितरणे।'**

कौटिलीय 'अर्थशास्त्र'के 'नावध्यक्ष'-प्रकरणमे नौसेना और राज्यकी ओरसे नावोके प्रबन्धका पूरा विवरण मिलता है।

इन नावो और जहाजोकी निर्माण-कलापर ज्योतिषाचार्य वराहमिहिरकृत 'बृहत्संहिता' तथा भोजकृत 'युक्तिकल्पतरु' मे कुछ प्रकाश डाला गया है। 'वृक्ष-आयुर्वेद'के अनुसार वृक्षोमे भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार जातियाँ है। लघु तथा कोमल लकड़ी, जो सहजमे जोडी जा सके, ब्राह्मण-जातिकी मानी जाती है। क्षत्रिय-जातिकी लकड़ी हल्की और दृढ़ होती है। वह अन्य प्रकारकी लकडियोंसे जोड़ी नहीं जा सकती। वैश्य-जातिकी लकड़ी कोमल तथा भारी होती है और शूद्र-जातिकी लकडी दृढ़ तथा भारी होती है। जिनमे दो जातियोंके गुण पाये जाते है, वे 'द्विजाति' है—

लघु यत्कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत्।
दृढाङ्गं लघु यत्काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत्॥
कोमलं गुरु यत्काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते।
दृढाङ्गं गुरु यत्काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते॥
लक्षणद्वययोगेन द्विजातिः काष्ठसंग्रहः॥

भोजका कहना है कि क्षत्रिय-काष्ठकी बनी हुई नौका सुख-सम्पत्प्रद होती है—

क्षत्रियकाष्ठैर्घटिता भोजमते सुखसम्पदं नौका।

इसके बने हुए जहाज विकट जलमार्गोंमें काम दे सकते हैं—

अन्ये लघुभिः सुदृढैर्विदधति जलदुष्पदे नौकाम्।

दूसरी प्रकारकी लकड़ियोसे जो नौकाएँ बनायी जाती हैं, उनके गुण अच्छे नहीं होते। उनमे आराम नहीं मिलता। वे टिकाऊ भी नहीं होतीं, पानीमें उनकी लकड़ी सडने लगती है और साधारण भी धक्का लगनेपर वे फटकर डूब जाती है—

विभिन्नजातिद्वयकाष्ठजाता
न श्रेयसे नापि सुखाय नौका।
नैषा चिरं तिष्ठति पच्यते च
विभिद्यते झटिति मज्जते च॥

भोजने यह भी लिखा है कि जहाजोके पेदोके तख्तोको जोड़नेके लिये लोहेसे काम न लेना चाहिये; क्योंकि सम्भव है कि समुद्रकी चट्टानोमे कही चुम्बक हो

तो वह स्वभावतः लोहेको अपनी ओर खींचेगा, जिससे जहाजोंके लिये खतरा है—

न सिन्धुगाद्यार्हति लौहबन्धं
तल्लौहकान्तैर्ह्रियते च लौहम्।
विपद्यते तेन जलेषु नौका
गुणेन बन्धं निजगाद भोजः॥

'युक्तिकल्पतरु'मे आकार-प्रकार एवं लंबाई-चौड़ाईकी दृष्टिसे नौकाओंके कई प्रकार बतलाये गये हैं। नौकाओंके पहले तो दो विभाग किये गये है—एक 'सामान्य', जो साधारण नदियोमे चल सके और दूसरे 'विशेष', जो समुद्रयात्राका काम दे सके—

सामान्यश्च विशेषश्च नौकाया लक्षणद्वयम्।

लबाई-चौडाई और ऊँचाईका ध्यान रखते हुए क्षुद्रा, मध्यमा, भीमा, चपला, पटला, भया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भरा, मन्थरा—ये दस प्रकारकी सामान्य नावे बतलायी गयी हैं। क्षुद्राकी लंबाई १६, चौडाई ४ और गहराई या ऊँचाई ४ हाथ होनी चाहिये। इसी तरह इन सबकी नाप दी हुई है और मन्थराकी लबाई १२०, चौड़ाई ६० और ऊँचाई भी ६० हाथकी बतलायी गयी है। सबमे चौडाई और ऊँचाईकी एक ही नाप है—

राजहस्तमितायामा तत्पादपरिणाहिनी।
तावदेवोन्नता नौका क्षुद्रेति गदिता बुधैः॥
अतः सार्धमितायामा तदर्धपरिणाहिनी।
त्रिभागेनोत्थिता नौका मध्यमेति प्रचक्षते॥
क्षुद्राथ मध्यमा भीमा चपला पटला भया।
दीर्घा पत्रपुटा चैव गर्भरा मन्थरा तथा॥
नौकादशकमित्युक्तं राजहस्तैरनुक्रमम्।
एकैकवृद्धैः सार्धैश्च विजानीयाद् द्वयं द्वयम्॥
उन्नतिश्च प्रवीणा च हस्तादर्धांशलक्षिता॥

'विशेष'के भी दो विभाग किये गये है—दीर्घा और उन्नता। फिर दीघकि दीर्घिका, तरणि, लोला, गत्वरा, गामिनी, तरी, जघाला, प्लाविनी, धारिणी और वेगिनी—ये दस विभाग किये गये है। इनमे लंबाई अधिक है, पर चौड़ाई थोडी और गहराई उससे भी कम है। वेगिनीकी लंबाई १७६, चौड़ाई २२ और ऊँचाई १७$\frac{३}{५}$ हाथ बतलायी गयी है—

राजहस्तद्वयायामा अष्टांशपरिणाहिनी।
नौकेयं दीर्घिका नाम दशाङ्गेनोन्नतापि च॥
दीर्घिका तरणिर्लोला गत्वरा गामिनी तरिः।
जंघाला प्लाविनी चैव धारिणी वेगिनी तथा॥
राजहस्तैकैकवृद्ध्या नौकानामानि वै दश।
उन्नतिः परिणाहश्च दशाष्टांशमितौ क्रमात्॥

उन्नताके ऊर्ध्वा, अनूर्ध्वा, स्वर्णमुखी, गर्भिणी और मन्थरा—ये पॉच विभाग किये गये है। इनमे मन्थराकी ऊँचाई ४८ हाथतक रखी गयी है—

राजहस्तद्वयमिता तावत्प्रसरणोन्नता।
इयमूर्ध्वाभिधा नौका क्षेमाय पृथिवीभुजाम्॥
ऊर्ध्वानूर्ध्वा स्वर्णमुखी गर्भिणी मन्थरा तथा।
राजहस्तैकैकवृद्ध्या नामपञ्चत्रयं भवेत्॥

नौकाकी सजावटोका भी बहुत सुन्दर वर्णन आया है। सजावटमे सोना, चाँदी, ताँबा और तीनोको मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। चार शृङ्ग (मस्तूल)-वाली नौकाको श्वेत, तीनवालीको लाल, दोवालीको पीला और एकवालीको नीला रँगना चाहिये। नौकाओका मुख सिंह, महिष, सर्प, हाथी, व्याघ्र, पक्षी, मेढक या मनुष्यकी आकृतिका बनाया जा सकता है—

धात्वादीनामतो वक्ष्ये निर्णयं तरिसंश्रयम्।
कनकं रजतं ताम्रं त्रितयं वा यथाक्रमम्॥
ब्रह्मादिभिः परिन्यस्य नौकाचित्रणकर्मणि।
चतु.शृङ्गा त्रिशृङ्गाभा द्विशृङ्गा चैकशृङ्गिणी॥
सितरक्तापीतनीलवर्णान् दद्याद् यथाक्रमम्।
केसरी महिषी नागो द्विरदो व्याघ्र एव च॥
पक्षी भेको मनुष्यश्च एतेषां वदनाष्टकम्।
नावां मुखे परिन्यस्य आदित्यादिदशाभुवाम्॥

नावोके ऊपर कोठरी, कमरा आदि बनानेकी दृष्टिसे नावोके तीन भेद है—सर्व, मध्य और अग्रमन्दिरा—

सगृहा त्रिविधा प्रोक्ता सर्वमध्याग्रमन्दिरा।

जिनमे एक सिरेसे दूसरे सिरेतक मन्दिर वना हो, वे नावें सर्वमन्दिरा कहलाती है। ये राजाके कोप, अश्व, नारी आदि ले जानेके लिये होती है—

सर्वतो मन्दिरं यत्र सा ज्ञेया सर्वमन्दिरा।
राज्ञां कोषाश्वनारीणां यानमत्र प्रशस्यते॥

जिनके मध्यमें मन्दिर बना हो, वे मध्यमन्दिरा कहलाती हैं। ये राजाके सैर-सपाटेके काममे आती हैं और वर्षाकालके लिये बहुत उपयुक्त हैं—

मध्यतो मन्दिरं यत्र सा ज्ञेया मध्यमन्दिरा।
राज्ञां विलासयात्रादिवर्षासु च प्रशस्यते॥

जिनके आगेकी ओर मन्दिर बना हो, वे अग्रमन्दिरा कहलाती हैं। ये बड़ी-बड़ी नावें जहाजकी तरह होती हैं, जो लम्बी यात्रा और युद्धके लिये उपयुक्त हैं—

अग्रतो मन्दिरं यत्र सा ज्ञेया त्वग्रमन्दिरा।
चिरप्रवासयात्रायां रणे काले घनात्यये॥

मुसलमानोके शासनकालमे भी भारतमें बड़े-बडे जहाज बनते रहे। मार्को पोलो, जो तेरहवी शताब्दीमें भारत आया था, लिखता है कि 'जहाजोमे दोहरे तख्तोंकी जुड़ाई होती थी, लोहेकी कीलोंसे उन्हें सुदृढ बनाया जाता था और उनके छिद्रोंको एक प्रकारकी गोंदसे भरा जाता था। इतने बड़े जहाज होते थे कि उनमे तीन-तीन सौ मल्लाह लगते थे। एक-एक जहाजपर ५से ६ हजारतक बोरे लादे जा सकते थे। इनमे रहनेके लिये ऊपर कई कोठरियाँ बनी रहती थीं, जिनमें सब तरहके आरामका प्रबन्ध रहता था। जब पेदा खराब होने लगता था, तब उसपर लकडीका एक नया तह जड़ दिया जाता था। इस तरह कभी-कभी एकके ऊपर एक छः तहतक लगायी जाती थी।' पंद्रहवीं शताब्दीमे निकोलो कांटी नामक यात्री भारत आया था। वह लिखता है कि 'भारतीय जहाज हमारे जहाजोसे बहुत बडे होते है। उनका पेंदा तेहरे तख्तोका ऐसा बना होता है कि वह भयानक तूफानोका सामना कर सकता है। कुछ जहाज ऐसे बने होते हैं कि उनका एक भाग बेकार हो जानेपर बाकीसे काम चल जाता है।' वर्थमा नामक एक दूसरे यात्रीने कालीकटमे जहाजोंके बननेका वर्णन किया है। वह लिखता है कि 'लकड़ीके तख्तोंकी ऐसी जुड़ाई होती है कि उनमेंसे जरा भी पानी नही आता। जहाजोमे कभी दो-दो बादबान (पाल) सूती कपडेके लगाये जाते हैं कि जिनमे हवा खूब भर सके। लगर कभी-कभी पत्थरके भी होते थे। ईरानसे कन्याकुमारीतक आनेमें आठ दिनका समय लग जाता था।' समुद्रतटवर्ती राजाओंके पास जहाजोके बड़े-बड़े बेड़े रहते थे। देश-नदियोंमें चलनेवाले हजारों नावोके बेड़े होते थे। अकबरके नौ-विभागका अध्यक्ष 'मीर बहर' कहलाता था। छत्रपति शिवाजीका भी अपना जहाजी बेडा था, जिसका अध्यक्ष 'दरियासारङ्ग' कहलाता था। डॉ॰ राधाकुमुद मुकर्जीने अपनी 'इण्डियन शिपिङ्ग' नामक पुस्तकमें भारतीय जहाजोंका बड़ा रोचक, सप्रमाण इतिहास दिया है।

पाश्चात्योका जब भारतमे सम्पर्क हुआ, तब वे यहाँके जहाजोंको देखकर चकित रह गये। ब्रिटेनके जहाजी व्यापारी भारतीय नौ-निर्माणकलाका उत्कर्ष सहन न कर सके और वे 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' को भारतीय जहाजोंका उपयोग न करनेके लिये दबाने लगे। इस सम्बन्धमें कई बार जाँच की गयी। सन् १८११ ई॰ में कर्नल वाकरने आँकड़े देकर यह सिद्ध किया कि 'भारतीय जहाजोंमें बहुत कम खर्च पड़ता है और वे बड़े मजबूत होते हैं। यदि ब्रिटिश बेडेमें केवल भारतीय जहाज ही रखे जायँ तो बहुत बड़ी बचत हो सकती है।' जहाज बनानेवाले अंग्रेज कारीगर तथा व्यापारियोंको यह बात बहुत खटकी। डॉ॰ टेलर लिखता है कि 'जब हिंदुस्तानी मालसे लदा हुआ हिंदुस्तानी जहाज लंदनके बंदरगाहपर पहुँचा, तब जहाजोके अंग्रेज व्यापारियोंमें ऐसी घबराहट मची, जैसी कि आक्रमण करनेके लिये टेम्स नदीमें शत्रुपक्षके जहाजी बेडेको देखकर भी न मचती।' लंदन-बंदरगाहके कारीगरोंने सबसे पहले हो-हल्ला मचाया और कहा—'हमारा सब काम चौपट हो जायगा और हमारे कुटुम्ब भूखो मर जायँगे।'

सन् १८६३ ई॰मे भारतमे ऐसे कायदे-कानून बनाये गये, जिनसे यहाँकी प्राचीन नौका-निर्माणकलाका अन्त हो जाय। भारतीय जहाजोंपर लदे हुए मालकी चुंगी बढा दी गयी और इस तरह उन्हें व्यापारसे अलग करनेका प्रयत्न किया गया। सर विलियम डिगबीने ठीक ही लिखा है कि 'पाश्चात्त्य संसारकी रानीने इस तरह प्राच्य सागरकी रानीका वध कर डाला।'

सक्षेपमे भारतीय नौका-निर्माणकलाकी यही कहानी है।

भारतीय गान्धर्व-विद्या

भारतीय दर्शन एवं अध्यात्मविचारमे नादका स्थान अत्यन्त विलक्षण है। वाणी विचार-शक्तिका वाहन है। शब्दके बिना विचारका कोई भी अस्तित्व नहीं रहता—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्व शब्देन भासते॥

(वाक्यपदीय)

'लोकमे कोई भी प्रत्यय (ज्ञान) ऐसा नहीं, जो शब्दके बिना प्राप्य हो। प्रत्येक ज्ञान शब्दसे अनुविद्ध होता है।' शब्द इस लोक एवं परलोकका आधार है। यदि संसारको ईश्वरकी विचार-शक्तिका एक दृश्यस्वरूप मान लिया जाय तो इस दिव्य कल्पनाके स्पन्दनरूप नादको संसारके प्रादुर्भावका कारण मानना युक्तिसंगत है—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्।
स सर्वममृतं यच्च मर्त्यमिति श्रुतिः॥

'वाक्से समस्त (विश्व) भुवन उत्पन्न हुए। वाक्से अमृत एवं मर्त्य-संसारका प्रादुर्भाव हुआ।'

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।

(वाक्यपदीय)

'अनादि परम्परा जाननेवाले ऋषियोका कहना है कि संसार शब्दका परिणाम है।'

अपने विचार प्रकट करनेके लिये जीव शब्दका दो भिन्न प्रकारसे प्रयोग करता है। वे प्रकार है—वर्णरूप शब्द तथा गीतरूप शब्द। दोनो रूप भिन्न होते हुए भी एक ही आधारपर स्थित है, क्योंकि दोनोमे विचार एवं भाव प्रकट करनेके लिये ध्वनिका प्रयोग होता है। आधार एक ही होनेपर भी ध्वनिरूप स्पन्दनकी भिन्न विशेषताओका प्रयोग करनेसे दोनो शब्द भिन्न मार्ग माने जाते हैं।

प्राचीन एवं वर्तमान दृष्टि

प्राचीन भारतीय दार्शनिकोंका कहना है कि भाषा एव संगीत एक ही विद्याके दो अंश हैं। दोनोके शास्त्रकार प्रायः एक ही हैं। आधुनिक विद्वानोने प्रायः शब्द, नाद, ध्वनि आदिके विषयमे बहुत विचार नहीं किया। शब्दका रहस्य बिना समझे वे प्राचीन आचार्योंके मतको कपोल-कल्पना मानते है और स्वर, वर्ण आदि देवता, जन्मभूमि, रंग आदिके रहस्यपर विचार करनेका प्रयत्न अपनी विद्वत्ताके योग्य नहीं मानते। इन विषयोपर गम्भीर विचार करनेसे विदित होता है कि इनमे कल्पना लेशमात्र भी नहीं है। संसारका रहस्य समझनेके लिये वे एक उत्तम विद्याके पथप्रदर्शक हैं। नादके आधारस्वरूप एवं कार्यको समझनेसे विचार-शक्तिका तत्त्व एवं इस तत्त्वसे दृश्य अर्थोके सम्बन्धका रहस्य खुल सकता है।

गान्धर्व-शास्त्र

व्याकरण एवं संगीतका आधारभूत तत्त्व गान्धर्ववेदका विषय था, परंतु आज वह लुप्त माना जाता है। फिर भी व्याकरणाचार्यो एवं संगीताचार्योके प्राप्त ग्रन्थोमे नाद एवं ध्वनिके विषयमे बहुत विचार मिलते है, जिनसे इस विद्याके सिद्धान्त समझमे आ सकते हैं।

आधुनिक लोग भाषा एवं सगीतका अर्थ सांकेतिक मानते हैं। वे नही जानते कि शब्द एवं अर्थका वास्तविक सम्बन्ध है। उनके मतमे किसी वस्तुका नाम किसीने बिना कारण एक समय दे दिया है। लोगोने उसे याद कर लिया, इसलिये वह उस वस्तुका नाम हो गया। वैसे ही संगीतमे अभ्याससे हमलोगोमे भिन्न हास्य या करुण-भाव उत्पन्न करते हैं।

प्राचीन शास्त्रकार इस मतके अत्यन्त विरुद्ध हैं, उनका कहना है कि स्पन्दनरूप वस्तु एवं स्पन्दनरूप शब्दके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसलिये प्रत्येक अर्थके लिये एक शब्द होता है। इस शब्दमे वह अर्थ उत्पन्न करनेकी शक्ति भी रहती है। यह मन्त्रोंका रहस्य है। यदि इस शब्दके उच्चारणमें अशुद्धि आ जाय तो वह केवल सांकेतिक रहता है। यही वात संगीतके विषयमे भी है। स्वर-श्रुति आदिका एक स्वाभाविक अर्थ

है, जिससे रस उत्पन्न होता है। फिर भी स्वरोंकी अशुद्धि होनेपर लोग इसमें स्मृतिके बलसे कुछ अर्थ लगाते हैं, परंतु ऐसे गान सर्वसाधारणको नीरस विदित होंगे।

शब्द एवं स्वरोका स्वाभाविक अर्थ होना मन्त्र एवं रागका कारण है। जप एवं संगीतका अभ्यास मोक्षके सरल साधन माने जाते हैं, परंतु फल देनेके लिये उनका उच्चारण शुद्ध होना चाहिये—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति ३। ११५)

'जो वीणा-वादनका तत्त्व जाननेवाला है, श्रुतियोंकी जाति पहचाननेमें निपुण है और तालोका ज्ञाता है, वह बिना परिश्रम ही मोक्षको पा लेता है।'

शब्द ब्रह्म सगुण ब्रह्म है, वह प्रपञ्चका कारण माना जाता है तथा सगुण-निर्गुणका मार्ग होनेसे मोक्षका साधन बनता है।

अतो गीतप्रपञ्चस्य श्रुत्यादेस्तत्त्वदर्शनात्।
अपि स्यात्सच्चिदानन्दरूपिणः परमात्मनः॥
प्राप्तिः प्रभाप्रवृत्तस्य मणिलाभो यथा भवेत्।
प्रत्यासन्नतयात्यन्तम् . . . . ॥

'गीतकी श्रुति आदिके तत्त्व-दर्शनसे सच्चिदानन्द परमात्माकी प्राप्ति वैसे ही हो जाती है, जैसे अग्निशिखाके उद्देश्यसे प्रवृत्त पुरुषको मणिलाभ होता है।'

शब्द-रहस्यसे सम्बन्धित शास्त्र-ग्रन्थ

अर्थोंसे वर्णादिरूप शब्दोके वास्तविक सम्बन्धका विचार व्याकरणके प्रधान शास्त्रकारोके ग्रन्थोमें सुरक्षित है। उनमेसे पाणिनि, पतञ्जलि, भर्तृहरि एवं नन्दिकेश्वर प्रधान हैं।

गान्धर्व-विद्याके दार्शनिक ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो चुके हैं। फिर भी नारद, नन्दिकेश्वर, मतंग, कोहल आदिद्वारा प्रणीत ग्रन्थोंके प्राप्य भागसे इस विद्याका रहस्य थोडा-बहुत समझमें आ सकता है। दूसरे ग्रन्थ केवल प्रयोगसे सम्बन्ध रखते हैं। स्वरोद्वारा रस एवं विचारके प्रकट हो जानेका रहस्य एव रागद्वारा शब्दब्रह्मको प्राप्त करना साधारण गायकोंकी समझके बाहरकी बात है। अतः इस कठिन विद्यासे सम्बन्धित शास्त्र-ग्रन्थोंकी रक्षा गायकोसे नहीं हो सकती। स्वररूप वाक् वर्णरूप शब्दका सूक्ष्म स्वरूप है। संगीतके स्वरोका आधार मध्यमा वाक् है, वैखरीवाक् नहीं। विशेष शब्दरूप स्पन्दन-मध्यमा वाक् पश्यन्ती नामक व्यक्त (स्पष्ट) विमर्शका परिणाम है, मध्यमा वाक् नादरूप होनेसे श्रोत्रेन्द्रियसे ग्राह्य है, फिर भी वर्णरूप नहीं होती, इसलिये संगीतके स्वरूप नादमें अलग-अलग अक्षर नहीं होते। उसका अर्थ खण्डित न होनेसे एकत्रित रहता है। इसीलिये संगीतके एक-एक स्वरमें अनेक अर्थ होते हैं। गानक्रिया प्रायः मध्यमा वाक्द्वारा सम्पन्न होती है।

ऐतरेय ब्राह्मणका कहना है कि वेदके शब्दोंका उच्चारण मध्यमा वाक्से करना चाहिये अर्थात् उन्हें गाना चाहिये। वेदके शब्दोंके गानेसे बुद्धि संस्कृत हो जाती है।

तं मध्यमया वाचा शंसत्यात्मानमेव तत्संस्कुरुते॥

संगीत एवं व्याकरणके तत्त्वसूत्र माहेश्वर सूत्र हैं। पाँच स्थानोंसे उच्चारित व्याकरणके पाँच शुद्ध स्वर अ, इ, उ, ऋ, लृ हैं। इनके दो मिश्रित रूप हैं 'ए, ओ' और दो अमिश्रित जोड़े हुए रूप हैं 'ऐ, औ।' प्रथम तीन स्वरो (अ, इ, उ)के विकृत दीर्घरूप भी हैं। इस प्रकार स्वर १२ हो जाते हैं।

संगीतके सात स्वरोमे भी पाँच स्वर प्रधान और दो गौण हैं। सामगानके पाँच प्रधान स्वर प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और मन्द्र कहे जाते हैं। दो गौण स्वर क्रुष्ट एवं अतिस्वार्य हैं। गान्धर्व-गानमें इन पञ्चस्वरोंके नाम मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज एवं धैवत हैं। गौण स्वर पञ्चम एवं निषाद हैं, परंतु शैवगानमे षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम और पञ्चम प्रधान एवं धैवत, निषाद गौण माने जाते हैं।

इन सात स्वरोके अतिरिक्त दो और मिश्रित स्वर हैं, उनके नाम 'काकली' और 'अन्तर स्वर' हैं। संगीतमें उन मिश्रित स्वरोका नाम साधारण अर्थात् बीचका स्वर रखा है। इनके अतिरिक्त तीन और स्वरोके एक-एक विकृत रूप हैं। इससे शुद्धविकृत स्वरोकी सख्या १२

होती है । व्याकरण एवं संगीतके स्वरोंका अर्थ भिन्न नहीं है । उनके वास्तविक एवं सांकेतिक अर्थका समन्वय नारद, मतंग आदि प्रणीत ग्रन्थोंमे मिलता है ।

संगीतमें नादके ६६ भिन्न रूप होते हैं, जिनको 'श्रुति' कहते हैं । उनमेसे २२ प्रधान होते हैं । दूसरी दृष्टिसे श्रुतियाँ अनन्त कही जा सकती हैं—

द्वाविंशतिं केचिदुदाहरन्ति
श्रुतीः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः ।
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासा-
मानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति ॥

(कोहल.)

व्याकरणमे भी भिन्न नादरूप ६६ व्यञ्जन है, जिनकी आधी संख्या ३३ साधारण प्रयोगमे आती है । संगीतमें ६६के तीसरे भागका एवं भाषामे आधे भागका प्रयोग होना इन संख्याओंके सांकेतिक अर्थके अनुकूल है । माहेश्वर-सूत्रानुसार वैखरीरूप व्यञ्जनोंकी दस जातियाँ हैं, जिनके अर्थ भिन्न होते हैं ।

संगीतमें श्रुतियोंकी भिन्न रस उत्पन्न करनेवाली पाँच जातियाँ होती हैं, जिनके नाम दीप्ता, आयता, मृदु, मध्या एवं करुणा है । इन स्वर-जातियोंके दो स्वरूप हैं—एक गणितका आधारस्वरूप, दूसरा रसका आधारस्वरूप । हमलोग कह सकते हैं कि [illegible] पाँचवाँ अंश लेनेसे [illegible] होगा अर्थात् संगीतद्वारा [illegible] दिया जा सकता है । [illegible] और दूसरा गणितका [illegible] अर्थोंसे शब्दका [illegible] है । इसका फल यह है कि [illegible] लिये नाद-विद्या एक [illegible] है । [illegible] होगा कि स्वरोंसे [illegible] आदिका सम्बन्ध [illegible] एवं गम्भीर तत्त्वपूर्ण [illegible] तत्त्वदर्शक ऋषियोंको [illegible] है ।

माहेश्वर-सूत्रमें ईश्वरका रूप

रुद्रके डमरूसे उत्पन्न माहेश्वर-सूत्रोंसे सर्वभाषाका प्रादुर्भाव हुआ है । माहेश्वरसूत्रोंका रहस्य जाननेसे सर्वभाषाका रहस्य खुल जाता है । भाषाके स्वरोंका वास्तविक गूढ़ अर्थ नन्दिकेश्वरकी 'काशिका'में पाया है । संगीतके स्वरोंका और भाषाके स्वरोंका सम्बन्ध 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण'में मिलता है । माहेश्वरसूत्रका प्रथम सूत्र 'अ इ उ ण्' है । प्रथम स्वर 'अ' कण्ठमें स्थित है, उसका उच्चारण बिना प्रयत्नके होता है । अकार सर्वस्वरोंका आधार एवं कारण है—

अकारो वै सर्वा वाक् ।

'अ' निर्गुण ब्रह्मका द्योतक है ।

अकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु । (नन्दि०का०)

अक्षराणामकारोऽस्मि । (गीता)

संगीतमें 'अ'का रूप-आधारभूत स्वर षड्ज है । इसके बिना किसी भी स्वरका अस्तित्व नहीं है ।

'अ इ उ ण् सप्तगाः स्मृताः' ([illegible])

दूसरे स्वर 'इ' का स्थान तालु है । प्राणके बाहर निकालनेकी प्रवृत्ति 'इ' शब्दका कारण है । 'इ' शक्ति या प्रवृत्ति आदिका द्योतक है । इसको 'कामबीज' भी कहते हैं ।

इकारः सर्ववर्णानां शक्तित्वात् कारणं मतम् ।

(नन्दिकेश्वर ७)

[illegible] 'इ' कार [illegible] कारण है ।

[illegible] ॥

(नन्दिकेश्वर [illegible])

[illegible] है, 'इ'का [illegible] है ।

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

जब कण्ठ, जिह्वा आदि 'इ'कारके उच्चारणके लिये तैयार किये जायँ और बिना किसी भी अंशके बदले 'अ'के उच्चारणका प्रयत्न होता है, तब फलस्वरूप 'उ'कार निकलता है। 'उ'कार 'इ'से परिच्छिन्न 'अ'का स्वरूप है। उसका अर्थ होता है शक्ति-परिच्छिन्न ब्रह्म अर्थात् सगुण ब्रह्म।

उकारो विष्णुरित्याहुर्व्यापकत्वान्महेश्वरः।

(नन्दिकेश्वर ९)

उकार विष्णुनामक सर्वव्यापक ईश्वरका स्वरूप है।

संगीतमें 'उ'कार गान्धार स्वर है। (आधुनिक संगीतका कोमल गान्धार) वह शृंगार-रस एवं करुण-रसको उत्पन्न करता है। विष्णुदर्शनकी सुन्दरताका अनुभव गान्धार स्वरसे कहा जा सकता है। गान्धार वाक्का वाहन है, दिव्य गन्धोंसे भरा है।

गां धारयति (गां वाचं धारयति) इति गान्धारः।

(क्षीरस्वामी)

वाक्का वाहन होनेसे गान्धार कहा जाता है।

नानागन्धवहः पुण्यो गान्धारस्तेन हेतुना॥

(ना॰ शि॰)

शुद्ध होने एवं अनेक गन्धका वाहन होनेसे गान्धार कहा जाता है।

तीन ग्राम

तीन स्वर सर्वसंगीतके आधार होनेसे तीन ग्रामोंके आधारभूत स्वर माने जाते हैं—

स ग्रामस्त्विति विज्ञेयस्तस्य भेदास्त्रयः स्मृताः।
·····षड्जऋषभगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः॥

(भरतमुनिप्रणीत गीतालंकार)

तीन ग्राम हैं, जिनके आधार षड्ज, ऋषभ और गान्धार हैं। ऋषभ ग्राम अन्य दोनोंके बीचमें होनेसे 'मध्यग्राम' या 'मध्यमग्राम' कहा जाता है।

ब्रह्म-माया-स्वरूप 'ऋ ऌ क्'

माहेश्वर-सूत्रका दूसरा सूत्र नपुंसक स्वरोंका सूत्र है। उनकी प्रधानता नहीं होती। संगीतमें दोनों स्वर 'काकली' एवं 'अन्तर' नामसे प्रसिद्ध हैं—

सप्तैव ते स्वराः प्रोक्तास्तेषु ऋ ऌ नपुंसकौ॥

'ऋ' मूर्धन्य स्वर है। इसका अर्थ ऋत अर्थात् परमेश्वर है। **'ऋ' परमेश्वरः इत्यत्र—'ऋतं सत्यपरं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिंगलम्' इति श्रुतिप्रमाणम्। तं तत्पदार्थपरं ब्रह्म ऋ सत्यमित्यर्थः।** (अभिमन्यु-टीका)

संगीतमें 'ऋ' अन्तर स्वर कहा जाता है, जो आधुनिक शुद्ध गान्धार है। उसका शान्त रस है।

'ऌ' दन्त्य स्वर है। यह परमेश्वरकी वृत्ति या शक्ति है। दाँत मायाके संकेत हैं—

दन्ताः सत्ताधरास्तत्र मायाचालक उच्यते।

शक्तिमान् अपनी शक्तिसे अभिन्न होता है। जैसे चन्द्र चन्द्रिकासे या शब्द अर्थसे अभिन्न है, वैसे ही 'ऋ' 'ऌ' से वास्तवमें अभिन्न है—

वृत्तिवृत्तिमतोरत्र भेदलेशो न विद्यते।
चन्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वद्यथा वागर्थयोरपि॥

(नन्दिकेश्वर ११)

संगीतमें ऌ 'काली' नामसे प्रसिद्ध है। वह आधुनिक शुद्ध निषाद है, जिसका भाव शृंगार है। अर्थात् वृत्तिरूप काम—**'सोऽकामयत'**।

ज्ञान-विज्ञान 'ए ओ ङ्'

उच्चारणके केवल पाँच स्थान हैं, इसलिये शुद्ध स्वर केवल पाँच होते हैं। वैसे ही शैव संगीतमें आधारभूत ग्राम पाँच स्वरोंके हैं।

'अ'कार एवं 'इ'कारका मिला हुआ रूप 'ए'कार है। 'इ'कार अर्थात् शक्तिमें 'अ'कार अर्थात् ब्रह्मका प्रवेश 'ए'कारका अर्थ है। इसलिये 'ए'कार ज्ञानस्वरूप है अर्थात् परमतत्त्वकी प्राप्तिका द्योतक है। टीकाकार अभिमन्यु 'ए'कारको—**सम्प्रज्ञानस्वरूपः प्रज्ञानात्मा स्वयं प्रविश्य तद्रूपेण वर्तत इति।**—कहते हैं।

संगीतमें 'ए'कार मध्यम स्वर कहा जाता है। उसका रस शान्तरस है। चन्द्रमा उसकी मूर्ति है। **'ए ओ ङ् मपौ'**

(रुद्रडमरू॰ २६)।

'अ'कार एवं 'उ'कारका मिला हुआ रूप 'ओ'कार है। 'अ'कार अर्थात् परब्रह्मका 'उ'कार अर्थात् उनसे

उत्पन्न प्रपञ्चमे प्रवेश 'ओ'का रूप है ।

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति ।

'अ' निर्गुणरूप है और 'उ' सगुणरूप है । सगुणमे निर्गुण 'ओ'का रहस्य है । अतएव 'ओ'कारसे प्रणव बनता है । निर्गुण-सगुणकी वास्तविक अद्वितीयताका द्योतक 'ओ'कार है । उसका मूर्तरूप गणपति है ।

संगीतमे 'ओ' पञ्चम स्वर कहा जाता है । स्वर-क्रममे पाँचवाँ स्वर होनेसे एवं कारण-तत्त्व आकाशका द्योतक होनेसे पञ्चम स्वरका मूर्तरूप सूर्य है । पञ्चम स्वर सुननेसे सब जीव आनन्दपूर्ण हो जाते हैं ।

विश्वमें दिव्यरूप 'ऐ औ च्'

'ए'कारमे 'अ'कारका मिला हुआ रूप 'ऐ'कार है । 'ओ'कारमे 'अ'कारका मिला हुआ रूप 'औ'कार है । अत· 'ए' अर्थात् ज्ञानसे 'अ' अर्थात् परब्रह्मका सम्बन्ध ऐकार है, संगीतमे 'ऐ' धैवत स्वर कहा जाता है ।

'ध नि ऐ औ च्' (रुद्रडमरू०)

धैवत स्वरके दो रूप होते हैं । एक रूप शान्तपूर्ण मृदुरस और दूसरा रूप क्रियास्वरूप है ।

'ओ'कार अर्थात् 'ओ'मे 'अ'का मिला हुआ स्वरूप विश्वमे परमतत्त्वकी व्यापकताका द्योतक है ।

सगीतमे 'औ'कार निषाद नामसे प्रसिद्ध है । आधुनिक संगीतका यह कोमल निषाद है, यह अन्तिम स्वर या स्वरोकी पराकाष्ठा माना जाता है ।

निषीदन्ति स्वराः सर्वे निषादस्तेन कथ्यते ।

(बृहद्देशी)

जो उपनिषदोका तत्त्व है, वही निषाद कहा जाता है । वासुदेव उसका नाम भी है ।

इसी तरह व्याकरण एवं संगीतके स्वरोके अर्थका समन्वय होता है । अत्यन्त सक्षेपमे उसका रूप यहाँ बतलाया गया है । फिर स्वरोके बाद व्यञ्जनो एवं श्रुतियोके अर्थ भी मिलते है । लेख-विस्तारके भयसे इसका विस्तार यहाँ नहीं किया जा सकता । फिर भी इतनेसे विदित होगा कि गान्धर्व-विद्या अत्यन्त गम्भीर विद्या है । उसके अध्ययनसे ३२ विद्याओका रहस्य खुल जाता है । यह गान्धर्व-विद्या भारतीय संस्कृतिका एक अनुपम रत्न है । उसके तेजसे मन चकित हो जाता है और प्राचीन भारतीय ऋषियोकी अनुपम विद्याकी ओर अत्यन्त आदर एवं प्रेमसे हृदय भर जाता है ।—(संकलित)
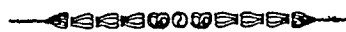
संत-महिमा

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे । कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि समीहते ॥
दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम् । यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः ॥
यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः । तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥

(श्रीमद्भा० ९ । ५ । १४-१६)

दुर्वासाजीने अम्बरीषसे कहा—'धन्य है । आज मैने भगवान्‌के प्रेमी भक्तोका महत्त्व देखा । राजन्! मैने आपका अपराध किया, फिर भी आप मेरे लिये मङ्गल-कामना ही कर रहे हैं । जिन्होने भक्तोके परमाराध्य भगवान् श्रीहरिको दृढ प्रेमभावसे पकड लिया है, उन साधुपुरुषोके लिये कौन-सा कार्य कठिन है । जिनका हृदय उदार है, वे महात्मा भला, किस वस्तुका परित्याग नही कर सकते ? जिनके मङ्गलमय नामोके श्रवणमात्रसे जीव निर्मल हो जाता है—उन्ही तीर्थपाद भगवान्‌के चरणकमलोके जो दास है, उनके लिये कौन-सा कर्तव्य शेष रह जाता है ।
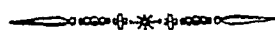
प्राचीन अस्त्र-शस्त्रकी विद्या

आज हम यूरोपके अस्त्र-शस्त्र देखकर चकित और स्तम्भित हो जाते है तथा सोचने लगते हैं कि ये सब नये आविष्कार हैं। हमे अपनी पूर्वपरम्पराका ज्ञान नहीं है। प्राचीन आर्यावर्तके आर्यपुरुष अस्त्र-शस्त्र-विद्यामे निपुण थे। उन्होंने अध्यात्म-ज्ञानके साथ आततायियो और दुष्टोका दमन करनेके लिये सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी भी सृष्टि की थी। आर्योकी यह शक्ति धर्म-स्थापनामे सहायक होती थी, न कि आतंकमे। उन विकराल भयंकर बाणोके आगे बम क्या वस्तु हैं। आजकलके विस्फोटक बम और गैसोके समान उस कालमे भी विमानोद्वारा अग्नि-वर्षा होती थी। पैराशूट भी थे, सभी कुछ था। बाण-विद्या तो भारतमे पिछले समयतक रही। रामायण और महाभारतमे हम जो पढ़ते आये है, आज वर्तमान विज्ञानकी प्रगति हमारी उस उन्नतिका एक अंश भी नही है।

प्राचीनकालमें जिन अस्त्रो-शस्त्रोका उपयोग होता था, उनका वर्णन इस प्रकार है—(अ) अस्त्र उसे कहते है, जिसे मन्त्रोके द्वारा दूरसे फेकते हैं। वे अग्नि, गैस और विद्युत् तथा यान्त्रिक उपायोसे चलते हैं। (ब) शस्त्र खतरनाक हथियार हैं, जिनके प्रहारसे चोट पहुँचती है और मृत्यु भी होती है। ये हथियार अधिक उपयोग किये जाते हैं।

अस्त्रोको दो विभागोमे बाँटा गया है—(१) वे आयुध जो मन्त्रोंसे चलाये जाते हैं—ये दैवी है। प्रत्येक अस्त्रपर भिन्न-भिन्न देव या देवीका अधिकार होता है और मन्त्र-तन्त्रके द्वारा उसका संचालन होता है। वस्तुत इन्हे दिव्य तथा मान्त्रिक अस्त्र कहते हैं। इन बाणोके कुछ रूप इस प्रकार हैं—

१. आग्नेय—यह विस्फोटक बाण है। यह जलके समान अग्नि बरसाकर सब कुछ भस्मीभूत कर देता है। इसका प्रतिकार पर्जन्य है।

२. पर्जन्य—इस बाणके चलानेसे कृत्रिम बादल पैदा होते हैं, वर्षा होती है, बिजली तड़पती है और तूफान आता है।

३. वायव्य—इस बाणसे भयंकर तूफान आता है और अन्धकार छा जाता है।

४. पन्नग—इससे सर्प पैदा होते हैं। इसके प्रतिकारस्वरूप गरुड़ बाण छोडा जाता है।

५. गरुड़—इस बाणके चलते ही गरुड़ उत्पन्न होते हैं, जो सर्पोको खा जाते हैं।

६. ब्रह्मास्त्र—यह अचूक विकराल अस्त्र है। शत्रुका नाश करके छोड़ता है। इसका प्रतिकार दूसरे ब्रह्मास्त्रसे ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

७. पाशुपत—इससे विश्वका नाश हो जाता है, यह बाण महाभारत-कालमें केवल अर्जुनके पास था।

८. वैष्णव-नारायणास्त्र—यह भी पाशुपतके समान विकराल अस्त्र है। इस नारायण-अस्त्रका कोई प्रतिकार ही नही है। यह बाण चलानेपर अखिल विश्वमें कोई शक्ति इसका सामना नहीं कर सकती। इसका केवल एक ही प्रतिकार है और वह यह है कि शत्रु अस्त्र छोड़कर नम्रतापूर्वक अपनेको अर्पित कर दे। कहीं भी हो, यह बाण वहाँ जाकर ही भेद करता है। इस बाणके सामने झुक जानेपर यह अपना प्रभाव नहीं करता।

इन दैवी बाणोंके अतिरिक्त ब्रह्मशिरा और एकाग्नि आदि बाण हैं। आज यह सब बाण-विद्या इस देशके लिये अतीतकी घटना बन गयी है। महाराज पृथ्वीराजके बाद बाण-विद्याका सर्वथा लोप हो गया।

शस्त्र वे हैं, जो यान्त्रिक उपायसे फेके जाते हैं। ये अस्त्रनलिका आदि हैं। नाना प्रकारके अस्त्र इसके अन्तर्गत आते हैं। अग्नि, गैस, विद्युत्से भी ये अस्त्र छोड़े जाते है। प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है कि प्राचीन आर्य गोला-बारूद और भारी तोपे, टैंक बनानेमे भी कुशल थे। इन अस्त्रोके लिये देवी और देवताओकी आवश्यकता नही पड़ती। ये भयंकर अस्त्र हैं और स्वयं ही अग्नि, गैस या विद्युत् आदिसे चलते हैं।

यहाँ हम कुछ ऐसे अस्त्र-शस्त्रोका वर्णन करते हैं, जिनका प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोमे उल्लेख मिलता है—

१. शक्ति—यह लंबाईमें गजभर होती है, उसकी मूठ बड़ी होती है, उसका मुँह सिंहके समान होता है और उसमे बड़ी तेज जीभ और पंजे होते हैं। उसका रंग नीला होता है और उसमें छोटी-छोटी घंटियाँ लगी रहती हैं। यह बड़ी भारी होती है और दोनों हाथोसे फेकी जाती है।

२. तोमर—यह लोहेका बना होता है। यह बाणके रूपमें होता है और इसमें लोहेका मुँह बना होता है। साँपकी तरह इसका रूप होता है। इसका धड़ लकड़ीका बना होता है। नीचेकी ओर पंख लगाये जाते हैं, जिससे वह सरलतासे उड़ सके। यह प्रायः डेढ़ गज लंबा होता है। इसका रंग लाल होता है।

३. पाश—ये दो प्रकारके होते हैं—वरुणपाश और साधारण पाश। ये इस्पातके महीन तारोको बटकर बनाये जाते हैं। इनका एक सिर त्रिकोणवत् होता है। नीचे जस्तेकी गोलियाँ लगी होती हैं। कहीं-कहीं इसका दूसरा वर्णन भी है। वहाँ लिखा है कि यह पाँच गजका होता है और सन, रूई, घास या चमड़ेके तारसे बनता है। इन तारोको बटकर इसे बनाते हैं।

४. ऋष्टि—यह सर्वसाधारण शस्त्र है, पर बहुत प्राचीन है। कोई-कोई उसे तलवारका भी रूप बताते हैं।

५. गदा—इसका हाथ पतला और नीचेका हिस्सा वजनदार होता है। इसकी लंबाई जमीनसे छातीतक होती है। इसका वजन बीस मनतक होता है। एक-एक हाथसे दो गदाएँ उठायी जाती थीं।

६. मुद्गर—इसे साधारणतया एक हाथसे उठाते हैं। कहीं यह बताया है कि यह हथौड़ेके समान भी होता है।

७. चक्र—यह दूरसे फेंका जाता है।

८. वज्र-कुलिश तथा अशनि—इसके ऊपरके तीन भाग तिरछे-टेढ़े बने होते हैं। बीचका हिस्सा पतला होता है। पर हाथ बड़ा वजनदार होता है।

९. त्रिशूल—इसके तीन सिर होते हैं। इसके दो रूप होते हैं।

१०. शूल—इसका एक सिर नुकीला, तेज होता है। शरीरमे भेद करते ही प्राण उड़ जाते हैं।

११. असि—इसे तलवार कहते हैं। इस शस्त्रका किसी रूपमे पिछले कालतक उपयोग होता रहा। पर विमान, बम और तोपोके आगे उसका भी आज उपयोग नहीं रहा। अब हम इस चमकनेवाले हथियारको भी भूल गये। लकड़ी भी हमारे पास नहीं, तब तलवार कहाँसे हो।

१२. खड्ग—यह बलिदानका शस्त्र है। दुर्गाचण्डीके सामने विराजमान रहता है।

१३. चन्द्रहास—यह टेढ़ी तलवारके समान वक्र कृपाण है।

१४. फरसा—यह कुल्हाड़ा है। पर यह युद्धका आयुध है। इसके दो रूप होते हैं।

१५. मुशल—यह गदाके सदृश होता है, जो दूरसे फेका जाता है।

१६. धनुष—इसका उपयोग बाण चलानेके लिये होता है।

१७. बाण—इसके सायक, शर और तीर आदि भिन्न-भिन्न नाम हैं। ये बाण भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। हमने ऊपर कई बाणोका वर्णन किया है। उनके गुण और कर्म भिन्न-भिन्न हैं।

१८. परिघ—एकमे लोहेकी मूठ है। दूसरे रूपमे यह लोहेकी छड़ी भी होती है और तीसरे रूपके सिरेपर वजनदार मुँह बना होता है।

१९. भिन्दिपाल—यह लोहेका बना होता है। इसे हाथसे फेकते हैं। इसके भीतरसे भी बाण फेकते हैं।

२०. नाराच—यह एक प्रकारका बाण है।

२१. परशु—यह छुरेके समान होता है। भगवान् परशुरामके पास प्रायः रहता था। इसके नीचे लोहेका एक चौकोर मुँह लगा होता है। यह दो गज लंबा होता है।

२२. कुण्टा—इसका ऊपरी हिस्सा हलके समान होता है। इसके बीचकी लंबाई पाँच गजकी होती है।

२३. शंकु बर्छी—यह भाला है।

२४. पट्टिश—यह एक प्रकारका कुल्हाड़ा है।

इसके सिवा वडिश तलवार या कुल्हाड़ाके रूपमें होती है।

इन अस्त्रोके अतिरिक्त अन्य अनेक अस्त्र हैं, जिनका यहाँ वर्णन करना असम्भव है। भुशुण्डी आदि अनेक शस्त्रोका वर्णन पुराणोमे मिलता है।

भारतकी प्राचीन क्रीडाएँ

विद्यार्थियोंके शिक्षा-क्रममें क्रीडा या खेलकूद भी सदासे एक अङ्ग रहा है। अन्य वालक एवं युवा व्यक्ति भी स्वास्थ्य-वृद्धिके लिये खेलोंका अभ्यास करते हैं। प्रारम्भसे ही 'क्रीडा' शिक्षाके अनिवार्य अङ्गके रूपमें रही है। आजकल कतिपय महानुभावोंका विचार है कि हमारे यहाँ पूर्वकालमें पोलो, टेनिस, फुटवाल, क्रिकेट आदि खेल नहीं थे, न हमारे पूर्वज इन खेलोंसे परिचित ही थे, परंतु प्राचीन भारतमें ये तथा अन्य श्रेष्ठ क्रीडाएँ भी प्रचलित थीं, जिनका विशेष महत्त्व था। हरिवंश, वर्णरत्नाकर, शैवरत्नाकर, मानसोल्लास आदिमे सैकड़ों श्रेष्ठ क्रीडाओंका उल्लेख है। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णकी वाललीलाओंमें अधिकांश क्रीडाओंका वर्णन मिलता है। प्रस्तुत लेखमें इसी वस्तुस्थितिपर प्रकाश डाला गया है।

मुख्यतया क्रीडाओके चार भेद किये जा सकते हैं—पहली श्रेणीमें वे क्रीडाएँ आ सकती हैं, जो मनोविनोदार्थ खेली जाती थीं। दूसरी श्रेणीमें वे क्रीडाएँ आ सकती हैं, जो प्रेक्षकोंकी प्रसन्नताके लिये की जाती थीं। तीसरी श्रेणीकी क्रीडाएँ धर्मोत्सवादि-प्रधान थीं तथा चतुर्थ प्रकारकी क्रीडाएँ मिश्रित होती थीं। जिनके प्रकार-विषयमें भी संदेह है। अव कुछ क्रीडाओंका परिचय प्राप्त कीजिये।

१.कृत्रिम वृषभ-क्रीडा

जिस क्रीडामें वालक वैलका-सा कपड़ा ओढ़कर या सिंह-सा चर्म ओढ़कर लड़ते थे तथा शव्द करते थे, वह 'कृत्रिम वृषम-क्रीडा' कहलाती है। इसमें पशु-पक्षियोंकी वोलियाँ वोलना भी सम्मिलित है।

२.निलयन-क्रीडा

इसके दो प्रकार हैं—

(क) इसमें एक वालक छिप जाता है तथा दूसरा उसे ढूँढ़ता है। इसमें कुछ चोर वनते हैं तथा कुछ सिपाही वनकर उसे ढूँढ़ते हैं।

(ख) इसमें वालक तीन श्रेणियोंमें विभक्त हो जाते हैं—एक पशुपालक, दूसरा पशुचोर, तीसरा मेषायित। मेष (मेढ़ा) वने हुए बालकको पशुचोर उठाकर ले जाता है तथा पशुपालक उसे ढूँढ़ता है। यह क्रीडा भगवान् श्रीकृष्णने 'वत्सहरण'में खेली थी—ऐसा श्रीमद्भागवतमें लिखा है।

३.मर्कटोत्प्लवन-क्रीडा

इसमें वंदरकी भाँति पेड़ोंपर चढ़कर लगातार अनेक वृक्षोंपर चढ़ते हुए बालक छिपते फिरते हैं। इसका भी वर्णन श्रीमद्भागवतमें मिलता है।

४.शिक्यादि-मोषण-क्रीडा

इसमें एक गेंद-जैसी वस्तु जिसकी है, उसे न देकर अन्योंके पास फेंक दी जाती है तथा स्वामी देखता रह जाता है। जब स्वामी थककर अपनी वस्तु माँगता है, तव वह उसे दे दी जाती है।

५.अहमहमिका-स्पर्श-क्रीडा

इसमें दूर वैठे वालकको कौन पहले छू सकता है, यह प्रण होता है।

६.भ्रामण-क्रीडा

इसमें वालक एक दूसरेका हाथ पकड़कर झूमते या उठते-वैठते हैं।

७.गर्तादिलङ्घन-क्रीडा

इस खेलमें किसकी कितनी दूरतक कूदनेकी सामर्थ्य है—यह परीक्षा की जाती है।

८.बिल्वादिप्रक्षेपण-क्रीडा

इसमें वेल या गेंद आदि इस प्रकार फेंके जाते हैं कि रास्तेमें ही टकरा जायँ।

९.अस्पृश्यत्व-क्रीडा

इस खेलमें एक छूना चाहता है, दूसरा बचना चाहता है।

१०.नेत्रबन्ध-क्रीडा

यह क्रीडा तीन प्रकारकी होती है—

(क) इसमें पीछेसे जाकर आँख मूँदनेपर बँधे

नेत्रोवाला बाँधनेवालेकी पहचान करता है ।

(ख) इसमें नेत्र बंद करनेपर छोड़ा हुआ बालक छिपे हुए बालकोका पता लगाता है ।

(ग) इस खेलमे बँधे नेत्रवाले बालकको अन्य बालक छू-छूकर भागते है तथा बद्धनेत्र उन्हे पकड़नेका यत्न करता है ।

११ .स्पन्दान्दोलिका-क्रीडा

इसमें झूलते हुए दो-तीन झूलोपर चढ़कर लगातार चढ़ते चले जाना होता है ।

१२ .नृप-क्रीडा

इसमें एकको राजा बनाकर अन्य लोग मन्त्री आदि बनकर कार्य करते हैं ।

१३ .हरिण-क्रीडा

इसमे हरिणकी भाँति उछलते हुए एक-दूसरेसे आगे निकलनेकी चेष्टा की जाती है ।

१४ .देव-दैत्य-क्रीडा

इसमे कुछ व्यक्ति देव तथा कुछ दैत्य बनकर धूल आदि उड़ा-उड़ाकर खेलते हैं, जैसे शिवाजी खेला करते थे तथा यवनोको पराजित किया करते थे ।

१५ .वाह्य-वाहक-क्रीडा

इसमे विजेता पराजितके कंधेपर चढ़कर चलता है ।

१६ .जल-क्रीडा

यह दो प्रकारकी होती है—

(क) इसमें पेड़ोंपरसे जलमे कूदते है तथा फिर एक-दूसरेपर पानी उछालते हैं ।

(ख) यह क्रीडा स्त्री-पुरुषोंमे भी होती थी, जिसका वर्णन भारवि, माघ और कालिदासने किया है ।

१७ .कन्दुक-क्रीडा

यह क्रीडा दो प्रकारसे खेली जाती है—

(क) इस खेलमे गेंद ऊपर फेकी जाती है और दूसरा उसे ग्रहण करनेकी चेष्टा करता है । यदि उसे ग्रहण नहीं कर पाता तो वह पहले फेकनेवालेके कंधेपर चढ़कर फिर फेंकता है तथा अन्य खेलनेवाले गेदको जमीनपर गिरनेसे पूर्व ही ग्रहण कर लेते हैं ।

(ख) यह खेल बालक या कन्या सभी खेलते हैं । इसमें भीतपर गेंद मारकर दबोचना आदि भी आ जाता है । यही आजकल बालीबाल कहलाती है । **'बहुबिधि क्रीडहिं पानि पतंगा'** इसीका संकेत है ।

१८ .वनभोजन-क्रीडा

इस खेलमें जंगलमे जाकर खेलना तथा वहींपर बाटी आदि बनाकर खानेका प्रचलन है । आजकल इसे पिक्निक् कहते हैं ।

१९ .रास-क्रीडा

इसमें रेतीले मैदानमे श्रीकृष्ण-लीलाका अनुकरण किया जाता है, जैसे आजकल रामलीला होती है । गुजरातका गरबा-नृत्य कुछ ऐसा ही है ।

२० .छालिक्य-क्रीडा

इसमें खेलनेवाले मस्त होकर होलीके दिनोंकी तरह गाते-बजाते है । इसका वर्णन हरिवंशादि पुराणोमे मिलता है ।

२१ .नियुद्ध-क्रीडा

इसमे घूसे मारकर या कुश्ती लड़कर खेल खेलना होता है । जरासंध और भीमके बीच यह क्रीडा हुई थी ।

२२ .नृत्य-क्रीडा

इसमे कुछ नाचते तथा कुछ ताली बजाते थे । इसे लड़के या लड़कियाँ परस्पर मिलकर या अलग-अलग खेलते थे ।

२३ .अक्ष-क्रीडा

यह क्रीडा 'महाभारत'का एक कारण हुई। इसका ऋग्वेदमे निषेध मिलता है ।

२४ .मृगया-क्रीडा

यह क्रीडा 'आखेट'के नामसे राजाओंमे विशेषरूपसे प्रसिद्ध थी ।

२५ .पक्षिघात-क्रीडा

इसमे श्येनकी तरह पक्षियोंको पकड़ना सिखाया जाता था ।

२६ .मत्स्य-क्रीडा

इस खेलमे राजपुत्र नावपर चढ़कर मछली पकड़नेके प्रकार सीखते थे ।

२७.चतुरङ्ग-क्रीडा

इसे आजकल शतरंज, चौपड़ या चाँदमारीके नामसे पुकारते है । विल्सन साहबने बड़ी खोजसे इसका विवरण भविष्यपुराणमें ढूँढ़ा और इसे भारतीय खेल सिद्ध किया । चतुरङ्ग-क्रीडापर कई स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं ।

२८.शालभञ्जिका-क्रीडा

इसे 'कठपुतलियोंका खेल' या 'गुड़ियाका खेल' कहते हैं ।

२९.लतोद्वाह-क्रीडा

यह पेड़ एवं बेलको पालकर उनका विवाह रचानेका खेल है, जैसा शकुन्तलाने किया था । तुलसी-विवाह तो धार्मिक कृत्यके रूपमें किया जाता है ।

३०.वीटा-क्रीडा

गुल्ली-डंडेका खेल—इसका महाभारतमें वर्णन है, देखिये आदिपर्व (१३१ । १७) ।

३१.कनकशृङ्गकोण-क्रीडा

यह पिचकारी चलानेका खेल है ।

३२.विवाह-क्रीडा

जब वर विवाह करने चला जाय, तब पीछे स्त्रियाँ वर या वधू बनकर खेल करती है, इसे 'खोरिया' कहते हैं ।

३३.हल्लीश-क्रीडा

इस खेलमे एक लडकी, फिर एक लड़का, फिर लडकी, फिर लडका, इस प्रकार बैठकर मण्डलाकार घूमते है । इसका भी वर्णन हरिवंशमे विस्तारसे है ।

३४.गानकूर्दन-क्रीडा

इसमे कुछ लोग गाते हैं तथा कुछ लोग कूदते हैं ।

३५.नौ-क्रीडा

यह वाराणसीमें दशहरेपर होती है—लोग नौकाएँ चलाते हैं ।

३६.जल-क्रीडा

इसमे जलमे बैठकर भोजनादि करना होता है—जैसे दुर्योधन जल-स्तम्भ-विद्याको जानकर करता था ।

३७.वनविहार-क्रीडा

इस क्रीडामे फूलोंका चुनना, माला बनाना तथा बिना सामग्रीके भोजन बनाना आदि आता है । इसका दूसरा नाम 'पुष्पावचाय'-क्रीडा है ।

३८· आमलकमुष्ट्यादि-क्रीडा

इस खेलमें मुट्ठीमें कुछ रख बंद करके पूछा जाता था, न बतलानेपर या अशुद्ध बतलानेपर विजेता उसे मुष्टिप्रहारसे पराजित करता था ।

३९. दर्दुरप्लाव-क्रीडा

इसमें मेढकोकी तरह कूद-कूदकर चलना होता है ।

४०. नाट्य-क्रीडा

इसमे नाटक खेला जाता है ।

४१. अलातचक्र-क्रीडा

यह खेल 'टीमी' जलाकर उसे घुमाने तथा आकाशमें उससे अक्षर लिखनेका है ।

४२. गदा-क्रीडा

यह दिखावटी 'गदायुद्ध' करना है, इसी प्रकार 'धनु क्रीडा' आदि क्रीडाएँ भी हैं ।

४३. अशोकपादप्रहार-क्रीडा

किसी पेड़को सजाना तथा उसे फिर सींच-सींचकर बढ़ाना और यह कहना कि मेरी जूतियाँ खाकर यह बढ़ा है । इसका वर्णन भी कालिदासने किया है ।

४४. चित्र-क्रीडा

इस खेलमें विरहादि अवस्थामें यक्षकी तरह चित्र बनाना, पेंटिंग करना, ड्राइंग करना होता है ।

४५. काव्यविनोद-क्रीडा

इसमे 'बिन्दुच्युतक', 'मात्राच्युतक', 'समस्यापूर्ति', 'प्रहेलिका', 'खंगबन्ध', 'पद्मबन्ध' आदि काव्योंके प्रकार आते हैं । आजकलकी प्रजिल्स भी इसीमे आती है ।

४६. वाजिवाह्य-क्रीडा

इसमें घोड़ेपर चढ़कर 'गेद' खेलना होता है, जिसे चौगान कहा जाता है । तुलसीदासजीने गीतावलीमे इसका वर्णन किया है ।

४७.करिवाह्य-क्रीडा

यह हाथीपर चढकर गेद खेलनेकी क्रीडा है ।

४८ .मृगवाह्य-क्रीडा

इस खेलमें हरिणके रथपर या 'बारहसिंगे' के रथपर चढ़कर दौड़ते हुए व्यक्तिको छूया जाता है ।

४९. गोप-क्रीडा

यह 'रास-क्रीडा'के अन्तर्गत है ।

५० . घट-क्रीडा

सिरपर अनेक घड़ोंको रखकर चलना, अंगारोपर चलना, बॉस लेकर चलना, एक रस्सीपर चलना—ये सब भेद इस घटक्रीडाके अन्तर्गत हैं । इस प्रकार पाठकोके मनोविनोदार्थ प्राचीन क्रीडा-संस्कृतिके प्रथम प्रकारका संक्षेपमे दिग्दर्शन कराया गया है । (संकलित)

भारतीय साहित्यमें नाट्यकला

(पं० श्रीराधाशरणजी मिश्र)

किसी गुण या कौशलके कारण जब किसी वस्तुमे विशेष उपयोगिता और सुन्दरता आ जाती है, तब वह वस्तु कलात्मक हो जाती है । कलाके दो भेद होते हैं—एक उपयोगी कला और दूसरी ललित-कला । उपयोगी कलामे लुहार, सुनार, जुलाहे आदिके व्यवसाय सम्मिलित हैं । ललितकलाके पॉच भेद होते है—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला । उपर्युक्त दोनो कलाओ (उपयोगी कला और ललितकला) मे ललित-कला एवं ललित-कलाओमे काव्यकला श्रेष्ठ होती है तथा काव्यकलामे भी **'काव्येषु नाटकं रम्यम्' 'नाटकान्तं कवित्वम्'** के आधारपर नाट्यकला सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है ।

संसार परिवर्तनशील है, अतः तदाधारभूत काव्य-साहित्यमे भी परिवर्तन होना स्वाभाविक ही नहीं अपितु अनिवार्य-सा है । जैसे हम आधुनिक समाजके विकसित रूपको देखकर प्राचीन गौरव-गाथाओको दन्तकथा बतलाने लग जाते हैं, वैसे ही हमे अपने पौराणिक नाट्य-साहित्यपर भी अविश्वास-सा ही है । फिर भी नीचेकी पंक्तियोमे एतद्विषयक विद्वानोके बिखरे हुए विचार संगृहीत करके लिखे जा रहे है—

१. डॉ० रिजवे नाटककी उत्पत्ति वीर प्रजासे सम्बन्धित मानते हैं । उनका कहना है कि नाटक-प्रणयनकी प्रवृत्ति उन शहीद हुए वीर पुरुषोके प्रति आदरका भाव प्रदर्शित करनेके लिये ही हुई है । हमारे भारतीय नाटकोमे भी श्रीराम या श्रीकृष्ण आदि वीर पुरुषोके चरित्रसे सम्बन्ध रखनेवाले नाटक इस कोटिमे रखे जा सकते हैं ।

२. जर्मन विद्वान् डॉ० पिशेल नाटककी उत्पत्ति पुत्तलिकानृत्यसे मानते हैं । यह पुत्तलिकानृत्य सबसे पहले भारतमे ही प्रारम्भ हुआ था । इसके बाद विदेशोमे भी इसका प्रचार पूर्णरूपसे होने लगा । सूत्रधार, स्थापक आदि शब्दोका अर्थ इस मतका अच्छी तरह पोषण करता है । जैसे पुत्तलिकानृत्यमे उनका सूत्र किसी संचालकके हाथमे रहता है तथा एक व्यक्ति पुत्तलिकाओको स्थापित करता रहता है, वैसे ही नाटकके भी सूत्रधार और स्थापक नाटकीय पात्रोका यथावत् संचालन करते रहते हैं ।

३. कुछ विद्वानोने नाटककी उत्पत्ति छाया-नाटकोसे मानी है । छाया-नाटक भी आधुनिक सिनेमाकी तरह पूर्वकालमे प्रदर्शित किये जाते थे । इस मतको सुपुष्ट करनेके लिये उन्होने प्राचीन उल्लेखोंकी भी खोज की है । पर यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता; क्योंकि हमारा नाट्य-साहित्य बहुत पुराना है । संस्कृतमे 'दूताङ्गद' नामक नाटक अवश्य पाया जाता है, जो छाया-नाटकके सिद्धान्तोपर आधारित है, किंतु उसमे इतनी प्राचीनता नही, जिससे हम उसे भारतीय नाटकोकी आधारशिला मान सके ।

४ अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान् नाटकको

वेदमूलक मानते हैं। ऋग्वेदमे कई संवादसूक्त आते है, जिनमें पुरूरवा और उर्वशीका संवाद विशेष प्रसिद्ध माना गया है। इन संवाद-सूक्तोका कथोपकथन बिलकुल ही नाटकका आधार-स्तम्भ कहा जा सकता है।

५. महामुनि भरतका, जो भारतीय नाट्य-साहित्यके प्रथम प्रवर्तक माने गये हैं, मत है कि सांसारिक मनुष्योंको आपत्तियोंसे क्लान्त देखकर इन्द्रादि देवताओने ब्रह्माजीसे ऐसे वेदकी रचनाकी प्रार्थना की, जिसका अलौकिक आनन्द सर्वसाधारणके लिये समानरूपसे प्राप्त हो सके; क्योंकि चतुर्वेदोंके अधिकारी शूद्रादि निम्नवर्गीय प्राणी नहीं माने गये हैं। इसी प्रार्थनाको दृष्टिगत करके लोकपितामह ब्रह्माजीने चतुर्वर्णोकि लिये—विशेषतः शूद्रोंके लिये पञ्चम वेदका निर्माण किया। इसमे ऋग्वेदसे पाठ्यवस्तु, सामवेदसे गान, यजुर्वेदसे अभिनय और अथर्ववेदसे रस लिया गया—

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

(नाट्यशास्त्र, अ०१,श्लोक १७)

हमारे नाट्य-साहित्यके वेदमूलक होनेके कारण ही भरतमुनिने नाट्य-साहित्यकी यहाँतक प्रशंसा की है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

(नाट्यशास्त्र १।१०९)

संसारमे ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो नाट्य-साहित्यमे प्रदर्शित नहीं की जाती हो। हमारे आदिकाव्य 'वाल्मीकीय रामायण'में भी नाट्य-विषयक कई बातें मिलती हैं। जैसे—

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः॥

(२।६७।१५)

'जिस जनपदमें राजा नहीं है, वहाँ नट और नर्तक प्रसन्न नहीं दिखलायी देते।' इससे सिद्ध है कि राजालोग नटोंको अपने आश्रयमें रखकर उन्हें नाटकका अभिनय करनेके लिये प्रोत्साहित किया करते थे। इसी प्रकार 'महाभारत'में भी 'नट' शब्दका कई जगह उल्लेख मिलता है। महाभारतके अन्तर्गत 'हरिवंशपुराण'में भी रामायणसे कथा लेकर नाटक खेलनेका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वैसे ही 'अग्निपुराण'के ३३६-४६ तकके सर्गोमें श्रव्य तथा दृश्य काव्योकी ही विवेचना की गयी है, पर उपर्युक्त ग्रन्थोका रचनाकाल भी संदिग्धपूर्ण होनेके कारण हम यह निर्णय नहीं कर सकते कि अमुक समयका नाट्य-साहित्य प्राचीनतम है तथा भारतकी ही देन है—अन्य किसी देशकी नहीं।

ईसाके तीन शताब्दी पूर्वतकका नाट्य-साहित्य अज्ञात-कालीन है। इसके बाद पाणिनिके व्याकरण-शास्त्रमे शिलालिन्, कृशाश्व आदि नाट्य-साहित्यके आचार्योका उल्लेख मिलता है। तदनन्तर पतञ्जलिके 'महाभाष्य'में भी 'कंसवध', 'बलिबन्धन'का उल्लेख पाया जाता है। संस्कृत-साहित्यके प्रमुख नाटककार 'कालिदास'का समय भी ईसाके एक शताब्दी-पूर्व मान लिया गया है, इनके भी 'शाकुन्तल', 'मालविकाग्निमित्र' आदि नाटक संस्कृत-साहित्यकी अमूल्य निधि समझे गये हैं। इसके बाद भवभूति, विशाखदत्त, शूद्रक और राजशेखर आदि नाटककारोंने बड़े ही मनोरञ्जक एवं व्यवस्थापूर्ण नाटकोंकी रचना की है। उपर्युक्त नाटककारोंके नाटक पूर्ण विकसित हैं। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि इन नाटकोंके समयसे कई शताब्दियों-पूर्व ही नाटककी रचना सफलतासे की जा चुकी थी।

इस प्रकार दसवीं शताब्दीतक संस्कृत-नाटकोंकी अच्छी भरमार रही। बादमें १९वीं शताब्दीका लंबा काल नाट्य-साहित्यकी रचनासे वञ्चित ही रहा। यद्यपि 'हनुमन्नाटक', 'प्रवोधचन्द्रोदय', 'रत्नावली' आदि नाटक इसी अन्धकालमें बने थे, फिर भी उनमें नाटकत्वके नियमोंका यथावत् पालन न होनेके कारण वे अच्छे नाट्य-साहित्यकी कोटिमें नहीं रखे जा सकते। भारतेन्दु, प्रसाद, श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास आदि स्वनामधन्य नाटककारोंने कई मौलिक नाटक लिखे हैं तथा संस्कृत और बँगलासे अनुवादित भी किये हैं। आशा है, हमारे हिंदी नाटकोके सुशिक्षित कर्णध भविष्यत्कालीन हिंदी-साहित्यको अच्छे-अच्छे मौलिक नाटr प्रदान कर इसे सुसमृद्ध एवं महत्त्वपूर्ण बनायेगे।

सिच्छक हौं सिगरे जग को

(श्रीरामलालजी श्रीवास्तव)

भारतीय शिक्षा-प्रणालीके आदर्श वाक्यके रूपमे वेदका अनुशासन है—'विशेष ज्ञानी—ज्ञानामृतमे प्रतिष्ठित व्यक्ति अज्ञानियोमे बैठकर उन्हे ज्ञान प्रदान करे'—

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि। (ऋग्वेद ७।४।४)

हमारी भारतीय संस्कृतिमे शिक्षा—विद्यादानकी प्राणशक्ति अध्यात्म है और इस अध्यात्मकी प्रतिष्ठा सम्पूर्ण ब्राह्मणत्व है। ब्राह्मणका अभिप्राय केवल जाति-विशेषसे नही है। ब्राह्मणत्व सत्कुलमे जन्म, तप, त्याग, वैराग्य, अपरिग्रह तथा लोकसंग्रह और मोक्षकी सिद्धिमे अधिष्ठित है। लोकमानसमे इस प्रकारके ब्राह्मणत्वकी प्रतिष्ठा शिक्षाका श्रेयस्कर रूप है। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ८०वे और ८१वे अध्यायोमे इसी मूर्तिमान् ब्राह्मणत्वके प्राणप्रतीक सुदामाका आख्यान इस तथ्यका सत्यापक है कि सम्पूर्ण जगत्को अपनी शिक्षा-आध्यात्मिकी विद्या अथवा श्रेयस्करी जीवन-पद्धतिसे प्रबुद्ध करनेवाला शिक्षक त्याग, वैराग्य, अपरिग्रह अथवा लोकसंग्रहके आश्रयका वरण कर ब्राह्मणत्वको प्राणित करता है। वज्रसूचिकोपनिषद्मे वर्णन है—

'यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षडूर्मिषड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्दस्वभावाप्रमेय-मनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत् साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसम्पन्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहंकारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः।'

'इस आत्माका, जो अद्वितीय है, जाति-गुण-क्रियासे हीन है, षड्विकारादि समस्त दोषोसे रहित है, सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्तस्वरूप है, स्वयं निर्विकल्प और अशेष कल्पोका आधार है, समस्त प्राणियोके अन्तर्यामी रूपमे वर्तमान, भीतर-बाहर आकाशके समान अनुस्यूत, अखण्डानन्द स्वभाववाला, अप्रमेय, अनुभवसे एकमात्र जाननेमे आता है, प्रत्यक्ष अभिव्यक्त है, हाथमे स्थित आँवलेके समान जो कोई प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर कृतार्थ हो गया है तथा कामादि दोषोंसे रहित और शम-दमादिसे सम्पन्न, मत्सर-तृष्णा और मोहादिसे रहित है, जो इन लक्षणोसे युक्त है वही ब्राह्मण है। ऐसा श्रुतियो, स्मृतियो, पुराणो, इतिहासोका अभिप्राय है।'

नि.संदेह ऐसा ब्राह्मणत्वसम्पन्न पुरुष ही शिक्षक, लोकशिक्षक अथवा जगद्गुरु होता है। इस ब्राह्मणत्व—आचार्यत्वके स्तरपर ही हमारे शास्त्रोमे आचार्य और शिष्य, शिक्षक और शिक्षार्थीकि बीचमे सद्भावका सामञ्जस्य स्थापित है—

'सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।'

(तैत्तिरीयोपनिषद् १।३)

'हम दोनो आचार्य और शिष्यका यश एक साथ बढ़े। हम दोनोका ब्रह्मतेज एक साथ बढ़े।'

इसी बातको दृष्टिमे रखकर राजर्षि मनुने ब्राह्मणका तप ज्ञान कहा है—

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानम्। (मनु० ११।२३६)

त्यागवृत्तिसम्पन्न तथा धनकी तृष्णासे परे आचार्य ही भारतीय जीवन-पद्धतिमे शिक्षक है। वह ब्रह्मवर्चस्वसे युक्त होकर संग्रहकी वृत्तिसे नितान्त उपरत रहता है। यह आचार्यके जीवनका तप है, जिसके अभावमे उसके द्वारा शिक्षाका सम्पादन नहीं हो सकता। सद्विद्या तो अध्यात्मविद्या ही है और इसी सद्विद्याने समग्र जगत्को व्यावहारिक जीवन—पवित्र चरित्रकी प्रेरणा दी। राजर्षि मनुका कथन है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनु० २।२०)

आशय यह है कि ब्रह्मदेश, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल आदि क्षेत्रोमे उत्पन्न विद्वानो—आचार्योंसे जगत्के सभी मनुष्योंको अपने-अपने आचार—पवित्राचरणकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ।

जड विज्ञानसे प्रभावित भौतिकवादकी तमिस्रामें भयानक दिशाभ्रमके परिणामस्वरूप आज तप, त्याग, वैराग्यमूलक मोक्षप्रद आध्यात्मिकी विद्याका क्रमशः लोप होते रहनेके कारण भारतीय प्रायः अपनी शिक्षाका आदर्श भूलकर पाश्चात्त्य मनोवृत्तियोसे दूषित व्यावहारिक भ्रममें अधःपतित-से हो गये है और ऐसे भयानक परिवेशमें हमने आध्यात्मिक श्रेयका विस्मरण कर प्रेयको अपना लिया है । हमारे इस दिग्भ्रमित आचरणका ही यह परिणाम है कि हम शिक्षाकी सत्-उद्देश्यप्रवृत्तिसे वञ्चित होते जा रहे हैं ।

शिक्षाके संदर्भमें सदा ही यह भारतीय परम्परा प्राणान्वित रहती आयी है कि ऋत (सदाचार), सत्य, तप, दम, शम और मनुष्योचित लौकिक व्यवहारपर हमारे राथीतर, पौरुशिष्ट और मौद्गल्य आदि ऋषियोंने विशेष बल दिया । 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में स्पष्ट दिशानिर्देश विज्ञापित है—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । ····· मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च ।···· सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । (१ । ९)

यही विशुद्ध ज्ञान परमार्थकी प्राप्तिका राजपथ है । पुरुषार्थचतुष्टयकी प्राप्तिपूर्वक परमार्थकी सिद्धि ही भारतीय संस्कृतिमें श्रेयस्करी शिक्षाका प्रधान उद्देश्य स्वीकार किया गया है—

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकम् ॥ (श्रीमद्भा० ५ । १२ । ११)

शिक्षाविद् आचार्यके मनमे धनप्राप्तिकी लिप्सा शिक्षा-कार्यकी महती सिद्धिमें दुर्गम अवरोधक अथवा बाधक है । यही कारण है कि हमारे भारतीय ऋषियोंने सावधान किया है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

(ईशावास्योपनिषद् १ । १)

अखिल ब्रह्माण्डमे जो कुछ भी जड-चेतनरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है । इस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक इसे भोगते रहो । इसमें आसक्त मत हो; क्योंकि धन किसका है—किसीका नहीं ।

अकिञ्चनता ही शिक्षाविद् आचार्यका सर्वोत्तम स्वाभाविक गुण है । इस पदका त्याग करनेपर ही शिक्षाका क्रम बिगड़ जाता है और समाज वास्तविक मानवीय सद्व्यवहारसे वञ्चित हो जाता है । ऐसे तो अनर्थके धाम धनकी अनासक्ति हमारी संस्कृतिमें प्रतिपादित है, पर विशेष-रूपसे शिक्षकवर्गपर जबतक इसका प्रभाव नहीं पड़ेगा, तबतक मानवताको श्रेयस्कर दिशा-निर्देश प्राप्त होना प्राय. कठिन है । जीविकानिर्वाह मात्र धनका संग्रह ही शिक्षकवर्गके लिये—आचार्यपदको गौरवान्वित करनेके लिये ही सापेक्ष है, अन्यथा सामाजिक विकृति सम्भाव्य है ।

आचार्यका यही ब्राह्मणत्व है कि वह धनकी लिप्साका सर्वथा त्याग कर दे । श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णके सखा ब्रह्मविद् विरक्त, प्रशान्तात्मा, जितेन्द्रिय, गृहाश्रमी सुदामाके चरितवर्णनके आधारपर 'सुदामाचरित' काव्यके प्रणेता नरोत्तमदासने सुदामाके जगत्-शिक्षक-रूपका विश्लेषण करते हुए शुद्ध ब्राह्मणत्व—आचार्यत्वका प्रतिपादन किया है । अकिंचन सुदामाको उनकी स्त्रीने द्वारकापति श्रीकृष्णके पास जाकर धन प्राप्त करनेकी सत्प्रेरणा दी । उस पतिव्रताने कहा कि साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान् आपके सखा हैं । आप उनके पास जाइये, वे आप दु.खी कुटुम्बीके लिये पर्याप्त धन प्रदान करेगे । वे इस समय द्वारकामे हैं, स्मरण करते ही अपना चरणकमल प्रदान करेंगे—

तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम् ।
दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ॥

(श्रीमद्भा० १० । ८० । १०)

सुदामाने अपनी सहधर्मिणीको समझाया कि ब्राह्मणोचित

गुणोके कारण ही मै समस्त जगत्का नैसर्गिक शिक्षक हूँ। तुम मुझे इसके विपरीत शिक्षा दे रही हो। मेरा धन तो एकमात्र तप है और तपसे ही मैं अपने इहलोक और परलोकको श्रेयस्कर बनाता हूँ। जो इस तरह तपको ही जीवनका श्रेय समझता है, उसके लिये सम्पत्ति—अर्थकी प्राप्ति गौण है। तुम यह अच्छी तरह समझ लो कि मेरे हृदयमे भगवान्का चरणकमल निरन्तर विराजमान है। वे हरि ही मेरे आश्रय है। ब्राह्मण तो भिक्षामात्रसे ही जीविका-निर्वाह कर जगत्का शिक्षक होनेकी मर्यादा सुरक्षित रखता है—

सिच्छक हौ सिगरे जग को
तिय ताको कहा अब देति है सिच्छा।
जे तप कै परलोक सुधारत,
सम्पतिकी तिनके नहिं इच्छा॥
मेरे हिये हरिके पद पंकज
बार हजार लै देखु परीच्छा।
औरन को धन चाहिये बावरि,
बाभन के धन केवल भिच्छा॥

(सुदामाचरित)

बार-बार पत्नीके आग्रह करनेपर सुदामाने द्वारका जाकर भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करना स्वीकार कर लिया। यद्यपि वे आप्तकाम, यथालाभसंतुष्ट और जीविकोपार्जन-हेतु पूर्ण निश्चिन्त थे तथापि उनके मनमे यह भाव सुदृढ़ हो गया था—

अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम्।

(श्रीमद्भा० १०।८०।१२)

द्वारकामे श्रीकृष्ण और सुदामाके बीचमे महर्षि सादीपनिके गुरुकुलमे शिक्षा प्राप्त करने तथा गुरुके चरणदेशमे श्रद्धानिष्ठापूर्वक सेवा समर्पित करनेके सम्बन्धमे जो वार्तालाप श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ८१वे अध्यायमे वर्णित है, वह इस तथ्यको सत्यापित करता है कि गुरुकुलमे शिक्षा प्राप्त करनेवाले शिक्षार्थी गृहस्थाश्रममे प्रवेश करनेपर किस तरह योग्य जगत्-शिक्षक होनेकी योग्यतासे सम्पन्न होता है। गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली भारतीय संस्कृति, समाज और वर्णाश्रमधर्मकी पूर्ण चरितार्थताकी परम्परागत प्रतीक है और इसकी अवज्ञासे शिक्षाके मूल्य—मानबिन्दुका लोप होता है। श्रीकृष्णने सुदामासे श्रद्धानिष्ठामयी भावभावित भाषामे गुरुकुल-जीवनका स्मरण दिलाकर कहा कि गुरुपत्नीने ईधन लाने-हेतु अरण्यमे भेजा था। अचानक भयंकर जलवृष्टि और तमिस्रासे दिशाएँ आवृत हो गयी थी। गुरुके गृहपर हम दोनोके यथासमय न पहुँचनेपर हमारे गुरु महर्षि सांदीपनि हमे खोजते आये और उन्होने हमे अपने स्नेहाशीष्से कृतार्थ करते हुए कहा कि हमारे हितसम्पादनमें तुमने जिस विशुद्ध समर्पणभावका परिचय दिया है, उससे मै संतुष्ट हूँ। तुम्हारे मनोरथ पूर्ण हो। सादीपनिने वात्सल्य प्रकट किया। यह सत्य है—

गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये।

(श्रीमद्भा० १०।८०।४३)

गुरुके अनुग्रहसे गुरुका ब्रह्मवर्चस्व शिष्यको पूर्णकाम कर देता है। गुरुकुलकी तपोमयी त्यागपूर्ण शिक्षाका ही प्रभाव था कि सुदामाने यह अनुभव किया कि मैं तो अकिंचन हूँ, श्रीकृष्ण श्रीनिकेतन हैं, उन्होंने बाहुओंसे मुझे आलिङ्गित किया और प्रियाजुष्ट पर्यङ्कपर मुझे विराजमान होनेका सौभाग्य प्रदान किया। नि सदेह ऐसे प्रिय सखा हरिका चरणार्चन ही समस्त सिद्धियोका मूल है—

सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्।

(श्रीमद्भा० १०।८१।१९)

सुदामा-जैसे जगत्के शिक्षक होनेकी विज्ञप्ति करनेवाले ही तप-त्याग-वैराग्य और भगवद्भक्तियुक्त ब्राह्मणत्वकी प्रतिष्ठासे जगत्मे श्रेयकी स्थापनाके आधार होते हैं। शिक्षक और शिक्षितमे—अध्यापक और विद्यार्थीमे पारस्परिक सहज स्नेहजन्य सौहार्द और सद्विवेक ही भारतीय शिक्षाकी प्राणशक्ति है।
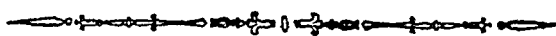
भारतीय जीवन-मूल्योंके अनुरूप शिक्षा

(श्री आर० राजीवन)

भारतीय समाजमे शैक्षणिक सुधारकी आवश्यकताका एक लम्बे समयसे लगातार अनुभव किया जा रहा है । दुर्भाग्यवश 'शैक्षणिक परिवर्तन' राजनीतिज्ञों, तथाकथित ऊँचे घरानेवालो और क्रान्ति-प्रेमी युवा नेताओकी पसंदीका नारा मात्र बनकर रह गया है । इस देशका दुर्भाग्य है कि इस प्रकारकी नितान्त आवश्यकता सड़क-छाप नारो, चुनावी भाषणो और ड्राइंगरूमकी चर्चाओमे खो गयी तथा शैक्षणिक स्तर एवं शिक्षा-पद्धतिमे एक लम्बे समयसे स्थिरता कायम है, जो देशकी युवापीढ़ीके सर्वतोमुखी विकासके लिये सीधे तौरपर बाधक है ।

मजेकी बात तो यह है कि अलग-अलग पार्टियोकी जब-जब भी सरकार आयी है, तब-तब उसने शैक्षणिक सुधारोंकी वकालत की है । लाहौर-कांग्रेसमे अपने अध्यक्षीय भाषणमे पंडित नेहरूने जोरदार शब्दोमें शिक्षाके क्षेत्रमे आमूलचूल परिवर्तनका प्रस्ताव रखा था, परंतु प्रधानमन्त्री बननेके बाद वह स्वप्न ही बनकर रह गया ।

बहुत-से विद्यालयो, महाविद्यालयो और दो सौसे अधिक विश्वविद्यालयोका होना शिक्षा-प्रणालीके प्रसारका द्योतक तो है, पर इस प्रणालीपर स्थिरता और एकरूपता इस प्रकार हावी है कि कोई अभूतपूर्व चमत्कारके बिना इसमें परिवर्तन सम्भव नहीं दीखता ।

स्वामी विवेकानन्दने कहा था कि 'विदेशी भाषामे दूसरेके विचारोको रटकर, अपने मस्तिष्कमें उन्हें ठूँसकर और विश्वविद्यालयोकी कुछ पदवियाँ प्राप्त करके हम अपनेको शिक्षित समझते हैं, क्या यही शिक्षा है? हमारी शिक्षाका उद्देश्य क्या है? या तो मुंशीगिरी करना या वकील हो जाना अथवा अधिक-से-अधिक सरकारी अफसर बन जाना, जो मुशीगिरीका ही दूसरा रूप है; परतु इससे हमे या हमारे देशको क्या लाभ होगा? जो भारतखण्ड अन्नका अक्षय भण्डार रहा है, आज वहीं उसी अन्नके लिये कैसी करुण-पुकार उठ रही है । क्या हमारी शिक्षा इस अभावकी पूर्ति करेगी? वह शिक्षा जो जनसमुदायको जीवन-संग्रामके उपयुक्त नहीं बनाती, जो उनकी चारित्र्य-शक्तिका विकास नहीं करती, जो उनमें भूत-दयाका भाव और सिंहका साहस पैदा नहीं करती, क्या उसे भी हम 'शिक्षा' का नाम दे सकते हैं? हमें तो ऐसी शिक्षा चाहिये, जिससे चरित्र बने, मानसिक वीर्य बढ़े, बुद्धिका विकास हो और जिससे मनुष्य अपने पैरोंपर खड़ा हो सके । हमें आवश्यकता इस बातकी है कि हम विदेशी अधिकारसे स्वतन्त्र रहकर अपने निजी ज्ञानभण्डारकी विभिन्न शाखाओंका अध्ययन करें ।'

स्वामी विवेकानन्दकी शिक्षाके सम्बन्धमें कही गयी उपर्युक्त बातें आज भी विचारणीय हैं । वास्तवमें सभी प्रकारकी शिक्षा और अभ्यासका उद्देश्य 'मनुष्य'-निर्माण ही होना चाहिये । सारे प्रशिक्षणोका अन्तिम ध्येय मनुष्यका विकास करना ही है । जिस अभ्याससे मनुष्यकी इच्छाशक्तिका प्रवाह और प्रकाश संयमित होकर फलदायी बन सके, उसीका नाम है शिक्षा ।

शिक्षाकी हिंदू-पद्धतिके अपने उच्चतर लक्ष्य थे । प्राचीन ऋषि वस्तुओके मूल, उनके स्रोतों और आधारके तहतक पहुँचना चाहते थे । वे आधी बातसे संतुष्ट नहीं थे । उदाहरण-स्वरूप उनकी शिक्षा-प्रणालीका उद्देश्य बिखरे विषयोपर टुकडोमें सूचनाएँ देना नहीं था, अपितु उनका उद्देश्य ऐसे मनका निर्माण करना था जो स्वयं सारी सूचनाओको एकत्र, व्यवस्थित और विश्लेषित करे । इसी प्रकार ज्ञानकी खोजमे उनका उद्देश्य किसी एक विषयपर केवल बाह्य और अधूरी जानकारी करना नहीं था । साथ ही वे उस स्रोतकी खोज करते थे, जो सभी ज्ञान और विज्ञानका उत्स है । हिंदू ऋषि यह भी मानते थे कि सभी मनुष्य भाई-भाई हैं और संसार तथा प्रकृति उसके मित्रवत् हैं, अतः इसी आधारपर उन्होने शिक्षा-पद्धतिकी रचना की । वे आनन्द, सच्चरित्रता और सेवाकी शिक्षा देते थे तथा स्वयंके साथ, पड़ोसियो और साथियोके साथ तथा वातावरणके साथ सामञ्जस्य करना सिखाते थे ।

प्राचीन शैक्षणिक चिन्तनमे एक विशेष प्रकारके वातावरणकी आवश्यकतापर बल दिया जाता था, जिसमें कोई सार्थक शिक्षा सम्भव हो सकती है। प्रथमतः गुरु और शिष्यके बीच पूर्ण सौहार्द होना चाहिये तथा गम्भीर चिन्तन, सत्यके लिये जिज्ञासा, स्नेह, सेवा और श्रद्धाका वातावरण होना आवश्यक है। हिंदू ऋषि यह मानते थे कि इस प्रकारके वातावरणके अभावमे उच्च शिक्षा सम्भव नही है।

सच्ची जिज्ञासा और श्रद्धाके भाव आधुनिक शिक्षा-संस्थाओमे विनष्ट ही दिखायी देते हैं। निस्संदेह थोडे मेधावी विद्यार्थी अभी भी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, किंतु उनकी उपलब्धि मात्र बौद्धिक रहती है। उनका आन्तरिक मस्तिष्क कोरा ही रहता है। वैज्ञानिक उपलब्धियोके लिये ख्यात पाश्चात्त्य-जगत्मे शिक्षाका वातावरण पतनोन्मुख है। अमेरिकामे मस्तिष्कका स्थान यन्त्र ले रहे हैं और शिक्षकोकी जगह कम्प्यूटर। भारतमे भी यही अनुसरण हो रहा है। श्रेष्ठ मस्तिष्क शिक्षाकी ओर न लगकर बडी कम्पनियो और सरकारद्वारा चलाये गये शोध-कार्योमे लग रहे है। इन सबमे उपयोगितावाद तथा व्यावहारिकता तो है, किंतु मस्तिष्कके आन्तरिक गुण सामने नही आते।

श्रद्धाका अभाव भी शिक्षा-सस्थाओमे ताण्डव मचा रहा है। इन सस्थाओको 'शिक्षाका केन्द्र' कहना इस शब्दके साथ खिलवाड करना है। ये सभी प्रकारकी ज्यादतियोके और आपराधिक कार्योके अखाड़ोमे बदल रहे हैं। पश्चिममे अनेक शिक्षा-संस्थाओके शिक्षक पुलिसके पहरेमे पढा रहे है। शिक्षा-संस्थाओमे तोड़-फोड़के चलते प्रतिवर्ष देशके लाखो रुपये बरबाद होते है। उच्च शिक्षा-केन्द्रोमे भी स्थिति अच्छी नही है। विद्यार्थी और प्राध्यापकोंमे भ्रष्टाचार व्याप्त है। कुल मिलाकर प्रत्येक शिक्षा-संस्थाकी स्थिति नाजुक ही है।

प्राचीन शिक्षा-पद्धतिकी कुछ बाते अभी भी अनुकरणीय है। राजकुमार भी साधारण लोगोके साथ रहते थे। श्रीकृष्ण और सुदामा, द्रुपद और द्रोणाचार्यकी कथा हम सब जानते हैं। यह भी सर्वविदित है कि किस तरह तक्षशिलाके अध्यापक सम्पूर्ण भारतसे विद्यार्थी जुटाते थे। ये विद्यार्थी विभिन्न जीवन-स्तरोसे आते और सभी साथ पढ़ते थे। अब धनके आधारपर एक नये प्रकारका श्रेणीवाद सामने आ रहा है। अब विद्यालयके स्वरूपके आधारपर विद्यार्थीके पिताकी आयका अनुमान लगाया जा सकता है। निरन्तर महँगी बढती जा रही है। शिक्षासे आम जनता और शिक्षाके बीच दूरी बढती जा रही है। जबतक समानताके आधारपर सभीको एक-जैसी शिक्षा नहीं मिलेगी, तबतक हम नये समाजकी रचना नही कर सकेगे। शिक्षामे परिवर्तनका विचार करनेसे पहले यह निश्चय करना आवश्यक है कि किस प्रकारका भारतीय समाज हम बनाना चाहते है। जिस प्रकार ब्रिटेनकी मूल चेतना राजनीतिक है और जापानकी आर्थिक, उसी प्रकार भारतकी मूलचेतना आध्यात्मिक है। इसलिये आध्यात्मिक मूल्योको अस्वीकारनेवाले समाज-दर्शनके आधारपर इस देशका पुनर्निर्माण कदापि नही किया जा सकता। भारतकी आदर्श सस्कृतिका यही आधार है।
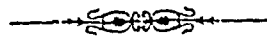
शास्त्रोंका स्थिर सिद्धान्त

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

(स्कन्दपु०, प्रभासख० ३१७।१४)

सभी शास्त्रोको देखकर और बार-बार विचार कर एकमात्र यही सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि सदा भगवान् नारायणका ध्यान करना चाहिये।
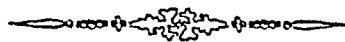
वेद और उनकी शिक्षा

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

(१) शास्त्र-वाक्योंसे श्रवण

सामान्य दृष्टिसे वेद अन्य ग्रन्थोंकी भाँति ही दिखलायी देते हैं; क्योंकि इनमें कुछ समताएँ हैं। अन्य ग्रन्थ जैसे अपने विषयके प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसमूह होते हैं, वैसे वेद भी अपने विषयके प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसमूह दीखते हैं—यह एक समता हुई। दूसरी समता यह है कि अन्य ग्रन्थ जैसे कागजपर छापे या लिखे जाते हैं, वैसे वेद भी प्राकृतिक कागजपर छापे या लिखे जाते हैं, किंतु वास्तविकता यह है कि अन्य ग्रन्थोंके वाक्य जैसे अनित्य होते हैं, वैसे वेदके वाक्य अनित्य नहीं हैं। इस दृष्टिसे वेद और अन्य ग्रन्थोंमें वही अन्तर है, जो अन्य मनुष्योंसे श्रीराम-श्रीकृष्णमें होता है। जब ब्रह्म श्रीराम-श्रीकृष्णके रूपमें अवतार ग्रहण करता है, तब साधारण जन उन्हें मनुष्य ही देखते हैं। वे समझते हैं कि जैसे प्रत्येक मनुष्य हाड़-मांस-चर्मका बना होता है, वैसे ही वे भी हैं, किंतु वास्तविकता यह है कि श्रीराम-श्रीकृष्णके शरीरमें हाड़-मांस-चाम आदि कोई प्राकृतिक पदार्थ नहीं होता[1]। इनका शरीर साक्षात् सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप होता है। अतः अधिकारी लोग इन्हें ब्रह्मस्वरूप ही देखते हैं[2]। जैसे श्रीराम-श्रीकृष्ण मनुष्य दीखते हुए भी मनुष्योंसे भिन्न अनश्वर ब्रह्मस्वरूप होते हैं, वैसे ही वेदोंके वाक्य भी अन्य ग्रन्थोंके वाक्योंकी तरह दीखते हुए भी उनसे भिन्न अनश्वर ब्रह्मरूप होते हैं। जैसे श्रीराम-श्रीकृष्णको 'ब्रह्म', 'स्वयम्भू' कहा गया है वैसे वेदको भी ब्रह्म, स्वयम्भू कहा गया है। इस विषयमें कुछ प्रमाण ये हैं—

(१) अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

(मनु० १।२३)

अर्थात् 'ब्रह्माने यज्ञको सम्पन्न करनेके लिये अग्नि, वायु और सूर्यसे ऋग्, यजुः और साम नामक तीन वेदोंको प्रकट किया। इस श्लोकमें मनुने वेदोंको 'सनातन ब्रह्म' कहा है।'

(२) कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्॥

(गीता ३।१५)

अर्थात् 'अर्जुन! तुम क्रियारूप यज्ञ आदि कर्मको ब्रह्म (वेदों) से उत्पन्न हुआ और उस ब्रह्म (वेदों) को ईश्वरसे आविर्भूत जानो।'

(३) स्वयं वेदने अपनेको 'ब्रह्म' और 'स्वयम्भू' कहा है—'ब्रह्म स्वयम्भूः।' (तै० आ० २।९)

(४) इसी तथ्यको व्यासदेवने दोहराया है—

१- (क) न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मेदोमज्जास्थिसम्भवा। (वराहपुराण) (ख) स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्। (यजु० ४०।८)

इस मन्त्रमें ब्रह्मको 'अकाय' शब्दके द्वारा लिङ्ग-शरीरसे रहित, 'अव्रण' और 'अस्नाविर' शब्दोंके द्वारा स्थूल-शरीरसे रहित एवं 'शुद्ध' शब्दके द्वारा कारण-शरीरसे रहित बतलाया गया है।

२- कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा। (प्रबोधसुधाकर)

(क) वेदो नारायणः साक्षात् । (बृ॰ नारदपु॰ ४ । १७)

(ख) वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम ।

(२) मनन

इस तरह शास्त्रोसे सुन लिया गया कि 'वेद नित्य-नूतन ब्रह्मरूप हैं ।' अब इसका युक्तियोसे मनन अपेक्षित है ।

(३) वेद ब्रह्मरूप कैसे ?

ब्रह्म सत्, चित्, आनन्दरूप होता है—'**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' (बृहदा॰ ३ । ९ । २९) । 'सत्' का अर्थ होता है—त्रिकालाबाध्य अस्तित्व । अर्थात् ब्रह्म सदा वर्तमान रहता है, इसका कभी विनाश नहीं होता । 'आनन्द' का अर्थ होता है— 'वह आत्यन्तिक सुख, जो प्राकृतिक सुख-दुःखसे ऊपर उठा हुआ होता है ।' 'चित्' का अर्थ होता है—'ज्ञान' । इस तरह ब्रह्म जैसे नित्य सत्तास्वरूप, नित्य आनन्दस्वरूप है, वैसे ही नित्य ज्ञानरूप भी है । ज्ञानमे शब्दका अनुवेध अवश्य रहता है—

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते । (वाक्यपदीय)

नित्य ज्ञानके लिये अनुवेध भी तो नित्य शब्दका ही होना चाहिये ? इस तरह नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्धवाले वेद ब्रह्मरूप सिद्ध हो जाते है ।

महाप्रलयके बाद ईश्वरकी इच्छा जब सृष्टि रचनेकी होती है, तब यह अपनी बहिरङ्गा शक्ति प्रकृतिपर एक दृष्टि डाल देता है । इतनेसे प्रकृतिमे गति आ जाती है और वह चौबीस तत्त्वोके रूपमे परिणत होने लगती है । इस परिणाममे ईश्वरका उद्देश्य यह होता है कि अपञ्चीकृत तत्त्वोसे एक समष्टि शरीर बन जाय, जिससे उसमें समष्टि आत्मा एवं विश्वका सबसे प्रथम प्राणी हिरण्यगर्भ आ जाय—'**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**' (ऋक्॰ १० । १० । १)।

जब तपस्याके द्वारा ब्रह्मामे योग्यता आ जाती है, तब ईश्वर उन्हे वेद प्रदान करता है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
श्वेताश्व॰ ६ । १०८)

इस तथ्यका उपबृंहण करते हुए मत्स्यपुराणमे कहा गया है—

तपश्चचार प्रथमममराणां पितामहः ।
आविर्भूतास्ततो वेदाः साङ्गोपाङ्गपदक्रमाः ॥
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥
(३ । २,४)

अर्थात् 'ब्रह्माने सबसे पहले तप किया । तब ईश्वरके द्वारा भेजे गये वेदोका उनमे आविर्भाव हो पाया । (पुराणोको पहले स्मरण किया) बादमे ब्रह्माके चारो मुखोसे वेद निकले ।' उपर्युक्त श्रुतियो एवं स्मृतियोके वचनसे निम्नलिखित बाते स्पष्ट होती है—

(१) ईश्वरने भूत-सृष्टि कर सबसे पहले हिरण्यगर्भको बनाया । उस समय भौतिक सृष्टि नहीं हुई थी । (२) ईश्वरने हिरण्यगर्भसे पहले तपस्या करायी, इसके बाद योग्यता आनेपर उनके पास वेदोंको भेजा । (३) वे वेद पहले ब्रह्माके हृदयमे आविर्भूत हो गये । हृदयने उनका प्रतिफलन कर मुखोसे उच्चरित करा दिया । इस तरह ईश्वरने ब्रह्माको वेद प्रदान किये ।

वेदोंसे सृष्टि

जबतक ब्रह्माके पास वेद नही पहुँचे थे, तबतक वे किंकर्तव्यविमूढ़ थे । वेदोकी प्राप्तिके पश्चात् इन्हींकी सहायतासे वे भौतिक सृष्टि-रचनामे समर्थ हुए । मनुने लिखा है—

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।
(मनु॰ १ । २१)

तैत्तिरीय आरण्यकने स्पष्ट बतलाया है कि वेदोने ही इस सम्पूर्ण विश्वका निर्माण किया है—'**सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ।**' यहाँ प्रकरणके अनुसार 'ब्रह्म' शब्दका वेद अर्थ है ।

ब्रह्माद्वारा सम्प्रदायका प्रवर्तन

सृष्टिके प्रारम्भमे ब्रह्मा अकेले थे । इन्होंने ही वेदोको पाकर सृष्टिके क्रमको आगे बढ़ाया । सनक, सनन्दन, वसिष्ठ आदि इनके पुत्र हुए । ब्रह्माने ईश्वरसे प्राप्त वेदोको इन्हे पढ़ाया । वसिष्ठ कुलपति हुए । उन्होने शक्ति आदि बहुत-से शिष्योको वेद पढ़ाया तथा उनके शिष्योने अपने शिष्योको पढ़ाया । इस तरह वेदोके पठन-पाठनकी परम्परा चल पड़ी । जो आज भी चलती आ रही है—

वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकमधुनाध्ययनवत् ॥
(मीमासा-न्यायप्रकाश)

उपर्युक्त प्रमाणोसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महाप्रलयके बाद ईश्वरकी सत्ताकी भाँति उनके स्वरूपभूत

वेदोंकी भी सत्ता बनी रहती है । इस तरह गुरु-परम्परासे वेद हमलोगोको प्राप्त हुए है । वेदोके शब्द नित्य हैं, अन्य ग्रन्थोकी तरह अनित्य नही ।

वेदोंकी रक्षाके अनूठे उपाय

वेदोका एक-एक अक्षर, एक-एक मात्रा अपरिवर्तनीय है । सृष्टिके प्रारम्भमे इनका जो रूप था, वही सब आज भी है । आज भी वही उच्चारण और वही क्रम है । ऐसा इसलिये हुआ कि इनके सरक्षणके लिये आठ उपाय किये गये हैं, जिन्हे 'विकृति' कहते हैं । उनके नाम हैं—(१) जटा, (२) माला, (३) शिखा, (४) रेखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ और (८) घन—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः ।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः ॥

विश्वके किसी दूसरी पुस्तकमे ये आठों उपाय नहीं मिलते । गुरु-परम्परासे प्राप्त इन आठों उपायोका फल निकला कि सृष्टिके प्रारम्भमे वेदके जैसे उच्चारण थे, जैसे पद-क्रम थे, वे आज भी वैसे ही सुने जा सकते हैं । हजार वर्षोकी गुलामीने इस गुरु-परम्पराको हानि पहुँचायी है । फलत· वेदोकी अधिकाश शाखाएँ नष्ट हो गयीं, किंतु जो वची हैं उन्हे इन आठ विकृतियोने सुरक्षित रखा है ।

वेद अनन्त हैं

जिज्ञासा होती है कि वेदोंकी कितनी शाखाएँ होती हैं और उनमें आज कितनी वची हैं? इस प्रश्नका उत्तर वेद स्वय देते हैं । वे वतलाते है कि हमारी कोई इयत्ता नहीं है—'**अनन्ता वै वेदाः ।**' वेदके अनन्त होनेके कारण जिस कल्पमे ब्रह्माकी जितनी क्षमता होती है, उस कल्पमे वेदकी उतनी ही शाखाएँ उनके हृदयसे प्रतिफलित होकर उनके मुखोंसे उच्चरित हो पाती हैं । यही कारण है कि वेदोकी शाखाओकी संख्यामे भिन्नता पायी जाती है । मुक्तिकोपनिषद्मे ११८०, स्कन्दपुराणमें ११३७ और महाभाष्यमे ११३१ शाखाएँ वतलायी गयी हैं । वेद चार भागोंमे विभक्त हैं—(१) ऋक्, (२) यजु·, (३) साम और (४) अथर्व ।

इनमे ऋक्-संहिताकी २१ शाखाएँ होती हैं, जिनमे आज 'वाष्कल' और 'शाकल' दो शाखाएँ उपलब्ध हैं । यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ होती हैं । इसके दो भेद होते हैं—(१) शुक्ल यजुर्वेद और (२) कृष्ण यजुर्वेद । इनमें शुक्ल यजुःसंहिताकी १५ संहिताएँ हैं । इनमे दो संहिताएँ प्राप्त हैं—(१) वाजसनेयी और (२) काण्व । कृष्ण यजुर्वेदकी ८६ संहिताएँ होती हैं । इनमें चार मिलती हैं—(१) तैत्तिरीय-संहिता, (२) मैत्रायणी-संहिता, (३) काठक-संहिता और (४) कठ-कपिष्ठल । सामवेदकी १००० शाखाएँ होती हैं । इनमें दो मिलती हैं—(१) कौथुम और (२) जैमिनी । राणायनीयका भी कुछ भाग मिला है । अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ होती हैं । आज दो ही मिलती हैं—(१) शौनक-शाखा तथा (२) पैप्पलाद-शाखा । वेदके मन्त्र-भागकी जितनी संहिताएँ होती हैं, उतने ही ब्राह्मण-भाग भी होते हैं । आरण्यक और उपनिषदें भी उतनी ही होती हैं । इनमें अधिकांशका लोप हो गया है ।

ऋषि लुप्त शाखाओंको प्राप्त कर लेते थे

वेदकी शाखाएँ पहले भी लुप्त कर दी जाती थीं । शिवपुराणसे पता चलता है कि दुर्गमासुरने ब्रह्मासे वरदान पाकर समस्त वेदोको लुप्त कर दिया था । पीछे दुर्गाजीकी कृपासे वे विश्वको प्राप्त हुए । कभी-कभी ऋषिलोग तपस्याद्वारा उन लुप्त वेदोंका दर्शन करते थे ।

इस तरह शास्त्र-वचनोके श्रवण और उपपत्तियोंके द्वारा मननसे स्पष्ट हो जाता है कि वेद अन्य ग्रन्थोंकी तरह किसी जीवके द्वारा निर्मित नहीं हैं । जैसे ईश्वर सनातन, स्वयम्भू और अपौरुषेय हैं, वैसे वेद भी हैं । जैसे ईश्वर प्रलयमे भी स्थिर रहते हैं, वैसे वेद भी—'**नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि ।**' (मेधातिथि) इन्हीं वेदोके आधारपर सृष्टिका निर्माण होता है ।

वेदोकी शिक्षा

वेदोने मानवोके विकासके लिये जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें भरपूर शिक्षाएँ दी हैं । प्रत्येक शिक्षा सत्य है, अत· लाभप्रद है; क्योंकि वेदोका अक्षर-अक्षर सत्य होता है । जब ईश्वर सत्य है, तब उसके स्वरूप वेद असत्य कैसे हो सकते हैं? जवतक वेदकी इस सत्यतापर पूरी आस्था

न जमेगी, तबतक वेदोकी शिक्षाको जीवनमे उतार पाना सम्भव नहीं है । अतः यहाँ वेदोकी केवल दो शिक्षाओका उल्लेख किया जा रहा है, जिससे 'स्थाली-पुलाकन्याय' से अन्य शिक्षाओकी सत्यतामे भी आस्था हो सके ।

वनस्पतिमें चेतना

वेदोने हमे सिखलाया हैं कि अन्य प्राणियोकी तरह हम वनस्पतियोपर भी दया दिखलाये; क्योंकि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियोमे जैसी चेतना होती है, वैसी वनस्पतियोमे भी होती है । इन्हे जैसा सुख-दुःख होता है, वैसे वनस्पतियोको भी होता है । छान्दोग्यने बतलाया है कि हरा वृक्ष जीवात्मासे ओतप्रोत रहता है, अतः वह खूब जलपान करता है और जड़द्वारा पृथ्वीसे रसोंको चूसता रहता है—

स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ।
(छा० उ० ६ । ११ । १)

'पेपीयमानोऽत्यर्थं पिबन्नुदकं भौमांश्च रसान् मूलैर्गृह्णन् मोदमानस्तिष्ठति ।'
(आचार्य शकर)

श्रुतिने चेतनाके इस सिद्धान्तको बुद्धिगम्य करनेके लिये कुछ प्रत्यक्ष घटनाएँ प्रस्तुत की है—(१) हरे वृक्षमे ऊपर, नीचे, मध्यमे, किसी भी जगह आघात करनेसे वह रसका स्राव करने लगता है । यह बात सूखे काठमे नहीं दीखती । इससे प्रतीत होता है कि हरा वृक्ष सजीव है । (२) जैसे प्राणियोका कोई अङ्ग जब रोग या चोटसे अत्यन्त आहत हो जाता है, तब उसमे व्याप्त जीवांश उससे उपसंहृत हो जाता है, जिससे वह सूख जाता है । वनस्पतियोमे भी ठीक यही बात पायी जाती है । हरे-भरे वृक्षकी कोई शाखा रोग या चोटसे जब अत्यन्त आहत हो जाती है, तब उसमे व्याप्त जीव उसे छोड देता है और वह सूख जाती है । इसी तरह यदि दूसरी शाखाको छोड़ता है, तो वह सूख जाती है और तीसरीको छोड़ता है तो वह भी सूख जाती है । इसी तरह यदि जीव सारे वृक्षको छोड़ देता है तो सारा वृक्ष ही सूख जाता है—

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति । द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति, सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति ।।
(छा० उ० ६ । ११ । २)

प्राणयुक्त जीवके द्वारा ही खाया-पीया अन्न-जल रसरूपमे परिणत होता है । श्रुतिने वृक्षके इस रसस्राव और शोषण-रूप लिंगसे उसमे चेतनता, सजीवता सिद्ध की है—

वृक्षस्य रसस्रवणशोषणादिलिङ्गाज्जीववत्त्वं दृष्टान्तश्रुतेश्च चेतनावन्तः स्थावरा इति । (आचार्य शकर)

हमारी तरह वनस्पति भी प्यार चाहते है, प्यार पाकर वे बढ़ते है आदि बातोसे वेदानुगत शास्त्र भरे पड़े है । फूल-पत्ती तोड़ते समय उनसे प्रार्थना करनी चाहिये, यह भी सीख है । व्यर्थ तोड़नेसे प्रायश्चित्तका भी विधान है, किंतु हजारो वर्षोंसे विश्वकी बहुत बड़ी जनसंख्या वेदोके इस सिद्धान्तके विरुद्ध थी । इस समय वेदोका वह विवादास्पद सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया है ।

(४) पृथ्वीकी आयु

वैदिक शिक्षाके अनुसार पृथ्वीकी आयु ब्रह्माकी आयुसे कम नहीं है । पृथ्वीकी सृष्टिके बाद ही ब्रह्माका आविर्भाव होता है, अतः पृथ्वीकी आयु ब्रह्माकी आयुसे न्यून नही, अपितु अधिक है । अबतक ब्रह्माकी आयु ५,५५,२१,९७,२९,४९,०८९ वर्षकी हुई है ।

ब्रह्माका एक दिन ४ अरब ३२ करोड सौ वर्षोंका होता है और इतने ही वर्षोकी उनकी रात्रि होती है । ब्रह्माके दिनको कल्प कहते है, जो एक हजार चतुर्युगियोका होता है । ब्रह्माके दिनमे पूर्वसिद्ध पृथ्वीकी ऊपरी सतहका चारो ओरसे उत्तरोत्तर विकास होने लगता है । भास्कराचार्यका कहना है कि यह विकास एक योजनतक होता है—

वृद्धिर्विधेरह्नि भुवः समन्तात् स्याद् योजनं भूर्भुवर्भूतपूर्वैः ॥
(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय ६२)

इस तरह ब्रह्माके दिनमे सृष्टिके विकासकी परम्परा चलती रहती है, किंतु ब्रह्माकी रात्रि आनेपर भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोकका नाश हो जाता है । 'भूलोक' के नाशसे यह नहीं समझना चाहिये कि सम्पूर्ण पृथ्वीका विनाश हो जाता है । विनाश होता है पृथ्वीकी केवल [illegible]का, जो एक योजन बढी थी । भास्कराचार्यने लिखा है कि ब्रह्माकी रात्रिमे अर्थात् अवान्तर

प्रलयमें, एक योजन जो पृथ्वी वढ़ी थी, उसीका नाश होता है, सम्पूर्ण पृथ्वीका नहीं—'**ब्राह्मे लये योजनमात्रवृद्धेर्नाशो भुवः ।**' (सि० शि० ६२) । सम्पूर्ण पृथ्वीका विनाश तो महाप्रलयमें होता है, जव कि ब्रह्माकी पूर्ण आयु समाप्त हो जाती है—(**भुवः**) **प्राकृतिकेऽखिलायाः** । (सि० शि० ६२) इसलिये सर्वज्ञ शास्त्रने पृथ्वीकी आयुको दो प्रकारकी वतायी है—पहली तो प्राकृतिक सृष्टिमें उत्पन्न पृथ्वीकी और दूसरी वैकृत सृष्टिमें उत्पन्न इसकी ऊपरी सतहकी ।

प्राकृतिक सृष्टिमें उत्पन्न पृथ्वीकी आयुका उल्लेख किया जा चुका है । अव ब्रह्माद्वारा निर्मित पृथ्वीकी ऊपरी सतहकी आयुकी जानकारी अपेक्षित है । ब्रह्मा अपने दिनके आरम्भ होते ही इसका विकास करने लगते हैं । अतः इस कल्पका वर्तमान सृष्टि-संवत्सर है—१,९७,२९,४९,०८९ (अर्थात् १ अरव ९७ करोड़ २९ लाख ४९ हजार नवासी) । स्मरण रखना चाहिये कि यह पृथ्वीकी ऊपरी सतहकी आयु हुई । पृथ्वीके सम्वन्धमें यह है वेदोंकी दूसरी शिक्षा ।

इस शिक्षाको भी विभिन्न मत-मतान्तरोंमें पड़कर विश्वकी अधिकांश जनताने अमान्य कर दिया था । भारतवासियोंको छोड़कर विश्वके प्रायः सभी लोग पृथ्वीकी आयु सात हजार वर्षसे अधिक नहीं मानते थे । समस्त पाश्चात्त्य विद्वान् भी इसके अपवाद न हो सके थे । तथ्यकी खोजमें विज्ञान आगे आया । अस्थि-पंजरोंके अध्ययनने सात हजार वर्षकी संख्याको आगे वढ़ाया । ग्रह-नक्षत्रोंकी उष्णताके अध्ययनने इसे चालीस लाखतक पहुँचाया । भूगर्भ-विज्ञानने इसे वढ़ाकर दस करोड़ वर्ष कर दिया । अभी वेदोंकी १ अरव ९७ करोड़वाली संख्या इस संख्यासे वहुत दूर थी । विज्ञानने आगे कदम वढ़ाया । सन् १९०९में सोलास आदि वैज्ञानिकोंने समुद्रके खारापनके अध्ययनसे दस करोड वर्षवाली संख्याको पीछे छोड़कर पृथ्वीकी आयु १ अरव ५० करोड़ वर्ष ठहरायी । पर्तदार चट्टानोंसे जो रूपान्तरित चट्टानें वनी हैं, इनके अध्ययनने भी पृथ्वीकी यही आयु ठहराया है । मारो-गोरोके पिच व्लेड खानमें जो शीशे प्राप्त हुए हैं, उनसे इस संख्याको थोड़ा आगे वढ़ाकर १अरव ५६ करोड़ वर्षतक किया गया ।

यह तो पृथ्वीकी ऊपरी सतहकी आयुकी बात हुई । अव देखना है कि विज्ञान इससे पूर्व पृथ्वीकी आयुके सम्वन्धमें कुछ प्रकाश दे पाता है या नहीं । वीसवीं शताव्दीमें रेडियम, यूरेनियम आदि कुछ ऐसे पदार्थोंका पता चला है, जो स्वाभाविक रूपसे ऊर्जाको मुक्त करते हुए अन्तमें शीशाके रूपमें वच जाते हैं । इन किरणसक्रिय पदार्थोंकी विशेपता यह है कि इनका विघटन सुनिश्चित गतिसे होता है । ऊँचे-से-ऊँचे तापक्रम या दवावमें भी इनकी इस सुनिश्चित गतिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । अतः इनकी सहायतासे हम समयकी सीमा विश्वसनीय रूपसे परख सकते हैं । रेडियमको आधा विघटित होनेमें १६०० वर्ष लग जाते हैं । जवकि यूरेनियमके अपने आधे भागके विघटनमें ४ अरव ५६ करोड़ वर्ष लग जाते हैं ।

अध्ययनसे पता चला है कि पृथ्वीके पपड़ेकी चट्टानोंमें जो यूरेनियम मिलता है, वह इनमें लगभग १ अरव ५० करोड़ वर्ष रहा होगा । यूरेनियम तथा अन्य किरणसक्रिय तत्त्वोंकी परीक्षामें भी इसी प्रकारका निष्कर्ष निकलता है । कनाडाके मैरीटोवा नामक प्रान्तमें एक खनिज मिलता है, जो प्राचीनतम चट्टान है, उसकी आयु किरणसक्रिय विघटनके अध्ययनसे १० अरव ९८ करोड़ ५० लाख वर्ष मानी गयी है ।

वैज्ञानिकोंकी व्याख्या सही भी हो सकती है और गलत भी; क्योंकि इनका आधार वैज्ञानिक परीक्षण है । पर आप्त-वाक्य गलत नहीं हो सकता । किसी वच्चेके रूप-रंगसे उसके पिताका जो पता लगाया जाता है, वह गलत भी हो सकता है और सही भी, किंतु वच्चेकी यथार्थवत्ताका माताका शब्द ही वास्तविक प्रमापक हो सकता है । विज्ञानको अपनी राय वार-वार वदलनी पड़ी है । उसकी सवसे वड़ी अच्छाई है कि वह सचाईकी खोज करता है, किसी वातपर हठ नहीं करता ।

इस तरह यहाँ वेदोंकी दो ऐसी शिक्षाएँ दृष्टान्तरूपमें प्रस्तुत की गयी हैं, जिन्हें प्रायः ८० प्रतिशत जनताने सदियोंसे अस्वीकार कर दिया था, किंतु आज वे सर्वमान्य हो गयी हैं । वेदकी प्रत्येक शिक्षाकी सचाईपर इनसे वल मिलेगा ।

वैदिक साहित्यका सामान्य परिचय

मन्त्र और ब्राह्मणके भेदसे वेदके दो विभाग हैं। भगवान् कृष्णद्वैपायनने इन्हे चार भागोमे विभक्त किया, जो आज ऋक्, यजुः, साम और अथर्वके रूपमे उपलब्ध हैं। प्रत्येक संहिताके साथ उसके विधि-निर्देशक ब्राह्मणभाग और ज्ञानात्मक आरण्यक एवं उपनिषदे भी रहती हैं। वेदको त्रयी भी कहा जाता है। छन्दोबद्ध ऋक् है, गीतात्मक साम है, गद्यबद्ध यजुः है। ब्राह्मणग्रन्थ कर्मकाण्डके धारक हैं तथा आरण्यक और उपनिषद् ज्ञानकाण्डके वाहक हैं, किंतु उपनिषद्की भावनामें सबलताके कारण ज्ञानकी ही प्रधानता हो गयी और कर्म गौण हो गया। शौनकके मतमे ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी ८६, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी १०० शाखाएँ कही गयी हैं। प्रत्येक शाखाका संहिता-भाग, ब्राह्मण एवं कल्पसूत्र होना उचित है, किंतु आज इसका व्यतिक्रम मिलता है। किसी शाखाका संहिताभाग तो किसी शाखाका ब्राह्मण ही प्राप्त हैं। ऋग्वेदकी आश्वलायन-शाखा महाराष्ट्रमे चलती है, किंतु उसकी संहिता शाकल शाखाकी है, ब्राह्मण ऐतरेय शाखाका है, मात्र कल्पसूत्र आश्वलायन शाखाका मिलता है। ऋक्-संहिताकी शाकल, शाङ्खायन और वाष्कल—तीन शाखाएँ मिलती हैं। कौषीतकि और शाङ्खायन एक ही शाखा नहीं है। प्राचीन श्लोकके अनुसार आश्वलायन शाकलके ही शिष्य थे। इस संहितामे बालखिल्यके साथ १०२८ सूक्तोमें १०५५२ ऋचाएँ हैं। शाकलसहितामें १० मण्डलोंमे इसका विभाग है, किंतु वाष्कल-संहितामे आठ अष्टकमे ही विभाग है।

ऋक्-संहिताके प्रथम और दशम मण्डलमे विभिन्न-वंशीय ऋषियोके मन्त्र संगृहीत हैं, दोनो मण्डलोकी सूक्त-संख्या १९१ है। द्वितीयसे सप्तमपर्यन्त प्रत्येक मण्डलमें एक वंशके ऋषिका मन्त्र है। इसलिये ये छः आर्षमण्डल कहे जाते हैं। आर्षमण्डलके ऋषि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ हैं। ऋग्वेदके अनुष्ठान एवं साधनाकी दृष्टिसे अग्नि, इन्द्र और सोम—तीन प्रधान देवता हैं। सोमयागमे १६ ऋत्विक् होते हैं। मन्त्रद्रष्टा प्राचीन ऋषिवंशियोके प्रवर्तकके रूपमें अनेक ऋषियोंके नाम मिलते हैं—भृगु, विश्वामित्र, गौतम, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ, कण्व, कश्यप और अङ्गिरा। संहिताको अधिकृतरूपमे रखनेके लिये अनेक पाठोंका प्रवर्तन किया गया है। उनमें संहिता-पाठ मूल है। संहितामे वर्णस्वरका विचार और व्याकरणकी संधिका नियम रहता है—यह संहितापाठ है। संधिको अलग कर जो पाठ होता है वह पदपाठ है। शाकल-संहिताके पदपाठके रचयिता शाकल्य हैं। संहितापाठ और पदपाठको मिलाकर क्रमपाठ होता है। क्रमपाठसे ८ पाठकी सृष्टि होती है—क्रम, जटा, माला, शिक्षा, रेखा, ध्वज, दण्ड और धन।

ऋग्वेद

ऋक्संहितामे देवताओकी स्तुतियाँ अधिक हैं, अतः इसके ब्राह्मणमे होतृकर्मकी विज्ञप्ति और व्याख्या है। इसके दो ब्राह्मण उपलब्ध हैं—ऐतरेय और शाङ्खायन। ऐतरेय ब्राह्मणका संकलन महिदास ऐतरेयने किया है। इसमे ४० अध्याय हैं। पाँच अध्यायोको लेकर एक-एक पञ्चिका है। प्रथम सोलह अध्यायोमे अग्निष्टोमयागका विवरण मिलता है। शाङ्खायन ब्राह्मणके सप्तम अध्यायसे शेष अध्यायोमें सोमयागका विवरण है। इस ब्राह्मणमें श्रौत यज्ञ एक विशिष्ट शृङ्खलामे सयोजित है। ये यज्ञ आदित्यकी गतिका अनुसरण करते हैं। अहोरात्र, पक्षद्वय, मास या ऋतुपर्याय और संवत्सरको काल मानकर इनका सम्पादन होता है। आधुनिक मनीषियोने ऐतरेयको प्राचीनतम माना है।

सामवेद

साम-संहिताकी ३ शाखाएँ मिलती हैं—राणायनीय, कौथुम और जैमिनीय या तलवकार। कौथुम-संहिताके दो भाग हैं—आर्चिक और गान। आर्चिकके प्रायः सभी मन्त्र शाकलसहितासे लिये गये हैं। केवल ९९ मन्त्र शाकल-संहितामे नहीं मिलते। आर्चिकके पुन. दो भाग हैं—पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिकमें मन्त्र संगृहीत

हैं और उत्तरार्चिकमें यागविधिके अनुसार समन्वित है। पूर्वार्चिकमे मन्त्र स्वतन्त्र हैं, उत्तरार्चिकमे सूक्तके आकारमे हैं। उत्तरार्चिककी स्वरलिपि—जो भक्ति शब्दसे कही जाती हैं, प्रस्ताव—जिसका गान करनेवाला प्रस्तोता, उद्गीथ—जिसका गायक उद्गाता, प्रतिहर—जिसका गायक प्रतिहर्ता कहलाता है। अन्तमे ॐकारके उच्चारणका गान होता है, जिसे हिङ्कार कहते हैं। ॐकार या हिङ्कारको लेकर गान सात भागोमे विभक्त है। वेदमे तीन स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। सामसंहिताके आर्चिक ग्रन्थपाठके समय ये तीनो स्वर लगाये जाते हैं। नारदीय शिक्षाके अनुसार ये स्वर पञ्चम, मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद और धैवत शब्दके समान हैं।

सामवेदके ९ ब्राह्मणोमे जैमिनीय शाखाका जैमिनीय या तलवकार ब्राह्मण कौथुमीय और राणायनीय शाखाका ताण्ड्य या पञ्चविंश या प्रौढ़ ब्राह्मण तथा मन्त्र या छान्दोग्य ब्राह्मण माना गया है। अन्य ब्राह्मण अनुब्राह्मण माने गये हैं। जैमिनीय ब्राह्मणको प्राचीन ब्राह्मणके रूपमे माना गाया है। सायणके भाष्यमे शाङ्खायन ब्राह्मणके अनेक उद्धरण मिलते है। ये जैमिनीय ब्राह्मणसे मेल खाते है। सम्भवतः यह जैमिनीय ब्राह्मणका प्राचीन ब्राह्मण था, जो इस समय मिलता है। जैमिनीय ब्राह्मण ८ अध्यायोमे विभक्त है। प्रथम तीन अध्यायमे कर्मकाण्ड है। चौथेसे सात अध्यायपर्यन्त उपनिषद् ब्राह्मण है। यह आरण्यक और उपनिषद्का सम्मिश्रण है। प्रसिद्ध तलवकार या केनोपनिषद् सप्तम अध्यायके एकादश खण्डसे आरम्भ होता है और २१वे खण्डमे समाप्त होता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण

इसके संकलयिता ताण्ड्य ऋषि हैं। इस ब्राह्मणमे २५ अध्याय हैं, इसीलिये इसको पञ्चविंश ब्राह्मण भी कहा जाता है। ताण्ड्य ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मणका विषय एक ही है, किंतु जैमिनीय ब्राह्मणका आख्यान-भाग ताण्ड्य ब्राह्मणसे समृद्ध है और ऐतिहासिक मूल्य धारण करता है। उसमे कतिपय अतिप्राचीन तान्त्रिक अनुष्ठानोका विवरण मिलता है, जिसे शिष्टाचारविगर्हित मानकर पञ्चविश ब्राह्मणमे छोड़ दिया गया है। पञ्चविंश ब्राह्मणका प्रथम अध्याय यजुर्मन्त्रकी एक संहिता है। द्वितीय एवं तृतीय अध्यायमे विष्टुति या स्तोमरचनाकी पद्धतिका वर्णन है। सामगान सोमयागमे ही होता है, अतः सामवेदीय ब्राह्मणोमें केवल सोमयागका ही विवरण पाया जाता है।

ताण्ड्य ब्राह्मणके परिशिष्ट षड्विंश ब्राह्मणमें ५ प्रपाठक हैं। तृतीय प्रपाठकमें ५ नवीन यागोंका विधान है—श्येन, इषु, संदांश, वज्र और विश्वदेव। तन्त्रकी भाषामे यह रौद्र कर्म है। चतुर्थ प्रपाठकमे ब्राह्मणकी प्रातः-संध्यानुष्ठानके सम्बन्धमे आलोचना की गयी है। पञ्चम प्रपाठक अद्भुत ब्राह्मण है। तन्त्रका शान्तिकर्म इससे सामञ्जस्य रखता है। इसके दशम खण्डमे देव-मन्दिर आदिका विधान किया गया है। सामवेदका एक प्रधान ब्राह्मण छान्दोग्य अथवा मन्त्र या उपनिषद् ब्राह्मण कहलाता है। इसमे १० प्रपाठक हैं। प्रथम दो प्रपाठकमे ब्रीहकरण्डके मन्त्रोका संग्रह है, शेष ८ प्रपाठकमें छान्दोग्योपनिषद् है। इनके अतिरिक्त ५ और ब्राह्मण हैं, जिन्हे अनुब्राह्मण कहा जाता है। सामविधान-ब्राह्मणमे कृच्छ्रचान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तोका विधान है। इसमे तीन प्रपाठक हैं। प्रथम आर्षेय ब्राह्मण है, इसके बाद दैवत ब्राह्मण है। इसमे तीन खण्ड है। इसके प्रथम खण्डमे सामका विधान और अन्त्यभागमे देवताका वर्णन है। द्वितीय खण्डमे छन्दके देवताका विवरण और तृतीय खण्डमे छन्दके नामकी व्युत्पत्ति है। संहितोपनिषद्-ब्राह्मण ५ खण्डमे विभक्त है। अन्तमे वंश-ब्राह्मण ३ खण्डमे विभक्त है। इसमे सामवेदके सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्योंके वंशधारियोका विवरण है। सामवेदके आदिप्रवक्ता स्वयम्भू ब्रह्मा तथा श्रोता प्रजापति है। यह प्रजापतिसे मृत्युको, मृत्युसे वायुको, वायुसे इन्द्रको, इन्द्रसे अग्निको प्राप्त हुआ है। अग्निके द्वारा ही कश्यपने मनुष्योंको इस वेदका लाभ कराया है। मार्कण्डेयपुराणमे भी प्रजापतिक्रममे वेदका विस्तार प्रदर्शित है।

यजुर्वेद

यजुर्वेदको अध्वर्युवेद भी कहा जाता है। देवताके उद्देश्यसे द्रव्यत्याग यज्ञ है। त्यागकर्ता यजमान है और

इसे निष्पन्न करनेवाला ऋत्विक् है। देवताका आवाहन और प्रशस्ति-पाठ, स्तुतिगान और उन्हे उद्देश्य कर होमद्रव्यका आहुति-दान—यही तीन यज्ञका मुख्य साधन है। प्रशस्तिपाठ-कर्ता होता, स्तुतिगानकर्ता उद्गाता और आहुति-दाता अध्वर्यु है। इन मन्त्रोका संकलन यजुःसंहिता है। ऋग्वेदकी भाषामे अध्वर्यु यज्ञका शरीर-निर्माता है। जिन मन्त्रोकी सहायतासे यह कार्य किया जाता है वे यजुष् हैं। यजुःसंहिताकी दो धाराएँ हैं—कृष्ण और शुक्ल। मन्त्र और ब्राह्मणका एक साथ जहाँ निर्देश है वह कृष्ण है और जिस संहितामे केवल मन्त्रका संग्रह है, वह शुक्ल है। शुक्ल यजुर्वेदके शतपथ ब्राह्मणके अन्तमे कहा गया है—**'आदित्यानि इमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते'**—अर्थात् वाजसनेय याज्ञवल्क्यने आदित्यसे इस शुक्ल यजुष्को प्राप्तकर इसका प्रवचन किया है।

इस समय शुक्ल यजुर्वेदकी तीन शाखाएँ प्राप्त हैं—वाजसनेयी, काण्व और माध्यंदिन। वाजसनेयि-संहिताके शेषमे पुरुषसूक्त, सर्वमेध-मन्त्र, शिवसंकल्पादि मन्त्र अध्यात्मवादके परिचायक हैं और अन्तमे ईशोपनिषद् है। अथर्वसंहिताका एक ही ब्राह्मण मिलता है, जिसका नाम गोपथ है। इसके दो भाग हैं—पूर्व और उत्तर। पूर्वभागमे ५ और उत्तर भागमे ६ प्रपाठक हैं।

आरण्यक

संहिताके प्रधान ब्राह्मणोका शेष अंश ही आरण्यक है। यह नाम संहिता और ब्राह्मणमे ही मिलता है। शतपथ ब्राह्मणका चौदहवाँ काण्ड बृहदारण्यक है।

अथर्ववेद-संहिता

अथर्ववेद-संहिताको त्रयी विद्याका परिशिष्ट या उसके परिपूरकके रूपमे माना जाता है। अथर्ववेदके प्रवर्तकके रूपमे तीन ऋषियोका नाम पाया जाता है—अथर्वा, अङ्गिरस और भृगु। ये ही तीन ऋक्-संहिताके प्राचीन पितृपुरुषके रूपमे माने जाते है, यथा—

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥
(ऋ०वे० १०।१४।६)

अथर्वा और अङ्गिरा—ये दोनों यज्ञविधि और अग्निविद्याके प्रवर्तकके रूपमे प्रसिद्ध हैं। भृगुने द्युलोककी अग्निको भूलोकमें मनुष्योके मध्यमें प्रतिष्ठित किया (ऋ०वे० १।५८।६)। अथर्वा एवं भृगु अग्निविद्याके प्रवर्तक हैं, किंतु अग्नि स्वयं ही अङ्गिरा है। इन तीनोंके मूलमे अग्निकी दीप्तिकी ध्वनि मिलती है। अथर्वसंहिताके मन्त्रोका एक पञ्चमांश ऋक्सहितासे लिया गया है, जो पादबद्ध मन्त्र है। अथर्वसंहिताका एक षष्ठांश यजुर्वेदके मन्त्रोके समान गद्यमे रचित है। मन्त्र-रचनाकी जो धारा तीनो वेदोमे मिलती है, अथर्ववेदमे भी उसीकी अनुवृत्ति है, किंतु दोनोके विनियोगमे बहुत भेद है। तीन वेदोंका विनियोग श्रौतकर्ममें है। देवताके साथ सायुज्यके द्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति ही लक्ष्य है। अथर्ववेदका प्रधान विनियोग गृह्यकर्ममे है। अनेक शान्तिक और पौष्टिक क्रियाओंके द्वारा देवशक्तिकी सहायतासे अभ्युदयकी प्राप्ति लक्ष्य है। अथर्वसंहिताकी शौनक-शाखामे २० काण्डोंमें ७३१ सूक्त और ५९५७ मन्त्र हैं। इसमे सप्तम काण्डतक अनेक आभ्युदयिक कर्मोके मन्त्र हैं। फलत. सहिताका यह भाग गार्हस्थ्य और सामाजिक जीवनका पोषक तथा लोकहितके अनुकूल है। अधिक आयु-लाभके लिये भैषज्य अर्थात् आरोग्य-कामनाके लिये, शान्तिक अर्थात् भूतावेश आदिको दूर करनेके लिये, पौष्टिक अर्थात् लक्ष्मी-लाभके लिये, सौमनस्य अर्थात् परस्पर मैत्री सम्पादनके लिये, आभिचारिक अर्थात् शत्रुनाशके लिये, प्रायश्चित्त एवं राजकर्म अर्थात् राष्ट्रके निरापद्-रूप एवं उन्नतिके लिये ये आभ्युदयिक कर्म दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त विवाह, गर्भाधान आदिके भी अनेक मन्त्र इस भागमे दिये गये है। आठवेसे बारहवे काण्डतक अथर्वसंहिताका द्वितीय भाग है—इस भागमे भी आभ्युदयिक कर्मोके मन्त्र दिये गये हैं, किंतु उपनिषद्-भावनाका ही इस भागमे विशेष स्थान है। वेद-ब्राह्मणके आरण्यक-अंशमे जैसे यज्ञाङ्गको लेकर रहस्योक्तिका प्राचुर्य देखा जाता है वैसा ही यहाँ भी उपलब्ध होता है।

अथर्ववेदका पृथ्वीसूक्त पृथ्वीकी स्तुतिके रूपमें समग्र वैदिक साहित्यकी अतुलनीय राजनीतिक उपलब्धि है।

ब्रह्मचर्यसूक्तमे ब्रह्मचारीकी महिमा उदात्तकण्ठसे वर्णित है । गोसूक्तमे वशा गौके ऊपर दो सूक्त हैं । इसमे रहस्यवादकी छाया सघनरूपसे संध्या-भाषाकी आदिजननीके रूपमे उपलब्ध है । १३ से २० काण्ड अथर्वका तृतीय अंश है । इनमे १९ और २० परिशिष्ट अंश हैं । इनमें प्रत्येक काण्डकी विषयवस्तुका निर्देश है । तेरहवे काण्डमे रोहित नामसे आदित्यका प्रसंग है । चौदहवाँ काण्ड विवाह-प्रकरण है । पंद्रहवे काण्डमे व्रात्योकी प्रशंसा है । सोलहवे काण्डमें शान्ति और स्वस्त्ययनके मन्त्र है तथा कतिपय दुःस्वप्न-नाशक सूक्त है । यह काण्ड भी गद्यमे रचित है । सत्रहवे काण्डमे आदित्यकी स्तुति है । अठारहवाँ काण्ड विस्तृत है, इसमे पितृमेध-प्रकरण है, जिसके अधिकांश मन्त्र ऋक्संहितासे लिये गये हैं । यह काण्ड पैप्पलाद-संहितामे नहीं मिलता । इसके बाद दो काण्डोका उल्लेख अथर्व-प्रातिशाख्यमे नही मिलता , अतः मनीषियोंका अनुमान है कि ये बादमे संयोजित किये गये हैं । उन्नीसवाँ काण्ड प्रकीर्ण सूक्तोका संग्रह है । इनमें भैषज्य-विषयक तीन और दुःस्वप्ननाशक छः सूक्त हैं । कतिपय मणिधारणसूक्त इस काण्डकी विशेषता है । इनके अतिरिक्त यज्ञ, दर्भ, कालरात्रि, नक्षत्र, शान्ति आदि इसमे वर्णित है । पुरुष-सूक्त परिवर्तित रूपमें यहाँ संगृहीत है । आत्म-सूक्तमे सद्वाक्यभाव— **'वरदा वेदमाता'** का उल्लेख भी इसी काण्डमें है, जिसमे गायत्री-उपासनाकी दृष्टि सुस्पष्ट है ।
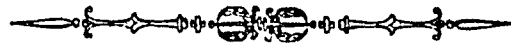
संस्कृत-व्याकरण-शास्त्रका संक्षिप्त परिचय

भारतीय संस्कृतिका मूल आधार उसका प्राचीन वाङ्मय है । यह वाङ्मय संस्कृत, प्राकृत, पाली तथा अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओमे पल्लवित है । भारतका सर्वाधिक प्राचीन साहित्य संस्कृत-भाषामे उपनिबद्ध है और वह है वेद, उसकी शाखाएँ और ब्राह्मण आदि ग्रन्थ-समुदाय । वेदके सम्यक् अध्ययन, ज्ञान और प्रयोगके लिये प्राचीन ऋषियोने शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन छः वेदाङ्गोको समाम्नात किया । वेदाङ्गोमें व्याकरणका सर्वाधिक महत्त्व है । व्याकरणज्ञानके बिना वेदार्थका समझना न केवल दुष्कर ही है अपितु असम्भव है । व्याकरणके मूलभूत सिद्धान्तका आदिस्रोत वेद ही है ।

'ऋक्तन्त्र' के अनुसार व्याकरणके आदि प्रवक्ता ब्रह्माजी हैं—

'ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः ।' (ऋक्तन्त्र १।४)

अर्थात् ब्रह्मा, बृहस्पति, इन्द्र तथा भरद्वाज—ये क्रमशः व्याकरणशास्त्रके आचार्य हुए हैं । इन आचार्योंके क्रमको देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरणशास्त्रके अध्ययन-अध्यापन तथा शिक्षणकी परम्परा अतिशय प्राचीन है । व्याकरणशास्त्रके ग्रन्थोको प्रधानरूपसे तीन भागोमे विभक्त किया जा सकता है—

(१) वैदिक शब्दविषयक—प्रातिशाख्य आदि । (२) लौकिक शब्दविषयक—मन्त्रादि । (३) उभयविध-शब्दविषयक—आपिशल, पाणिनीय आदि ।

वर्तमानमे व्याकरणके जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमे सबसे प्राचीन पाणिनीय व्याकरण ही है । यह लौकिक तथा वैदिक शब्दोके अनुशासनके लिये एकमात्र मान्य व्याकरण है । समस्त व्याकरणप्रवक्ताओकी दो धाराएँ बनती हैं—प्रथम पाणिनिसे प्राचीन तथा द्वितीय पाणिनिसे अर्वाचीन । पाणिनिसे प्राचीन व्याकरणप्रवक्ता आचार्योंके दो विभाग है—एक छन्दोमात्रविषयक प्रातिशाख्य आदिके प्रवक्ता, दूसरे सामान्य व्याकरणशास्त्रके प्रवक्ता ।

प्रातिशाख्य-प्रवक्ता

प्राचीनकालमें वैदिक शाखाओके जितने चरण थे (शाखा चरणोके अवान्तर भेदका नाम है), उन सबके प्रातिशाख्य थे, उनमेंसे इस समय निम्न प्रातिशाख्य उपलब्ध होते हैं—

(१) ऋक्प्रातिशाख्य—शौनकप्रणीत, (२) वाजसनेय-प्रातिशाख्य—कात्यायनप्रणीत, (३) तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य, (४) साम-प्रातिशाख्य, (५) अथर्व-प्रातिशाख्य, (६) मैत्रायणीय-प्रातिशाख्य, (७) आश्वलायन-प्रातिशाख्य, (८) वाष्कल-प्रातिशाख्य, (९) चारायण-प्रातिशाख्य । अन्तिम तीन प्रातिशाख्य वर्तमानमे उपलब्ध नहीं हैं, किंतु यत्र-तत्र ग्रन्थोमे उनका उल्लेख मिलता है ।

अन्य छन्दोव्याकरण

प्रातिशाख्योके अतिरिक्त कुछ ऐसे ही व्याकरण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनकी गणना प्रातिशाख्योमे न होनेपर भी जिनका सम्बन्ध वेद और उनके शाखा-विशेषोके साथ है। यथा—

(१) ऋक्तन्त्र—शाकटायन या औदव्रजिकृत, (२) लघुऋक्तन्त्र, (३) सामतन्त्र—औदवृत्ति या गार्ग्यकृत, (४) अक्षरतन्त्र—आपिशलिकृत, (५) अथर्व-चतुरध्यायी—शौनक या कौत्सप्रणीत, (६) प्रतिज्ञा-सूत्र—कात्यायन, (७) भाषिक सूत्र ।

प्राचीन व्याकरण-प्रवक्ता

उपर्युक्त प्रातिशाख्य आदि वैदिक व्याकरणके ग्रन्थोमे ५७ व्याकरण-प्रवक्ता आचार्योंके नाम उपलब्ध होते हैं । दस प्राचीन आचार्योंके नाम पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमे लिखे हैं । इनके अतिरिक्त तेरह आचार्य ऐसे हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोमे मिलता है । यदि प्रातिशाख्योमे उद्धृत आचार्योंको छोड़ भी दिया जाय तब भी पाणिनिसे प्राचीन २३ आचार्योंके नाम और मिलते है । वे इस प्रकार हैं—(१) इन्द्र, (२) वायु, (३) भरद्वाज, (४) भागुरि, (५) पौष्करसादि, (६) चारायण, (७) काशकृत्स्न, (८) वैयाघ्रपद, (९) माध्यन्दिन, (१०) रौढि, (११) शौनकि, (१२) गौतम, (१३) व्याडि, (१४) आपिशलि, (१५) काश्यप, (१६) गार्ग्य, (१७) गालव, (१८) चाक्रवर्मण, (१९) भारद्वाज, (२०) शाकटायन, (२१) शाकल्य, (२२) सेनक और (२३) स्फोटायन ।

पाणिनीय व्याकरण

पाणिनीय व्याकरणकी रचना विक्रमसे लगभग २८०० वर्ष पूर्व हुई थी । इस समय प्राचीन आर्ष व्याकरणोमें एकमात्र यही व्याकरण उपलब्ध है, जो प्राचीन आर्ष व्याकरणोका संक्षिप्त संस्करण है । इसीलिये कहा गया है—

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात् ।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥

(देवबोधविरचित महा० टीकाका प्रारम्भ)

पाणिनीय व्याकरणके पाँच ग्रन्थ हैं—शब्दानुशासन, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन । इनमें शब्दानुशासन अर्थात् अष्टाध्यायी मुख्य है । शेष चार उसीके खिल या परिशिष्ट हैं । अष्टाध्यायीमे ८ अध्याय और प्रति अध्यायमें चार-चार पाद हैं । अष्टाध्यायीमें लगभग ४००० सूत्र हैं ।

पाणिनीय व्याकरणपर अनेक व्याख्याएँ आचार्योंद्वारा की गयी हैं, जिनमेंसे मुख्य इस प्रकार हैं—

वार्तिक

पाणिनीय सूत्र-पाठपर कात्यायन, भरद्वाज, सुनाग, क्रोष्टा, वाडव, व्याघ्रभूति तथा वैयाघ्रपद आदि आचार्योंके वार्तिक प्रमुख हैं । इनमे भी कात्यायन-विरचित वार्तिक सर्वोपरि है और यही उपलब्ध है । पतञ्जलिके महाभाष्यका मुख्य आधार कात्यायन-विरचित वार्तिक ही है । कात्यायनका समय विक्रमसे २७००वर्ष पूर्व माना जाता है ।

महाभाष्य

पाणिनीय व्याकरणपर सबसे महत्त्वपूर्ण कृति महर्षि पतञ्जलिविरचित महाभाष्य है । पतञ्जलि शुङ्गवंश्य महाराज पुष्यमित्र (विक्रमसे १२०० वर्ष पूर्व) के समकालिक माने जाते हैं ।

महाभाष्यपर अनेक वैयाकरणोने टीका-ग्रन्थ लिखे हैं । इन टीका-ग्रन्थोंके दो विभाग हैं । एक वे टीका-ग्रन्थ हैं, जो सीधे महाभाष्यपर लिखे गये और दूसरे वे हैं, जो कैयट-विरचित महाभाष्यप्रदीपपर रचे गये । इन

टीका-ग्रन्थोमे सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भर्तृहरिविरचित 'महाभाष्यदीपिका' है। इसके अनन्तर महाभाष्यकी जो महत्त्वपूर्ण व्याख्या हुई वह है कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप। यह व्याख्या अत्यन्त सरल और पाण्डित्यपूर्ण है। महाभाष्य-जैसे दुरूह ग्रन्थके समझनेमे यही मुख्य ग्रन्थ है। इस महाभाष्यप्रदीपपर भी अनेको टीकाएँ लिखी गयी है।

वृत्ति-ग्रन्थ

पाणिनीय सूत्र-पाठपर अनेक वैयाकरणोने वृत्तिग्रन्थ लिखे है, उनमे काशिका-वृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। काशिकाका जो संस्करण वर्तमानमे उपलब्ध होता है, उसमे आदिके पॉच अध्याय जयादित्य-विरचित है और अन्तके तीन अध्याय वामनकृत है। काशिकाके अनन्तर भागवृत्ति, भाषावृत्ति तथा दुर्घटवृत्ति भी उपयोगी ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त अष्टाध्यायीपर २५ वृत्तियॉ और उपलब्ध हैं। इनमेसे अभीतक केवल अन्नम्भट्टकी मिताक्षरा, औरम्भट्टकी व्याकरण-दीपिका तथा दयानन्दका अष्टाध्यायीभाष्य—ये तीन ग्रन्थ मुद्रित हुए है।

प्रक्रिया-ग्रन्थ

पाणिनीय व्याकरणका पठन-पाठन प्रक्रिया-पद्धतिसे भी चलता रहा है। इन प्रक्रिया-ग्रन्थोमे रूपावतार, प्रक्रियाकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजिदीक्षित) तथा प्रक्रियासर्वस्व मुख्य ग्रन्थ हैं। सिद्धान्तकौमुदीपर प्रौढमनोरमा, बालमनोरमा, तत्त्वप्रबोधिनी और लघुशब्देन्दुशेखर व्याख्याएँ मुख्य हैं। बादमे लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदीकी रचना व्याकरणशास्त्रमे प्रवेश करनेके लिये की गयी है।

पाणिनिसे अर्वाचीन शब्दानुशासन

पाणिनिके अनन्तर अनेक वैयाकरणोंने शब्दानुशासन-ग्रन्थोकी रचना की। उनमे कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, विश्रान्त विद्याधर, अभिनवशाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमसारस्वत, कौमार और मुग्धबोध मुख्य हैं।

व्याकरणके परिशिष्ट

प्रत्येक शब्दानुशासनके रचयिताको धातुपाठ और गणपाठकी रचना करनी पड़ती है। कई वैयाकरणोंने उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासनकी भी रचना की है, जिनसे सम्बद्ध वहुत-से ग्रन्थ रचे गये हैं।

व्याकरणके दार्शनिक ग्रन्थ

व्याकरणका सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ 'संग्रह' है। यह आचार्य व्याडि अपरनाम दाक्षायणकी रचना है। द्वितीय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आचार्य भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीय है। वाक्यपदीयके बाद लघुमञ्जूषाका स्थान है। यह नागोजिभट्टकी रचना है। इसपर कई टीकाएँ विद्यमान है। नागेशने लघुमञ्जूषाका एक संक्षिप्त संस्करण भी लिखा है—वह है परमलघुमञ्जूषा।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि व्याकरणशास्त्रका साहित्य बहुत विशाल है, यहॉपर तो कुछ मुख्य-मुख्य रचनाओका ही निदर्शन किया गया है। अध्ययन-प्रक्रियाके लिये व्याकरणका ज्ञान परमावश्यक है।

धर्मका सार तत्त्व

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
मातृवत्परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत्। आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥

(पद्म० सृष्टि० १९। ३५७,३५९)

धर्मका सार सुनो और सुनकर उसे धारण करो—जो बात अपनेको प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरोके लिये भी काममे न लाये। जो परायी स्त्रीको माताके समान, पराये धनको मिट्टीके ढेलेके समान और सम्पूर्ण भूतोको अपने आत्माके समान जानता है, वही ज्ञानी है।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान और उसकी शिक्षा

(१)

(ज्यो० भू० पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी)

भारतीय ज्ञान-भण्डारकी निगम, आगम और दिव्य नामसे प्रसिद्ध शतशः विद्याओके अन्तर्गत हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका महत्त्वपूर्ण स्थान है (इन्द्रविजय अ० ११)। ऋग्वेद-संहिता (२।३।२२।१६४) मे तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।४।६)मे और इन्हीं मन्त्रोके भाष्यमे सायणाचार्यने प्रणवरूपा एकपदी, व्याहृति और सावित्रीरूपा द्विपदी, वेदचतुष्टयरूपा चतुष्पदी, छः वेदाङ्ग, पुराण और धर्मशास्त्ररूपा अष्टपदी, मीमांसा, न्याय, सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेदरूपा नवपदी और अनन्त विद्याओमे ज्योतिर्विज्ञानका भी वर्णन किया है। छान्दोग्योपनिषद् (७।१।२) मे महर्षि नारदने अपनी पठित विद्याओमे राशिविद्या, गणित और दैवविद्या, निधिविद्या, नक्षत्रविद्या एवं फलित ज्यौतिषका भी वर्णन किया है। मुण्डकोपनिषद् (१।५) में अपरा विद्याके रूपमे चारों वेदोके साथ ही षडङ्गमे ज्यौतिषको भी गिना गया है। विष्णुपुराण (३।७।२८-२९) आदिमे १८ विद्याओके अन्तर्गत ज्योतिष् भी है। इतना ही नहीं, वैदिक धर्मविरोधी बौद्धोके जातकोमे भी लिखा है कि 'तक्षशिलाके विश्वविद्यालयमे १८ विद्याओमे प्रवीणता करायी जाती थी (मौर्यसाम्राज्यका इतिहास पृ० ६८१)। अवश्य ही जातकोमे उल्लिखित १८ विद्याएँ वे ही हैं, जो विष्णुपुराणमे कही गयी हैं और जिनमे वेदाङ्गस्वरूप हमारा ज्योतिर्विज्ञान भी है।

जिस ज्योतिर्विज्ञानका उपयोग हमारे धार्मिक और व्यावहारिक कार्योंमें सनातन कालसे सतत होता आ रहा है, आज हम उसीके विषयपर महर्षि वात्स्यायनके सिद्धान्तानुसार उद्देश्य, लक्षण और परीक्षाद्वारा किञ्चित् विचार करने जा रहे हैं।

ज्योतिर्विज्ञानका उद्देश्य

विनैतदखिलश्रौतस्मार्तकर्म न सिद्ध्यति।
तस्माजगद्धितायेदं ब्रह्मणा रचितं पुरा॥

(नारदसहिता, अध्याय १)

अर्थात् 'इस ज्योतिर्विज्ञानके बिना हमारे श्रौत और स्मार्त-कर्म सिद्ध नहीं हो सकते। अतएव जगत्के हित-साधनके लिये ब्रह्माजीने पूर्वकालमे इसकी रचना की।' ज्योतिर्विज्ञानके बिना हमारे श्रौत-स्मार्त-कर्म क्यों नहीं सिद्ध हो सकते? इस शङ्काके निरासार्थ महर्षियोने बहुत कुछ लिखा है, किंतु सक्षेपतः याजुषज्यौतिषके तीसरे और आर्चज्यौतिषके छत्तीसवे श्लोकमे तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराणके दूसरे खण्डके १७४ वे अध्यायके अन्तमे (जो पितामहसिद्धान्तका अन्तिम श्लोक है) लिखा है—

वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः
कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं
यो ज्यौतिषं वेद स वेद सर्वम्॥

अर्थात् 'वेद तो विविध यज्ञानुष्ठानोके लिये प्रवृत्त है और जितने यज्ञ हैं, उनका अनुष्ठान कालाधीन है। अतएव जो विद्वान् कालविधानशास्त्र—ज्योतिर्विज्ञानको जानता है, वही यज्ञादि सब कुछ जानता है।'

ज्योतिर्विज्ञानके गौणरूपसे भले ही अनेक उद्देश्य हो, किंतु मुख्य उद्देश्य है 'कालविधान', जिसके बिना षोडश संस्कार, तिथि, वार, योग और नक्षत्रोके सम्बन्धसे विविध व्रतोत्सव तथा मुहूर्तादि विचार, प्रश्न, जातक एव हायन (ताजक)-सम्बन्धी होरा-विचार और शताध्यायीसंहिताके शकुन, वायुपरीक्षा, मयूरचित्रक, सद्योवृष्टि, ग्रहशृङ्गाटक आदिके विचार ही नही हो सकते। इतना ही नहीं, कालज्ञानके बिना दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, अष्टका, विषुव, मास, ऋतु, अयन आदि लौकिक, वैदिक एवं महालयादि पैतृक यज्ञोके अनुष्ठान भी नहीं हो सकते। सारांश यह कि ज्योतिर्विज्ञानका मुख्य उद्देश्य कालज्ञान है।

ज्योतिर्विज्ञानका लक्षण

जिस ज्योतिर्विज्ञानके बिना हिंदू-जातिके नित्य-नैमित्तिक कार्य ही नही चल सकते, उसका लक्षण क्या है और

उसके स्वरूपमे समयानुसार कैसे-कैसे परिवर्तन हुए हैं? क्या हिंदू-जातिका ज्योतिर्विज्ञान अपरिवर्तनशील है, जिसका कोई सनातन-रूपसे प्रमाण उपस्थित किया जा सकता हो?—ये विषय विचारणीय हैं। उपर्युक्त ढंगसे आवश्यक महनीय ज्योतिर्विज्ञानके स्वरूपका वर्णन करते हुए देवर्षि नारदने कहा है—

सिद्धान्तसंहिताहोरारूपस्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिःशास्त्रमनुत्तमम्॥

(नारदसहिता १।४)

अर्थात् 'सिद्धान्त, संहिता और होरारूप स्कन्धत्रयात्मक अत्युत्तम ज्योतिःशास्त्र वेदका निर्मल नेत्र है।' भास्कराचार्यने सिद्धान्तशिरोमणिके गणिताध्यायमें सिद्धान्तका लक्षण यों बताया है—

त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना मानप्रभेदः क्रमा-
च्चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा चोत्तराः।
भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते
सिद्धान्तः स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः॥

अर्थात् 'त्रुटिकालसे लेकर प्रलयके अन्तकालतक (त्रुटि, लेखक, प्राणपल, विनाड़ी, नाड़ी, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, सत्यादि चारो युग, स्वायम्भुवादि चौदह मनु और ब्राह्म दिन, रात्रि, कल्प) की गणना और नौ प्रकारके कालमान (ब्राह्म, दिव्य, पित्र्य, प्राजापत्य, गुरु, सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र) के भेद, सूर्यादि ग्रहोकी चाल, व्यक्त-अव्यक्तरूप दो प्रकारका गणित, दिशा, देश और कालसम्बन्धी विविध प्रश्न तथा उनके उत्तर, पृथ्वी, नक्षत्र और ग्रहोके संस्थान—कक्षादि और वेधद्वारा ग्रह-नक्षत्रादिके स्थान, क्रान्ति, शर आदिके ज्ञापक तथा क्षणादि अहोरात्रपर्यन्त कालके ज्ञापक तथा जल, वालुका एव कील आदिद्वारा स्वयं चालित विविध यन्त्रोंके बनानेकी विधि और उपयोगका जिसमे वर्णन हो, उस गणितशास्त्रको विद्वान्लोग ज्योतिर्विज्ञानका 'सिद्धान्तस्कन्ध' कहते हैं।

ज्योतिर्विज्ञानके संहितास्कन्धका वर्णन आचार्य वराहमिहिरने महर्षियोके मतानुसार अपनी बृहत्संहिता (१।२१) मे विस्तारके साथ किया है, जिसका सारांश यह है कि सूर्यादि ग्रहों, विविध केतुओ—पुच्छल ताराओं, नक्षत्रो, सप्तर्षि, अगस्त्य आदि ताराव्यूहोके स्थान, चार योग, उदयास्तादिके द्वारा शुभाशुभादिका वर्णन तथा विविध उत्पातो, शकुनों और उनके फलोके विचार और रत्नपरीक्षा, पशुपरीक्षादिके साथ ही विविध मुहूर्तोंका वर्णन मानव-जातिके सभी व्यावहारिक विषयोका वर्णन सहितामें रहता है। अतएव इस ज्योतिःस्कन्धका दूसरा नाम व्यवहारशास्त्र भी रखा गया है।

तीसरे होरास्कन्धका लक्षण बलभद्र मिश्रने अपने 'होरारत्न'मे कश्यपके वचनके आधारपर लिखा है, जिसका सारांश यह है कि होरास्कन्धमें राशिभेद, ग्रहयोनि, गर्भज्ञान, लग्नज्ञान, आयुर्दाय, दशाभेद, अन्तर्दशादि, अरिष्ट, कर्मजीव, राजयोग, नाभसयोग, चन्द्रयोग, द्विग्रहादियोग, प्रव्रज्यायोग, राशिशील, दृष्टि, ग्रहभावफल, आश्रम और सङ्कीर्णयोग, स्त्रीजातक, नष्टजातक, निर्याण तथा द्रेष्काणादि फलोंका विचार—इन सब विषयोका वर्णन होता है। होरास्कन्धका दूसरा नाम है—जातक, अथवा यो कहें कि होरास्कन्धका प्रधान अङ्ग जातक है। जन्मकालके आधारपर जो शुभाशुभ फलका निर्णय करनेवाला ग्रन्थ हो, उसे जातक कहते हैं। होरास्कन्धका अर्थ सारावली (२।२—४) में कल्याणवर्माने लिखा है कि 'अहोरात्र' शब्दके आदि-अन्तके वर्णोको त्याग देनेसे 'होरा' शब्द बना है; क्योंकि अहोरात्र सावन दिनके द्वारा ही ग्रहोंके भगणादिकोका स्पष्टीकरण होता है और उन्हीं ग्रहोंके द्वारा समस्त फल-विचार होते है। अथवा लग्नका नाम होरा है तथा लग्नार्धका नाम होरा है, जिसके द्वारा समस्त जातकसम्बन्धी फल-विचार होते हैं। इसी होरास्कन्धके द्वारा जन्म, वर्ष, प्रश्नादिके इष्टकालपर ग्रहभावादिका स्पष्टीकरण तथा दृष्टि, बल, दशा-अन्तर्दशादिकी गणना और फलोका विचार होता है। अतएव इसे होरा, जातक तथा हायन (ताजक) भी कहते हैं।

ज्योतिर्विज्ञानकी परीक्षा

ज्योतिर्विज्ञानके उद्देश्य और लक्षणका वर्णन हो जानेपर अब उसकी परीक्षा होनी चाहिये। उद्देश्यके अनुसार हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका लक्षण मिलता है अथवा नहीं, यही विचारणीय विषय है। सूर्यादि ग्रहो और

अश्विन्यादि नक्षत्रोंके गणित तथा फलितका वर्णन जिस शास्त्रमे हो, उसे 'ज्यौतिष' शास्त्र कहते हैं, जो हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानके अर्थमे योगरूढ़ माना गया है।

शास्त्रजन्य ज्ञानको ज्ञान और अनुभवजन्य ज्ञानको विज्ञान कहा गया है, अतएव मध्यकालीन ज्योतिषियोमेसे कुछ लोगोने **'प्रत्यक्षं ज्यौतिषं शास्त्रम्'** की आड़मे अपने स्वल्पकालीन अनुभव और चर्मचक्षुके बलपर दृग्गणित (सायन) गणनाद्वारा अनादि, अव्यय वेदाङ्ग-ज्योतिर्विज्ञानमे मनमाने बीजादिसंस्कार देकर भ्रम उत्पन्न कर दिया है और मनमाने अयनांशकी कल्पना कर ली है, तथापि हमारे वेदचक्षुःस्वरूप ज्योतिर्विज्ञानकी निरयण कालगणना और ग्रहगणनाद्वारा पञ्चाङ्गपत्रकी रचना तथा उसीके आधारपर समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मोंका व्यवहार होता आ रहा है। वस्तुत. हमारे ज्योतिर्विज्ञानके 'विज्ञान' शब्दका अर्थ इस प्रकार है—

विज्ञानं निर्मलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं यदव्ययम्।
अज्ञानमितरत्सर्वम् .... ॥

(कूर्मपुराण २।३९)

अर्थात् 'जो ज्ञान निर्मल, सूक्ष्म, निर्विकल्प और अव्यय (सदैव विकाररहित एकस्वरूप) है, वही विज्ञान है और इतर ज्ञान सब-के-सब अज्ञान हैं।' सारांश यह कि जिस प्रकार ईश्वरनि.श्वसित हमारे वेद अपरिवर्तनशील हैं, उसी प्रकार वेदके चक्षु:स्वरूप ज्योतिर्विज्ञानका स्वरूप भी अपरिवर्तनशील, निर्मल, सूक्ष्म और अव्यय है। वृद्धवसिष्ठ-सिद्धान्त (मध्यमाधिकार श्लोक ८) मे लिखा है—

वेदस्य चक्षुः किल शास्त्रमेत-
त्प्रधानताङ्गेषु ततोऽर्थजाता।
अङ्गैर्युतोऽन्यैः परिपूर्णमूर्ति-
श्चक्षुर्विहीनः पुरुषो न किञ्चित्॥

अर्थात् 'यह ज्योति.शास्त्र वेदका नेत्र है। अतएव उसकी स्वत. वेदाङ्गोमे प्रधानता है; क्योंकि अन्यान्य अङ्गोसे युक्त, परिपूर्णमूर्ति पुरुष नेत्रहीन (अन्धा) होनेसे कुछ नही है।' आर्चज्योतिष (३५) और याजुष ज्योतिष (४) में लिखा है—

यथा शिखा मयूराणां
नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां
ज्यौतिषं (गणितं) मूर्धनि स्थितम्॥

अर्थात् 'जैसे मयूरोंकी शिखा और नागोकी मणि शिरोभूषण है, वैसे ही (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिषरूप) वेदाङ्गशास्त्रोमे ज्यौतिष शिरोभूषण है।'

सिद्धान्त, संहिता और होराके रूपमे जिस ज्योतिर्विज्ञानका इतना महत्त्व है, उसके विषयमे ऋग्वेदीय चरणव्यूहके परिशिष्टमे महर्षि शौनकने लिखा है—**'चतुर्लक्षं तु ज्यौतिषम्'** अर्थात् मूल ज्योतिर्विज्ञान चार लाख श्लोकोमे है। नारदसंहिता, कश्यपसंहिता और पराशरसंहितामे ज्योतिर्विज्ञानके प्रवर्तकोके जो नाम दिये हैं, उनमे मुख्यतः १८ हैं। यद्यपि पराशरसंहिताके पाठसे २० नाम हो जाते हैं, तथापि विद्वानोका मत है कि पाठाशुद्धिसे ही दो नाम बढ गये हैं। सर्वसम्मत पाठके अनुसार वे १८ नाम इस प्रकार हैं— ब्रह्मा, सूर्य, वसिष्ठ, अत्रि, मनु, सोम (पौलस्त्य), लोमश, मरीचि, अङ्गिरा, व्यास, नारद, शौनक, भृगु, च्यवन, यवन, गर्ग, कश्यप और पराशर।

कुछ विद्वानोने गर्गसंहिताके—**म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।**—इस श्लोकको देखकर यवनाचार्यको यूनानी और लोमश—रोमशको रोमक तथा पौलस्त्य—पौलिसको सिकन्दरपौलिसकी कल्पना करके हमारे ज्योतिर्विज्ञानके प्रवर्तकोंमे विदेशियोको प्रविष्ट करनेकी चेष्टा की है, जो सर्वथा भ्रम है। वस्तुतः ये १८ ज्योतिर्विज्ञानके प्रवर्तक सब-के-सब भारतकी ही अमर विभूतियाँ हैं।

यद्यपि चतुर्लक्षात्मक इस ज्योतिर्विज्ञानके गणितमें सिद्धान्त, तन्त्र और करण तथा फलितमे संहिता—जिसके अन्तर्गत शकुन, सामुद्रिक, शालिहोत्र, स्वर, निधिविज्ञान, दैव और मुहूर्तादि शतशः विषय हैं और होरास्कन्ध, जिसके अन्तर्गत जातक, हायन (ताजक) एवं प्रश्नादिके विषय हैं, तथापि इस ज्योतिर्विज्ञानके मुख्य दो ही भाग हैं—प्रथम गणित, दूसरा फलित और दोनों भागोंका अस्तित्व वैदिक कालसे अबतक अविच्छिन्नरूपसे मिलता

है। जो लोग फलितभागको आधुनिक कहते अथवा मानते हैं, वे इस बातको भूल जाते हैं कि फलित और गणितका वाणी और अर्थकी भाँति सम्बन्ध है। यदि गणित वचन है तो फलित उसका अर्थ है। जिस प्रकार अर्थरहित शब्द व्यर्थ होता है—जिसका प्रयोग कभी बुधजन नहीं करते—उसी प्रकार फलितरहित गणित व्यर्थ होता है, जिसके लिये हमारे ब्रह्मादि ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तक जनसिद्धान्तादि-रचना करते—यह सम्भव नहीं।

अवश्य ही गणित और फलितकी इस प्रकारकी घनिष्ठता होनेपर भी ज्योतिर्विज्ञानका फलितभाग—चाहे वह होराका विषय हो और चाहे संहिताका—परतन्त्र है, गणिताधीन है, बिना गणितके उसका विचार ही नहीं हो सकता, किंतु गणितभाग स्वतन्त्र है। अतएव ज्योतिर्विज्ञानकी परीक्षामें यदि हम गणितभागकी परीक्षा कर ले तो फलित-भागकी परीक्षा स्वतः हो जायगी। अतएव हमे देखना है कि ज्योतिर्विज्ञानका जो उद्देश्य नारदसंहिता (१।७) और विष्णुपुराण (२।१७४ अन्तिम श्लोक) में लिखा है, उसकी सिद्धि ज्योतिःसिद्धान्तके वर्णित लक्षणोसे हो जाती है अथवा नहीं? और हमारे ज्योतिःसिद्धान्तके विषय वेदाङ्गज्यौतिषके ही हैं अथवा विदेशसे लाये गये हैं?

उपर्युक्त १८ प्राचीन आचार्येकि सिद्धान्तोमेसे जो सिद्धान्त इस समय प्राप्य हैं, उनमे सबसे अधिक मान्य 'सूर्यसिद्धान्त' है। वराहमिहिरकी पञ्चसिद्धान्तिका (शक ४२७) मे पॉच सिद्धान्तोका उल्लेख और कुछके वर्णन भी हैं। उसमे लिखा है—**'स्पष्टतरः सावित्रः'** (श्लोक ४)। नृसिंहदैवज्ञने हिल्लाजदीपिकामें ६ सिद्धान्तोके जो नाम दिये हैं, उनमे भी 'सूर्यसिद्धान्त'का महत्त्व विशेष है। दैवज्ञ पुञ्जराजने अपने 'शम्भुहोराप्रकाश'मे सात सिद्धान्तोके जो नाम दिये हैं, उनमें भी 'सूर्यसिद्धान्त'की प्रधानता है और शाकल्यसंहिताके 'ब्रह्मसिद्धान्त' (१।९) मे **'अष्टधा निर्गतं शास्त्रम्'** लिखा है और उन आठ सिद्धान्तोंमें भी 'सूर्यसिद्धान्त'की प्रधानता है। सारांश यह कि इस समयतक 'सूर्यसिद्धान्त'से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई दूसरा सिद्धान्त नहीं है। अतएव हम इस परीक्षामे 'सूर्यसिद्धान्त'के आधारपर विचार करेगे। वर्तमान 'सूर्यसिद्धान्त'ही मूल 'सूर्यसिद्धान्त' है, इसमे संदेह नहीं और उसकी गणनाके सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) सहस्रयुगीय कल्पके आधारपर सूर्यादि ग्रहोके भगण, उच्च, पातादिके भगणद्वारा मध्यम ग्रहगणना और उनका स्पष्टीकरण।

(२) कालबोधक वर्षगणना सौर-चान्द्र, मासगणना सौर-चान्द्र, तिथि-गणना सौर-चान्द्र, वारगणना सावन और घड़ी-पलादिकी गणना आर्क्षमानसे करके **'चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौरचान्द्रर्क्षसावनैः'** चरितार्थ करना।

(३) पञ्चाङ्गी गणनामे निरयण गणनाको मान्यता देते हुए ग्रहण, युति, क्रान्तिसाम्यादिकी गणनामें सायन (दृश्य) गणनाका प्रयोग।

(४) कल्पारम्भके पश्चात् ४७,४०० दिव्य (सौरमानके १,७०,६४,०००) वर्षसे अहर्गणकी गणना, जिसके आधारपर निरयण ग्रहगणना की जाती है और निशीथकालसे अहर्गणका आरम्भकाल।

(५) नाक्षत्रिक-चैत्रादि मासोके नामकी यौगिकता और सूर्यादि वारोंका अहर्गण-गणनामें महत्त्व।

(६) **'अचलाचलैव'** के सिद्धान्तानुसार भूमिमें किसी प्रकारकी गति न मानकर सूर्यादि ग्रहोका अपनी-अपनी गतिसे पूर्वाभिमुखगमन और प्रवहवायुद्वारा भपञ्जरके दैनिक पश्चिमाभिमुखगमनकी मान्यता।

(७) सूर्यादि ग्रहोकी गतियोंमे आकर्षणशक्तिकी मान्यता।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञानके उद्देश्योंमें कालविधान और श्रौत-स्मार्त कर्मोंका साधन ही मुख्य है। ज्योतिर्विज्ञान—विशेषकर सिद्धान्तज्यौतिषके लक्षणोके उपर्युक्त विवरणोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि हिंदू-ज्योतिर्विज्ञान उद्देश्यपूर्ति करनेमे पूर्ण समर्थ है, जिसके लिये निम्नलिखित प्रमाण हैं—

'पाङ्क्तो वै यज्ञः' इस श्रुति-वचनके अनुसार अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध और सोम-भेदसे पाँच प्रकारके यज्ञ होते हैं। कुछ लोग इष्टि, पशु और सोम नामसे तीन ही प्रकारके यज्ञ मानते हैं और इन तीनो यज्ञोके औपासन, वैश्वदेव,

पार्वण, अष्टका, मासिक श्राद्ध, सर्पबलि और ईशानबलि नामके सात यज्ञ, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, आग्रयणादि इष्टायन, चातुर्मास्य, निरूढ़पशुबन्ध, सौत्रामणी और पिण्डपितृयज्ञ चतुर्होतृहोमादि नामके सात तथा अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय और आप्तोर्याम नामके सात यज्ञ—इस प्रकार २१ प्रकारके यज्ञ-भेद होते हैं (गोपथब्राह्मण ५।२५)।

इतना ही नहीं, शिरोयज्ञ, अतियज्ञ, महायज्ञ, हविर्यज्ञ और पाकयज्ञके नामसे जिन पाँच यज्ञोके वर्णन हैं, उनके भी एक-एकके अनेक भेद है तथा रात्रिसत्र, अयनसत्र और संवत्सरसत्र, बहुसंवत्सर, महासत्रादि नामसे जिनके बहुसंख्यक अवान्तर भेद हैं, वे वैदिक यज्ञ हैं, जिनके अनुष्ठानमें संवत्सर, अयन, विषुव, मास—चैत्रादि मास, पक्ष, तिथि और सावन दिन (वारो)के जाननेकी आवश्यकता होती है तथा चान्द्रनक्षत्रोका जानना भी अत्यावश्यक होता है। सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, व्यतीपातादि योग, वसन्तादि ऋतु और विष्णुपदी, षडशीतिमुखादि सूर्य-संक्रान्तियोंका ज्ञान भी यज्ञानुष्ठानके लिये अत्यावश्यक होता है और इन सभी कालो, नक्षत्रो और योगोका ज्ञान एकमात्र निरयण गणनाके अनुसार सूर्यसिद्धान्त-जैसे आर्षसिद्धान्तीय पाञ्चाङ्गोंद्वारा ही हो सकता है और हमारे षोडश संस्कार, एकादशी, जयन्ती, शिवरात्रि, प्रदोष आदि व्रतो तथा हिंदू-संस्कृतिके श्रावणी, विजयादशमी, दीपावली आदि उत्सवोका अनुष्ठान चैत्रादि मास, प्रतिपदादि तिथि, अश्विन्यादि नक्षत्र, योग और करणके साथ ही सौर-संक्रान्तियोके ज्ञानके बिना कर सकना असम्भव है और इन सबका ज्ञान हमारे निरयण सिद्धान्त-ज्योतिषद्वारा ही हो सकता है। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि हमारे श्रौत-स्मार्त कर्म हिंदू-ज्योतिर्विज्ञान—सूर्यसिद्धान्त-जैसे सिद्धान्तके ज्ञान बिना किये ही नही जा सकते।

इसी प्रकार वास्तुरचना, विविध प्रकारके कुण्डो और वेदियोके बनानेमे दिशाओंका ज्ञान भी आवश्यक होता है, जिसका ठीक-ठीक ज्ञान ज्योतिर्विज्ञानद्वारा ही होता है (देखिये 'दिङ्मीमांसा' स्व० महामहोपाध्याय पं० श्रीसुधाकरजी द्विवेदीकृत)। श्रौत-स्मार्त कर्मोके आरम्भ करनेके मुहूर्त, जन्म, प्रश्नादिके लग्नादि-विचारके लिये क्षणादि कालके ज्ञानकी भी अत्यन्त आवश्यकता होती है और ठीक-ठीक कालज्ञान हमारे सिद्धान्तोमे वर्णित विविध यन्त्रोद्वारा ही हो सकता है (देखिये यन्त्राध्याय सू०)। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका सिद्धान्तीय लक्षण उद्देश्यके अनुरूप ही है—इसमे संदेह नहीं है।

हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानकी विशेषता

हमारा वेदाङ्ग-ज्यौतिष, जो वेदका चक्षुःस्वरूप है, क्या अपने अङ्गी वेदोके समान ही अपरिवर्तनशील है अथवा मध्यकालीन आर्यभट्ट, लल्ल, वराह आदि विद्वानोके मतानुसार समय पाकर उसमे अन्तर हो जाता है, जिससे समय-समयपर उसमे बीजादि-संस्कार देकर उसकी स्थूलताकी शुद्धि करनी चाहिये? जैसा आजकलके आस्तिक विचारके विद्वानोका भी कथन है कि जिस समय सूर्यसिद्धान्तादि आर्ष सिद्धान्तोकी रचना हुई, उस समय सूर्य-चन्द्रादिका स्पष्टीकरण ठीक होता था और उसके अनुसार तिथ्यादि मान शुद्ध थे। अब कालान्तरमे अन्तर पड़ता है। अतएव विदेशीय विद्वानोने चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र और शनिके आकर्षण, नूतन स्थान तथा मन्दफलादि संस्कारसे सूर्यका और इसी प्रकार विविध उपकरणोसे चन्द्रमाका जो स्पष्टीकरण किया है, उसीके अनुसार तिथ्यादि-साधन करना चाहिये; किंतु यह सब विडम्बनामात्र है, इसमे कोई तत्त्व नहीं है।

जिस आर्ष सिद्धान्तको हमारे वेदो और स्मृतियोने स्वीकार किया है और जिस गणनाके अनुसार तिथियोका निर्णय करके श्रौत-स्मार्त कर्मका विधान किया है—यदि हम आस्तिक हैं तो आज भी उसी गणनासे बनी तिथियो, मासो, नक्षत्रो आदिको मानेगे। इसमे हमारी हठधर्मी नहीं, सत्याग्रह है, क्योंकि गोलयुक्ति और आकर्षण-विद्याके नियमोंके अनुसार जितना अन्तर अब है, उतना ही तब भी था। इसमे किञ्चित् भी संशय नहीं करना चाहिये। क्या उस समय चन्द्रमा नहीं थे,

जो बड़े बलसे सूर्यको खींचते हैं, जिसके कारण कई विकलाओंका विकार सूर्यमें पड़ जाता है? और क्या उस समय सूर्य नहीं थे, जिनके खींचनेसे चन्द्रमामें अंशोंका विकार पड़ जाता है? (पञ्चाङ्ग-प्रपञ्च पृ० २) यदि सूर्यादि ग्रह आजके ही समान सूर्यसिद्धान्तके रचनाकालमें भी थे तो सूर्यसिद्धान्तके दृश्य गणितमें और आकर्षण-विद्याद्वारा किये गये दृश्य गणितमें जितना अन्तर आज पड़ रहा है, उतना ही अन्तर उस समय भी पड़ता था, जिसे उस समय दिव्य दृष्टिवाले हमारे महर्षियोंने नहीं माना, अपने अदृश्य तिथ्यादिको ही श्रौत-स्मार्त कर्मके लिये उपयुक्त माना है। अतएव उसीको हमें भी मानना चाहिये।—क्रमशः
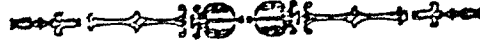
सांख्य-दर्शन और शिक्षा

महर्षि कपिलद्वारा प्रणीत सांख्य-दर्शन अतिशय प्राचीन है। सत्य-तत्त्वका दर्शन जिससे होता है, वही दर्शन है। सांख्य शब्दकी उत्पत्ति संख्या शब्दसे होती है। यह आस्तिक दर्शन है। चौवीस तत्त्वोंकी संख्याका निर्देश करनेसे तथा प्रकृति पुरुषसे भिन्न है—इस विवेक-साक्षात्काररूप सम्यग् ज्ञानके कारण इसे सांख्य-दर्शन कहा जाता है।—

सांख्यदर्शनमेतावत्परिसंख्यानिदर्शनम्।
संख्यां प्रकुरुते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते॥
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः॥

(महा० १२।२९४।८१-८२)

मत्स्यपुराण (३।२९) में कपिलदर्शनमें तत्त्वगणनाकी प्रधानताके कारण इसे सांख्यदर्शन नामसे कहा गया है।

महर्षि पतञ्जलिने तत्त्वके परिज्ञान या सत्त्व पुरुषके भेद-ज्ञान (अन्यथा-ख्याति) में प्रसंख्यान शब्दका प्रयोग किया है। व्यासदेवने भी यही कहा है। शंकराचार्य, श्रीधरस्वामी एवं रामानुजाचार्य आदिने गीतामें आये सांख्य शब्दका अर्थ आत्मतत्त्व किया है।

वेदमें कहा गया है कि परमेश्वरने सबसे पूर्व कपिलको ज्ञानसे पूर्णकर सृष्टि की थी—**'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्'** (श्वेता० उ० ५।२)। सिद्धोंमें कपिल मुनि हैं—यह गीतामें भी कहा गया है—**'सिद्धानां कपिलो मुनिः'** (१०।२६)। अतः कपिल व्याससे पूर्ववर्ती आचार्य थे। श्रीमद्भागवतमें कपिलको विष्णुका पञ्चम अवतार कहा गया है। कर्दम ऋषिकी तपस्यासे भगवान्‌ने लोकके कल्याणार्थ सांख्य-दर्शनका आविष्कार माता देवहूतिको ज्ञान प्रदानके व्याजसे किया था। कपिलको षष्टितन्त्रका रचयिता माना गया है। महाभारतके अनुसार इस दर्शनकी शिष्य-परम्परा इस प्रकार है—जैगीषव्य, असित, देवल, पराशर, वार्षगव्य, भृगु, पञ्चशिख, कपिल, शुक, गौतम, आर्ष्टिषेण, गर्ग, नारद, आसुरि, पुलस्त्य, सनत्कुमार, शुक्र, विश्वरूप आदि (महा० १२।३०६।५७-६०)।

दर्शनमे दुःखका नाश या सुखकी प्राप्ति—दो लक्ष्य हैं। कतिपय दर्शनोंमे आत्यन्तिक दुःखका अभाव ही लक्ष्य रहता है और कतिपय दर्शनोंमे परमानन्दकी प्राप्ति लक्ष्य है। यह भी सत्य है कि मानवकी सभी कामनाओंके साथ यह प्रश्न होता है कि यह किसलिये? यह किसलिये? किंतु दुःखका अभाव एवं सुखकी प्राप्तिकी कामनाओंमें यह किसलिये—यह प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि यह किसी अन्य इच्छाके अधीन इच्छाका विषय नहीं होता। सांख्य, बौद्ध आदिके मूलमें दुःखका सर्वथा विनाश ही उद्देश्य है। वेदान्त एवं वैष्णव आदि दर्शनोंमें परमानन्दरूपता अभीष्ट है। बौद्धदर्शन सांख्यकी भूमिपर ही विकसित है। इसके साथ तन्त्र कहे गये हैं जो निम्नलिखित हैं—(१) प्रकृति और पुरुषका नित्यत्व, (२) प्रकृतिका एकत्व, (३) परिणामके द्वारा अनेक फलोंका उत्पादन, (४) प्रकृतिकी श्रेष्ठ प्रयोजनसाधकता,

कपिलमुनिका सदुपदेश

(५) प्रकृतिके साथ पुरुषका भेद, (६) पुरुषका अकर्तृत्व, (७) पुरुषका बहुत्व, (८) सृष्टिके समय प्रकृतिके साथ पुरुषका संयोग, (९) मुक्तिके समय प्रकृतिसे पुरुषका वियोग, (१०) महत्-तत्त्व (बुद्धि) आदिका सूक्ष्माकार कारणमे स्थिति, (११-१५) पाँच प्रकारका विपर्यय, (१६-२४) नौ प्रकारकी तुष्टि, (२५-५२) अट्ठाईस प्रकारकी अशक्ति, (५३-६०) आठ प्रकारकी सिद्धि। इसके लिये प्रमाण आदिका व्याख्यान आवश्यक है। बुद्धि निश्चयात्मक चित्तवृत्ति है। विषयके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध होनेपर विषयके आकारमे बुद्धिका परिणाम होता है। विषयाकार-परिणत चित्तवृत्तिमे चिन्मय पुरुषका सम्बन्ध होनेसे पुरुषके सम्बन्धसे जो ज्ञान होता है वह प्रमा है, विषयका ज्ञान प्रमेय या ज्ञेय है, जिस पुरुषको ज्ञान होता है—वह प्रमाता है और प्रमा ज्ञानका साधन प्रमाण है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन प्रमाण हैं।

इस दर्शनमे तात्त्विक प्रमेय पचीस हैं। मूलतत्त्व चौबीस हैं, पचीसवाँ तत्त्व आत्मा-पुरुष है—(१) प्रकृति, (२) महान् (बुद्धि), (३) अहङ्कार, (४-८) नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा, त्वक्, (९-१३) पाँच कर्मेन्द्रिय (वाणी, गुदा, उपस्थ (मूत्रोत्पादनस्थल), हाथ, पैर), (१४) मन, (१५-१९) पञ्च तन्मात्र (स्पर्श, रूप, रस, शब्द, गन्ध), (२०-२४) पाँच महाभूत, (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश), (२५) पुरुष आत्मा या चेतन। सम्पूर्ण विश्व इन्हीं चौबीस तत्त्वोके अन्तर्गत है। सांख्य-दर्शनमे जगत्का स्रष्टा नही है, प्रकृतिसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है, यही सृष्टिका उपादानकारण है, सहकारी या निमित्तकारण जीवका पाप और पुण्य है। धर्म और अधर्मके अनुसार प्रकृति जीवोके भोग और मोक्षके लिये विचित्र जगत्की सृष्टि करती है। सृष्टिके आरम्भमे कर्मके अधीन पुरुषके महान् संस्पर्शसे प्रकृतिकी साम्यावस्था समाप्त हो जाती है। अर्थात् समान परिणाम न होकर विषम परिणामवाली सृष्टि होने लगती है। जीवोके भोगके लिये प्रवृत्ति या सृष्टिका प्रारम्भ होता है। मोक्षके लिये प्रकृतिकी निवृत्ति या तिरोभाव होता है। ईश्वर न तो सृष्टिकर्ता है, न रक्षाकर्ता है और न ध्वंसकर्ता है।

रोग, आरोग्य, रोगका निदान और दवा—ये चार बातें जिस प्रकार आयुर्वेदमें कही जाती हैं, वैसे ही हेय = छोड़ने योग्य, हान (छूटना), हेयका साधन और हानका उपाय=छोड़नेका साधन—ये चार बातें दर्शन-शास्त्रमें कही जाती हैं। तीन प्रकारके दुःख 'हेय' हैं, तीनों दुःखोंकी सर्वथा निवृत्ति 'हान' है, अविवेक हेयका कारण है, विवेक-ज्ञान हानका उपाय है। इन चारोके विवरणके लिये सांख्य-शास्त्र प्रवृत्त होता है। मानव सुख-भोगकी आशासे जीता है। आयु सीमित है। धनीके घरमें जन्म ग्रहण कर भी मानव सुख न प्राप्तकर दुःखकी ज्वालासे जलता रहता है। वृद्धावस्थाका दुःख, मृत्यु-भय सभीको लगा रहता है, अतः सुखसे युक्त होनेसे सांसारिक सुखोंकी भी दुःखमे ही गणना है, इसलिये दुःखके नाशका उपाय ही इस दर्शनका लक्ष्य है।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविकके भेदसे दुःख तीन प्रकारके हैं। शारीरिक और मानस दुःखके भेदसे आध्यात्मिक दो प्रकारका है। शारीरिक दुःखका कारण वात, पित्त, कफकी विषमताके कारण रोग एवं दुःख देनेवाले विषयोकी प्राप्ति है। मानस दुःखका साधन काम, क्रोध, लोभ, मोह, विषाद आदि हैं। पशु-पक्षी आदिसे दुःखकी प्राप्ति आधिभौतिक है। यक्ष, राक्षस, विरुद्ध ग्रहोंसे उत्पन्न दुःखकी प्राप्ति आधिदैविक दुःख है।

प्रकृति और पुरुषका विवेक-ज्ञान=भेद-ज्ञानस्वरूप तत्त्वज्ञान है। पुरुष और प्रकृति एवं प्रकृतिसे उत्पन्न तत्त्वोके स्वरूपका सम्यग् ज्ञान होनेपर प्रकृतिसे पुरुषका भेद-ज्ञान होता है। इससे अतिरिक्त दवा, यज्ञ, मन्त्र आदिके द्वारा दुःखकी सर्वथा निवृत्ति नहीं हो सकती, अतः दुःखकी सर्वथा निवृत्तिके लिये एकमात्र साधन सांख्य-दर्शन ही है।

सांख्यकी सृष्टि-प्रक्रिया

प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारकी उत्पत्तिके बाद पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन—इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है और इसके बाद पाँच महाभूतकी उत्पत्ति होती है; क्योंकि महत्त्व=बुद्धि-तत्त्वकी उत्पत्तिसे पूर्व कालकृत पूर्व और

पर-भाव नही रहता । इसके बाद ही देश और काल आता है । महत्तत्त्व=बुद्धि-तत्त्व उज्जवल आकाशके समान प्रकाशमान है— **'बुद्धितत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पम्'** (यो० भा० १।६५) । इसकी हृदयकेन्द्रमें स्थिति है । यह सत्त्वप्रधान तत्त्व है । जीवके ज्ञानकी उत्पत्तिमे बुद्धिकी प्रधानता है । बुद्धि साक्षात् ज्ञेय वस्तुको पुरुषके निकट उपस्थापित करती है । गाँवका अध्यक्ष गाँवसे कर लेकर देशके अध्यक्षको देता है और देशाध्यक्ष सर्वाध्यक्षको देता है, सर्वाध्यक्ष राजाको देता है । इसी प्रकार बाह्य इन्द्रियाँ पुरुषके भोगके विषयोको मनको, मन अहंकारको, अहंकार बुद्धिको उपस्थापित करता है । इसलिये बुद्धिकी प्रधानता है । पुरुषके भोग और मोक्षके लिये बुद्धि ही प्रधान रूपसे सहायक होती है ।

प्रकृति सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—इन तीन गुणोवाली है । सत्त्वगुण सुखस्वरूप है, रजोगुण दुःखस्वरूप है, तमोगुण मोहस्वरूप है । प्रकाशके लिये सत्त्वगुण, क्रियाके लिये रजोगुण और संयमन अर्थात् आवरणके लिये तमोगुण माना गया है । सत्त्वमे लघुता है, अग्नि आदिका ऊपर गमन सत्त्वगुणके कारण ही होता है । नेत्र आदि इन्द्रियाँ सत्त्वगुणके कारण विषयोके ग्रहणमें समर्थ होती है । चलन अर्थात् गति रजोगुणका स्वरूप है, इसी कारण सत्त्व और तमोगुण गतिमान होते है । विश्वके सभी विषय त्रिगुणात्मक हैं, किंतु जिस गुणकी प्रबलता रहती है, उस समय उसके अनुरूप अनुभूति होती है । सत्त्वगुणकी प्रबलता रहनेपर सुखानुभव होता है और रजोगुणकी प्रबलतासे दु:ख और तमोगुणसे मोह होता है । त्रिगुणात्मक एक प्रकृतिसे अनन्त गुणवाले जगत्‌की सृष्टि होती है । जैसे मेघके समान जलसे ताल, बेल, आँवला, नीम, नारियल आदि विभिन्न आधारोमे विचित्र स्वादका जल होता है ।

दूसरा तत्त्व पुरुष है, यह प्रकृतिसे अलग है । इसमे कोई गुण नहीं है, अतः वह सुख-दु ख-मोहात्मक नहीं है । पुरुष चेतन है और प्रकृति अचेतन, परिणामशील और भोगका साधन है । पुरुष सख्यामे अनेक है । सर्वव्यापी होनेसे इसकी गति सम्भव नहीं है । इसका किसी भी समय नाश नही होता । यह पाप-पुण्यशून्य है, नित्य ज्ञान-स्वरूप, नित्य चेतन है, दुःख आदिसे इसका स्पर्श नहीं है । प्रकृति-पुरुषका अनादि कालसे सम्बन्ध होनेसे उनका संयोग भी अनादि है । बुद्धिपर पुरुषका प्रतिबिम्ब पड़ता है । इस प्रतिबिम्बके कारण पुरुष प्रकृतिके सुख-दुःख आदिको अविवेकसे अपना मान लेता है । जैसे स्फटिकको लाल वस्तुपर रखनेपर लालिमा लक्षित होती है, किंतु लालिमा उसकी नहीं है और न उसमे आती है, किंतु रक्त स्फटिकका केवल अभिमान होता है, वैसे ही दुःखी-सुखी पुरुषका अनुभव अभिमान मात्र है । जैसे सैनिकोके द्वारा जय या पराजय होती है, किंतु राजाकी जय कही जाती है, वैसे ही भ्रमके कारण पुरुषको सुख-दुःखका भान होता है । आत्माका भ्रम होनेसे ये सभी घटनाएँ होती है ।

प्रकृतिका यह परिणाम पुरुषकी मुक्तिके सम्पादनके लिये होता है । प्रत्येक पुरुषका लिङ्ग-शरीर भिन्न है । प्रकृति जिसकी मुक्ति सम्पन्न करती है उसके लिङ्ग-शरीरके उत्पादनसे वह विरत हो जाती है । मैं प्रकृतिसे अलग हूँ—यह ज्ञान होते ही पुरुषके प्रति उसकी प्रवृत्ति नही होती । यह प्रकृति वैसी ही गुणवाली और उपकारी है जैसे गुणवान् नौकर अनुपकारी स्वामीका होता है । मुक्ति-सम्पादन करनेपर भी इसे कुछ मिलता नहीं है; क्योंकि प्रकृति सगुण है और पुरुष निर्गुण नित्यमुक्त है । प्रतिबिम्बके कारण ही बन्धन है । इसकी जीवस्वरूपता भेदका ज्ञान न होनेतक ही रहती है । विवेकी व्यक्तिके लिये जगत्‌का सब कुछ दु:खमय है । इन्द्रियकी भोगस्पृहा कभी भी समाप्त नहीं होती । अग्निमे घीकी आहुतिके समान इन्द्रियकी भोग-स्पृहा बढ़ती रहती है । बन्धन स्वाभाविक नही है, अविवेकके कारण ही बन्धन है । यदि यह स्वाभाविक होता तो मुक्ति नही हो सकती ।

स्थूल-सूक्ष्म सभी दु खोकी सदाके लिये निवृत्ति ही मुक्ति है । मै परिणामी नहीं हूँ, अत मै कर्ता नहीं हूँ, अकर्तृत्वके कारण वास्तविक स्वामित्व नहीं है । विवेक-ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है और अविद्याके नाशसे उसका कार्य—राग-द्वेष समाप्त हो जाता है । आभिमानिक

कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी समाप्त हो जाता है । इस समय प्रकृति जानती है कि पुरुषके लिये अब कुछ करना ही नही है; क्योंकि वह भोक्ता नहीं है । विवेकसम्पन्न व्यक्ति मर नहीं जाता । इस समय अज्ञानी व्यक्तिको उपदेश प्रदान कर लोक-कल्याणमे वह तत्पर रहता है । राग और द्वेष न होनेसे सबका कल्याण करना और उसकी प्राप्तिका मार्ग बताना ही उसका कर्तव्य शेष रहता है । वह लोगोको दुःखी देखकर उन्हे दुःखसे छुटकारा दिलानेके लिये प्रकृतिके कार्योंकी सूचना देता है और प्रकृतिके कार्योंसे लोकको सुख-दुःखसे शून्य होकर जीवन-यापनकी शिक्षा देता है ।

न्याय-दर्शन और शिक्षा

सम्पूर्ण विश्वको दुःखमे निमग्न देखकर महामुनि गौतमने दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिये न्याय-शास्त्रका प्रणयन किया । इसका दूसरा नाम आन्वीक्षिकी-विद्या भी है । भगवान् अक्षपाद गौतमने इस अध्यात्मविद्याका प्रकाश किया था । नीति, धर्म और सदाचारकी प्रतिष्ठाके लिये देवगणोकी प्रार्थनाके अनुसार स्वयम्भू भगवान्ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि एवं त्रयी (वेद), आन्वीक्षिकी, वार्ता तथा दण्डनीतिका प्रचार किया था । न्याय-सूत्रमे ५ अध्याय हैं । प्रथम तथा द्वितीय अध्यायोंमे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, द्रष्टा, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान—इन सोलह तत्त्वोका वर्णन है । इनके तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । इस सूत्रके प्रणेता गौतम हैं, जिनका संक्षेपमे परिचय निम्नलिखित है ।

न्याय-सूत्रके भाष्यकार आदि अक्षपादका न्याय-सूत्रके प्रणेताके रूपमे उल्लेख करते है । गौतम या गौतम मुनिकी भी प्रणेताके रूपमे चिरकालसे प्रसिद्धि है । स्कन्दपुराणमे कहा गया है कि अहल्यापति गौतम मुनिका ही दूसरा नाम अक्षपाद है—

अक्षपादो महायोगी गौतमाख्योऽभवन्मुनिः ।
गोदावरीसमानेता अहल्यायाः पतिः प्रभुः ॥

(माहे॰ खण्ड ५५ । ५)

गौतम अहल्यापति थे, यह तो रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोमें वर्णित है । वर्तमान दरभंगा स्टेशनसे ७ कोस उत्तर कमतौल नामक स्टेशनसे ४ कोसकी दूरीपर गौतमका प्रसिद्ध आश्रम है । यहीं गौतम मुनि तपस्या करते थे और गौतमी गङ्गाको लाये थे । किसी समय प्याससे पीड़ित गौतमने देवताओसे जलकी प्रार्थना की । तब उनके निकट ही कूपका उद्गारकर देवताओने गौतमको परितृप्त किया । गौतम-आश्रमसे २ कोसकी दूरीपर अहल्याका स्थान भी प्रसिद्ध है । कुछ लोग छपराके संनिकट भी गौतमका आश्रम बतलाते हैं, किंतु शतपथ-ब्राह्मणमे गौतमका सदानीराको पारकर विदेहमें जानेकी बात कही गयी है । ऋग्वेद-संहिता (१ । ८५ । ११) मे कूपकी उपलब्धिकी चर्चा वर्णित है ।

गौतम राहुगणके पुरोहित थे—ऐसा शतपथ-ब्राह्मणद्वारा ज्ञात होता है । अहल्याके पुत्र शतानन्द जनकके पुरोहित थे—इसका उल्लेख रामायणमे है ।

पुराणोके अनुसार गौतमके शिष्य कृष्णद्वैपायन व्यासने किसी समय गौतमके मतकी निन्दा की थी, तब गौतमने प्रतिज्ञा की कि मैं इस नेत्रसे तुम्हारा मुख नहीं देखूँगा । पुनः वेदव्यासकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर गौतमने अपनी पूर्व प्रतिज्ञाका स्मरण करते हुए पैरमें चक्षुकी सृष्टि कर वेदव्यासको देखा । उस समय वेदव्यासने अक्षपादके द्वारा उनकी स्तुति की थी । देवीपुराणके सोलहवें अध्यायमें शुम्भ-निशुम्भको मारनेके बाद गौतमके अक्षपाद नाम और न्याय-दर्शनकी रचनाका कारण वर्णित है । रजि-पुत्रोंको मोहित करनेके लिये नास्तिक्य-मतका प्रचार किया गया

था। फलतः याग-यज्ञ आदि विलुप्त होने लगे। देवगणोने शिवजीकी आराधना की और उनके आदेशके अनुसार गौतमकी शरणमें गये। गौतमने नास्तिक्य-मतके निरासके लिये पदयात्रा की। शिवजी शिशु-रूपमे उपस्थित होकर नास्तिक-मतके अनुसार तर्कको उपस्थित करने लगे। सात दिनतक विचार करनेके बाद भी उन्हे पराजित न होते देखकर गौतम चिन्तित हो मौन हो गये। शिवजीने उपहास करते हुए कहा—'वेदधर्मज्ञ मुने! मेधाविन्! एक सामान्य बालकको पराजित किये बिना ही क्यों मौन हो गये? ऐसी स्थितिमे ज्ञान और अवस्थामे वृद्ध नास्तिकोंको तुम कैसे परास्त कर सकोगे?' शिवजीको पहचानकर गौतमने उनकी प्रार्थना आरम्भ कर दी। शिवजीने वृषवाहनरूपमें उपस्थित होकर धन्यवाद दिया।

शिवजीने कहा—'मैं तुम्हारा नाम धारण करूँगा और तुम्हारे तीन नेत्र होंगे।' उनके वाहनने १६ पदार्थोंको प्रदर्शित किया। शिवजीकी कृपा प्राप्तकर इन १६ पदार्थोंका ईक्षण-दर्शन कर गौतमने नास्तिक-मतका नाश करनेवाली आन्वीक्षिकी विद्याका प्रचार किया। ब्रह्माण्डपुराणमें ऐसा शिववाक्य मिलता है कि ७वें द्वापरमे जब जातूकर्ण्य व्यास होंगे, उस समय प्रभासतीर्थमें योगात्मा सोमशर्मा नामसे मैं अवतरित होऊँगा। अक्षपाद, कणाद, कुलू और वत्स—ये चार तपोधन मेरे शिष्य होंगे। अन्य पुराणोंमें भी इस तरहका वर्णन उपलब्ध होता है। अक्षपाद गौतम एक महान् तपस्वी ऋषि हुए, जिन्होंने न्याय-शास्त्रकी रचना की। इस विद्याकी अतिशय प्रशंसा शास्त्रोंमे मिलती है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

'आन्वीक्षिकी विद्या सदा सम्पूर्ण विद्याओंकी प्रदीपस्वरूपा, सभी कर्मोंकी उपायरूपा तथा समस्त धर्मोंकी आश्रयभूता मानी गयी है।'

अक्षपादने मोक्षकी प्राप्तिका उपाय न्याय-सूत्रके द्वितीय सूत्रमें वर्णित किया है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्त-
रोत्तरापायेतदनन्तरापायादपवर्गः। (१।१।२)

कार्य बादमें होता है और कारण पूर्वमें होता है। अतः कारणके नाशसे कार्यका नाश कहा गया है। दुःखका कारण जन्म है और जन्म न होनेपर दुःखका नाश हो जायगा। जन्मका कारण प्रवृत्ति है अर्थात् धर्म-अधर्म दोनोके नाश होनेपर जन्मका नाश हो जायगा। प्रवृत्तिका कारण राग-द्वेषादि दोष हैं। अतः राग-द्वेषादि दोषके नाश होनेपर प्रवृत्तिका नाश होता है। दोषका कारण मिथ्याज्ञान है अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर राग-द्वेषकी निवृत्ति हो जाती है। मिथ्याज्ञान ही अविद्या है और यह राग-द्वेषको उत्पन्न कर संसारका कारण बनती है, इसके नष्ट होनेपर विद्याके द्वारा दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। उन्होने इसी अध्यायके २२वे सूत्रमें कहा है—**'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'** अर्थात् दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। न्याय-भाष्यकारने कहा है कि **'तद् अभयम् अजरम् अमृत्युपदं ब्रह्म क्षेमप्राप्तिरिति।'** इस प्रकार न्यायका उद्देश्य मोक्ष है, किंतु मोक्षकी प्राप्तिके लिये राग-द्वेष और मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति आवश्यक है।

गौतम-सूत्रके भाष्यकार वात्स्यायन हुए हैं और वात्स्यायनपर उद्योतकरने वार्तिक लिखी है। वाचस्पति मिश्रने उसपर 'भारतीय-तात्पर्य' टीका लिखी है और उदयनने 'तात्पर्य-परिशुद्धि' का प्रणयन किया है।

न्यायदर्शनके आचार्योंकी प्रवृत्ति व्यष्टिमूलक नहीं थी, वे समाजके लिये अपने जीवनका उत्सर्ग करनेके लिये भी तत्पर रहते थे। ये मुनिगण मुक्त होकर भी किसी प्रकारके अदृष्ट फलका भोग करनेके लिये जन्म-ग्रहण नहीं करते थे, किंतु भगवान् जैसे आततायियोसे भक्तो एवं जनताका उद्धार करनेके लिये तथा कर्तव्यमार्गका अपने आचरणसे दीक्षा देनेके लिये अवतीर्ण होते हैं, वैसे ही मुनिजन भी तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिकर पुनः संसारमे अवतीर्ण होकर दुःखपङ्कमे निमग्न व्यक्तियोंको उससे छुटकारा दिलानेके लिये ज्ञान और आचरणके द्वारा लोगोको शिक्षा देकर लोककल्याणमें तत्पर थे। न्यायकी शिक्षामे राग-द्वेषरूपी दोषको हटानेके साधनका ही निर्देश किया गया है। इस राग-द्वेषका मूल कारण अविद्या या मिथ्याज्ञान है, जिसकी निवृत्ति जीवनमें सत्यकी उपलब्धि है।

वैशेषिक दर्शन और उसकी शिक्षा

वैशेषिक दर्शन और पाणिनीय व्याकरणको सभी शास्त्रोका उपकारक माना गया है—'**काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्**' । इस दर्शनका नाम 'वैशेषिक काणाद' तथा 'औलूक्य दर्शन' भी है । इसके आद्यप्रवर्तक महर्षि कणाद या उलूकको माना गया है । उदयनाचार्यके अनुसार कश्यपगोत्रमे उत्पन्न होनेके कारण ये काश्यप नामसे प्रसिद्ध हुए । वायुपुराणमे कणादको प्रभासका निवासी, सोमशर्माका शिष्य और शिवका अवतार कहा गया है । कणादका अर्थ कणको भक्षण करके जीवन-यापन करनेवाला होता है—'**कणानत्तीति कणादः**' (व्योमवती पृ०२०) अथवा '**कणान् परमाणून् अत्ति**' अर्थात् सिद्धान्तके रूपमे जो स्वीकार करता है वह कणाद है । ये कपोत-वृत्तिका आश्रयण कर गिरे हुए अन्नके कणोको खाकर जीवन-यापन करते थे, इसीलिये इनका नाम कणाद पड़ा—'**तस्य कापोतीं वृत्तिमनुतिष्ठतः रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादाय प्रत्यहं कृताहारनिमित्ता संज्ञा**' । कुछ लोग इनके पिताका नाम उलूक मानते हैं । जैनाचार्य राजशेखरके कथनानुसार भगवान् शंकरने उलूक-रूपमे इस शास्त्रका उपदेश दिया था, इसलिये इसे औलूक्य कहा जाता है—'**मुनये कणादाय स्वयमीश्वरः उलूकरूपधारी प्रत्यक्षीभूय द्रव्यगुणकर्म-सामान्यविशेषसमवायलक्षणं पदार्थषट्कम् उपदिदेश ।**' (राजशेखर न्या०ली०भूमिका पृ०२)

वैशेषिकको समानतन्त्र, समानन्याय एवं कल्पन्याय भी कहते हैं । इसमे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और पञ्चमतत्त्वके विशेष होनेसे इसका नाम वैशेषिक पड़ा है । वैशेषिकपर प्रशस्तपाद-भाष्य, व्योमवती, किरणावली, न्यायकदली, सेतुटीका, दशपदार्थी आदि अनेक प्राचीन टीकाएँ हैं । इसका चीनी भाषामे भी अनुवाद है । अरस्तूके सिद्धान्तोपर भी इसका प्रभाव है । भाषापरिच्छेद, तर्कसग्रह, मुक्तावली आदि इसीके प्रतिपादक हैं । अंग्रेजीमे इसका अनुवाद प्रसिद्ध है । शकरमिश्रने इसके २४ तत्त्वोकी परिगणना की है । इसमे आर्ष, प्रत्यक्ष, स्मृति आदि ४ प्रकारकी शिक्षाएँ मानी गयी है (१३४, २४७, ३४२, ३५४, २५३) आदि । ३४८-५८ सूत्रोमे स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि आदिका परिचय देकर साधनासे तत्त्व-साक्षात्कारकी बात कही गयी है ।

वैशेषिक सूत्र दस खण्डोमे विभक्त है । इसके सूत्र (९ । २ । १३) की व्याख्यामे शंकरमिश्रने लिखा है कि गालवादि ऋषियोको अतीत जगत्का ज्ञान आर्ष शिक्षाका ही परिणाम था । अन्य सिद्धोकी सिद्धियाँ भी शिक्षा एव धर्मकी ही फलस्वरूपा थी । आर्षज्ञान चौथी शिक्षा है । इसपर प्रशस्तपादका 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' नामका भाष्य है, किंतु यह मौलिक रचनाके ही रूपमे प्रतीत होता है । इन्ही सूत्रोपर शकरमिश्रकी 'उपस्कार' नामक महत्त्वपूर्ण टीका है । इसके व्याख्याकारोमे व्योमशिवाचार्य, श्रीधर, उदयन आदिका नाम विशेषरूपसे दिया जा सकता है । वैशेषिक दर्शन छ तत्त्वोको स्वीकार करता है । द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-अभावका नाम नही लिखा है, किंतु व्याख्याकारोने इसे भी इन्हीं सूत्रोकी व्याख्यासे सिद्ध कर लिया है । इसमे प्रत्यक्ष और अनुमान—दो ही प्रमाण माने गये है । इनके सूत्रोका आरम्भ '**अथातो धर्मजिज्ञासा**'से होता है । '**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**' (१ । १ । २)—जिससे अभ्युदय और नि श्रेयस्की सिद्धि होती है, वह धर्म है ।

कणादका परमाणुवाद और विशेषपदार्थ सर्वथा अन्य दर्शनोकी अपेक्षा वैशिष्ट्य आधान करता है । परमाणु अविभाज्य सर्वत सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थ है । यह नित्य है, इसीसे सृष्टिका आरम्भ होता है । दो परमाणुओसे द्व्यणुक एवं कतिपय द्व्यणुकके संयोगसे त्रसरेणु उत्पन्न होता है, इसी क्रममे घट, पट आदि होते हैं ।

वैशेषिक सिद्धान्तमे आत्माको अनेक माना गया है । व्यवस्थाके लिये ही आत्माकी अनेकता मानी गयी है । व्यवस्था शब्दका अर्थ प्रतिनियत है । प्रत्येक पुरुषकी प्रतिनियत अवस्था है । जैसे—कोई धनी, कोई दरिद्र, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई उच्चवंशीय, कोई नीचवंशीय, कोई विद्वान्, कोई मूर्ख । इसलिये विभु आत्मा

प्रतिनियत-भेदके अनुसार सिद्ध होता है । इस सिद्धान्तमें मोक्षकी प्राप्तिके लिये निवृत्ति-लक्षण धर्मका अनुष्ठान आवश्यक है, इससे धर्म होता है, इस धर्मके द्वारा परमार्थ-वस्तुके ज्ञानसे सुखका उत्पादन होता है, वह दु खसे रहित हो जाता है (प्रशस्तपाद-भाष्य ६४४ पृ०) । आशय यह है कि जीवके मिथ्याज्ञानके कारण राग और द्वेष होता है और राग-द्वेषसे धर्माधर्म होता है, धर्म और अधर्मके फलस्वरूप सुख और दु खका भोग होता है और यही संसार है । इस प्रकार जीवके संसारके मूलमे मिथ्याज्ञान है, इस मिथ्याज्ञानके कारण ससारकी व्यवस्थाके उपपादनके लिये शरीर, इन्द्रिय, विषय, ईश्वरकी कल्पना की गयी है, किंतु वासनाके साथ मिथ्याज्ञानके उच्छेदमे प्रदर्शित सभी भोग-व्यवस्था उच्छिन्न हो जाती है । भोगक्रिया, भोक्ता, भोग्य और भोगसाधन—ये एक साथ सम्बद्ध रहते हैं । भोक्ता भोगक्रियाका कर्ता है, भोग्य भोगका विषय है, भोगका साधन इन्द्रियसमूह है । भोगक्रियाके उच्छिन्न होनेपर भोक्ता, भोग्य और भोगसाधन—ये तीनों उच्छिन्न हो जाते हैं, इन तीनोंका उच्छेद ही ससारका उच्छेद है । अतः वासनासहित मिथ्याज्ञानकी वास्तविक सत्ता नहीं है । वासनासहित संसारकी भी परमार्थता दर्शन नहीं मानता, अतः आत्मा ही पारमार्थिक है । मिथ्याज्ञानके कारण ही आत्माका कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि आत्म-विकार होता है और तत्त्व-ज्ञाननिबन्धन आत्माका अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व आदि स्व-स्वरूप अवस्था है । अत· तत्त्वज्ञान ही वैशेषिक दर्शनका उद्देश्य है ।

इस दर्शनके अध्ययन या महर्षिसे शिक्षा प्राप्त कर मानव अपने कर्तव्यरूप भोक्तृत्व आदि अभिमानसे रहित हो जाता है । वासनात्मक संसारके न रहनेपर भी राग-द्वेषमूलक प्रवृत्ति उच्छिन्न हो जाती है । वह संसारमे रहकर स्वस्थ आत्मासे मानवमात्रके कल्याणमें तत्पर हो जाता है, आत्माकी व्यापकताके परिप्रेक्ष्यमें राष्ट्र और समाजका हित-चिन्तन करता हुआ अनासक्त वासनारहित हो संसारमे रहते हुए भी किसीके उद्वेगका कारण नहीं बनता । वह किसीके उपयोगमें न आनेवाले क्षेत्रमें अन्नसे जीवन-यापन करता हुआ मानव-कल्याणमें तत्पर रहता है । दीप्ति-अर्थके वाचक पूर्ण आलोकमें व्यापक आत्माकी स्वीकृति शरीररूपी उपाधिसे युक्त आत्माको वैयक्तिक सुखकी अभिलाषासे रहित हो सकलजनसुखाय, सकलजनहिताय प्रवृत्त हो शिवस्वरूपमें अवस्थान करता है । भोक्ता भोग्यके रूपमें अनुगृहीत न होकर आत्म-अनुग्रहके अभावमें भी अन्यके अनुग्रहके लिये जीवन-यापन करता है । विश्वको सत्य मानकर मुक्तावस्थामें नैयायिक और वैशेषिक अनात्म-प्रपञ्चस्वरूप विश्वकी निष्प्रयोजनता मानते हैं, यही जीवके मुक्तावस्था अर्थात् द्रष्टाकी स्वाभाविक अवस्था है ।

दुःख-संतति अनादि है, अतः वैशेषिक दर्शनके अनुसार दु ख-परम्पराका उच्छेद कैसे सम्भव हो सकता है ? इस जिज्ञासाके समाधानमें आचार्योंका कहना है कि अनादि दु·ख-परम्पराका मूल मिथ्याज्ञान है, मिथ्याज्ञानके रहनेपर ही दुःखपरम्परा रहेगी, उसके मूलकारण मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर दुःखका भी नाश हो जायगा । अदृष्टके कारण ही भोग है । प्रदीपकी शिखाका मूल तेल है, तेलका नाश हो जाय तो दीपशिखाकी परम्पराके नाशके लिये कुछ करना ही नहीं पडता । इसके नाशमें कोई समयका नियम भी नहीं है । कोई प्रदीप दिन-रात जलता है, कोई शीघ्र ही बुझ जाता है । तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेसे निर्मूल दुःखपरम्परा स्वयं नष्ट हो जाती है—**'दुःखसंततिधर्मिणी अत्यन्तमुच्छिद्यते संततित्वाद् दीपसंततिवदिति ।'** इसीलिये आचार्यने कहा है कि विश्वके द्रव्य, गुण आदि पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्यके ज्ञानसे तत्त्वज्ञान होता है तथा तत्त्वज्ञानसे अभ्युदय और निःश्रेयस् होता है । इसके लिये धार्मिक कर्मोंका अनुष्ठान आवश्यक है—

'धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' (वै० सू० ४)

इस शास्त्रमें जीवमें योगजन्य समाधिसे धर्मविशेष स्वीकार किया गया है । उपासना आदि क्रियाविशेषके अभ्याससे धर्म उत्पन्न होता है, इसके फलस्वरूप सभी

पदार्थ हाथपर रखे हुए ऑवलेके समान प्रत्यक्ष हो जाते हैं तथा देहमे दुःखकी कारणभूता आत्मभ्रान्तिकी निवृत्ति हो जाती है । फलतः देहको आत्मा माननेसे जो राग-द्वेष होता है, वह समाप्त हो जाता है । जब शरीराभिमान नष्ट हो जाता है, तब शरीर ही दुःख है—यह ज्ञात हो जाता है । इन्द्रियाँ, विषय और बुद्धि दुःखके साधन हैं तथा आत्मा दीपस्थानीय है और ये सब तैलस्थानीय हैं, इसकी भी जानकारी हो जाती है । इस स्थितिमे मानव शरीराभिमानरहित होनेपर किसीकी भी हानिके लिये सचेष्ट नहीं होता; क्योंकि वह राग-द्वेषशून्य हो जाता है । तव उसकी प्रवृत्ति आत्मकल्याणके लिये होती है और आत्मकल्याण मानवमात्रके कल्याणका साधक होता है । इसे इस प्रकार भी समझ सकते हैं—अज्ञानका क्या स्वरूप है?—आत्मगुणविशेष विनश्वर शरीरमें आत्माभिमान । दुःखका क्या स्वरूप है ? आत्मविशेषगुण प्रतिकूलवेदनीय । ज्ञानका क्या स्वरूप है ?—आत्माका विशेष गुण-मैं (अहं) नित्य हूँ, यह भावना-स्वरूप ।

इसीलिये कहा गया है—'**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन** ।' तत्त्वज्ञान वस्तुका यथार्थ ज्ञान है, अतः वैशेषिक दर्शन सभी मुक्तिका साधनमात्र है । इसके ज्ञानके द्वारा लोकमात्रका कल्याण होता है ।

मीमांसा-दर्शन और शिक्षा

तैत्तिरीय-संहिताके प्रथम प्रपाठकके प्रथम अनुवाकमे कहा गया है—समग्र वेद दो काण्डोमे विभक्त है । पूर्वकाण्डमे नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध—इन चार प्रकारके कर्मोका निरूपण किया गया है । ये कर्म प्रवृत्ति-लक्षणसे आक्रान्त धर्म हैं । उत्तरकाण्डमें सद्योमुक्ति और क्रममुक्तिके मोक्षरूप पुरुषार्थकी सिद्धि कही गयी है । इन दोनो मुक्तियोंके प्रकार निवृत्तिलक्षण कर्मसे आक्रान्त हैं ।

दर्शन मुनिधाराके रूपमे वैदिक विचारका पल्लवन है । आयतन विशाल होनेसे सहस्रधाराओमे प्रवाहित दार्शनिक चिन्ता आपात-दृष्टिसे मतद्वैधके रूपमे आभासित होने लगती है । ज्ञान और कर्मके मध्यमें प्राचीरकी रचना परवर्ती कालकी देन है । एक अद्वितीय अखण्ड चैतन्यकी उपासनामे भेदका प्राचीर नहीं था । द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञकी चर्चा गीतामे मिलती है, किंतु उसकी परिसमाप्ति ज्ञानमे ही की गयी है । आत्माको चिन्मय भूमिमे अवतीर्ण करना ही ज्ञान और कर्मका समान उद्देश्य है, यह चिन्मयपूर्वक ही स्वर्ग है । वेदकी आदिमीमांसा ब्राह्मण है । मीमांसाके अनवच्छिन्न रूपमे प्रवाहित होनेपर भी इसे सुसम्बद्ध रूप जैमिनिने दिया है । अध्यात्मसाधनामे शब्दमूर्ति देववाद है । देववादका मूल आधार श्रद्धा है । श्रद्धा मानवचित्तकी मौलिक इन्द्रियसे अतीत वृत्ति है । देव या कर्मका साधन श्रद्धा है । पूर्वमीमांसाका उपजीव्य ब्राह्मणका भाग है । पूर्वमीमांसा कर्ममीमांसा, कर्मकाण्ड या साधन-शास्त्र है । साधनाका उपकरण स्थूल द्रव्य है, किंतु लक्ष्य स्वर्ग या अध्यात्म-चेतनाकी भूमि है । पूर्वमीमांसा वेदकी रक्षा या प्रामाण्यके लिये है । वेद एक सार्वभौम अखण्ड प्रकाश या ज्ञान-की साधना है, इसका उद्देश्य आचारमे निष्ठा और आचारकी दृष्टिसे कर्तव्यज्ञानका प्रचार है । कर्मकी यात्राका चरम लक्ष्य अमरत्वकी प्राप्ति है । अमरत्व विश्वज्योतिके साथ एकात्म-लाभ है । विश्वके साथ ज्ञान-देहमे एक होकर सबके कल्याणके लिये एकाङ्गी जीवनसे निरपेक्ष सार्वजनीन जीवनके रूपमे कर्तव्य-पथपर चलना है । इस प्रकार यह कर्म जटिल भी है और सरल भी ।

महर्षिके समान जीवनयात्रामें परायण, आचारसे निस्त्रैगुण्य होते हुए भी जीवोंके लिये महाकरुणासे सदा आर्द्रचित्त मुनिगण तपोवनमे रहते थे । महर्षि जैमिनिने आत्मानुग्रहकी इच्छाके विना भी वेद-कल्पतरुसे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापत्रयको नाश करनेवाले

ज्ञानविज्ञानरूपी फलको देनेवाली मीमांसाका आविष्कार किया। यह बौद्धोके तारुण्यका काल था और परम करुणामयी वृद्धा जननीके समान वेद करुणामात्रका पात्र था। शरीरको ही सर्वस्व माननेवाली संतान कल्याणसमूहकी सम्पादिका वेद-माताकी सेवासे विमुख थी।

विविध विद्याओसे समन्वित वेद-कल्पतरुकी सुशीतल छायामे त्रिविध-तापदग्ध जीव शान्ति-लाभ करते हैं, इसका अर्थ-विचार ही मीमांसा है। कर्म और ज्ञानके भेदसे ही मीमांसा (पूर्वमीमांसा) वेदान्त (उत्तरमीमांसा) अर्थात् कर्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा है। उपासनाकाण्डने, जो श्रद्धाके आवेशपर प्रतिष्ठित है, अपना अस्तित्व ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डमे विसर्जित कर दिया। वैदिक कालपर दृष्टि-पात करनेपर उपासनामें ही कर्म और ज्ञान अपने भेदको समाप्त कर अङ्गके रूपमे अवस्थित रहते हैं। उपासनामें गृहस्थ, संन्यासी, कोई वर्णविशेष या आश्रमविशेष ही आबद्ध न था। कर्म और ज्ञान चारो वर्णोके साथ आश्रमकी दृष्टिसे भिन्न थे। चतुर्विध पुरुषार्थस्वरूप स्तन्यपान करानेके लिये वेदमाता सतत उद्यत थी। कर्मसे अनादिकालसे संचित पापपङ्कका प्रक्षालनपूर्वक चित्तकी निर्मलता सम्पादित होती है। तदनन्तर विश्व-कल्याण-कामनारूपी निष्कामभावसे शास्त्रीय कर्मोका विधिके अनुसार अनुष्ठान कर ब्रह्माद्वैत या विश्वाद्वैतका ज्ञान होता है।

मीमांसामें तीन प्रस्थान प्रसिद्ध हैं—प्रभाकर (गुरुमत), कुमारिल (भाट्टमत) और मुरारिमिश्र (मिश्रमत)। प्रभाकरने जिस मीमांसा-सिद्धान्तका समर्थन किया है वह अतिशय प्राचीन है। कर्मके प्रतिपादक वेदभागकी ही मीमांसा प्रभाकरने की है।

मीमांसा-दर्शनके सूत्रोके आधारपर दर्शनशास्त्रके आलोच्य सृष्टितत्त्व, आत्मतत्त्व एवं ईश्वरतत्त्वका स्पष्ट रूपमें निर्देश नहीं मिलता, किंतु वट-बीजके समान उसमें स्थित इन तत्त्वोंको परवर्ती आचार्योंने व्याख्यानके क्रममें उद्घाटित किया है। संसारके अनादि होनेसे उसमें सृष्टि और प्रलय नहीं हैं।

वेद-विहित कर्मोका कर्ता और भोक्ता एवं उसके फलका भोक्ता होनेसे व्यावहारिक जीव ही आत्मा है अर्थात् शरीरसे अतिरिक्त अहंके द्वारा गम्य आत्मा है और वह जन्म, मरण, स्वर्ग और नरकके साथ सम्बद्ध है, चिर-विनष्ट कर्मोकी उपपत्तिके लिये अपूर्व, अदृष्ट या पाप-पुण्यके संस्कारको कर्मजन्य फलको देनेवाला माना गया है। कर्मके अनुसार फल होता है, ईश्वर फलको देनेवाला नहीं है। मीमांसामें कर्मकी प्रधानता मानी गयी है।

मीमांसा-सूत्र बारह अध्यायोमें विभक्त है। प्रथम अध्याय प्रमाण-लक्षण है। इसमे धर्मके प्रमाणके सम्बन्धमें धर्मके लक्षण एवं बौद्धोंके धर्म और प्रमाणके विषयमें प्रदर्शित सिद्धान्तका खण्डन है।

द्वितीय अध्याय भेद-लक्षण है। उत्पत्ति-विधिके द्वारा बोधित धर्मकी चार पादोंमे आलोचना की गयी है, किंतु उत्पत्ति-विधिकी आलोचना प्रधान है।

तृतीय अध्याय शेष-लक्षण है। शेष अङ्ग, अङ्गी या प्रधानका उपकारक होता है। इस अध्यायके आठ पादोमें इनकी आलोचना की गयी है।

चतुर्थ अध्याय प्रयोग-लक्षण है। इसमे कौन धर्म किसके द्वारा प्रयुक्त होकर अपूर्वका जनक होता है, इस प्रकार प्रयोगसे सम्बद्ध विषयका वर्णन है।

पञ्चम अध्याय क्रम-लक्षण है। मुख्य एवं प्रवृत्तिके अनुसार कर्मका परम्पराक्रममे श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान—इन चार पादोंमें वर्णन है। इस प्रकार चतुर्थ और पञ्चम अध्यायोंमें प्रयोग-विधिकी आलोचना है।

षष्ठ अध्याय अधिकार-लक्षण है। किस कर्ममें किसका अधिकार है, इस अध्यायके आठ पादोमें इसकी आलोचना की गयी है।

सात और आठ अध्यायोके चारों पादोमे सामान्यातिदेश एवं विशेषातिदेशका निरूपण है। इसे अतिदेश-लक्षण कहा गया है। नवम अध्यायके चारो पादोमे ऊहका व्याख्यान है।

दशम अध्याय वादविवाद-लक्षण है। इस अध्यायके आठ पादोमें बाध-लक्षणका विचार है।

एकादश अध्याय तन्त्र-लक्षण है। इसके चार पादोमें तन्त्रका विचार किया गया है।

द्वादश अध्याय प्रसङ्ग-लक्षण है। इसके चार पादोमें

प्रसङ्ग-लक्षणका विचार किया गया है ।

आचार्यगण

मीमांसा वेदके समान ही अनादि है । जैमिनि व्यासके समकालीन हैं· क्योंकि जैमिनि व्यासके शिष्य थे । इन्होने महाभारतकी भी शिक्षा पायी थी । इन्हे सामवेदका भार प्राप्त था, ऐसा कुमारिलके तन्त्र-वार्तिकसे अवगत होता है । मीमांसाकी रचना जैमिनिने की थी । जैमिनिने सूत्रोकी भी रचना की है । इनके सूत्रोपर शबरमुनिने शाबर-भाष्यकी रचना की है । शाबर-भाष्यके प्रधान व्याख्याकार कुमारिल और प्रभाकर हैं । इनके भिन्न व्याख्यान है ।

मीमांसासे शिक्षा

मीमांसा-दर्शन कर्तव्य-मीसांसा है । मानवके कर्तव्योकी व्यावहारिक दृष्टिसे व्याख्या इसका मुख्य उद्देश्य है । इसमे राजकीय शासनोंके अनुरूप अनेक न्यायोका निरूपण कर उसकी प्रयोगानुरूप व्याख्या की गयी है । प्रपञ्चका विलय मोक्ष माना गया है । अत· शरीरावच्छिन्न एकाङ्गी आत्माको मानकर मनुष्य राग-द्वेषसे आबद्ध होकर भवबन्धनमे पडा रहता है । अत· विशुद्ध ज्ञान-शरीरकी प्राप्ति कर बाहरी फलकी कामनासे मुक्त होकर नित्यकर्मोका तथा नैमित्तिक कर्मोका अनुष्ठान ही अभिप्रेत है । यह किसी विशेष कामनाके अनुरूप आचरण एवं निषिद्ध कर्मोका आचरण छोडकर सामान्य रूपमे विश्वके कल्याणकी भावनाको कर्तव्यके रूपमे मानता है । इसीलिये कुमारिलने कहा है—'**इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति** . . . 'अर्थात् कर्तव्य अंशका पूरण मीमासा करती है । कर्तव्य और कर्म दोनोकी शिक्षा इस दर्शनकी देन है । इसमे जितने भी यज्ञ विहित रूपमे वर्णित है, वे लोकयात्राके निर्वाहक जल, अग्नि आदिकी प्राप्तिके लिये ही हैं, अत व्यवहार-जगत्‌की कर्तव्यताके ज्ञानकी सनातन शिक्षा मीमासासे ही प्राप्त हो सकती है, इसीलिये कुमारिलने इसका आरम्भ दुर्गाके कीलक-मन्त्रसे किया है—

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे ।
श्रेय:प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ॥

—इसमे ज्ञान-शरीरको महत्त्व देकर शिक्षाको चरम सोपानपर प्रतिष्ठित किया गया है ।

तीन प्रकारके प्रपञ्च पुरुषको बन्धनमे लाते है—भोगायतन शरीर, भोगसाधन इन्द्रियाँ और भोग्य रूप, रस, शब्द आदि । इसीलिये मधुसूदनने मीमासाकी मुक्तिका वर्णन करते हुए कहा है—'आत्मज्ञानपूर्वक वैदिक कर्मोके अनुष्ठानसे धर्माधर्मके विनाशके लिये देह, इन्द्रिय आदिका आत्यन्तिक निराकरण ही मोक्ष है ।' इस प्रकार मीमासा-दर्शनकी शिक्षाका पर्यवसान ज्ञान और कर्ममे होता है ।
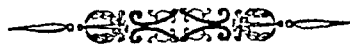
फलवाली डाल जैसे झुकी रहती है, वैसे ही गुणवान् पुरुष भी नम्र बने रहते है ।

जिसके हृदयमे प्रभुका वास होता है, वहाँ 'अहं' भाव नहीं रहता, जहाँ 'अहं' भाव रहता है वहाँ प्रभुका निवास नहीं होता ।

जैसे इत्रकी शीशी खोलनेसे सदा सुगन्ध ही आती है, वैसे ही सद्‌गुरुके मुखसे सदा उपदेश-वाक्य ही निकला करते है ।

जो आदमी दूसरेको कुएँसे बाहर निकालना चाहता है, उसे पहले अपने पैर मजबूत कर लेने चाहिये । इसी तरह जो गुरु बनना चाहे, उसे पहले स्वयं पूरा ज्ञानी बनना चाहिये ।

सांसारिक पुरुषोको जैसे कुटुम्बियोके यहाँ जाना अच्छा लगता है, वैसे ही जब तुम्हे भगवान्‌के मन्दिरमे जाना अच्छा लगे, तभी समझना कि अब भक्तिका प्रारम्भ हुआ है ।

शांकरी शिक्षा

(श्रीउमाकान्तजी शास्त्री, विद्यावाचस्पति, साहित्य-व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, डिप्-एड्०)

'शिक्षा' शब्द बडे महत्त्वका है, इसका अर्थ है 'सीखना'। सभी जीव स्वभावसे ही कुछ सीखते रहते हैं। खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना, तैरना-उडना आदि सभी क्रियाएँ सीखनी पडती है। व्यवहार-जगत्के निमित्त भाषा, आचार आदि भी सभी जीव अपने-अपने समाजसे सीख लेते है, किंतु सामान्य जीवनको विशिष्ट बनानेके लिये विशिष्ट जिज्ञासाकी पूर्तिकी प्रयत्नशीलता वस्तुत शिक्षा है। शिक्षा आत्म-हितार्थ होती है। इसी भावको व्याकरण-शास्त्रीय वाक्यमे व्यक्त किया गया है—'**शिक्षेर्जिज्ञासायाम्**' अर्थात् जिज्ञासा होनेपर '**शिक्ष**' धातुसे आत्मनेपद (आत्म-हितार्थ पद) होता है, यथा—'**वेदे शिक्षते**' (वेद-विषय सीखता है)। आत्म-हितार्थ जिज्ञासा होनेपर अल्पज्ञ जीव बहुज्ञकी शरण लेता है। इसीलिये पाणिनिने अपने 'धातु-पाठ'मे लिखा है—'**शिक्ष विद्योपादाने**' अर्थात् शिक्ष धातुका अर्थ है विद्याका उपादान। उपादानका भाव है 'उप + आदान' अर्थात् किसीके समीप जाकर कुछ लेना, क्योंकि 'उप' का शाब्दिक अर्थ होता है समीप और 'आदान' का अर्थ है ग्रहण। ऐसी स्थितिमे जिज्ञासु गुरुकी शरण लेता है और उसकी शिक्षा प्रारम्भ होती है।

'शिक्षा' शब्दकी व्युत्पत्तिमे भी विशिष्टता है। '**शिक्ष**' धातु गुरुमान् है (गुरुवाला है—'**संयोगे गुरु**'), उससे '**गुरोश्च हलः**' (पाणिनि-सूत्र) से 'अ' प्रत्यय होनेपर शिक्षा शब्द निष्पन्न होता है। '**अकारो वासुदेवः स्यात्**' तथा '**प्रत्ययः प्रतीतिः**' अर्थ करनेसे वासुदेवकी प्रतीतिका भाव व्यक्त होता है। आत्माके कल्याणके लिये परमात्माकी प्रतीति कराना शिक्षाका भाव है। इसके कारण परमात्मोन्मुख जीवको मुक्ति-मार्ग प्राप्त होता है। इसी उद्देश्यको स्पष्ट करनेके लिये श्रुति कहती है—'**सा विद्या या विमुक्तये**' अर्थात् विद्या वही है जो मुक्तिका साधन हो, क्योंकि '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**'—ज्ञानके बिना मुक्ति मिलती ही नही, अत शिक्षा या विद्यासे वह ज्ञान प्राप्त होना चाहिये जो पुरुषार्थचतुष्टयका चरम लक्ष्य हो। इसीलिये वेद, वेदाङ्ग, पुराण, दर्शन आदि सभी शास्त्र उसी एक नित्य तत्त्वके प्रति जीवको उन्मुख करते है।

उस प्रशस्यतम उद्देश्यकी पूर्तिके लिये 'शिक्षा' नामसे एक पृथक् शास्त्रकी रचना की गयी और उसे छ. वेदाङ्गोमे परिगणित किया गया—

शिक्षा कल्पो निरुक्तं च छन्दो ज्योतिषमेव च।
षष्ठं व्याकरणं चेति वेदाङ्गानि विदुर्बुधाः॥

शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और व्याकरण—इन छ. वेदाङ्गोमे सर्वप्रथम शिक्षा ही है। यही शिक्षा-शास्त्र वर्णोके शुद्ध उच्चारणकी शिक्षा देता है। वर्णोके शुद्ध उच्चारणसे शब्दकी शुद्धि और स्पष्ट भावाभिव्यक्ति भी होती है, क्योंकि भाषाकी लघुतम ध्वनि है वर्ण, अतः वर्णोके उच्चारणपर विशेष बल देना इस शास्त्रका उद्देश्य है। इसीलिये 'शिक्षा'को '**वर्णोच्चारण-शिक्षा**' भी कहा जाता है। एक भी शब्द उच्चारणकी दृष्टिसे शुद्धरूपमे प्रयुक्त हो तो वह फलदायक होता है और अशुद्ध होनेसे हानिकारक। सुना जाता है कि एक बार देवासुर-संग्राममे '**हे अरयः! हे अरयः!**' के बदले '**हेलयः, हेलयः**' ऐसा अशुद्ध उच्चारण करनेके कारण असुर पराजित हो गये थे, यद्यपि वे बलिष्ठ थे—'**तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः**' —(पातञ्जल महाभाष्य)। पूजा-पाठ, यज्ञ-दान, जप-तप, श्राद्ध आदिके क्रममे उच्चारणके दोषसे जब शब्द दुष्ट हो जाता है, तब वह अपने अर्थको नही बताता, यही नही, अपितु वह 'वाग्वज्र' बनकर यजमानकी ही हानि कर डालता है—'**स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति**' (पाणिनीय शिक्षा ५२)। इसीलिये शुद्ध उच्चारणकी शिक्षा आवश्यक ही नही, अनिवार्य है।

वेदाङ्गोमे शिक्षाको घ्राण और व्याकरणको मुख कहा

गया है— **'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्'** (पाणिनीय शिक्षा ४२)। व्याकरणशास्त्र यदि वेद-पुरुषका मुख है तो शिक्षाशास्त्र उस मुखकी नाक है। जैसे नाकके बिना मुखकी शोभा नही होती, वैसे ही शिक्षाके बिना व्याकरणकी शोभा चली जाती है।

शिक्षाशास्त्रके आद्य प्रवर्तक भगवान् शंकर हैं। उन शंकरकी शिक्षा 'शांकरी शिक्षा' कही जाती है। शिक्षा-विषयक ग्रन्थोमे पाणिनीय शिक्षा 'शांकरी शिक्षा' ही है। शंकरने अपनी शिक्षा पाणिनि मुनिको दी। यथा—

शंकरः शांकरीं प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते।
वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य देवीं वाचमिति स्थितिः॥

(पाणिनीय शिक्षा ५६)

अर्थात् 'भगवान् शंकरने ऊहापोह-कुशल दाक्षीपुत्र पाणिनिको वेदोसे संगृहीत अपनी दिव्य शांकरी शिक्षा प्रदान की, यह वस्तुस्थिति है।'

महामुनि पाणिनिने इस शांकरी शिक्षाके अद्भुत माहात्म्यका वर्णन किया है। यथा—

त्रिनयनमुखनिःसृतामिमां
य इह पठेत् प्रयतः सदा द्विजः।
स भवति धनधान्यकीर्तिमान्
सुखमतुलं च समश्नुते दिवि॥

(पाणिनीय शिक्षा ६०)

अर्थात् 'त्रिनयन शंकरके मुखसे निर्गत इस शिक्षाको जो द्विज सयत होकर प्रतिदिन पढ़ता है, वह इस लोकमे धन, धान्य और कीर्ति प्राप्त करता है तथा अन्तमे स्वर्ग पहुँचकर वह अतुल सुखका भोग करता है।'

पाणिनिने अपने ग्रन्थमे शांकरी शिक्षाकी कुछ मान्यताएँ भी उद्धृत की है। यथा—

'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।

(पाणिनीय शिक्षा ३)

अर्थात् शंकरके समय वर्णोकी सख्याके विषयमे दो प्रकारके मत प्रचलित थे, वे दोनो मत शंकरको मान्य हैं। जो लोग 'लृ' वर्णको केवल ह्रस्व मानते थे, वे वर्णोकी सख्या ६३ बताते थे तथा जो विद्वान् वर्णको ह्रस्व और प्लुत मानते थे, वे वर्णोकी ६४ स्थिर करते थे। अब तो मात्र ५९ ही वर्ण व्यवहारमें आते हैं, दुःस्पृष्ट १ और यम ४—इन पाँच वर्णोंकी चर्चा प्रातिशाख्य ग्रन्थोमे ही सुरक्षित रह गयी है।

इसी प्रकार वर्णोके उच्चारण-स्थानोकी संख्यामे भी मतान्तर है। प्रचलित शिक्षाशास्त्रोमे सात ही उच्चारण-स्थान परिगणित है—१-कण्ठ, २-तालु, ३-मूर्धा, ४-दन्त, ५-ओष्ठ, ६-नासिका और ७-जिह्वामूल; किंतु शांकरी शिक्षामे उरस् (हृदय) भी उच्चारण-स्थान माना गया है। यथा—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥

(पाणिनीय शिक्षा १३)

अर्थात् 'वर्णोके उच्चारण-स्थान आठ होते है—हृदय, कण्ठ, सिर (मूर्धा), जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु।'

वर्णोके शुद्ध और स्पष्ट उच्चारणके लिये उत्तम गुरुसे ही शिक्षा-शास्त्रका अध्ययन करना चाहिये—ऐसा विधान है। यथा—

कुतीर्थादागतं दग्धमपवर्णं च भक्षितम्।
न तस्य पाठे मोक्षोऽस्ति पापाहेरिव किल्बिषात्॥

(पाणिनीय शिक्षा ५०)

अर्थात् 'कुतीर्थ (अयोग्य, आचार-हीन गुरु) से प्राप्त वर्णोच्चारणका ज्ञान वर्णको दग्ध करके अपवर्ण बना देता है और बिना गुरुके प्राप्त ज्ञान वर्णको भक्षित कर लेता है तथा उन अपवर्णोके अशुद्ध उच्चारणसे होनेवाले पापसे छुटकारा मिलना उसी प्रकार सम्भव नही है, जैसे दुष्ट सर्पसे छुटकारा मिलना असम्भव है।'

अवक्षरमनायुष्यं विस्वरं व्याधिपीडितम्।

(पाणिनीय शिक्षा ५३)

'दुष्टाक्षर उच्चारण करनेवालेकी आयु घटती है तथा स्वररहित उच्चारण करनेसे व्याधिकी पीड़ा होती है', अतः अक्षरका उच्चारण शुद्ध एव स्पष्ट होना चाहिये तथा उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरोका समुचित श्रवण हो, ऐसी वाणी बोलनी चाहिये।

व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत्॥

(पाणिनीय शिक्षा २५)

'व्याघ्री जैसे अपने बच्चोंको दाँतोंसे पकड़कर कहीं ले जाती है तो वह डरी-सी रहती है कि कहीं बच्चोंक शरीरमें दाँत गड़ न जाय या बच्चे दाँतोंसे निकलकर कहीं गिर न जायँ, वैसे ही वर्णोंका उच्चारण करना चाहिये ।'

एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः ।
सम्यग् वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ॥
(पाणिनीय शिक्षा ३१)

'वर्णोंका' प्रयोग ऐसा करना चाहिये कि वर्ण न अव्यक्त हों और न पीडित हों । वर्णोंका सम्यक् प्रयोग करनेवाला विद्वान् ब्रह्मलोकमें भी सम्मान पाता है ।' इसलिये शुद्ध वर्णोच्चारणका विशेष महत्त्व है ।

आयुर्वेदका संक्षिप्त इतिहास एवं उपयोगिता

(वैद्य श्रीअखिलानन्दजी पाण्डेय)

विश्वके सम्पूर्ण वैज्ञानिक पुरातत्त्ववेत्ताओं तथा इतिहासवेत्ताओंका कहना है कि सबसे प्राचीन वेद हैं । आयुर्वेद-शास्त्र वेदोंमें विशेषकर अथर्ववेदमें विस्तारसे वर्णित है । आयु-सम्बन्धी ज्ञानसे सम्बद्ध होनेके कारण इसे आयुर्वेद कहा गया । चरकने भी कहा है—'**यथा तस्यायुषः पुण्यतमो वेदविदो मतः । वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ।**'—यह उस आयुका पुण्यतम वेद है, अतएव आयुर्वेद विद्वानोंद्वारा पूजित है; क्योंकि यह मनुष्योंके लिये इस लोक और परलोकमें हितकारी है । अतः हम (चरक) इस आयुर्वेदका उपदेश कर रहे हैं ।

आयुर्वेदको पुण्यतम ज्ञान बताया गया है । मनुष्यको आयुर्वेद-विहित कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे इस लोकमें आयु-आरोग्यादिकी प्राप्ति होती है और स्वस्थ रहते हुए वह धर्मादिका अनुष्ठान कर स्वर्गकी भी प्राप्ति कर सकता है । यथा—'**धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्**' बताया गया है ।

आयुर्वेदोत्पत्ति

आयुर्वेद आयुके हित-अहित, द्रव्य-गुण-कर्मोंका प्रतिपादक विज्ञान है और विज्ञानकी उत्पत्ति न होकर स्मृति ही हुआ करती है । सम्प्रति जो भी आविष्कार हो रहे हैं, निरन्तर अनुसंधान हो रहे हैं, उनमें व्यस्त उच्च आत्माएँ भी स्मृति-स्वरूप हैं । इसलिये चरकने स्पष्ट कहा है—

ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत् ।
सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन् ॥
तेऽग्निवेशादिकास्ते तु पृथक् तन्त्राणि तेनिरे ॥

ब्रह्माने आयुर्वेदका स्मरण कर उसे विश्वके उपकारार्थ प्रजापतिको सिखाया । प्रजापतिने दोनों अश्विनीकुमारोंको, उन दोनों बन्धुओंने इन्द्रको, इन्द्रने आत्रेयादि मुनियोंको, आत्रेयादि महर्षियोंने अग्निवेश, पराशर, क्षीणपाणि और हारीत आदिको आयुर्वेदकी शिक्षा दी । तत्पश्चात् उन लोगोंने आयुर्वेदमें महान् दक्षता प्राप्तकर अपने नामपर ग्रन्थोंकी रचना की । ब्रह्माने अपने नामसे एक ग्रन्थ रचा, जिसका नाम ब्रह्मसंहिता रखा, उसमें एक लक्ष श्लोक थे; किंतु आजकल वह अप्राप्त है । आचार्य चरकने अपने नामका एक ग्रन्थ रचा, जिसका नाम चरक-संहिता है । वह संसारमें विख्यात है । विश्वमें चरककी बड़ी प्रतिष्ठा है । पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी लिखा है कि 'यदि चरककी रीतिसे चिकित्सा की जाय तो सारा विश्व रोगमुक्त हो जाय ।'

चरकके पश्चात् सुश्रुतका स्थान है । ये महात्मा महर्षि विश्वामित्रके पुत्र थे । इन्होंने अपने पिताकी आज्ञासे प्राणिमात्रके उपकारार्थ एक सौ ऋषिपुत्रोंके साथ काशी आकर तत्कालीन काशिराज दिवोदाससे आयुर्वेदकी शिक्षा ग्रहण की । सुश्रुत तीव्रबुद्धि थे, उपदेशोंको पूर्ण ध्यानसे श्रवण करते थे । कहते हैं इसीलिये उनका नाम सुश्रुत

पड़ गया। सुश्रुतने अपने नामका जो ग्रन्थ लिखा उसीको आजकल सुश्रुत-संहिता कहते है। इस ग्रन्थमे शल्य-चिकित्सा या सर्जरी (जर्राही) का विशेषरूपसे वर्णन है।

चरक-सुश्रुतके पश्चात् वाग्भटका स्थान है। इनका 'अष्टाङ्ग-हृदय' ग्रन्थ भी उच्चकोटिका है। विद्वज्जन इस सहिताको 'वाग्भट'के नामसे जानते हैं। चरक, सुश्रुत तथा वाग्भटको बृहत्त्रयी कहते हैं।

भरद्वाज और भगवान् धन्वन्तरि एवं उनके शिष्य-प्रशिष्योने आयुर्वेदका अध्ययन कर मानव-कल्याणके निमित्त मानव-समाजमे उसका प्रचार किया। भरद्वाज इन्द्रसे आयुर्वेदका अध्ययन कर मनुष्य-लोकमे उसका प्रचार करनेवाले सर्वप्रथम व्यक्ति है। इनका आश्रम प्रयागमे है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम भी यहाँ पधारे थे। अब भी प्रयागमे यह आश्रम भक्त यात्रियोका प्रिय स्थल है। रसायन और दिव्य ओषधियोके प्रभावसे ऋषिगण दीर्घजीवी होते थे। आयुर्वेदके प्रभावसे भरद्वाज सबसे अधिक दीर्घायु हुए।

चरकने शक्ति-सम्पन्न पुरुषको योगिकोटिमे माना है तथा योगियोके अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्य प्रसिद्ध हैं। श्रीमद्भागवतमे विष्णुके अंशाशसे धन्वन्तरिकी उत्पत्ति मानी गयी है तथा विष्णुपुराणमे अमृतपूर्ण कलश लिये हुए उनकी उत्पत्ति समुद्रसे मानी गयी है—

मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम्।

× × ×

ततो मथितुमारब्धा मैत्रेय तरसामृतम्॥

× × ×

ततो धन्वन्तरिर्देवः श्वेताम्बरधरः स्वयम्।
बिभ्रत्कमण्डलुं पूर्णममृतस्य समुत्थितः॥

(१।९।७८, ८४, ९८)

आयुर्वेद-शास्त्रके दो प्रयोजन है—स्वस्थ मनुष्योके स्वास्थ्यकी रक्षा तथा रोगग्रस्त मनुष्योके रोगका निवारण। इन्ही दो उद्देश्योका मुख्य आधार आयु है। अतः धर्म, अर्थ और सुखका साधन आयु है, इस आयुकी जिस पुरुषको चाह हो उसे चाहिये कि वह आयुर्वेदके उपदेशोका अतिशय आदर करे—

आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥

आयुर्वेद आठ अङ्गोंमें विभक्त है

(१) शल्यतन्त्रको ही पाश्चात्य वैद्यकमे सर्जरी कहते हैं। आयुर्वेदके जिस अङ्गमे अनेक प्रकारके तृण, काष्ठ, पत्थर, रजः-कण, लौह, मृत्तिका, अस्थि (हड्डी), केश, नाखून, पूय-स्राव, दूषित व्रण, अन्त:शल्य तथा मृत गर्भकी शल्य-चिकित्साका ज्ञान, यन्त्र, शास्त्र, क्षार, अग्निकर्मका ज्ञान, व्रणोका आम पच्यमान और पक्व आदिका निश्चय किया जाता है, उसे शल्य-तन्त्र कहते है।

(२) शालाक्य-तन्त्र—आयुर्वेदके जिस अङ्गमे शरीरके ऊर्ध्वभाग-स्थित नेत्र, मुख, नासिका आदिमे होनेवाले व्याधियोकी शान्तिका वर्णन किया गया है तथा शालाक्य यन्त्रोके स्वरूप तथा प्रयोग करनेकी विधि बतलायी गयी है, उसे शालाक्य-तन्त्र कहते है।

(३) काय-चिकित्सा—आयुर्वेदके जिस अङ्गमे सर्व-शरीरगत व्याधियो— ज्वर, रक्त, पित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसार आदिकी शान्तिका वर्णन है, उसे काय-चिकित्सा कहते है।

(४) भूतविद्या—आयुर्वेदके जिस अङ्गमे देव, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग आदि ग्रहोसे पीड़ित चित्तवाले रोगियोकी शान्तिके लिये शान्ति-पाठ, बलि-प्रदान, हवन आदि, ग्रहदोषशामक क्रियाओका वर्णन किया गया है, उसे भूत-विद्या कहते हैं।

(५) कौमार-भृत्य—आयुर्वेदके जिस अङ्गमे बालकोकी पोषिका धात्रीके दुग्धके दोषोके सशोधन, उपाय तथा दूषित दुग्धपान और ग्रहोसे उत्पन्न व्याधियोकी चिकित्साका वर्णन है, उसे कौमार-भृत्य-तन्त्र कहा जाता है। इसे बाल-चिकित्सा कहते हैं।

(६) अगदतन्त्र—सर्प, कीट, मकड़ी, चूहे आदिके काटनेसे उत्पन्न विष-लक्षणोको पहचाननेके लक्षण तथा अनेक प्रकारके स्वाभाविक, कृत्रिम और संयोग विषोसे उत्पन्न विकारोके प्रशमनका जहाँ वर्णन है, उसे अगद-तन्त्र कहते हैं।

(७) रसायन-तन्त्र—'**जराव्याधिनाशनं रसायनम् ।**' जिससे बुढ़ापा और रोग नष्ट हो उसका नाम रसायन है । तरुणावस्था दीर्घकालतक बनी रहे इसे रोकनेके उपाय, आयु, धारणा-शक्ति और बलकी वृद्धि करनेके प्रकार एवं शरीरकी स्वाभाविक रोगप्रतिरोधक शक्तिकी वृद्धिके नियमोका जहाँ वर्णन है, उसे रसायन-तन्त्र कहा जाता है ।

(८) शरीर-पुष्ट्यर्थ बाजीकरण-तन्त्र है ।

इन आठ अङ्गोमे शल्य-तन्त्र ही मुख्य है; क्योंकि देवासुर-संग्राममे प्रहारजन्य व्रणोके रोपण करनेसे तथा कटे हुए सिरका संधान कर देनेसे इसी अङ्गको मुख्य माना गया है । प्रकुपित शिवने यक्षका शिरश्छेदन कर दिया था, तब देवताओंने अश्विनीकुमारोके पास जाकर कहा कि 'आपको यक्षके कटे सिरको संधान करना चाहिये, इससे आप हम सबमे सर्वश्रेष्ठ होगे' । अश्विनीकुमारोने कहा—'ऐसा ही हो' । तब देवताओने अश्विनीकुमारोंको यक्षका भाग मिलनेके लिये इन्द्रको प्रसन्न किया । इस प्रकार अश्विनीकुमारोने यक्षके कटे सिरका संधान किया ।'**तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्य यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरञ्चेति** ,—यह नित्य, पुण्यदायक, स्वर्गदायक, यशस्कर, आयुके लिये हितकर तथा जीविकोपयोगी है ।

क्वचिद् धर्मः क्वचिन्मैत्री क्वचिदर्थः क्वचिद् यशः ।
कर्माभ्यासः क्वचिच्चेति चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥

इससे धर्म, मैत्री, अर्थ आदि प्राप्त होते हैं—इसका उपयोग करनेसे यज्ञ किये-जैसा पुण्य मिलता है । चिकित्सा-शास्त्र—आयुर्वेद कदापि निष्फल नहीं है ।

आयुर्वेद-शास्त्रमे पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पञ्च महाभूत तथा आत्मा—इनके संयोगको पुरुष कहा गया है । इसी पुरुषकी चिकित्सा की जाती है । '**तद्दुःखसंयोगाद् व्याधय उच्यन्ते**' —जिनके संयोगसे पुरुषको दु ख होता है उन्हें रोग कहते हैं । ये रोग चार प्रकारके होते हैं—आगन्तुक, शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक । इनका परिचय इस प्रकार है—

(१) आगन्तुक रोग—शस्त्र, लाठी, पाषाण आदिके आघातसे उत्पन्न होते हैं । (२) शारीरिक रोग—हीन, मिथ्या और अतिमात्रामे प्रयुक्त अन्न-पानके कारण कुपित हुए या विषम हुए वात, पित्त, कफ, रक्त या इनके संनिपातसे उत्पन्न रोग । (३) मानसिक रोग—क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, अभ्यसूया, मनोदैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ आदिसे तथा इच्छा और द्वेषके अनेक भेदोसे उत्पन्न होते हैं । (४) स्वाभाविक रोग—भूख, प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु और निद्रा आदि हैं । '**एते मनःशरीराधिष्ठानाः**' ।—ये चारो प्रकारके रोग मन और शरीरको आश्रित मानकर उत्पन्न होते हैं । इन रोगोका निग्रह या प्रतीकार देश, काल, वय, मात्रा आदि रूपसे सम्यक्-प्रयुक्त संशोधन, संशमन, आहार और विहारसे होता है ।

हमारे पूर्वज भारतीय चिकित्साके प्रभावसे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य-लाभद्वारा धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चारो पदार्थोकी प्राप्ति करते थे और आजकी अपेक्षा दीर्घजीवी, बली एवं स्वस्थ हुआ करते थे । आयुर्वेद न केवल ओषधिमात्रका भण्डार है, अपितु उसमे मानव-जीवनका मार्ग सरलता, शुद्धता एवं पुरुषार्थके साथ प्रदर्शन किया गया है । उसके अनुसार आचरण करते रहनेसे मनुष्य आदर्श तथा सुखी दीर्घ-जीवन प्राप्त कर सकता है । उस समय वर्तमानकालकी भाँति रोगियो एव डॉक्टरो तथा चिकित्सकोका बाहुल्य नहीं था और न आजके समान उस समय किसी भी रोगमे विदेशी चिकित्साका आश्रय ही लेना पड़ता था । कारण यह था कि हमारा आयुर्वेद अष्टाङ्ग-विधिसे पूर्ण था । गाँव-गाँवमे आयुर्वेदीय पाठशालाएँ विद्यमान थीं, जिससे सद्वैद्योकी कोई कमी नहीं थी । भारतीय जड़ी-बूटियोके द्वारा ही स्वल्प प्रयास एवं स्वल्प व्ययमे ही बड़े-बड़े रोगी रोगमुक्त हो जाते थे । इतना ही नहीं था, हमारे देशसे सहस्रो प्रकारकी ओषधियाँ ईरान-अरबसे होकर यूनान, इटलीतक पहुँचती थीं और वहाँसे स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, इंग्लैण्ड और जर्मनीमे फैल जाती थीं तथा वहाँसे इन ओषधियोके बदले विशेष मात्रामें विदेशी मुद्रा आती थी । यूरोपीय विद्वानोने भी विश्वमे सबसे प्रथम आयुर्वेदको माना है । जिस समय पाश्चात्त्य देश अज्ञानरूपी अन्धकारमे था, उस

समय आर्यावर्तका विज्ञान बहुत उन्नत शिखरपर था। विश्वको प्रकाश देनेका गौरव भारतवर्षको है। इसलिये आर्यावर्त विश्वका गुरु कहलाता है। भारतसे आयुर्वेदका ज्ञान यूनानमे गया तथा वहाँसे ग्रीस और ग्रीससे इग्लैण्डके लोगोने सीखा।

हमारे देशमे पारस्परिक कलह और देशपर हुए विदेशियोके आक्रमणसे अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन हुए। अनेक ग्रन्थोकी चोरियाँ हुई, लूट लिया गया। मदान्ध विजेताओके द्वारा ग्रन्थराशियोको जला दिया गया। जिनके पास आयुर्वेदके सिद्धप्रयोग थे, वे उनका गोपन करने लगे। इस प्रकार विविध विषयोके साथ आयुर्वेदके भी अनेक ग्रन्थ लुप्त हो गये। हमारा ह्रास हुआ। हम अवनतिको प्राप्त हो गये। आयुर्वेद-जगत्का श्वास-प्रश्वास मात्र संचालित रह पाया। जड़ी-बूटियाँ तथा भारतीय चिकित्सा-सम्बन्धी ओषधियाँ बेचनेवाले एवं वैद्यलोग भी शनै.-शनै. अपनी ओषधियोका मान तथा परिचयतक भी भूलने लग गये क्योंकि उनका प्रयोग बिलकुल बद-सा होने लगा जिससे वे बेसहारा हो गये।

हम देखते है कि सूर्यास्त होता है तो समय पाकर पुन सूर्योदय भी होता ही है। रात बीतती है और पुन· भगवान् भास्कर जगत्का अन्धकार दूर करते हैं। भाव यह है कि विश्व परिवर्तनशील है। हम भी सन् १९४७ ई०मे स्वतन्त्र हुए, अपनी ह्रासावस्थाको देखे-समझे, किंतु खेदका विषय है कि भारतके स्वतन्त्र होनेके पश्चात् भी उसकी रही-सही भारतीयता नष्ट होती जा रही है। हमारी संस्कृति एव सभ्यता धुँधली हो गयी है। अपनी भारतीय सभ्यतासे भागकर हम अंग्रेजी सभ्यताको अपनाने लगे—प्यार करने लगे तथा आयुर्वेदीय चिकित्सासे दूर चले गये, जिसके परिणामस्वरूप विविध प्रकारके रोग हो रहे हैं, जिनका निदान ग्रन्थोमे नहीं मिल पा रहा है।

चिकित्सकका स्थान बहुत ऊँचा एवं महत्त्वका है। हमे इस महत्त्वको समझना तथा उत्तरदायित्वका पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। चिकित्सककी शरणमे आया हुआ रोगी अपना अमूल्य जीवन उस चिकित्सकके हाथमे सौप देता है। उसका जीवन-मरण चिकित्सकके हाथमे होता है। ऐसी दशामे चिकित्सकको कितने साहस, अनुभव एव उत्तरदायित्वसे काम करना चाहिये, इसे सभी सोच सकते हैं। जो व्यक्ति वैद्य-कार्य एवं आयुर्वेद-चिकित्साको अपनाये उन्हे इस विषयमे पूर्ण समर्थ एव अनुभव प्राप्त करके ही रोगीको अपनानेका कार्य करना चाहिये।

अब विचारणीय विषय यह है कि स्वतन्त्र भारतमे आयुर्वेदका पुनरुद्धार किस प्रकार हो सकता है, इसपर कुछ दृष्टि रखना उचित ही होगा। आयुर्वेद हम लोगोके लिये अपने पूर्वजोसे प्राप्त एक पुनीत थाती है, जिसका उपयोग तथा जिसकी रक्षा हमारे ही हाथोमे निहित है। अतः समस्त भारतीयोको ही इसकी रक्षा करनी चाहिये। इसे उत्तम रीतिसे अध्ययनकर सुन्दर अनुभव एव उपयोग करना चाहिये। भारतीय अधिकारियोका भी कर्तव्य है कि आयुर्वेदके उद्धार एवं प्रचारकी ओर विशेष ध्यान दे, जिससे पाश्चात्त्य देशोमें अपना धन न जाकर भारतमाताके ही पास सुरक्षित रहे। इसीसे हमारे राष्ट्र तथा जनताका कल्याण है।

ब्रह्मकी सर्वव्यापकता

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

(मुण्डक० २।२।११)

यह अमृतस्वरूप परब्रह्म ही सामने है। ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायी ओर तथा बायी ओर, नीचेकी ओर तथा ऊपरकी ओर भी फैला हुआ है। यह जो सम्पूर्ण जगत् है, यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

जैन-शिक्षाका मुख्य आधार—विनय

(श्रीराजीवजी प्रचंडिया एडवोकेट)

आचार्य कुन्ददेवद्वारा प्रणीत 'नियमसार'-ग्रन्थमें लिखा है—

अप्पाण विणु णाणं णाणं विणु अप्पगे न सन्दे हो ।

—इसका भावार्थ यह है कि आत्मा और ज्ञान अन्योन्याश्रयरूपमे सम्बद्ध हैं। आत्माके बिना ज्ञान और ज्ञानके बिना आत्माकी कल्पना नही हो सकती; किंतु यह ज्ञान अनेक आवरणोसे ढका रहता है। इन आवरणोको हटानेकी प्रक्रिया ही शिक्षा है।

ज्ञानके इन आवरणोको हटाना जीवधर्मसे सहज रूपमे सम्बन्धित होता है, क्योंकि जीवनका सार है प्रगति और प्रगतिका आधार है ज्ञान। यह ज्ञान क्रियासे भी अन्यतम रूपमे इसीलिये जुड़ा रहता है और अनुभव यह कहता है कि क्रियामे ही ज्ञानका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है। क्रियापरक ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान होता है, यही मोक्षका आधार है और इसीके द्वारा 'स्व' और 'पर' का कल्याण होता है। इस प्रकार ज्ञानके आवरणोको हटाना जहाँ 'शिक्षा' है, वही उसका दूसरा पहलू मोक्ष है।

अज्ञानके अन्धकारको हटाकर ज्ञानमे प्रतिष्ठित होनेके लिये 'स्वाध्याय' प्रमुख आधार माना गया है। अज्ञान मनुष्यके दु:खोका कारण होता है, इसलिये जब अज्ञानका पर्दा हट जाता है, तब मनुष्यके सभी दु:खोका कारण समाप्त हो जाता है और मनुष्य दुःखोसे आत्यन्तिक निवृत्ति पा लेता है। इसीलिये कहा गया है—

सज्झा एवा नि उत्तेण, सब्ब दुक्ख विमोक्खणो ।

(उत्तराध्ययन-सूत्र० ६।१०)

किंतु इस स्वाध्यायका अर्थ केवल शब्द-ज्ञान नहीं है, प्रत्युत उसका अर्थ है अर्थ समझकर पठन-पाठन। तोतेकी भाँति ग्रन्थोका कण्ठस्थ होना स्वाध्यायका तात्पर्य नहीं है। सम्भव है यह शब्द-ज्ञान दूसरोपर पाण्डित्यका प्रभाव डाल दे, किंतु वह न 'स्व' के लिये न 'पर' के लिये उपयोगी है तथा न मोक्षका आधार ही हो सकता है।

वास्तविक शिक्षाका प्रस्फुटन होता है 'विनय'मे। दशावैकालिक (९।२।२)मे कहा गया है—

एवं धम्मस्य विणओ, मूलं परमोपसे मोक्खो ।

विनय यदि धर्मका मूल है तो मोक्ष उसका फल। इस प्रकार धर्मरूपी वृक्षकी जड़ विनय और फल मोक्ष है। विनयको भगवतीकी आराधनामे पाँच रूपोमे कहा गया है—दर्शन-विनय, ज्ञान-विनय, चरित्र-विनय, तप-विनय और औपचारिक विनय। यथा—

विण ओ पुण पंचविहो णिछिद्दो णाणदंसण चरित्ते।
तव विण ओ य च उत्थो तदिर ओ उवपारिओ विण ओ॥

(मूलगाथा ११२)

शङ्का आदि दोषोंसे रहित तत्त्वार्थमे श्रद्धा दर्शन-विनय, शुद्ध परिवेशमे आत्मविश्वासपूर्वक अध्ययन ज्ञान-विनय, संयमपूर्वक अध्ययन चारित्र्य-विनय, तपश्चर्या और साधुजनोके प्रति श्रद्धा तप-विनय, गुरुके प्रति आदरभाव रखना औपचारिक विनय है।

कहा गया है—

अह पंचहिं ढाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई,
क्षमा कोहां पमा एणं ऐगेण लस्स एण बा॥

(उत्तराध्ययन-सूत्र ११।३)

मद्यपान, विषय-सेवन, कषाय, निद्रा और विकथा (राग-द्वेष-युक्त वार्तालाप)—ये पाँच प्रमाद है। प्रमादहीन जीवन ही प्रज्ञा और शिक्षाका आधार है। शिक्षार्थी प्रमादसे रहित विनयशील जीवनके द्वारा अपना उद्देश्य पूरा करके सफल-काम हो सकता है।

महात्मा चन्दनमुनिने वर्धमान शिक्षा-सप्तमीमे कहा है कि उत्तम शिक्षार्थी (शिष्य)के गुण हैं—सदा ज्ञान प्राप्त करनेमे तत्पर रहना, इन्द्रियोको वशमे रखना, मधुरभाषी, शीलयुक्त, क्षमावान् होना और असत्य, छल आदि दुर्गुणोसे परे रहना।

इस प्रकार शिक्षाके स्वरूपको आत्मोन्मुख होने,

सक्रिय ज्ञानात्मक, आत्मसंयमपरक, समस्त दुःखोकी निवृत्तिका आधार किंवा मोक्षकी प्रतिष्ठामे सहायक स्वरूप ही जैन-शिक्षाका सार प्रतीत होता है। वास्तवमे भारतभूमिमे, चाहे जो भी दर्शन-परम्परा रही हो, उसने शिक्षाको लोक और परलोक—दोनो ही दृष्टियोंसे उपादेय रूपमे ही समझा है। जिस शिक्षामे अथवा शिक्षा-व्यवस्थामे लोक-परलोकका संतुलन न हो उसे भारतीय शिक्षा नही कह सकते।
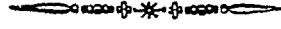
'ललितविस्तर'में वर्णित बौद्ध शिक्षा

(डॉ० श्रीश्रीरंजन सूरिदेवजी)

मिश्रित (हैब्रिड) संस्कृतमे निबद्ध महायान-सम्प्रदायका पार्यन्तिक प्राचीन ग्रन्थ 'ललितविस्तर' भारतीय बौद्ध संस्कृतिके उत्कृष्टतम निदर्शनोका महाकोष है। इसलिये इसे 'वैपुल्यसूत्र' या 'महावैपुल्यसूत्र' भी कहा गया है। 'ललितविस्तर'की विषयसामग्रीमे कुछ ऐसी ललित विशेषताएँ है, जो पालिनिबद्ध बौद्ध ग्रन्थोमे प्राय नहीं मिलती। इस महाग्रन्थमे कुल सत्ताईस परिवर्तो (अध्यायो) मे बुद्धका जन्मसे प्रथमोपदेशतकका जीवनदर्शन उपन्यस्त है, जिसमे तत्कालीन शुद्धि-रुचिर लोक-जीवनके विभिन्न संदर्भोकी मनोरम झाँकीका विनियोग हुआ है। प्रस्तुत निबन्धमे उस समयकी शैक्षिक संस्कृतिपर प्रकाश डाला गया है।

शैक्षिक संस्कृतिके अध्ययनकी दृष्टिसे 'ललितविस्तर'-के उक्त सत्ताईस परिवर्तोमे दो परिवर्त अधिक महत्त्वपूर्ण है—दसवाँ 'लिपिशालासदर्शन' परिवर्त और बारहवाँ 'शिल्पसंदर्शन' परिवर्त। दसवे 'लिपिशालासंदर्शन' परिवर्तकी कथामे उल्लेख है कि कुमार बोधिसत्व जब सयाने हुए, तब उन्हे माङ्गलिक एवं औत्सविक परिवेशके साथ कपिलवस्तु महानगरकी लिपिशालामे प्रवेश कराया गया। वहाँ विश्वामित्र नामक दारकाचार्यने कुमार बोधिसत्वको बहुकल्पकोटिशास्त्रोकी शिक्षा दी, जिसमे मनुष्यलोक-प्रचलित लिपि (ककहरा), संख्या-गणना (पहाडा), शिल्पयोग आदि समस्त शास्त्र सम्मिलित थे। इस सदर्भमे ललितविस्तरकारने लिखा है कि विश्वामित्र आचार्यने कुमार बोधिसत्वको चौसठ प्रकारकी अक्षरदृश्यरूपा लिपियोका ज्ञान कराया। लिपिज्ञानके लिये उरगसार चन्दनकाष्ठके लिपिफलक (आधुनिक स्लेट) का उपयोग किया गया था, जिसकी चारो किनारियाँ (फ्रेम) दिव्य सुवर्ण एव मणिरत्नसे जड़ी हुई थी—'**अथ बोधिसत्व उरगसार-चन्दनमयं लिपिफलकमादाय दिव्यार्षसुवर्णतिरकं समन्तान्मणिरत्नप्रत्युप्तम्।**'

'ललितविस्तर'मे संदर्भित चौसठ लिपियाँ इस प्रकार है—

१-ब्राह्मी, २-खरोष्ठी, ३-पुष्करसारि, ४-अग, ५-वंग, ६-मगध, ७-मगल्य, ८-अगुलीय, ९-शकारि, १०-ब्रह्मवलि, ११-पारुष्य, १२-द्राविड, १३-किरात, १४-दाक्षिण्य, १५-उग्र, १६-संख्या, १७-अनुलोम, १८-अवमूर्द्ध, १९-दरद, २०-खाष्य, २१-चीन, २२-लून, २३-हूण, २४-मध्याक्षरविस्तर, २५-पुष्प, २६-देव, २७-नाग, २८-यक्ष, २९-गन्धर्व, ३०-किन्नर, ३१-महोरग, ३२-असुर, ३३-गरुड, ३४-मृगचक्र, ३५-वायसरुत, ३६-भौमदेव, ३७-अन्तरिक्षदेव, ३८-उत्तरकुरुद्वीप, ३९-अपरगोडानी, ४०-पूर्वविदेह, ४१-उत्क्षेप, ४२-निक्षेप, ४३-विक्षेप, ४४-प्रक्षेप, ४५-सागर, ४६-वज्र, ४७-लेख-प्रतिलेख, ४८-अनुद्रुत, ४९-शास्त्रावर्त्त, ५०-गणनावर्त्त, ५१-उत्क्षेपावर्त्त, ५२-निक्षेपावर्त्त, ५३-पादलिखित, ५४-द्विरुत्तरपदसन्धि, ५५-यावद्दशोत्तरपदसन्धि, ५६-मध्याहारिणी, ५७-सर्वरुत-संग्रहणी, ५८-विद्यानुलोमाविमिश्रित, ५९-ऋषितपस्तप्ता रोचमाना, ६०-धरणीप्रेक्षिणी, ६१-गगनप्रेक्षिणी, ६२-सर्वौषधिनिष्यन्द, ६३-सर्वसारसग्रहणी और ६४-सर्वभूतरुतग्रहणी।

उक्त लिपिशालामे कुमार बोधिसत्वके साथ दस हजार लड़के लिपिशिक्षा ग्रहण कर रहे थे । वे बोधिसत्वके साथ मिलकर अक्षरमातृकाका वाचन करते थे । उन्हे प्रत्येक अक्षरका वाच्य अर्थ बौद्ध दार्शनिक तत्त्वोके उपस्थापनके माध्यमसे समझाया जाता था । जैसे—

'अ'से अनित्य, 'आ'से आत्मपरहित, 'इ'से इन्द्रिय-वैकल्य, 'ई'से ईतिबहुल, 'उ'से उपद्रवबहुल, 'ऊ' ऊनसत्व जगत्, 'ए'से एषणासमुत्थानदोष, 'ऐ'से ऐर्यापथ श्रेयान् (श्रेयस्कर), 'ओ'से ओघोत्तर, 'औ'से औपपादुक, 'अं'से अम्-ओघोत्पत्ति, 'अः'से अस्तंगमन, 'क'से कर्मविपाकावतार, 'ख'से खसमसर्वधर्म, 'ग'से गम्भीरधर्मप्रतीत्यसमुत्पादावतार, 'घ'से घनपटला-विद्यामोहान्धकारविधमन, 'ङ'से अगविशुद्धि, 'च'से चतुरार्यसत्य, 'छ' से छन्दरागप्रहाण, 'ज'से जरामरण-समतिक्रमण, 'झ'से झषध्वजबलनिग्रहण, 'ञ'से ज्ञापन, 'ट'से पटोपच्छेदन, 'ठ'से ठपनीयप्रश्न, 'ड'से डमरमार-निग्रहण, 'ढ'से मीढविषय, 'ण'से रेणुक्लेश, 'त'से तथागत-सम्भेद, 'थ'से थामबल-वैशारद्य, 'द'से दानदमसयमसौरभ्य, 'ध'से आर्योका सप्तविध धन, 'न'से नामरूपपरिज्ञा, 'प'से परमार्थ, 'फ'से फलप्राप्तिसाक्षात्क्रिया, 'ब'से बन्धनमोक्ष, 'भ'से भवविभव, 'म'से मदमानोपशमन, 'य'से यथावद्धर्मप्रतिवेध, 'र'से रत्यरति-परमार्थरति, 'ल'से लता-छेदन, 'व'से वरयान, 'श'से शमथविपश्यना, 'ष'से षडायतननिग्रहणाभिज्ञ-ज्ञानावाप्ति, 'स'से सर्वज्ञज्ञानाभि-सम्बोधन, 'ह'से हतक्लेशविराग और 'क्ष'से क्षणपर्यन्ताभिलाप्यसर्वधर्म ।

प्रस्तुत मातृकावर्गमे 'ऋ', 'लृ', 'त्र' और 'ज्ञ'को नहीं गिना गया है । अनुमानतः ये चारो वर्ण पाली आदिकी मातृकामें सम्मिलित नहीं थे ।

उपर्युक्त शिक्षाविधिमे यथानिर्दिष्ट अक्षरज्ञानकी प्रक्रियासे सहज ही यह संकेतित होता है कि तत्कालीन शिक्षाका स्तर सातिशय समुन्नत तो था ही, बालकोका मस्तिष्क भी अधिकाधिक विकसित था, तभी तो प्रारम्भिक शिक्षाके समय ही लिपिशालामे प्रविष्ट बच्चोंको अक्षरज्ञानके व्याजसे उनके जीवनको साधनाके उत्कर्षकी ओर उन्मुख करनेवाली धर्म, दर्शन और आचारकी दृष्टिसे व्युत्पन्न बना दिया जाता था । वर्तमान शिक्षण-पद्धतिमे अक्षरज्ञानके क्रममें 'अ'से 'अनार', 'आ'से 'आम' आदि मातृकाओकी सरलतम वाचन-प्रयोगविधि सामान्यतया आधुनिक बच्चोंके मस्तिष्ककी अपरिपक्वता या बौद्धिक अपचयका ही निदर्शन उपस्थित करती है ।

बारहवे 'शिल्पसन्दर्शनपरिवर्त'में बोधिसत्वके शिक्षकोत्तर विवाहकी कथाके क्रममे उल्लेख हुआ है कि दण्डपाणि शाक्यदेवने कुमार बोधिसत्वकी उत्तम कोटिकी शिल्पज्ञताकी परीक्षा करनेके बाद ही उनके लिये अपनी पुत्री गोपा प्रदान की थी । बोधिसत्व केवल चौंसठ लिपियोके ही ज्ञाता नहीं थे; अपितु सौ करोड़से भी आगेकी सख्याकी गणना जानते थे । किंतु आजके विद्यालयीय छात्रोकी संख्या-गणनाका ज्ञान बहुत ही सीमित हो गया है । बोधिसत्वने कोटिशतोत्तर गणनाकी जो गति प्रश्नोत्तरके क्रममे बतायी थी, वह इस प्रकार है ।

एक सौ करोड=एक अयुत, सौ अयुत=एक नियुत, सौ नियुत=एक कंकर, सौ कंकर=एक विवर, सौ विवर=एक अक्षोभ्य, सौ अक्षोभ्य=एक विवाह, सौ विवाह=एक उत्संग, सौ उत्संग=एक बहुल, सौ बहुल=एक नागबल, सौ नागबल=एक तिटिलम्भ, सौ तिटिलम्भ=एक व्यवस्थान-प्रज्ञप्ति, सौ व्यवस्थान-प्रज्ञप्ति=एक हेतुहिल, सौ हेतुहिल=एक करकु, सौ करकु=एक हेत्विन्द्रिय, सौ हेत्विन्द्रिय=एक समाप्तलम्भ, सौ समाप्तलम्भ=एक गणनागति, सौ गणनागति=एक निरवद्य, सौ निरवद्य=एक मुद्राबल, सौ मुद्राबल=एक सर्वबल, सौ सर्वबल=एक विसंज्ञागति, सौ विसंज्ञागति=एक सर्वसंज्ञा और सौ सर्वसंज्ञा=एक विभूतंगमा ।

सौ विभूतगमाओकी लक्षण-गणनासे पर्वतराज सुमेरुके कण-कणको भी गिन लिया जा सकता था । विभूतगमासे उत्तर ध्वजाग्रवती गणनाका उल्लेख हुआ है । इस गणनाद्वारा गङ्गानदीके बालूके कणोको भी गिना जा सकता था । इससे उत्तर अग्रसारा नामकी गणना थी । इस गणना-पद्धतिद्वारा सौ करोड़ गङ्गा नदियोके बालूके कणोकी गिनती सम्भव थी । इससे उत्तर परमाणुरज-प्रवेशके

अनुगतोकी भी गणनाका विधान था । इस गणना-विधिद्वारा बोधिसत्वने अपने आचार्य अर्जुन नामक गणक महामात्रको भी विस्मित कर दिया था । फलतः उस गणकाचार्यको कहना पड़ा—

ईदृशी ह्यस्य प्रज्ञेयं बुद्धिर्ज्ञानं स्मृतिर्मतिः ।
अद्यापि शिक्षते चायं गणितं ज्ञानसागरः ॥

अर्थात् 'बोधिसत्वकी यह प्रज्ञा, बुद्धि, ज्ञान, स्मृति और मति ऐसी (अतिशय विस्मयजनक) है फिर भी ऐसे ज्ञानसागर (गणितज्ञ बोधिसत्व) को आज भी गणितकी शिक्षा दी जा रही है, यह तो परम आश्चर्यका विषय है ।' गणकाचार्य अर्जुनके पूछनेपर कुमार बोधिसत्वने परमाणुरजःप्रवेशकी गिनती इस प्रकार बतायी—

सात परमाणुरज=एक अणु, सात अणु=एक त्रुति, सात त्रुति=एक वातायनरज, सात वातायनरज=एक शशरज, सात शशरज=एक एडकरज, सात एडकरज=एक गोरज, सात गोरज=एक लिक्षारज, सात लिक्षारज=एक सर्षप, सात सर्षप=एक यव, सात यव=एक अंगुलिपर्व, बारह अंगुलिपर्व=एक वितस्ति (बित्ता), दो वितस्ति=एक हस्त, चार हस्त=एक धनुष, एक हजार धनुष=एक क्रोश और चार क्रोश=एक योजन । इसके बाद बोधिसत्वने योजनपिण्ड, द्वीप आदिका सूक्ष्मताके साथ विस्तारपूर्वक परिमाण बताते हुए कहा कि त्रिसाहस्रमहासाहस्र लोकधातुमे असंख्यतम परमाणुरजका समावेश है ।

बोधिसत्वके गणना-परिवर्तको सुनकर चकित-विस्मित गणक महामात्र अर्जुनने उन्हे गणनाशास्त्रके अप्रतिम ज्ञानसे सम्पन्न कहा । गणना-शिक्षाकी परीक्षाके बाद कुमार बोधिसत्वने मल्लयुद्ध तथा शरनिक्षेपविद्याका विस्मयकारी प्रदर्शन किया था । बाण फेकते समय धनुषके टंकारसे सम्पूर्ण कपिलवस्तु नगर गूँज उठा था और वहाँके सभी नागरिक विह्वल हो गये थे ।

इसके बाद कुमार बोधिसत्वने यथागृहीत विभिन्न शिल्पो या कलाओमे भी अपनी विशेषज्ञताका प्रदर्शन किया । ब्राह्मण-परम्पराके 'कामसूत्र' (वात्स्यायन), 'कलाविलास' (क्षेमेन्द्र) आदि ग्रन्थोमे सामान्यतया चौसठ कलाओकी शिक्षाका उल्लेख मिलता है, जबकि जैन-परम्पराके 'समवायांग' (आगमसूत्र), 'प्रबन्धचिन्तामणि' (मेरुतुग), 'वसुदेवहिण्डी' (सघदासगणी) आदि ग्रन्थोमे बहत्तर कलाओकी शिक्षाका । किंतु बौद्ध-परम्परामे तो चौसठसे भी अधिक कलाओकी शिक्षाका निर्देश किया गया है । 'ललितविस्तर'में लगभग ९१ (इक्यानबे) कलाओकी गणना उपलब्ध होती है । जैसे—

१-लघित, २-लिपि, ३-मुद्रा, ४-गणना, ५-धनुर्वेद, ६-जवित, ७-प्लवित, ८-तरण, ९-इष्वस्त्र, १०-हस्तिचालन, ११-अश्वचालन, १२-रथचालन, १३-धनुष्कलाप, १४-स्थैर्यस्थाम, १५-शूरतापूर्ण बाहुव्यायाम, १६-अकुशग्रह, १७-पाशग्रह, १८-उद्यान (बागवानी), १९-निर्याण, २०-अवयान, २१-मुष्टिबन्ध, २२-पदबन्ध, २३-शिखाबन्ध, २४-छेद्य, २५-भेद्य, २६-दालन, २७-स्फालन, २८-अक्षुण्णवेध, २९-मर्मवेध, ३०-शब्दवेध, ३१-दृढप्रहार, ३२-अक्षक्रीडा, ३३-काव्यकरण (काव्य-रचना), ३४-ग्रन्थ, ३५-चित्र, ३६-रूप, ३७-रूपकर्म, ३८-धौत, ३९-अग्निकर्म, ४०-वीणा, ४१-वाद्य, ४२-नृत्य, ४३-गीत, ४४-पठित, ४५-आख्यान, ४६-हास्य, ४७-लास्य, ४८-विडम्बित, ४९-माल्यग्रथन, ५०-सवाहित, ५१-मणिराग, ५२-वस्त्रराग, ५३-मायाकृत, ५४-स्वप्नाध्याय, ५५-शकुनिरुत, ५६-स्त्रीलक्षण, ५७-पुरुषलक्षण, ५८-अश्वलक्षण, ५९-हस्तिलक्षण, ६०-गोलक्षण, ६१-अजलक्षण, ६२-मित्रलक्षण, ६३-कौटुभेश्वरलक्षण, ६४-निर्घण्ट, ६५-निगम, ६६-पुराण, ६७-इतिहास, ६८-वेद, ६९-व्याकरण, ७०-निरुक्त, ७१-शिक्षा, ७२-छन्द, ७३-यज्ञकल्प, ७४-ज्योतिष, ७५-साख्य, ७६-योग, ७७-क्रियाकल्प, ७८-वैशिक, ७९-वैशेषिक, ८०-अर्थविद्या, ८१-बार्हस्पत्य, ८२-आम्भिर्य (आश्चर्य), ८३-आसुर्य, ८४-मृगपक्षिरुत, ८५-हेतुविद्या, ८६-जलयन्त्र, ८७-मधूच्छिष्टकृत, ८८-सूचीकर्म, ८९-विदलकर्म, ९०-पत्रच्छेद और ९१-गन्धयुक्ति ।

इस प्रकार 'ललितविस्तर'के उक्त दोनो (१० और १२) परिवर्तोमे प्राप्य कुमार बोधिसत्वकी शिक्षा-कथाके अध्ययनसे यह स्पष्ट होता है कि बौद्धकालीन कलावरेण्य यानी ललितविस्तर-शिक्षाविधि आधुनिक शिक्षाविधिकी भाँति नीरस और एकाङ्गी नहीं, अपितु गहन, समग्रात्मक और मनोरञ्जनपूर्ण थी ।

अध्यात्मशिक्षण-पद्धति और आख्यान-शैली

(पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

अध्यात्मशिक्षणकी प्रणाली पर्याप्तरूपसे दुरूह तथा दुष्कर है। इसका कारण प्रतिपाद्य विषयकी गम्भीरता तथा रहस्यवादिता है। परिचितके द्वारा अपरिचितका तथा व्यक्तके द्वारा अव्यक्तका उपदेश देना शिक्षकोंका महनीय कार्य रहा है और इस कार्यकी सार्वत्रिक सिद्धिके लिये उन्होने आख्यानोका उपयोग किया है। अध्यात्मशिक्षणमे आख्यानोका प्रयोग ऋग्वेदसे आरम्भ होता है और रामायण, महाभारत तथा पुराणोके माध्यमसे यह परवर्ती साहित्यको सर्वथा व्याप्त कर विद्यमान है। पुराणोकी लोकप्रियताका मुख्य हेतु आख्यानशैलीका न्यूनाधिक समाश्रयण है। वेदोंमे संकेतित आख्यानोका विपुलीकरण वेदार्थोपबृंहणका अन्यतम प्रकार है। यह तो प्रख्यात तथ्य है कि इतिहास तथा पुराणके द्वारा वेदोंके अर्थका उपबृंहण करना चाहिये। अल्पश्रुत व्यक्तिसे वेद सर्वथा शङ्कित रहता है कि वह कही उसपर प्रहार कर उसे छिन्न-भिन्न न कर डाले—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

(महाभारत, आदि० १।२६७,२६८)

वेदार्थका उपबृंहण पुराण अनेक प्रकारसे करता है और इन प्रकारोमें आख्यानशैलीका उपयोग नितान्त रोचक तथा प्रभावशाली होता है। वेदमे जो वस्तु या तथ्य सूक्ष्म रूपमें संकेतित किये गये हैं, उन्हींकी विशद और विपुल अभिव्यक्ति करना पुराणका कार्य है। वेदके समान पुराण भी अध्यात्मतत्त्वके शिक्षणके लिये आख्यानोका प्रयोग कर उसे सुबोध तथा सुगम बना डालता है। अन्य धर्मो या मतोके उपदेष्टा महापुरुषोने भी यही शैली अपनायी है। जैन-धर्मके उपदेष्टा तीर्थकरोने तथा बौद्धधर्मके प्रचारक तथागतने ही अपने धर्मग्रन्थोमे इस शैलीका प्रचुर उपयोग नहीं किया, प्रत्युत यहूदी, ईसाई तथा मुसलमानी मतोंके भी उपदेष्टाओंने इस शैलीका प्रयोग अपने शिक्षणकी व्यापकता, चारुता तथा प्रभावशालिताको दृष्टिमें रखकर किया है। उदाहरणोके द्वारा इसे पुष्ट करनेकी विशेष आवश्यकता विज्ञ पाठकोंके लिये नहीं है। उन मतोंके धर्मग्रन्थोका सामान्य अनुशीलन भी इस तथ्यका पर्याप्त पोषण करता है।

तथ्य यह है कि इस आख्यान-शैलीका उदय वेदसे प्रारम्भ होता है। वेदकी प्रत्येक संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद्में न्यून तथा अधिक मात्रामे यह शैली समादृत हुई है। ऋग्वेदसंहिताके विभिन्न मन्त्रोंमें कतिपय आख्यान संकेतित किये गये हैं, जिनका उद्देश्य है किसी दुर्बोध अध्यात्मतत्त्वको सुबोध तथा सरल बनाना। ऐसे आख्यानोका सुन्दर संग्रह द्या द्विवेदने अपनी प्रसिद्ध रचना 'नीतिमञ्जरी' मे किया है। इन आख्यानोंमें कहीं-कहीं देवों तथा मुनियोंकी जो चारित्रिक त्रुटियाँ लक्षित होती हैं, वे न तो हमारे अनुसरणके विषय हैं और न निन्दाके ही। वह तो प्राचीन इतिहासकी जानकारीके लिये तथ्योंका प्रतिपादनमात्र है। इस विषयमे महाभारतका यह दृष्टिकोण सर्वथा श्लाघनीय है—

कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा।
न चरेत् तानि धर्मात्मा श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत्॥

(महाभा०, शा० २९१।१७)

अलमन्यैरुपालब्धैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व)

इन्हीं आख्यानोंके ऊपर अनेक 'लौकिक न्याय' का निर्माण किया गया है। इन न्यायोकी उपादेयता किसी दार्शनिक तथ्यके रहस्योंके उद्घाटनमे होती है, जिससे विषम सिद्धान्त सुगम हो जाता है। उदाहरणके लिये

'भर्छुन्याय' भर्छु नामक व्यक्तिके आख्यानपर आश्रित है। **'रोहणाचललाभे रत्नसम्पदः सम्पन्नाः'**—यह न्याय भी इसी प्रकार एक आख्यानपर आधृत है। 'रोहण' नामक पर्वत अशेष सम्पत्तियोके उद्भव-स्थानके रूपमे विश्रुत है। यदि कोई व्यक्ति उस पर्वतपर पहुँच जाता है तो वह वहाँ उत्पन्न होनेवाले रत्नोका स्वामी बन जाता है। इस न्यायद्वारा प्रत्यभिज्ञादर्शनके उस सिद्धान्तकी सुगम व्याख्या हो जाती है जिसके द्वारा परमेश्वरता प्राप्त करनेवाले व्यक्तिको समस्त सम्पत्तियोके प्राप्त करनेका निर्देश किया जाता है। 'वृद्धकुमारीवाक्यन्याय'का उद्भव भी एक आख्यानके ऊपर ही है। इसका विशद वर्णन पतञ्जलिने अपने महाभाष्यमे किया है।[१] किसी वृद्धकुमारीसे इन्द्रने वर माँगनेकी प्रार्थना की। उसने एक ही वर माँगा—'मेरे पुत्र घी तथा दूधसे सम्पन्न भातको कांस्यके पात्रमे भोजन करे।' उसने एक ही वरके द्वारा अपने लिये पति, पुत्र, गाय तथा धन—इन चार वस्तुओंका समाहार-रूपमे आशीर्वाद माँग लिया, क्योंकि इन चारो वस्तुओकी सम्पत्तिके बिना उसकी प्रार्थना चरितार्थ नही हो सकती थी। इस न्यायका उपयोग अनेकार्थक वाक्यके स्वरूपको समझानेके लिये किया जाता है। तन्त्रवार्तिक (२।२।२) मे यही न्याय 'वृद्धकुमारी-वर-प्रार्थना' के रूपमे उल्लिखित किया गया है। 'पङ्ग्वन्ध-न्याय' भी इसी प्रकार अंधे और लँगड़ेके पारस्परिक सहयोगके आधारपर निर्मित है, जिसका उपयोग साख्यदर्शनमे जड-प्रकृति तथा निष्क्रिय पुरुषके परस्पर सहयोगसे उत्पन्न जगत्के परिणामकी सुगम व्याख्या समझानेके लिये किया गया है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥

(साख्यकारिका २१)

वाचस्पति मिश्रने इस कारिकाकी टीकामे इसकी विशेष व्याख्या नहीं की है, परंतु माधवाचार्यने 'सर्वदर्शनसंग्रह'-के साख्य-प्रकरणमे इसका विशद विवरण दिया है। 'खल्वाटविल्वीय-न्याय', जिसका उपयोग भाग्यरहित व्यक्तिको विपत्तिका सर्वत्र सामना करनेके तथ्यके लिये किया जाता है— **प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः**, (भर्तृहरि, नीतिशतक, श्लोक ९०) एक लोकप्रख्यात आख्यानके ऊपर ही आधृत है। 'कण्ठचामीकर-न्याय' किसी सद्गुरुके द्वारा ब्रह्मतत्त्वकी शिक्षाके ऊपर आग्रह दिखलाता है, हम सभी ब्रह्मस्वरूप हैं अवश्य ही, परंतु किसी तत्त्ववेत्ता गुरुके उपदेशके द्वारा ही हम इस तथ्यको भलीभाँति जान सकते हैं, जिस प्रकार कोई भुलक्कड़ व्यक्ति अपने कण्ठमें सोनेकी माला पहननेपर भी उसे कहीं बाहर ही खोजता रहता है और किसी आप्त पुरुषके द्वारा उपदिष्ट होनेपर ही उसे पहचानता है। इसी प्रकार शब्दोपदेशसे साक्षात् परिज्ञान होनेके लिये प्रयुक्त **'तत्त्वमसि'** महावाक्यका तात्पर्य **'दशमस्त्वमसि'** न्यायसे भलीभाँति समझमें आता है। यह न्याय भी लौकिक आख्यानके ऊपर आश्रित है।

'दशमस्त्वमसि' का आख्यान

प्राचीनकालमे काशीमे चन्द्रग्रहणका शुभ अवसर प्राप्त था। ग्रामीणोने विचार किया कि उस पुण्यपर्वमे भगवती भागीरथीमे स्नान कर पुण्यका अर्जन करना चाहिये। दस व्यक्तियोकी एक टोली इस शुभ योगसे लाभ उठानेके लिये काशीके मणिकर्णिका घाटपर पहुँची और स्नानके लिये घाटपर उतरने लगी। सयाने व्यक्तिने कहा कि हम गाँवसे आनेवाले दस व्यक्ति है। नहानेके बाद भी गिनती करनी होगी कि हमारी सख्या ठीक-ठीक दस ही है। सभीने स्नान-ध्यान किया, पूजा-पाठ किया, दान-दक्षिणा दी। घाटके ऊपर आकर गिनती होने लगी। बारी-बारीसे सबने अपने साथियोको गिना, परतु प्रत्येक बार गिननेमें नौ ही व्यक्ति आते थे; क्योंकि गिननेवाला व्यक्ति अपनी गिनती नहीं करता था। एक व्यक्तिकी कमी होती थी। सभी जोर-जोरसे रोने लगे—'हाय! हममेंसे एक व्यक्ति गङ्गामे डूब गया। अव घर लौटकर

१. वृद्धकुमारी इन्द्रेणोक्ता वर वृणीष्वेति, सा वरमवृणीत—पुत्रा मे वहुक्षीरघृतमोदन कास्यपात्र्या भुञ्जीरन्निति। न च तावदस्या पतिर्भवति कुत पुत्रा, कुतो वा गाव., कुतो धान्यम्। तत्रानया एकेन वाक्येन पति पुत्रा गावो धान्यमिति सर्वं सगृहीत भवति। (८।२।३ सूत्रपर महाभाष्यका विवरण)

हमलोग अपना कौन-सा मुँह दिखायेंगे।' घाटके ऊपर कोहराम मच गया। एक चतुर शहरी व्यक्ति इस विचित्र दुःखान्त नाटकको देख रहा था। उसने आगे बढ़कर पूछा—'क्या मामला है?' सभीने अपने एक साथीके डूब जानेकी बात कही। उसने एक वयस्क व्यक्तिसे गिननेके लिये कहा। उसने गिनती की और अपनेको न गिननेके कारण एक व्यक्तिको डूबनेका निश्चय किया। इस सयानेने फिरसे गिनती करायी और नौ व्यक्तियोके गिननेके बाद जब वह ठमककर खड़ा हो गया, तब उसके पीठपर एक घूसा मारा और चिल्ला उठा—'अरे, तुम्हीं तो दसवे व्यक्ति हो।' यह सुनते ही मण्डलीको वस्तुस्थितिका ज्ञान हुआ कि किसी व्यक्तिकी कमी नहीं है और सब आनन्द मनाने लगे। गुरुके द्वारा उपदिष्ट व्यक्तिको शब्दके द्वारा प्रत्यक्ष आनन्द-लाभका यह सद्य: परिचायक आख्यान है।

आध्यात्मिक साहित्यमे छोटे-छोटे आख्यानोके अनेक मार्मिक आख्यान बिखरे पड़े हैं, परंतु विशाल तथा विस्तृत आख्यानोका परिचायक ग्रन्थरत्न है—योगवासिष्ठ। इस विशालकाय ग्रन्थरत्नमे छः प्रकरण हैं, जिनके नाम क्रमश: है—वैराग्य, मुमुक्षु-व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम तथा निर्वाण और श्लोकोकी संख्या है बत्तीस हजार। आख्यानशैलीकी प्रशंसामे यहाँ कहा गया है—

यत् कथ्यते हि हृदयङ्गमयोपमान-
युक्त्या गिरा मधुरयुक्तपदार्थया च।
श्रोतुस्तदङ्ग हृदयं परितो विसारि
व्याप्नोति तैलमिव वारिणि वार्य शङ्काम्॥

(उत्पत्तिप्रकरण ८४।४५)

अर्थात् 'मधुरशब्दावली तथा समझमे आनेवाले दृष्टान्तों तथा युक्तियोंसे सम्पन्न भाषामे जो उपदेश किया जाता है वह इस प्रकार हृदयमे फैल जाता है, जिस प्रकार तेलकी बूँद पानीके ऊपर सद्यः फैल जाती है और सुननेवालोकी सब शङ्काएँ दूर हो जाती हैं।'

परंतु कठिन एवं कठोर शब्दोवाली भाषामे, सरस शब्दो तथा दृष्टान्त, आख्यानसे रहित भाषामे जो उपदेश किया जाता है वह राखमे हवन किये गये घीके समान हृदयमे प्रवेश नहीं करता—

त्यक्तोपमानममनोज्ञपदं दुरापं
क्षुब्धं धराविधुरितं विनिगीर्णवर्णम्।
श्रोतुर्न याति हृदयं प्रविनाशमेति
वाक्यं किलाज्यमिव भस्मनि हूयमानम्॥

(उत्पत्ति० ८४।४६)

आख्यानोके द्वारा सद्यः प्रकाश्यमान तथ्योंकी उपमा चन्द्रमाके द्वारा प्रकाशित भूतलसे दी गयी है—

आख्यानकानि भुवि यानि कथाश्च या या
यद्यत्प्रमेयमुचितं परिपेलवं वा।
दृष्टान्तदृष्टिकथनेन तदेति साधो
प्राकाश्यमाशु भुवनं सितरश्मिनेव॥

(उत्पत्ति० ८४।४७)

इसी कारण योगवासिष्ठ काव्य, दर्शन तथा आख्यान—तीनोका मञ्जुल समन्वय होनेके कारण त्रिवेणीके समान महत्त्वशाली माना जाता है। ऐसे उपाख्यानोकी संख्या पचाससे भी ऊपर है, जिनमे दाशूर, रानी चुडाला, वीतहल, उद्दालक आदिके आख्यान नितान्त प्रसिद्ध हैं। रानी चुडालाके विस्तृत आख्यानके द्वारा स्त्रीको आत्मज्ञान होने तथा तद्द्वारा अपने पतिके उद्धार करनेकी कथा दी गयी है।

संसाररूपी अटवी (महाटवी) का विस्तृत तथा आकर्षक वर्णन दोनो ग्रन्थोमे विशेष उपलब्ध होता है—श्रीमद्भागवतके पञ्चमस्कन्धमें (गद्य) तथा योगवासिष्ठके उत्पत्तिप्रकरणके ९८ तथा ९९ अध्यायोमे (पद्य)। दोनोके आख्यानमे ऐसा वैशिष्ट्य है, जो हृदयङ्गम करने योग्य है। यहाँ एक-दो उदाहरण पर्याप्त होगा—

कीलोत्पाटी बंदरके समान मन ही स्वयं दुःखोका आवाहन करता है—

अपश्यन् काष्ठरन्ध्रस्थवृषणाक्रमणं यथा।
कीलोत्पाटी कपिर्दुःखमेतीदं हि तथा मनः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ९९।४१)

गन्नेमे वर्तमान रसको चूसकर जैसे मनुष्य उसका स्वाद लेता है, उसी प्रकार शास्त्रोके महावाक्योमे जो

ब्रह्मानन्द भरा है उसका भोग ज्ञानी अपने अनुभवद्वारा ही करता है—

महावाक्यार्थनिष्यन्दं स्वात्मज्ञानमवाप्यते ।
शास्त्रादेरिक्षुरसतः स्वाद्विव स्वानुभूतितः ॥

(योगवासिष्ठ, निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध १९७ । २९)

इस दृष्टान्तपर ध्यान दीजिये । सांसारिक व्यक्ति अपने ही संकल्पो तथा वासनाओका जाल बुना करता है और उनके द्वारा वह स्वयं अपने-आपको बन्धनमे डालता है—रेशमके कीडेके समान, जो अपने ही लारके जालसे अपनेको बन्धनमे डालता है । न कोई बाहरी आदमी इस कीडेको बन्धनमे जकड़ता है और न कोई जीवको बन्धनमे डालता है । ये दोनो अपने ही क्रिया-कलापोसे मानसिक तथा शारीरिक द्रव्योसे अपनेको बाँधते हैं—

संकल्पवासनाजालैः स्वयमायाति बन्धनम् ।
मनो लालामयैर्जालैः कोशकारकृमिर्यथा ॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ९९ । ३९)

निष्कर्ष यह है कि अध्यात्मशास्त्रके दुरूह तत्त्वोंके सरल-सुबोध ज्ञानके निमित्त भारतीय ऋषियोने दृष्टान्त, उपमा तथा आख्यानोकी सहायतासे विषयका प्रतिपादन किया है, जिससे शिष्यको विषयका ज्ञान सद्यः हो जाता है ।*

शिक्षा एवं संस्कृतिकी गुरुकुल-प्रणालीमें संस्कारों और व्रतोंका महत्त्व

(श्रीभैरूसिहजी राजपुरोहित)

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' अर्थात् मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ, भूमि मेरी माता है । मेरा जीवन मातृभूमिकी सेवामे अर्पण रहेगा, लोककल्याणकी सेवाके लिये समर्पित रहेगा । मैं सम्पूर्ण विश्वको ज्ञान और शक्तिसे उद्दीप्त रखूँगा । गुरुदेवद्वारा प्रदत्त शक्तिसे मै अपने राष्ट्रको जीवित और जाग्रत् रखूँगा । मेरे जीवित रहनेतक मेरे धर्म और सस्कृतिको आँच नहीं आने पायेगी ।'

गुरुकुल-विद्यालयके वातावरणसे विदा होनेपर प्रत्येक स्नातक उपर्युक्त प्रकारकी प्रतिज्ञा करता था । ऐसी प्रतिज्ञासे सम्पन्न स्नातक जिस समाज या राष्ट्रमे प्रवेश करता था, उस समाजका सर्वाङ्गीण विकास होनेमे कोई कसर नहीं रहती थी । वस्तुत. देश और समाजके सर्वाङ्गीण विकासका श्रेय हमारे प्राचीन गुरुकुलो और आचार्योको है, जिनकी शिक्षा-पद्धति ऐसी थी, जो मनुष्यको न केवल आध्यात्मिक लक्ष्यकी प्राप्ति कराती थी, अपितु व्यक्तिमे ऐसी शक्ति और प्रतिभा लाती थी जो अपनेको एव समाजको ऊर्ध्वगामी बना सके । हमारे ऋषि-मुनि अपने आश्रमोमे चुपचाप बैठे माला ही नही जपते थे, अपितु वे आजीवन गुरुकुल चलाने, सद्ग्रन्थोका प्रणयन करने, यज्ञोका आयोजन करने, कथा-प्रवचनके माध्यमसे लोकशिक्षण देने, संस्कार और पर्वोके माध्यमसे आदर्श परिवार एव समाजके निर्माणकी व्यवस्था करनेमे सलग्न रहते थे । उन दिनो देशभरकी सारी शिक्षा-व्यवस्था इन ऋषियो, ब्राह्मणो और सतोके अधिकारमे ही थी । आज हमारे सामने ज्ञानका जो अथाह भण्डार सुरक्षित है, वह उन्हींकी देन है ।

महर्षि चरक और सुश्रुतने आयुर्वेदके क्षेत्रमे बहुत-सी खोज और अनुसधान करके मानव-समाजको रोगमुक्त एव स्वस्थ बनानेकी दिशामे बहुत काम किया । देवर्षि नारद स्वयं न केवल एक भक्त और ज्ञानी व्यक्ति थे, अपितु

---

* कुछ सीमातक आख्यानशैलीको बच्चोकी शिक्षा-पद्धतिमे सम्मिलित किया जा रहा है, किंतु बच्चो और बालकोंके लिये तथा प्रौढ शिक्षाके कार्यक्रममे विशेष प्रशिक्षित शिक्षकोद्वारा यदि यह प्रणाली अवश्यकरणीय बनायी जाय और वैसी पुस्तकें भी उपलब्ध करायी जायँ तो शिक्षा-व्यवस्थाको और अधिक प्रभावकारी बनाया जा सकेगा । —सम्पादक

उनका ज्ञान-प्रसार और लोगोको सत्प्रेरणाएँ देनेका काम और भी महत्त्वपूर्ण था । वे सदैव कीर्तन-भजन गाते हुए लोगोमे सद्विचार और सद्ज्ञानका प्रचार करते रहे । उन्होने कई पतितोका उत्थान किया, पापियोको शुभ मार्गमे लगाया, अधिकारी पात्र (ध्रुव, प्रह्लाद) को ज्ञानकी दीक्षा देकर आत्मविकासकी ओर अग्रसर किया । महर्षि कणाद जीवनकी आवश्यकताओको कम महत्त्व देकर अपना समय संसारको ज्ञान एवं शिक्षा बॉटनेमे लगाते थे । वे खेतोमे गिरे अन्नके दानोको बीनकर अपने परिवारका पालन करते थे । महर्षि पिप्पलाद भी इसी उद्देश्यके लिये केवल पीपलके फल खाकर ही रहते थे । शुकदेवजीने सांसारिक प्रलोभनोको छोड़कर आजीवन ज्ञान-साधना की । उन्होने महाराज परीक्षित्को श्रीमद्भागवतकी कथा सुनाकर उनके जीवनको सार्थक कर दिया तथा राजा जनकसे ज्ञान प्राप्तकर उसे सारी मानव-जातिको वितरित कर दिया । चाणक्यके प्रयत्नोसे मौर्य-साम्राज्यका विस्तार हुआ । वे राजकीय वातावरणसे दूर एक कुटियामे रहे एवं उन्होंने सरस्वतीकी आराधना की तथा अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्रकी रचना की । उन्हीं दिनो तक्षशिला और नालन्दा-जैसे विश्वविद्यालय विकसित हुए, जो भारतीय संस्कृतिको समस्त विश्वमे फैलानेमे सक्षम रहे । काशी और उज्जैन किसी समय प्रख्यात विद्याके केन्द्र रहे है ।

श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न-जैसा व्यक्तित्व वसिष्ठ और विश्वामित्रकी देन है तो लव-कुश-जैसे महान् प्रतापी महर्षि वाल्मीकिकी शिक्षा-दीक्षा और दिशानिर्देशके परिणाम है । श्रीकृष्ण और सुदामा-जैसे मित्रोको सांदीपनिका गुरुकुल ही पैदा कर सका है ।

भारतीय ऋषियो एव तत्त्ववेत्ताओने मनुष्यकी अन्तर्भूमिको श्रेष्ठताकी दिशामे विकसित करनेके लिये कुछ ऐसे सूक्ष्म उपचारोका आविष्कार किया, जिनका प्रभाव शरीर तथा मनपर ही नहीं, अपितु सूक्ष्म अन्तःकरणपर भी पड़ता है और उसके प्रभावसे मनुष्यको गुण, कर्म और स्वभावकी दृष्टिसे समुन्नत स्तरकी ओर बढ़नेमे सहायता मिलती है । इस आध्यात्मिक उपचारका नाम है 'संस्कार' । महर्षि पाणिनिके अनुसार इस शब्दके तीन अर्थ है—(१) उत्कर्ष करनेवाला—उत्कर्ष-साधन-संस्कार, (२) समवाय या संघात और (३) आभूषण । प्रत्येक मनुष्य जन्मके साथ कुछ गुण-अवगुण लेकर पैदा होता है । उसपर पूर्वजन्मोके विविध संस्कार छाये रहते हैं । वृद्धिके साथ उसपर नये संस्कार भी पडते रहते हैं । अतः पुराने संस्कारोंको प्रभावित करके उनमें परिवर्तन, परिवर्धन अथवा उनका उन्मूलन करने, प्रतिकूल संस्कारोंको नष्ट कर अनुकूल संस्कारोका निर्माण करनेका विधान 'संस्कार-पद्धति' कहलाता है । माताके गर्भमे आनेके दिनसे मृत्युतक समय-समयपर प्रत्येक मानवको सोलह बार संस्कारित करके उसे देव-मानवके स्तरतक पहुँचानेकी प्रेरणा दी जाती है । संस्कार बीजरूप ही होते हैं, जो सुपात्र व्यक्तिमें सही वातावरण पाकर फलित हो जाते है ।

प्रत्येक गुरुकुलमे नित्य यज्ञ होते थे, जिनमें सस्वर वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण होता था । वेदमन्त्रोंके सस्वर उच्चारणसे उत्पन्न ध्वनितरङ्गें जब यज्ञीय ऊष्माके साथ सम्बद्ध हो जाती हैं तो अलौकिक वातावरण प्रस्तुत करती हैं । जो इस वातावरणमे रहते है, उनके व्यक्तित्वमें अनेक विशेषताएँ अनायास ही प्रस्फुटित हो जाती हैं । व्यक्तित्वके विकासकी ऋषिप्रणीत यह आश्चर्यजनक मनोवैज्ञानिक पद्धति है । 'संस्कार'से सम्बन्धित मन्त्रोमे अनेक दिशाएँ भरी पड़ी होती है, जो प्रत्येक परिस्थिति-हेतु उपयोगी सिद्ध होती है । अत. इस प्रणालीको गुरुकुलमे प्रारम्भ किया गया । पुंसवन-संस्कारके समय उच्चारण किये जानेवाले मन्त्रोमे गर्भवतीके रहन-सहन, आहार-विहारसम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रशिक्षण वर्तमान हैं तो अन्नप्राशनमें आहार-विहारकी नियमितता है । इसी प्रकार अन्य प्रमुख संस्कारोमे भी प्रेरणाएँ भरी पड़ी हैं, जो इस प्रकार हैं—

नामकरण—व्यक्तिकी गरिमाका उद्बोधन करानेवाले नाम देने और उसी नामका बार-बार अन्यद्वारा सदैव उच्चारण सुननेपर बालक अपने सम्बन्धमे वैसी ही मान्यताका निर्माण करता है । देवताओ, ऋषियो एवं गुण-कर्मको उन्नत बनानेवाले शब्दावलियोके आधारपर हमारे बालकोका

नाम देनेकी परम्परा है । हमारे बालक श्रीराम बने, रावण नही, नाम अनगढ़ न हो ।

मुण्डन—बाल उतारना और मानसिक विकासकी, गुण-कर्म-स्वभावकी भूमिका सम्पन्न करनेकी विद्या है ।

विद्यारम्भ—शिक्षाका आरम्भ । शिक्षाके दो वर्ग है—एक भौतिक उर्पाजन—उपयोग और दूसरा व्यक्तित्वका विकास—परिष्कार । भौतिक उपार्जन—उपयोगके लिये शिल्प-उद्योग सिखानेकी प्राचीन परिपाटी रही है । व्यक्तित्वके परिष्कारवाली विद्या गुरुकुल-सा यज्ञमय वातावरण चाहती है । विद्यार्थीकी जिज्ञासा, वातावरणका प्रभाव और मूर्धन्योके सत्सङ्गका समन्वय गङ्गा-यमुना-सरस्वती-सा संगम बनाता है । ऐसे ही संगममे कौवे कोयल और बगुले हंसका कृत्य-उपक्रम करते देखे गये हैं । ऋषि-सदृश व्यक्तित्व-सम्पन्न व्यक्ति गुरुपदपर प्रतिष्ठित रहते है, जिनके जीते-जागते व्यक्तित्वका अनुसरण कर शिष्य तदनुसार ढलते हैं । आजके परिप्रेक्ष्यमे शहरी भागदौड़से दूर एकान्त स्थानोपर ऐसी सादगीकी गुरुकुल-पद्धतिके विद्यालय यत्र-तत्र-सर्वत्र आरम्भ करनेकी आवश्यकता है ।

उपनयन—उपनयन-संस्कार अर्थात् यज्ञोपवीत-धारण प्राय ऐसे गुरुकुलोमे ही होते थे, जहाँ विद्यार्थी अध्ययनरत थे । उन्हे जनेऊके नौ धागोको नौ सद्‌गुणोके प्रतीक मानना, जीवनमे उन गुणोको ढाले रहना, सद्विवेक एवं सद्‌बुद्धिको प्रेरित करनेवाले परम प्रसिद्ध गायत्रीमन्त्रकी नियमित उपासना करना और उसमे निहित प्रेरणाओको अपने जीवनमे ढालना, सत्कर्म सिखानेकी प्रवृत्ति, यज्ञ-प्रक्रियाको नियमित जीवनमे अपनाना और जीवन यज्ञमय बनाना सिखाया जाता था ।

विवाह—बिना प्रदर्शन और अपव्ययके सात्त्विक वातावरणमे जीवनको यज्ञमय बनानेवाले धर्मकृत्यका नाम है विवाह-संस्कार— तदर्थ उपयुक्त साथीका उपयुक्त आयुमे चयन तथा कन्याके पिताके अनुदानको विशुद्ध स्त्रीधन समझना ।

वानप्रस्थ—ढलती आयुसे शेष जीवनको परमार्थप्रधान बनाना, साधना और सेवाकी जीवनचर्या बिताना और समाजकल्याण एव लोकमङ्गलमे समर्पित रहना ।

अन्त्येष्टि—जीवनकी नश्वरता और उसके श्रेष्ठतम सदुपयोगके लिये उपस्थित जनोको बोध कराना ।

श्राद्ध—तेरहवे दिन मृतककी छोड़ी सम्पदाका उपयुक्त भाग परमार्थ प्रयोजनोके लिये समर्पित करके मृतात्माकी सद्‌गतिका द्वार खोलना ।

गुरुकुलके यज्ञमय वातावरणमे उपर्युक्त संस्कारोके अतिरिक्त व्यक्तित्वका निर्माण, पूजा-उपासनाकी विभिन्न पद्धति एवं उपासनाके उपकरणोके माध्यमसे भी महत्त्वपूर्ण शिक्षा दी जाती थी । विभिन्न अवतारो, विभिन्न देवी-देवताओके रहस्य और उनके आयुधोके आधारपर कई महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ दी जाती थी । ऋषियोने केवल इतना ही करनेमे इतिश्री नही माना, अपितु समाजको समुन्नत और सुविकसित बनाने, उनमे सामूहिकता, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा, नागरिकता, परमार्थ-परायणता, देशभक्ति और लोकमङ्गलकी प्रेरणा भरनेके लिये एक और दूरदर्शी प्रणालीका आविष्कार किया । वह है पर्व-आयोजन ।

महर्षि कणादके गुरुकुलमे प्रश्नोत्तर चल रहे थे । उस समय जिज्ञासु उपगुप्तने पूछा—'देव ! भारतीय संस्कृतिमे व्रतो तथा जयन्तियोकी भरमार है । इसका क्या कारण है ?' महर्षि कणाद बोले—'तात ! व्रत व्यक्तिगत जीवनको अधिक पवित्र बनानेके लिये हैं और जयन्तियाँ महामानवोसे प्रेरणा ग्रहण करनेके लिये । उस दिन उपवास, ब्रह्मचर्य, एकान्तसेवन, मौन, आत्मनिरीक्षण आदिकी विधा सम्पन्न की जाती है । दुर्गुण छोड़ने और सद्‌गुण अपनानेके लिये देवपूजन करते समय सकल्प लिये जाते है और संकल्पके आधारपर व्यक्तित्व ढाला जाता है ।'

व्यक्तिको अध्यात्मका मर्म समझाने, गुण-कर्म-स्वभावका विकास करनेकी शिक्षा देने और सन्मार्गपर चलानेका ऋषिप्रणीत मार्ग है—धार्मिक कथाओके कथन-श्रवणद्वारा सत्सङ्ग एवं पर्व-विशेषोपर सोद्देश्य मनोरञ्जन । त्योहार और व्रतोत्सव यही प्रयोजन पूरा करते हैं । पर्व-त्योहार जन-जनमे नैतिकता और सच्चरित्रताके भावोको विकसित करते हैं । स्वामी विवेकानन्दजीने अपने उद्‌बोधनमे एक बार भारतीय सस्कृतिकी पर्वप्रथाकी महत्ता बताते हुए कहा था—वर्षमे प्राय. चालीस पर्व पडते

हैं। युगधर्मके अनुरूप इनमेंसे दसका निर्वाह बन पड़े तो उत्तम है। उन प्रमुख दसोंके नाम और उद्देश्य इस प्रकार हैं—

१-दीपावली—लक्ष्मीके उपार्जन और उपयोगकी मर्यादाका बोध। गोसंवर्धन। सज्जनोंके सामूहिक प्रयत्नसे अँधेरी रातको जगमगानेका उदाहरण। वर्षाके उपरान्त समग्र सफाई।

२-गीता-जयन्ती—गीताके कर्मयोगका समारोहपूर्वक प्रचार-प्रसार।

३-वसन्तपञ्चमी—सदैव उल्लसित हल्की मनःस्थिति बनाये रखना तथा साहित्य, संगीत एवं कलाको सही दिशा-धारा देना।

४-शिवरात्रि—शिवके प्रतीकमें जिन सत्प्रवृत्तियोंकी प्रेरणाका समावेश है, उनका रहस्य समझना-समझाना।

५-होली—नवान्नका सामूहिक वार्षिक यज्ञ। प्रह्लाद-कथाका स्मरण। सत्प्रवृत्ति-संवर्धन और दुष्प्रवृत्ति-उन्मूलन।

६-गङ्गादशहरा—गायत्री-जयन्ती—भगीरथके उच्च उद्देश्य एवं तपकी सफलतासे प्रेरणा। सद्बुद्धि-हेतु दृढ़ संकल्प और सत्प्रयास।

७-व्यासपूर्णिमा—गुरुपूर्णिमा—स्वाध्याय एवं सत्सङ्गकी व्यवस्था। गुरु-तत्त्वकी महत्ता और गुरुके प्रति श्रद्धा-भावनाकी अभिवृद्धि।

८-श्रावणी, रक्षाबन्धन—भाईकी पवित्र दृष्टि। एक नारी-रक्षा। पापोंके प्रायश्चित्त-हेतु हेमाद्रि-संकल्प। यज्ञोपवीत-धारण। ऋषिकल्प पुरोहितसे व्रतशीलतामें बँधना।

९-पितृविसर्जन—पूर्वजोंके प्रति कृतज्ञता-अभिव्यक्तिके लिये श्राद्ध-तर्पण, अतीत महामानवोंको श्रद्धाञ्जलि-अर्पण।

१०-विजयादशमी—स्वास्थ्य, शस्त्र एवं शक्ति-संगठनकी आवश्यकताका स्मरण। असुरतापर देवत्वकी विजय।

इनके अतिरिक्त रामनवमी, जन्माष्टमी, हनुमान्-जयन्ती, गणेशचतुर्थी तथा कई क्षेत्रीय पर्व हैं, जिनमें कई तरहकी शिक्षाएँ और प्रेरणाएँ संनिहित हैं।

ऋषि-प्रणालीकी शिक्षा-प्रणालीमें संस्कारों और पर्वोंके अतिरिक्त घरोंमें कथा-कहानियोंके द्वारा नीति, धर्म, सदाचारकी उपयोगिता बतानेकी सार्वजनीन लोक-शिक्षण-पद्धति भी प्रचलित रही है। यही नहीं भौतिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रकी समस्याओंके समाधान खोजने-बतानेके लिये विशालकाय राजसूय-यज्ञके आयोजन किये जाते रहे तो धार्मिक एवं सामाजिक विपन्नताको निरस्त करनेके लिये वाजपेय-यज्ञोंका प्रचलन भी रहा है। इन यज्ञोंमें अग्निहोत्रके साथ-साथ ज्ञानयज्ञकी भी प्रधानता रहती थी। एक विचार और स्वभावके व्यक्ति जब एक लक्ष्य-उद्देश्यकी पूर्तिमें लगते थे तब उनका चिन्तन, पर्यवेक्षण और निर्धारण कल्याणकारी उपाय खोजता था। धार्मिक मेले, पर्वस्नान और तीर्थोंकी स्थापना इसलिये होती रही कि बड़ी संख्यामें जनमानस वहाँ एकत्रित हो और परस्पर विचार-विनिमय और समर्थ मार्गदर्शन देकर सामयिक समस्याका निवारण और भावी निर्धारणकी योजना बना सकें। फलस्वरूप राष्ट्र एकताके सूत्रमें बँधा रहे।

सूत, शौनकादि ऐसे ही विशाल ज्ञानसत्र चलाते रहते थे, जिनमें हजारों मुनि-मनीषी ज्ञान-संवर्धनार्थ सम्मिलित होते थे। बालकोंके नवनिर्माणहेतु गुरुकुलोंके समकक्ष निवृत्त व्यक्तियोंके आरण्यकमें पठन-पाठन, धर्मतन्त्रसे लोकशिक्षणकी योजना बनती थी।

इन दिनों समयकी माँग ऐसी ही गुरुकुल-प्रणाली और शिक्षा-पद्धतिको अपनानेकी अपेक्षा रखती है। मूर्धन्य विद्वान्, ऋषि-तुल्य संत-महात्मा, समाज-सुधारकों और लोकसेवियोंसे प्रार्थना है कि वे परिस्थितिके अनुकूल आधुनिक शिक्षा-प्रणालीमें उपर्युक्त परिवर्तनके लिये प्रयास करें, जिससे ऐसे गुरुकुलों, आरण्यकों, विद्यालयोंसे दीक्षित स्नातक पुनः **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'**-जैसी प्रतिज्ञा कर समाजमें प्रवेश कर सकें और देव-मानवोंकी संस्कृति पनपा सकें तथा वे ऋषियोंकी परम्परा फिरसे कायम कर सकें।

———

प्राच्य एवं पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति

(प० श्रीआद्यानाथजी झा 'निरंकुश')

नीतिशास्त्रकी उक्ति है—'**ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ।**' अर्थात् ज्ञानसे हीन मनुष्य पशुके तुल्य हैं । ज्ञानकी प्राप्ति शिक्षा या विद्यासे होती है । दोनो शब्द पर्यायवाची है । '**शिक्ष**' धातुसे शिक्षा शब्द बना है, जिसका अर्थ है—विद्या ग्रहण करना (**'शिक्ष-विद्योपादाने' भ्वादि, आत्मनेपदी, सि० कौ०**) । विद्या शब्द '**विद**' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है—ज्ञान पाना (**'विद्-ज्ञाने', अदादि, सि० कौ०**) ।

प्राचीन भारतमे शिक्षाके विषय वेदोपवेद एवं वेदाङ्ग थे । वेद चार है । पद्यमयी रचना ऋग्वेद, गद्यमयी रचना यजुर्वेद, गानमयी रचना सामवेद । इन्हे वेदत्रयी कहा जाता है । चौथा है अथर्ववेद । प्रत्येक वेदकी ११३१ शाखाएँ थी, जिनमेसे कतिपय कराल कालके द्वारा पठन-पाठनके अभावमे कवलित हो गयी । चारोके चार उपवेद है, यथा—ऋक्‌के आयुर्वेद, यजुःके धनुर्वेद, सामके गान्धर्ववेद एव अथर्वके अर्थवेद ।

वेदोके अर्थज्ञानको सरल रीतिसे समझनेके लिये ऋषियोके द्वारा वेदाङ्गकी रचना की गयी '**वेदार्थावबोधसौकर्याय वेदाङ्गानि समाम्नातानि महर्षिभिः ।**' वे वेदाङ्ग छ हैं—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष एव व्याकरण ।

प्राचीनकालमे इन विषयोकी शिक्षा गुरुकुलमें दी जाती थी । उसमे छात्र नगरके कोलाहलसे दूर एकान्त वनस्थलीके मुक्त एव शान्त वातावरणमे गुरुके निकट वास करते हुए शिक्षा ग्रहण करते थे । गुरुओके प्रति छात्रोके मानसमे असीम श्रद्धा-भक्ति होती थी । फलत. वे हृदयसे गुरुकी सेवा-शुश्रूषा करते थे । उस समयकी मान्यता थी कि बिना गुरुकी सेवा किये विद्या-प्राप्ति नही हो सकती, यथा—'**गुरुशुश्रूषया विद्या ।**' गुरुजन भी पुत्रके समान शिष्योके प्रति वात्सल्य रखते थे । विद्यावंशकी परम्परा चिरकालसे भारतीय सस्कृतिकी देन है— '**वंशो द्विधा, विद्यया जन्मना च**' ।

'गुरु'शब्दकी व्युत्पत्ति है—**गुं=हृदयान्धकारम् रावयति=दूरीकरोतीति गुरुः ।**' अर्थात् जो हृदयके अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करे, वह गुरु है । अतएव शिष्य गुरुओको सर्वस्व तथा सर्वश्रेष्ठ मानते थे । गोविन्दसे भी प्रथम गुरुका स्थान था । शास्त्रमें कहा गया है कि जहाँ गुरुपर मिथ्यापवाद लगाया जाय या उनकी निन्दा हो, वहाँ कान मूँद ले अथवा वहाँसे दूर चला जाय । आयोदधौम्यके शिष्य आरुणि, उपमन्यु तथा वेदकी गुरुभक्ति सुप्रसिद्ध है ।

गुरुकुलसे तात्पर्य है समाजके विशिष्ट आचार्य एव शैक्षणिक संततिभूत शिष्य जहाँ एकत्र रहकर अध्ययन-अध्यापन करते थे । प्रत्येक गुरुकुलमे दस हजार छात्र रहते थे । उसका एक कुलपति होता था । वह गण्यमान्य विद्वान् होता था । वह सभी छात्रोंके लिये भोजनाच्छादनका प्रबन्ध करता था । उसके प्रति जन-समूहमे अपार आदरभाव रहता था । उसकी बात कोई नही टाल सकता था । गुरुकुलके छात्रोके लिये ब्रह्मचारिताके अलग नियम थे । मनुकी उक्ति है—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥

(मनुस्मृति २ । १७७)

अर्थात् 'ब्रह्मचारियोंके लिये मधु, मांस, सुगन्धित द्रव्य, माला, रसीले पदार्थ, स्त्री-संगति एवं प्राणियोकी हिंसा आदि कर्म वर्जित थे ।'

इस शिक्षा-प्रणालीके द्वारा पैल, जैमिनि, वैशम्पायन, सुमन्तुके समान विद्वान् पैदा हुए । जैसा कि श्रीमद्भागवतमे कहा गया है—

तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ।
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः॥

रामभद्र, सांदीपनि, याज्ञवल्क्य, महाभाष्यकार पतञ्जलि, पाणिनि आदि इसी पुनीत परम्पराके शिष्यरत्न थे ।

इससे पुरुषार्थचतुष्टयकी प्राप्ति होती थी। क्यो न हो, इसका लक्ष्य ही था—'**सा विद्या या विमुक्तये।**' ऋषि दयानन्दने गुरुकुलके सम्बन्धमे कहा है—'**गुरुकुलशिक्षाया ब्रह्मचर्य प्राणभूतम्, धार्मिकता तस्याः शरीरम्, राष्ट्रियता च तस्याः सौन्दर्यम्।**' अर्थात् इस गुरुकुल-शिक्षा-प्रणालीका ब्रह्मचर्य प्राण, धार्मिकता शरीर एवं राष्ट्रियता सौन्दर्य है। अतएव छात्रोका शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास सम्यक्‌रूपसे हो जाता था। कहा गया है—'**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।**' अर्थात् देवोंने ब्रह्मचर्य तथा तपस्याके बलसे मृत्युको परास्त किया और स्वयं वे अमर कहलाये।

गुरुकुलमें सभी वर्गोके छात्रोके साथ सहपाठ एवं सहवाससे पारस्परिक सौहार्द रहता था। कहाँ सुदामाके समान विपन्न और कहाँ श्रीकृष्णके सदृश सम्पन्न, दोनोंमें कैसी प्रगाढ़ मित्रता थी। छात्र सादा जीवन एवं उच्च विचारका निर्वाह करते थे। दस हजार छात्रोके लिये एक जगह शिक्षण-व्यवस्थामें व्यय भी स्वल्प था और लाभ अधिक थे।

खेदका विषय है कि सम्प्रभुत्वकी छिन्नता-भिन्नता तथा पारस्परिक कलहसे राष्ट्र-शक्ति पुञ्जीभूत न रह सकी। देश गुलाम हो गया। शनैः-शनैः इसकी प्राचीन शिक्षा-प्रणाली समाप्त हो गयी। देशकी राष्ट्रभाषा संस्कृतका स्थान उर्दू, फारसी, अंग्रेजीने ले लिया। १९२८ ई०में लार्ड विलियमने भारतमें सुधारके लिये विविध उपाय किये। शिक्षाका भार लार्ड मैकालेने लिया। उसने कहा था—'मेरा उद्देश्य इस शिक्षासे केवल यही है कि भारतमे अधिक-से-अधिक लिपिक पैदा हों, जिससे यह देश बहुत दिनोंतक गुलाम बना रहे।' इसके फलस्वरूप हमारा सांस्कृतिक, राष्ट्रिय एवं आध्यात्मिक विकास अवरुद्ध हो गया।

इस संकुचित शिक्षण-पद्धतिमें कतिपय नवीनातिनवीन विषयोंका समावेश अवश्य था; परंतु शिक्षणका मूलभूत प्राणतत्त्व नहीं था। फलतः यह प्रणाली मात्र उदरपूर्तिके लिये सहायक बनकर रह गयी। अतएव विविध शिक्षाविदोंने इस पाश्चात्त्य शिक्षा-पद्धतिकी भूरि-भूरि भर्त्सना की है। उनका कथन है कि केवल मानसिक विकाससे मानव सब तरहसे सुखी नहीं रह सकता। यह पद्धति जबतक चलती रहेगी तबतक देशका पूर्णतम विकास सम्भव नहीं है।

लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ० अमरनाथ झाने लखनऊ विश्वविद्यालयके दीक्षान्त-भाषणमे कहा था—'मैं छात्र-जीवनकालसे सुनता आया हूँ कि पाश्चात्त्य शिक्षा-पद्धति दोषपूर्ण है और लम्बे समयतक अध्यापन करनेके पश्चात् आज भी मैं अनुभव करता हूँ कि इसमे कई खामियाँ हैं। इसके विषयमें मेरा विचार है कि शिक्षाक्षेत्रमे जबतक राजनीतिके पंडे अनधिकार हथकंडे अपनाते रहेगे, तबतक सुधार नहीं हो सकता।'

वर्तमान उद्दण्डता, अनुशासनहीनता, अनैतिकता, चारित्रिक अधःपतन, माता, पिता तथा गुरुके प्रति श्रद्धाहीनता, राष्ट्रिय भावनाकी कमी, स्वार्थान्धता आदि दोष इसी दूषित शिक्षा-पद्धतिके कारण हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् इसमे सुधारके लिये सरकारकी ओरसे अनेकानेक उपाय किये गये हैं। उदाहरणके लिये वयस्क-शिक्षा, स्व० राधाकृष्णन्‌के नेतृत्वमें विश्वविद्यालय-कमीशन, मुदालियर-कमीशन, शैक्षणिक पञ्चवर्षीय कार्यक्रम, स्त्री-शिक्षाके लिये बालिका-विद्यालय एवं नयी शिक्षा-नीतिके तहत नवोदय विद्यालयकी स्थापना आदिको हम ले सकते हैं। इसमे संदेह नहीं कि हम अपेक्षित सुधारके लिये प्रयत्नशील नही हैं, परंतु हमारी शिक्षा-दीक्षा उसी दूषित शिक्षा-पद्धतिके द्वारा दी गयी है, जिसके कारण हमारा मस्तिष्क स्वच्छ नहीं हो सका है। स्वतन्त्रताके चालीस वर्षके बाद भी हम सही निर्णय नहीं ले पा रहे हैं। हमारे मनसे दासत्वका अनावश्यक मोह दूर नहीं हो सका है और न सच्चे अर्थमे राष्ट्रके प्रति समर्पणका भाव आ सका है, जिसके लिये हमारे पूर्वजोंने ईश्वरसे प्रार्थना की थी—'**प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे।**' अर्थात् मैं इस राष्ट्रमें पैदा हुआ हूँ, अतः मेरे इस राष्ट्रकी कीर्ति और सम्पत्ति बढ़े।

इसके सम्बन्धमे मेरा मन्तव्य है कि प्राच्य एवं पाश्चात्त्य शिक्षा-पद्धतिके गुण-दोषोंका सम्यक् अध्ययन-मनन एवं चिन्तन कर नीर-क्षीर-विवेचनात्मक राजहंस-रीतिसे

शिक्षाविद् ही स्वतन्त्र तथा विकासशील भारतके लिये सर्वश्रेयस्कर शिक्षा-पद्धतिका निर्माण करे और सरकार बेहिचक उसे अपनी मान्यता प्रदान करे। साथ ही शिक्षाके समान पवित्र क्षेत्रमे प्रवेशके लिये वैदुष्यके साथ आचरणका भी परीक्षण हो। इसमे किसी प्रकारका राजनीतिक दबाव या भेदभाव (आरक्षणादि) वाञ्छनीय नही है। इसीपर राष्ट्रके भावी कर्णधारका निर्माण अवलम्बित है। कहा भी गया है—**'यथा राजा तथा प्रजा।'**
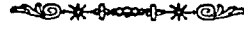
भारतीय शिक्षाका स्वरूप

(श्रीवासुदेवजी शास्त्री 'अतुल')

'शिक्ष विद्योपादाने' धातुसे विद्या-ग्रहण-अर्थमे शिक्षा शब्दका प्रयोग भारतीय शास्त्रोमे होता आया है। इस शिक्षाकी गणना वेदाङ्गमे भी की गयी है—**'शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तः छन्दसां गतिः'** आदि।

शिक्षा-वेदाङ्गमे वर्णोके भेद और उनके उच्चारणकी प्रक्रिया उल्लिखित है। किस वर्णका किस स्थानसे, किस प्रयत्नसे उच्चारण हो और वर्णकी संख्या कितनी है, यह शिक्षाशास्त्रमे विशेषरूपसे वर्णित है। प्रयत्न भी दो प्रकारका होता है— एक आभ्यन्तर प्रयत्न और दूसरा बाह्य प्रयत्न । वेद-मन्त्रके उच्चारणमे इसका पूर्णरूपसे ध्यान रखा जाता है।

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

तात्पर्य यह है कि वेद-मन्त्रोके उच्चारणमे यदि गलत स्वरसे गलत वर्णका गलत स्थानसे उच्चरित वर्णका प्रयोग किया जाता है तो वह मन्त्र वाग्वज्र बन जाता है और उससे यजमानकी हत्या हो जाती है। जैसे त्वष्टाके यज्ञमे स्वरकी गलतीसे वृत्रासुर मारा गया।

तथ्य यह है कि वर्णोका उच्चारण यदि ठीक-ठीक स्थान-प्रयत्नसे हो और निरर्थक न हो तो वह राष्ट्र-कल्याणके लिये होता है। छल-छद्म-कपटका शब्द वाग्वज्र बनता है और वह राष्ट्रका विनाश करता है। इसलिये हमे ठीक शब्दका ठीक अर्थमे प्रयोग करना चाहिये, यही राष्ट्रके लिये कल्याणकारी होता है और इसकी शिक्षा बहुत विधिपूर्वक होनी चाहिये। इसीलिये प्राचीनकालमे कुल-पुरोहित अक्षरारम्भ-संस्कारके बाद शिष्योको वर्णोका उचित ढंगसे परिज्ञान कराते थे, जिससे शिक्षा फलवती होती थी।

महाभाष्यकार पतञ्जलिके अनुसार एक भी शब्द भलीभाँति जानकर प्रयोग करनेसे लोक-परलोकमे कामनाओको प्रदान करनेवाला होता है—

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।'

(महाभाष्य)

याज्ञवल्क्यके अनुसार चतुर्दश विद्याएँ ये है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

(याज्ञवल्क्य-स्मृति, आचाराध्याय-३)

मल्लिनाथ-टीका-समुद्धृत मनुके अनुसार भी—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥

'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, व्याकरण और चारो वेदोको मिलाकर चौदह विद्याएँ कही गयी हैं।'

महावैयाकरण पाणिनिके अनुसार छन्द शास्त्र वेदके पैर हैं, कल्प-शास्त्र हाथ हैं, ज्योतिषशास्त्र नेत्र हैं, निरुक्तशास्त्र कान है, शिक्षाशास्त्र नासिका हे और व्याकरणशास्त्र मुख है। साङ्ग वेदाध्ययनसे ही ब्रह्मलोकमे प्रतिष्ठा होती है। (पाणिनीय शिक्षा ४२)

पत्र-पत्रिकाओ, आकाशवाणी, दूरदर्शन, कम्प्यूटर आदि

यन्त्रोसे भी शिक्षाएँ प्राप्त हो सकती है, परतु यन्त्रप्रसूत शिक्षाएँ फलवती नहीं हो सकतीं, इसीलिये श्लोक-वार्तिककार आचार्य कुमारिलभट्टने कहा है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुरोरध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥

(श्लोक-वार्तिक, वाक्याधिकरण ३६६)

वेदाध्ययनमे गुरुपरम्पराप्राप्त विधि ही सर्वमान्य सिद्धान्त है । गुरुके सांनिध्यमे गुरुशुश्रूषापूर्वक वेद-वेदाङ्गका ज्ञान प्राप्त करना भारतीय शिक्षा-पद्धति है, जिसमे अमीर-गरीब सभी प्रकारके लोगोको ज्ञानार्जनका मार्ग सदैव खुला रहता है । सान्दीपनिके आश्रममे सुदामा-जैसे निर्धन ब्राह्मण और श्रीकृष्ण-जैसे ऐश्वर्यसम्पन्न व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करते है तथा भरद्वाजके आश्रममे द्रोण-जैसे निर्धन ब्राह्मण और द्रुपद-जैसे ऐश्वर्यसम्पन्न राजकुमार शिक्षा प्राप्त करते हैं ।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारो पुरुषार्थोमें अन्तिम पुरुषार्थकी प्राप्ति ज्ञानके बिना नही हो सकती—'**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**', इसलिये शिक्षा-प्राप्ति या विद्या-ग्रहणका उद्देश्य अर्थ-प्राप्ति नही हो सकता ।

ब्राह्मणको बिना प्रयोजनके षडङ्ग वेदाध्ययन करना और ज्ञान प्राप्त करना चाहिये—

ब्राह्मणेन निष्कारणं साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।

(महाभाष्य, प्रथमाह्निक)

भारतमे शिक्षा-पद्धतिका स्वरूप और उद्देश्य बदलता जा रहा है । राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्तने इस बदलती हुई परिस्थितिपर ठीक ही कहा है—

नौकरी ही के लिये विद्या पढ़ी जाती यहाँ ।

भारतमे शिक्षा स्वतन्त्र थी । किसी शासनके परतन्त्र नहीं थी । जब शासनके परतन्त्र हुई तब शण्डामर्कवादका विस्तार होने लगा । देवर्षि नारदने युक्तिसे शण्डामर्कवादको ध्वस्त करा दिया । भारतीय शिक्षा पुनः अपने स्वरूपमे प्रतिष्ठित हो गयी । वस्तुतः शिक्षाका मूल उद्देश्य ज्ञानकी प्राप्ति और अज्ञानकी निवृत्ति है । भारतीय शिक्षाके मूल स्वरूपकी रक्षाके लिये प्रयास करना प्रत्येक भारतीय नागरिकका कर्तव्य है । भारतीय शिक्षाशास्त्रज्ञोंको इस ओर ध्यान देना ही होगा ।

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।
खलस्य साधोर्विपरीतमेत-
ज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥

भारतीय शास्त्रोके अनुसार दुष्टजनोकी विद्या विवादके लिये होती है, उनका धन मद, विलासिता, स्वार्थपूर्तिके लिये होता है और शक्ति शोषण-उत्पीड़नके लिये होती है, परंतु साधु पुरुषोकी विद्या ज्ञानके लिये, धन दानके लिये और शक्ति आर्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये होती है ।

वस्तुतः ज्ञानार्जन करनेमे, दान करनेमें, आर्तजनोकी रक्षा करनेमे अपने जीवनको समर्पित कर देना ही भारतीय शिक्षाका स्वरूप है ।

शास्त्रोंकी लोकवत्सलता

शास्त्र हमे इतना प्यार करता है जितना सहस्रो माता-पिता भी नहीं कर सकते । शास्त्र हमे वैसी ही बात बताता है जैसा वह है । ज्ञान, आनन्द, सत्यकाम, सत्यसंकल्प आदि गुण परब्रह्मके स्वरूपभूत गुण है; क्योंकि शास्त्र (वेद) ने उन्हें स्वरूपभूत कहा है, इसी प्रकार यह (शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी वनमाला-विभूषित अमल-कमल-दल-नयन-युगल, परम सुन्दर) रूप भी परब्रह्मका स्वरूपभूत रूप है; क्योंकि शास्त्रने इसे स्वरूपभूत बताया है ।

भगवान् श्रीदत्तात्रेयजीद्वारा चौबीस गुरुओंसे शिक्षा-ग्रहण

[अवधूत दत्तात्रेय अत्रि और अनसूयाके पुत्र थे। ये विष्णुके अंशसे अवतीर्ण हुए थे, अतः विष्णुके अवतारके रूपमे इनकी विशेष प्रसिद्धि है। गिरिनारमे दत्तात्रेयजीका विष्णुपद-आश्रम प्रसिद्ध है। रेणुकापुर या मातापुर, सह्याद्रि-शिखरपर मध्यप्रदेशके यवतमालके अर्णा गॉवसे सोलह मीलकी दूरीपर स्थित अत्रि-आश्रम, जो आज 'माहुर' ग्रामके नामसे प्रसिद्ध है, यही पवित्र स्थल अवधूत दत्तात्रेयजीका जन्मस्थान माना गया है। माहुरमे भी दत्तात्रेयजीकी पादुका है। कहते है कि ये वहीं प्रतिदिन भिक्षा ग्रहण करते है—'माहुरीपुरभिक्षाशी'। काशीमे मणिकर्णिका-घाटपर भी उनकी पादुका है, वे वहीं प्रतिदिन स्नान करते है और कोल्हापुरमे प्रेमपूर्वक जप करते है 'वाराणसीपुरस्नायी कोल्हापुरजपादरः।' श्रीमद्भागवतमे परम धार्मिक राजा यदुके वृत्तान्तसे दत्तात्रेयजीके शिक्षा-ग्रहणका जो उल्लेख प्राप्त होता है, उससे यह शिक्षा मिलती है कि हम अपने सच्चरित्र-निर्माणके लिये शिक्षा-ग्रहणके क्षेत्रको संकीर्ण न बनाये। चेतन प्राणियोमे अथवा स्थावर-जगत्मे जो स्वल्प भी अच्छाइयॉ हो उन्हे ग्रहण करे तथा जो बुराइयॉ है उनसे दूर रहे।

भगवान् श्रीदत्तात्रेयजी विभिन्न शिक्षाप्राप्तिके निमित्त अनेक गुरु बनाये, जिनकी कथा पुराणोमे वर्णित है। इस सम्बन्धमे कुछ प्राप्त निबन्धोको यहॉ प्रस्तुत किया जा रहा है।—सम्पादक]

(१)

(अनन्तश्री स्वामी श्रीईशानानन्दजी सरस्वती महाराज)

एक बार धर्मके मर्मज्ञ राजा यदुने देखा कि एक त्रिकालदर्शी तरुण अवधूत ब्राह्मण निर्भय विचर रहे है, तब उन्होने उनसे पूछा—'ब्रह्मन्! आप कर्म तो करते ही नहीं, फिर आपको यह अत्यन्त निपुण बुद्धि कहॉसे प्राप्त हुई, जिसका आश्रय लेकर आप परम विद्वान् होनेपर भी बालकके समान संसारमे विचरते है। संसारके अधिकाश लोग काम और लोभके दावानलसे जल रहे है, परंतु आपको देखकर ऐसा मालूम होता है कि आप उससे मुक्त है। आपतक उसकी ऑच भी नही पहुँच पाती, ठीक वैसे ही जैसे कोई हाथी वनमे दावाग्नि लगनेपर उससे छूटकर गङ्गाजलमे खडा हो। आप सदा-सर्वदा अपने स्वरूपमे ही स्थित है। मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि आपको अपने आत्मामे ही ऐसे अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव कैसे होता है?'

ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजीने कहा—'राजन्! मैने अपनी बुद्धिसे गुरुओका आश्रय लिया है, उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत्मे मुक्तभावसे स्वच्छन्द विचरता हूँ। तुम उन गुरुओके नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षाको सुनो—

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः॥
मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः।
कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत्॥
एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः।
शिक्षावृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः॥

(श्रीमद्भा० ११।७।३३-३५)

'राजन्! मैने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतग, मधुमक्खी, हाथी, मधु निकालनेवाला, हरिन, मछली, पिङ्गला वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण बनानेवाला, सर्प, मकड़ी और भृङ्गी कीट—इन चौबीस गुरुओका आश्रय लिया है और इन्हीके आचरणसे इस लोकमे अपने लिये शिक्षा ग्रहण की है।'

पृथ्वीसे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने पृथ्वीसे धैर्य और क्षमाकी शिक्षा ली। लोग पृथ्वीपर अनेक प्रकारका उत्पात करते है, परतु वह न तो किसीसे बदला लेती है, न चिल्लाती है और न रोती ही है। धीर पुरुषको चाहिये कि वह आक्रमणकारीके साथ भी अपना धैर्य न खोवे

और क्रोध न करे। सर्वदा सन्मार्गपर चलता रहे। पृथ्वीके ही विकार पर्वत और वृक्षसे उन्होंने यह शिक्षा ग्रहण की कि जैसे उनकी सारी चेष्टाएँ सदा-सर्वदा दूसरोंके हितके लिये ही होती है उसी प्रकार मानवमात्रको चाहिये कि वह उनकी शिष्यता स्वीकार करके उनसे परोपकारकी शिक्षा ग्रहण करे।

वायुसे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने शरीरस्थित प्राणवायुसे यह शिक्षा ग्रहण की कि जैसे वह आहारमात्रकी इच्छा रखता है और उसे पाकर ही संतुष्ट हो जाता है, वैसे ही साधकको भी चाहिये कि जितनेसे जीवननिर्वाह हो जाय उतना ही भोजन करे। विषयोंका उपयोग ऐसा करना चाहिये, जिससे बुद्धि विकृत न हो, मन चञ्चल न हो और वाणी व्यर्थकी बातोमें न लग जाय। शरीरके बाहर रहनेवाली वायुसे उन्होंने यही सीखा कि वायु कहीं भी भ्रमण करे, परंतु उसमें आसक्त न हो, इसी प्रकार साधकको भी अपने लक्ष्यपर स्थिर रहते हुए कहीं अन्यत्र आसक्त नहीं होना चाहिये। गन्ध पृथ्वीका गुण है, परंतु वायुको गन्धका वहन करना पड़ता है, ऐसा करनेपर भी वायु शुद्ध ही रहता है। इसी प्रकार साधकका जबतक पार्थिव शरीरसे सम्बन्ध है, तबतक उसे व्याधि-पीडा आदिको सहना पड़ता है, परंतु आत्मदर्शी साधक उसपर भी उक्त पीड़ा आदिसे निर्लिप्त रहता है।

आकाशसे शिक्षा—साधकको आत्माकी आकाश-रूपताकी भावना करनी चाहिये। आग लगती है, पानी बरसता है, अन्नादि पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं। वायुकी प्रेरणासे बादल आते और चले जाते है। यह सब होनेपर भी आकाश अछूता ही रहता है। आकाशकी दृष्टिसे यह सब कुछ नही है, इसी प्रकार त्रिकालमे न जाने किन-किन नाम-रूपोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं, परंतु आत्माके साथ उनका कोई संस्पर्श नहीं है। दत्तात्रेयजीने आकाशसे यही शिक्षा ग्रहण की है।

जलसे शिक्षा—जिस प्रकार जल स्वभावसे ही स्वच्छ, चिकना, पवित्र और मधुर होता है तथा तीर्थोंमे प्रवाहित गङ्गा आदिके दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे लोग पवित्र होते हैं वैसे ही साधकको भी स्वभावसे शुद्ध, स्निग्ध, मधुरभाषी और लोकपावन होना चाहिये, जिसके दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणमें लोकको पवित्रताका अनुभव हो।

अग्निसे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने अग्निसे यह शिक्षा ली है कि वह जैसे तेजस्वी और ज्योतिर्मय होती है, उसे कोई अपने तेजसे दबा नहीं सकता, उसके पास संग्रह-परिग्रहके लिये कोई पात्र नहीं, सब कुछ अपने पेटमें रख लेती है, सर्वभक्षी होनेपर भी निर्लिप्त है, वैसे ही साधकको ससारमे रहते हुए भी निर्लिप्त होना चाहिये। अग्निकी तरह साधकको भी कहीं पकट, कहीं अप्रकट तथा कल्याणकामी पुरुषका उपास्य होना चाहिये। जैसे अग्नि लम्बी-चौड़ी, टेढ़ी-सीधी लकड़ियोंमें रहकर उसके समान ही लम्बी-चौड़ी, सीधी-टेढ़ी दिखायी पड़ती है, वास्तवमें वह वैसी नहीं है, वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुए कार्य-कारणरूप जगत्में व्याप्त होनेके कारण उन-उन वस्तुओंके नाम-रूपसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी उनके रूपमे प्रतीत होने लगता है।

चन्द्रमासे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने चन्द्रमासे यह शिक्षा ली कि कालके प्रभावसे चन्द्रमाकी कलाएँ घटती-बढ़ती रहती है तथापि चन्द्रमा चन्द्रमा ही है; वह न घटता है और न बढ़ता ही है, वैसे ही जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जितनी भी अवस्थाएँ हैं सब शरीरकी हैं। आत्मासे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे आग अथवा दीपककी लौ क्षण-क्षणमे उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, परंतु दीख नहीं पड़ता, वैसे ही जल-प्रवाहके समान वेगवान् कालके द्वारा क्षण-क्षणमें प्राणियोंके शरीरकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, परंतु अज्ञानवश वह दिखायी नहीं देता।

सूर्यसे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने सूर्यसे यह शिक्षा ग्रहण की कि जैसे वे अपनी किरणोसे जल खीचते और समयपर उसे बरसा देते हैं वैसे ही योगी पुरुष इन्द्रियोके द्वारा समयानुकूल विषयोंका ग्रहण और मुञ्चन करता है। किसी भी समय आसक्ति नही होती। आत्मा सूर्यके समान एक ही है। वह विभिन्न पात्रोमे विभिन्न रूपमे प्रतिबिम्बित होनेपर भी अनेक नहीं है।

कपोतसे शिक्षा—भगवान् दत्तात्रेयजीने कबूतरसे यह शिक्षा ग्रहण की कि कहीं किसीके साथ अत्यन्त स्नेह अथवा आसक्ति नहीं करनी चाहिये अन्यथा उसकी बुद्धि अपना स्वातन्त्र्य खोकर दीन हो जायगी और उसे कबूतरकी तरह अत्यन्त क्लेश उठाना पड़ेगा। जो कुटुम्बी अपने कुटुम्बके भरण-पोषणमे ही सारी सुध-बुध खो बैठा है, उसे कबूतरकी तरह कभी सुख-शान्ति नही मिलती। कथा है कि एक कबूतर और कबूतरी अपने बच्चोको घोसलेमे छोड़कर चारा चुगने गये थे। चारा लेकर जब वे वापस लौटे, तब उन्होने देखा कि उनके बच्चोको एक व्याध जालमे फँसाये हुए है। कबूतरीने बच्चोके स्नेहमे अन्धा होकर अपनेको भी जालमे जान-बूझकर फँसा दिया और फिर कबूतरने भी अपनी पत्नीके प्रेममे अन्धा होकर अपनेको जालमे फँसा दिया। इस प्रकार मोहान्धताके कारण दोनो कपोत-कपोती नष्ट हो गये। यह मानव-शरीर मुक्तिका खुला हुआ द्वार है। इसे पाकर भी जो कबूतरकी तरह अपनी घर-गृहस्थीमे ही फँसा हुआ मोहान्ध है, वह बहुत ऊँचे स्थानतक पहुँचकर सुरक्षित स्थिति प्राप्त करनेपर भी गिर जाता है, शास्त्रकी भाषामे उसे आरूढ़च्युत कहा जाता है।

अजगरसे शिक्षा—पूर्वकर्मानुसार सुख-दु.खकी प्राप्ति स्वत· होती ही रहती है। बिना माँगे, बिना इच्छा किये स्वयं ही जो कुछ मिल जाय, वह चाहे रूखा-सूखा हो, चाहे बहुत मधुर या स्वादिष्ट हो, थोड़ा हो या अधिक हो, अजगरकी तरह उसे ही खाकर बुद्धिमान् पुरुष अपना जीवन-निर्वाह करे।

समुद्रसे शिक्षा—समुद्रसे भगवान् दत्तात्रेयजीने यह शिक्षा ग्रहण की कि साधकको सर्वदा प्रसन्न, गम्भीर, अथाह, अपार और असीम होना चाहिये। उसे ज्वार-भाटे और तरङ्गोसे रहित शान्त समुद्रकी तरह रहना चाहिये। समुद्र वर्षा ऋतुमे न बढ़ता है और न ग्रीष्म ऋतुमे घटता है। उसी प्रकार भगवत्परायण साधकको सांसारिक पदार्थोकी प्राप्तिसे अथवा अप्राप्तिसे प्रफुल्लित या उदास नही होना चाहिये।

पतंगेसे शिक्षा—भगवान् दत्तात्रेयजीने पतंगेसे यह शिक्षा ग्रहण की कि जैसे पतंगा दीपकके रूपपर मोहित होकर आगमे कूद पडता है और जल मरता है वैसे ही अपनी इन्द्रियोको वशमे न रखनेवाला पुरुष जब रूपासक्त हो जाता है, तब घोरान्धकारमे गिरकर अपना सत्यानाश कर लेता है। गरुड़पुराणमे कहा है—

पतंगमातंगकुरंगभृंगमीना हता पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

पतंगा, हाथी, हरिण, भृंग और मछली मात्र एक ही इन्द्रियके वशमे होकर मोहान्ध होनेसे नष्ट हो जाते है तो फिर मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके लिये पाँच इन्द्रियोके माध्यमसे विषयासक्त होनेपर कैसे बचा रह सकता है? भगवान् दत्तात्रेयजीके अनुसार आसक्ति मात्र एक ही विषयसे सम्बन्धित होनेपर नाशका कारण होती है, अत· मनुष्यको सामान्य जीवोकी अपेक्षा अधिक सावधानीकी आवश्यकता है; क्योंकि वह पाँच इन्द्रियोके माध्यमके विषयोमे असक्त हो जानेकी स्थितिमे रहता है।

मधुमक्खीसे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने मधुमक्खीसे यह शिक्षा ग्रहण की कि मनुष्य किसी एकसे बँधे नही और जिस प्रकार मधुमक्खी विभिन्न पुष्पोसे, चाहे वे छोटे हो या बड़े, सार संग्रह करती है वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष छोटे-बड़े सभीसे सार तत्त्वको ग्रहण करे। साथ ही उसे संग्रही नही होना चाहिये, अन्यथा वह मधुमक्खीके समान अपना जीवन भी संगृहीत धनके लोभमे गँवा बैठता है।

हाथीसे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने हाथीसे यह शिक्षा ग्रहण की कि जिस प्रकार शिकारी हाथीके माध्यमसे ही हाथीको पकडता है और हाथी स्वजनके मोहमे अपनेको भी बन्धनमे डाल देता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्यको भी स्वजनोके मोह और मोहजनित भ्रमसे बचना चाहिये, क्योंकि यही बन्धनका कारण हो जाता है।

मधु निकालनेवालेसे शिक्षा—मधु निकालनेवाले पुरुषसे दत्तात्रेयजीने यह शिक्षा ग्रहण की कि संसारके लोभी पुरुष बडी कठिनाईसे धन-संचय तो करते हैं, किंतु उसका स्वयं उपभोग नहीं कर पाते; जैसे मधु निकालनेवाले पुरुपका कष्टसे प्राप्त मधु कोई दूसरा ही

ले लेता है। जैसे मधुहारी मधुमक्खीके द्वारा संचित मधुको उसके खानेके पहले ही साफ कर देता है, वैसे ही मधु निकालनेवाला भी धनके लोभमे मधु बेचकर स्वयं उसे भोगनेसे वञ्चित हो जाता है, उसी प्रकार लोभी और सग्रहकी वृत्तिसे मोहग्रस्त व्यक्ति भी स्वय कष्टद्वारा उपार्जित और संगृहीत धनका उपभोग स्वयं करनेसे वञ्चित रह जाता है।

हरिनसे शिक्षा—हरिनसे भगवान् दत्तात्रेयजीने यह सीखा कि मनुष्यको कभी विषय-सम्बन्धी गीत, जिससे वासना जगे, नही सुनना चाहिये; क्योंकि जैसे हरिन व्याधके गीतसे मोहित होकर बँध जाता है उसी प्रकार श्रुति-मधुर विषयवासनाकी ओर प्रवृत्त करनेवाले गीत, नृत्य, नाद, वचन अथवा शब्दसे मनुष्यको विरत रहना चाहिये अन्यथा वह बन्धन और नाशका कारण होता है।

मछलीसे शिक्षा—मछलीसे भगवान् दत्तात्रेयजीने जो शिक्षा ग्रहण की वह यह है कि जैसे मछली बंसीमे लगे हुए मांसके टुकड़ेके लोभसे अपना प्राण गँवा देती है, वैसे ही स्वादका लोभी मनुष्य भी अपनी जिह्वाके वशमे होकर प्राण गवाँ देता है। विवेकी पुरुषको रसनेन्द्रियको वशमे कर लेना चाहिये।

पिङ्गला नामकी वेश्यासे शिक्षा—स्वेच्छाचारिणी और रूपवती पिङ्गला नामकी वेश्यासे भगवान् दत्तात्रेयजीने यह शिक्षा ग्रहण की कि कभी-कभी निराशा भी वैराग्यका कारण हो जाती है। जिस प्रकार उस वेश्याको अपने व्यवसायमे निराशा होनेपर वैराग्य उत्पन्न हो गया और वैराग्य होनेपर अपनी भावनाओकी अभिव्यक्तिमे उसने एक गीत गाया, जिसका आशय यह था कि मनुष्य आशाकी फॉसीपर लटक रहा है, इसे तलवारकी तरह काटनेवाली यदि कोई वस्तु है तो वह केवल वैराग्य ही है। पिङ्गलाने कहा कि मैं इन्द्रियोके अधीन होनेके कारण इन दुष्ट पुरुषोंके अधीन हो गयी, मेरे मोहका विस्तार तो देखो, मै सचमुच मूर्ख हूँ। मेरा यह शरीर माया-मोहके हाथो बिक गया है। यह शरीर एक घरके समान है, इसमे हड्डियोके टेढे-तिरछे वॉस और खम्भे लगे हुए हैं, चमडे और रोएँ तथा नाखूनोंसे यह छाया गया है। इसमे नौ दरवाजे है, जिनसे मल निकलते रहते हैं। इसमे संचित सम्पत्तिके नामपर केवल मल और मूत्र ही है। अब मै भगवान्का यह उपकार आदरपूर्वक स्वीकार करती हूँ कि उसने इस निराशाके माध्यमसे वैराग्यका दीप जला दिया। अब मै विषय-भोगोकी दुराशा छोड़कर उन्ही जगदीश्वरकी शरण ग्रहण करूँगी।

कुरर पक्षीसे शिक्षा—प्रिय वस्तुका संग्रह ही दुःखका कारण है, यह शिक्षा भगवान् दत्तात्रेयने कुरर पक्षीसे ली। कहा जाता है कि कुरर पक्षी एक बार मांसका टुकडा लेकर उडा। उस मांसके टुकड़ेको लेनेके लिये अनेक पक्षी उसे ही मारनेको उद्यत हो गये, किंतु ज्यों ही उसने मुँहमे रखा मांसका टुकडा जमीनकी ओर गिराया त्यो ही सभी पक्षी उसी ओर दौड पडे, जिससे वह निश्चिन्त होकर पुनः आकाशमे विचरण करने लगा। बुद्धिमान् पुरुषको अनन्त सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये कुरर पक्षीद्वारा संगृहीत मांसका टुकडा फेकनेकी भाँति संचित धनका त्याग करके सुखी हो जाना चाहिये। त्याग और अपरिग्रहद्वारा ही मनुष्य निश्चिन्त होकर जीवनयापन कर सकता है।

बालकसे शिक्षा—मान-अपमानका ध्यान न रखनेवाले, घर एवं परिवारकी चिन्तासे विहीन, आत्मरागी बालकसे भगवान् दत्तात्रेयजीने यह शिक्षा ग्रहण की कि इस संसारमे दो ही प्रकारके व्यक्ति निश्चिन्त और परमानन्दमे रहते है—एक तो भोला-भाला निश्चेष्ट नन्हा-सा बालक और दूसरा वह पुरुष जो गुणातीत हो गया है।

कुमारी कन्यासे शिक्षा—अतिथि-सत्कारके लिये धान कूटनेवाली कुमारी कन्यासे भगवान् दत्तात्रेयजीने यह शिक्षा ग्रहण की कि जब बहुत लोग एक साथ रहते है तब कलह होता है और जब दो आदमी एक साथ रहते है, तब भी वाद-विवादकी सम्भावना रहती है, इसलिये कुमारी कन्याकी चूड़ीके समान जबतक वह अकेली नहीं हुई तबतक आपसी सघर्षसे और उससे उत्पन्न ध्वनिसे वह अपनेको छिपा न सकी थी। इसीलिये साधकको एकान्त-सेवनकी भी आवश्यकता उसके साधनाकालमे होती ही रहती है।

बाण बनानेवालेसे शिक्षा—बाण बनानेवालेसे भगवान् दत्तात्रेयजीने यह शिक्षा ग्रहण की कि आसन और श्वासको जीतकर वैराग्य और अभ्यासके द्वारा अपने मनको वशमे किया जा सकता है, जैसे एक बाण बनानेवालेको रास्तेसे आने-जानेवालोका पता नहीं लग सका था ।

साँपसे शिक्षा—साधकको सर्पकी भॉति अकेले ही विचरण करना चाहिये, उसे मण्डली नही बॉधनी चाहिये, मठ नहीं बनाना चाहिये, वह गुहा आदिमे पड़ा रहे, बाहरी आचारोसे पहचाना न जाय, किसीसे सहायता न ले और बहुत कम बोले, अनित्य शरीरके लिये घर बनानेके प्रपञ्चमे न पड़े, सर्पवत् जहॉ-कही स्थान मिले वही आरामसे समय काट ले । यही भगवान् दत्तात्रेयजीने सर्पसे शिक्षा ग्रहण की ।

मकड़ीसे शिक्षा—सबके प्रकाशक भगवान् ही सृष्टिके कर्ता, धर्ता एवं हर्ता भी है । जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुँहके द्वारा जाला फैलाती है, उसीमे विहार करती है और फिर उसे निगल जाती है वैसे ही परमेश्वर भी इस जगत्को अपनेमेसे उत्पन्न करते है, उसमे जीवरूपसे विहार करते है और फिर उसे अपनेमे ही लीन कर लेते है । यही भगवान् दत्तात्रेयजीने मकडीसे शिक्षा ग्रहण की ।

भृङ्गी (बिलनी) कीड़ेसे शिक्षा— यदि प्राणी स्नेहसे, द्वेषसे अथवा भयसे भी जान-बूझकर एकाग्ररूपसे अपना मन किसीमे लगा दे तो उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जैसे भृंगी एक कीड़ेको ले जाकर दीवालपर अपने रहनेकी जगहमे बंद कर देता है, तब वह कीड़ा भयसे उसीका चिन्तन करते-करते पहले शरीरका त्याग किये बिना उसी शरीरसे तद्रूप हो जाता है । इसलिये मनुष्यको विषयवस्तुका चिन्तन न करके केवल परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये । यही शिक्षा भगवान् दत्तात्रेयने भृङ्गी कीड़ेसे ग्रहण की ।

भगवान् दत्तात्रेयजीने चौबीस गुरुओका उदाहरण देते हुए यह शिक्षा दी कि साधक यदि उन्मुक्त भावसे शिक्षा ले तो उसे अच्छे-बुरे, छोटे-बडे सभीसे उपयुक्त ज्ञान मिल सकता है । ज्ञान-प्राप्तिके लिये आवश्यकता है— उन्मुक्त भावकी, पूर्वाग्रहमुक्त, गतानुगतिकतासे रहित शुद्ध दृष्टिकी । साधक जब किसी आग्रह अथवा मोहवश सचको सच माननेसे भागता है, तब उसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती । मनुष्यको जीभ अपनी ओर खीचती है तो प्यास जलकी ओर, त्वचा और कान कोमल स्पर्श और मधुर शब्दकी ओर खीचते हैं । नाक और नेत्र भी मधुर गन्ध और सुन्दर दृश्योकी ओर खीचते है । इस प्रकार कर्मेन्द्रियॉ ज्ञानेन्द्रियोके कारण मनुष्यको दौड़ाती रहती हैं । इसलिये अनेक जन्मोके बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शीघ्र-से-शीघ्र मृत्युके पहले ही इन बन्धनोको समझे और इससे मुक्तिका, मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न कर ले । समस्त आसक्तियोंका परित्याग करके भगवान्को प्राप्त करना ही जीवनका मुख्य उद्देश्य है । ज्ञान-प्राप्तिका आधार आग्रहरहित बुद्धि और दृष्टि है । उन्मुक्त भाव ही शुद्ध ज्ञानका आधार और माध्यम है ।

(२)

(सप्ताचार्य, काव्यतीर्थ डॉ॰ श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी, डी॰ लिट्॰)

महाराज यदु वनमे विचरण करते हुए अवधूत श्रीदत्तात्रेयजीके समीप पहुँचे और वहॉ एकान्त निर्जन स्थानमे आनन्द-सरोवरमे निमग्न अवधूतको देखकर उन्हे बडा आश्चर्य हुआ । यदुके जिज्ञासा करनेपर दत्तात्रेयजीने चौबीस गुरुओद्वारा प्राप्त शिक्षाके विषयमे कहा—

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः ।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह ताञ् शृणु ॥

(भागवत ११ । ७ । ३२)

राजन्! मैने पृथिवीसे क्षमा और धैर्यकी शिक्षा ग्रहण की है । अत प्रत्येक व्यक्तिको क्षमाशील होना चाहिये तथा निरन्तर धैर्यपूर्वक अपने साधनापथमें अग्रसर होते रहना चाहिये ।

वायु प्राण है । प्राण रूप, रस आदि इन्द्रिय-विपयोकी अपेक्षा शून्य है । वायुके समान मुनिको निर्लिप्त रहना चाहिये ।

भगवान् दत्तात्रेयके चौबीस गुरु

आकाश जैसे वायु-प्रेरित मेघोसे अस्पृश्य है, वैसे ही पुरुषको कालसृष्ट गुणपरिणामोसे अस्पृश्य रहना चाहिये ।

जल प्रकृतिसे निर्मल है, मधुर गुणवाला है, स्नेहयुक्त है, तीर्थरूप है, अत· मुनिको चाहिये कि वह जलके समान ही अपने दर्शन, स्पर्श, कीर्तनसे सबको पवित्र करता रहे ।

अग्नि सम्पूर्ण पदार्थोको खा जाता है, किंतु उनके दोषको ग्रहण नहीं करता, अग्निको स्वाद-अस्वादसे प्रयोजन नहीं, मुनिको भी ऐसा ही स्वभाव बनाना चाहिये और तेजस्वी होना चाहिये ।

चन्द्रमाके दृष्टान्तसे जन्मादि छः विकारोसे रहित होना चाहिये, इस तथ्यको समझाया गया है । जैसे चन्द्रमाकी कलाएँ उत्पन्न होती हैं और क्षीण होती हैं, किंतु चन्द्रमा बना रहता है, वैसे ही आत्मा भी ह्रास-वृद्धिसे रहित है ।

सूर्य किरणोसे जल संचय करता है और वृष्टि करता है । महात्माको चाहिये कि वह यदि कोई उपभोग्य वस्तु प्राप्त हो तो उसे उनके इच्छुकोको दे दे । योगीको विषयोमे आसक्त नहीं होना चाहिये । एक ही सूर्य अनेक जलपात्रोमे नाना आकारका दिखलायी देता है, उसी प्रकार मनुष्यादि-देहोमे आत्मा भी नाना प्रकारका दिखलायी देता है ।

अत्यासक्तिसे कपोतका नाश हुआ, अतः किसीमे अत्यधिक आसक्ति नही करनी चाहिये ।

प्रारब्ध-कर्म अवश्य भोगना पड़ता है, अत· उसके लिये उद्यमसे आयुको क्षीण नही करना चाहिये ।

जैसा भी भोजन मिले उसे जीवन-निर्वाहके लिये ग्रहण कर ले । आहार न मिले तब भूखा ही रह जाय—यही अजगर-वृत्तिसे शिक्षा मिलती है ।

प्रसन्न-चित्त रहना चाहिये, गम्भीर बनना चाहिये, अथाह बुद्धि रखे, निर्भय रहे, क्षुब्ध न हो, निश्चल रहे—यह समुद्रसे सीखना चाहिये । जैसे नदियोके जल बढ़नेसे वह न उछलता है और न तो सूखता है, इसी प्रकार मुनिको समान-रूपसे रहना चाहिये ।

स्त्रीको देखकर अजितेन्द्रिय पुरुष उसके भावसे लोभित हो नरकमे गिर पड़ता है । स्त्री-संसर्गसे साधक, कीट-पतंग जिस प्रकार अग्निमे गिरकर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार पथभ्रष्ट होकर नरकगामी बनता है, अतः इन्द्रियविजयी होना चाहिये ।

भ्रमर पद्मपर बैठा था, वह रस-ग्रहणमे समय भूल गया । सूर्यास्त होनेपर जब पद्म बंद हो गया, तब वह भी आबद्ध हो गया । मुनिको चाहिये कि वह देह-निर्वाह-हेतु ग्रास ग्रहण करे, आसक्त होकर भिक्षा ग्रहण न करे, संग्रह न करे, संग्रह करनेसे भ्रमरकी भाँति उसका नाश हो जाता है ।

वनमे गजका बन्धन स्पर्शके कारण होता है, अतः मुनिको काठकी बनी स्त्रीकी मूर्तिका भी स्पर्श नहीं करना चाहिये । यदि मुनि स्त्रीके प्रति आसक्त होगा तो वह भी गजकी भाँति बन्धनमे पड़कर दुःखमय जीवन व्यतीत करेगा ।

मधुमक्खियाँ जैसे बडे यत्नसे शहद संग्रह करती हैं, किंतु मधुहारी उन्हे भगाकर उसका उपभोग करता है, इसी प्रकार लोभी पुरुषका धन दुःखसे संचित होता है, किंतु दूसरा ही उसका भोग करता है, अत मुनिको संग्रह नही करना चाहिये ।

सगीतके वश होकर हरिण नष्ट हो जाता है, अतः मुनिको भी नृत्य-गीतादिसे सर्वथा पृथक् रहना चाहिये ।

काँटेमे लगे मांस-खण्डको लेने मछली आती है और मांसके भीतर लगे काँटेमे उसका मुख फँस जाता है, अत· मुनिको जिह्वा-रसमे पड़ना उचित नहीं है ।

पिंगला वेश्या मिथिलाकी निवासिनी थी, एक दिन पुरुषोको आकृष्ट करनेके लिये सुन्दर रूप बनाकर द्वारपर खड़ी थी, धन-कामनासे आने-जानेवाले सभीसे वह आशा कर रही थी, भीतर-बाहर आते-जाते आधी रात व्यतीत हो गयी, उसका मुख सूख गया था, बड़ी दुःखी हो गयी थी, किंतु बादमे निर्वेद हो गया । निर्वेदसे आशारूपी पाश कट जाता है, वह विचारने लगी कि मै आत्माराम पुरुषको छोड़कर अन्य असत्पुरुषोकी अभिलाषा कर रही हूँ, यही मेरी मूर्खता है । विण्मूत्रसे भरे हुए इस शरीरमे मेरी कैसी आसक्ति है ? अब मै परमात्मामे रमण करूँगी, वे ही मेरे प्रिय है । अतः आशा नही करनी चाहिये, आशा परम दुःख है, नैराश्य ही परम सुख है ।

कुरर पक्षी मांसका टुकड़ा मुखमे लेकर उड़ा, चारो ओरसे मासभक्षी पक्षियोने उसे घेर लिया । जबतक उसने

मुखसे मांस नहीं छोडा तवतक वे उसे ताडित करते रहे। मास छोड़कर वह सुखी हो गया। संग्रह करनेवाले दुःख पाते हैं। अतः मुनिको विषयकी आसक्ति छोडकर सुखी रहना चाहिये।

बालकको मानापमानका दुःख नहीं है, घरवालोकी चिन्ता भी नहीं है, अत. यही वालक-वृत्ति मुनिके लिये आदर्श है।

किसीके घरमे एक कुमारी कन्या थी, घरवाले कहीं वाहर गये थे, उसी समय कन्याको देखनेवाले वर-पक्षके लोग आये। घरमे धान थे। कन्या उन्हे कूटकर चावल निकालने लगी, शंखकी चूडी पहने धान कूटनेसे आवाज आने लगी, तव उसने विचार किया कि अतिथिके आनेपर धान कूटना दरिद्रताका द्योतक है, अतः आवाज न हो इसलिये उसने एक कंकण उतार दिया, किंतु फिर भी ध्वनि हुई, दो कंकण पहनकर धान कूटनेपर भी ध्वनि आयी, अन्तमें केवल एक-एक कंकण पहनकर धान कूट लिया, अत. जहाँ अनेक रहते हैं वहाँ कलह स्वाभाविक है, अतः मुनिके लिये कुमारीके कंकणकी भाँति एकान्त-वास ही श्रेष्ठ है।

वाण-निर्मातासे पूछा गया कि क्या तुमने राजाकी सवारी देखी है? उसने कहा कि पता नहीं। सवारी उस समय निकल चुकी थी। वाण वनानेवालेकी एकाग्रताके समान ही परमात्माके चिन्तनमें रत रहना चाहिये।

सर्प अपने लिये घर नहीं वनाता, अत. मुनिको घर वनानेकी आवश्यकता नहीं।

जैसे मकडी अपने मुखमेंसे जाला प्रकट करती है और विहार करके पुनः उसे ग्रस लेती है, वैसे ही परमेश्वर भी सृष्टि करके पुनः उसका सहार करता है।

जैसे भृंगी कीट अन्य जीवको पकड़कर अपने रूपमें परिवर्तित कर देता है, ऐसे ही भगवान्‌का ध्यान करते-करते जीवका भी आनन्दमय भगवद्रूप हो जाता है।

दत्तात्रेयजीने अपने चौवीस गुरुओंके शिक्षा-निर्देशके अनन्तर यह प्रतिपादन किया कि एक ही गुरुसे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

---

(३)

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी, आदिवदरी)

शिक्षा किससे ग्रहण किया जाय? इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर होगा 'गुरु' से। 'गुरु' शव्दका अर्थ किसी मानव-देहधारीसे ही लेना पर्याप्त नहीं दीखता, अपितु पौराणिक ग्रन्थोके आधारपर कीट-पतगोतकसे शिक्षा ग्रहण कर उन्हे भी गुरुके स्वरूपमें प्रतिष्ठित करना भारतीय संस्कृतिकी विशेषता है। 'पञ्चतन्त्र' और 'हितोपदेश' आदि ग्रन्थोकी समग्र शिक्षा पशु-पक्षियोंद्वारा दी गयी है। श्रीमद्भागवतका अवधूतोपाख्यान इस दिशामें एक महत्त्वपूर्ण सारगर्भित प्रकरण है।

धर्मके मर्मज्ञ महाराजा यदुने एक बार देखा कि एक दिव्य तरुण अवधूत ब्राह्मण निर्द्वन्द्व विचरण कर रहे है। राजाने विनम्रतापूर्वक उनके चरणोंमे प्रणाम किया और पूछा—

'महात्मन्! प्राय. देखा जाता है कि सासारिक पुरुष भोगोपभोगकी कामनाएँ लेकर ही धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षकी ओर प्रवृत्त होते हैं, परंतु मैं देख रहा हूँ कि सद्‌गुणसम्पन्न होनेके वाद भी जड़ और उन्मत्तकी भाँति आपने अपने आत्मभावमें ही मग्न रहनेकी वुद्धि कैसे प्राप्त की है? कृपा करके यदि आप इस गूढ़ विषयका रहस्योद्‌घाटन कर सकें तो मैं आपका ऋणी रहूँगा।'

इसपर अवधूतशिरोमणि दत्तात्रेयजीने कहा—'राजन्! ऐसी बुद्धिके लिये मैंने अनेक प्राणी-पदार्थोसे शिक्षाएँ ली हैं। इस प्रकार वे सव मेरे गुरु ही है। तुम उनके नाम सुनो—पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कवूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, मधुमक्खी, हाथी, मधु निकालनेवाला, हरिन, मछली, पिंगला वेश्या, कुररपक्षी, वालक, कुँआरी कन्या, वाण-निर्माता, सर्प, मकड़ी और भृंगी कीट।' (श्रीमद्‌भागवत् ११।७।३३-३४)

महाराजा यदु साश्चर्य दत्तात्रेयजीके दिव्य मुखमण्डलको देखते हुए बोले—'महात्मन्! आपके गुरु विचित्र हैं। क्या मैं जान सकता हूँ कि इन गुरुओंसे आपने क्या शिक्षा ग्रहण की है?'

दत्तात्रेयजीने कहा—राजन्! मैंने इन गुरुओसे जो शिक्षा ग्रहण की है उसे क्रमशः बता रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो—

(१) पृथिवी—मैंने पृथिवीके धैर्य और क्षमारूपी दो गुणोसे धीरज और क्षमाका उपदेश ग्रहण किया है। धीर पुरुषको चाहिये कि वह कठिन-से-कठिन विपत्तिकालमे भी अपनी धीरता और क्षमावृत्तिको न छोड़े। मैंने पृथिवीके विकार—पर्वत और वृक्षोसे परहितकी शिक्षा ग्रहण की है।

(२) वायु—शरीरके अंदर रहनेवाला प्राणवायु जिस प्रकार आहारमात्रकी आकाङ्क्षा रखता है और उसकी प्राप्तिसे ही संतुष्ट हो जाता है, उसी प्रकार साधक जीवन-निर्वाह-हेतु ही भोजन करे, इन्द्रियोकी तृप्ति-हेतु नहीं तथा शरीरके बाहर रहनेवाली वायु जैसे सर्वत्र विचरण करते हुए भी किसीमें आसक्त नहीं होती, उसी प्रकार साधकको चाहिये कि वह अपनेको शरीर नहीं, अपितु आत्माके रूपमे देखे। शरीर और उसके गुणोका आश्रय होनेपर भी उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहे। यही मैंने वायुसे सीखा है।

(३) आकाश—'चर-अचर जितने भी सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, उनमें आत्मरूपमे सर्वत्र स्थित होनेके कारण सभीमें ब्रह्म है।' इसका उपदेश मुझे आकाशने दिया। घट-मठ आदि पदार्थोंके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेपर भी आकाश एक और अपरिच्छिन्न (अखण्ड) ही है।

(४) जल—जैसे जल स्वभावसे ही स्वच्छ, स्निग्ध, मधुर और पवित्र करनेवाला है, उसी प्रकार साधकको स्वभावसे ही मधुरभाषी और लोकपावन होना चाहिये।

(५) अग्नि—राजन्! मैंने अग्निसे तेजस्वी और ज्योतिर्मय होनेके साथ ही यह भी शिक्षा ग्रहण की कि जैसे अग्नि लम्बी-चौड़ी या टेढ़ी-सीधी लकड़ियोमे रहकर उनके समान ही रूपान्तरित हो जाती है, वास्तवमे वह वैसी है नहीं, वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुए कार्य-कारण-रूप जगत्मे व्याप्त होनेके कारण उन-उन वस्तुओके नाम-रूप ग्रहण कर लेता है, वास्तवमे वह वैसा है नही।

(६) चन्द्रमा—कालकी अदृश्य गतिके प्रभावसे चन्द्रकला घटती और बढ़ती हुई प्रतीत होती है, वास्तवमे चन्द्रमा तो सर्वदा एक-सा ही रहता है, उसी प्रकार जीवनसे लेकर मरण-पर्यन्त शारीरिक अवस्थाएँ भी आत्मासे अलिप्त हैं। यह गूढ़ ज्ञान मैंने चन्द्रमासे ग्रहण किया।

(७) सूर्य—सूर्यसे मैंने दो शिक्षाएँ प्राप्त कीं—अपनी प्रखर किरणोद्वारा जल-संचय और समयानुसार उस संचयका यथोचित वितरण तथा विभिन्न पात्रोमे परिलक्षित सूर्य स्वरूपतः भिन्न नहीं है, इसी प्रकार आत्माका स्वरूप भी एक ही है।

(८) कबूतर—कबूतरसे अवधूत दत्तात्रेयजीने जो शिक्षा ग्रहण की उसके लिये उन्हे यदुके समक्ष एक लम्बा आख्यान प्रस्तुत करना पडा, जिसका भावार्थ ससारसे आसक्ति न रखना है।

(९) अजगर—अनायास रूखा-सूखा प्रारब्धवश जो भी प्राप्त हो जाय उसीमे संतोष करना, कर्मेन्द्रियोके होनेपर भी चेष्टारहित रहना, यह मैंने अजगरसे सीखा।

(१०) समुद्र—समुद्रने मुझे सर्वदा प्रसन्न और गम्भीर रहना सिखाया। समुद्रके शान्त भावोकी तरह साधकको भी सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति और अप्राप्तिपर हर्ष-शोक नहीं होना चाहिये।

(११) पतंग—रूपपर मोहित होकर प्राणोत्सर्ग कर देनेवाले पतंगेकी भाँति मायिक पदार्थोके हेतु बहुमूल्य जीवनका विनाश न हो, यह मैंने पतंगेसे सीखा।

(१२) मधुमक्खी—साधकको चाहिये कि वह मधुमक्खीकी भाँति संग्रह न करे। अपने शरीरके लिये उपयोगी रोटीके कुछ टुकड़े कई घरोंसे माँग ले।

(१३) हाथी—साधकको चाहिये वह भूलकर भी पैरसे भी काठकी भी बनी स्त्रीका स्पर्श न करे अन्यथा हाथी-जैसी दुर्दशाको प्राप्त होगा।

(१४) मधु निकालनेवाला—राजन्! जैसे मधुमक्खियोद्वारा कठिनाईसे संचित किये गये मधुका दूसरा ही उपभोग करता है, इसी प्रकार कृपण व्यक्ति भी अपने संचित धनका न तो स्वयं उपभोग करता है और न

हमारी प्राचीन और आधुनिक शिक्षा

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र, भूतपूर्व कुलपति)

पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धिमे शिक्षा अद्वितीय साधन है । निश्चित उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये जब विद्यार्थी गुरुसे शिक्षा ग्रहण करता है, तब उसके समक्ष लक्ष्य-सिद्धिके अतिरिक्त कोई समस्या नहीं रहती । अतः प्राचीनकालीन 'विद्यार्थी' निश्चित दिशाकी ओर बढ़ता हुआ अध्ययन करता था । **'अमृतं हि विद्या'**, **'विद्ययामृतमश्नुते'**— इस लक्ष्य-पूर्तिके लिये वह विद्याध्ययन करता था ।

प्राचीनकालमें गुरु-शिष्यका विवाद न था। साक्षात्कृतधर्मा ऋषि अपने तपोबलसे वेदोका साक्षात्कार कर ज्ञान प्राप्त करते थे ।[१] बादमें इन द्रष्टा ऋषियोंने उन व्यक्तियोको ज्ञानोपदेश दिया जो स्वयं प्रत्यक्ष करनेमे असमर्थ थे ।[२] धारणाशक्तिके ह्रास हो जानेके कारण तृतीय कोटिके व्यक्ति जब उन उपदेशोको यथावत् ग्रहण करनेमे असमर्थ हो गये तो वेद-वेदाङ्गोका ग्रन्थरूपमे समाम्नात हुआ[३] और उनके अध्ययन-अध्यापनकी प्रक्रिया चल पड़ी । परा तथा अपरा—इन दो भागोमें विद्याका विभाजन हुआ । धर्म, अर्थ तथा कामकी प्राप्तिमे अपरा और मोक्षकी प्राप्तिमे परा विद्या साधन थी । जिज्ञासु शिष्य अपनी इष्ट-सिद्धिके लिये गुरु-चरणोकी शरणमे जाता था । गुरु उसके अज्ञानका निवारण करता था ।[४]

शिक्षाका चरम उद्देश्य था आत्म-ज्ञानकी उपलब्धि । इसके लिये शिष्य सद्गुरुका आश्रय लेते थे ।[५] शिष्य गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् ब्रह्मके रूपमे मानते थे ।[६] शरणापन्न शिष्यके भीतर अध्यात्म-ज्ञानके सर्जनके कारण गुरुको ब्रह्मा, त्राण[७] तथा ज्ञान-विज्ञान-संरक्षणके कारण विष्णु, सकल कलुषके संहरणके कारण महेश्वर तथा परमात्म-ज्ञानके प्रदानसे परब्रह्म माना जाता था । गुरुसे बढ़कर और कोई दूसरा तत्त्व नही था ।[८] यह भावना शिष्यके हृदयमे बद्धमूल थी । गुरु अज्ञान-तिमिरसे अन्ध शिष्यके प्रज्ञा-चक्षुको ज्ञानरूपी अञ्जन-शलाकासे उन्मीलित करते थे । अतः शिष्य आजीवन नतमस्तक रहता था ।[९] शिष्यके लिये गुरुका स्थान सर्वोच्च था ।

अध्ययनके उपर्युक्त चार पुरुषार्थ प्रयोजन थे, किंतु व्यावहारिक दृष्टिसे अध्यापनके तीन प्रयोजन थे—धर्म, अर्थ और शुश्रूषाप्राप्ति ।[१०]

आचार्य धर्मार्थ शिक्षा देते थे । आचार्य शिष्योमे आचार अर्थात् चरित्रका निर्माण करते थे, शास्त्रके रहस्योको खोलते थे और शिष्योकी बुद्धिको विकसित करते थे ।[११] शिष्योका उपनयन-सस्कार कर उन्हे कल्प और रहस्यके

---

१. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु· ।
२. ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्राददु ।
३. उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इम ग्रन्थ समाम्नासिषु, वेद च वेदाङ्गानि च । (निरुक्त, प्रथमाध्याय)
४. गिरति अज्ञानम् (नाशयति अविद्याम्) इति गुरु ।
५. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाधिगच्छेत् । समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम् ॥ (उपनिषत्)
तस्माद् गुरु प्रपद्येत जिज्ञासु श्रेय उत्तमम् । शाब्दे परे च निष्णात ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥ (श्रीमद्भागवत)
समाश्रयेत् सद्गुरुमात्मलब्धये । (अध्यात्मरामायण)
६. गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वर· । गुरु साक्षात् पर ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नम ॥
७. शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।
८. नास्ति तत्त्वं गुरो परम् ।
९. अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया । चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नम ॥
१०. अध्यापन च त्रिविध धर्मार्थं चार्थकारणात् । शुश्रूषाकरण चति ऋषिभि परिकीर्तितम् ॥ (हारीत)
११. आचार्य आचार ग्राहयति । आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा ॥ (निरुक्त)

साथ वेदादिकी शिक्षा देते थे।[१२] आचार्यकी यही कामना रहती थी कि उनका शिष्य विद्वान् बनकर मनस्वी और यशस्वी हो तथा शिष्य-परम्पराको सुदृढ़ करे।

आंशिकरूपसे वेद या वेदाङ्गोका जीविकाके लिये अध्यापन करनेवाले 'उपाध्याय' कहलाते थे।[१३] अतः दस उपाध्यायोंकी अपेक्षा एक आचार्य श्रेष्ठ माना जाता था।[१४]

जिस किसीसे जो सत्-शिक्षा मिलती थी उसे गुरु मानकर उसका सम्मान किया जाता था।[१५]

शिक्षार्थी अपनी विशेषताके अनुसार शिष्य, छात्र, विद्यार्थी तथा अन्तेवासीके नामसे व्यवहृत होता था। शासन करने योग्यको 'शिष्य'[१६] कहते थे। अनुशासन-प्रियता इसका विशेष धर्म होता था। अध्ययन-कालमे पूर्ण अनुशासित होकर वह सामाजिक जीवनमें सफल होता था।

'छात्र' उन्हे कहते थे जो केवल स्वाध्यायरत होकर गुरुजनोके यत्किंचित् दोषपर भी आवरण देकर उनके यशको फैलाते थे।[१७] तात्पर्य यह कि अध्ययनकालमें उनकी शङ्काका तत्काल समुचित समाधान न होनेपर भी वे समाधानके लिये धैर्यपूर्वक समयकी प्रतीक्षा करते थे। तुरंत गुरुके अज्ञान-दोषका प्रचार नहीं करते थे।

'विद्यार्थी'[१८] उसे कहते थे जो गुरुको विद्याका धनी समझकर उनसे विनम्रतापूर्वक विद्याकी याचना करता था। विद्याका लाभ ही उसका मुख्य प्रयोजन होता था। विद्याके प्रति उत्कट अनुराग और गुरुके प्रति शुश्रूषाभाव विद्यार्थी शब्दके अर्थसे सूचित होता है।

'अन्तेवासी'[१९] उसे कहा जाता था जो गुरुके समीप रहकर विद्याध्ययन करता था। इसे सर्वदा शङ्का-समाधानका सुयोग मिलता था और निरन्तर शुश्रूषा करनेका सुअवसर प्राप्त होता था। इसलिये अन्तेवासी अधिक सौभाग्यशाली माना जाता था।

प्राचीन भारतीय गुरुकुलोंमें समस्त विद्याओंका अध्ययन-अध्यापन गुरु-शिष्य एक साथ रहकर किया करते थे। उनके आवास-भोजनादिका प्रवन्ध वहीं एकत्र होता था। समाजके सभी वर्गके लोग एक साथ पढ़ते थे। श्रीकृष्ण और सुदामाके लिये अलग-अलग गुरुकुल नहीं था। दोनों एक आश्रममें साथ-साथ पढ़ते थे।

प्राचीन शिक्षा-पद्धतिमें सच्चरित्र और सुसंस्कृत शिक्षार्थी गुरुकुलमे प्रवेशके अधिकारी होते थे। उस पवित्र वातावरणमें विद्याध्ययन करनेवाले छात्र विनयी होते थे। उन्हें ही देखकर नीतिकारोंने कहा है—**'विद्या ददाति विनयम्।'** शिक्षा-ग्रहणके साथ ही उनमें सद्गुणोंका आधान होता था। वे सच्चरित्र, संयमी, आचारवान्, कर्तव्यनिष्ठ, सत्यपरायण, विनीत, गुरुजनोंमें श्रद्धालु, ब्रह्मचर्य-परायण तथा देश-समाजके लिये उपयोगी नागरिक सिद्ध होकर गुरुकुलसे निकलते थे।

साधारणतः पञ्चम वर्षमे शिक्षार्थीका गुरुकुलमें प्रवेश होता था। बारह वर्षोंतक वहाँ उनका निरन्तर अध्ययन चलता था। उसके बाद उनका समावर्तन होता था। तब वे स्नातक कहलाते थे। आचार्यद्वारा प्रतिदिनकी

---

१२. आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य इष्यते॥
उपनीय तु य शिष्य वेदमध्यापयेद् द्विज। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य प्रचक्षते॥ (मनु॰२।१४०)

१३. एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः। योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्याय. स उच्यते॥ (मनु॰२।१४१)

१४. उपाध्यायान् दशाचार्य. .... (मनु॰ २।१४५)

१५. एकाक्षरप्रदातार यो गुरुं नाभिमन्यते। षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमि॥

१६. शासितु योग्य शिष्यः। शास्+क्यप् प्रत्यय (पा॰ सू॰ ३।१।१०९)।

१७. गुरोर्दोषाणामावरण छत्रम्, तच्छीलमस्य छात्र। छत्रादिभ्यो ण (पा॰सू॰ ४।४।६२)।

१८. विद्याम् अर्थयते तच्छीलः विद्यार्थी। विद्या उपपद 'अर्थ' धातुसे 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा॰ सू॰ ३।२।७८) से णिनि प्रत्यय।

१९. अन्ते गुरुसमीपे वसति तच्छील, पूर्ववत् णिनि प्रत्यय। 'शयवासवसिष्वकालात्' (पा॰ सू॰ ६।३।१८) से अलुक्।

गुरुकुलमे विद्याध्ययन

परीक्षा ही उनकी परीक्षा होती थी । शास्त्रार्थमे वे अपनी योग्यताका प्रमाण देते थे । सत्रके अन्तमे दीक्षान्त-समारोह होता था । उसमे क्रियावान् 'कुलपति'[२०] स्नातकोको '**सत्यं वद, धर्म चर**·······' आदिका सदुपदेश देते थे । इसके बाद स्नातक यथासम्भव गुरु-दक्षिणा देते थे । इस प्रकार विद्या-ग्रहण करनेके बाद वे अधीत विद्याका स्वाध्याय करते थे, उसे व्यवहारमे लाते थे और अन्तमे उसका प्रवचन करते थे । यह प्रक्रिया महर्षि पतञ्जलिके समय (ई० पूर्व १५०) तक प्रचलित थी ।

आधुनिक शिक्षा

गत शताब्दीके अन्तिम चरणमे लार्ड मैकॉलेद्वारा सचालित शिक्षा आधुनिक शिक्षा मानी जाती है । आधुनिक शिक्षाके आरम्भिक तथा वर्तमान रूपोमे भी बहुत परिवर्तन हुआ है । युगके अनुकूल मानवकी समस्या, आवश्यकता और आकाङ्क्षाओके अनुसार शिक्षाका आयाम बढ़ता जा रहा है । विश्वके विकसित देशोमे जिन वैज्ञानिक आविष्कार—प्रचार-प्रसारोसे आधिभौतिक सुख-समृद्धिकी श्रीवृद्धि हुई है और आज भी हो रही है, उनका प्रभाव भारतपर भी पड़ा है और पड़ रहा है । फलतः यहाँ भी वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षाकी ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है ।

आजकी यहाँकी शिक्षाको मोटे तौरपर तीन भागोमे विभक्त कर सकते है—(क) चिकित्सा, अभियान्त्रिकी, तकनीकी, कम्प्यूटर आदिकी शिक्षा । (ख) सामान्य विज्ञान, कला (आर्ट्स), वाणिज्य (कॉमर्स) आदिकी शिक्षा । (ग) वेद-वेदाङ्गादि विषयोकी संस्कृत शिक्षा ।

इनमे प्रथम कोटिकी शिक्षा आधिभौतिक अभ्युदयके सम्पादनमें अद्वितीय साधन है । अत. आज देशके प्रथम कोटिके मेधावी छात्र इस शिक्षाको पानेके लिये प्रयत्नशील रहते है, किंतु इनकी संख्या सीमित है । द्वितीय कोटिकी शिक्षा आज दिशा-विहीन-जैसी है । इसमे सामान्य स्तरके शिक्षार्थी आते है । इनकी संख्या अत्यधिक है, अतः इसकी समस्या भी विकराल है । तृतीय कोटिकी संस्कृत शिक्षा जो प्राचीनकालमे सर्वोच्च शिक्षा थी, सरकार और समाजसे उपेक्षित होनेके कारण आज अधोगतिमे है । शिक्षा चाहे सामान्य अथवा विशेष-विषयक हो, किंतु उसका निश्चित उद्देश्य होना चाहिये । उद्देश्यविहीन शिक्षाका परिणाम श्रेयस्कर नहीं होता ।

शिक्षाका उद्देश्य संक्षेपमे शिक्षार्थीको पूर्ण मानव बनाना है । पूर्ण मानवताका अर्थ है मानवमे आधिभौतिक और आध्यात्मिकवादका पूर्ण समन्वय, सामञ्जस्य और संतुलन । आध्यात्मिकताके अभाव या असंतुलनसे मानव दानव हो जाता है और वह समाजके लिये आतङ्कप्रद बन जाता है । उससे सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है । शिक्षासे निम्नलिखित गुणोकी अपेक्षा की जाती है—(१) मानव-जीवनके महत्त्व तथा आदर्शका ज्ञान, (२) चरित्र-शिक्षण, (३) ज्ञान-अर्जन करनेकी शक्ति, (४) समुचित जीविकोपार्जनके लिये कौशल, (५) सत्यासत्य-परिज्ञान और (६) समाज-परम्परा-मान्यता आदिका परिज्ञान ।

शिक्षाके प्रत्येक क्षेत्रमे शिक्षार्थीके लिये उपर्युक्त उद्देश्योकी पूर्ति आवश्यक है । स्पष्ट है कि वर्तमान शिक्षासे उद्देश्यकी आंशिक ही पूर्ति हो रही है । देशकी स्वतन्त्रताके चालीस वर्षोके बाद भी शिक्षामे अपेक्षित सुधार नहीं हो सका है ।

शिक्षाको अभी प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षामे विभक्त कर तदनुसार व्यवस्था की जा रही है । प्राथमिक शिक्षा सभीके लिये अनिवार्य नही हो सकी है । प्राथमिक शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियोकी प्रतिशत सख्या विभिन्न राज्योमे विभिन्न है ।

माध्यमिक शिक्षा, जो शिक्षाकी रीढ़ मानी जाती है, सुनिश्चित रूप नहीं प्राप्त कर सकी है । स्वतन्त्रताके बाद इसपर निरर्थक अनेक प्रयोग किये गये है । पूर्व-स्वातन्त्र्य-कालमे ११+२+२+२ इस तरह १७ वर्षोका निश्चित पाठ्य-क्रम था । बादमे १२+१+२+२=१७ तथा

---

२० छात्राणा दशसाहस्र योऽन्नपानादिना भरन् । अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपति स्मृत ॥

११+१+१+२+२=१७ वर्षोका पाठ्य-क्रम बनाया गया। अभी १०+२+३+२ इस प्रकार १७ वर्षोका पाठ्य-क्रम चलाया जा रहा है। इन परिवर्तनोसे अभीतक कोई चमत्कार पैदा नहीं हो सका है। परिवर्तन केवल परिवर्तनके लिये हुआ है।

माध्यमिक स्तरमें शिक्षा-माध्यमका निश्चित रूप अभीतक नहीं हो सका है। द्विभाषा, त्रिभाषा, चतुर्भाषा सूत्रोका निश्चित भाष्य नहीं हो सका है। राष्ट्रकी एकता और अखण्डतामे अद्वितीय साधन संस्कृत भाषाकी सर्वत्र उपेक्षा कर दी गयी है। स्वतन्त्रतासे पूर्व विदेशी शासनकालमे देशमे माध्यमिक स्तरपर संस्कृत अनिवार्य थी। आज देशके किसी राज्यमे भी माध्यमिक स्तरतक संस्कृत अनिवार्य नहीं है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है। संस्कृतकी विशेषताका गुणगान प्रत्येक व्यक्ति करता है, परंतु व्यवहारमें विपरीत निर्णय लेता है।

नवीन शिक्षा-नीतिका ढोल बहुत पीटा जा रहा है। इस सम्बन्धमें प्रकाशित सरकारी दस्तावेजके आमुखमें जीवनके आदर्श और महत्त्वकी चर्चा की गयी है। अध्यात्म और मानव-मूल्योकी बात उसमें कही गयी है, परंतु उसकी उपलब्धिके उपायका सही निर्देश नहीं हुआ है। इसमें भी संस्कृतकी सर्वथा उपेक्षा की गयी है।

सामान्य-शिक्षा दिशा-विहीन होती जा रही है। आजका स्नातक या स्नातकोत्तर परीक्षोत्तीर्ण अपना जीवन-निर्वाह करनेमे भी असमर्थ है। यही वर्ग सबसे अधिक असंतुष्ट है और अपनी प्रतिक्रिया विभिन्न रूपोमें व्यक्त करता है। सरकारी नीति और अपेक्षित साधनके अभावमे इसे अग्रिम शिक्षा पानेका भी अवसर नहीं मिलता। इन सबका दुष्परिणाम समाजके सामने है।

स्वतन्त्रताके बाद शिक्षा-क्षेत्रमे जो विकास हुआ है, वह पर्याप्त नहीं है। प्रथम पञ्चवर्षीय योजनाकालमें राष्ट्रिय आयका ७.२ प्रतिशत शिक्षापर व्यय होता था। आज सप्तम-योजनाकालमे, कहते हैं, ३.२ प्रतिशत ही खर्च किया जा रहा है। जनसंख्या-वृद्धिके अनुपातमे शिक्षालयोकी स्थापना नहीं हो सकी है। आज देशमें १५०से अधिक विश्वविद्यालय, ८७००से अधिक महाविद्यालय और लाखोंकी संख्यामे प्राथमिक विद्यालय हैं, किंतु अपनी आबादीकी एक तिहाईसे अधिकको शिक्षित नहीं बना सके हैं। भारतीय प्राद्यौगिक प्रतिष्ठानोंको छोड़कर शिक्षाका स्तर भी बहुत गिरा है और गिरता जा रहा है। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध समाप्त हो चुका है। अध्ययन-अध्यापनकी रुचि कम होती जा रही है। इससे राष्ट्रका बहुत बड़ा अहित हो रहा है।

यद्यपि वर्तमान सामाजिक परिवेशमें अब प्राचीन शिक्षा-प्रणालीपर नहीं जा सकते, किंतु शिक्षाके उद्देश्यकी पूर्तिके अनुकूल तो शिक्षाको बना ही सकते हैं। अत निम्नलिखित विषयोंपर विचार कर उन्हें यथाशीघ्र कार्यान्वित करनेका प्रयास होना चाहिये—

(१) प्राथमिकसे लेकर उच्चशिक्षातक शिक्षाके प्रत्येक क्षेत्रमे समाज-हितोपयोगी आध्यात्मिक ज्ञानकी शिक्षा अनिवार्य हो, जिससे प्रत्येक शिक्षित स्वयं जीवित रहे और दूसरेको जीने दे। आध्यात्मिकताके साथ आधिभौतिकताका पूर्ण सामञ्जस्य और संतुलन हो।

(२) माध्यमिक स्तरतक प्रत्येक शिक्षार्थीके लिये संस्कृतका ज्ञान अनिवार्य हो। एतदर्थ त्रिभाषा-सूत्रमें संस्कृतकी अनिवार्यता हो।

(३) प्रत्येक शिक्षार्थीको रुचिके अनुकूल जीविकोपार्जनके लिये कुशल बनाया जाय। एतदर्थ (Vocational) व्यावसायिक शिक्षोपयोगी पाठ्यक्रम बनाया जाय।

(४) राष्ट्रिय आयका कम-से-कम दस प्रतिशत शिक्षापर व्यय किया जाय और प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षित बनानेका प्रयास हो।

(५) गुरु-शिष्योमे अध्ययन-अध्यापनकी प्रवृत्ति सर्वत्र जगायी जाय।

(६) धनी और निर्धन छात्रोकी प्राथमिक शिक्षाके महान् अन्तरको यथासम्भव कम किया जाय।

भारतमें प्राचीन शिक्षा तथा आधुनिक शिक्षा

(श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

भारतमे वर्तमान शिक्षा-प्रणालीकी नीव तत्कालीन भारत-सचिव, लन्दन-स्थित लार्ड मैकालेने सन् १८३५ के अपने 'परिपत्र'द्वारा डाली थी। मैकाले इतना बडा अज्ञानी था कि उसने लिखा था कि 'किसी भी अच्छे यूरोपीय पुस्तकालयके एक खाने (कोष्ठ) मे रखी पुस्तके भारत तथा अरब देशोके समस्त साहित्यसे अधिक मूल्यवान् हैं।' इस आधारपर गवर्नर जनरल लार्ड ऑक्लेंडने १४ नवम्बर, १८३९ को कहा था कि 'हमे ऐसी शिक्षा देनी है जिससे भारतके उच्च तथा मध्यम वर्गका स्तर ऊँचा उठाया जा सके।' सन् १८८२ ई०मे स्थापित विश्वविद्यालय-शिक्षा-कमीशनने अपने अध्यक्ष सर चार्ल्सवर्डउडकी यह नीति स्वीकार की थी कि 'शिक्षा ऐसी हो जो भारतीय परम्परा तथा संस्कृतिके अनुकूल हो।' यह लक्ष्य भारतकी प्राचीन शिक्षा-प्रणालीके बहुत निकट था। पर भारतीय प्राचीन शिक्षा-प्रणालीमे, जब आजकी तरह छपी पुस्तके उपलब्ध नहीं थीं, रटकर याद करनेकी प्रथाका महत्त्व लार्ड कर्जन-जैसे चतुर भारतके बडे लार्ड समझ न सके और कलकत्ता-विश्वविद्यालयके समावर्तन-संस्कारके अवसरपर सन् १९०२ ई०मे उन्होने कहा था—'हमे ऐसी शिक्षा देनी है जिसमें दूसरोके विचार छात्रके मस्तिष्कमे न ठूँसे जायँ—उसका स्वय चिन्तन दूसरोके विचारोके सेकेड हैंड पुस्तकालयसे न भरा जाय।'

कर्जनको वैदिक ऋषि गौतमके पुत्र नचिकेताका यमराजसे सवादका पता न था, जिसमे जीवनके वास्तविक लक्ष्यके साथ प्रतिपादित किया गया है कि प्रत्येक व्यक्तिको सच्चा स्वस्थ नागरिक बनना चाहिये तथा सत्यका उपासक होना चाहिये। शिक्षाका इससे भी अधिक स्पष्ट विवेचन छान्दोग्य उपनिषद्मे है। जिसमे श्वेतकेतु-संवादमें स्पष्ट कहा गया है कि शिक्षाका उद्देश्य मस्तिष्कमे ग्रन्थोको कोष्ठमे भर कर रखना नही है, अपितु उनसे ज्ञान प्राप्त करना है। जिस प्रकार अंग्रेजी शब्द 'रेलिजन' 'धर्म' का पर्यायवाची नहीं है, उसी प्रकार 'एजूकेशन' 'शिक्षा' का पर्यायवाची नही है। अग्रेजी शब्दका अर्थ है 'नियमबद्ध ऐसी पढ़ाई जिससे जीवनके किसी विशेष कार्यमे भाग ले सके।' पर शिक्षा वैदिक शब्द है। हमारे प्राचीन ग्रन्थोमे इसका स्पष्ट अर्थमे उपयोग है। जैसे 'महाभारत' या 'किरातार्जुनीय' (१५।३७) मे जिनमे स्पष्ट अर्थ है 'सीखना, अध्ययन करना, ज्ञान प्राप्त करना, किसी कलामे निपुण होना' आदि। शिक्षा शब्दका ऋग्वेदमे प्रयोग है। वेदाङ्गके अनुसार किसी विज्ञानका ज्ञान प्राप्त करना शिक्षा है। मुण्डकोपनिषद्के अनुसार शिक्षित वह है जिसमे 'मानवता, विनम्रता तथा अप्रगल्भता हो।' आजतक भारतीय शिक्षाके इस प्राचीनतम सिद्धान्तको हम नही अपना सके है। शिक्षितका अर्थ है क्षेत्रज्ञ, विज्ञ, प्रवीण। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'मे महाकवि कालिदास लिखते है—

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

(प्रथम अङ्क)

भारतकी भाँति किसी भी देश या सभ्यताने शिक्षाका इतना उच्चस्तरीय उद्देश्य नही रखा है। 'शिक्षा' शब्द जिस धातुसे बना है उसका अर्थ ही है 'देना'।

भारतमे प्रचीनकालमे अध्यापककी पाठशालामे प्रवेशके लिये प्रार्थीको कतिपय प्रश्नोका उत्तर देना होता था। उसके लिये घोषणा या प्रतिज्ञाका निर्धारित वाक्य होता था (हिरण्यकेशिन १,२,५)। दुष्ट प्रकृति, अनियन्त्रित मनोविकारी, दूसरोकी भर्त्सना करनेवालो आदिका प्रवेश निषिद्ध था। केवल कुशल, होनहार, कर्मठ, सच्चरित्र, चरित्रवान्, अच्छी स्मरणशक्तिवाला आदि गुणोसे युक्त छात्र या छात्रा भरती हो सकती थी (मनु० २।१०९)। छात्रके लिये अध्यापककी आज्ञा मानना अनिवार्य था। वह अध्यापकके स्थानके नीचे बैठता था। गुरुके कथनका खण्डन नहीं करता था। छात्रको गुरुका चरण-स्पर्श करना

चाहिये तथा जब तक गुरु स्वयं न पढ़ावे, मौन रहना चाहिये ।

आपस्तम्ब-सूत्र (१,२,५-९-१० आदि), मनु० (२।१०१,२२२) तथा गोभिल०(२।८,९,१०) और विष्णुपुराण (२६।२।१३ आदि) के अनुसार छात्रको सुगन्ध लगाना, फूलोका हार पहनना, काजल लगाना, जूता या छाताका उपयोग करना, नाचना, जूआ खेलना, दिनमे सोना, भीड़भाडमे घुसना आदि मना था । आज बिरले ही छात्र इन नियमोका पालन करते हैं ।

आधुनिक शिक्षा-प्रणालीकी एक बड़ी देन यह समझी जाती है कि बच्चों, छात्रोको कक्षामे मारा-पीटा न जाय, किंतु आजसे ५००० वर्ष पहले गौतमने लिख दिया था कि 'छात्रोको शारीरिक दण्ड नही देना चाहिये । यदि उसके सुधारका कोई उपाय न हो तो पतली रस्सी या बेतसे मारे । यदि अध्यापक किसी अन्य प्रकारसे छात्रको पीटे तो राजाको उसे दण्ड देना चाहिये' (२।४२-४) । मनुने भी यही कहा है—'पतली रस्सी या बॉसकी छड़ीसे मारना चाहिये और वह भी शरीरके किसी कोमल अङ्गपर नहीं' (मनु० ८।२९९-३००) । आपस्तम्ब कहते है कि 'यदि डराने, उपवास कराने, ठण्डे पानीमे स्नान कराने या कक्षासे निकाल देनेपर भी न सुधरे तो शारीरिक हलका दण्ड दे' (१।२, ८, २८-२९) ।

गुरुके भरण-पोषणकी जिम्मेदारी शासनकी थी, पर वह छात्रोसे कोई उपहार नही ले सकता था, चाहे धनी हो या निर्धन । नागसेनकी जातक तथा 'मिलिन्द पिन्ह'मे मिलता है कि राजपुत्र पेशगी उपहार देना चाहते थे, पर गुरुजन अस्वीकार कर देते थे । विष्णुपुराण (३७।२०,२१ तथा ३४), याज्ञवल्क्य-स्मृति (३।२३६ तथा २४२) तथा मनुस्मृति (२।११२-११५) से भी प्रकट है कि छात्रसे कुछ लेना एकदम मना था । हॉ, दीक्षाके बाद वह चाहे तो गुरु-दक्षिणा दे सकता था ।

प्राचीन शिक्षाका सत्र

प्राचीन सिद्धान्त था कि व्यक्ति अपनेको अजर और अमर समझकर विद्या प्राप्त करता रहे । यो वह आश्वलायन तथा हिरण्यकेशिनके अनुसार १२ वर्षोंमे वेदोमे पारङ्गत हो सकता है, किंतु एकदम पूर्णता प्राप्त करनेके लिये २४ या ४८ वर्ष भी लग सकते है । मानव-जीवनकी सीमाको देखते हुए बोधायनने लिखा है कि जबतक केश काले रहें तभीतक शिक्षा ग्रहण करे । पर आजकी तरह प्रत्येक छात्रको एक विषयमे छमाही परीक्षा देनी होती थी । छमाही परीक्षाका नियम संसारने भारतसे सीखा है । एक सत्र (उपकरणम्) श्रावणकी पूर्णिमासे प्रारम्भ होकर पौषकी पूर्णिमा(अर्थात् जुलाईसे दिसम्बर) तक समाप्त होता था जिसे उत्सर्जन कहते थे । चारो वेदोके अतिरिक्त वेदोके छः अङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषके ज्ञान बिना शिक्षा पूरी नही होती थी, फिर किसी एक अङ्गमे विशेषताके लिये विशेष अध्ययन होता था । आजकी तरह केवल वेतनके पीछे भागनेवाले, पढ़ानेमे दिलचस्पी न लेनेवाले अध्यापक तथा परीक्षाके लिये पढ़नेवाले छात्र उस युगमे नही होते थे । उस समयका पाठ्यक्रम आजसे कही कठिन था । उदाहरणके लिये आज कालेजोमे 'एटीमोलोजी' बड़ा विशद विषय है—इसका अर्थ है 'शब्दव्युत्पत्ति-विद्या' । प्राचीन कालमे 'निरुक्त' यही विषय था जो आजसे कहीं अधिक कठिन और व्यापक था ।

प्राचीन कालमे हमारे विश्वविद्यालय विश्वभरमे प्रसिद्ध थे । आज हमारे ११९ मुख्य विश्वविद्यालयोमे एक भी वैसी ख्याति नहीं रखता । ये केवल अध्यापकोकी हडताल, छात्रोकी हड़ताल, परस्पर संघर्षके लिये प्रसिद्ध है ।

वर्तमान रावलपिण्डीसे उत्तर-पश्चिमकी ओर बीस मीलकी दूरीपर वर्तमान सरायकलॉ नामक रेलवेस्टेशनके पास तक्षशिला-विश्वविद्यालय था, जो ईसवी पूर्व ३२६मे सिकन्दरके आक्रमणके समय संसारमे सबसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय ही नही था, अपितु उस समय चिकित्सा-शास्त्रका एकमात्र सर्वोपरि स्थान था । यहॉ वेद, वेदाङ्गके अतिरिक्त अठारह कलाओकी शिक्षा दी जाती थी, जिनमे चिकित्सा, चीरफाड(शल्य-चिकित्सा), गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष, कृषि-विज्ञान, वाणिज्य-विज्ञान, हिसाब-किताब रखना (चार्टर्ड एकाउंटेसी), धनुर्विद्या, सर्प-विद्या आदि थे । चिकित्सा-विज्ञानका पाठ्यक्रम सात वर्षका था तथा पढ़ाई समाप्त कर प्रत्येक छात्रको छ.

महीने तक शोध-कार्य कर कोई नयी ओषधिकी जड़ी-बूटी पता लगानेपर डिग्री मिलती थी । शोध-कर्ताओके अनुसार तक्षशिलामें १२ वर्षतक अध्ययनके बाद दीक्षा मिलती थी ।

दूसरा विश्वविद्यालय नालन्दा था, जो दक्षिणी बिहारमे राजगिरिके निकट है और उसके ध्वंसावशेष बड़गाँव नामक ग्राममें दूरतक बिखरे पड़े हैं । सातवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें चीनी यात्री हुएनसांगने यहाँ वर्षों शिक्षा प्राप्त की थी । गुप्त-सम्राट् बालादित्यने इसमें ४७० ई०मे एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर बुद्धकी ८० फीटकी प्रतिमा स्थापित की थी । यहाँ सभी प्रकारकी शिक्षा दी जाती थी। कई खण्डोंमें विद्यालय तथा छात्रावास तथा प्रत्येक खण्डमें छात्रोके स्नानके लिये सुन्दर तालाब थे, जिनमे नीचेसे ऊपर जल लानेका अनोखा प्रबन्ध था । इस अन्ताराष्ट्रिय विश्वविद्यालयकी सबसे अद्भुत तथा महान् वस्तु थी इसका पुस्तकालय, जो तीन खण्डोंमें स्थित था तथा एक खण्ड नौ मंजिलका था, जिनमें पुस्तके भरी थीं । इतना बड़ा पुस्तकालय तथा भवन न संसारमे कभी था, न आजतक है । १३वीं सदीमे मुसलिम आक्रमणमें यह विश्वविद्यालय नष्ट कर दिया गया तथा इसका पुस्तकालय जलाकर छः महीनेतक इसके कागजोंसे १०,००० की सेनाका मांसाहारी भोजन बनता रहा । कल्पना कीजिये—भारतने ही नहीं, संसारने कितना ज्ञान-भण्डार खो दिया । इसके बाद दूसरी हानि संसारकी तब हुई जब अरबोंने मिस्रके सिकन्दरिया तटपर हमला कर उसके पुस्तकालयके दस लाखसे अधिक ग्रन्थ जला डाले थे । हुएनसांग (सन् ६४५ ई०में वह भारतसे विदा हुआ था) ने लिखा है कि नालन्दामें अध्यापक तथा छात्र मिलाकर १०,००० लोग रहते थे । उसके अनुसार उसे तथा प्रत्येकको नित्य १२० जम्बीरा (फल) के अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके सिवा बहुत बढिया 'महासाली' चावल तथा चाहे जितना घी भोजनके लिये मिलता था । इसी यात्रीके अनुसार नालन्दामें सुदूर मंगोलियातकके छात्र आते थे और बिना प्रवेश-परीक्षामे सफल हुए कोई भरती नहीं होता था । आवेदकोमेंसे २० प्रतिशतसे अधिक प्रवेश नहीं पाते थे । यह वास्तवमे सुपठित छात्रोंका शोध-संस्थान था जो आजकलके एम्० फिल्० तथा डी० लिट्० कक्षाओके समान था ।

इसी युगमे दूसरा महान् विश्वविद्यालय पूर्वी काठियावाड़मे वलभी नगर (वर्तमान बालाघाट गाँव) मे 'मैत्रेय नरेशो' द्वारा स्थापित था (४७५से ७७५ ई०), जिसमें ६००० छात्र तथा अध्यापक थे । यहाँ भी सैकड़ो छात्र विदेशसे शिक्षा ग्रहण करने आते थे । इसी प्रकार बिहारमे भागलपुर जिलेमे सुलतानगंजके निकट 'विक्रमशिला' विश्वविद्यालय था, जिसमें आजकलके विश्वविद्यालयोके अन्तर्गत 'इंस्टीट्यूट' की तरह छ· कालेज या संस्थान थे, जो एक केन्द्रीय हॉलमे छः फाटकोसे सम्बद्ध थे । इस हालको 'विज्ञान-गृह' कहते थे और छ. कालेजके प्रधानाचार्यको 'द्वार-पण्डित' कहते थे । चौथीसे नवीं शताब्दीतक यह विश्वविद्यालय चलता रहा । इसी प्रकार सन् १०८४ से ११३० ई०तक बंगालके पाल नरेशोद्वारा घोषित 'जगदला' विश्वविद्यालय था, जिसे मुसलिम-आक्रमणमे नष्ट किया गया था । यह सस्था गङ्गा-करतोया नदीके संगमपर नव-स्थापित नगर रामावतीमे स्थापित था । भागीरथी (गङ्गा) तथा जांगली नदीके संगमपर स्थित नवद्वीप (वर्तमान नदिया) मे मुसलिम शासकोके प्रश्रयमे ११९८ से १७५७ तक चलनेवाला विश्वविद्यालय उस समय तर्कशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि कई विद्याओंका केन्द्र था, उसके संस्थापक थे बिहारके मैथिल-तर्कशास्त्र-विद्यालयके स्नातक वासुदेव सार्वभौम (१४५०-१५२५) । इस विश्वविद्यालयके अन्तर्गत शान्तिपुर, गोपालपारा तथा नवद्वीपमे विद्यालय थे ।

ईसासे ३७१ वर्ष पूर्व तामिलनाडुमे मदुराई विद्याका और शिक्षण-संस्थाओका केन्द्र था । प्रसिद्ध तामिल कवि तिरुवल्लियर यहींके छात्र थे, जिन्होने पहली शताब्दीमें लिखा था कि 'केवल पठित लोगोके पास नेत्र हैं । अपठितकी ऑखकी जगह दो छिद्र हैं ।'

प्राचीन पाठ्यक्रम

तक्षशिलाका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । यह ईसासे ५०० वर्ष पूर्व, जब संसारमे चिकित्सा-शास्त्रकी परम्परा भी नही थी, आयुर्वेद-विज्ञानका सबसे बड़ा केन्द्र

था। जातक-कथाओंसे पता चलता है कि वहाँके स्नातक मस्तिष्कके भीतरतक या पेटकी अँतड़ियोंतकका आपरेशन बड़ी सुगमतासे कर लेते थे। ऐसी अद्‌भुत जड़ी-बूटियोंका उन्हें ज्ञान था कि बिना जुलाब दिये ही केवल एक जड़ी सुँघा देनेसे पेट स्वच्छ हो जाता था। विश्वविद्यालय या कालेजकी शिक्षासे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थीं भारतमें प्राचीन विद्वानों तथा पण्डितोंकी निजी, अपने घर चलनेवाली पाठशालाएँ, जिनमें वाराणसीने हजारों वर्षसे विशेषता प्राप्त कर ली थी और देशभरमें विद्वान् पण्डित ऐसे केन्द्र चलाते थे। ऐसी पाठशाला चलानेवाले छात्रोंसे कुछ माँगते नहीं थे। शासक लोग ऐसे विद्वानोके भरण-पोषणके लिये ग्राम दे देते थे, जिसे दक्षिणमें अग्रहार कहते थे। ऐसी पाठशालाओंमें ब्राह्ममुहूर्तमें पाठ आरम्भ होता था। वाराणसीमें ही शिक्षाकी ३२ शाखाओंका वर्णन मिलता है। तक्षशिलामें प्रतिछात्रसे पूरी शिक्षाके लिये १००० मुद्रा पेशगी फीस ली जाती थी, पर जो न दे सके उसे भरती कर लेते थे। शर्त यह थी कि जब वह कमाने लगे, तब फीस अदा कर दे।

'वीरमित्रोदय'के अनुसार जन्मसे यज्ञोपवीततक जो पथ-प्रदर्शन करे वह गुरु है। याज्ञवल्क्यकी स्मृतिके आचाराध्याय (३५)के अनुसार वेदके एक अङ्गको पढ़ानेवाला 'उपाध्याय' है तथा वीरमिताक्षराके अनुसार सम्पूर्ण विद्या देनेवाला 'आचार्य' होता है। तक्षशिलामें कई आचार्य थे। अपने विषयमें पारङ्गत करानेवाला आचार्य था। तक्षशिलामें प्रवेशके लिये वही उम्र थी जो आजकल विश्वविद्यालयोंमें है। याज्ञवल्क्यके अनुसार ब्राह्मण (चूँकि विद्वान् परिवारका है)को यज्ञोपवीतके बाद १६ वर्ष, क्षत्रियको २२ वर्ष तथा वैश्यको २४ वर्षमें शिक्षा पूरी करनी चाहिये। प्राचीन कालके पाठ्यक्रमका वर्णन जातक-कथा 'मिलिन्द पिन्ह'मे मिलता है, जिसके अनुसार निम्नलिखित विषय थे—

(१) चारों वेद, (२) इतिहास (पुराण आदि), (३) शब्द-विज्ञान, (४) छन्दः-शास्त्र, (५) स्वर-विज्ञान-ध्वनि-विज्ञान, (६) काव्य, (७) व्याकरण, (८) शब्दव्युत्पत्ति-विद्या, (९) फलित-ज्योतिष, (१०) गणित-ज्योतिष, (११) छः वेदाङ्ग, (१२) शकुन-विज्ञान, (१३) प्रतीक-शास्त्र, (१४) स्वप्न-विज्ञान, (१५) धूमकेतु तथा उल्का-विज्ञान, (१६) नक्षत्र-विज्ञान, (१७) सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, (१८) गणित, (१९) विवेचन-विद्या, (२०) सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक दर्शन, (२१) संगीत-शास्त्र, (२२) जादूगरी, (२३) पक्षियों तथा जन्तुओंकी भाषा, (२४) चिकित्सा तथा शल्य-विज्ञान, (२५) कला, (२६) साहित्य, (२७) चित्रकला, (२८) युद्ध-विद्या आदि। क्षत्रिय-वर्गको युद्ध-विद्याके सब अङ्ग—जैसे रथ चलाना, घोड़ा-हाथीकी सवारी, अस्त्र-शस्त्रका उपयोग आदि विशेष शिक्षा दी जाती थी। छात्र अपना विशिष्ट विषय चुन लेता था। आजके पाठ्यक्रमसे तुलना करें तो प्राचीन पाठ्यक्रम कहीं अधिक पूर्ण, उपयोगी तथा समीचीन था। ऊपर लिखा पाठ्यक्रम उस युगका था, जिसे ब्राह्मण-युग कहते हैं। समय पाकर इसमें संशोधन तथा परिवर्धन हुआ। चीनी यात्री हुएनसांगने अपने समयका पाठ्यक्रम दिया है, पर उससे भी विस्तृत वर्णन चीनी यात्री इत्सिंगका है, जो सन् ६७२ ई॰में भारत आया था। उसके अनुसार छः वर्षकी आयुसे पढ़ाई आरम्भ होती थी, जिसमें पहली पोथी (प्राइमर) 'सिद्धिरस्तु' में वर्णमालाके ४९ अक्षर ३०० श्लोकोंमें १०,००० रूपमें अक्षरोका प्रयोग था। छः महीनेमें इसे समाप्त कर १००० श्लोकोंमें पाणिनिके सूत्र याद करने पड़ते थे। छात्रकी आयु आठ वर्ष होते ८ महीनेमें इन्हें कण्ठस्थ कर लेना पड़ता था। दस वर्षका होनेपर उसे 'द्रुत' (शब्दोंकी धातु) रटनी पड़ती थी—तीन वर्षमें। १५ वर्षकी आयुमें पाणिनिकी जयादित्य-लिखित १८,००० श्लोकोंकी काशिकावृत्ति पढ़नी आरम्भ करनी पड़ती थी। इसके बाद उसे हेतुवाद (तर्कशास्त्र) तथा अभिधर्मकोष (आन्वीक्षिकी-अध्यात्म-विद्या) पढ़नी पड़ती थी। इतना विषय आजके हाईस्कूलतककी परीक्षाके लिये था।

माध्यमिक शिक्षामें व्याकरण, भाषा-विज्ञान, कला, तर्कशास्त्र, चिकित्सा-विज्ञान, विश्व-विज्ञान आदिमें शिक्षा प्राप्तकर वह उच्चतर शिक्षामें प्रवेश करता था, जिसमें

उसे पहले २४,००० श्लोकोवाली 'चूर्णि'—पतञ्जलिआदि तीन वर्षमें पूरा भर्तृहरिसहस्र (भर्तृहरिकी मृत्यु सन् ६५१ या ६५२मे हुई थी) पूरा कर फिर अपने विशिष्ट विषयमें प्रवेश करना पड़ता था।

आजके युगमे शिक्षाका नवीनतम सिद्धान्त है कि छात्र चाहे जब तैयार हो जाय, परीक्षा दे सकता है। ५००० वर्ष पूर्व भारतमें यही नियम था कि छात्र जब तैयार हो जाय, अपने अध्यापकसे जाकर परीक्षा लेनेका अनुरोध करे और परीक्षा लेकर उसे दीक्षित कर दिया जाय और उसका समावर्तन-संस्कार कर लिया जाय। आजकलकी तरह समावर्तन-संस्कार हजारों लड़कोका एक साथ करना उपहासमात्र है। प्राचीन कालमें भारतमे प्रत्येक छात्रसे जो प्रतिज्ञा करायी जाती थी तथा आशीर्वाद प्राप्त होता था, वह आजकलके बी॰ ए॰ आदिकी डिग्रीवालोको अप्राप्य है। आजकी डिग्रियाँ आक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज कालेजकी नकल मात्र हैं, जिनमे भारतकी आत्मा ही नहीं है।

मुसलिम कालमे भी शिक्षाका अच्छा प्रबन्ध था। ११४ पुस्तकोंके लेखक अलबेरूनी (९७३-१०४८)की 'किताब-अल-हिन्द'से इसका पता चलता है। फीरोजशाहका हौज खास, दिल्लीका मदरसा, बीदरमे मुहम्मद गब्बनका मदरसा, लाहौर तथा जौनपुर (उ॰ प्र॰) के मदरसा नामक विश्वविद्यालय प्रसिद्ध हैं। पर आजकलकी शिक्षाके विषयमे स्व॰ जयप्रकाशनारायणका बम्बईमे १४ दिसम्बर, १९७७का यह संदेश स्पष्ट कहता है—'आजकलकी उच्च शिक्षा उस बहते पानीकी तरह है, जिसमे मैट्रिकुलेशनसे डिग्री तककी पढ़ाई बिना किसी उद्देश्यके की जाती है। डिग्री केवल नौकरी पानेका साधनमात्र है।' कुछ वर्षपूर्व मध्यप्रदेशके रायपुर नगरके राजकुमार कालेजमे दीक्षान्त-भाषण देते हुए श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डितने कहा था—'शिक्षाका उद्देश्य है— मनुष्य बनाना, किंतु वह उद्देश्य पूरा नहीं हो रहा है।'

१८८२के प्रथम शिक्षाकमीशनने, १९४६-४८के सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्-कमीशनने, १९६०-६२मे कोठारी-कमीशनने, किसीने भी भारतकी प्राचीन शिक्षा-प्रणालीका अध्ययन नहीं किया, यद्यपि राधाकृष्णन् तथा कोठारीने भारतीय संस्कृतिके अनुरूप प्राचीन शिक्षा-प्रणालीपर बहुत जोर दिया था। भारत-सरकारकी 'नयी शिक्षा-नीति' बनानेवालोको प्राचीन प्रणालीकी जानकारी भी नहीं प्रतीत होती।

सन् १९०१-२मे समूचे देशमे शिक्षापर सरकारी व्यय ४,०१,२१,४६२ रुपया था। पाँच विश्वविद्यालय, १४५ आर्ट कालेज, ४६ तकनीकी विद्यालय (व्यवसायात्मक), ५०४३९ माध्यमिक विद्यालय, ९७,८५४ प्राइमरी स्कूल तथा १,०८४ स्पेशल स्कूल थे। सरकारद्वारा मान्यता-प्राप्त कुल शिक्षण-संस्थाओकी संख्या १,०४,६२७ थी। १९२१-२२ मे १,६६,१३० हो गयी तथा १६,३२२ निजी स्कूल थे। उस वर्ष कला-संकायोमे (आर्ट-कालेज) ४५, ४१८, १३, ६६२ व्यवसायी-तकनीकी कालेजोमे, ११,०६,८०३ माध्यमिक विद्यालयोमे तथा ६१,०९,७५२ प्राइमरी स्कूलोमे छात्र-संख्या थी। स्पेशल स्कूलोंमें १,२०,९२६ छात्र-छात्राएँ थी। इस प्रकार १९०१-०२ मे कुल छात्र-संख्या ३८,८६,४९३ से बढ़कर १९२१-२२ में ७३,९६,५६० हो गयी।

१९३६-३७मे भारतमे १५ विश्वविद्यालय (छात्र ९,६९७), २७१ आर्ट कालेज (छात्र ८६,२७३), ७५ व्यवसायी कालेज (छात्र २०,६४५), ११,०६,८९३ माध्यमिक विद्यालय (छात्र २२,८७,८७२), १,९२,२४४ प्राइमरी स्कूल (छात्र १,०२,२४,२८८) तथा ५,६४७ स्पेशल स्कूल (२,५९,२६९ छात्र) थे। १९२०-२१ मे शिक्षापर सरकारी व्यय १८,३७,५२,९६९ रुपया था तथा १९३६-३७ मे २८,०५,६९,३७४ रुपया था, इसमे शुल्कसे ७,१०,५५,६९३ रुपया अर्थात् २५.३ प्रतिशत मिला था। पंद्रह वर्ष बाद भारतमे (स्वतन्त्र भारतमे) शिक्षापर कुल सरकारी व्यय १९४८-४९मे ६८ करोड़ ३० लाख रुपया था। सन् १९४७-४८मे १६ विश्वविद्यालय, ५४९ कला-विज्ञान-चिकित्सा तथा तकनीकी विद्यालय, ११,९५३ माध्यमिक तथा १,३४,९०७ प्राइमरी स्कूल और ९,७२४ विशेष स्कूल थे। कुल छात्र-संख्या १,३५,७३,७०४ थी, जिनमे ३० लाख २ हजार माध्यमिक तथा १ करोड़

२१ लाख प्राइमरीमे, ३,४०,६०७ विशेष स्कूलोमे तथा १,९९,५२३ कालेजोमे छात्र थे। कुल छात्र-संख्यामे ६,८७४ गैर-मान्यता-प्राप्त संस्थाओमे २,८५,४३८ छात्र थे।

सरकारी वर्णनके अनुसार १९८४-८५ में ६-११ वर्षकी आयुके ८,३६,७७,००० छात्र-छात्रा पाँचवीं कक्षातक यानी इस आयुकी आबादीका ९५.७३ प्रतिशत होना चाहिये। ११-१४ तक ६-८वी कक्षातक २,७२,३६,००० अर्थात् इस आयुकी आबादीका ५३.२३ प्रतिशत होना चाहिये अर्थात् कुल छात्र-सख्या ११ करोड़ ९ लाख १४ हजार (६-१४ वर्ष) अर्थात् इस आयुका ८०.०४ प्रतिशत होना चाहिये।

१९८२-८३में जबतकके ऑकड़े प्राप्त हैं—१-५वीं कक्षातक शिक्षा प्राप्त करनेवाले ६-११ वर्षकी आयुके बच्चोंका ८७.२ प्रतिशत अर्थात् ७ करोड़ ७० लाख शिक्षा प्राप्त कर रहा था, ५-८ कक्षातक ११-१४ वर्ष (४३.२ प्रतिशत), २ करोड़ २२ लाख, १४-१७ वर्ष (२४.६ प्रतिशत), ९-१२ वीं कक्षातक १ करोड़ १८ लाख तथा केवल ४७.५ लाख १७-२३ वर्षकी आयुके छात्र (लगभग ४.९ प्रतिशत) उच्चतर (कालेज) शिक्षा प्राप्त कर रहा था। १,७३,७९७ प्राइमरी-बेसिक-मिडिल स्कूल, ५२,२७९ माध्यमिक स्कूल, १४१९ अध्यापक ट्रेनिंग कालेज, ८,०११ आर्ट-सांइस कालेज, १३७१ विश्वविद्यालय, १३,८९,३५६ प्राइमरी स्कूल अध्यापक, ८,५६,३८९ मिडिल स्कूल अध्यापक, ९,९३,११५ माध्यमिक शिक्षाके अध्यापक तथा लगभग २,५०,००० कालेज तथा विश्वविद्यालयके अध्यापक थे। ३० अप्रैल, १९८३को ४०३ केन्द्रीय विद्यालय थे, जिनमें २,७७,०१८ छात्र थे। २ करोड़ ९७ लाख लड़कियाँ ६ से ११ वर्षकी आयुकी प्राइमरी शिक्षा तथा ७५ लाख ११-१४ वर्षकी आयुकी ६-८वीं कक्षातककी शिक्षा प्राप्त कर रही थीं। शिक्षापर सरकारी व्यय केन्द्र तथा प्रदेशका मिलाकर लगभग ५ अरब रुपया है। इतना व्यय होनेपर भी अभी देशमे कुल ४६.८९ प्रतिशत पुरुष तथा २४.६२ प्रतिशत स्त्रियाँ ही पठित या शिक्षित हैं।

महाभारतमें युधिष्ठिरने शान्तिपर्वमें भीष्मपितामहसे पूछा था कि 'विद्वान् मूर्खके साथ कैसा व्यवहार करे?' इसपर टीका करते हुए नीलकण्ठने लिखा है कि 'मूर्ख केवल वाचाल है, जो बरसाती मेढककी तरह टर्राया करता है।' आजकी शिक्षा वाचाल बनाती है। कुरल नामक काव्यके लेखक महाकवि तिरुवल्लियारने प्रथम शताब्दीमें लिखा था कि 'प्राप्त करने योग्य ज्ञानको पूरी तरहसे प्राप्त करो। जो ज्ञान प्राप्त किया, उसका अनुकरण करो। यद्यपि तुझे अपने अध्यापकके सामने झुकना पड़े, जैसे भिखारीको दाताके सामने, तथापि ज्ञान प्राप्त करनेके लिये वैसा करो। निम्न कुलमें उत्पन्न विद्वान्की प्रतिष्ठा उच्च कुलमें उत्पन्न मूर्खसे अधिक है।'

आजके अध्यापक तथा छात्र देखे तथा सोचें कि वे इस उपदेशका कितना पालन करते हैं।

उपदेशामृत

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥

(श्रीमद्भा० ५।५।१८)

जो अपने प्रिय सम्बन्धीको भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मृत्युकी फाँसीसे नहीं छुड़ा देता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नही है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है।

भारतके प्राचीन विद्या-केन्द्र और उनकी रूप-रेखा

(डॉ० श्रीरामजी उपाध्याय, एम्० ए०, डी० फिल्०)

सुदूर प्राचीनकालसे लेकर आजतक भारतमे अध्यापन पुण्यका कार्य माना गया है। गृहस्थ ब्राह्मणके पॉच महायज्ञोमे ब्रह्मयज्ञका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्मयज्ञमे विद्यार्थियोंको शिक्षा देना प्रधान है।[१] इस यज्ञका सम्पादन करनेके लिये प्रत्येक विद्वान् गृहस्थके साथ कुछ शिष्योका होना आवश्यक था। इन्हीं शिष्योंमे आचार्यके पुत्र भी होते थे। आचार्यका घर ही विद्यालय था। इस प्रकारके विद्यालयोका प्रचलन वैदिककालमे विशेष रूपसे था।

प्राचीनकालमें विद्यालयोकी स्थिति साधारणत. नगरोसे दूर वनोमें होती थी। कभी-कभी विद्यालयोके आस-पास छोटे गॉव भी बस जाते थे। विद्यालय तो वैदिककालमें वहीं हो सकते थे, जहॉ आचार्यकी गौओको चरनेके लिये घासका विस्तृत भूभाग हो, हवनकी समिधा वनके वृक्षोसे मिल जाती हो और स्नान करनेके लिये निकट ही कोई सरोवर या सरिता हो। तत्कालीन विद्यार्थी-जीवनमे ब्रह्मचर्य और तपका सर्वाधिक महत्त्व था। ब्रह्मचर्य और तपके लिये नगर और ग्रामसे दूर रहना अधिक समीचीन है। उपनिषदोमे ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा देनेवाले ऋषियोकी आवासभूमि अरण्यको ही बताया गया है। इन्हीं ब्रह्मज्ञानियोके समीप तत्कालीन सर्वोच्च ज्ञानके अधिकारी पहुँचते थे। अरण्यमे रहना ब्रह्मचर्यका एक पर्याय समझा जाने लगा था।[२]

महाभारतके अनुसार एक आचार्य भरद्वाजका आश्रम गङ्गाद्वार (हरिद्वार)मे था। इस विद्यालयमे वेद- वेदाङ्गोके साथ अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा भी दी जाती थी। अग्निवेश्य और द्रोणाचार्यको इसी आश्रममे आग्नेयास्त्रकी शिक्षा मिली थी (आदिपर्व १२६ ।३४)। कई राजकुमार भी इस आश्रममे धनुर्वेदकी शिक्षा लेते थे। राजा द्रुपदने इसी आश्रममे द्रोणके साथ धनुर्वेदकी शिक्षा पायी थी। महेन्द्र पर्वतपर परशुरामके आश्रममे भी द्रोणने अध्ययन किया था। परशुरामने प्रयोग, रहस्य और उपसंहार-विधिके साथ सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा द्रोणाचार्यको दी थी।

महर्षि व्यासका आश्रम हिमालय पर्वतपर बदरी-क्षेत्रमे था। आश्रम रमणीय था। इस आश्रममे व्यास वेदाध्यापन करते थे। पर्वतपर अनेक देवर्षि रहा करते थे। इसी आश्रममे सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनि तथा पैल वेद पढ़ते थे। जिस वनमे महर्षि कण्वका आश्रम था, उसकी चारुता मनोहारिणी थी। इसमे सुखप्रद और सुगन्धित शीतल वायुका संचार होता था। वायुमे पुष्परेणु मिश्रित होती थी। ऊँचे वृक्षोकी छाया सुखदायिनी थी। वनके वृक्षोंमें कण्टक नहीं होते थे और वे सदैव फल देते थे। सभी ऋतुओमे वृक्षो और लताओके कुसुमोकी शोभा मनोहारिणी रहती थी। पथिकोके ऊपर वृक्षोकी अनायास पुष्पवृष्टि वायुके संचारके साथ-साथ होती रहती थी।

कण्वके आश्रममे न्याय-तत्त्व, आत्मविज्ञान, मोक्ष-शास्त्र, तर्क, व्याकरण, छन्द, निरुक्त आदि विषयोके प्रसिद्ध आचार्य थे। लोकायतिक भी वहॉ अपना व्याख्यान देते थे। आश्रममें जो यज्ञ होते थे, उनके सभी विधानो और कर्म-कलापोके लिये आचार्य नियत थे।

महर्षि कण्वका आश्रम मालिनी नदीके तटपर था। आश्रम रम्य था, अनेक महर्षि विभिन्न आश्रमोमें आस-पास रहते थे। चारो ओर पुष्पित पादप थे, घास पथिकोके लिये सुखदायिनी थी। पक्षियोका मधुर कलरव होता रहता था। नदीके तटपर ही आश्रम ध्वजाकी भॉति उठा हुआ था। हवनकी अग्नि प्रज्वलित रहती थी, पुण्यात्मक वैदिकमन्त्रोके पाठ हो रहे थे। तपस्वियोंसे आश्रमकी शोभा और अधिक बढ़ गयी थी।

रामायणके अनुसार प्रयागमें (प्रथम) भरद्वाजके रम्य आश्रमके समीप विविध प्रकारके वृक्ष कुसुमित थे, चारों ओर होमका धूम छाया हुआ था। यह आश्रम गङ्गा-यमुनाके

---

१ अध्यापन ब्रह्मयज्ञ.। (मनुस्मृति ३।७०) २ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव। (छान्दोग्योपनिषद् ८।५।३)

संगमके संनिकट था, दोनों नदियोंके मिलनेसे जलके घर्षणकी ध्वनि सुनायी पड़ती थी । विविध प्रकारके सरस वन्य अन्न, मूल और फल वहाँ मिलते थे । मुनियोंके साथ मृग और पक्षी आश्रम-प्रदेशमें निवास करते थे । आचार्य भरद्वाज चारों ओर शिष्योंसे घिरे रहते थे । अध्ययन-अध्यापन और आवासके लिये पर्णशालाएँ बनी थीं ।

दण्डकारण्यमें महर्षि अगस्त्यका आश्रम था । आश्रमके समीप पुष्पित लताओंसे फूले-फले वृक्ष आच्छादित थे । वृक्षोंके पत्ते स्निग्ध थे । इन्हीं लक्षणोंसे ज्ञात हो सकता था कि आश्रम समीप ही है । आश्रमका वन समीपवर्ती होमके धूमसे व्याप्त था । मृगोंका समूह प्रशान्त था, अनेक पक्षियोंका कलरव हो रहा था । आश्रममें आचार्य अगस्त्य शिष्योंसे परिवृत थे ।

अगस्त्यके आश्रममें ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, महेन्द्र, विवस्वान् (सूर्य), सोम, भग, कुवेर, धाता, विधाता, वायु, वरुण, गायत्री, वसुगण, नागराज, गरुड, कार्तिकेय और धर्मके स्थान बने हुए थे ।

तक्षशिलाका महाविद्यालय या विश्वविद्यालय महाभारतकालसे ही सारे उत्तर भारतमें प्रख्यात था । यहींपर आचार्य धौम्यके शिष्य उपमन्यु, आरुणि और वेदने शिक्षा पायी थी । जातक-कथाओंके अनुसार तक्षशिलामें शिक्षा पानेके लिये काशी, राजगृह, पंचाल, मिथिला और उज्जयिनीसे विद्यार्थी जाते थे । गौतमवुद्धके समकालीन वैद्यराज जीवकने तक्षशिलामें सात वर्षोंतक आयुर्वेदकी शिक्षा पायी थी । आचार्य पाणिनि और कौटिल्यको भी सम्भवतः तक्षशिलामें ही शिक्षा मिली थी । सिकन्दरके समयमें तक्षशिला उच्चकोटिके दर्शनके विद्वानोंके लिये प्रसिद्ध थी । तक्षशिलामें वेदोंकी शिक्षा प्रधान रूपसे दी जाती थी, पर साथ ही प्रायः सभी विद्यार्थियोंको कुछ शिल्पोंमें विशेष योग्यता प्राप्त करनी पड़ती थी । विद्यालयमें जिन अठारह शिल्पोंकी शिक्षा दी जाती थी, उनकी गणना इस प्रकार है—चिकित्सा (आयुर्वेद), शल्य, धनुर्वेद, युद्ध-विज्ञान, हस्तिसूत्र, ज्योतिष, व्यापार, कृषि, संगीत, नृत्यकला, चित्रकला, इन्द्रजाल, गुप्तकोशज्ञान, मृगया, अङ्ग-विद्या, पशु-पक्षीकी बोली समझना, निमित्तज्ञान, विषोपचार ।

बौद्धयुगमें नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंकी प्रचुर संख्या थी । नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका परिपालन करनेके लिये वेद और शिल्पमें निष्णात होकर विद्वान् ऋषि प्रव्रज्या लेकर हिमालयपर रहने लगते थे । महर्षियोंके साथ रहनेवाले तपस्वी शिष्योंकी संख्या कभी-कभी पाँच सौ तक जा पहुँचती थी ।

उपर्युक्त युगमें काशी भी भारतीय विद्याओंकी शिक्षाके लिये प्रसिद्ध थी । जातक-कथाओंके अनुसार वोधिसत्वके आचार्य होनेपर उनके पाँच सौ विद्यार्थी थे, जो वैदिक साहित्यका अध्ययन करते थे । बोधिसत्वके विद्यालयमें सौ राज्योंसे आये हुए क्षत्रिय और ब्राह्मणकुमार शिक्षा पाते थे, काशीके समीप परवर्ती कालमें सारनाथमें बौद्ध-दर्शनका महान् विद्यालय प्रतिष्ठित हुआ । इसमे एक हजार पाँच सौ बौद्ध भिक्षु शिक्षा पाते थे ।

गुप्तकालीन विद्यालयोंकी रूप-रेखाकी कल्पना कालिदासकी रचनाओंसे की जा सकती है । कालिदासके अनुसार वसिष्ठका आश्रम हिमालयपर था । निकटवर्ती वनोंमें तपस्वियोंके लिये समिधा, वृक्ष और फल मिलते थे । पर्णशालाओंके द्वारपर नीवारके भाग पानेके लिये मृग खड़े रहते थे । आश्रमके चारों ओर उपवन लगाये गये थे । उपवनके नववृक्षोंके थालोंमें मुनिकन्याएँ जल डालती थीं । पर्णशालाओंके आँगन विस्तृत होते थे, आँगनमें नीवार सूखनेके लिये फैलाया जाता था । धूप चले जानेके पश्चात् नीवारके एकत्र कर लिये जानेपर आँगनमें बैठकर मृग रोमन्थ किया करते थे । आश्रममें अग्निहोत्रका सुगन्धित धूम बहुत ऊँचाईतक उठता था । आश्रममें सोनेके लिये कुशशयन प्रयुक्त होता था । कालिदासकी कल्पनाके अनुसार वरतन्तुके आश्रममें जो वृक्ष लगाये गये थे, उन्हें पुत्रकी भाँति मानकर प्रयत्नपूर्वक बढ़ाया जाता था । श्रान्त पथिक इन्हींके नीचे बैठकर अपनी थकावट मिटाते थे । स्नानके लिये आश्रमसे सम्बद्ध जलाशय होते थे । इस आश्रममें चौदह विद्याएँ पढ़ायी जाती थीं ।

सातवीं शतीकी रचनाओंसे भी विद्यालयोंकी रूप-रेखा प्रायः ऊपर-जैसी ही मिलती है । बाणने कादम्बरीमें महर्षि जाबालिके आश्रमका वर्णन किया है । विद्यालयमें

टुसमूहके अध्ययनसे सारा आश्रम गूँज रहा था। इस आश्रममे सदा पुष्पित और फलवान् वृक्षो और लताओकी मणीयता मनोहारिणी थी। ताल, तमाल, हिन्ताल, बकुल, ारिकेल, सहकार आदिके वृक्ष, एला, पूगी आदिकी तताएँ, लोध, लवली, लवंग आदिके पल्लव, आम्रमञ्जरी था केतकीका पराग, निर्भय मृग, मुनियोके साथ समिधा, कुश, कुसुम, मिट्टी आदि लिये हुए मुखर शिष्य, मयूर, दीर्घिकाएँ, पर्णशालाओके आँगनमे सूखता हुआ श्यामाक, आमलक, लवली, कर्कन्धू, कदली, लकुच, पनस, आम और तालके फलोकी राशि आदि इस विद्यालयके प्राकृतिक सौन्दर्यको बढा रहे थे। आश्रममे ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी पूजा होती थी, यज्ञविद्यापर व्याख्यान होते थे, धर्मशास्त्रकी आलोचना होती थी, पुस्तके पढ़ी जाती थीं, सभी शास्त्रोके अर्थका विचार होता था। कुछ मुनि योगाभ्यास करते थे, समाधि लगाते थे और मन्त्रोकी साधना करते थे। आश्रममे पर्णशालाएँ बनी हुई थीं, सारा आश्रम अतिशय पवित्र और रमणीय था। बाणके शब्दोमे वह दूसरा ब्रह्मलोक ही था।

प्राचीन विद्यालयोकी जो रूप-रेखा ऊपर प्रस्तुत की गयी है, उससे ज्ञात होता है कि सदा ही विद्याओके सर्वोच्च केन्द्र महर्षियोके आश्रम थे। इन आश्रमोंमे सबसे अधिक महिमा तपोमय जीवन बितानेवाले आचार्यके व्यक्तित्वकी थी। आश्रमोमे वैदिक साहित्य, दर्शन और याज्ञिक विधानोकी शिक्षा प्रमुखरूपसे दी जाती थी। आश्रमोसे जो आध्यात्मिक ज्योति दिग्दिगन्तमे परिव्याप्त होती थी, उससे कृतज्ञ होकर सारा राष्ट्र उसके प्रति नतमस्तक था। आश्रमोकी तीर्थरूपमे प्रतिष्ठा रामायण और महाभारतकालसे हुई। उसी समयसे आश्रमो और तीर्थोके लिये 'आयतन'और 'पुण्यायतन' शब्दोंका प्रयोग मिलता है। आयतन और पुण्यायतन 'पवित्र करनेकी शक्ति रखनेवाले स्थान' के अर्थमे प्रयुक्त हुए हैं।

ऋषियो और आचार्योके आश्रमोंकी पुण्यदायिनी शक्तिसे रामायण और महाभारत-कालसे ही लोग प्रभावित रहे हैं। आश्रमोमे यज्ञ होते थे और वहाँ देवताओंकी प्रतिष्ठा की गयी थी। पौराणिक युगमे जब यज्ञोका स्थान बहुत-कुछ देवपूजाने ले लिया, तब देवप्रतिष्ठाकी प्रधानता सर्वमान्य हुई और पूर्वयुगके पुण्यायतन ही आगे चलकर मन्दिररूपमे प्रतिष्ठित हुए। आचार्योके विद्यालय आश्रमके स्थानपर मन्दिर बन गये। उन मन्दिरोकी रूप-रेखा और वातावरण आधुनिक मन्दिरोसे भिन्न थे। उन्हे यदि विद्या-मन्दिर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। मन्दिरोमे पूर्ववर्ती आश्रम-जीवनका आदर्श ही प्रतिष्ठित हुआ था। मन्दिर पौराणिक युगमे धर्मसम्बन्धी अभ्युदयके प्रमुख प्रतीक रहे है। यहीसे धार्मिक भावनाओकी सरिताका सर्वत्र प्रवाह होता था। इस युगमे भारतीय धर्मके उन्नायक मन्दिरोमे प्रतिष्ठित हुए। मन्दिरोमे अध्यापन करना पुण्यावह माना गया।

स्कन्दपुराणके अनुसार सरस्वतीके मन्दिरमे विद्यादान करना पुण्यका काम माना गया। ऐसे मन्दिरोमे धर्मशास्त्रकी पुस्तकोका दान किया जाता था। मन्दिरोको प्राचीन युगके महर्षियो और तपस्वियोका स्मारक कहा जा सकता है।

मन्दिरोमे शिक्षाके ऐतिहासिक उल्लेख दसवीं शतीसे मिलते हैं। बम्बई प्रान्तके बीजापुर जिलेमे सलोत्गीके मन्दिरमें त्रयीपुरुषकी मूर्तिकी स्थापना राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीयके मन्त्री नारायणके द्वारा की गयी थी। इसके प्रधान कक्षमे, जो ९४५ ई॰मे बनवाया गया था, विद्यालयकी प्रतिष्ठा की गयी थी। इस विद्यालयमे अनेक जनपदोसे विद्यार्थी आते थे और उनके रहनेके लिये सत्ताईस छात्रालय बने हुए थे। इस विद्यालयमे लगभग पाँच सौ विद्यार्थी रहे होगे। विद्यालयको सार्वजनिक सहयोगसे तथा विशेष उत्सवोके अवसरपर दान प्राप्त हुआ करता था।

एन्नारियमके वैदिक विद्यालयकी प्रतिष्ठा ११वीं शतीके आरम्भिक भागमे हुई थी। यह दक्षिणी अर्काट प्रदेशमे था। इसमे तीन सौ चालीस विद्यार्थियोके अध्यापनकी व्यवस्था की गयी थी, जिनमेसे ७५ ऋग्वेद, ७५ कृष्णयजुर्वेद, ४० सामवेद, २० शुक्लयजुर्वेद, १० अथर्ववेद, १० बौधायन धर्मसूत्र, ४० रूपावतार, २५ व्याकरण, ३५ प्रभाकर मीमांसा और १० वेदान्त पढ़ते थे। इसमे सोलह अध्यापक थे। इस विद्यालयको आसपासकी ग्रामीण जनता चलाती थी।

चिंगलीपुट जिलेमे तिरुमुक्कुदलके विद्यालयकी स्थापना ११वीं शतीमे वेकटेश्वरके मन्दिरमे हुई थी। इस विद्यालयमे साठ विद्यार्थियोके रहने और भोजनका प्रबन्ध किया गया था, जिनमेसे १० ऋग्वेद, १० यजुर्वेद, २० व्याकरण, १० पञ्चरात्रदर्शन, ३ शैवागमके विद्यार्थी तथा ७ वानप्रस्थ और संन्यासी थे।

तिरुवोर्रियुर और मल्कापुरम्मे उपर्युक्त कोटिके अन्य विद्यामन्दिर थे। इनकी स्थापना १४वीं शतीमें हुई थी। तिरुवोर्रियुरके विद्यामन्दिरमे व्याकरणकी ऊँची शिक्षाका विशेष प्रबन्ध किया गया था। इसमें लगभग पॉच सौ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। मल्कापुरम्के विद्यामन्दिरमें आठ अध्यापक थे। वे वैदिक साहित्य और व्याकरण, साहित्य, तर्कशास्त्र तथा आगमकी शिक्षा देते थे।

११वीं शतीमे हैदराबाद राज्यके नगई नगरमे जो विद्यामन्दिर था, उसमे वेद पढ़नेवाले २००, स्मृति पढ़नेवाले २००, पुराण पढ़नेवाले १०० तथा दर्शन पढ़नेवाले ५२ विद्यार्थी थे। विद्यामन्दिरके पुस्तकालयमे छः अध्यक्ष थे। १०७५ ई०मे बीजापुरके एक मन्दिरमे योगेश्वर नामक आचार्य मीमांसा-दर्शनकी उच्च शिक्षा देते थे। ऐसे ही अनेक विद्यामन्दिर १०वीं शतीसे लेकर १४वी शतीतक बीजापुर जिलेमे मनगोली, कर्नाटक जिलेमें बेलगमवे, शिमोग जिलेमे तालगुण्ड, तंजोर जिलेमे पुन्नवयिल आदि स्थानोमे थे।

विद्वान् ब्राह्मणोंका भरण-पोषण करनेका उत्तरदायित्व प्रायः राजाओपर रहा है। ऐसे ब्राह्मणोके उपभोगके लिये राजा या धनी लोगोंकी ओरसे जो क्षेत्र या अन्न दानरूपमे दे दिया जाता था, उसे 'अग्रहार' कहा जाता था। गुरुकुलोसे लौटे हुए स्नातकोको इस प्रकारके अग्रहार प्रायः मिल जाते थे। ऐसे अग्रहारोका उपभोग करनेवाले ब्राह्मण स्वाध्याय और अध्यापनमे अपना समय निश्चिन्त होकर लगा सकते थे। इस प्रकार अग्रहारोमें विद्यालयकी प्रतिष्ठा होते देर नहीं लगती थी। अग्रहारोकी कोटिकी अन्य संस्थाएँ 'घटिका' और 'ब्रह्मपुरी' रही हैं। इस प्रकारकी संस्थाओकी संख्या दक्षिण-भारतमे बहुत अधिक थी।

अग्रहार-संस्थाका आरम्भ द्वापर युगके बाद हुआ। उस समयतक देशमे जनसंख्या इतनी बढ़ गयी कि आचार्योंको अपने भरण-पोषण तथा विद्यालय चलानेके लिये राजकीय सहायताकी आवश्यकता विशेषरूपसे हो गयी। इसके पहले तो किसी भी व्यक्तिके लिये वनके किसी भूभागको आश्रमरूपमें परिणत कर लेना सरल था। अग्रहार-संस्था इस बातको सूचित करती है कि तत्कालीन आचार्योंमेसे कुछ लोग प्राचीन प्रतिष्ठित तपोमय जीवनकी कठिनाइयोको अपनानेके लिये तैयार नही थे और उन्होंने अपने विद्याभ्यासके लिये वनके स्थानपर नगर या गाँवोंको चुना।

अग्रहारोकी रूप-रेखाका परिचय उनके नीचे लिखे विवरणसे ज्ञात हो सकता है। राष्ट्रकूट राजवंशकी ओरसे १०वीं शतीमें कर्नाटकके धारवाड़ जिलेमे कटिपुर अग्रहार दो सौ ब्राह्मणोके लिये दिया गया था। इसमे वैदिक साहित्य, काव्यशास्त्र, व्याकरण, तर्क, पुराण तथा राजनीतिकी शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियोंके निःशुल्क भोजनका प्रबन्ध अग्रहारकी आयसे होता था। सर्वज्ञपुर अग्रहार मैसूरके हस्सन जिलेमे प्रतिष्ठित था। इस अग्रहारके प्रायः सभी ब्राह्मण सर्वज्ञ ही थे और वे अध्ययन-अध्यापन तथा धार्मिक कृत्योमे तल्लीन रहते थे। मैसूर राज्यमे वनवासीकी राजधानी बेलगॉवसे सम्बद्ध तीन पुर, पॉच मठ, सात ब्रह्मपुरी, बीसो अग्रहार, मन्दिर और जैन एवं बौद्ध बिहार थे। यहॉपर वेद, वेदाङ्ग, सर्वदर्शन, स्मृति, पुराण, काव्य आदिकी शिक्षा दी जाती थी।

अग्रहारकी भॉति 'टोल' नामक शिक्षण-संस्थाका प्रचलन उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगालमे रहा है। यह संस्था नागरिकोकी आर्थिक सहायता और भूदानसे चलती थी। टोल गॉवोसे सम्बद्ध होते थे। गॉवोके पण्डित आस-पासके विद्यार्थियोके लिये भोजन और वस्त्रका प्रबन्ध करते थे और साथ ही विद्यादान देते थे। विद्यार्थियोके लिये छात्रावास विद्यालयके समीप चारो ओर बने होते थे। टोलोका अस्तित्व छोटी पाठशालाओके रूपमे बहुत प्राचीनकालसे रहा है।

गौतमबुद्धके समयसे ही बौद्धदर्शन और धर्मके अध्ययन तथा अध्यापनके लिये भारतके प्रत्येक भागमे

असंख्य विहार बने। विहारोंमें बौद्धदर्शन और धर्मके अतिरिक्त अन्य मतावलम्बियोंके दर्शन तथा धर्मके शिक्षणका प्रबन्ध किया गया था और साथ ही लौकिक उपयोगिताके विषय भी इनमें पढ़ाये जाते थे। ह्वेनसांगके लेखानुसार भारतमें ७वीं शतीमें लगभग पाँच हजार विहार थे और इनमें सब मिलाकर दो लाख भिक्षु शिक्षा पाते थे।

विहारोंमे भिक्षु आजीवन रहते थे और वे अध्ययन-अध्यापन तथा चिन्तन एवं समाधिमें अपना सारा समय लगा देते थे। नालन्दा, वलभी तथा विक्रमशिलाके बौद्ध विश्वविद्यालय सारे एशिया महाद्वीपमें अपनी उच्च शिक्षाके लिये प्रख्यात थे।

शिक्षाके भारतीय मनोवैज्ञानिक आधार

(श्रीलज्जारामजी तोमर)

शिक्षाके क्षेत्रमें भारतीय विचारधारा और संस्कृतिकी विषयवस्तुको सम्मिलित कर देने मात्रसे कोई शिक्षा भारतीय नहीं बन जाती। हमें भारतकी उन मनोवैज्ञानिक पद्धतियोंकी खोज करनी होगी, जो मनुष्यकी उन नैसर्गिक शक्तियो एवं उपकरणोंको सजीव बना देती हैं, जिनके द्वारा वह ज्ञानको आत्मसात् करता है, नवीन सृष्टि करता है तथा मेधा, पौरुष और ऋतम्भरा प्रज्ञाका विकास करता है। उस विपुल बौद्धिकता, आध्यात्मिकता और अतिमानवीय नैतिक शक्तिका रहस्य क्या था, जिसे हम वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, प्राचीन दर्शनशास्त्रोंमे, भारतके सर्वोत्कृष्ट काव्य, कला, शिल्प और स्थापत्यमे स्पन्दित होते हुए देखते हैं? हमें भारतके आदर्शों और उन पद्धतियोंको अधिक प्रभावशाली और आधुनिकतम परिवेशके अनुरूप जीवित करना होगा, जिनके आधारपर विकसित शिक्षा ही भारतीय शिक्षा होगी। प्रस्तुत लेखमें शिक्षाके उन्हीं भारतीय मनोवैज्ञानिक आधारोकी संक्षेपमे चर्चा की जा रही है।

मनुष्यकी आध्यात्मिक मूल प्रकृति

भारतीय मनोवैज्ञानिकके अनुसार मनुष्यकी मूल प्रकृति आध्यात्मिक है। प्रायः मनुष्य अपनी इस आध्यात्मिक प्रकृतिकी ओर सचेतन नही रहता। आत्मा सत्, चित्, आनन्दस्वरूप है। इसी कारण मनुष्यको गहरे आध्यात्मिक स्तरपर परम सत्यकी जिज्ञासा है, जिससे प्रेरित होकर मानव वैज्ञानिक अनुसंधान करता है और सत्यकी अनवरत खोजमे संलग्न है। ज्ञानरूपतामे वह अपनी पूर्णताके दर्शन करना चाहता है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतः सुखकी खोज मनुष्यकी सहज प्रवृत्ति है।

श्रीअरविन्दके अनुसार 'मानवकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें एक ऐसी चेतना विद्यमान है, जिसमें वह अपने सीमित भौतिक अस्तित्वसे ऊपर उठ सकता है। यही विशेषता मनुष्यको पशुसे भिन्न ठहराती है। दूसरे शब्दोमे, मनुष्यमे एक ऐसा आध्यात्मिक तत्त्व विद्यमान है, जो उसके भौतिक, प्राणिक और मानसिक पहलुओंसे ऊँचा है। यही कारण-शरीर है, जो समस्त ज्ञान और आनन्दका वाहक है। यही मनुष्यके भावी विकासका माध्यम है।'

मनुष्यकी इस आध्यात्मिक प्रकृतिके कारण ही उसने कला, संस्कृति, सदाचार और धर्मके रूपमे अपनेको अभिव्यक्त किया है। मनुष्य इस आध्यात्मिक प्रकृतिके कारण अन्य जीवोंसे भिन्न ही नहीं है, अपितु उसमें वह शक्ति भी है जिससे वह अपने वातावरणको बदल सकता है। अन्य जीवोंको विवश होकर भौतिक वातावरणको स्वीकार करके उसीमें पड़ा रहना पडता है। या तो वे अपनेको उसके अनुकूल बना ले या समाप्त हो जायँ। मनुष्यकी यह आध्यात्मिक प्रकृति उसपर ऊपरसे लादी हुई नहीं है, वह तो उसके अस्तित्वका मूल तत्त्व है।

इसीलिये जीवशास्त्रियोंने मनुष्यको जो उच्चतम जीव कहा है, वह अपर्याप्त है । वास्तवमें मनुष्य आध्यात्मिक जीव है ।

आधुनिक शिक्षामें मानवकी इस आध्यात्मिक प्रकृतिकी घोर उपेक्षा की जा रही है । परिणामत. विकासकी असीम सम्भावनाओंसे वह पूर्णतः वञ्चित है तथा जीवनके उच्चस्तरीय आयामोंमें प्रवेश नहीं कर पा रहा है । अतः भारतीय मनोविज्ञानके इस महत्त्वपूर्ण तत्त्वको शिक्षाका आधार बनानेकी आवश्यकता है ।

मनुष्यके अन्तरमें समस्त ज्ञान

समस्त ज्ञान मनुष्यके अन्तरमें स्थित है । भारतीय मनोविज्ञानके अनुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप है । ज्ञान आत्माका प्रकाश है । मनुष्यको बाहरसे ज्ञान प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत आत्माके अनावरणसे ही ज्ञानका प्रकटीकरण होता है । श्रीअरविन्दके शब्दोंमें—'मस्तिष्कको ऐसा कुछ भी नहीं सिखाया जा सकता जो जीवकी आत्मामें सुप्त ज्ञानके रूपमें पहलेसे ही गुप्त न हो ।' स्वामी विवेकानन्दने भी इसी बातको इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—'मनुष्यकी अन्तर्निहित पूर्णताको अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है । ज्ञान मनुष्यमें स्वभाव-सिद्ध है । कोई भी ज्ञान बाहरसे नहीं आता, सब अंदर ही है । हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, यथार्थमें मानवशास्त्र-संगत भाषामें हमें कहना चाहिये कि वह आविष्कार करता है, अनावृत या प्रकट करता है । अतः समस्त ज्ञान, चाहे वह भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक, मनुष्यके आत्मामें है । बहुधा वह प्रकाशित न होकर ढका रहता है और जब आवरण धीरे-धीरे हट जाता है तब हम कहते हैं कि 'हम सीख रहे हैं' । जैसे-जैसे इस अनावरणकी क्रिया बढ़ती जाती है, हमारे ज्ञानकी वृद्धि होती जाती है ।'

जिस मनुष्यपरसे यह आवरण उठता जाता है, वह अन्य व्यक्तियोंकी अपेक्षा अधिक ज्ञानी है और जिसपर यह आवरण तहपर पड़ा रहता है, वह अज्ञानी है । जिसपरसे यह आवरण पूरा हट जाता है, वह सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी हो जाता है । चकमकके टुकड़ेमें अग्निके समान ज्ञान छिपा हुआ है । सुझाव या उद्दीपक कारण ही वह घर्षण है, जो उस ज्ञानाग्निको प्रकाशित कर देता है ।

इस प्रकार शिक्षाका लक्ष्य नये सिरेसे कुछ निर्माण करना नहीं, अपितु मनुष्यमें पहलेसे ही सुप्त शक्तियोंका अनावरण और उसका विकास करना है ।

अन्तःकरणचतुष्टय

ज्ञान-प्रक्रियाको समझनेके लिये अन्तःकरणके स्वरूप और उसकी प्रकृतिको समझना आवश्यक है । वेदान्त-परिभाषामें अन्तःकरणकी वृत्तिके चार प्रकार एवं उनके कार्य इस प्रकार बतलाये गये हैं—

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमन्तरम् ।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥

(१।१७।१)

'अन्तःकरणकी वृत्तिके चार रूप हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त । मनसे वितर्क और संशय होता है । बुद्धि निश्चय करती है । अहंकारसे गर्व अर्थात् अहंभावकी अभिव्यक्ति होती है । चित्तमें स्मरण होता है ।' अन्तःकरणको मन भी कहा गया है तथा योगदर्शनमें चित्त-संज्ञा दी गयी है । अन्तःकरण जड तत्त्व है । आत्माके प्रकाशसे ही अन्तःकरणद्वारा ज्ञान-प्रक्रिया सम्पन्न होती है ।

ज्ञानप्रक्रिया

आत्माके प्रकाशसे अन्तःकरण चतुर्विध ज्ञानको प्राप्त करता है । प्रत्यक्षादि ज्ञान अन्तःकरणकी वृत्तियोंके रूपमें प्रकाशित होते हैं और एकाग्रता आदि उपायोंसे इनकी अवस्थितिका पूर्णबोध सम्पन्न होता है । ज्ञेय वस्तुके साथ तादात्म्यसे जो ज्ञान प्राप्त होता है वही एकमात्र सच्चा और सीधा ज्ञान होता है, शेष सब ज्ञान आनुमानिक होता है ।

एकाग्रता

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये केवल एक ही मार्ग है और वह है 'एकाग्रता' । मनकी एकाग्रता ही सम्पूर्ण शिक्षाका सार है । एकाग्रताकी शक्ति जितनी अधिक होगी, ज्ञानकी प्राप्ति उतनी ही अधिक होगी । एक ही विषयपर ध्यान देनेका नाम है 'एकाग्रता' । मनमें सदैव संकल्प-विकल्प पानीकी लहरोंके समान होते रहते हैं । मन या चित्त अति चञ्चल होता है । निरन्तर बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त होता

रहता है। ऐसा चित्त अशान्त और अस्थिर बना रहता है। चित्तकी इस बिखरी हुई शक्तिसे कोई कार्य सम्पादित नहीं होता। प्राचीन भारतीय दार्शनिकोने चित्तवृत्ति-निरोधको शिक्षाका लक्ष्य माना। वास्तवमे चित्त ही शिक्षाका वाहन है। राजयोगमे धारणा, ध्यान और समाधि एकाग्रताके ही क्रमिक स्तर है। समाधि पूर्ण एकाग्रताकी स्थिति है, जहाँ ज्ञानस्वरूप आत्माका दर्शन होकर विषयका यथार्थ ज्ञान होता है।

एकाग्रावस्थामे चित्त विशुद्ध सत्त्वरूप होता है। इस अवस्थामे चित्त एक ही विषयमे लीन रहता है। निरुद्धावस्थामे चित्तकी समस्त वृत्तियोका निरोध हो जाता है। यह ज्ञानकी पराकाष्ठाकी अवस्था है। इस अवस्थामे ज्ञानके लिये किसी आलम्बनकी आवश्यकता नही होती। इस स्थितिको प्राप्त व्यक्ति सत्यका द्रष्टा बन जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान मनकी इस अवस्थासे पूर्णतः अनभिज्ञ है।

ब्रह्मचर्य

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धतिके मूलमे सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु थी 'ब्रह्मचर्यका अभ्यास'। भारतीय चिन्तनके अनुसार जीवन और प्राणका मूल स्रोत भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है; किंतु जिस आधारशिलापर जीवन-शक्ति क्रियाशील होती है, वह भौतिक है। यूरोपीय जडवादकी मूलभूत भूल यह है कि वह भौतिक आधारको ही सब कुछ मान लेता है और उसे ही शक्तिका मूल स्रोत समझता है। भारतीय चिन्तनमे कारण और आधारका स्पष्ट भेद समझा गया है। भारतीय चिन्तनमे शक्तिका कारण आत्मा और स्थूल या भौतिक तत्त्व उसका आधार माना गया है। श्रीअरविन्दके अनुसार—'भौतिक तत्त्वका आध्यात्मिक सत्तामे' आकर्षण ही ब्रह्मचर्य है।' भारतीय मनोविज्ञानके अनुसार मूलभूत इकाई रेतस् है। मनुष्यके अन्तःस्थित इस रेतस्मे समस्त ऊर्जा विद्यमान है। यह शक्ति या तो स्थूल भौतिक रूपमे व्यय की जा सकती है या सुरक्षित रखी जा सकती है। समस्त मनोविकार, भोगेच्छा और कामना इस शक्तिको स्थूलरूपमे या सूक्ष्मतररूपमे शरीरसे बाहर फेककर नष्ट कर देती है। अनैतिक आचरण उसे स्थूलरूपसे बाहर फेकता है तथा अनैतिक विचार सूक्ष्मरूपमे। अब्रह्मचर्य जैसे शारीरिक होता है, वैसे ही मानसिक और वाचिक भी। दक्ष-संहितामे अब्रह्मचर्यके आठ प्रकार बताये गये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥

स्मरण, चर्चा, क्रीडा, दर्शन, एकान्तमे स्त्रीसे बातचीत करना, भोगेच्छा, सम्भोग-निश्चय और सम्भोग-क्रिया—ये आठ प्रकारके मैथुन हैं, जिनके विपरीत आचरण करना ही ब्रह्मचर्य है।

समस्त आत्मसंयम रेतस्में निहित ऊर्जाकी रक्षा करता है और रक्षाके साथ सदा वृद्धि होती रहती है। भारतीय सिद्धान्तके अनुसार रेतस् जल-तत्त्व है, जो प्रकाश, ऊष्मा और विद्युत्से परिपूर्ण है। रेतस्का संचय सर्वप्रथम ऊष्मा या तपस्मे परिवर्तित होता है, जो सारे शरीरको प्रदीप्त करता है। इसी कारण आत्मसंयमके सभी रूप तपस् या तपस्या कहलाते है। यह तपस् (ऊष्मा) ही समस्त शक्तिशाली कर्म और सिद्धिका मूल स्रोत है। यह रेतम् जलसे तपस्मे, तेजस्मे और विद्युत्मे तथा विद्युत्से ओजमे परिष्कृत होकर शरीरको शारीरिक बल, ऊर्जा और मस्तिष्कको शक्तिसे भर देता है। वह ओजस् ही ऊर्ध्वगामी होकर मस्तिष्कको उस मूल ऊर्जासे अनुप्राणित कर देता है, जो भौतिक तत्त्वका सबसे परिष्कृत रूप है और जो आत्माके सबसे अधिक निकट है। उस ओजस्का ही नाम 'वीर्य' अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान और आध्यात्मिक शक्तिको प्राप्त करता है।

भारतीय शिक्षाका मूल आधार ब्रह्मचर्य-पालन है जो प्रत्येक विद्यार्थीके लिये अपरिहार्य है। प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धतिके अनुसार विद्याध्ययनकाल ही ब्रह्मचर्य-आश्रम कहलाता था। स्वामी विवेकानन्दजीने भी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन आवश्यक बताया है। उन्हींके शब्दोमे—'पूर्ण ब्रह्मचर्यसे प्रबल बौद्धिक और

आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है। वासनाओंको वशमे कर लेनेसे उत्कृष्ट फल प्राप्त होते हैं। काम-शक्तिको आध्यात्मिक शक्तिमें परिणत कर लो। यह शक्ति जितनी प्रबल होगी उससे उतना ही अधिक कार्य कर सकोगे। ब्रह्मचारीके मस्तिष्कमें प्रबल कार्यशक्ति और अमोघ इच्छाशक्ति रहती है। पावित्र्यके बिना आध्यात्मिक शक्ति नहीं आ सकती।'

ज्ञान बौद्धिक प्रक्रिया है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, अहंकार आदि मनके विकारोसे बुद्धि आच्छादित हो जाती है, अर्थात् ज्ञान-शक्तिका नाश हो जाता है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमे आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे विषयोकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढभाव उत्पन्न होता है और अविवेकसे स्मरण-शक्तिका नाश हो जाता है। स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञान-शक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश होनेसे वह पुरुष अपने श्रेय-साधनसे गिर जाता है।'

ज्ञानकी प्रक्रियाकी सफलता-हेतु मनको इन विकारोंसे बचाये रखना परम आवश्यक है। इसीलिये प्राचीन भारतीय शिक्षामें ब्रह्मचर्यका पालन महत्त्वपूर्ण था। ब्रह्मचर्य कोई प्राचीन रूढ़ि नहीं है। यह संयम और साधनाका सनातन मन्त्र है। संयम और साधनाकी पीठिकापर ही ज्ञानकी साधना सम्भव होती है। ये सब अध्यात्मकी अभिव्यक्तिके रूप हैं। शिक्षा, विद्या, साहित्य, विज्ञान, कला आदि क्षेत्रोंमें जिन महान् पुरुषोंने कुछ श्रेष्ठ उपलब्धियाँ की हैं, उन्हें यह सफलता इसी साधनाके आधारपर मिली है।

कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों एवं चिकित्सकोका यह कथन है कि कामप्रवृत्तिके दमनसे अनेक रोगोंकी उत्पत्ति होती है। इनके अनुसार ब्रह्मचर्य शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्यके लिये घातक है; किंतु कुछ विद्वानोंका मत इसके विपरीत है। सत्य तो यह है कि मनपर नियन्त्रण न होनेसे शरीर तथा इन्द्रियोंके व्यवहारको ही केवल नियन्त्रित करनेसे हानि पहुँचनेकी सम्भावना है।

ब्रह्मचर्यका ढोंग और ब्रह्मचर्य दोनोंमें बहुत भेद है। गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि 'जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंका मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।'—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

अत: ब्रह्मचर्य-पालनके लिये मनका नियन्त्रण आवश्यक है। वास्तवमें ब्रह्मचर्य-पालन शारीरिककी अपेक्षा मानसिक अधिक है। इन्द्रियोंपर पूर्ण नियन्त्रण, सात्त्विक विचार और सात्त्विक आहार ब्रह्मचर्य-पालनके अनिवार्य अङ्ग है। संयमसे ही ब्रह्मचर्य-पालन सम्भव है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यसे जीवनमे अदम्य उत्साह, शारीरिक बल, बौद्धिक शक्ति उत्पन्न होती है, जो ज्ञान-प्राप्तिके लिये आवश्यक है। भौतिकतापर आधारित पाश्चात्त्य मनोविज्ञानमें तो ब्रह्मचर्यकी संकल्पना ही नहीं है। भारतीय मनोविज्ञानके अनुसार ज्ञानार्जन एवं बालकके व्यक्तित्वका विकास ब्रह्मचर्य-पालनके बिना आकाश-कुसुमके समान है।

अतः आधुनिक शिक्षा-जगत्के लिये यह विचारणीय विषय है। आज ब्रह्मचर्यके अभावके कारण हमारे देशकी तरुणाई निस्तेज है और दिव्य शक्ति नष्टप्राय हो रही है। क्षात्रतेज एवं ब्रह्मतेजसे ओतप्रोत भारतकी युवाशक्ति जब जाग्रत् होगी, तभी तेजस्वी भारतका निर्माण होगा, जो विश्वका आध्यात्मिक दिशा-निर्देशन करनेमे समर्थ होगा।

संस्कार-सिद्धान्त

भारतीय ऋषियोंने मानवके अवचेतन मनके क्षेत्रका ज्ञान अति प्राचीनकालमें प्राप्त कर लिया था, जिसका पूर्ण ज्ञान पाश्चात्त्य मनोविज्ञानको अभीतक प्राप्त नहीं है। अवचेतन-मनोविज्ञानके द्वारा किये गये अन्वेषणोके बहुत पहले ऋषियोंको यह ज्ञान प्राप्त हो गया था कि मनुष्यकी समस्त क्रियाओ, विचारों तथा उद्वेगो आदिका कारण

उसकी अवचेतन-अवस्थाएँ हैं। भारतीय मनोविज्ञानके अनुसार इस अवचेतनको बनानेवाले घटक 'संस्कार' हैं, जिन्हें अवचेतन मनोविज्ञान ससेचन, कामप्रसुप्ति, अवशेष आदि बातोंसे जानता है। भारतीय मनोविज्ञानमें इन संस्कारोका आधुनिक मनोविज्ञानके समान केवल ज्ञानके लिये अन्वेषण नहीं किया गया; अपितु उनके ऊपर पूर्णरूपसे नियन्त्रण स्थापित करनेकी प्रक्रियाका भी ज्ञान प्राप्त किया गया है।

भारतीय मनोविज्ञानके अनुसार संस्कार-सिद्धान्त शिक्षाका मूलाधार है। संस्कारोंके आधारपर ही शिक्षाके द्वारा बालकका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है। अधिगमकी सम्पूर्ण क्रिया इस संस्कार-सिद्धान्तपर ही आधारित है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकोने चूहो और कुत्तोंपर प्रयोग करके अधिगमके विभिन्न सिद्धान्त निर्धारित किये है। भारतीय मनोविज्ञानमें अधिगमके समस्त सिद्धान्त इन संस्कार-सिद्धान्तोंके आधारपर सहस्रों वर्षपूर्व सफलतापूर्वक प्रयुक्त किये जा चुके हैं।

वास्तवमें शिक्षा संस्कार-प्रक्रिया है। आधुनिक शिक्षा-प्रणालीमे संस्कार-सिद्धान्तकी घोर उपेक्षा की जा रही है। परिणामत· शिक्षा निष्फल हो रही है। अतः शिक्षाका आधार संस्कार-सिद्धान्तको बनानेकी आवश्यकता है। ज्ञानके उपार्जन और बुद्धिके विकासमें ही नहीं, बालकोके नैतिक चरित्र एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्वके निर्माणमें भी संस्कारोंका बहुत महत्त्व होता है। हिंदू-समाजमें सोलह संस्कारोंकी परम्परा मानव-प्रकृतिके सांस्कृतिक उन्नयनकी प्रक्रिया ही थी। समाजमें यह संस्कार-परम्परा भी अब ढीली पड़ती जा रही है। उधर संस्कारोंसे शून्य शिक्षा नयी पीढ़ियोको मन-हीन बना रही है। अतः आज गम्भीर चिन्तन करनेकी एवं वर्तमान स्थितिमे सुधार लाने-हेतु उपाय करनेकी आवश्यकता है। समाज और शिक्षालयोमें नैतिक और सांस्कृतिक संस्कारोका वैभव बढ़नेपर ही स्वतन्त्र भारत एक गौरवशाली राष्ट्र बन सकता है।

योग-विज्ञान

योग-विज्ञानका इतिहास अति प्राचीन है। वैदिक ऋषियोंने ब्रह्मविद्याके साथ ही योगविद्याका आविष्कार किया। कुछ विद्वानोंकी मान्यता है कि वैदिक मन्त्रोकी रचना योगाभ्यासकी उच्चतम भूमिकाओंका ही परिणाम है, जिसे पतञ्जलिने ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा है। मानवका मन जब ब्रह्मरूप ऋतसे संयुक्त हो जाता है, तब ऋतम्भरा प्रज्ञाकी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उसी ऋतम्भरा प्रज्ञाकी स्थितिमें विश्वके जिन सत्योका दर्शन होता है, वे ही वैदिक मन्त्रोंमे प्रकट हुए हैं। योगकी उच्चतम भूमिका समाधि-अवस्था है। उस समाधि-अवस्थामे सत्य-दर्शनकी क्षमता जिन्हें प्राप्त हुई, वे ऋषि थे। अत. ऋषियोको मन्त्रद्रष्टा कहा गया है।

सत्य-दर्शनकी अभिलाषा मानवका सहज धर्म है, भारतीय साधनाके प्रत्येक क्षेत्रमे सत्यकी जिज्ञासा रही है। सत्य ही सर्वसाधनाओंका साध्य रहा है। अतः भारतीय साधनाके प्रत्येक क्षेत्रमें योगका सर्वोच्च स्थान है। अविद्याके प्रभावसे मानवका चित्त स्वभावत· बहिर्मुख है। इस बहिर्मुख चित्तको अन्तर्मुख करनेका प्रयत्न योगका प्राथमिक रूप है। कर्मके मार्गसे हो, चाहे ज्ञानके मार्गसे हो अथवा भक्तिमार्गसे हो या अन्य किसी उपायसे हो, चित्तकी एकाग्रताका सम्पादन साध्यकी प्राप्ति-हेतु आवश्यक है। एकाग्रताकी उच्च अवस्था ही समाधि है। इस समाधि-अवस्थामें ही सत्यके दर्शन होते हैं। यही योगका परम उद्देश्य है।

योग-विज्ञान भारतीय मनोविज्ञानका व्यावहारिक रूप है। इसे शिक्षाका आधार बनाना परमावश्यक है, तभी हमारी शिक्षा सही अर्थोंमें फलदायक होगी। परमेश्वरद्वारा प्रदत्त हमारे इस भौतिक शरीरमे अपार शक्तियाँ विद्यमान हैं, परंतु वे सुप्त पड़ी हुई हैं। आधुनिक मनोविज्ञानका कथन है कि मनुष्यके मस्तिष्कका केवल दसवाँ भाग ही उपयोगमें आता है, शेष भाग सुप्त है। यह सुप्त भाग योगके अभ्यासके द्वारा ही जाग्रत् किया जा सकता है। योगाभ्यासके द्वारा मानसिक शक्तियोंका विकास होता है, यह विज्ञान-सिद्ध है।

आज हम असाधारण अशान्तिके कालमें हैं। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान जीवनके प्रति असंतुष्ट है और

परिस्थितियोंके साथ स्वयंको समायोजित कर पानेमें अक्षम दिखायी देता है। आजका व्यक्ति प्रत्येक क्षण टूटनेके चरम विन्दुपर है। इस परिस्थितिमें उसमे पाशविक आक्रोशका विस्फोट होना स्वाभाविक है। हमारा युवा छात्र-वर्ग भी इसका अपवाद नहीं है।

हम इस समस्याकी गहराईमें पहुँचनेका प्रयास ही नहीं करते और सरलतासे इस प्रश्नको देशकी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओंसे जोड़ देते है। कुछ हमारी शिक्षा-पद्धतिको दोष देते हैं। शिक्षामे सुधारके प्रयास भी हुए, परतु समस्याका समाधान वाह्य परिवेशमे परिवर्तन लानेमें खोजते हैं। परिणामत· सभी प्रयास विफल होते जा रहे हैं।

वास्तवमें आजकी यह समस्या शारीरिकके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जव मनुष्यका नाड़ी-केन्द्र, जिसपर उसका व्यवहार निर्भर रहता है, विशेष उत्तेजित हो जाता है, उस समय वह अपनी विवेक-शक्तिको खो देता है। इस अवस्थामें कोई भी वौद्धिक तर्क या उपदेश उसके व्यवहारमें परिवर्तन नहीं ला सकते। हमारी प्राचीन योगविद्याकी पद्धति ही इसका एक सही समाधान है। आसन, प्राणायाम एवं ध्यानके अभ्याससे उत्तेजित नाड़ी-केन्द्र संतुलित एवं शान्त हो जाते हैं एवं विक्षिप्त अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ नियमित स्राव करती हैं। इनके अभ्याससे स्वत· गम्भीरता उत्पन्न होती है। योगसे व्यक्तिके सात्त्विक आचार-विचार बनते हैं। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षाशास्त्री इस सनातन भारतीय विद्याका अध्ययन करें एवं योगको शिक्षा-पद्धतिका आधार वनायें।

निष्कर्ष यह है कि शिक्षा ज्ञानकी साधना है। ज्ञान आत्माका प्रकाश है। मनुष्यको ज्ञान वाहरसे प्राप्त नहीं होता, अपितु आत्माके अनावरणसे ही ज्ञानका प्रकटीकरण होता है। वास्तवमें मनुष्यकी इस अन्तर्निहित ज्ञान-शक्तिको अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। इस ज्ञानकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग एकाग्रता है। चित्तकी एकाग्रता ही शिक्षाका सार है। चित्त ही शिक्षाका वाहन है। चित्तकी एकाग्र-अवस्थामें ही आत्माके प्रकाशसे विपयका यथार्थ ज्ञान होता है। भारतीय चिन्तनमें चित्तवृत्ति-निरोधको ही शिक्षाका लक्ष्य माना है। चित्तकी वृत्तियोंका निरोध ही योग है। वास्तवमे योग-साधना शिक्षाकी प्रणाली है। योग-आधारित शिक्षा ही यथार्थमें शिक्षा है।

मराठी संतोंकी शिक्षा-प्रणाली

(डॉ॰ श्रीभीमाशंकर देशपाण्डे, एम्॰ए॰, पी-एच्॰ डी॰, एल्-एल्॰बी॰)

सभी वैदिक पन्थोंका उद्गम वेदोंसे है। ऋग्वेदवर्णित देवता ऋतकी अभिव्यक्ति करनेवाले तथा ऋतका संरक्षण एवं संवर्धन करनेवाले हैं। आद्य आचार्यो और मराठी संतजनों—मुकुन्दराज, ज्ञानेश्वर, नामदेव, दासोपंत, तुकाराम, एकनाथ, समर्थ रामदास आदिकी समग्र कृतियोंमें ऋतका दर्शन होता है। उनकी शिक्षा महत्त्वपूर्ण है। मराठी संतोंने ऋत-परम्पराका संरक्षण और संवर्धन किया है।

महाराष्ट्रके भागवत-धर्मका कार्य विशिष्ट दृष्टिसे ज्ञानेश्वर महाराजने किया। भागवत-धर्मका पुनरुज्जीवन और संघटन एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। ज्ञानेश्वर नाथपन्थी थे। शिवोपासक होते हुए भी इन्होंने विष्णुस्वरूप विट्ठलकी उपासनाको महत्त्व दिया। उनके गुरु निवृत्तिनाथजीने अपनी अभङ्ग-रचनामें विट्ठल-भक्तिका वर्णन किया है। विट्ठलमें ही सर्वदेवताओंका रूप इन संतोको दिखायी दिया। महाभारतमें वर्णित शिव-विष्णुका ऐक्य इन संतोंकी अभङ्ग-वाणीमें है। पंढरपुरके विट्ठलदेव अपने मस्तकपर शिवलिङ्ग धारण किये हैं और भगवान् शंकर रात-दिन श्रीरामनामका जप करते हैं, ऐसा निवृत्तिनाथ कहते हैं। एकनाथजीकी गुरुपरम्परा जनार्दनस्वामी और भगवान् दत्तात्रेयकी है, परंतु वे पंढरपुरके विट्ठलके विषयमें ही

शिष्योंको उपदेश करते हैं। संत जनार्दनस्वामीके इस उपदेशसे यह ज्ञात होता है कि भागवत-धर्ममे पन्थ अनेक होते हुए भी धर्म एक ही है। वह पंढरीका भागवत-धर्म है। महाराष्ट्रमे ज्ञानेश्वर महाराजद्वारा प्रवर्तित किये गये भागवत-धर्मका प्रसार नामदेवजीने किया। महाराष्ट्रके बाहर पंजाबमे भी उन्होंने विठ्ठल-भक्तिका ध्वज फहराया। संस्कृत-भाषाकी अध्यात्म-विद्या ज्ञानेश्वरजीने मराठी-भाषामे सुलभ करायी। ज्ञानेश्वरके तत्त्वज्ञानको नामदेवजीने सरल और प्रिय बनाया। नामदेवजीने भक्तिभावसे 'नाम'को ही देवताकी प्रतिष्ठा प्राप्त करा दी। पंढरीके धर्मकी प्रतिष्ठा बढ़ायी। हरिकथा, नामस्मरण, विठोबाकी भक्ति— भक्तोका आचार बना, परतु केवल भजनको भक्ति नहीं कहा जाता। ज्ञानेश्वर भक्तियोग बताते हुए कहते है—*'जे जे भेटे भूत त्या त्या मानी भगवंत।'* जो भूतमात्र मिले उनमे भगवान्‌का रूप देखना आवश्यक है। सर्वभूतात्मभाव ही नामदेवजीकी दृष्टिसे श्रेष्ठ भक्ति है। इस भक्तिको अद्वैतका अनुपम साधन माना गया है।

अद्वैत-प्रतीतिको महाराष्ट्रके संतोने भावगम्य-स्वरूप दिया है। संतोके अनुभवमे विश्वको मिथ्या कहकर उपेक्षा नहीं की गयी है। निवृत्तिनाथजीद्वारा जगाये और ज्ञानेश्वरजी द्वारा बोये तथा नामदेवजीद्वारा बढ़ाये गये पंढरीके धर्मका तत्त्वज्ञान ज्ञान-भक्ति-कर्मसमुच्चयात्मक है।

मराठी भाषाके आद्य ग्रन्थकार मुकुन्दराज है। उनकी रचना 'विवेक-सिंधु' आचार्य शंकरके 'विवेकचूडामणि'-का भाष्य है। इसका प्रभाव उत्तरकालमे अनेक संतोकी रचनापर है। सत एकनाथजीका कार्य महाराष्ट्रमे अग्रसर है। उन्होने विजयनगर-साम्राज्यका पतन स्वयं देखा था। समाजके संकटकालमे उन्होने यथायोग्य उपदेश किया। सत्य-धर्मका अज्ञान ही सर्वनाशका मूल होता है। वे परम भागवत थे। भागवत-धर्मको उन्होने अपने आचरणसे साकार किया। परब्रह्मकी प्राप्तिके लिये योगिजन कष्ट उठाते हैं, वह सामान्य लोगोके लिये कष्टप्रद नहीं—यह विश्वास उन्होने जगाया। उन्होंने नरदेहका श्रेष्ठत्व इस प्रकार बताया कि 'देह नाशवान् है'— ऐसा समझकर शोक करना सार्थक नहीं है। पुण्यकार्यसे उसे जोड़ना ही जीवनको सार्थक करनेका मार्ग है। नरदेह मिलना तो बड़े सौभाग्यकी बात है। देवता भी इस नरदेहकी इच्छा करते हैं। देहके लाभसे ही परमेश्वरकी प्राप्ति होती है। देहको बुरा समझकर त्याग करनेसे मोक्ष-सुखसे वञ्चित होना पड़ता है। सुन्दर समझकर इसे अपनाते रहे तो नरककी साधना होती है। नरदेह पुरुषोत्तमका गृहस्थाश्रम है। जीवन सार्थक बनानेके लिये परमार्थ करना चाहिये, परंतु इसके लिये प्रपञ्च छोडनेकी आवश्यकता नही। प्रपञ्च और परमार्थ—ये परस्परविरोधी नहीं हैं। प्रपञ्च और परमार्थका यथार्थ ज्ञान होनेसे प्रपञ्च ही परमार्थ-रूप धारण कर लेता है।'

नाथजी अपनी दस वर्षकी आयुमे ही आत्मोद्धारकी लालसासे गुरुके पास दौलताबाद दुर्ग गये। उनके गुरु जनार्दनस्वामी देशपाण्डे दुर्गके सरदार थे। वे उनकी दीर्घकालतक मनोभावसे सेवा करते रहे। उन्होने उन्हे भगवान् दत्तात्रेयका अनुग्रह-बोध कराया। एक समय नाथजी रातभर हिसाब जोडते रहे। जब उन्हें रातभर बैठनेके बाद एक पैसेकी गलती मालूम हुई तो वे बडे हर्षित होकर गुरुके पास गये। गुरुने बताया कि इतनी लगन यदि उस परमेश्वरके विषयमे रहती तो जीवन सार्थक हो जाता। इस प्रसंगसे नाथजीका जीवन ही बदल गया।

कविवर दासोपंतके घरानेमे दत्त-भक्ति थी। यवन-राजाने धर्म-परिवर्तन करानेका संकल्प किया था। इस संकटसे भगवान् दत्तात्रेयने उन्हे छुड़ाया। उन्होने बीदर बादशाहकी सेवा ठुकरायी। उनकी रचना विपुल और विविध है। उनके शुद्धाद्वैत-तत्त्वके ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। उनका 'ग्रन्थराज' ग्रन्थ उल्लेखनीय है। उनकी प्रकृष्ट रचनाके कारण उन्हे मराठी-भाषाका कुबेर कहा जाता है। उन्हीके 'ग्रन्थराज'की प्रेरणासे एक सौ वर्ष बाद समर्थ रामदासजीने 'दासबोध' ग्रन्थकी रचना की। दासोपंत और उनके 'ग्रन्थराज'को रामदास और उनके 'दासबोध'का पूर्वावतार कहते हैं।

समर्थ रामदासजीका कार्य उच्चतम है। उनकी

राजनीतिक शिक्षा और व्यवहार-निरूपण अन्य संतोकी तुलनामे विशिष्ट है । गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक छत्रपति शिवाजी महाराजको आशीर्वाद प्रदान करके स्वराज्य-संस्थापनमें उन्होने भारी हाथ बॅटाया । छत्रपति शिवाजी महाराज और समर्थ रामदासजीके मिलनका और शिवाजीपर अनुग्रह होनेका प्रसंग बड़ा रोचक है । शिगणापुर-विभागमे रामदासजी एक अश्वत्थ-वृक्षके नीचे ध्यानमग्न थे । शिवाजी महाराज वहॉ आये और उन्हे प्रणाम करके उनके अनुग्रहकी याचना की । समर्थने उन्हे स्नान करके पवित्र होकर आनेकी आज्ञा दी । अनुग्रह करते हुए रामदासजीने दो मुट्ठी मिट्टी, तीन मुट्ठी ककड और चार मुट्ठी घोड़ेकी लीद पल्लेमे डाली । अन्य लोगोको इसका अर्थ मालूम नही हो सका, परंतु शिवाजी महाराज बड़े ज्ञानी थे । उन्होने जान लिया कि गुरुदेवके इस प्रसादसे जमीन—भूभाग, किले और घोड़ोकी सम्पत्ति विपुलतासे प्राप्त होनेवाली है ।

रामदासजीका 'दासबोध' ग्रन्थ एक अत्युत्कृष्ट धर्मकोश है । इस ग्रन्थमे अध्यात्म-ज्ञानके साथ समाज, धर्म और राजनीतिक व्यवहारका सुन्दर और अपूर्व विवेचन प्राप्त होता है । आसेतु-हिमाचल यात्रा करते हुए उन्होने स्वयं सब अनुभव किया और समाजको यथायोग्य शिक्षा देनेका प्रयास किया । प्रयत्न, प्रत्यय और प्रचितीको उन्होने विशेष महत्त्व दिया । वे बडे आचार्य थे ।

रामदासके समकालीन संत तुकाराम महाराज अपनी विपुल रचनासे महाराष्ट्रमें प्रसिद्ध हैं । उनकी अभङ्ग-वाणी अद्वितीय मानी जाती है । इनकी गुरुपरम्परा महाराष्ट्रके चैतन्य-सम्प्रदायके राघवचैतन्य, केशवचैतन्य और बाबाजीकी है । यह चैतन्य-सम्प्रदाय वंगदेशीय चैतन्य-सम्प्रदायसे भिन्न है । यह अद्वैतमतपर आधारित है । तुकारामकी शिक्षासे पूरा महाराष्ट्र प्रभावित है । महाराष्ट्र-भागवत-धर्म-मन्दिरकी नींव ज्ञानेश्वरजीने डाली तो इस मन्दिरका शिखरारोहण करनेका कार्य तुकारामजीका माना जाता है । सरल और भावपूर्ण शब्दोंमे उनकी रचना जन-सामान्यको आकृष्ट करनेमें समर्थ है ।

महाराष्ट्रके इन उपरिनिर्दिष्ट संतोंमे एकनाथ, दासोपंत, तुकाराम और रामदासकी हिंदी-रचना भी है । इनका उपदेश और महत्त्वपूर्ण शिक्षा अद्वैत-तत्त्वज्ञानकी ही है । ज्ञानदेवकी परम्परा नाथपन्थसे सम्बन्धित है ।

'अद्वैत' केवल अध्यात्मकी अथवा पारलौकिक जीवनकी परिभाषा नही, अपितु इस जगत्की भाषा है । भाव और स्वार्थवृत्तिका संकोच द्वैतमूलक है । 'मानव' एक है और वही परमेश्वरका अवतार है तथा मानवमात्रका कल्याण ही आत्मकल्याण है—यह व्यापक निष्ठा संतोंकी थी । अध्यात्मवादी विश्वके विषयमे उदास रहते हैं, यह कल्पना भ्रामक है । मराठी संतोकी ऐसी धारणा उनकी शिक्षासे ज्ञात होती है । महाराष्ट्रके इन प्रसिद्ध संतोंकी परम्परामे उनके उपदेश और शिक्षा-ग्रन्थोका स्थान उच्चतम है । मराठी संतोकी शिक्षा-प्रणालीका यह परामर्श भारतीय संस्कृतिके इतिहासमे महाराष्ट्रका यथायोग्य स्थान बतलानेका साक्ष्यभूत होगा ।

मानवका कर्तव्य

शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ३ । २४)

मिट्टी, जल आदिसे बाह्य शरीरकी पवित्रता, छल-कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, अपने धर्मका अनुष्ठान, सहनशक्ति, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वोमे हर्ष-विषादसे रहित होना सीखना चाहिये ।

चरित्र-निर्माणकी प्रथम एवं प्रधान शिल्पी—माता

(श्रीचतुर्भुजजी तोषणीवाल, बी॰ एस्-सी॰(आनर्स))

भारतीय संस्कृतिमें चरित्रको सर्वोच्च महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बालकके चरित्र-निर्माणमें माता, पिता, गुरु, शिक्षक, मित्रमण्डली, पढ़ी जानेवाली पुस्तके, पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश आदि सभीका न्यूनाधिक प्रभाव पड़ता है। गर्भाधानसे ही मनुष्यके चरित्र-निर्माणकी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। हमारी संस्कृतिमे ऐसी व्यवस्था की गयी है कि यदि पथ-प्रदर्शक माता, पिता, गुरु, आचार्य उच्चकोटिके चरित्रवान् मिल जायँ तो मनुष्य अपना चरम उत्कर्ष-साधन कर सकता है। इनमेंसे भी चरित्र-निर्माणमे माताकी भूमिका भित्ति-स्थानीय है और चरित्रपर माताके शील, व्यवहार एव शिक्षाकी अमिट छाप पड़ना अनिवार्य है।

हमारे दैशिक शास्त्रमे विस्तारसे चर्चित इस विषयपर निम्न निष्कर्ष प्रतिपादित हुए हैं—

१. साधुओका परित्राण, दुष्टोका विनाश एवं धर्म-संस्थापन करनेवाले श्रेष्ठ वीर पुरुष तभी उत्पन्न होगे जब पिताके ब्रह्मचर्यके साथ माताके पतिदेवत्वका संयोग होगा।

२. प्रथमतः माता-पिताके तीव्र संस्कार अपत्यको दाय-रूपमे प्राप्त होते हैं। द्वितीयतः गर्भमे जैसे संनिकर्ष होते हैं, वैसी ही जीवकी प्रवृत्ति बन जाती है। तृतीयतः रजस्वला होनेके पश्चात् प्रायः एक पक्षतक गर्भाधान हुआ करता है। आधिजनिक शास्त्रके अनुसार इन तीनो बातोको एकत्र करनेसे यह सिद्धान्त प्रतिपादित होता है कि रजस्वला होनेके पश्चात् प्राय. एक पक्षतक स्त्रीके चित्तमे जैसे संस्कार होते है, जैसे उसके आचार-विचार और आहार-विहार रहते हैं, जैसी उसके गर्भाशयकी अवस्था होती है, गर्भस्थ जीवमे वैसे ही गुण होते है। अतः इस शास्त्रमे ऋतुमती स्त्रीके लिये विशेष प्रकारकी चर्या, विशेष प्रकारकी ओषधियाँ और विशेष प्रकारका भोजन कहा गया है। तदनन्तर गर्भधारणके दिनसे प्रसव होनेतक गर्भवती स्त्रीके लिये भिन्न-भिन्न मासोमे भिन्न-भिन्न विधिसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी ओषधियाँ और विशेष प्रकारका भोजन बताया गया है। इनका कुछ उल्लेख हमारे वैद्यक शास्त्र और संस्कार-विधिमे पाया जाता है। आधुनिक जीवशास्त्रका भी यह मत रहा है कि जीवकी अनेक प्रवृत्तियाँ उसके गर्भावस्थासे ही बन जाती हैं।

अतः वीर एवं सच्चरित्र बालकके प्राप्त्यर्थ माताके लिये गर्भावस्थामे अपने आचार-विचार, व्यवहार, भोजन, वेशभूषा, स्वाध्याय प्रभृति पूर्णत. सात्त्विक एवं शुद्ध रखना आवश्यक है। ऐसा कुछ भी नहीं होना चाहिये जिससे सात्त्विक संनिकर्षोंकी हानि होकर राजसिक या तामसिक संनिकर्ष प्रबल हो जायँ। वेशभूषा, भोजन, मनोरञ्जनके साधन आदि सभीका सात्त्विक रहना आवश्यक है।

३. शिशु तो कच्ची गीली मिट्टी-सरीखा होता है। उसे माता चाहे जैसा ढाल सकती है। शैशवमे शिशुके मन, बुद्धि और शरीरका तीव्र गतिसे विकास होता है और चूँकि उसका अधिकतर समय माँके साहचर्यमे ही व्यतीत होता है, इसलिये शैशवावस्थामे माँकी दैनन्दिन चर्या—भोजन, व्यवहार, परिधान, स्वाध्याय आदिका शिशुके अत्यन्त कोमल चित्तपर अमिट प्रभाव पड़ता है। बालकको श्रेष्ठ चरित्रसम्पन्न बनाने-हेतु उसे उत्तम आध्यापनिक संनिकर्ष भी मिलना चाहिये जो कि बाल्यावस्थामें प्रायः माँसे ही प्राप्त होता है। अध्यापनका अर्थ है उन्नतिके मार्गमें ले जाना अर्थात् धर्मको समझने एवं पालन करनेकी शक्ति उत्पन्न करना, न कि केवल अक्षर-ज्ञान। मात्र पढ़ने-लिखनेसे किसीमे धर्मपालन करनेकी शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती, न किसीकी मूर्खता अथवा धूर्तता कम हो सकती है। इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें बाल्यकालकी शिक्षाके लिये कुछ नियम बताये गये हैं, जैसे—(क) सात्त्विक आहार, (ख) अनामय, (ग) ब्रह्मचर्य, (घ) प्रेमाचरण, (च) क्रीडा, (छ) बुद्धि-उद्बोधन, (ज) शीलोत्पादन, (झ) आदर्श जनन और (ट) औदार्य शिक्षा।

उपर्युक्त नियमोंमेंसे अधिकाशका पालन बाल्यावस्थामें माताद्वारा ही कराया जाना श्रेयस्कर और सुगम भी है। आहार और स्वास्थ्यका ध्यान तो माताको रखना ही है।

उचित कार्य करवाने-हेतु माताको बालकपर ताडनाका प्रयोग नहीं करना चाहिये; प्रत्युत अत्यन्त प्रेमसे उसे समझाकर वही कार्य करवाना चाहिये । बाल्यकालके खेलोंसे ही यौवनके चरित्रका सूत्रपात हो जाता है, अत. बालकको ऐसे खेलोमे लगाना चाहिये जिससे उसका शरीर और बुद्धि तुल्यरूपसे समृद्ध होती रहे और साथ-ही-साथ कल्पनाशक्ति या सहृदयताका भी आविर्भाव होता रहे । शैशवसे ही धर्मात्मा महापुरुषोंके चित्र दिखाकर और उनकी कथा सुनाकर बालकका आदर्श उच्च बना देना चाहिये । उसके सामने किसी आसुरी सम्पद्-विशिष्ट नीच गुणवाले व्यक्तिकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, चाहे वह व्यक्ति कैसा ही धनवान् और उच्चपदस्थ क्यो न हो । ऐसा सतर्क रहना चाहिये जिससे बालक नीच-संस्कारयुक्त या ऐश्वर्यमदोन्मत्त व्यक्तियोके सम्पर्कमें न आ सके । बालकमे औदार्य गुणकी प्रवृत्ति-हेतु माँ अपने आचरणसे बच्चेको स्वार्थ-त्यागका अनुशीलन कराये ।

यदि उपर्युक्त शास्त्रीय दिशा-दर्शनपर पूर्ण ध्यान दिया जाय तो बालक सच्चरित्र होगे ही । महाभारत और पुराण ऐसे महापुरुषोके उपाख्यानोसे भरे पडे हैं । वर्तमान युगमें भी ऐसे महापुरुषोके असंख्य उदाहरण हैं । ऐसे कुछ महापुरुषोका वर्णन यहाँ अप्रासगिक न होगा ।

१ .महाभागवत प्रह्लादका जन्म दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधूके गर्भसे होना था । इन्हे गर्भावस्थामे ही उत्तम सत्सङ्ग एवं ज्ञानोपदेश प्राप्त हो, इस हेतु श्रीभगवान्ने एक विचित्र घटनाचक्र चलाया । देवराज इन्द्रने हिरण्यकशिपुकी अनुपस्थितिमें दैत्योंपर प्रचण्ड आक्रमण कर दिया और गर्भवती राजमहिषी कयाधूको बंदी बनाकर वे उसे इस उद्देश्यसे ले चले कि बालक उत्पन्न होनेपर उसकी हत्या करके निर्भय हो जाऊँ । भगवदिच्छासे देवर्षि नारद इन्द्रको समझाकर कयाधूको अपने आश्रममे ले आये, जिससे गर्भावस्थामें ही प्रह्लाद एवं उनकी माँको उत्तम सत्सङ्ग प्राप्त हुआ । प्रह्लादजीके मुखसे ही इसका सुन्दर वर्णन सुनिये—

ऋषिं पर्यचरत् तत्र भक्त्या परमया सती ।
अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य क्षेमायेच्छाप्रसूतये ॥
ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः ।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम् ॥

(श्रीमद्भागवत ७ । ७ । १४-१५)

यहाँ दैत्यपत्नी कयाधूकी इस समयकी उच्च आध्यात्मिक स्थिति विशेष ध्यान देनेयोग्य है । अपनी संतानकी कल्याणकामनासे दैत्य-पत्नीद्वारा देवर्षिकी परम भक्तिपूर्वक सेवा-शुश्रूषा तथा दैत्याद्वारा भी देवर्षिसे भागवत-धर्मका गूढ रहस्य-श्रवण और विशुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति आश्चर्यजनक नहीं लगता क्या ? किंतु प्रह्लादको तो जन्मसे ही महाभागवत जो बनाना था ।

२ . दितिने काम-पीड़ित होकर देवताओंकी अवहेलना करते हुए हठपूर्वक प्रजापति कश्यपद्वारा अनुचित वेलामें गर्भ धारण किया, जिसका फल यह हुआ कि उसे दो अधम और अमङ्गलमय पुत्र प्राप्त हुए—हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु । उसी दितिने जब दुबारा एक वर्षतक कठोर पुंसवन-व्रतका पालन करते हुए गर्भ धारण किया तो एक नियममें, एक दिन त्रुटि हो जानेपर भी उसे महाप्रतापी मरुद्गण पुत्र-रूपमे प्राप्त हुए । उत्तम सतानकी प्राप्ति-हेतु गर्भिणी माताद्वारा पालनीय व्रतके नियमोंका प्रजापति कश्यपजीने क्या ही सुन्दर वर्णन किया है—

'किसी भी प्राणीको मनसा वाचा कर्मणा सताये नहीं, किसीको शाप या गाली न दे, झूठ न बोले, शरीरके नख एवं रोएँ न काटे, किसी अशुभ वस्तुका स्पर्श न करे । जलमें घुसकर स्नान न करे. दुर्जनोंसे बातचीत न करे, बिना धुला वस्त्र न पहने और किसीकी पहनी हुई माला न पहने । जूठा न खाय, मांसयुक्त अन्नका भोजन न करे, शूद्रका लाया हुआ और रजस्वलाका देखा हुआ अन्न न खाय, अजलिसे पानी न पिये । जूठे मुँह बिना आचमन किये, खुले बालोंसहित, बिना शृंगारके, वाणीका संयम किये बिना, चद्दर ओढ़े बिना घरसे बाहर न निकले, बिना पैर धोये, अपवित्र अवस्थामे, गीले पैरोसे, उत्तर या पश्चिमको सिरहाना करके, दूसरेके साथ, नग्नावस्थामे तथा सुबह-शाम नही सोना चाहिये । उपर्युक्त निषिद्ध कर्मोका त्याग करके सर्वदा पवित्र रहे, धुला वस्त्र धारण करे और सभी सौभाग्यके चिह्नोसे सुसज्जित रहे । प्रात·काल

कलेवा करनेके पहले ही गाय, ब्राह्मण, लक्ष्मीजी और भगवान् नारायणकी पूजा करे। इसके बाद पुष्पमाला, चन्दनादि सुगन्ध-द्रव्य, नैवेद्य और आभूषणादिसे सुहागिन स्त्रियोंकी पूजा करे तथा पतिकी पूजा करके उसकी सेवामें संलग्न रहे। यह भावना बनाये रखे कि पतिका तेज मेरी कोखमे स्थित है' (श्रीमद्भा० ६।१८।४७ से ५३)।

भिन्न परिस्थितियोमें जन्मनेवाले एक ही माता-पिताके पुत्रोंमें आकाश-पाताल-जैसा अन्तर होता है।

३. देवमाता अदितिने पयोव्रतका पूर्ण विधिके साथ अनुष्ठान किया तो स्वयं भगवान् ही वामन-रूपसे पुत्र-रूपमे प्राप्त हुए। व्रतानुष्ठानके समय माता अदितिके संयमित जीवनचर्याका क्या ही सुन्दर वर्णन है—

चिन्तयन्त्येकया बुद्ध्या महापुरुषमीश्वरम्।
प्रगृह्येन्द्रियदुष्टाश्वान् मनसा बुद्धिसारथिः॥
मनश्चैकाग्रया बुद्ध्या भगवत्यखिलात्मनि।
वासुदेवे समाधाय चचार ह पयोव्रतम्॥

(श्रीमद्भा० ८।१७।२-३)

'बुद्धिको सारथि बनाकर मनकी लगामसे उसने इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंको अपने वशमें कर लिया और एकनिष्ठ बुद्धिसे वह पुरुषोत्तम भगवान्का चिन्तन करने लगी। उसने एकाग्र-बुद्धिसे अपने मनको सर्वात्मा भगवान् वासुदेवमे पूर्णरूपसे लगाकर पयोव्रतका अनुष्ठान किया।'

४. इसी प्रकार कपिलदेवजीको अपने गर्भमें धारण करनेयोग्य बननेके लिये मुनीश्वर कर्दमके निम्न उपदेशानुसार देवहूतिने तीव्र व्रतचर्याका पालन किया—

धृतव्रतासि भद्रं ते दमेन नियमेन च।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज॥

(श्रीमद्भा० ३।२४।३)

'देवि! तुमने अनेक व्रतोंका पालन किया है, अतः तुम्हारा कल्याण होगा। अब तुम संयम, तप और दानादि करती हुई श्रद्धापूर्वक भगवान्का भजन करो। तभी भगवान् तुम्हारे गर्भसे प्रकट होगे—**'ते औदर्यो ब्रह्मभावनः'** (३।२४।४)।

५. माँ अपने बालक पुत्रको सही मार्ग-दर्शनद्वारा कितने उच्च पदकी प्राप्ति करा सकती है इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माता सुनीतिका है जिसने अपने तिरस्कृत और रोरुद्यमान बालक ध्रुवको निम्न उपदेश देकर सर्वोत्कृष्ट पदकी प्राप्तिका उपाय बताया—

मामङ्गलं तात परेषु मंस्था भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखदस्तत्॥
आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्वमुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम्।
आराधयाधोक्षजपादपद्मं यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा॥

(श्रीमद्भा० ४।८।।१७,१९)

'बेटा! तू दूसरोके लिये किसी प्रकारके अमङ्गलकी कामना मत कर। जो मनुष्य दूसरोको दुःख देता है, उसे स्वयं ही उसका फल भोगना पड़ता है। सुरुचिने विमाता होते हुए भी बात एकदम सही कही है। अतः यदि राजकुमार उत्तमके समान राज-सिंहासनपर बैठना चाहता है तो द्वेषभावको छोड़कर उसीका पालन कर। बस, श्रीभगवान्के चरणकमलोकी आराधना कर।' माताके उपदेशानुसार चलकर बालक ध्रुवने उत्तरोत्तर गुरुकृपा, भगवद्दर्शन और परमपद प्राप्त कर लिया।

६ आधुनिक युगके महापुरुषोके चरित्रपर भी माँकी साधना एवं शिक्षाका विशेष प्रभाव परिलक्षित हुआ है। परमहंसदेव रामकृष्णकी माता चन्द्रमणिदेवी अत्यन्त धर्मनिष्ठ, सरल-स्वभाव एवं पतिव्रता महिला थीं। एक बार उन्हें शारदीय पूर्णिमाके दिन श्रीलक्ष्मीदेवीके प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे। परमहसदेवके आविर्भावसे ठीक पूर्व उन्हें भगवान् शिवकी दिव्यज्योतिके एवं गयातीर्थके अधिष्ठातृ-देवता गदाधर विष्णुके नाना रूपका दिव्य दर्शन हुआ करते थे। इसीलिये उनका जन्म-नाम भी गदाधर ही रखा गया था। वह जैसी ऋजुस्वभावा, धर्मशीला, भक्तिमती महिला थीं एव जैसा सात्त्विक उनका आहार-विहार था, उन्हें वैसा ही धर्मप्राण, सरल, भक्तिमान्, संसारको ईश्वरप्राप्तिका सही मार्ग-प्रदर्शन करनेवाला पुत्र रामकृष्णके रूपमे प्राप्त हुआ था।

७. स्वामी विवेकानन्दके नामसे सुदूर विदेशोमे हिंदू-धर्मकी विजय-पताका फहरानेवाले नरेन्द्रदत्तकी माँ श्रीमती भुवनेश्वरी देवीका तो अपने पुत्रके चरित्र-निर्माणपर अत्यधिक प्रभाव था। भुवनेश्वरी देवी प्राचीनपंथी, धर्मपरायणा एव अत्यन्त तेजस्विनी महिला थीं। वे प्रतिदिन स्वहस्तसे

शिवपूजा किया करती थीं। पुत्र-कामनासे उन्होने काशीवासी-जनैक-आत्मीया महिलाको पत्र लिखकर श्रीविश्वनाथकी पूजा एवं होमादिकी व्यवस्था की थी। फलस्वरूप उन्हे स्वप्नमे तुषार-धवल रजतभूधरकान्ति श्रीविश्वेश्वरके दर्शन हुए थे और वरदान मिला था। नरेन्द्रका जन्मनाम भी इसीलिये वीरेश्वर (संक्षेपमें 'विले') रखा गया था। बालक नरेन्द्र बाल्यकालमें अत्यन्त स्वेच्छाचारी और उद्दण्ड थे, किंतु उन्हें शान्त करनेका माँने एक अद्भुत उपाय आविष्कार किया और वह सफल भी हुआ था। 'शिव, शिव' कहकर मस्तकपर थोड़ा-सा जल छिड़कते ही उद्दण्ड नरेन्द्र मन्त्रमुग्धकी भाँति शान्त हो जाते थे। बालकका जन्म शिवांशसे है, यह दृढ़ विश्वास होते हुए भी बुद्धिमती माँने इसे कभी प्रकट नहीं किया। केवल एक बार नरेन्द्रके औद्धत्यसे समधिक क्षुब्ध होकर वे बोल उठी थीं—'महादेवने स्वयं न आकर कहाँसे एक भूतको पकड़कर भेज दिया है।'

माँके मुखसे रामायण एवं महाभारतके उपाख्यान सुननेके लिये नरेन्द्र अत्यन्त आग्रहान्वित रहते। माँ भी प्रतिदिन मध्याह्नकालमे उन्हें रामायण एवं महाभारत सुनाती। अतीतयुगके धर्मवीरोंके पावन चरित्र सुनकर उनके कोमल मनपर विशेष प्रभाव होता और उनका शिशुमन न जाने किन भावतरंगोंसे आन्दोलित होता रहता कि वे अपनी स्वभावसुलभ चञ्चलताका परित्याग करके घंटोंतक मन्त्रमुग्ध होकर शान्त बैठे रहते। कभी-कभी माँका अनुकरण करके बालक नरेन्द्र भी चक्षु मुद्रित करके ध्यानमे बैठ जाते और उन्हे अविलम्ब बाह्यजगत्‌की विस्मृति हो जाती थी। यह एक अद्भुत बात थी। उनके चरित्रपर माँकी साधना एवं शिक्षाकी अमिट एवं स्पष्ट छाप विद्यमान थी। परमहंसदेव और स्वामी विवेकानन्दमे स्त्रीमात्रके लिये मातृभावना इस प्रकार दृढ़ थी कि कोई भी प्रलोभन उन्हे इस भावनासे विचलित नहीं कर सका था।

८. पितृभक्ता बेटी भानी सिखोके तृतीय पातशाह गुरु अमरदासकी सेवा-शुश्रूषामे सदैव तत्परतासे लगी रहती। एक बार गुरु अमरदासको चौकीसे गिरनेसे बचानेके लिये उसने चौकीके पायेकी जगह अपना पैर ही लगा दिया। कील गड़नेसे रक्तकी धारा बह चली; किंतु उसने उफ तक नहीं किया। सहनशक्तिकी इस अपूर्व साधनाका फल ही था कि वह हिंदूराष्ट्रको पञ्चम गुरुके रूपमें अर्जुनदेव-सरीखा धर्मनिष्ठ, कवि और बलिदानी पुत्र उपहारमे दे सकी। सिखोंका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्रीगुरुग्रन्थ साहिब' गुरु अर्जुनदेवकी ही देन है। अत्याचारी बादशाह जहाँगीरने उन्हें उत्तप्त तवेपर भूना, ऊपरसे उत्तप्त बालूकी वर्षा की, किंतु वे शान्त-मुद्रामे ध्यानस्थ होकर बिना उफ किये सब सह गये। नहानेके बहाने वे रावी नदीमें ऐसे विलीन हुए कि शवका भी पता न चला। ऐसा चमत्कार!

९. छत्रपति शिवाजीको अत्याचारी मुसलमानोंके विरुद्ध कमर कसनेके लिये माँ जीजाबाईकी प्रेरणा एवं शिक्षा ही मुख्य कारण थी। स्त्रीमात्रमे उनका मातृभाव इतना दृढ़मूल था कि अनेक प्रसंगोपर सुन्दर युवती स्त्रियोंके उनके एकान्त अधिकारमे आ जानेपर भी उन्होंने उन्हें अपने मुसलमान पतियोंके पास ससम्मान वापस पहुँचाया।

१०. प्रातःस्मरणीया वीरमाता कुन्ती तो आजीवन अपने पुत्रोंका पथ प्रदर्शन करती रहीं। युद्धके अनिच्छुक शान्तिप्रिय युधिष्ठिरमे जिगीषा उत्पन्न करने-हेतु उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा जो संदेश कहलाया वह द्रष्टव्य है—

युद्ध्यस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान्।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम्॥
(महा० उद्योगप० १३२। ३४)

अतः 'तुम राजधर्मके अनुसार युद्ध करो। कायर बनकर अपने बाप-दादोका नाम मत डुबाओ और भाइयोंसहित पुण्यहीन होकर पापमयी गतिको प्राप्त न होओ।' फिर अपने संदेशकी पुष्टिमे वीर क्षत्राणी विदुलाका प्रेरणादायक उपाख्यान याद दिलाया। विदुलाका पुत्र संजय सिन्धुराजसे पराजित हो उद्योगशून्य होकर सो रहा था। उसे अनेक युक्तियोसे युक्त कड़ी फटकार बताते हुए पुनः युद्धके लिये उत्साहित करना और उसमे कूट-कूटकर जिगीषाकी भावना भर देना माँ विदुलाका ही काम था। मातृ-उद्‌बोधनसे उल्लसित संजय बोल उठा—

उदके भूरियं धार्या मर्तव्यं प्रवणे मया।
यस्य मे भवती नेत्री भविष्यद्भूतिदर्शिनी॥
(महा० उद्योगप० १३६। १३)

'माँ! मेरा यह राज्य शत्रुरूपी समुद्रमे डूब गया है। मुझे या तो इसका उद्धार करना है या अपने प्राणोकी बलि दे देनी है। जब मुझे भावी वैभवका दर्शन करानेवाली तुम-जैसी संचालिका प्राप्त है, तब मुझे भय किस बातका है।'

माँ कुन्तीने तो युधिष्ठिरको यहाँतक कहलवा दिया था—

यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः॥

(महा॰ उद्योगप॰ १३७। १०)

'क्षत्राणी जिसके लिये पुत्रको जन्म देती है, उसका उपयुक्त अवसर उपस्थित है। श्रेष्ठ पुरुष किसीसे वैर ठन जानेपर निरुत्साह नही होते।' माँके इस संदेशसे उत्साहित होकर ही पाण्डवोने महाभारतके युद्धमे विजय पायी थी।

११. माँ कुन्ती एवं विदुलाके आदर्शपर चलकर ही राजस्थानकी क्षत्राणियाँ अपनी संतानोको उच्च चरित्र-सम्पन्न बनाया करती थीं। वे अपने पुत्रोको मातृभूमिके रक्षार्थ अपने ही हाथोंसे रणसज्जासे सजाकर हँसती हुई उन्हे मातृभूमिकी बलिवेदीपर जीवन उत्सर्ग करने-हेतु भेज सकती थी। किसी किंकर्तव्यविमूढ युवा पुत्रको वीरमाता किस प्रकार सही रास्तेपर ला सकती थी, उसका एक आधुनिक उदाहरण प्रस्तुत है।

कुम्भलगढ़के दुर्गपति आशादेपुरा महेश्वरीके पास पन्ना धाय जब महाराणा साँगाके बालक पुत्र उदयसिंहको लेकर शरण लेने पहुँची तो बलवीरके आतंकसे भयभीत होकर आशादेपुरा घबरा गया और उन्हे शरण देनेसे मुकर गया। आशादेपुराकी अनपढ़ माँने जब यह सुना तो उसने क्षुब्ध होकर अपने पुत्रको बुरी तरह फटकारा और अपने कर्तव्यकी याद दिलायी। वही आशादेपुरा अब बालक राणा उदयसिंहका संरक्षक बन गया। इसी अनपढ़ किंतु कर्तव्यपरायणा माँकी बदौलत ही हिंदवा-सूर्य महाराणा प्रताप-जैसे महापुरुषका आविर्भाव सम्भव हुआ जो अपने अपूर्व बलिदान और शौर्यगाथाओसे आनेवाली पीढ़ियोंके लिये एक समुज्ज्वल प्रेरणा-स्रोत बन गये।

इसी प्रकारके अनगिनत पौराणिक एवं ऐतिहासिक दृष्टान्त हमारे दैशिक शास्त्रके इस सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं कि चरित्र-निर्माणकी प्रथम एवं प्रधान शिल्पी माता ही है। भारतको अपने अतीत गौरवके समुन्नत शिखरपर पुनः आरूढ करानेके लिये हमे उच्च-चरित्रसम्पन्न नागरिकोकी आवश्यकता है। इस आवश्यकताकी पूर्ति तो हमारी मातृशक्तिद्वारा हमारे प्राचीन दैशिक शास्त्रानुसार अपना आहार-विहार, परिधान, शिक्षा आदिके अपनानेपर ही होगी।

पौराणिक इतिहासमें माताकी शिक्षा

(आचार्य श्रीदीनानाथजी चतुर्वेदी 'सुमनेश')

विचारकोने चार प्रकारके गुरु माने हैं—(१) ईश्वर, (२) माता-पिता, (३) दीक्षा-गुरु एवं (४) शिक्षा-गुरु। इनमे ईश्वरके उपरान्त माता-पिताका ही प्रमुख स्थान है और इन दोनोमे भी माताका स्थान अक्षुण्ण है। माता ही जैसी चाहे वैसी शिक्षा शिशुको दे सकती है। मनुने कहा है—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(मनुस्मृति २। १४५)

यहाँ इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—महाराज कुवलयाश्वकी पत्नी मदालसा जब परिणय-बन्धनमें बँधकर अपने पति-गृहमे आयीं, तब उन्होंने अपने पतिसे कहा कि 'मैं जो कुछ करूँ उसे देखना, पर मुझे रोकना मत।' महाराज कुवलयाश्वने उसे स्वीकार कर लिया। जब महारानीके प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ और जब वह रोता तब रानी उस पुत्रको पालनेमें डालकर झुलाती हुई उसे लोरियाँ न सुनाकर कहती थीं—'तू क्यो रोता है? तेरा कौन है जो तेरे रुदनको सुनकर द्रवित होगा?

किसीके सम्मुख दीनता प्रदर्शित क्यों करता है? तेरे रोनेसे क्या लाभ होगा? व्यर्थ अपने आँसुओंको क्यों बहाता है? इस रोनेकी अपेक्षा चुप रहकर विचार किया कर।' पुत्र इन्हें सुनकर चुप रहने लगा। बडा होनेपर यज्ञोपवीत-संस्कार होते ही वह विरक्त होकर वनमें चला गया और तप करने लगा। इसी प्रकार दूसरा, फिर तीसरा पुत्र हुआ और रोते समय इसी प्रकार शिक्षा देनेसे वे दोनो पुत्र भी विरक्त होकर जंगलमें तपस्या करते घूमने लगे। जब समय आनेपर चौथा पुत्र अलर्क हुआ, तब महाराज कुवलयाश्वने एक दिन महारानी मदालसासे बहुत ही विनम्र होकर कहा—'रानी! अबतक जो कुछ भी तुमने किया, मैंने वह सब अपनी आँखोंसे देखा। तीन पुत्र हुए और वे तीनों विरक्त होकर वनोमे भटकते, तप करते, भिक्षाटन करते हैं। यदि इस प्रकार इस चौथे पुत्रको भी यही शिक्षा दी गयी तो मेरे गृहस्थ-जीवनका विनाश हो जायगा। अत· यदि तुम चाहो तो इसे गृहस्थ-धर्मकी शिक्षा प्रदान करो।' महारानी मदालसाने हँसकर पतिका आदेश सहर्ष स्वीकार कर लिया। जब अलर्क रोता था तो रानी पालनेमें उसे डालकर कहती थी—'बेटा! रोना व्यर्थ है। किसीके सामने दीनता कभी भी नही दिखानी चाहिये, जो होता है उसे अपनी आँखोंसे देखा कर! किसी भी वस्तुके लिये रोना नहीं चाहिये। संसारमे जो कुछ भी है सब तेरा है।'

मातासे इस प्रकार उपदेश ग्रहण करके राजा ऋतध्वजके पुत्र अलर्कने युवावस्थामें विधिपूर्वक अपना विवाह किया। उससे अनेक पुत्र उत्पन्न हुए। उसने यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन किया और हर समय वह पिताकी आज्ञाका पालन करनेमे संलग्न रहता था। तदनन्तर बहुत समयके बाद बुढ़ापा आनेपर धर्मपरायण महाराज ऋतध्वजने अपनी पत्नीके साथ तपस्याके लिये वनमें जानेका विचार किया और पुत्रका राज्याभिषेक कर दिया। उस समय मदालसाने अपने पुत्रकी विषयभोगविषयक आसक्तिको हटानेके लिये उससे यह अन्तिम वचन कहा—'बेटा! गृहस्थ-धर्मका अवलम्बन करके राज्य करते समय यदि तुम्हारे ऊपर प्रिय बन्धुके वियोगसे, शत्रुओंकी बाधासे अथवा धनके नाशसे होनेवाला कोई असह्य दुःख आ पडे तो मेरी दी हुई इस अँगूठीसे यह उपदेशपत्र निकालकर, जो रेशमी वस्त्रपर बहुत सूक्ष्म अक्षरोंमें लिखा गया है, तुम अवश्य पढ़ना; क्योंकि ममतामें बँधा रहनेवाला गृहस्थ दुःखोंका केन्द्र होता है।' यों कहकर मदालसाने अपने पुत्रको सोनेकी अँगूठी दे दी, साथ ही अनेकानेक आशीर्वाद भी दिये। तत्पश्चात् पुत्रको राज्य सौंपकर महाराज कुवलयाश्व महारानी मदालसाके साथ तपस्या करनेके लिये वनमें चले गये।

धर्मात्मा राजा अलर्कने भी पुत्रकी भाँति प्रजाका न्यायपूर्वक पालन किया। उनके राज्यमें प्रजा बहुत प्रसन्न थी और सब लोग अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहते थे। वे दुष्ट पुरुषोंको दण्ड देते और सज्जन पुरुषोंकी भलीभाँति रक्षा करते थे। राजाने बडे-बडे यज्ञोंका अनुष्ठान भी किया। इन सब कार्योंमें उन्हें बडा आनन्द मिलता था। महाराजको अनेक पुत्र हुए, जो महान् बलवान्, अत्यन्त पराक्रमी, धर्मात्मा, महात्मा तथा कुमार्गके विरोधी थे। उन्होंने धर्मपूर्वक धनका उपार्जन किया और धनसे धर्मका अनुष्ठान किया तथा धर्म और धन दोनोंके अनुकूल रहकर ही विषयोंका उपभोग किया। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काममें आसक्त हो पृथ्वीका पालन करते हुए राजा अलर्कको अनेक वर्ष बीत गये, किंतु उन्हें वे एक दिनके समान ही जान पड़े। मनको प्रिय लगनेवाले विषयोंका भोग करते हुए उन्हें कभी भी उनकी ओरसे वैराग्य नहीं हुआ। उनके मनमें कभी ऐसा विचार नहीं उठा कि अब धर्म और धनका उपार्जन पूरा हो गया। उनकी ओरसे उन्हे अतृप्ति ही बनी रही।

उनके इस प्रकार भोगमे आसक्त, प्रमादी और अजितेन्द्रिय होनेका समाचार उनके भाई सुबाहुने भी सुना, जो वनमें निवास करते थे। अलर्कको किसी तरह ज्ञान प्राप्त हो, इस अभिलाषासे उन्होने बहुत देरतक विचार किया, अन्तमें उन्हे यही ठीक मालूम हुआ कि अलर्कके साथ शत्रुता रखनेवाले किसी राजाका सहारा लिया जाय। ऐसा निश्चय करके वे अपना राज्य प्राप्त करनेका उद्देश्य लेकर असंख्य बल-वाहनोंसे सम्पन्न काशिराजकी शरणमे

आये । काशिराजने अपनी सेनाके साथ अलर्कपर आक्रमण करनेकी तैयारी की और दूत भेजकर यह कहलाया कि अपने बड़े भाई सुबाहुको राज्य दे दो । अलर्क राज्यधर्मके ज्ञाता थे । उन्हे शत्रुके इस प्रकार आज्ञापूर्वक संदेश देनेपर सुबाहुको राज्य देनेकी इच्छा नहीं हुई । उन्होने काशिराजके दूतको उत्तर दिया कि 'मेरे बड़े भाई मेरे ही पास आकर प्रेमपूर्वक राज्य माँग ले । मैं किसीके आक्रमणके भयसे थोड़ी-सी भी भूमि नहीं दूँगा ।' बुद्धिमान् सुबाहुने भी अलर्कके पास याचना नहीं की । उन्होने सोचा—'याचना क्षत्रियका धर्म नहीं है । क्षत्रिय तो पराक्रमका ही धनी होता है ।' तब काशिराजने अपनी समस्त सेनाके साथ राजा अलर्कके राज्यपर चढ़ाई करनेके लिये यात्रा की । उन्होने अपने समीपवर्ती राजाओसे मिलकर उनके सैनिकोद्वारा आक्रमण किया और अलर्कके सीमावर्ती नरेशको अपने अधीन कर लिया । फिर अलर्कके राज्यपर घेरा डालकर उनके सामन्त राजाओंको सताना आरम्भ किया । दुर्ग और वनके रक्षकोको भी काबूमे कर लिया । किन्हींको धन देकर, किन्हींको फूट डालकर और किन्हीको समझा-बुझाकर ही अपना वशवर्ती बना लिया । इस प्रकार शत्रुमण्डलीसे पीड़ित राजा अलर्कके पास बहुत थोड़ी-सी सेना रह गयी । खजाना भी घटने लगा और शत्रुने उनके नगरपर घेरा डाल दिया । इस तरह प्रतिदिन कष्ट पाने और कोश क्षीण होनेसे राजाको बड़ा खेद हुआ । उनका चित्त व्याकुल हो उठा । जब वे अत्यन्त वेदनासे व्यथित हो उठे, तब सहसा उन्हे उस अँगूठीका स्मरण हो आया, जिसे ऐसे ही अवसरोंपर उपयोग करनेके लिये उनकी माता मदालसाने दिया था । तब स्नान करके पवित्र हो उन्होने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और अँगूठीसे वह उपदेशपत्र निकालकर देखा । उसके अक्षर बहुत स्पष्ट थे । राजाने उसमे लिखे हुए माताके उपदेशको पढ़ा, जिससे उनके समस्त शरीरमे रोमाञ्च हो आया और आँखे प्रसन्नतासे खिल उठी । वह उपदेश इस प्रकार था—

'सङ्ग (आसक्ति) का सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये, किंतु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषोका सङ्ग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका सङ्ग ही उसकी ओषधि है । कामनाको सर्वथा छोड़ देना चाहिये परंतु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मुक्तिकी इच्छा) के प्रति कामना करनी चाहिये; क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामनाको मिटानेकी दवा है ।'

उसे पढ़ते ही जैसे अन्धेको नेत्रज्योति मिल जाती है, उसी प्रकार उन्हे मार्ग मिल गया । उन्होंने दूत बुलाकर काशी-नरेशके पास भेजा और कहलाया कि 'मैं राज्यको छोड़ रहा हूँ, इसे आप ग्रहण करे ।' काशी-नरेशने उन तीनो बड़े भाइयोंसे राज्य लेनेको कहा तो वे सब हँसकर बोले—'हमे राज्य नहीं चाहिये । हम तो अपने भाई अलर्कको मोक्षकी ओर प्रेरित करना चाहते थे और वह हो गया ।' लड़ाई बंद हो गयी तथा काशिराज भी अपना राज्य छोड़कर अलर्कके साथ तप करनेके लिये वनमें चले गये । महर्षि दत्तात्रेयकी कृपासे वे संसार-संकटसे मुक्त होकर महान् योग-सम्पत्तिको प्राप्तकर परम निर्वाणको प्राप्त हो गये ।

महाराज उत्तानपादके दो रानियाँ थीं । सुनीति और सुरुचि । सुनीतिके पुत्र ध्रुव हुए तथा सुरुचिके उत्तम कुमार । एक दिन जब उत्तम पिताकी गोदमे बैठे थे, उसी समय ध्रुव भी विमाता सुरुचिके भवनमें गये । विमाताने सिंहासनपर बैठनेकी इच्छा देख उससे कहा—'मूढ ! तू मेरी कोखसे उत्पन्न नहीं हुआ है । तेरी माता मेरी दासी है और दासीके गर्भसे उत्पन्न तू कैसे महाराजकी गोदमे चढ़कर सिंहासनपर बैठ सकता है ? जा, वनमे जा । वहाँ भगवान्‌का भजन कर और उनसे वरदान माँग कि मैं माता सुरुचिके गर्भसे उत्पन्न होकर महाराज उत्तानपादकी गोदमें चढ़कर सिंहासनपर बैठूँ ।' बालक ध्रुव रोते हुए वहाँसे लौटकर अपनी माँके भवनमें गये । माँने पुत्रको रोते देखकर उससे पूछा—'तू क्यों रो रहा है बेटा ?' फिर ध्रुवके मुँहसे ये बाते सुनकर उसने दीर्घ श्वास लेकर पुत्रसे कहा—'बेटा ! तू दूसरोके लिये किसी अमङ्गलकी कामना मत कर । जो दूसरोंको दुःख देता है, उसे स्वयं ही उसका फल भोगना पड़ता है । यदि तू राज-सिंहासनपर बैठना चाहता है तो उसी परमात्माकी

आराधना कर। तेरे परबाबा ब्रह्माको भी उन्हींकी कृपासे सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है। तेरे बाबा मनुजीने भी यज्ञोंद्वारा उन्हींकी आराधनासे मोक्ष प्राप्त किया है। तेरे दुःख अन्य किसी प्रकारसे दूर नहीं हो सकते। अतः उसी परमाराध्यकी आराधना कर। मुमुक्षु भी निरन्तर उसीकी आराधना करते हैं। चिन्ता मत कर। भगवान् तेरा कल्याण करेंगे। धन एवं राज्यकी अपेक्षा भजन अधिक श्रेयस्कर है।' ध्रुव माँकी शिक्षा ग्रहणकर यमुनातटपर मधुवनमें तप करके अक्षय लोक ध्रुवलोकको प्राप्त कर सके और पिताका राज्य ३६ हजार वर्ष भोगकर अक्षय यश प्राप्त कर सके।

महाराज शान्तनुकी भार्या पतितपावनी गङ्गाने भी अपने पतिसे यह प्रतिज्ञा करा ली थी कि मेरे कार्यको देखना, मुझे रोकना नहीं। महाराज अपनी पत्नीके सदाचरणसे परम संतुष्ट थे ही। माता गङ्गाके प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ। दो-चार दिन उसे दूध पिलाकर एक दिन वे अपने पुत्रको लेकर वनमें गङ्गा-तटपर गयीं। महाराज यह देखने पीछे-पीछे वनमे गये कि देखूँ गङ्गा क्या करती है। पर गङ्गाने उस बालकको पैर पकड़कर गङ्गाकी धारमे फेंक दिया। प्रतिज्ञावश महाराज भी कुछ न कह सके। मन मारकर चुपचाप बैठ गये। इसी प्रकार वे सात पुत्रोंको गङ्गाकी धारमें बहाकर निश्चिन्त हो गयीं। समय आनेपर फिर आठवाँ पुत्र गर्भमें आया, जो भीष्म थे। प्रसव होनेपर जब गङ्गा उसे भी फेंकने वनकी ओर चलीं, तभी महाराज शन्तनुने अपनी पत्नीकी बहुत भर्त्सना की और कहा कि 'क्या तुमने मेरे कुल-नाशका प्रण ठान लिया है?' सुनते ही गङ्गाने पुत्रको पतिके चरणोंमें रख दिया और कहा—'महाराज! मैं देवताओंके शापसे आज मुक्त हो गयी। मैं आजतक ही आपकी पत्नी बनकर रह सकती थी, अब जा रही हूँ।' इसपर महाराजने समझाते हुए उससे कहा कि 'जबतक यह पुत्र बड़ा होकर विद्याध्ययन पूर्ण न कर ले, तबतक तुम मेरे घरमें और रहो।' यह सुनकर गङ्गाने कहा कि 'महाराज! प्रतिज्ञा तोड़ी नहीं जाती। मैं जा रही हूँ और साथमें अपने पुत्रको लिये जा रही हूँ। जब यह सम्पूर्ण विद्याओंमें पारङ्गत हो जायगा तब मैं इसे आपको सौंप दूँगी।' यह कहकर पुत्रको साथ ले गङ्गा चली गयीं और पचीस वर्षतक उन्होंने अपने पुत्रको शिक्षा प्रदान की, जिससे ये भीष्म विश्वमें स्वनामको धन्य कर सके।

गुरु शब्द तो अति महत्त्वपूर्ण है। गु+रु=गुरु। गु=अज्ञान, रु=अवरोधक। अर्थात् जो अज्ञानका नाश कर ज्ञान प्रदान करे उसे 'गुरु' कहते हैं। इसके लिये मातासे बढ़कर प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाला दूसरा कौन हो सकता है? इस संदर्भमें वेदों एवं पुराणोंमें अनेक उपाख्यान भरे पड़े हैं।

दोमेंसे एक कर

कै तोहि लागहिं राम प्रिय कै तू प्रभु प्रिय होहि।
दुइ में रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहि॥
तुलसी दुइ महँ एक ही खेल छाँड़ि छल खेलु।
कै करु ममता राम सों कै ममता परहेलु॥

(दोहावली ७८-७९)

या तो तुझे श्रीराम प्रिय लगने लगें या प्रभु श्रीरामका तू प्रिय बन जा। दोनोमेंसे जो तुझे सुगम जान पडे तथा प्रिय लगे, तुलसीदासजी कहते हैं कि तू वही कर। तुलसीदासजी कहते हैं कि छल छोड़कर तू दोनोमे एक ही खेल खेल—या तो केवल श्रीरामसे ही ममता कर या ममताका सर्वथा त्याग कर दे।

शिक्षाकी निष्पत्ति—अखण्ड व्यक्तित्वका निर्माण

(अणुव्रत-अनुशास्ता, युगप्रधान आचार्य श्रीतुलसीजी)

जीवन जीना एक बात है और विशिष्ट जीवन जीना दूसरी बात है। ऐसा जीवन, जो दूसरोके लिये उदाहरण बन सके, विशिष्ट जीवन होता है। ऐसा जीवन, जो विकासकी सब सम्भावनाओको उजागर कर सकता है, विशिष्ट जीवन होता है। ऐसा जीवन तभी जीया जा सकता है, जब कि उसे सही ढंगसे निर्मित किया जा सके। जीवनका निर्माण करनेमे अनेक तत्त्वोका योग रहता है। उनमे कुछ तत्त्व है—संस्कार, वंशानुक्रम, वातावरण, माँका व्यक्तित्व, शिक्षा आदि। इनमे कुछ तत्त्व सहज और कुछ परोक्ष-रूपमे सक्रिय रहते है, पर शिक्षाका प्रयोग सार्थक उद्देश्यके साथ प्रयत्नपूर्वक होता है। वास्तवमे वही शिक्षा शिक्षा है, जो जीवनका निर्माण कर सके। शिक्षा प्राप्त करनेके बाद भी यदि जीवन नहीं बनता है तो शिक्षाकी गुणात्मकताके आगे प्रश्न-चिह्न लग जाता है।

शिक्षाके साथ जीवन-निर्माणका निश्चित अनुबन्ध है। जहाँतक यह अनुबन्ध पूरा नहीं होता, वहाँ कुछ किंतु-परतु खटकने लगता है। व्यक्ति भोजन करे और उसकी भूख न मिटे, यह उसी स्थितिमे सम्भव है, जब भोजन करनेवाला भस्मक व्याधिसे पीड़ित हो। अन्यथा मात्रा-भेद हो सकता है, पर भोजनके साथ भूख मिटनेकी अनिवार्यता है। इसी प्रकार शिक्षा मिले और जीवनका निर्माण न हो, इसमे शिक्षा-पद्धति, शिक्षक या विद्यार्थीकी कोई-न-कोई कमी अवश्य कारण बनती है। शिक्षा-पद्धति त्रुटिपूर्ण या अपूर्ण हो, शिक्षकका चरित्र, निष्ठा और पुरुषार्थ सही न हो अथवा विद्यार्थियोमे शिक्षा प्राप्त करनेकी अर्हता न हो, उसी स्थितिमें शिक्षाका उद्देश्य पूरा नहीं होता।

शिक्षाके द्वारा जीवन-निर्माणका अर्थ है—विद्यार्थीके सर्वाङ्गीण एवं अखण्ड व्यक्तित्वका निर्माण। यह मनुष्यकी दुर्बलता है कि वह खण्ड-खण्डमे जीता है। अपने व्यक्तित्वको समग्र रूपसे बनाने या सँवारनेकी चिन्ता उसे नही होती। उसके सामने अखण्ड व्यक्तित्ववाला कोई आदर्श भी नही होता। ऐसी स्थितिमे वह अपने व्यक्तित्वको खण्डोंमे बाँट लेता है। खण्डित व्यक्तित्व प्रत्येक युगकी ऐसी त्रासदी है, जिसे वर्तमान और भावी दो-दो पीढ़ियोको भोगना होता है।

जीवन-निर्माण या व्यक्तित्व-निर्माणकी दृष्टिसे कितनी ही ऊँची शिक्षा दी जाय, कितने ही अच्छे एवं योग्य शिक्षकोका योग मिले, किंतु जबतक विद्यार्थीकी भूमिका ठीक नहीं होती तबतक समय और श्रमका सही उपयोग नहीं हो सकता। जैन-आगमके उत्तराध्ययनमे विद्यार्थीकी अर्हताके कुछ मानदण्ड निर्धारित किये गये हैं। उनके अनुसार शिक्षाके योग्य वह विद्यार्थी होता है जो—(१) हास्य न करे, (२) इन्द्रियो और मनको नियन्त्रित रखे, (३) किसीकी गोपनीय बातका प्रकाशन न करे, (४) चरित्रसे हीन न हो, (५) चारित्रिक दोषोसे कलुषित न हो, (६) रसोमे अति लोलुप न हो, (७) क्रोध न करे और (८) सत्यमे रत हो।

यह आवश्यक है कि ज्ञान-मन्दिरमे प्रवेश करनेसे पहले ही विद्यार्थीको प्रारम्भिक संस्कार दिये जायँ, क्योंकि जब बालकका जीवन गलत संस्कारोसे भावित हो जाता है, तब संस्कार-परिवर्तनकी बात कठिन हो जाती है, इसीलिये प्राचीनकालमे बच्चोको गुरुकुलोमे रखकर पढ़ाया जाता था। वहाँ उन्हे जो शिक्षा दी जाती थी, उसका आधार केवल पुस्तके नही होती थी। उस समय दी जानेवाली शिक्षाका उद्देश्य केवल जीविका नही होती थी। जीविकाके साथ शिक्षाको जोडना ही शिक्षा-नीतिका अतिक्रमण करना है। यह बात विद्यार्थी और शिक्षक—दोनोके लिये समान रूपसे लागू होती है। शिक्षक यदि शिक्षाको जीविकाका साधनमात्र मानता है तो वह विद्यार्थीको पुस्तक पढा सकेगा, पर जीवन-निर्माणकी कला नहीं सिखा सकेगा। इसी प्रकार विद्यार्थी यदि जीविकोपार्जनके उद्देश्यसे पढ़ता है तो वह डिग्रियाँ भले ही उपलब्ध कर लेगा, किंतु ज्ञानके शिखरपर नही चढ सकेगा।

शिक्षा प्राप्त करनेका उद्देश्य यदि केवल बौद्धिक विकास अथवा डिग्री पाना ही हो, तो यह दृष्टिकोणकी संकीर्णता है; क्योंकि शिक्षाका सम्बन्ध शरीर, मन, बुद्धि और भाव—सबके साथ है। एकाङ्गी विकासकी तुलना शरीरकी उस स्थितिके साथ की जा सकती है, जिसमें सिर बड़ा हो जाय और हाथ-पाँव दुबले-पतले रहें अथवा हाथ-पाँव मोटे हो जायँ और सिरका विकास न हो। शरीरका असंतुलित विकास उसके भौंडेपनको प्रदर्शित करता है, ऐसी दशामे व्यक्तित्वका असंतुलित विकास उसके भीतरी भौंडेपनकी अभिव्यक्ति कैसे नहीं करेगा ?

जीवनके समग्र विकासकी दृष्टिसे शिक्षाको रचनात्मक मोड़ देनेके लिये आवश्यक है कि निर्धारित पाठ्यक्रमके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट प्रशिक्षणकी व्यवस्था की जाय। विशिष्ट प्रशिक्षणके क्रममे कुछ महत्त्वपूर्ण उपक्रम ये हैं—(१) जीवन-मूल्योकी शिक्षा, (२) मानवीय सम्बन्धोकी शिक्षा, (३) भावनात्मक विकासकी शिक्षा तथा (४) सिद्धान्त और प्रयोगके समन्वयकी शिक्षा।

शिक्षाके ये उपक्रम विद्यार्थीमे जिज्ञासा, बुभूपा और चिकीर्षाकी भावनाको जगा सकते है। जिज्ञासाका अर्थ है जाननेकी इच्छा। जब यह इच्छा घनीभूत हो जाती है, तब विद्यार्थी प्रत्येक बातको बहुत बारीकीके साथ ग्रहण करता है। तत्त्वको जानने-समझनेकी स्थितिमे परिपाक आनेपर व्यक्तिमे कुछ होनेकी भावना जन्म लेती है। इस भावनाका नाम है बुभूपा। जो कुछ होना चाहेगा, उसमे कुछ करनेकी इच्छा जागेगी। कुछ करनेकी इच्छा जब विशिष्ट क्रियायोगके साथ जुड़ जाती है, तब वह विद्यार्थीको अखण्ड व्यक्तित्व प्रदान कर सकती है। अखण्ड व्यक्तित्वके निर्माणकी एक प्रायोगिक प्रक्रियाका नाम है जीवन-विज्ञान। जीवन-विज्ञान जीवन जीनेकी ऐसी कला है, जो विद्यार्थीके बौद्धिक एवं भावनात्मक विकासमे सतुलन लाती है। इस प्रक्रियामे कायोत्सर्ग, योगासन, शरीर-विज्ञान, प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा आदिका क्रमिक अभ्यास कराया जाता है। इस अभ्याससे शरीरगत ग्रन्थियोंके स्राव बदलते है, नाडीतन्त्र संतुलित रहता है और आदतोमे परिवर्तन होता है।

भारतकी स्वतन्त्रताके बाद यहाँ शिक्षाकी दृष्टिसे कई नये आयाम खुले। उन आयामोंसे अच्छे-अच्छे डाक्टर, अभियन्ता, वैज्ञानिक आदि सामने आये, पर आत्मवान् व्यक्तियोंके निर्माणकी प्रक्रिया बहुत शिथिल हो गयी। आत्मवान् वह होता है, जो आत्मविद्यामे निष्णात बन जाता है। आत्मविद्या पानेका अर्थ है अपनी पहचानसे परिचित होना। पहचान किसकी? नाम या रूपकी? यह सारी पहचान ऊपरकी है। इस पहचानको करनेवाला जो अज्ञात तत्त्व है, जो इस शरीरके भीतर है, उस अज्ञातको ज्ञात करनेवाला आत्मवान् हो सकता है, विद्यावान् हो सकता है।

आत्माकी पहचानका माध्यम है धर्म। ऐसा धर्म, जो मानवीय मूल्योंके विकाससे, जीवनकी पवित्रतासे और व्यवहार-शुद्धिके साथ जुड़ा हुआ है। आधुनिक शिक्षा-पद्धतिमे धर्मकी शिक्षाको कोई स्थान नहीं है। शिक्षामें धर्मका प्रवेश होनेसे साम्प्रदायिकताके उभरनेका भय है। किंतु यह भय उन लोगोंको है, जो धार्मिक कट्टरता और अन्धविश्वासोसे घिरे हुए है। अन्यथा धर्मकी शिक्षाका अर्थ है—सत्य और अहिंसाकी शिक्षा, सहिष्णुता और समन्वयकी शिक्षा, भ्रातृत्व और सहयोगकी शिक्षा तथा नैतिकता और उदारताकी शिक्षा। ऐसी शिक्षाको कोई भी चिन्तनशील व्यक्ति नकार नहीं सकता। पर जो लोग धर्मके नामसे ही परहेज करते हैं, वे यदि जीवन-विज्ञानके नामसे एक समग्र और प्रायोगिक शिक्षाक्रमको आगे बढ़ा सके तो जीवन-निर्माण या अखण्ड व्यक्तित्वके निर्माणकी समस्याका स्थायी हल निकल सकता है।

सातवीं सदीकी शिक्षा

(डॉ॰ श्रीहरगोविन्दजी पाराशर)

शिक्षा

वाणने शिक्षा-अर्थमे 'विद्या' शब्दका प्रयोग किया हर्षचरितमे विद्याके पठन, उपदेश, श्रवण, अभ्यास, एवं विनोदके रूपमे उपयोगसम्बन्धी उल्लेख हैं। हर्ष सर्वविद्या एवं संगीतयुक्त गृहके समान थे। दिवाकरमित्रके आश्रममे 'शिक्षा' शब्दका प्रयोग होता। इस तरह सातवी सदीमे पढ़ाईके लिये विद्या और ा—दो शब्दोका प्रयोग होता था।

सातवीं सदीके प्रामाणिक ग्रन्थ हर्षचरितसे ज्ञात होता क पढनेके इच्छुक बालकको सर्वप्रथम ध्वनि सिखायी थी और इसके बाद तीन वेद पढाये जाते थे। पढ़ानेके साथ क्रातवी क्रिया (यज्ञ करना) करायी थी, जिसमे सम्पूर्ण मन्त्र बोलकर हवन-द्रव्य अग्निमे जाता था। प्रतिदिन निश्चित समयपर वेदाभ्यास या जाता था। व्याकरण, न्याय एवं मीमांसाका यन होता था और अन्तमे काव्य पढ़ाये जाते थे। रितके उक्त विवरणसे सिद्ध है कि तत्कालीन पहली ाके रूपमे अक्षरध्वनि (वर्णमाला), वेद, कर्मकाण्ड, करण, न्याय, मीमांसा और काव्य—ये सात विषय ये जाते थे।

शिशुओकी शिक्षा पॉच वर्षकी अवस्थामे प्रारम्भ ो थी। सात वर्षकी आयुमे उन्हे व्याकरण पढाया ा था, जिसमे वर्णोकी व्याख्या एव उनका वर्गीकरण ा था। बादका अध्यापन कुशल कला-सम्बन्धी था, समें यान्त्रिक कलाके सिद्धान्त रहते थे— गणित और तिष। तृतीय विज्ञान था आयुर्वेद, जिसमे दवाओ दिका अभ्यास कराया जाता था। चतुर्थ विज्ञान था (न्याय), जिसमे असत्य और सत्यका परीक्षण किया ता था। पञ्चम विज्ञान अध्यात्म था, जिसमे धार्मिकताकी प्ति और कर्मका सिद्धान्त पढाया जाता था।

उपर्युक्त शिक्षा-विषयोको शिक्षक अपने छात्रोको पढाते थे और तदनुसार क्रियाएँ कराते थे। वे उनकी अन्तश्चेतनाको तेज करते थे, जिससे मन्द भी बुद्धिमान् बन जायँ। जब शिष्य बुद्धिमान् और कर्मठ हो जाते थे तब उनका प्रशिक्षण पूरा हो जाता था। जब शिष्य तीस वर्षकी आयुके हो जाते और उनका मस्तिष्क परिपक्व हो जाता, उनकी शिक्षा पूरी हो जाती, तब वे अपने निवासगृह जाते थे, जहॉसे वे सर्वप्रथम अपने शिक्षकोको पुरस्कार लाकर देते थे। शिक्षा-प्राप्तिके पश्चात् राज्य और राज्यवासी उन शिक्षाप्राप्त वयस्क विद्यार्थियोका आदर करते थे। वे (वयस्क विद्यार्थी) अपनी रुचि एव योग्यताके अनुसार शासनकी या जनताकी सेवा करते थे।

सातवीं सदीके प्रामाणिक इतिहासकार महाकवि वाणभट्ट एवं चीनीयात्री हुएनसांग दोनोके अनुसार सातवी सदीकी शिक्षा सुव्यवस्थित थी। प्राथमिक स्तरसे लेकर उच्चतम स्तरतक शिक्षा नि:शुल्क दी जाती थी। यह सम्राट् हर्षवर्धनका साम्राज्यकाल था। इस कालमे प्रचलित उक्त शिक्षा हर्षके पूर्ववर्ती युगके अनुरूप थी, क्योंकि कौटिल्य एवं मनु आदि राजशास्त्र-प्रणेताओने भी उक्त शिक्षाकी व्यवस्था अपने-अपने ग्रन्थोमे वर्णित की है। उन्होने उक्त शिक्षाको विद्या कहा है और उसके चार प्रकार—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति माने है, जिनमे वाणवर्णित और हुएनसांगवर्णित शिक्षाके विषय समाविष्ट हैं।

सातवीं सदीके शिक्षा-केन्द्र

वाणने हर्षचरितके तृतीय उच्छ्वासमे स्थाण्वीश्वर नगरका वर्णन करते हुए वहाँ गुरुकुलोका अस्तित्व सूचित किया है। उसने स्वयं भी गुरुकुलोका सेवन किया था। ये गुरुकुल कहाँ होते थे? कैसे होते थे? और उनमें क्या-क्या विषय पढाये जाते थे? इसपर वाणने लिखा है कि गुरुकुल किसी नगरमे ही होते थे, पर छोटे गुरुकुल या विद्यालय ग्राममे भी होते थे। वाणका प्रीतिकूट नामक

ग्राम बालक-बालिकाओके अध्ययनसे मुखरित रहता था। अतः स्पष्ट है कि सातवी सदीमे गॉवोमें भी पढ़ाईकी व्यवस्था थी। ये गुरुकुल कैसे होते थे? इस विषयमें वाणने लिखा है कि उसका घर पढनेकी ध्वनिसे गुंजित रहता था। विद्यार्थी ललाटपर भस्मका तिलक लगाते थे। यज्ञके लोभसे वटुगण (विद्यार्थी) वहाॅ जाते थे। वहाॅके तोता, मैनातक शिष्योंको पढा लेते थे, जिनसे उपाध्यायोको विश्रामका सुख मिलता था और वहाॅ तीनों वेद पढ़ाये जाते थे। वाणके घर लौटनेपर उसने अपने ग्रामवासी भाइयोंसे मन्त्रपठन, वेदाभ्यास, यज्ञविद्या या कर्मकाण्ड, व्याकरण, न्याय, मीमांसा और काव्यालापके पूर्ववत् चलते रहनेका समाचार पूछा है, जिससे संकेत मिलता है कि इन गुरुकुलोंमे—(१) अक्षराभ्यास, (२) वेदाभ्यास, (३) कर्मकाण्ड, (४) व्याकरण, (५) न्याय, (६) मीमांसा और (७) काव्य—ये सात विपय पढ़ाये जाते थे।

गुरुकुलोके अतिरिक्त शिक्षालयके रूपमें आश्रममें चलनेवाले अनवरत शास्त्राभ्यासका उल्लेख वाणने किया है। अतः स्पष्ट है कि गुरुकुल और आश्रम-शिक्षालय दो प्रकारके विद्यालय थे। आश्रम-शिक्षालयोंमें अनेक देशोंसे आये छात्र अपने-अपने सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंका श्रवण, चिन्तन, उच्चारण, शङ्का-समाधान, व्युत्पत्ति, वाद-विवाद, अभ्यास एवं व्याख्या करते थे। अतः यह निश्चित है कि कुछ ऐसे भी विद्याकेन्द्र या आश्रम थे जहाँ विश्वविद्यालयीन स्तरकी शिक्षा प्राप्त होती थी। हुएनसांगने ऐसे शिक्षाकेन्द्रोंमे नालन्दा महाविहारका उल्लेख किया है, जो आधुनिक पटना जिलेके राजगृहसे आठ मीलकी दूरीपर वड़गाॅवके पास था। यहाॅ दस हजार छात्र और एक हजार अध्यापक थे। भोजनालय निःशुल्क थे। शब्द-विद्या (व्याकरण), हेतुविद्या (न्याय), अध्यात्मयोग, तन्त्र, चिकित्सा, शिल्प और रसायन पढ़ाईके विषय थे। यहाॅ मुख्य व्यवस्थापकोंमें क्रमशः द्वारपण्डित, धर्मकोश, कर्मदान और स्थविर मुख्य थे।

श्रीरामकृष्ण और उच्च शिक्षा

(स्वामी श्रीविदेहात्मानन्दजी)

ईसाके जन्मके लाखों वर्ष पूर्व सत्ययुग या वैदिककालसे ही भारतवर्षमें लौकिक एवं पारमार्थिक अनेकविध विद्याओंका प्रस्फुटन होता रहा है। उस सुदूर प्राचीनमें शिक्षाके केन्द्र नागरिक कोलाहल एवं चाकचिक्यसे दूर वनों, पर्वतों तथा तीर्थक्षेत्रोंमें विकसित हुआ करते थे, जहाॅ समाजके सभी श्रेणीके विद्यार्थी सादगी एवं त्याग-तपस्याके परिवेशमें आचार्योंके प्रति श्रद्धा एवं सेवाका भाव रखते हुए अपने जीवनके पचीसवें वर्षतक सभी प्रकारकी शिक्षाका अर्जन करते थे। इन शिक्षा-संस्थानोको गुरुकुल अथवा आश्रमकी संज्ञा दी जाती थी। ज्ञानको इतना पुनीत माना जाता था कि इसका केवल दानके रूपमे ही आदान-प्रदान किया जाता था। उपनिपदों, पुराणों, रामायण, महाभारतमे हम ऐसे अनेक विद्यापीठोंका उल्लेख पाते हैं। फिर वौद्ध-युगमें तो विद्याका और भी उत्कर्ष हुआ। नालन्दा और तक्षशिलामे पूरे एशियाके दूर-दूर देशोके विद्यार्थी भी अध्ययनार्थ आया करते थे। इसके अतिरिक्त दक्षिणमें कांचीपुरम्, गुजरातमे वलभी, विहारमें विक्रमशिला एवं अवन्तिपुरी तथा बंगालमें नवद्वीप भारतीय विद्याके प्राचीन केन्द्रोंके रूपमें विख्यात रहे हैं।

लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व वौद्ध प्रभावसे भारतीय सभ्यता एवं संस्कृतिकी अवनति होने लगी और हिंदू-समाज इतना अहिंसावादी हो गया कि मुट्ठीभर विदेशी आक्रान्ताओके आक्रमणका सामना नहीं कर सका और आगामी कुछ शताव्दियोंमे विस्तारोन्मुख इस्लामी साम्राज्यने भारतीय उच्चतम शिक्षा-प्रणालीको पूर्णतः विध्वस्त कर दिया। मुसलमान शासकोने अपनी संस्कृति एवं शिक्षाके विस्तार-हेतु इलाहावाद, अजमेर, वीदर, दिल्ली, जौनपुर, लाहौर, लखनऊ और रामपुर आदि स्थानोमे बड़े मदरसोकी

पना की, जहाँ अरबी एवं फारसीको ही शिक्षाका ्यम बनाया गया। भारतकी परम्परागत शिक्षाका क्षेत्र ;चित होता गया और बहुत-सी विद्याओका पूर्णतः ्र हो गया।

१७वीं-१८वी शताब्दीसे भारतमे अंग्रेजोका प्रभाव ने लगा और ज्यो-ज्यो भारतमे उनका साम्राज्य पॉव ारता गया, त्यो-त्यो शासकवर्ग स्थानीय लोगोको शिक्षित नेकी आवश्यकताका अनुभव करने लगे। इस दिशामे ्पुट प्रयास होते रहे, परंतु भारतमे पाश्चात्त्य उच्च क्षाकी प्रणालीको व्यापक स्तरपर प्रारम्भ करनेका श्रेय र्ड हेस्टिंग्ज, कर्जन और मैकालेको दिया जाता है। र्ड मैकाले १८३४ ई०मे गवर्नर जनरलके सर्वोच्च सिलके 'ला मेम्बर' के रूपमे भारत आये। उन दिनो कारमे विवाद छिड़ा हुआ था कि शिक्षाका माध्यम कृत, अरबी और फारसी ही रखा जाय अथवा उनकी ाह अग्रेजीको स्थान दिया जाय। मैकालेने अंग्रेजी-शिक्षाके ्ल समर्थनमे एक मसविदा तैयार किया और ७ मार्च ःउ५ ई०को सरकारने उसे स्वीकार कर लिया। इसके लस्वरूप भारतकी शिक्षासम्बन्धी नीतिमे एक बड़ा ही ान्तिकारी परिवर्तन आया। मैकालेने अपने उस मसविदेमे च्य भाषाओ एवं संस्कृतिकी तीव्र निन्दा करते हुए ग्रेजी-शिक्षाका उद्देश्य निम्नलिखित शब्दोमे अभिव्यक्त ्या था —

"We must at present do our best to form a ass of such persons, who may be interpreters ətween us and the millions, whom we govern--a ass of persons Indian in blood and colour, but nglish in tests, in opinions, in morals and in tellect" [1] (A source book of modern Indian ducation, M R Paranjape, Page 28)

इस नवीन शिक्षा-प्रणालीके आधारपर सरकारने १८३६ ई०में पहले तो हुगलीमे, तदुपरान्त ढाका और पटनामे कॉलेजोकी स्थापना की। उसी वर्षके अन्तमे १२ अक्टूबर १८३६ ई०को मैकालेने कलकत्तेसे अपने पिताको एक पत्रमे लिखा था—'हमारे अग्रेजी स्कूल अद्भुत रूपसे उन्नति कर रहे हैं। शिक्षा पानेके इच्छुक सभी छात्रोको पढ़ानेकी व्यवस्था कर पाना बड़ा कठिन हो रहा है और कही-कही तो असम्भव हो उठा है। एक हुगलीके स्कूलमे ही कुल चौदह सौ लड़के अग्रेजी सीख रहे है और हिंदुओपर इस शिक्षाका प्रभाव बड़ा ही विलक्षण होता है। अंग्रेजी-शिक्षा पानेके बाद कोई भी हिंदू अपने धर्मके प्रति सच्ची निष्ठा नही रख पाता। यद्यपि उनमे कुछ इसे (हिंदू-धर्मको) नीतिकी दृष्टिसे मानते है, पर बहुत-से अपनेको पूर्णतः अज्ञेयवादी मानते हैं और कुछ तो ईसाई-धर्म ही स्वीकार कर लेते है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा-योजनाएँ जारी रखी गयीं तो अबसे तीस वर्ष बाद बंगालके सम्भ्रान्त वर्गोमे एक भी मूर्तिपूजक दृष्टिगोचर न होगा और यह सब केवल ज्ञान एवं चिन्तनकी स्वाभाविक प्रक्रियासे सम्पन्न हो जायगा। इसके लिये न तो हमे धर्मान्तरणकी कोई चेष्टा करनी होगी और न उनके धार्मिक स्वाधीनतामे थोडा भी हस्तक्षेप करना होगा। मुझे इन सम्भावनाओपर हार्दिक आनन्दकी अनूभूति होती है।' परवर्ती ५०-६० वर्षोके इतिहासके घटनाचक्रोका अध्ययन करके हम लॉर्ड मैकालेकी दूरदृष्टिकी प्रशसा किये बिना नही रह सकते।

मनुष्य सोचता कुछ और है परंतु नियतिको कुछ और ही स्वीकार होता है। १८३६ ई०मे लॉर्ड मैकालेद्वारा प्रवर्तित आधुनिक शिक्षा देनेके निमित्त बगालके हुगली नामक स्थानमे पहला कॉलेज खुला और उसी वर्ष उसी जिलेके कामारपुकुर नामक एक लघु ग्राममे १७ फरवरीको एक ऐसे शिशुने जन्म लिया, जिसने उक्त शिक्षा-प्रणालीके विनाशकारी प्रभावसे भारतको उबार लिया। बादमे

---

[1] 'इस समय तो हमारा सर्वोच्च कर्तव्य एक ऐसा वर्ग तैयार करना है, जो हमारे तथा हमारे द्वारा शासित करोडो भारतवासियोंके बीच सम्पर्कसूत्रका कार्य करे। यह एक ऐसे लोगोका वर्ग होगा, जो केवल रक्त एव वर्णसे भारतीय दीखेगे, पर रुचि, भाषा तथा आचार-विचार आदिकी दृष्टिमें अग्रेज होगे।'

श्रीरामकृष्ण परमहंसके रूपमे सुविख्यात होनेवाले बालक गदाधरकी प्रारम्भसे ही सत्य एवं धर्ममे निष्ठा थी। रामायण, भागवत तथा पौराणिक कथाओ एवं भजन आदिकी ओर उसका रुझान था और बचपनसे ही उसे कुछ अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ भी होने लगी थीं। 'मै पेट भरनेवाली विद्या प्राप्त करना नहीं चाहता'—कहकर उसने स्कूल जानेसे इनकार कर दिया था, फलतः वह आजीवन निरक्षर भट्टाचार्य ही रह गया। कलकत्ता उन दिनो ब्रिटिश भारतकी राजधानी थी, जहाँ उनके बड़े भाई रामकुमार चट्टोपाध्यायने एक छोटी-सी संस्कृत-पाठशाला खोल रखी थी, इसके अतिरिक्त कुछ सम्पन्न परिवारोमे पूजा-पाठ करके वे अपनी आजीविका चला लेते थे। अपने साथ रखनेसे गदाधरकी थोड़ी शिक्षा भी हो जायगी और मेरे काममे भी सहायता मिल जायगी, ऐसा सोचकर वे अपने अनुजको कलकत्ते ले आये। उन्हीं दिनो कलकत्तेके समीप ही दक्षिणेश्वर नामक स्थानमे गङ्गा-तटपर रानी रासमणिने एक विशाल देवालय बनवाया, जिसमे भवतारिणी काली, राधाकान्त श्रीकृष्ण तथा बारह शिवके मन्दिर निर्मित हुए। एक युवकके रूपमे गदाधर (श्रीरामकृष्ण) यही काली-मन्दिरके पुजारी नियुक्त होकर रहने लगे। जगदम्बाकी पूजा करते समय उनके मनमे प्रश्न उठता कि माँकी मूर्ति पाषाणमात्र है अथवा उसमे जीवन भी है। उनकी कठोर साधना एवं व्याकुल प्रार्थनापर द्रवित होकर जगन्माताने प्रतिमासे चिन्मय रूपमे प्रकट होकर उन्हे दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया। तदुपरान्त उन्होने हिंदू-परम्पराके वात्सल्य, मधुर, दास्य आदि भावोका आश्रय लेकर भी ईश्वरोपलब्धिकी, तन्त्र एवं वेदान्तकी साधनामे भी सिद्धि पायी। अपनी समस्त साधनाओमे सिद्धि पा लेनेके पश्चात् वे इस निष्कर्षपर पहुँचे कि प्रत्येक धर्म मानवको ईश्वरतक ले जानेवाला एक-एक सच्चा मार्ग है।

फिर जैसे पुष्पके प्रस्फुटित होनेपर भौरोका झुंड अपने-आप ही खिंचा चला आता है, उसी प्रकार सभी तरहके धर्मपिपासुओका दल दक्षिणेश्वरके परमहंसकी दो बाते सुननेको उमड पड़ा। इनमे हिंदू-अहिंदू, धनी-दरिद्र, शिक्षित-अशिक्षित, वृद्ध-युवा, पुरुष-नारी—सभी श्रेणीके लोग थे। उन दिनों सुचारुचालित पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे दिग्भ्रमित होकर बंगालके अधिकांश नवयुवक अपनी धर्म-संस्कृतिमे आस्था खो रहे थे और उनमेसे कुछ ईसाई-धर्मकी ओर भी आकृष्ट हो रहे थे। हिंदू-संस्कृतिपर ईसाई-आक्रमणके प्रतिक्रियास्वरूप हिंदू-समाजने आत्मरक्षार्थ आर्य-समाज, ब्राह्म-समाज, प्रार्थना-समाज तथा अन्य सुधारक दलोंको जन्म दिया, पर ये दल भी मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि हिंदुत्वके अविभाज्य अङ्गोपर कठोर आघात करने लगे थे। उसी समय श्रीरामकृष्णका जीवन प्रकाशमे आया, जो सर्वाङ्गीण हिंदूधर्मका जीवन्त साक्ष्य था।

श्रीयुत केशवचन्द्र सेन ब्राह्म-समाजके लोकप्रिय नेता एवं सुप्रसिद्ध वक्ता थे। ईसाई-धर्मकी ओर उनका विशेष रुझान था और वे इंग्लैड आदि देशोकी यात्रा भी कर आये थे। उस कालके अधिकांश और विशेषकर बंगालके शिक्षित नवयुवक प्रेरणा एवं नेतृत्वके लिये उनकी ओर बडी आशाभरी दृष्टिसे देखते थे। १८७५ ई०मे केशव बाबूका श्रीरामकृष्णके सम्पर्कमे आना एक महान् ऐतिहासिक घटना थी और इसके बड़े दूरगामी परिणाम हुए। श्रीरामकृष्णके साथ अपने भेटोकी बाते केशव बाबूने अपने पत्र-पत्रिकाओमे प्रकाशित की, जिसके फलस्वरूप भारतका सम्पूर्ण शिक्षित समाज दक्षिणेश्वरके इन निरक्षर, परंतु ज्ञानी संतके विचारो एवं अनुभूतियोसे परिचित हुआ। बडे-बडे देशी पण्डित एवं विदेशी विद्वान् उनका दर्शन करने तथा उनके दो शब्द श्रवण करनेको लालायित हो उठे। इस प्रकार सम्पूर्ण शिक्षित समाज धीरे-धीरे सर्वाङ्गीण हिंदू-धर्मके विषयमे अपना दृष्टिकोण बदलने लगा। ब्राह्म समाजके ही एक अन्य प्रसिद्ध नेता श्रीप्रतापचन्द्र मजुमदारने 'Theistic Quarterly Review' अक्टूबर १८७९ ई०के अङ्कमे श्रीरामकृष्णके विषयमे एक सुन्दर लेख लिखा, जिसमे इस प्रभावका वे निम्नलिखित शब्दोमे वर्णन करते है—'उनके और मेरे बीच भला क्या सादृश्य है? कहाँ तो मै यूरोपीय भावापन्न, सुसभ्य, आत्मकेन्द्रित, अर्धनास्तिक और तथाकथित शिक्षित युक्तिवादी हूँ और कहाँ वे एक अपढ़, निर्धन, ग्रामीण, मूर्तिपूजक और

परिचयहीन हिंदू-भक्त है । क्यो मैं उनकी बाते सुननेके लिये घंटो बैठा रहता हूँ । मैने जिसने डिजरायली और फासेटके व्याख्यान सुने है, स्टैनली और मैक्समूलरके भाषण सुने है, समस्त यूरोपीय विद्वानो एवं धर्मनेताओकी वक्तृताएँ सुनी है, भला क्यो उनकी वाणी सुनते हुए मन्त्रमुग्ध-सा रह जाता हूँ? और केवल मै ही नहीं, अपितु मेरे ही-जैसे और भी दर्जनो लोग उनके पास इसी प्रकार जाया करते हैं ।'

इस लेखके प्रकाशित होनेके कई वर्ष बाद स्वामी विवेकानन्दकी पारी आयी । तब वे १८-१९ वर्षके तरुण थे तथा नरेन्द्रनाथ दत्तके नामसे जाने जाते थे । कालेजकी शिक्षा पाकर तथा ब्राह्म-समाजके सम्पर्कमे आकर नरेन्द्रनाथ परम्परागत हिंदू-धर्ममे अपनी आस्था खो बैठे, उन्होंने मूर्तिपूजा न करनेका प्रतिज्ञापत्र भर दिया और यहाँतक कि वे ईश्वरके अस्तित्वमे भी संदेह करने लगे । उनके मनमे यह सहज प्रश्न उठने लगा कि यदि इस जगत्‌के कर्ता, धर्ता या संहर्ताके रूपमें सचमुच ही किसी ईश्वरका अस्तित्व है, तो क्या किसीने उनका दर्शन भी किया है? इस प्रश्नको लेकर वे अपने समयके सभी प्रमुख धर्माचार्योतक गये, पर कोई भी उनकी शङ्काका समाधानपरक उत्तर दे सका । अन्तत. वे अपने कालेजके पादरी प्राध्यापकके संकेतसे दक्षिणेश्वर जाकर श्रीरामकृष्णसे मिले और उनके समक्ष भी अपना वही पुराना प्रश्न दुहराया—'क्या आपने ईश्वरको देखा है?' परंतु इस बार उन्हे एक अप्रत्याशित उत्तर मिला—'हॉ देखा है । जैसे तुझे देख रहा हूँ, उससे भी कही स्पष्टरूपसे उन्हे देखता हूँ ।' नरेन्द्रनाथके बौद्धिक संशयका कुहासा छँटने लगा और उनका अन्तर आस्था एवं श्रद्धाकी रवि-रश्मियोसे उद्भासित हो उठा । आगामी चार वर्षोंतक वे कॉलेजमे पाश्चात्त्य शिक्षा पानेके साथ ही श्रीरामकृष्णके सांनिध्यमे साधना एवं स्वाध्यायके द्वारा अध्यात्मविद्या भी आयत्त करते रहे । इस अद्भुत मिलनका वर्णन सुप्रसिद्ध कवि रामधारीसिंह 'दिनकर' ने इन शब्दोमे किया है—'वस्तुतः नरेन्द्रनाथ जब श्रीरामकृष्णकी शरणमे गये, तब वस्तुतः नवीन भारत ही प्राचीन भारतकी शरणमे गया था । अथवा यूरोप भारतके सामने आया था । श्रीरामकृष्ण और नरेन्द्रनाथका मिलन श्रद्धा और बुद्धिका तथा रहस्यवाद और बुद्धिवादका मिलन था ।'[२] स्वामी विवेकानन्द स्वयं भी इस प्रसङ्गमे कहते हैं—'आजकल मूर्तिपूजाको गलत बतानेकी प्रथा-सी चल पड़ी है । मैंने भी एक समय ऐसा ही सोचा था और इसके दण्डस्वरूप मुझे एक ऐसे व्यक्तिके चरण-कमलोमे बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी पडी, जिन्होने सब कुछ मूर्तिपूजाके ही द्वारा प्राप्त किया था ।'[३]

स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य सहस्रो पाश्चात्त्य-भावापन्न नवयुवकोको श्रीरामकृष्णने जो भारतीय संस्कृतिका दुग्धपान कराया था, इस विषयमे प्रसिद्ध क्रान्तिकारी, दार्शनिक एवं योगी श्रीअरविन्दने भी बम्बईमे १९ जनवरी १९०८ ई०को प्रदत्त व्याख्यानमे कहा था—'परमात्माने उन्हे बंगालमे भेजा और कलकत्तेके दक्षिणेश्वर-मन्दिरमे नियुक्त किया । उत्तर एव दक्षिणसे, पूर्व एवं पश्चिमसे शिक्षित लोग, ऐसे लोग जो विश्वविद्यालयके गौरव थे और जिन्होने वह सब कुछ पढ़ लिया था, जो यूरोप उन्हे पढ़ा सकता था, इन संन्यासीके चरणोमे बैठनेके लिये आये । (और तभीसे) मुक्तिका कार्य, भारतकी उन्नतिका कार्य प्रारम्भ हो गया ।'

आक्सफोर्डके जर्मन प्राध्यापक मैक्समूलरने कहा था—'श्रीरामकृष्ण एक मौलिक विचारक थे, क्योंकि उनकी शिक्षा-दीक्षा किसी विश्वविद्यालयकी परिधिमे नही हुई थी ।' फ्रांसके सुप्रसिद्ध नोबल पुरस्कार-विजेता मोशियो रोमॉ रोलॉने उन्हे नरदेव (Man-God) और 'विश्वात्माकी अनुपम संगीत रचना' के रूपमे प्रस्तुत किया । इसी प्रकार विश्वके अनेक देशोके हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी विद्वानो, मनीषियो एवं विचारकोने श्रीरामकृष्णके अनुपम व्यक्तित्वके प्रति तीव्र आकर्षणका अनुभव किया है ।

---

२. सस्कृतिके चार अध्याय, 'दिनकर', पृ० ४९५ ।
३. विवेकानन्द-साहित्य, खण्ड ५, पृ० ११३ ।

यह सोचकर बडा ही विस्मय होता है कि कैसे भारतके एक सुदूर गॉवमे जन्मा एक निर्धन एवं अशिक्षित व्यक्ति विश्वभरके इतने सारे प्रतिभावान् लोगोका श्रद्धाभाजन एवं प्रेरणाका केन्द्रबिन्दु बन सकता है, परंतु थोड़ा-सा विचार करनेपर ही इसका कारण स्पष्ट समझमे आ जाता है। श्रीरामकृष्णने अपनी साधनामे वैज्ञानिक पद्धतिका सहारा लिया और साक्षात्कार किये बिना किसी भी बातको सत्य नहीं माना। अनुभूतिपर आधारित होनेके कारण ही उनकी उक्तियॉ इतनी अपील करती हैं। महात्मा गॉधी लिखते हैं—'उनका जीवन हमे ईश्वरको प्रत्यक्ष-रूपसे देखनेमे समर्थ बनाता है। उनकी उक्तियॉ एक पण्डितके विचारमात्र नही, अपितु उनके जीवनग्रन्थके पृष्ठ है। वे उनकी अपनी अनुभूतियोकी अभिव्यक्तियॉ हैं।' इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीरामकृष्णने धर्मको एक वैज्ञानिक एवं यौक्तिक आधार प्रदान किया है।

आज जो धर्मके नामपर अज्ञान, अन्धविश्वास तथा साम्प्रदायिक विद्वेषका राज्य चल रहा है, उसके लिये पर्याप्त हदतक हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली तथा सरकारकी धर्मनिरपेक्षताकी नीति ही उत्तरदायी है। धर्मनिरपेक्षताका अर्थ धर्महीनता लगाकर यदि लोगोको धर्मके आलोकसे वञ्चित रखा जायगा तो फिर अधर्मका अन्धकार फैलनेसे कौन रोक सकता है? यदि हमे धर्मके नामपर प्रचलित अयुक्तिपूर्ण प्रथाओ, अन्धविश्वासों, कट्टरता, पुनरुत्थानवाद, जादू-टोने, रहस्यवाद, साम्प्रदायिक कलह आदिसे देश एवं समाजको बचाना है, तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम शिक्षाके सभी स्तरो और विशेपकर विश्वविद्यालयके पाठ्यक्रममे धर्मकी शिक्षाको अनिवार्यरूपसे संयोजित कर दे। शिक्षाका लक्ष्य इन्द्रियग्राह्य विषयोके साथ ही इन्द्रियातीत तत्त्वोका भी ज्ञान पाना हो। शिक्षा-संस्थानोके उपयोगके लिये सभी धर्मके मूल तत्त्वोका सार-संग्रह करना होगा और इस दिशामे श्रीरामकृष्ण और उनकी उक्तियॉ दिशा-निर्देश कर सकती है; क्योंकि स्वामी विवेकानन्दके शब्दोमे 'श्रीरामकृष्णका जीवन एक असाधारण ज्योतिर्मय दीपक है, जिसके प्रकाशमे हिंदू-धर्मके विभिन्न अङ्ग एवं आशय समझे जा सकते हैं। शास्त्रोमें निहित सिद्धान्त-रूप ज्ञानके वे प्रत्यक्ष उदाहरणस्वरूप थे। ऋषिगण और भगवान्के अवतार हमे जो वास्तविक शिक्षा देना चाहते थे, उसे उन्होंने अपने आचरणद्वारा दिखाया। श्रीरामकृष्ण शास्त्रीय मतवादकी प्रत्यक्ष अनुभूति हैं। उन्होने ५१ वर्षमे पॉच हजार वर्षका राष्ट्रिय आध्यात्मिक जीवन जिया और इस तरह वे भविष्यकी संतानोके लिये अपने-आपको एक शिक्षाप्रद उदाहरण बना गये।'[४]
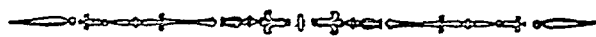
अहंकार-दमन

एक पढ़े-लिखे बाबू नावद्वारा नदी पार कर रहे थे। उन्होने नाविकसे पूछा—'क्या तुम व्याकरण जानते हो?' नाविकने उत्तर दिया—'नहीं।' बाबूने कहा—'तुम्हारी चार आनेकी जिंदगी निकम्मी है।' थोड़ी देर बाद बाबू फिर बोले—'क्या तुम्हे काव्य करना आता है?' नाविकने कहा —'नहीं।' 'फिर तो तुम्हारी आठ आना जिंदगी बेकार हो गयी।' बाबूने कहा—'अच्छा, तो तुमको गणित तो आता होगा?' नाविक बोला—'बाबूजी! मुझे गणित भी नहीं आता।' बाबूने कहा कि 'तब तो तुम्हारी बारह आना जिंदगी व्यर्थ हो गयी।'

उसी समय संयोगवश नदीमे तूफान उठा और नाव डगमगाने लगी। नाविक नदीमे कूद गया और तैरते हुए उसने बाबूसे पूछा—'बाबूजी! तैरना तो आप जानते होगे?' बाबू बोले—'नहीं।' नाविकने कहा 'फिर तो आपकी जिंदगी इस समय सोलह आना पानीमे है।'

४ विवेकानन्द-साहित्य खण्ड ३, पृ० ३३९।

चैतन्यमहाप्रभुकी भक्ति-शिक्षा
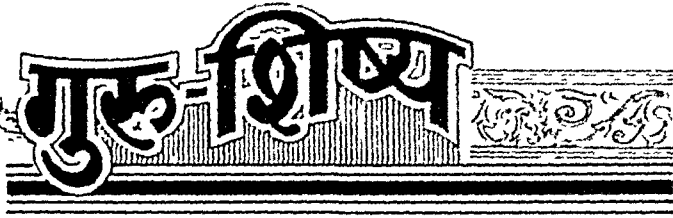
परम तत्त्वोपदेष्टा गुरु और जिज्ञासु शिष्य

(डॉ॰ श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामी)

भारतीय परम्परामे गुरु, आचार्य, उपाध्याय आदि शब्दोंका पारिभाषिक अर्थमे प्रयोग मिलता है। पर 'गुरु' शब्द सर्वत्र विशेष व्याप्त है। प्राचीन साहित्यकी आलोचना करनेसे यह सुस्पष्ट है कि तान्त्रिक-प्रधान धर्मसम्प्रदायोके मध्यमें तथा अध्यात्मसाधनाके क्षेत्रोमे गुरुकी अपरिहार्यता है। अध्यात्म एवं साधनाका वैशिष्ट्य आरम्भसे ही गौरवमयी मूर्तिके रूपमें स्वीकृत है। दीक्षाके बिना किसी भी क्रियामे अधिकार न होनेके कारण कुलार्णवतन्त्र आदिके अनुसार गुरुकी विभिन्न व्याख्याओके साथ महत्त्व वर्णित है—'**तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत्।**' (कु॰ त॰ १४)।

मोक्षकी प्राप्ति ही सम्प्रदायका परम लक्ष्य है और इसकी प्राप्ति गुरुसे दीक्षित हुए बिना सम्भव नही है, अत. अनायास ही गुरुका महत्त्व सिद्ध होता है—

विना दीक्षां न मोक्षः स्यात् तदुक्तं शिवशासने।
सा च न स्याद्विनाऽऽचार्यमित्याचार्यपरम्परा॥

मुण्डकोपनिषद्मे स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मज्ञ गुरु संयत-इन्द्रियसम्पन्न प्रशान्त-चित्त समीपमें आये हुए शिष्यको तत्त्वके अनुरूप उस ब्रह्मविद्याका उपदेश दे।[1] जिसके द्वारा शिष्य अक्षर पुरुषके स्वरूपको भलीभाँति अवगत करे। इनसे सुस्पष्ट है कि सिद्ध गुरुमुखसे ही विद्याका लाभ करना चाहिये।

रुद्रयामल (उ॰ ४।२) के अनुसार गुरुका स्वरूप वर्णन करते हुए कहा गया है कि शान्त, जितेन्द्रिय, कुलीन, शुद्ध वेश धारण करनेवाला, पवित्र आचार-सम्पन्न, सुप्रतिष्ठित, शुद्ध, दक्ष, सुबुद्धि, आश्रमी अर्थात् गृहस्थ, ध्याननिष्ठ, मन्त्रार्थका ज्ञान करानेवाला, निग्रह और अनुग्रह करनेमें समर्थ, मन्त्र-तन्त्र-विशारद, रोगहीन, अहङ्काररहित, निर्विकार, महापण्डित, वाक्पति, श्रीसम्पन्न, सदा यज्ञका विधान करनेवाला, पुरश्चरणका सम्पादक, सिद्ध-हित और अहित-विवर्जित, सभी सुन्दर लक्षणोसे समन्वित, विशिष्ट व्यक्तियोके द्वारा समादृत, प्राणायामादि-सिद्ध, ज्ञानी, मौनी, वैराग्यसम्पन्न, तपस्वी, सत्यवादी, सदा ध्यानपरायण, आगमके अर्थोका विशेषज्ञ, अपने धर्मके आचरणमे तत्पर, अव्यक्त लिङ्गचिह्नयुक्त, भावुक, कल्याणकर, दानपरायण, लक्ष्मीवान्, धैर्यसम्पन्न एवं प्रभुतासम्पन्न गुरु होना चाहिये।

सम्मोहनतन्त्र, कुलार्णवतन्त्र, तन्त्रराजतन्त्र आदिमें अतिशय विस्तारके साथ गुरुका स्वरूप वर्णित है। यह सत्य है कि शास्त्रोक्त लक्षणसम्पन्न गुरु सर्वथा दुर्लभ हैं, किंतु गुरुतन्त्रके अनुसार गुरुके विषयमे ऐसा वर्णन किया गया है कि शिष्यके वित्त (धन)का अपहरण करनेवाले गुरु अनेक हैं, परंतु शिष्यके हृदयके सतापको दूर करनेवाले गुरु दुर्लभ हैं। इन गुरुओंमे शिष्योको अभ्युदय-योग और निःश्रेयस्-मोक्ष प्रदान करनेवाले गुरु श्रेष्ठ है।

गुरु और शिष्यकी परस्पर परीक्षा

गुरु और शिष्यकी परीक्षा दीक्षार्थी शिष्य और शिक्षा देनेवाले गुरुके प्रसंगमे कही गयी है। अयोग्य शिष्यको मन्त्र देनेपर देवताके अभिशापकी सम्भावना रहती है। जिस प्रकार मन्त्रीके द्वारा किये गये पापका भोग राजाको करना पडता है तथा पत्नीके द्वारा किये गये पापका भोग

---

१ तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ (१।२।१३)

पतिको भी करना पड़ता है, वैसे ही शिष्यके पापका भागी गुरु होता है, इसमे संदेह नही है—

मन्त्रिदोषश्च राजानं जायादोषः पतिं यथा।
तथा प्राप्नोत्यसंदेहं शिष्यपापं गुरुं प्रिये॥

(उ० त० ११)

यदि स्नेह या लोभके कारण अयोग्य शिष्यको दीक्षा दी जाती है तो गुरु और शिष्य दोनोको ही देवताका अभिशाप लगता है—

स्नेहाद्वा लोभतो वापि योऽनुगृह्णाति दीक्षया।
तस्मिन् गुरौ च शिष्ये तु देवता शापमापतेत्॥

(प्र० सा० त० ३६५०)

इसलिये शिष्य बनानेके पहले उसकी परीक्षा अवश्य करनी चाहिये। सारसंग्रहके अनुसार एक वर्ष शिष्यकी परीक्षाका समय निर्धारित किया गया है। वर्णके अनुसार परीक्षा-कालका भेद भी शारदातिलकमे वर्णित है, यथा—ब्राह्मणका एक वर्ष, क्षत्रियका दो वर्ष, वैश्यका तीन वर्ष और शूद्रका चार वर्ष कहा गया है। शारदातिलक (२।१४५,२५०) मे कहा गया है कि सत्-शिष्यको कुलीन, शुद्धात्मा, पुरुषार्थपरायण, वेदाध्ययनसम्पन्न, काममुक्त, प्राणियोका हितचिन्तक, अपने धर्ममे निरत, भक्तिपूर्वक पिता-माताका हितकारी, शरीर, मन, वाणी और धनके द्वारा गुरुकी सेवामे रत, गुरुके सम्पर्कमे जाति, विद्या और धनके अभिमानसे शून्य, गुरुकी आज्ञाका पालन करने-हेतु प्राणविसर्जनके लिये उद्यत, अपना काम छोड़कर भी गुरुके कार्यके लिये तत्पर, गुरुके प्रति भक्तिपरायण, आज्ञाकारी और शुभाकाङ्क्षी होना चाहिये।

'तन्त्रराज'के अनुसार सुन्दर, सुमुख, स्वच्छ, सुलभ, श्रद्धावान्, निश्चित आशयवाला, लोभरहित, स्थिर-शरीर, ऊहापोह-कुशल (प्रेक्षाकारी), जितेन्द्रिय, आस्तिक, गुरु, मन्त्र और देवताके प्रति दृढ़ भक्तिसम्पन्न शिष्य गुरुके लिये सुखप्रद होता है अन्यथा वह दुःखदायी होता है।

इतना ही नही, आचार्योंने त्याज्य शिष्योका भी लक्षण बतलाया है। रुद्रयामलके अनुसार कामुक, कुटिल, लोकनिन्दित, असत्यवादी, अविनीत, असमर्थ, प्रज्ञाहीन, शत्रुप्रिय, सदा पाप-क्रियामे रत, विद्याहीन, मूढ़, कलिकालके दोषोसे समन्वित, वैदिक क्रियासे रहित, आश्रमके आचारसे शून्य, अशुद्ध अन्तःकरणवाला, श्रद्धाहीन,धैर्यरहित, क्रोधी, भ्रान्त, असच्चरित्र, गुणहीन, सदा पर-स्त्रीके लिये आतुर, भक्तिहीन, अनेक प्रकारकी निन्दाओंका पात्र शिष्य वर्जित माना गया है।

इस प्रकार पुराणो और तन्त्र-ग्रन्थोमे गुरु-शिष्यके विषयमे विशद वर्णन मिलता है। गुरुकी महिमाका वर्णन करते हुए मुण्डमालातन्त्रमे सम्पूर्ण विश्वको गुरुमय माना गया है—

गुरुरेकः शिवः साक्षाद् गुरुः सर्वार्थसाधकः।
गुरुरेव परं तत्त्वं सर्वं गुरुमयं जगत्॥

कौलावली-निर्णयमे कहा गया है कि ब्रह्मा, पराशर, व्यास, विश्वामित्र आदिने गुरुशुश्रूषाके कारण ही सिद्धि लाभ किया था। योगसूत्रमे भी ईश्वरको गुरु-रूपमे वर्णित करते हुए कहा गया है कि अनवच्छिन्नकालसे ही वह सभीका गुरु है—**'स सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।'** इस प्रकारके महत्त्वके लिये 'गुरु' शब्दसे उनका अभिधान किया गया है। अनेक उपनिषदोमे शिष्योकी गाथाएँ उपलब्ध है, जिनके द्वारा यह सिद्ध है कि सद्गुरुके समीप आत्मनिवेदन या शरणागतिके द्वारा आध्यात्मिक ज्ञानकी उपलब्धि हो जाती है। जैसे—श्वेतकेतु, नचिकेता, मैत्रेयी आदिको सत्यनिष्ठ रूपमे गुरुके समीप जाकर उनके आज्ञानुसार सेवामें तत्पर होनेसे सभी कुछ प्राप्त हुए थे। पौराणिक एवं आधुनिक गाथाएँ भी इसका साक्ष्य वहन कर रही हैं, जैसे ध्रुव, प्रह्लाद आदि।

श्रीगुरुके प्रति कर्तव्य

गुरु, कुलशास्त्र, पूज्यस्थान—इनके पूर्वमे श्रीशब्दका प्रयोग कर भक्तिपूर्वक उच्चारण करते हुए प्रणाम करे। अपना और गुरुके नामका उच्चारण न करे। जपके अतिरिक्त विचार आदिके समयमे गुरुका नाम उच्चारण न कर श्रीनाथ, स्वामी, देव आदि शब्दोसे गुरुका उल्लेख करना शिष्यके लिये विहित है।

आगमानुसार आनन्दनाथ एवं अम्बा शब्दका अन्तमे प्रयोग कर विचार और साधनाके समय गुरुका स्मरण करना चाहिये। गुरुके सम्मुख मिथ्या भाषण करनेपर

तत्त्वोपदेष्टा गुरु और जिज्ञासु शिष्य
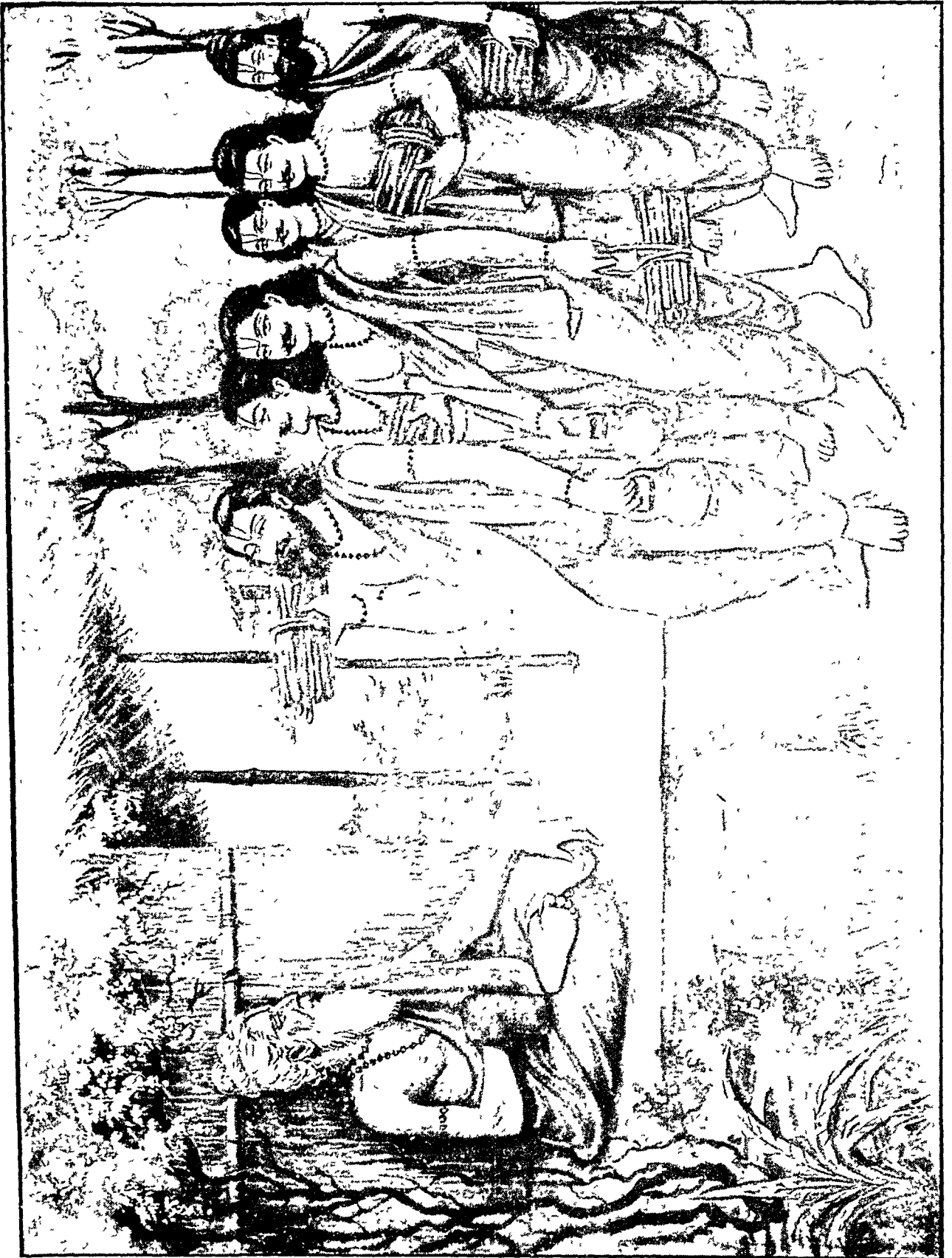
गोवध एवं ब्रह्मवधका-सा पाप होता है। गुरुके साथ एक आसनपर शिष्यको नहीं बैठना चाहिये तथा गुरुके आगे-आगे नहीं चलना चाहिये। शक्ति, देवता और गुरुकी छायाका लङ्घन नही करना चाहिये। गुरुके समीप रहनेपर उनके आदेशके बिना, उनकी वन्दनाके बिना निद्रा, ज्ञानका परिचय- प्रदान, भोजन, शयन न करे। अपना प्रभुत्व और औद्धत्य न प्रकट करे तथा शास्त्र-व्याख्यान, दीक्षा आदि न दे। गुरुकी आज्ञाके बिना उनकी वस्तुको नहीं लेना चाहिये। इष्टतम वस्तु गुरुको प्रदान करनी चाहिये। शिष्यके द्वारा किया गया पुष्प आदि स्वल्प वस्तुका दान भी शिष्यको अधिक महत्त्वका मानना चाहिये। गुरुवंश भी शिष्यकी पूजाके योग्य है। युवती गुरुपत्नीके पैरका स्पर्श हाथसे न करे। शिष्य गुरुकी निन्दा न करे, उसे गुरुकी निन्दा भी नहीं सुननी चाहिये। रुद्रयामलके अनुसार शिष्य जिस दिनसे गुरुकी निन्दा, पिशुनता आदि करता है, उसी दिनसे देवी उसकी पूजाको स्वीकार नहीं करतीं।

कुलचूडामणिके अनुसार उदासीनका गुरु उदासीन होगा। वानप्रस्थाश्रमीका गुरु वनवासी अर्थात् वानप्रस्थी होगा। यतिका गुरु यति होगा और गृहस्थका गुरु गृहस्थ होगा—

उदासीनो ह्युदासिनां वनस्थो वनवासिनाम्।
यतीनां च यतिः प्रोक्तो गृहस्थानां गुरुर्गृही॥

रुद्रयामल एवं महाकपिञ्जल-पञ्चरात्रके अनुसार भी गृहस्थका गुरु गृहस्थ ही होना चाहिये। मत्स्यसूक्तवचनके अनुसार स्त्री-पुत्रसमन्वित गुरु ही गृहस्थका गुरु होता है—'**पुत्रदारैश्च सम्पन्नो गुरुरागमसम्मतः।**'

गणेशविमर्शिनी तन्त्रके अनुसार गृहस्थको यति, पिता, वानप्रस्थाश्रमी एवं उदासीनसे दीक्षा नहीं ग्रहण करनी चाहिये।[२] आशय यह है कि गृहस्थके लिये गृहीकी ही दीक्षा विहित है।

गुरुके भेद

कुलार्णवतन्त्रके अनुसार गुरुके छः भेद बतलाये गये हैं—प्रेरक, सूचक, वाचक, दर्शक, शिक्षक और बोधक।[३]

वस्तुतः अन्य तन्त्रोंके अनुसार गुरुके दो ही भेद माने गये हैं—दीक्षागुरु और शिक्षागुरु। साधना-व्यापारमें प्रथम दीक्षागुरु तत्पश्चात् शिक्षागुरु होते हैं।[४] दीक्षागुरु और शिक्षागुरु एक या भिन्न भी हो सकते हैं।

तन्त्रके अनुसार गुरु आचार्य एवं देशिक नामसे कहे जाते हैं। आचार्य शब्द प्राचीन है और देशिक शब्द सम्प्रदाय-क्रममे उपलब्ध होता है, किंतु उपनिषद्में शिक्षागुरु ही व्यवहृत होता है।

तन्त्रके आचार्यके व्याख्या-प्रसङ्गमे कहा गया है—'जो स्वयं आचरणके द्वारा शिष्यके आचारको प्रतिष्ठित करते हैं और शास्त्रार्थका निर्णय कर सकते हैं, वे आचार्य कहे जाते हैं। आचार-परायण शिष्यको स्वयं शिक्षा देनेवाला आचार्य कहा जाता है।[५]

देशिक-रूपधारी देवता, शिष्यके प्रति अनुग्रहकारी तथा करुणामयी मूर्ति देशिक कहा जाता है। देवता, शिष्य और करुणा—इन तीन शव्दोके आदि अक्षरको लेकर देशिक शव्द बनता है—

देवतारूपधारित्वाच्छिष्यानुग्रहकारणात्।
करुणामयमूर्तित्वाद् देशिकः कथितः प्रिये॥

(कु० तं० १७)

महाभारतके अनुसार उपदेशकुशलको 'देशिक' कहा जाता है—

धर्माणां देशिकः साक्षात् स भविष्यति धर्मभाक्।

(महा० भा० १३। १४७। ४२)

इस प्रकार तन्त्रके अनुसार संक्षेपमें 'गुरु-शिष्य'-भावका दिग्दर्शन कराया गया है।

---

२ पितुर्दीक्षा यतेर्दीक्षा दीक्षा च वनवासिन.। विविक्ताश्रमिणो दीक्षा न सा कल्याणदायिनी॥ (पू० च० त० १। ६४)

३. प्रेरक· सूचकश्चैव वाचको दर्शकस्तथा। शिक्षको बोधकश्चैव षडेते गुरव· स्मृता.॥ (कु० १३)

४. गुरुस्तु द्विविध प्रोक्तो दीक्षाशिक्षाप्रभेदतः। आदौ दीक्षागुरु. प्रोक्त शेषे शिक्षागुरुर्मत·॥ (पि० त० २। २)

५ स्वयमेवाचरेच्छिष्यानाचारे स्थापयत्यपि। आचिनोतीह शास्त्रार्थानाचार्यस्तेन कथ्यते॥
आचारवशमापन्नमध्यापयति। (कृ० त० १७)

शिक्षा एवं गुरु शब्दोंकी निरुक्ति

(श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)

'शिक्षा' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—**'शिक्ष विद्योपादाने'** धातुसे 'अ' प्रत्यय करके स्त्रीलिङ्गके लिये 'टाप्' प्रत्यय लगानेसे 'शिक्षा' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार इसका अर्थ होता है विद्याका उपादान या ग्रहण। 'शिक्षा' मनुष्यको जीवनके नानाविध क्षेत्रोमे सफलता प्राप्त करनेके लिये सुयोग्य और सक्षम बनाती है।

'गुरु' शब्दकी व्युत्पत्ति अनेक प्रकारसे की जा सकती है—

गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य हारकः।
उकारो विष्णुरव्यक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः॥

(तन्त्रसार)

अर्थात् 'ग' अक्षर सिद्धिदायक कहा गया है और 'र' पापका हरण करनेवाला है। 'उ' अव्यक्त विष्णु है। इस प्रकार उन तीन अक्षरोसे बना यह शब्द परमगुरुका वाचक है। **'गॄ शब्दे। गृणाति उपदिशति धर्मं ज्ञानं भक्तिं च इति। गृणाति उपदिशति तत्त्वं वेदादिशास्त्राणि आत्मज्ञानसाधनानि वा इति।'** अर्थात् धर्म, ज्ञान और भक्तिका उपदेश करनेके कारण वह गुरु कहलाता है। तत्त्वका, वेदादि शास्त्रोंका और आत्मज्ञानके साधनोका उपदेश करनेके कारण उसे गुरु कहते हैं। **'गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वमनुष्यादिभिः। गीर्यते स्तूयते महत्त्वाद् इति वा।'**—देवो, गन्धर्वो और मनुष्य आदिसे स्तुति किये जानेके कारण वह गुरु कहलाता है। महिमा और माहात्म्यके कारण उसकी स्तुति की जाती है, इसीलिये उसे गुरु कहते हैं। **'गृ सेचने। गरति सिञ्चति ज्ञान-वारिणा शिष्यहृदयक्षेत्रम्।'** वह ज्ञान-वारिसे शिष्यके हृदय-क्षेत्रको सीचता है, इसलिये गुरु शब्दसे कहा जाता है। **'गृ विज्ञाने। गारयते बोधयति वेदशास्त्रादीनि आत्मतत्त्वादिकं वा इति।'** वह वेदादि शास्त्रोका तथा आत्मतत्त्व आदिका ज्ञान कराता है, इसलिये गुरु शब्दसे वाच्य है। **'गॄ निगरणे। गिरति गिलति अज्ञानम् इति।'** वह शिष्यके अज्ञानको निगल जाता है, इसलिये गुरु नामसे अभिहित होता है। **'गुरी उद्यमने। गुरते सत्पथे प्रवर्तयति शिष्यम् इति।'** शिष्यको सत्पथपर प्रवृत्त एवं परिचालित करता है, अतः वह गुरु कहा जाता है।

गुशब्दस्त्वन्धकारे स्याद् रुशब्दस्तन्निरोधके।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥

(गुरुगीता १९)

'गु' शब्दका अर्थ है 'अन्धकार' और 'रु' शब्दका अर्थ है उसका निरोध या विनाश करनेवाला। इस प्रकार अन्धकारका निरोधक होनेसे वह 'गुरु' पदसे वाच्य है।

सच्चे गुरुके लक्षण

विदलयति कुबोधं बोधयत्यागमार्थं
सुगतिकुगतिमार्गौ पुण्यपापे व्यनक्ति।
अवगमयति कृत्याकृत्यभेदं गुरुर्यो
भवजलनिधिपोतस्तं विना नास्ति कश्चित्॥

'सच्चा गुरु हमारे मिथ्याबोधको नष्ट कर देता है और हमे शास्त्रोके सच्चे अर्थका बोध करा देता है, सुगति और कुगतिके मार्गो तथा पुण्य और पापका भेद प्रकट कर देता है, कर्तव्य और अकर्तव्यका भेद समझा देता है। उसके बिना और कोई भी हमे संसार-सागरसे पार नही कर सकता।'

अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्तते
प्रवर्तयत्यन्यजनं च निःस्पृहः।
स एव सेव्यः स्वहितैषिणा गुरुः
स्वयं तरंस्तारयितुं क्षमः परम्॥

'यदि व्यक्ति अपना हित चाहता है तो उसे ऐसे गुरुका वरण करना चाहिये कि जो स्वय पापरहित मार्गपर चलता है और निष्काम भावसे दूसरोको भी उसी पथपर चलाता है, स्वयं तर चुका है और दूसरोको तारनेमे समर्थ है।'

अन्तःस्थसच्चिदानन्दसाक्षात्कारं सुसाधयेत्।
योऽसावेव गुरुः प्रोक्तः परो नामधरः स्मृतः॥

'सच्चा गुरु वही है जो हमे हमारे अंदर स्थित

सच्चिदानन्दका साक्षात्कार सम्यक्तया करा दे । अन्य सब तो नामधारी गुरु ही हैं ।'

दुर्लभः सद्गुरुर्देवः शिष्यसंतापहारकः ।

'शिष्यके संतापको हरनेवाला सद्गुरुदेव अत्यन्त दुर्लभ है ।'

मन्त्रदाता गुरुः प्रोक्तो मन्त्रस्तु परमो गुरुः ।

'मन्त्रदाताको ही गुरु कहा गया है । वस्तुतः मन्त्र ही परम गुरु है ।'

गुरुकी शरण लेना अनिवार्य है

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । २१)

'जो परमोच्च कल्याणका मार्ग जानना चाहता हो उसे गुरुदेवकी शरण लेनी ही चाहिये । गुरुदेव ऐसे हों जो शब्द-ब्रह्ममें—वेदादि शास्त्रोंमें निष्णात हो तथा नित्य-निरन्तर परब्रह्ममें प्रतिष्ठित रहते हो और जिनका चित्त पूर्णतया शान्त हो चुका हो ।'

गुरु ही ध्यान, पूजा, मन्त्र और मोक्षका मूल है

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥

'ध्यानका मूल है गुरुकी मूर्ति, पूजाका मूल है गुरुका चरण, मन्त्रका मूल है गुरुका वाक्य और मोक्षका मूल है गुरुकी कृपा ।'

ब्रह्मज्ञानी गुरु यथाविधि समीप आये हुए दर्प आदि दोषोसे मुक्त शान्तियुक्त शिष्यको ब्रह्मविद्याका तत्त्व समझाये, जिससे वह सत्यको और वास्तविक अक्षर पुरुषको जान सके ।

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते ।

(मुण्डकोपनिषद् १ । १ । ४-५)

'वह ब्रह्मज्ञाता उसे बतायेगा कि दो विद्याएँ जाननेयोग्य हैं । एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या । उनमें अपरा विद्या है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, धर्मविधि, व्याकरण, वैदिक-शब्द-विवरण, छन्दःशास्त्र और ज्योतिष । परा विद्या वह है, जिससे वह अक्षर ब्रह्म जाना जाता है ।'

प्राचीन भारतीय कलामें गुरु-शिष्य

(प्रो० श्रीकृष्णदत्तजी वाजपेयी)

प्राचीन भारतीय समाजमें शिक्षाका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था । जीवन-निर्माणके लिये योग्य गुरुओंसे शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक था । वर्णाश्रम-धर्म तथा पुरुषार्थ-चतुष्टयकी चरितार्थतामें शिक्षाकी अनिवार्यता स्पष्ट थी । भारतीय जीवन-दर्शनमें सत्य, अहिंसा, त्याग और परोपकार—ये चार प्रमुख स्तम्भ थे । इनपर राष्ट्रके भवनका निर्माण हुआ, जिसने संसारमें अपना प्रमुख स्थान बनाया ।

भारतीय आदर्श राज्यकी स्थापनाके लिये चार बातें आवश्यक समझी गयीं—(१) स्वतन्त्र-अखण्ड देश, (२) आर्थिक समृद्धि, (३) सभी वर्गोको उचित न्याय तथा (४) ज्ञान-विज्ञानकी उन्नति । इन चारोंके लिये उपयुक्त शिक्षाकी नितान्त आवश्यकता थी । इस दिशामें भारतीय मनीषियोंने शिक्षाके व्यापक रूपकी व्यवस्था की ।

शिक्षाके प्राचीनतम केन्द्र ऋषि-मुनियोके आश्रम थे । नगरोकी भीड़-भाड़से दूर प्रायः रम्य प्राकृतिक स्थलोंपर ये आश्रम स्थापित हुए । भरद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि, गालव, अगस्त्य आदिके आश्रम प्रख्यात थे । इनमें प्रायः बालकोंको छोटी आयुसे ही रखकर उन्हें शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान की जाती थी । उच्च आयुके स्त्री-पुरुष भी इन आश्रमोका लाभ उठाते थे । किसी-किसी आश्रममे ज्ञानके विशिष्ट

विषयोका अध्यापन होता था। ऐसे स्थलोंपर अन्य आश्रमोके विद्यार्थी जाकर अपनी शङ्काओका समाधान करते थे। आवश्यक ज्ञान प्राप्तकर जब वे अपनेको उपयुक्त पाते तभी अन्य विद्यार्थियोको स्वयं ज्ञान प्रदान करते थे।

भवभूति-रचित उत्तररामचरित नाटकमे मिलता है कि अगस्त्यके आश्रममे उच्च तत्त्वज्ञानकी शिक्षा श्रेष्ठ विद्वानोद्वारा प्रदान की जाती थी। आत्रेयी नामक महिलाने वाल्मीकिजीके आश्रमसे अगस्त्य-आश्रममे जाकर 'निगमान्त-विद्या' उपलब्ध की—

अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे
भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां
वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि॥

(उत्तररामचरितम्, अङ्क २, श्लोक ३)

इन प्राचीन आश्रमोकी भाँति जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्बियोने अपने-अपने आश्रमोकी स्थापना की। उनमे विविध विषयोकी शिक्षाके व्यवस्थित प्रबन्ध थे। शासक, व्यवसायीजन तथा समाजके अन्य वर्गोंद्वारा इन आश्रमो और मठोको आवश्यक सहायता प्रदान की जाती थी।

प्राचीन साहित्य तथा अभिलेखोसे ज्ञात होता है कि राज्यकी ओरसे शिक्षक ब्राह्मणोको भूमिदानकी व्यवस्था थी। कुछ शासक विद्वान् ब्राह्मणोको पूरा ग्राम दे देते थे, जिसकी संज्ञा 'अग्रहार' प्रसिद्ध हुई। एक ग्राममे आस-पासके गाँवोके विद्यार्थी भी अध्ययन-हेतु आते थे। कोसल तथा मगधके राजाओने योग्य विद्वानोको प्रभूत आर्थिक सहायता इसी उद्देश्यसे प्रदान की कि वे शिक्षाके स्तरको ठीक रखे तथा जन-समाजको शिक्षित कर देशका उत्थान करे। गुरुओद्वारा शिष्योको ऐहिक तथा पारमार्थिक शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे योग्य व्यक्ति बने और अन्य जनोको दिशा-निर्देश दे सके।

ग्रामीण क्षेत्रोमे मन्दिर बडी संख्यामें शिक्षा-केन्द्र बने। पावन वातावरणमे शिक्षा प्राप्तकर शिष्योमे पवित्र भावनाएँ जाग्रत् होती थीं। यह परम्परा आधुनिक युगतक कुछ स्थलोपर जीवित है।

भारतीय साहित्यमे शिक्षा-सम्बन्धी जो प्रचुर उल्लेख मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि हमारे यहाँ शिक्षाको ऊँचा स्थान दिया गया था। जनता तथा शासनके उद्योगसे देशमे बड़ी संख्यामे विद्यालयोकी स्थापना हो गयी। गाँवो तथा नगरोमे विद्यालय खुले। तक्षशिला, नालन्दा, काशी, वलभी आदि स्थानोमे विश्वविद्यालय स्थापित किये गये, जिनमे ज्ञान-विज्ञानके विविध विषयोका शिक्षण होता था। विदेशोंके भी विद्यार्थी कुछ विषयोमे उच्च शिक्षाका ज्ञान अर्जित करनेके लिये भारत आते थे। तक्षशिलामे मगध, कलिंग और उज्जैनतकके विद्यार्थी जाते थे। वहाँ शल्य-चिकित्सा तथा धनुर्विद्याका शिक्षण उच्चकोटिका था। नालन्दाके विश्वविद्यालयमे चीनी यात्री हुएन-सांगने अध्ययन किया था। उस समय वहाँ दस हजार विद्यार्थी पढ़ते थे। नालन्दाका पुस्तकालय भी बहुत बड़ा था।

साहित्यिक उल्लेखोके अतिरिक्त प्राचीन कलाके कुछ ऐसे अवशेष मिले हैं, जिनमे गुरुओ और विद्यार्थियोके चित्रण मिलते है। मथुरा, अजंता, गंधार, भुवनेश्वर आदि स्थानोकी कलामे शिक्षणके विविध दृश्य उपलब्ध हैं। मथुराके एक वेदिका-स्तम्भपर एक अध्यापकद्वारा शिष्योको व्याख्यान देनेका चित्रण मिलता है। गुरु महोदय बाये हाथमे छत्र लिये खड़े हैं। दायाँ हाथ ऊपर उठाकर वे शिष्योको कुछ समझा रहे हैं। शिष्यलोग नीचे बैठे हुए बड़ी तन्मयतासे शिक्षकका उपदेश सुन रहे हैं। उनमेसे कई अपने घुटनोपर कपड़ा लपेटे उसी प्रकार बैठे हैं जैसे कि आजकल कुछ ग्रामीण लोग किसी नेताका भाषण सुननेके लिये बैठते हैं। मथुराके एक दूसरे वेदिका-स्तम्भपर पर्णशालाके बाहर स्थित एक ऋषि दिखाये गये हैं। वे अपने पास बैठे हुए पशु-पक्षियोको उपदेश दे रहे हैं। ये दोनो वेदिका-स्तम्भ शुंगकाल (ई० पू० प्रथम शती) के हैं।

अजंताके चित्रोमे एक जगह बालकोंको पढ़ाते हुए गुरुजी दिखाये गये हैं। अध्यापक महोदय ऊँची चौकीपर विराजमान हैं। उनके हाथमे एक बड़ा दड है। विद्यार्थी हाथोमे पट्टी लिये हुए नीचे बैठे हैं। यह चित्र ईसवी
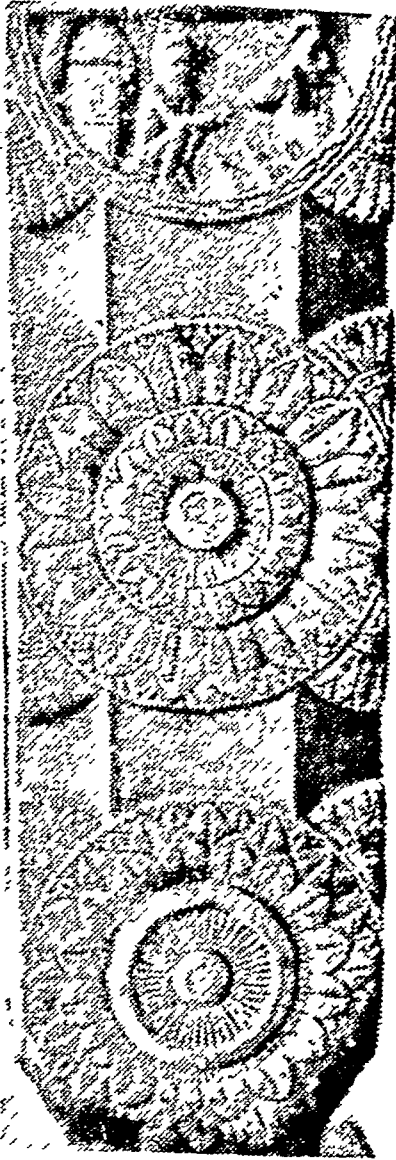
दो उत्फुल्ल कमलोंसहित पत्थरका वेदिका-स्तंभ । ऊपर ऋषिद्वारा अपनी पर्णशालाके बाहर पशु-पक्षियोंको देहकी नश्वरताका पाठ पढ़ा रहे हैं । (मथुरासे प्राप्त समय ई० पूर्व प्रथम शती)

पाँचवीं शतीका है । दंडधारी गुरुओंके वर्णन प्राचीन साहित्यमें मिलते हैं । पढ़नेमें मन न लगानेवालों और उद्दण्ड लड़कोंको डंडेके जोरसे सुधारा जाता था । तिलमुट्ठि नामक बौद्ध जातक (संख्या २५२) में काशीमें राजा ब्रह्मदत्तके सम्बन्धमें लिखा है कि कुमारावस्थामें उन्होंने तक्षशिलाके विद्यालयमें अध्ययन किया था । वहाँ उन्होंने लगातार तीन दिनोंतक एक बुढ़ियाके तिल चुराकर खा लिये । इस बातके जाननेपर अध्यापक बहुत रुष्ट हुए । उन्होंने अपने दो शिष्योंको आज्ञा दी कि वे ब्रह्मदत्तको पकड़े रहें । फिर उन्होंने ब्रह्मदत्तको छड़ीसे पीटा । ब्रह्मदेश (बर्मा) के पगान नामक स्थानसे खुदाईमें मिट्टीके बहुसंख्यक फलक मिले थे, जिनमें अनेक जातक-कथाएँ प्रदर्शित हैं । एक कथा तिलमुट्ठि जातककी भी है । इस फलकपर चौकीके ऊपर बैठे हुए गुरु-शिष्य दिखाये गये हैं । वे ब्रह्मदत्तकी शिखाको अपने दायें हाथसे पकड़े हुए हैं और बायें हाथसे उसे पीट रहे हैं । पासमें दो शिष्य भयभीत मुद्रामें हाथ जोड़े बैठे हैं । ब्रह्मदत्तने जिस बुढ़ियाके तिल चुराये थे वह भी दिखायी गयी है । यह फलक ईसवी ११वीं शतीका है ।

गांधारकी कलामें कुमार गौतम (बोधिसत्व) के विद्याध्ययनका आलेखन मिलता है । एक शिलापट्टपर, जो इस समय लंदनके विक्टोरिया अल्बर्ट संग्रहालयमें सुरक्षित है, अध्ययनार्थ जाते हुए राजकुमार सिद्धार्थ दिखाये गये हैं । वे एक रथपर बैठे हुए हैं जिसमें दो मेष (मेढ़े) जुते हैं । रथपर आगे कोचवान बैठा है । पीछे प्रभामण्डल तथा सिरपर उष्णीष (बालोंका जूड़ा)-सहित कुमार सिद्धार्थ आसीन हैं । उनके समीप दो विद्यार्थी खड़े हैं । राजकुमारके चार साथी रथके बगलमें चल रहे हैं । प्रत्येकके दाये हाथमें पट्टी और बायेंमें दावात है । एक अन्य विद्यार्थी हाथोंमें पट्टी-दावात लिये रथके आगे-आगे चल रहा है । चित्रमें प्रदर्शित सभी बालकोंकी आकृति तथा वेशभूषा यूनानी ढंगकी है, जो कि गांधार-कलाकी विशेषता है । रथमें जुते हुए दोनों मेढ़ोंका अङ्कन भी सुन्दर है । यह कलाकृति ई० पाँचवीं शतीकी है । पकी मिट्टीके एक प्राचीन फलकपर ब्राह्मी लिपिका अभ्यास करते हुए एक बालक अङ्कित है । यह शुंगकालीन फलक चंडीगढ़के पाससे प्राप्त हुआ है ।

भुवनेश्वर (उड़ीसा) के राजा-रानी मन्दिरमें एक शिलापट्टपर एक गुरु और उनके शिष्योंका चित्रण बड़ा प्रभावोत्पादक है । गुरुजी एक ऊँची आसन्दीपर आसीन हैं । यह आसन्दी आजकलकी आरामकुर्सियोंके ढंगकी है । उसपर नीचे तथा पीठकी ओर गद्दियाँ लगी हैं । लम्बी शिखावाले अध्यापक महोदयका दायाँ हाथ वेदपाठकी मुद्रामें उठा हुआ है । उनके दोनों शिष्य हाथ जोडे खड़े

हैं। सम्भवतः वे भी अपने गुरुके साथ वेदपाठ कर रहे है। एक अन्य शिष्य गुरुजीके बाये पैरके समीप खड़ा है। उसके हाथमे पुस्तक है। ग्रन्थ ताड़-पत्रका

छात्रोको वेदपाठ कराते हुए गुरुदेव। भुवनेश्वर (उडीसा) स्थित राजारानी मन्दिर मे शिलापट्ट पर उत्कीर्ण दृश्यका रेखाचित्र।
(समय-लगभग १००० ई०)

प्रतीत होता है। चौथा शिष्य आसन्दीके पीछे खड़ा है। उसके हाथोमे दीपक-जैसी वस्तु है। नीचे एक दीवट रखी है। यह शिष्य सम्भवतः गुरुजीकी आरती कर रहा है। दूसरी दीवट गुरुके सामने रखी है। प्राचीन भारतमे गुरुओके प्रति महान् श्रद्धाका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है। गुरुलोग देवताके समान ही पूज्य माने जाते थे। गुरुजन अपने विद्यार्थियोके प्रति बहुत स्नेहका भाव रखते थे और अपनी संतानकी तरह उन्हे प्यारसे पढ़ाते थे। असावधानी बरतनेवाले या उद्दण्ड छात्रोको प्रताडित किया जाता था।

उक्त शिलापट्टमे चारो शिष्योकी वेशभूषा दर्शनीय है। चारोके दाढी है, पर वह बहुत लम्बी नही है। शिष्योकी आकृतिको देखते हुए उनकी अवस्था बीस वर्षसे ऊपर प्रतीत होती है। सिरपर बाल अच्छी तरह बँधे हुए है। दो शिष्योने केशोका जटाजूट बना लिया है। चारो विद्यार्थी लँगोटा पहने हुए है। उनमेसे केवल एक जनेऊ धारण किये दिखाया गया है। शिक्षक धोती पहने हुए है। उनकी शान्त निर्विकार मुद्रा कलाकारद्वारा बड़े अच्छे ढंगसे व्यक्त की गयी है। यह कलाकृति ईसवी दसवी शतीकी है। इसमे तत्कालीन गुरु-शिष्यका वास्तविक चित्रण उपलब्ध होता है।

अन्तिम परीक्षा

एक पुराने गुरुकुलमे तीन विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। उन्होने जब पढ़ाई पूरी कर ली और औपचारिक परीक्षा भी पास कर ली तब गुरुने कहा—'तुम्हारी एक परीक्षा और होनी है। उसमे उत्तीर्ण होनेपर ही उत्तीर्ण माने जाओगे।' विद्यार्थियोने कुछ दिन प्रतीक्षा की। फिर तीनो गुरुके पास बिदा होनेकी आज्ञा लेने गये। गुरुने उन्हे आज्ञा भी दे दी और वे घरके लिये चल भी दिये। विद्यार्थी समझे कि गुरुदेव परीक्षा लेना भूल गये। रास्तेमे जंगल था, वहाँ पहुँचते-पहुँचते रात होने लगी। वे थोड़ी दूर चले थे कि रास्तेपर काँटे फैलाये दिखे। दो विद्यार्थी तो काँटोके किनारेसे निकल गये; किंतु तीसरा रुककर रास्तेपर बिखरे काँटोको बीन-बीनकर दूर फेकने लगा। उन दोनोने कहा—'रात हो रही है, जल्दी जंगलसे निकलना है, काँटा बीनना बंद करके आगे चलो।' तीसरेने कहा—'रातके कारण ही तो काँटा बीनकर रास्ता साफ कर रहा हूँ, जिससे किसीको गड़े नहीं।' वे दोनो आगे जाने लगे तब भी तीसरा काँटे बीनता रहा। इसी बीच झाडीसे गुरुदेव निकले गुरुदेव और आगे जा रहे दोनो शिष्योको बुलाकर कहे कि 'तुम दोनो अभी परीक्षामे उत्तीर्ण नहीं हो। मात्र यह तीसरा ही उत्तीर्ण हुआ। अन्तिम परीक्षा यही थी।'

गुरुभक्तिसे ब्रह्मज्ञान

सामान्य ज्ञानकी तो बात ही क्या, ब्रह्मज्ञान भी गुरुवचनोके प्रति आदर-सम्मान और श्रद्धापूर्वक उनके पालन करनेसे प्राप्त हो सकता है, जिसके अप्रतिम उदाहरण उपनिषदोमें प्राप्त हैं। यहॉ एक आख्यान प्रस्तुत किया जा रहा है।

जबाला नामकी एक ब्राह्मणी थी। उसके सत्यकाम नामका एक पुत्र था। जब वह विद्याध्ययन करने योग्य हुआ, तब एक दिन उसने गुरुकुल जानेकी इच्छासे अपनी मातासे पूछा—'माता! मै ब्रह्मचर्यपालन करता हुआ गुरुकी सेवामे रहना चाहता हूँ। गुरु मुझसे नाम और गोत्र पूछेगे, मै अपना नाम तो जानता हूँ परंतु गोत्र नही जानता, अतएव मेरा गोत्र क्या है वह बतलाओ।'

जबालाने कहा—'बेटा! तू किस गोत्रका है, इस बातको मै नहीं जानती; मेरा नाम जबाला है और तेरा सत्यकाम, बस मैं इतना ही जानती हूँ। तुझसे आचार्य पूछे तो कह देना कि मै जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।'

माताकी आज्ञा लेकर सत्यकाम महर्षि हरिद्रुमान्‌के पुत्र गौतम ऋषिके आश्रममे गया और प्रार्थना करके उनसे बोला—'भगवन्! मै ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ आपके समीप रहकर सेवा करना चाहता हूँ। मुझे स्वीकार कीजिये।' गुरुने बड़े स्नेहसे पूछा—'सौम्य! तेरा गोत्र क्या है?' सरल सत्यकामने नम्रतासे कहा—'भगवन्! मेरा गोत्र क्या है, इस बातको मै नहीं जानता। मैंने यहॉ आते समय अपनी मातासे पूछा था, तब उन्होने कहा कि मै युवावस्थामे अनेक अतिथियोकी सेवामे लगी रहनेके कारण केवल इतना ही जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तेरा सत्यकाम। अतएव भगवन्! मै जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।'

सत्यवादी सरलहृदय सत्यकामकी सीधी-सच्ची बात सुनकर ऋषि गौतम प्रसन्न होकर बोले—'वत्स! ब्राह्मणको छोडकर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरलभावसे सच्ची बात नहीं कह सकता—**'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति'** ऐसा सत्य और कपटरहित वचन कहनेवाला तू निश्चय ब्राह्मण है। मै तेरा उपनयन-संस्कार करूँगा, जा थोड़ी-सी समिधा ले आ।'

विधिवत् उपनयन-संस्कार करनेके बाद ऋषि गौतमने अपनी गोशालासे चार सौ दुबली-पतली गौएँ चुनकर अधिकारी शिष्य सत्यकामसे कहा—'पुत्र! इन गौओको चराने वनमे ले जा। देख, जबतक इनकी संख्या पूरी एक हजार न हो जाय, तबतक वापस न आना।' सत्यकामने प्रसन्न होकर कहा—'भगवन्! इन गौओकी सख्या जबतक पूरी एक हजार न हो जायगी, तबतक मै वापस नही आऊँगा।' यो कहकर सत्यकाम गौओको लेकर जिस वनमे चारे-पानीकी बहुतायत थी, उसीमे चला गया और वही कुटिया बनाकर वर्षोतक उन गौओकी तन-मनसे खूब सेवा करता रहा।

गुरु-भक्तिका कितना सुन्दर दृष्टान्त है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छावाले शिष्यको गौ चरानेके लिये गुरु वनमे भेज दे और वह चुपचाप आज्ञा शिरोधार्य कर वर्षोंतक निर्जन वनमे रहने चला जाय। यह बात ज्ञानपिपासु गुरुभक्त भारतीय ऋषिकुमारोमे ही पायी जाती है। आजकी सस्कृति तो इससे सर्वथा विपरीत है। अस्तु।

सेवा करते-करते गौओकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी। तब एक दिन एक वृषभने आकर पुकारा—'सत्यकाम!' सत्यकामने उत्तर दिया— 'भगवन्! क्या आज्ञा है?' वृषभने कहा—'वत्स! हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, अब हमे गुरुके आश्रममे ले चलो। मैं तुम्हे ब्रह्मके एक पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकामने कहा—'कहिये भगवन्!' इसके बाद वृषभने ब्रह्मके एक पादका उपदेश देकर कहा—'इसका नाम ''प्रकाशवान्' है। अगला उपदेश तुम्हे अग्निदेव करेगे।'

दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम गौओको हॉककर आगे चला। संध्याके समय मार्गमे पडाव डालकर उसने गौओको वहॉ रोका और उन्हे जल पिलाकर रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। तदनन्तर वनसे लकड़ियॉ बटोरा और अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। अग्निदेवने

उसे सम्बोधन किया—'सत्यकाम !' सत्यकामने उत्तर दिया—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' अग्निदेवने कहा—'सौम्य। मैं तुम्हे ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकाम बोला—'कीजिये भगवन्।' तदनन्तर अग्निदेवने ब्रह्मके दूसरे पादका उपदेश करके कहा—'इसका नाम "अनन्तवान्" है। अगला उपदेश तुम्हे हंस करेगा।'

सत्यकाम रातभर उपदेशका मनन करता रहा। प्रात:काल गौओको हॉककर आगे बढ़ा और संध्या होनेपर किसी सुन्दर जलाशयके किनारे ठहर गया। गौओके लिये रात्रिनिवासकी व्यवस्था की और स्वयं आग जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। इतनेमे एक हंस ऊपरसे उड़ता हुआ आया और सत्यकामके पास बैठकर बोला—'सत्यकाम !' सत्यकामने कहा—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' हसने कहा—'सत्यकाम! मै तुम्हे ब्रह्मके तीसरे पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकामने कहा—'भगवन्! कृपा करके कीजिये।' पश्चात् हंसने ब्रह्मके तीसरे पादका उपदेश करके कहा—'इसका नाम "ज्योतिष्मान्" है। अगला उपदेश तुम्हे मद्गुनामका एक जलपक्षी करेगा।'

रातको सत्यकाम ब्रह्मके चिन्तनमें लगा रहा। प्रातःकाल गौओको हॉककर आगे चला और संध्या होनेपर एक वट-वृक्षके नीचे ठहर गया। गौओकी उचित व्यवस्था करके वह अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। इतनेमे मद्गु नामक एक जलपक्षीने आकर पुकारा—'सत्यकाम !' सत्यकामने उत्तर दिया—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' मद्गुने कहा— 'वत्स! मैं तुम्हे ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकाम बोला—'प्रभो! कीजिये।' तदनन्तर उसने "आयतनवान्" रूपसे ब्रह्मका उपदेश किया।

इस प्रकार सत्य, गुरुसेवा और गौ-सेवाके प्रतापसे वृषभरूप वायु, अग्निदेव, हसरूप सूर्यदेव और मद्गुरूप प्राणदेवतासे ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर सत्यकाम एक हजार गौओके बडे समूहको लेकर आचार्य गौतमके आश्रममे पहुँचा। उस समय उसके मुखमण्डलपर ब्रह्मतेज छिटक रहा था, आनन्दकी सहस्र-सहस्र किरणे झलमला रही थी। गुरुने सत्यकामकी चिन्तारहित, तेजपूर्ण दिव्य मुखकान्तिको देखकर कहा—'वत्स। सत्यकाम!' उसने उत्तर दिया—'भगवन्।' गुरु बोले—'सौम्य! तू ब्रह्मज्ञानीके सदृश दिखायी दे रहा है, वत्स! तुझे किसने उपदेश किया?' सत्यकामने कहा—'भगवन्! मुझे मनुष्येतरोसे उपदेश प्राप्त हुआ है।' यो कहकर उसने सारी घटना सुना दी और कहा—'भगवन्! मैने सुना है कि आप-सदृश आचार्यके द्वारा प्राप्त की हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अतएव मुझे आप पूर्णरूपसे उपदेश कीजिये।' गुरु प्रसन्न हो गये और उन्होंने कहा—'वत्स। तूने जो कुछ प्राप्त किया है, यही ब्रह्मतत्त्व है। अब तेरे लिये कुछ भी जानना शेष नही रहा।'

इस प्रकार अपनी कर्तव्यनिष्ठामे तत्पर सत्यकाम गाये चराकर गुरु-सेवा और आज्ञापालन मात्रसे ही ब्रह्मज्ञानी हो गये। यह है—ज्ञान-प्राप्तिका मर्म।
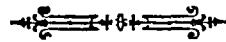
प्राचीन भारतमें गुरुकुलकी परम्परा

(साहित्यवाचस्पति डॉ० श्रीविष्णुदत्तजी राकेश, एम्०ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

भारतीय आचार्योंने शरीर, मन और आत्माके विकासका साधन शिक्षाको माना है। अतः शिक्षा भौतिक उपलब्धियोतक ही सीमित न रहकर आत्मचिन्तनतकका लक्ष्य निर्धारित करती है। शिक्षाका सम्बन्ध बालकके जन्मके पूर्वसे लेकर उसके परिपक्व नागरिक बननेतक निरन्तर रहता है। शिक्षित वह है, जो माता, पिता तथा आचार्यसे गहराईके साथ जुड़ा है। माता-पिताके संस्कारोसे सतानके प्रारम्भिक व्यक्तित्वका निर्माण होता है और फिर उसका परिवेश और वातावरण उसके संस्कारोको जन्म देता है। सस्कारोका क्रमबद्ध निर्माण ही बालककी शिक्षा है। यही कारण है कि गर्भाधान-सस्कारसे लेकर उपनयन-संस्कारतक बालकको उद्देश्यनिष्ठ दृष्टिसे तैयार

किया जाता है। भारतीय शिक्षा केवल परिवेशको ही उपयोगी व्यक्तित्वके निर्माणका घटक नहीं मानती, वह उसके अर्जित संस्कार तथा माता-पिताकी शिक्षाको भी उसके निर्माणमे प्रमुख कारक स्वीकार करती है। माता-पिता जब संतानको महान् बनानेका संकल्प करते है, तब इस महान् लक्ष्यकी पूर्तिके लिये उन्हे भी महान् बनना पड़ता है। गर्भावस्थामे संतानके उचित भरण-पोषणके लिये उन्हे भी संयमित जीवन जीना पड़ता है तथा प्रसवके पश्चात् शिशुके शारीरिक विकासके लिये जागरूक रहना पड़ता है। माता-पिता यदि शिक्षित, सदाचारी, धार्मिक तथा स्वस्थ नहीं हैं तो वे अपने शिशुका समुचित विकास नहीं कर सकते। तात्पर्य यह कि माता-पिता अपने संकल्प और आचरणसे मनचाही संतानका निर्माण कर सकते है।

है। आज जिस 'प्रसार-शिक्षा' या क्षेत्र-कार्यकी प्रणालीको शिक्षाका अनिवार्य अङ्ग बनानेपर बल दिया जा रहा है, वह प्राचीन 'आश्रम-प्रणाली' का अनिवार्य भाग थी; क्योंकि आचार्योंके आश्रम या गुरुकुल नगरोसे दूर वनोंमें होते थे, अतः प्रत्येक बालकको वहाँ श्रमकी व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। राजा-रंकके बालक बिना किसी भेद-भावके वहाँ परिश्रम कर जीवन जीना सीखते थे। छान्दोग्य उपनिषद्मे हारिद्रुमत मुनिने जाबाल सत्यकामको शिक्षा देनेसे पूर्व क्षेत्र-सेवाका कार्य ही सौंपा था; क्योंकि वह युग पशु-पालन और कृषि-जीविकाका था, अतः गोसंवर्धन और वन्यरक्षणका कार्य उसकी शिक्षाका अनिवार्य अङ्ग बनाया गया। उसका उपनयन-संस्कार करके मुनिने अत्यन्त दुर्बल चार सौ गौएँ छाँटकर उससे कहा—'सौम्य! इनकी सेवा करो और जबतक ये बढ़कर एक हजार न

गुरुकुलमे
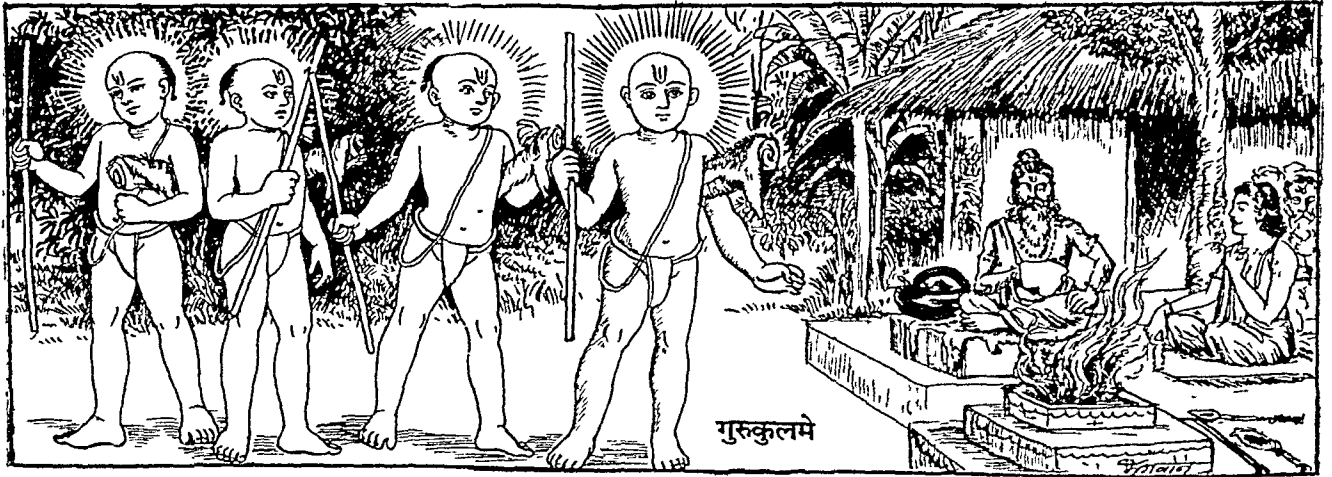
शिक्षाका दूसरा घटक है परिवेश। शिक्षाके लिये उचित परिवेशका होना आवश्यक है। खुले-प्रशस्त वनो, मैदानो, नदियोके तटो और सुरम्य पर्वतोकी उपत्यकाओमे जन-कोलाहलसे दूर शिक्षण-संस्थाओकी स्थापना होनी चाहिये। छान्दोग्य उपनिषद् धर्मके जिन तीन स्कन्धोकी चर्चा— (१) यज्ञ—अध्ययन-दान, (२) कष्ट-सहिष्णुता—तप तथा (३) श्रम—संयमपूर्वक कुलवासके रूपमें करती है, वह ऐसे ही शान्त—एकान्त स्थानोपर सम्भव है। भोग-विलासके वातावरणसे दूर रहकर ही बालक आत्मनिर्भर और आत्मसंयमी हो सकता

हो जायँ, तबतक अपनी पुस्तकीय शिक्षाको अधूरी समझो।' सत्यकामने कहा—'जबतक ये गौएँ बढ़कर एक हजार न हो जायँगी, तबतक मैं नहीं लौटूँगा।' वह वर्षो जंगलमे रहा और जब वे गाये एक हजार हो गयी तब लौटा—

'स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रं सम्पेदुः।'

इस प्रकार पुस्तकीय ज्ञानके अतिरिक्त क्षेत्रीय कार्य-सम्पादनका प्रमाणपत्र भी तत्कालीन शिक्षाके लिये अनिवार्य था। सत्यकाम उन्मुक्त प्रकृतिके साहचर्यमे रहा। उसने आँधी-पानी, धूप-हिमपात, दिन-रात भूख-प्यास सभी

कुछ सहे तथा हिंसक-अहिंसक प्राणियोका संघर्ष भी निकटसे देखा। प्राणिमात्रके प्रति दयाका उन्मेष भी उसमे हुआ। गाय चराते हुए उसने बैलको देखा, तब उसे पता चला कि सृष्टि कैसे होती है। वह प्रातः अग्निहोत्र करता, फिर आगपर भोजन बनाता और रातको आग जलाकर हिंसक पशुओसे अपनी रक्षा करता या अग्नि तापकर जाड़ेकी कड़क-राते बिताता। अतः आग उसकी मित्र थी। वन-वन भटकते हुए उसे अपना साथी सूर्य दिखायी पडता। अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा-विद्युत् सब उसे अपने साथी जान पड़ते। उसे हंस तथा मद्‌गु नामक जलचर भी अपनी ओर आकृष्ट करते। इस प्रकार प्रकृतिके साहचर्यमे रहकर उसने एक विराट् तत्त्वका दर्शन किया। श्रीमद्भागवतमे कवि नामक योगेश्वर इसी विराट् दर्शनको वास्तविक विद्या मानते है—**'यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः'**। दत्तात्रेय अवधूतने पृथ्वी, सूर्य, समुद्र, मधुमक्खी आदिको जब अपना गुरु बताया तब उनके सामने भी यही विराट् चेतना थी। ससारके कण-कणमे यदि आत्म-दर्शन न हुआ तो पुस्तकीय शिक्षा किस कामकी? वर्ड्सवर्थने कहा था—'एक लकड़ीका लट्ठा जो सिखा देता है, वह सैकडो आचार्य या संत भी नहीं सिखा सकते'—

One impulse of a vernal wood
may teach you more of man
Of moral, evil and of good
than all the sages can.

फिर श्रीमद्भागवतकी यह उक्ति **'सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरम्'** मिथ्या कैसे हो सकती है? परिवेशकी शिक्षामे यही भूमिका है—वह बालकको कष्ट-सहिष्णु, परिश्रमी, संयमी तथा उदार-दृष्टिसम्पन्न बनाती है, इसीलिये सत्यकामसे आचार्यने कहा—'प्रकृतिके सम्पर्कमे रहकर जो कुछ तूने सीख लिया है, इसमे कुछ शेष नही रहा, कुछ जानने योग्य नही रहा'—

'तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति।'

इस प्रकार आश्रम-प्रणाली तप, त्याग और श्रमपर आधारित प्रणाली थी। इसे गुरुकुल इसलिये कहा गया कि इसमे गुरुका महत्त्व था। अपने परिवारका मुखिया तो स्वार्थी भी हो सकता है, पर इस कुलका मुखिया तो उदार और लोकचेता होता था। वह अपने सम्पर्कमे आये छात्रको उसी ममतासे रखता था जैसे माता अपने गर्भस्थ शिशुको रखती है। शिक्षणालयको कुल इसलिये कहा गया कि वहाँ बालकको निजी परिवारकी क्षुद्र भावनासे निकालकर एक बड़े परिवारकी सामाजिक चेतनासे जोड़ना था। वह किसी देश, परिवार, जातिका सदस्य नहीं, वह तो मानव-कुलका सदस्य है। समाजके प्रति इसी 'कुलभावना' के कारण उसका दायित्व बोध है। इस प्रकार गुरुकुल राष्ट्रिय रचनाधारामे विद्यार्थीकि समर्पणकी एक प्रक्रियाको जन्म देनेवाला विचार है, जहाँ उसे परिवार और व्यक्तिगत संकीर्णताओसे ऊपर उठाकर राष्ट्रोपयोगी या मानवोपयोगी बनाया जाता है। आचार्य बिना किसी भेदभावके जब सभी बालकोको निकट बैठाकर **'सह नाववतु'** और **'सह नौ भुनक्तु'** का उपदेश करता था तब विघटनकी भावना स्वतः नष्ट हो जाती थी। साथ-साथ चलना, साथ खाना-पीना, साथ काम करना 'कुलभावना'-को जन्म देता था। इसी संगठन-भावनासे समाज और राष्ट्रकी समृद्धिका द्वार खुलता है। अथर्ववेदमे आता है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

बालक जब शिक्षाके लिये गुरुकुलमे आता है तब आचार्य उसका उपनयन करनेके लिये, अपने समीप बैठने और अपने ध्येयके अनुरूप बनानेके लिये तीन रात उसे उदरमे रखता है। यहाँ रात्रिका अर्थ है अज्ञान। बालक जिस परिवेशसे गुरुकुलमे आया है, उसमे उसका जन्मगत, परिवारगत तथा परिवेशगत अज्ञान निहित है। आचार्य इन बाधाओको दूरकर अपने पेटमे अर्थात् अपने संरक्षणमे लेकर उस बालकके इन तीनो दोषोको मिटा देता है तथा देश, जाति और कुलके विशेष संस्कारको मिटाकर उसे विराट् कुलकी दीक्षा दे देता है। प्रकृति, जीव और ब्रह्मकी आध्यात्मिक शिक्षा देकर वह उसकी आत्माका विकास करता है तो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकपर्यन्त ज्ञान-विज्ञानकी शिक्षाद्वारा उसकी देह और भौतिक सुख-सुविधाओकी जानकारी कराता है, विधाओ,

विज्ञानोका ज्ञानसंग्रह करनेकी प्रेरणा देता है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थकी प्रक्रिया समझाता है और विश्व-मानवतावादी दृष्टिका संन्यासके रूपमे अन्तिम लक्ष्य प्रतिपादित करता है। इस मन्त्रसे यह भी संकेत मिलता है कि शिक्षा ज्ञानसंग्रह नहीं, ज्ञानका लोकोपयोगी क्रियान्वयन भी है, अतः शिक्षा-संस्थाओमे भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनो प्रकारकी शिक्षा दी जानी चाहिये। छान्दोग्य उपनिषद्के अनुसार नारदजी सनत्कुमारजीसे कहते हैं कि उन्होने वेद, इतिहास, पुराण, विज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र (विधिशास्त्र), भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, ललित कला (देवजनविद्या) तथा ब्रह्मविद्या आदि सब पढ़े है। वे मन्त्रवित् है, पर आत्मवित् नहीं। अर्थात् पुस्तकीय ज्ञान तो उनके पास है, पर आत्मज्ञान नही—

'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुत ँ ह्येव।'

इसपर सनत्कुमारजीने कहा—'तू नामकी उपासना कर अर्थात् यात्रा तो पुस्तकीय ज्ञान या शब्दज्ञानसे कर, पर यही मत रुक, वैयक्तिक चारित्रिक गुणोका विकास कर तथा अन्तर्हित शक्तियोका पूर्ण जागरण कर।' गुरुकुल या गुरुका सामीप्य शरीर, मन और आध्यात्मिक उत्कर्षके लिये है। इसीलिये वह अपने निकट रखकर शिष्यकी शारीरिक, मानसिक और अनाध्यात्मिक जड़ताको दूर करता है। आचार्य यदि मॉकी तरह सावधान नहीं रहता तो उसके गुरुकुलस्थ शिशुका गर्भस्थ शिशुकी तरह अहित होनेकी पूर्ण सम्भावना है। कहते हैं—Example is better than Precept अर्थात् आचरणसे विद्यार्थीको उपदेशकी अपेक्षा अधिक सिखाया जा सकता है।

प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षाकी एक विशेषता थी—आत्मनिरीक्षणद्वारा शिक्षा देना। बृहदारण्यक उपनिषद्मे आया है कि देव, मनुष्य और असुर प्रजापतिके पास उपदेशके लिये जाते हैं। प्रजापति केवल 'द' कहते हैं और फिर तीनोंसे पूछते हैं, तुमने क्या समझा? देव विलासी थे, उन्होंने स्वय निरीक्षणकर अपनी त्रुटि पहचानी। वे बोले **'दाम्यत'** समझ गये, आपने कहा है—इन्द्रियोका दमन करो। मनुष्य लोभी और संग्रही थे। उन्होने भी अपनी भूल पहचानी और कहा कि **हम भी जान गये।** आप कहते हैं—**'दत्त'**—दान करो। असुर हिंसक और क्रूर थे और थे परपीड़क तथा संतापी। वे बोले—'प्रजापते! हमने अपनी कमी समझ ली है। आप कहते हैं—**'दयध्वम्'** दया करो, जीओ और जीने दो। प्रजापति संतुष्ट हुए और बोले—'शिक्षाका यही उद्देश्य है।' अपने व्यक्तित्वमे जिस वस्तुकी कमी पाओ, उसे दूर करनेकी चेष्टा करो। सर्वाङ्गीण विकास ही शिक्षाका लक्ष्य है और यह पुस्तकीय ज्ञान या प्रवचनोसे नहीं, आत्मनिरीक्षणसे प्राप्त होता है। इसके लिये आवश्यक है कि गुरुलोग भी संयमी, सरल और निःस्पृह जीवन व्यतीत करे। तभी वे विद्यार्थियोका सही निर्माण कर सकते हैं। आचार्य भोग-विलासी होकर विरक्त विद्यार्थी नहीं पैदा कर सकते। जब वेद कहता है कि आचार्य ब्रह्मचारी रहकर ही ब्रह्मचारी बना सकता है—**'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते'** तब उसका तात्पर्य होता है कि जैसा आचार्य होगा, उसका विद्यार्थी भी वैसा ही होगा।

प्राचीनकालमे ऐसे शिक्षणालयोका उल्लेख मिलता है जो गुरुकुल थे और जिनका निर्माण नगरोंसे दूर होता था। प्रश्नोपनिषद्मे सुकेशा आदि छः शिष्य पिप्पलादके आश्रममे जाकर शिक्षा ग्रहण करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्मे वरुणसे भृगु, छान्दोग्य उपनिषद्मे हारिद्रुमतसे सत्यकाम तथा बृहदारण्यक उपनिषद्मे प्रजापतिसे इन्द्र तथा विरोचन आश्रममे ही शिक्षा ग्रहण करते हैं। रामायणकालमे वसिष्ठ, विश्वामित्र तथा अगस्त्यके आश्रम गुरुकुल ही है। भरद्वाजका आश्रम भी गुरुकुल है। वाल्मीकिरामायणके अरण्यकाण्डमे अगस्त्यके विद्यापीठकी बड़ी प्रशसा वर्णित है। यहाँ देवता, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध आदि भी अगस्त्यसे शिक्षा ग्रहण करने आते थे—

अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
अगस्त्यं नियताहाराः सततं पर्युपासते॥

महाभारतकालमे अङ्गदेशमे कौशिकीके तटपर शृङ्गका तपोवन था, जहाँ आयुर्वेदकी शिक्षा दी जाती थी। बदरीनाथमे व्यासजीका आश्रम था। पैल, जैमिनि तथा वैशम्पायन यहीके स्नातक थे। मेरु पर्वतके पार्श्वभागमे कर्मकाण्डकी शिक्षाके लिये वसिष्ठका गुरुकुल था।

आदिपर्वके अनुसार कण्वके आश्रममे अनेक छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। महेन्द्र पर्वतपर परशुरामजी युद्ध-विद्याकी शिक्षा देते थे। नैमिषारण्य पुराणोके अध्यापनका केन्द्र था, जिसके कुलपति शौनक थे। मध्यप्रदेशमे उज्जैन और पूर्वमे काशीमे अनेक आचार्य-कुल रहे। आधुनिक युगमे गुरुकुल और ऋषिकुल नामसे प्राचीन परिपाटीको पुनरुज्जीवित स्वामी श्रीश्रद्धानन्द और मदनमोहन मालवीयजीने किया। सैद्धान्तिक और प्रायोगिक शिक्षाकी समन्वित प्रणालीका अनुगमन इनका लक्ष्य था। नगरोसे दूर सुरम्य वातावरणमे योग्य, सदाचारी गुरुओके निकट रहकर बारह या सोलह वर्षतक शिक्षा समान आवास, समान वेशभूषा, समान शिक्षा और समान व्यवहारके आधारपर दी जाती थी। वेद भी कहता है—**'समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः।'** अत. गुरुकुल उस शिक्षा-प्रणालीके आदर्शरूप थे, जहाँ द्रुपद और द्रोण, श्रीकृष्ण और सुदामा बिना किसी भेद-भावके समान सुविधाओके साथ पढ़ते थे। तुल्य खान-पान, रहन-सहन और शिक्षाकी समाजवादी रूपरेखा यहाँ मूर्तरूपमे स्वीकृत थी।

गुरुकुल या गुरुगृहवासके मनोरम चित्र भी प्राचीन साहित्यमे मिलते है। विद्यार्थीको वहाँ रहते हुए खेती-वाड़ीमे सहायता करना, गोपालन, होमके लिये लकड़ी बीनना तथा स्वयंकी देख-रेख करना आवश्यक होता था। धौम्य ऋषिके खेतकी मेड़पर आरुणि स्वयं लेटकर बाढ़से रक्षा करता है। इसी प्रकार उपमन्यु भी आचार्यका अनन्य सेवक है। शुक्राचार्यके आश्रममें कचकी दिनचर्या ऐसी ही है। व्यासपुत्र शुकदेवने बृहस्पतिके आश्रममे विद्या प्राप्त की और अपनी अर्हता प्रतिपादित करनेके लिये तप भी किया। कुछ समर्थ परिवार अपने घरपर गुरुको रखकर विद्या ग्रहण करने लगे थे, पर यह गुरुकुल-परम्पराके विपरीत अनर्थकारी पद्धति थी। विद्यार्थीसे धन लेकर शिक्षादानको 'मृतकाध्यापन' की निकृष्ट संज्ञा दी गयी। ऐसे-ऐसे आचार्योके गुरुकुल इस देशमे थे जो दस हजार शिष्योको निःशुल्क विद्यादानके साथ भोजन, आवास आदिकी सुविधाएँ भी देते थे। महाभारतके टीकाकार नीलकण्ठने कहा है—

'एको दश सहस्राणि योऽन्नदानादिना भरेत् स वै कुलपतिः।'

महाभारतके सभापर्वमे कहा गया है—**'शीलवृत्तफलं श्रुतम्'** अर्थात् शिक्षाका लक्ष्य चरित्रगठन और पुण्यकर्म-सम्पादन है। व्यासजीको 'गुरुकुल' शब्द इतना प्रिय है कि वे विद्याश्रम या शिक्षणालय, शाला या विद्यापीठ पसंद न कर 'गुरुकुल' ही सार्थक तथा उपयुक्त नाम मानते हैं। श्रीकृष्ण सुदामासे मिलनेपर सादीपनिके आश्रमको याद करते है तो उसे गुरुकुल ही सम्बोधित करते हैं—

'अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद् भवता लब्धदक्षिणात्।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरुकुलोकी शिक्षा-पद्धति व्यावहारिक और चरित्र-निर्माणमूलक रही है। इसके लिये आवश्यक है कि आश्रमवास अनिवार्य हो, वहाँ रहते हुए ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया जाय तथा आचार्यके निकट रहकर उनके निजी जीवनसे शिक्षा ग्रहण की जाय। मनोरम प्राकृतिक वातावरणमे रहकर बलिष्ठ शरीरका निर्माण, समानताका जीवन जीकर सामाजिक चेतनाकी प्राप्ति तथा गुरुके आदर्श जीवनसे प्रेरणा लेकर आत्मिक विकास या सर्वाङ्गीण व्यक्तित्वका अर्जन गुरुकुलकी देन है। इसी पद्धतिको ध्यानमे रखकर गाँधी, विनोबा तथा जाकिर हुसेनने बुनियादी तालीमकी नींव डाली। रवीन्द्रनाथ ठाकुरका शान्तिनिकेतन इसी साँचेमे ढला हुआ था। आजके वातावरणमे यदि प्राचीन गुरुकुलीय परम्पराका अनुसरण किया जाय तो अध्यात्ममूलक समतावादी समाजकी स्थापनाका लक्ष्य पूरा हो सकता है। स्वतन्त्र देशकी शिक्षा-नीव आज भी मैकालेकी परम्परासे जुड़कर खड़ी हो, यह लज्जाकी बात है। गुरु-शिष्यका माता-पिता-जैसा सम्बन्ध, ब्रह्मचर्यपालन, समान शिक्षा तथा समान रहन-सहनपर आधृत शिक्षा ही आदर्श शिक्षा है, उसके अभावमे सामाजिक अभ्युत्थान और राष्ट्रनिर्माणकी बात करना निर्मूल है।

भगवान्‌ने यह प्रस्ताव जब सांदीपनि मुनिके समक्ष रखा, तब पूर्णकाम गुरुजीने तो किसी वस्तुकी इच्छा नही प्रकट की, किंतु गुरु-पत्नीकी पुत्रैषणा अभी शेष थी, अत. उन्होने अपने प्रभासतीर्थकी दुर्घटनाको याद करके उनसे मृत पुत्रको लानेके लिये कहा । तब श्रीकृष्ण और बलदेव दोनो भाई वरुणके दिये हुए रथके द्वारा प्रभासमे जाकर समुद्रसे गुरुपुत्रकी प्राप्तिके लिये कहने लगे । उसने बताया कि मेरेमे संह्लादका पुत्र पञ्चजन दैत्य शखका रूप धारण कर रहता है, कदाचित् वह आपके गुरुपुत्रको ले गया होगा । आप उसे मारकर उन्हे प्राप्त कर ले (श्रीमद्भा० ६ । १८ । ४, १० । ४५ । ४०) ।

यह सुनकर भगवान्‌ने शंखासुरको मारा, परंतु उसके पास गुरुपुत्रको नही पाया । आपने दैत्यपर कृपा की और प्रह्लादके भाईके पुत्र या अपने भक्तकी स्मृतिमे उसका बनाया हुआ शङ्ख स्वयं धारण किया और उसका नाम उसीकी स्मृतिमे पाञ्चजन्य शङ्ख रखा । तबसे यह सर्वप्रथम आयुध शङ्ख भगवत्प्रिय हुआ ।

भगवान् गुरुपुत्रकी खोजमे पुन. निकले और यमराजकी संयमनीपुरीके बाहरसे ही आपने शङ्ख-ध्वनि की । उसे सुनकर सब नारकीय जीव मुक्त होकर स्वर्गको जाने लगे । यह देखकर यमराज बहुत क्रुद्ध हुए और इनसे युद्ध करनेके लिये दलबलके साथ आये, किंतु हारकर अन्तमे गुरुपुत्रको लाकर भेट किये और अनेक प्रकारसे अपने बहनोईकी स्तुति कर उन्हे प्रसन्न किया (स्कन्द०, अवन्तीखण्ड ५ । २७)।

आपने उज्जैनमे आकर गुरुजीके श्रीचरणोमे गुरु-दक्षिणा समर्पण की और दण्डवत् प्रणाम किया (म०भा०स०परि० १ । २१ । ८५७) । उस पुत्रका नाम 'दत्त' रखा गया । सपत्नीक गुरुजीने मुक्तकण्ठसे इन्हे विद्या सफल होनेका आशीर्वाद दिया (चरित्रकोश २६१) ।

भगवान् श्रीकृष्णने ६४ दिनोमें जो ६४ कलाओका अध्ययन किया उनके नाम ये हैं—

गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, आलेख्य, विशेषकच्छेद्य, तंडुलकुसुमबलिविकार, पुष्पास्तरण, दशनवसनाङ्गराग, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचन, उदकवाद्य, चित्रयोग, माल्यग्रथनविकल्प, शेखरकापीडयोजन, नेपथ्यप्रयोग, कर्णपत्रभङ्ग, गन्धयुक्ति, भूषणयोजन, ऐन्द्रजाल, कौचुमारयोग, हस्तलाघव, पानकरस-रागासवयोजन, सूचीकर्म, सूत्रक्रीडा, प्रहेलिका, प्रहेलीमाला, दुर्वाचकयोग, पुस्तकवाचन, नाटकाख्यायिकादर्शन, काव्यसमस्यापूरण, पट्टिकावेत्रवान-विकल्प, तर्कुकर्म, वास्तुविद्या, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद, मणिरागज्ञान, आकारज्ञान, वृक्षायुर्वेदयोग, मेषकुक्कुटलावयुद्ध-विद्या, शुक-सारिका-प्रलापन, उत्सादन, अक्षरमुष्टिकाकथन, स्वेच्छितकविकल्प, देशभाषाज्ञान, पुष्पशकटिका, निमित्तज्ञान, यन्त्रमात्रका धारण-संवाच्य, मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोष, छलितयोग, वस्त्रगोपन, द्यूतविशेष, बालक्रीडा, छन्दोज्ञान, क्रियाविकल्प, वैनायिक, वैजयिक, व्यासकयान, केशमार्जन, चित्रशाकयूपभक्तविकारक्रिया, वीणाडमरुकवाद्य, तक्षण, व्यायामिकी विद्या ।

श्रीकृष्णके सतीर्थ सखा सुदामा

ये पोरबंदरके रहनेवाले बडे संतोपी एव भगवद्भक्त ब्राह्मण थे । इनके माता-पिताका नाम अज्ञात है । ये भगवान्‌के उज्जैन आनेके पहलेसे ही सांदीपनिके पास विद्याध्ययन कर रहे थे । इनके हृदयपटलपर उपनिषदोका प्रभाव अधिक हुआ । ये खाने, पहनने आदि लौकिक व्यवहारको तुच्छ मानते थे । जैसे मिल जाय वैसे खा लेना और जो मिल जाय उस फटे-पुराने वस्त्रको केवल शरीर ढाँकनेके लिये धारण करना इनका सहज स्वभाव था । भगवान्‌ने जब इन संतोषी एवं अध्ययनशील ब्राह्मण-बालकको देखा तो वे बड़े प्रसन्न एवं संतुष्ट हुए । आपने जान-बूझकर ब्राह्मणमे अपनी अहैतुकी भक्ति देखकर उन्हे अपना मित्र बना लिया । आपने उद्धवको उपदेश करते समय इन आवन्त्य ब्राह्मणका उदाहरण देकर मनोविज्ञानका संदेश भी उन्हे दिया था ।

ये अयाचित व्रत रखनेवाले ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण थे । एक दिन सत्सङ्गके प्रसङ्गमे इन्होने अपनी पत्नी सत्याको उपदेश करते हुए संतोषका महत्त्व बतलाया । जीवनमे भगवद्भक्ति ही मुख्य पुरुषार्थ है और वह तप तथा

संतोषसे सहज प्राप्त हो सकती है, किंतु पत्नीने इनसे कहा—'अन्य लोगोसे तो काम नहीं है, किंतु द्वारकानाथके द्वारपर आप अवश्य जाइये। वहाँ जानेपर आपका अयाचित व्रत भंग नही होगा। आप कुछ भी मत माँगिये।' यो कहकर उसने इन्हे भेटके लिये कुछ चिउड़ा बाँधकर वहाँ जानेकी तैयारी कर दी। तब इन्होंने सोचा कि—'**अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम्।**'

अन्ततः ये किसी तरह द्वारकापुरी पहुँच ही गये। वहाँ भगवान्ने इनका बड़ा सम्मान किया और जिसने भेट पठायी थी उसके लिये अपार धन-सम्पत्ति गुप्तरूपसे भेज दी। सुदामाजीने न तो कुछ इनसे याचना की और न ब्रह्मण्यदेवने इस ब्राह्मणका अयाचित व्रत ही टूटने दिया, वैसे ही इन्हे वहाँसे विदा कर दिया।

घर आनेके बाद इन्हे ज्ञात हुआ कि भगवान्ने अतुल ऐश्वर्य भेज दिया है। ये सब जिस सुशीलाने इच्छा की थी उसका है, मेरा धन तो मेरे पास पहले भी था और अब भी है; वह कहीं आता-जाता नहीं। मुझे तो गुरु सांदीपनिकी कृपाका प्रसाद प्राप्त है, वही सब कुछ है—'**गुरुकृपा हि केवलम्।**'

श्रीकृष्णकी छात्रावस्था

(पं० श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा, बी० ए०)

कंस-कण्टकके उखाड़े जानेके पश्चात् जब द्विजाति-संस्कार हो चुका, तब श्रीकृष्णकी गुरुकुलमे रहनेकी इच्छा हुई। उस समय उज्जैन-नगरीमे काश्य अर्थात् 'काश' गोत्रवाले अथवा 'काशी'मे उत्पन्न हुए सभी विद्याओ और कलाओसे सम्पन्न एक सांदीपनि नामके पण्डित रहते थे। श्रीकृष्ण शास्त्रोक्त-विधिसे हाथमे समिधा लेकर और इन्द्रियोको वशमे रखकर विद्वद्वर सांदीपनिके समीप गये तथा गुरुके प्रति कैसा शुद्ध व्यवहार रखना चाहिये इसकी सीख औरोको देते हुए भक्तिपूर्वक गुरुकी देवताके समान सेवा करने लगे। गुरु भी उन्हे तीक्ष्णबुद्धि देखकर उनका आदर करते और उनकी निष्कपट, स्नेहयुक्त सेवाओसे उनपर प्रसन्न रहते थे। यथार्थमें यह भी श्रीकृष्णकी लोकसंग्रहके लिये मानव-लीलामात्र थी, जैसा कि श्रीमद्भागवतमे कहा गया है—

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ।
नान्यसिद्धामलज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः॥

(१०।४५।३०)

'सभी विद्याएँ उनसे निकली थीं। वे सर्वज्ञ और जगत्के स्वामी थे। निर्मल ज्ञान उन्हे स्वतः सिद्ध था, परतु वे उसे छिपा रहे थे; क्योंकि उन्हे मनुष्योकी भाँति लीला करनी थी।'

गुरुकुलवास, गुरु और गुरुशुश्रूषाकी महिमा तथा गुरुकुलमे कैसे-कैसे काम करने पड़ते थे और कैसे-कैसे कष्ट उठाने पड़ते थे, इन विषयोका पुराणाचार्यने सुदामाकी कथा (श्रीमद्भा० १०।८०) में बड़े ही सुन्दर ढंगसे वर्णन किया है। श्रीकृष्ण अपने उस समयके सहपाठी सुदामासे कहते हैं—

'ब्रह्मन्! क्या आपको कभी अपना और हमारा गुरुकुलवाला ब्रह्मचर्याश्रमका वृत्तान्त भी स्मरण आता है? गुरुकुल ऐसा स्थान् है, जहाँ द्विजातिको धर्मादिका वह ज्ञान होता है, जिससे अविद्यामय संसारसे मुक्ति मिल जाती है। द्विजाति और उसके सत्कर्मोका उत्पत्ति-स्थान, सच पूछिये तो यह गुरुकुलवास अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम ही है, गर्भ नहीं, क्योंकि उसमेसे तो शूद्र भी उत्पन्न होता है। इसीलिये भिन्न-भिन्न आश्रमवालोको भिन्न-भिन्न ज्ञान देनेवाला गुरु वैसा ही पूज्य है, जैसा मैं हूँ। सचमुच वर्ण और आश्रमवालोमे वे ही लोग पुरुषार्थकुशल हैं जो गुरुरूप मेरे उपदेशसे सुखपूर्वक संसारसागरको तर जाते हैं। सब भूतोंका आत्मा होकर भी मैं पञ्चमहायज्ञादि गृहस्थधर्म, ब्रह्मचारिधर्म, अनशनादि

वानप्रस्थधर्म और इन्द्रिय-निग्रहादि यतिधर्मसे उतना प्रसन्न नहीं होता, जितना गुरुकी सेवासे । ब्रह्मन्! क्या वह दिन भी आपको स्मरण आता है, जब गुरुपत्नीने हम दोनोंको ईंधन लानेके लिये वन भेजा था? शीत ऋतु लग गयी थी । हम दोनो भयंकर वनमें गये हुए थे, इतनेमें आँधी चलने लगी । मूसलाधार पानी बरसने लगा, निठुर बादल गरजने लगे । थोड़ी देरमे संध्या हो गयी । चारो ओर अँधेरा छा गया । जल-ही-जल हो जानेसे यह नही जान पडता था कि कहाँ नीचा और कहाँ ऊँचा है । उस वनमे इस प्रकार वायु और उपल-जलादिवृष्टिसे अत्यन्त कष्ट पाते हुए हम दोनों मार्ग न पाकर परस्पर हाथ पकड़े हुए व्याकुल होकर इधर-उधर भटकते रहे । हम दोनोंको न आया जानकर दिन उगते ही आचार्य सांदीपनि खोजनेके लिये निकले और जब उन्होने हम दोनोंको कष्टमें देखा तो दया करके कहने लगे कि 'प्रिय पुत्रो! हमारे लिये तुम दोनोंको बहुत कष्ट उठाना पडा । प्राणियोंको यह आत्मा सबसे प्यारा है, पर हमारी सेवाके आगे तुम दोनोंने इसे कुछ नहीं गिना । शुद्ध भक्तिसे अपने सब कुछ अर्थ और देहको गुरुके लिये अर्पण कर देना—ऐसा ही सच्छिष्योंको गुरुका उपकार करना चाहिये । द्विजश्रेष्ठो! मैं तुम दोनोंसे प्रसन्न हूँ । तुम दोनोंके मनोरथ सफल हों और पढ़े हुए वेद इस लोक और परलोकमे सदा उपस्थित तथा सारवान् रहकर अभीष्ट फलको देनेमे समर्थ रहें ।'—ऐसे अनेक वृत्तान्त गुरुकुलमे रहते समय हुआ करते थे । क्या वे आपको स्मरण है? गुरुकी कृपासे ही मनुष्य पूर्णकाम होकर मुक्ति-प्राप्तिके लिये समर्थ होता है ।'

गुरु सांदीपनिने श्रीकृष्णको (१) चारो वेद, (२) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्दःशास्त्र, ज्योतिष और निरुक्त—ये छः वेदाङ्ग, (३) उपनिषद्, (४) सरहस्य अर्थात् मन्त्रदेवताके ज्ञानसहित धनुर्वेद, (५) मन्वादिके कहे हुए धर्मशास्त्र, (६) मीमांसादि न्यायमार्ग (दर्शन), (७) तर्कविद्या और (८) संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—ऐसी छः प्रकारकी (राज) नीतियाँ सिखायीं । श्रीकृष्णने भी प्रखर बुद्धिके कारण गुरुके एक बार कहनेमात्रसे ही इन्हें सीख लिया । विष्णुपुराणके मतसे चौंसठ दिन-रातमें ही श्रीकृष्णने सभी चौंसठों कलाएँ सीख लीं ।

जब श्रीकृष्णने उस समय इस लोक और परलोकके लिये उपयोगिनी जितनी विद्या और कलाएँ प्रचलित थीं, सब सीख लीं, तब उन्होंने गुरुसे दक्षिणा चाहनेके लिये प्रार्थना की । गुरु उनकी मनुष्योंमें दुर्लभ दिव्य बुद्धिको देख ही चुके थे, जिसके बलसे उन्होंने बिना परिश्रम ही केवल चौंसठ दिनोंमें सभी विद्याएँ सीख ली थीं । इसलिये उन्हें महापुरुष समझकर कोई ऐसी गुरुदक्षिणा लेनी चाही, जिससे उनका कोई असाधारण मनोरथ पूर्ण हो सकता था । इस प्रयोजनसे उन्होंने अपनी पत्नीसे अनुमति ली । कुछ वर्ष पहले उनका पुत्र प्रभास-क्षेत्रके समुद्रके जलमें खेल रहा था । वहाँ उसे शङ्खासुर निगल गया था । पत्नीकी अनुमतिसे उसीको गुरुने गुरुदक्षिणाके रूपमें माँग लिया ।

'तथास्तु' कहकर श्रीकृष्ण रथपर सवार हो प्रभास-क्षेत्र पहुँचे और वहाँ समुद्रके किनारे जाकर कुछ देर ठहरे । समुद्रने उन्हे परमेश्वर जानकर उनकी यथायोग्य पूजा की । श्रीकृष्णने उससे कहा—'तुमने अपनी बड़ी-बड़ी लहरोंसे हमारे गुरुपुत्रको हर लिया था, उसे शीघ्र लौटा दो ।' समुद्रने उत्तर दिया—'मैंने बालकको नहीं हरा है, मेरे भीतर पञ्चजन नामक एक बड़ा दैत्य शङ्खरूपसे रहता है । निःसंदेह उसीने आपके गुरुपुत्रको हरण किया है ।' श्रीकृष्णने तत्काल जलके भीतर घुसकर उस दैत्यको मार डाला, पर उसके पेटमे गुरुपुत्र नहीं मिला । तब उसके शरीरमेंसे पाञ्चजन्य शङ्खको लेकर श्रीकृष्ण लौट आये । वस्तुतः श्रीकृष्ण पहले ही जानते थे कि गुरुपुत्र समुद्रमें नहीं है तथापि उन्हें शङ्ख लेना था । अत. नरलीला दिखानेके लिये गुरुपुत्रको ढूँढ़नेके मिससे उन्होने यह कार्य किया ।

तदनन्तर श्रीकृष्ण यमराजकी नगरी संयमनीमे गये । वहाँ भगवान्ने उस शङ्खको बजाया । कहते हैं कि उस ध्वनिको सुनकर नारकी जीव पाप नष्ट हो जानेसे वैकुण्ठ पहुँच गये । यमराजने बड़ी भक्तिके साथ श्रीकृष्णकी पूजा

शिष्योंको सत्-शिक्षा

की और नम्र होकर निवेदन किया—'लीला-मानव! मै आपकी क्या सेवा करूँ?' श्रीकृष्णने कहा—'तुम तो नहीं, पर तुम्हारे दूत कर्मवश हमारे गुरुपुत्रको यहाँ ले आये हैं, उसे मेरी आज्ञासे दे दो।' 'तथास्तु' कहकर यम उस बालकको ले आये।

श्रीकृष्णने गुरुपुत्रको, जैसा वह मरा था वैसा ही उसका शरीर बनाकर, समुद्रसे लाये हुए रत्नादिके साथ गुरुके चरणोमे निवेदित कर कहा—'गुरुदेव! और भी जो कुछ आप चाहे आज्ञा करे।' गुरुने उत्तर दिया—'वत्स! तुमने गुरुदक्षिणा भली प्रकार सम्पन्न कर दी। तुम्हारे-जैसे शिष्यसे गुरुकी कौन-सी कामना अवशेष रह सकती है? वीर! अब तुम अपने घर जाओ, तुम्हारी कीर्ति श्रोताओको पवित्र करे और तुम्हारे पढ़े हुए वेद नित्य उपस्थित और सारवान् रहकर इस लोक और परलोकमे तुम्हारे अभीष्ट फलको देनेमे समर्थ हो।'

गुरुकी इस प्रकार अनुज्ञा पाकर श्रीकृष्ण वायुके-से वेग और बादलकी-सी गरजवाले रथपर सवार हो अपने नगरको लौट आये। बहुत दिनोतक न दिखायी देनेके कारण उन्हे देखकर प्रजा ऐसी आनन्दित हुई जैसा कि खोया हुआ धन वापस मिल जानेसे आनन्द होता है।

इससे यह शिक्षा मिलती है कि छात्रावस्थामे शिक्षार्थीको शिक्षककी अनुकम्पा प्राप्त करनेके लिये उनकी सेवामे दत्तचित्त होकर लगा रहना चाहिये। उनकी कृपासे वह पूर्णकाम होकर जगत्मे अपने जीवनको जन-समाजके लिये आदर्श बना सकता है।

स्नातकोंके लिये सदुपदेश

प्राचीनकालमे जब ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करके घर लौटना चाहता था, तब आचार्य उसे ऐसा उपदेश देते थे—

'सत्य बोलो। धर्मका आचरण करो। स्वाध्यायका कभी त्याग न करो। आचार्यको गुरु-दक्षिणा देकर प्रजाके सूत्रको न काटो अर्थात् ब्रह्मचर्यका पालन कर चुकनेपर गृहस्थाश्रममे प्रवेश करो। सत्यका कभी किसी अवस्थामे भी त्याग न करो। धर्मका कभी त्याग न करो। कल्याणकारी कर्मोका त्याग न करो। साधनकी जो विभूति प्राप्त है, उसे कभी मत त्यागो। स्वाध्याय और प्रवचनमे कभी प्रमाद न करो। देवकर्म (यज्ञ) और पितृकर्म (श्राद्ध, तर्पण आदि) का कभी त्याग न करो। माताको देवरूपसे पूजो। पिताको देवरूपसे पूजो। आचार्यको देवरूपसे पूजो। अतिथिको देवरूपसे पूजो। जो कर्म निन्दारहित हैं उन्हींको करो। अन्य (निन्दित कर्म) मत करो। हमारे (गुरुके) श्रेष्ठ आचरणोका अनुसरण करो, दूसरोका नहीं।

'जो ब्राह्मण अपनेसे श्रेष्ठ हो उन्हे तुरत बैठनेके लिये आसन दो। जो कुछ दान करो श्रद्धासे करो, अश्रद्धासे नहीं। श्रीके लिये दान करो (लक्ष्मी चञ्चला है, प्रभुकी सेवामे उसे समर्पण नहीं करोगे तो वह तुम्हे त्यागकर चली जायगी।), देय वस्तुको कम मानकर संकोच करते हुए भगवान् और शास्त्रसे डरकर दान करो, दान करना उचित है, इस विवेकसे दान करो। अपने किसी कर्म अथवा लौकिक विचारके सम्बन्धमें मनमे कोई शङ्का उठे तो अपने समीप रहनेवाले ब्राह्मणोमे जो वेदविहित कर्मोमे विचारशील हो, समदर्शी हो, स्वतन्त्र हो (किसीके दबावमे आकर व्यवस्था देनेवाले न हो), क्रोधरहित अथवा शान्त-स्वभाव हो और धर्मके लिये ही कर्तव्यपालन करनेवाले हो, वे जिस प्रकारका आचरण करे, उसी प्रकारका आचरण तुम भी करो। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेदोका भाव है, यही आज्ञा है।' ऊपर बतलायी हुई प्रणालीसे ही आचरण करना चाहिये। (तैत्तिरीय उपनिषद्)

आदर्श शिष्य

श्रीकृष्ण-सुदामा

श्रीकृष्ण इस किशोरवयमे राजकुमार नही, युवराज नहीं, सम्राट् भी नही, साम्राज्यके सस्थापक है । दिगन्तविजयी कंस उनके करोके एक झटकेमे ध्वस्त हो गया और उग्रसेन—मथुरेश उग्रसेनको प्रणाम न करे तो इन्द्र भी देवराज न रह सके; यह श्रीकृष्णका प्रचण्ड प्रताप । यहाँ उज्जयिनीके सिहासनपर भी उनके बुआके पुत्र है । उनकी बुआ है, यहाँकी राजमाता । वे यहाँ भी सर्वथा अपरिचित देशमे नही है ।

श्रीकृष्णका यह ब्रह्मचारी-वेश और उनके साथ समवेशधारी दरिद्र ब्राह्मण-कुमार सुदामा । कोई विशेषता नही, कोई सम्मानाधिक्य नही । ब्राह्मणकुमारके साथ उसीके समान श्रीकृष्ण भी गुरुसेवाके लिये समिधाएँ वहन करते है, गुरुकी हवन-क्रियाके लिये जगलसे लकडी लाते है ।

किंतु महर्षि सादीपनिका आश्रम—किसी महर्षिका गुरुकुल तो साम्यका आश्रम है । श्रीकृष्ण कोई हो, कैसे भी हो, कितने भी ऐश्वर्यशाली हो और कितना भी दरिद्र हो सुदामा—महर्षिके चरणोमे दोनो छात्र है । मानव-मानवके मध्य किसी भेदका प्रवेश गुरुकुलकी सीमामे यह कैसे सम्भव है ।

एकलव्य

आचार्य द्रोण—कुरुकुलके राजकुमारोके शस्त्र-शिक्षक, उनका भी क्या वश था ? राजकुमारोके साथ एक भीलके लड़केको वे कैसे बैठनेकी अनुमति देते । एकलव्य जब उनके समीप शस्त्र-शिक्षा लेने आया था, तब उन्होने अस्वीकार कर दिया था ।

एकलव्यकी निष्ठा—सच्ची लगन सदा सफल होती है । उसने वनमे आचार्य द्रोणकी मृत्तिका-मूर्ति बनाकर उसीको गुरु माना और अभ्यास प्रारम्भ कर दिया । उसका अभ्यास—उसका नैपुण्य अन्तत· चकित कर गया एक दिन आखेटके लिये वनमे निकले आचार्य द्रोणके सर्वश्रेष्ठ शिष्य अर्जुनको भी ।

अर्जुनकी ईर्ष्यासे प्रेरित आचार्य एकलव्यके पास पहुँचे । जिनकी मूर्ति पूजता था एकलव्य, वे जब स्वयं उसके यहाँ पधारे । गुरुदक्षिणामे उन्होने उसके दाहिने हाथका अँगूठा माँगा । किस लालसासे एकलव्यने शस्त्राभ्यास किया था, उस समस्त अभिलाषापर पानी फिर रहा था, किंतु धन्य एकलव्य ! उसने बिना हिचके अँगूठा काटा और बढ़ा दिया आचार्य द्रोणके सम्मुख ।

आरुणि

न पुस्तके, न फीस—छात्रावास-शुल्क भी नही । उन दिनो छात्र गुरुगृहमे रहते थे । निवास, भोजन, वस्त्र तथा अध्ययनका सारा दायित्व गुरुदेवपर । शिष्य सनाथ था गुरुसेवा करके ।

तीव्र वर्षा देखकर महर्षि धौम्यने अपने शिष्य आरुणिको धानके खेतकी मेड़ ठीक करनेके लिये भेजा । खेतकी मेड़ एक स्थानपर टूटी थी और जलका वेग बाँधनेके लिये रखी मिट्टीको बहा ले जाता था । निष्फल लौट जाय आरुणि—यह कैसे सम्भव था ? वह स्वय टूटी मेड़के स्थानपर लेट गया जलका वेग रोककर । शरीर शीतल हुआ, अकड़ा, वेदनाका पार नही, किंतु आरुणि उठ जाय और गुरुदेवके खेतका जल बह जाने दे—यह नहीं हुआ ।

गुरुदेवके यहाँ रात्रिमे भी आरुणि नहीं पहुँचा तो वे चिन्तित हुए । ढूँढ़ने निकले और उनकी पुकारपर आरुणि उठा । उसकी गुरुभक्तिसे प्रसन्न गुरुके आशीर्वादने उसी दिन उसे महर्षि उद्दालक बना दिया ।

उपमन्यु

महर्षि आयोद धौम्यने अपने दूसरे शिष्य उपमन्युका आहार रोक दिया । उसकी लायी हुई सारी भिक्षा वे रख लेते । उसे दूसरी बार भिक्षा लानेसे भी रोक दिया गया । वह गौओंका दूध पीने लगा तो वह भी वर्जित और बछड़ोके मुखसे गिरे फेनपर रहने लगा तो वह भी निषिद्ध हो गया । क्षुधासे पीड़ित होकर आकके पत्ते खा लिये उसने । उसकी नेत्रज्योति चली गयी । वह कुएँमे—जलरहित कूपमे गिर पड़ा ।

महर्षि उसे ढूँढ़ते कूपपर पहुँचे । उनके आदेशसे उपमन्युने स्तुति की और देववैद्य अश्विनीकुमार प्रकट हुए । उनका आग्रह, किंतु गुरुको निवेदित किये बिना उनका दिया मालपुआ उपमन्यु कैसे खा ले । देववैद्य एवं गुरुदेव दोनो द्रवित हो उठे । उपमन्युकी दृष्टि ही नही, तत्काल समस्त विद्याएँ प्राप्त हो गयी उसे ।

आदर्श शिष्य

श्रीकृष्ण-सुदामा एकलव्य
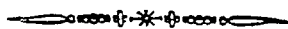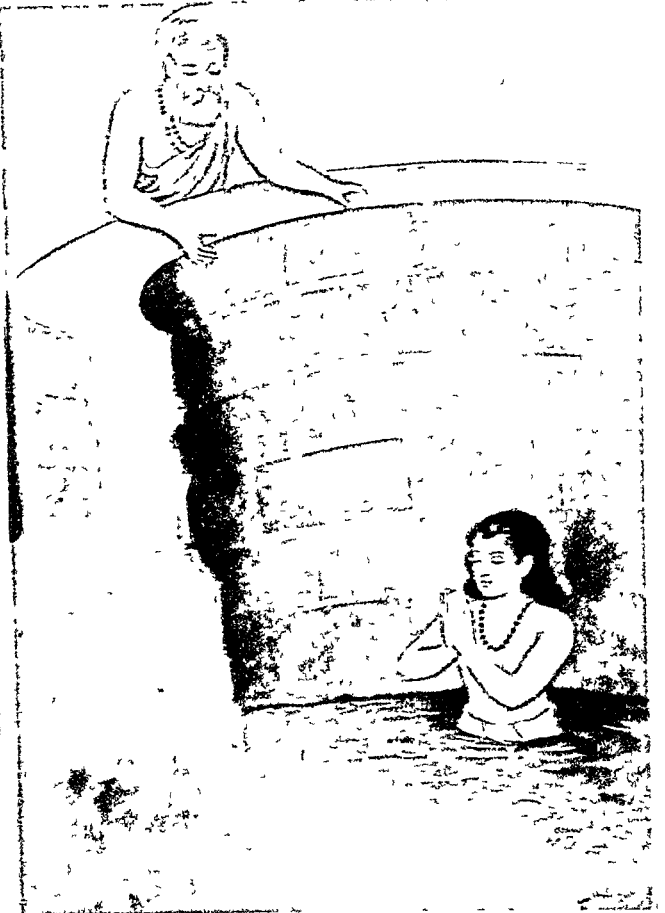
आरुणि उपमन्यु

महाकवि कालिदासकी दृष्टिमें शिक्षा

(डॉ॰ श्रीरामकृष्णजी सराफ)

महाकवि कालिदास अद्वितीय प्रतिभाके धनी थे। उनकी कृतियोमे अनेक ज्ञान-विद्याओका समावेश है। अपने देशकी तत्कालीन संस्कृतिका चित्रण उनकी रचनाओमे स्पष्ट अंकित है। महाकविने अपनी रचनाओमे सांस्कृतिक मान्यताओ, धर्म-दर्शन-कला-शिक्षा आदिकी चर्चा की है। शिक्षाके सम्बन्धमे उनके विचार सुस्पष्ट है। शिक्षाका उद्देश्य क्या हो, शिक्षकका व्यक्तित्व कैसा हो, शिक्षक और छात्रोके सम्बन्धोंका स्वरूप कैसा हो, शिक्षा-संस्थाओमे अनुशासनकी अपरिहार्यता है या नहीं, शिक्षाके प्रति शासनकी नीति क्या हो, लोकका शिक्षाके प्रति दृष्टिकोण किस प्रकारका हो, शिक्षामे परीक्षा तथा उपाधि (डिग्री)-का क्या सम्बन्ध हो आदि प्रश्नोका उत्तर हमे महाकवि कालिदासकी कृतियोमे मिलता है।

महाकविने किसी शिक्षण-सस्थामे अध्यापन भले ही न किया हो, किंतु शिक्षाके सम्बन्धमे उन्होने जो अपने विचार रखे हैं, उनसे उनकी इस राष्ट्रिय समस्याके प्रति पूर्ण सजगताका सकेत मिलता है। शिक्षाके उद्देश्यको स्पष्ट करते हुए महाकवि कहते हैं कि कोरे पुस्तकीय ज्ञानको प्राप्त कर लेना अपनेमे कोई अर्थ नही रखता। विद्या-अर्जनके पश्चात् सतत अभ्यासकी आवश्यकता होती है **'विद्यामभ्यसनेन'** (रघुवंश १।८८)। हमारे अर्जित ज्ञानकी लोकमे सार्थकता तभी है, जब वह व्यवहारमे भी उतना ही खरा उतरे।

एक अच्छे शिक्षकके सम्बन्धमे अपना विचार व्यक्त करते हुए महाकविने कहा है कि श्रेष्ठ शिक्षक वही है, जिसकी अपने विषयमे गहरी पैठ हो। उसका अपने विषयपर तो पूर्ण अधिकार होना ही चाहिये, अध्यापन-क्षमता भी उसकी उत्कृष्ट कोटिकी होनी चाहिये, जिससे छात्रोको श्रेष्ठ ज्ञानका लाभ मिल सके—

शिलष्टाक्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥

(मालविकाग्नि॰ १।१६)

सुसिक्खिदोवि सव्वो उवदेसदंसणे णिण्णातो होदि।
(सुशिक्षितोऽपि सर्वः उपदेशदर्शने निष्णातो भवति।)

(मालविकाग्नि॰)

— ऐसा अध्यापक ही समाजमे अपना स्थान बना पाता है। महाकविने ऐसे अध्यापकको ही 'सुतीर्थ' की संज्ञा दी है, किंतु अध्यापक यदि अपने उत्तरदायित्वका सही निर्वाह नही करता तो कालिदासकी लेखनी उसे क्षमा भी नही करती। मालविकाग्निमित्रमे ऐसे शिक्षकोके सम्बन्धमे उन्होने स्पष्टरूपसे कहा है कि जिसका शास्त्रज्ञान केवल जीविकानिर्वाहके लिये है, वह तो ज्ञानको बेचनेवाला वणिक् है।[1] कालिदासकी मान्यता है कि उत्तम पात्रको दी गयी शिक्षा अवश्य उत्कर्ष प्रकट करती है—

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजंति शिल्पमाधातुः।

(मालवि॰ १।६)

---

१ यस्यागम केवल जीविकायै त ज्ञानपण्य वणिज वदन्ति॥ (मालवि॰ १।१७)

किंतु उत्तम पात्रका चयन भी उत्तम अध्यापक ही कर सकता है। राग-द्वेषसे लिप्त अथवा पूर्वाग्रहग्रस्त अध्यापक इस कार्यको करनेमे असफल रहेगा और वह उसकी अयोग्यताका सूचक होगा—

विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयति।

(मालवि०)

यदि सही शिष्यको सही अध्यापकके द्वारा शिक्षा प्रदान की गयी है तो कोई कारण नही है कि उसका परिणाम भी सही न निकले। अध्यापक एव छात्रोके बीचके सम्बन्धकी चर्चा करते हुए कालिदासने कहा है कि शिक्षण-अवधिमे आचार्य छात्रोके लिये अध्यापक भी है और अभिभावक भी। छात्रके सर्वाङ्गीण कल्याणको दृष्टिमें रखते हुए वे उसे विद्या प्रदान करते हैं। आश्रममे सभी छात्र समान होते हैं। सभीको आचार्यसे समान व्यवहार और एक-सा स्नेह मिलता है, चाहे वाल्मीकिके आश्रममे लव-कुश हो अथवा वरतन्तुके आश्रममे कौत्स। गुरुके यहाँ छात्रको पुत्रवत् प्रेम मिलता है। छात्रके व्यक्तित्वका आश्रममे सम्यक् विकास होता है। आचार्यको इसीलिये शिष्यपर पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है—***पभवदि आआअरिओ सिस्सजणस्स* (प्रभवत्याचार्यः शिष्यजनस्य)** (मालविकाग्नि०), जिससे अपने छात्रके व्यक्तित्वको वह सही रूपसे सँवार सके। अत यह स्वाभाविक है कि छात्रोसे भी आचार्यको अटूट सम्मान प्राप्त हो। कालिदासकी कृतियोमे यह मान्यता स्थापित मिलती है। इससे संकेत मिलता है कि कालिदासके युगमे अध्यापको और छात्रोके बीचके सम्बन्ध अपेक्षाके अनुरूप प्रियकर थे।

कालिदासकी रचनाओमे इस तथ्यके भी पर्याप्त संकेत मिलते हैं कि शिक्षण-सस्थाओमे अनुशासनसम्बन्धी कोई समस्या नही थी। उसके विपरीत आश्रमोमे अनुशासनका पालन कडाईसे होता था। वहाँ सबसे अपेक्षित था कि अनुशासनके नियमोका सभी लोग समानरूपसे पालन करे। इसके लिये कोई अपवादरूप नही था। आश्रमके प्रधानके आदेशका कोई भी उल्लङ्घन नही कर सकता था। फिर चाहे वह राजपुत्र ही क्यों न हो? यदि कोई राजकुमार आश्रमके नियमोका उल्लङ्घन करता तो उसे भी क्षमा नहीं किया जाता था। उसे भी दण्डित होना पड़ता था। महर्षि च्यवनके आश्रममें महाराज पुरूरवाके पुत्र कुमार आयुके आश्रमविरुद्ध आचरण करनेपर—आश्रममें एक पक्षीको बाणसे मारनेपर—उसे आश्रमसे तत्काल निष्कासित कर दिया गया था।[2] शासन भी आश्रमके नियमोंका पूर्ण सम्मान करता था। कालिदासकी कृतियोंमें ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं मिलता जहाँ आश्रमके नियमोंको शिथिल करनेके लिये शासनके द्वारा अपने प्रभावका उपयोग किया गया हो। स्पष्ट है कि आश्रमके कुलपति अपने कार्यक्षेत्रमें छात्रोके हितमें यथोचित निर्णय लेनेके लिये पूर्ण सक्षम एवं स्वतन्त्र थे। शिक्षाके क्षेत्रमें नीतिविषयक निर्णय लेनेका अधिकार किसी वसिष्ठ अथवा वरतन्तु, कण्व अथवा च्यवनका ही होता था। शासन इस क्षेत्रमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नही करता था।

उस युगमे शासनकी तरह प्रजावर्ग भी आश्रमों अथवा शिक्षा-संस्थाओंको आदरपूर्ण दृष्टिसे देखता था। कुलपतिका पद सर्वत्र सम्मानित था। आश्रमकी मर्यादाके परिपालनमे सबका पूर्ण विश्वास था। उच्चवर्ग और सामान्यवर्ग सभी अपने पुत्रोको आश्रममे शिक्षा ग्रहण करनेके लिये भेजते थे। महर्षि कण्वके आश्रममे शार्ङ्गरव और शारद्वत समाजके सामान्य वर्गसे आनेवाले छात्र प्रतीत होते हैं। रघुवशमें वरतन्तुका शिष्य कौत्स भी सामान्य श्रेणीसे आनेवाला छात्र है। इन छात्रोंके विवरणसे ज्ञात होता है कि इस वर्गके छात्र भी पूर्ण निष्ठासे श्रद्धापूर्वक ज्ञान प्राप्त करते थे एवं अपने आचार्यका आशीर्वाद और स्नेह प्राप्त करते थे। ऐसा कहीं कोई उल्लेख नही मिलता जहाँ इस वर्गके छात्रोने आश्रमके अनुशासनको उल्लङ्घित करनेका कभी प्रयास किया हो।

शिक्षा-पद्धतिके समान परीक्षाके सम्बन्धमे भी कालिदासके विचार स्पष्ट हैं। सही शिक्षा परीक्षित होनेपर उसी प्रकार खरी उतरती है, जिस प्रकार अग्निमे डाला हुआ

२ विक्रमोर्वशीयम्।

सोना। वह कभी मलिनताको प्राप्त नहीं होती।[3] परीक्षामे उत्तीर्ण होनेपर न केवल शिष्यकी प्रशसा होती है, अपितु अपने उपदेष्टाको भी वह गौरव प्राप्त कराता है। मालविकाग्निमित्र नाटकमे आयोजित नृत्यस्पर्धामे मालविकाके उत्कृष्ट नृत्य-प्रदर्शनके लिये देवी धारिणीने नृत्याचार्य गणदासकी प्रशंसा की थी।

कालिदासकी मान्यता रही है कि प्राप्त किये हुए ज्ञानकी परीक्षाके लिये कोई निश्चित समय नही रहता। शिष्यको अपने ज्ञानकी परीक्षा देनेके लिये सदा तैयार रहना चाहिये। उसकी परीक्षा कही भी और किसी भी समय ली जा सकती है। यदि छात्रको सही मार्गदर्शन मिला है और यदि उसने अपने आचार्यके बतलाये मार्गपर चलते हुए शिक्षा ग्रहण की है, तो कोई कारण नहीं कि किसी भी समय परीक्षा देनेमे उसे कोई हिचक हो। छात्रको अपने आचार्यकी योग्यतापर पूर्ण विश्वास होना चाहिये और अपने ऊपर आत्मविश्वास भी। ऐसा छात्र अवसर आनेपर सदा सफल ही रहता है। महर्षि वाल्मीकिसे विद्या प्राप्त कर बालक लव-कुशने अपने मौखिक रामायण-पाठसे अयोध्यामे सारी राजसभाको मन्त्रमुग्ध कर दिया था।

कालिदासने आचार्यसे प्राप्त की हुई विद्याके प्रमाणस्वरूप किसी उपाधि अथवा प्रमाणपत्रको कभी आवश्यक नही ठहराया। उनकी स्पष्ट मान्यता रही है कि यदि सम्यक्‌रूपसे प्रदत्त विद्या सम्यक्‌रूपसे ग्रहण की गयी है तो वह फलवती अवश्य होगी। यदि आचार्यको विश्वास हो जाता है कि छात्रने पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर ली है, तो उनका छात्रको प्रसन्नतापूर्वक प्रदान किया गया आशीर्वाद ही अपने-आपमे सबसे बड़ी उपाधि होती थी। फिर तो शिष्य कही भी जाकर अपनी योग्यताके आधारपर अपना स्थान बना लेता था। रघुवशमे आचार्य वरतन्तुने अपने शिष्य कौत्सके विद्याध्ययनके प्रति अपना पूर्ण संतोष व्यक्त किया।[4] छात्र कौत्सके लिये गुरु-प्रतोष ही सर्वोच्च उपाधि थी।

कालिदासने योग्यताका मापदण्ड गुरुसे प्राप्त ज्ञानको माना है न कि मात्र उपाधि-पत्रकको। उस युगमे छात्रोके बीच स्पर्धा ज्ञानप्राप्तिके लिये होती थी, उपाधिप्राप्तिके लिये नही। यही कारण था कि कोई भी योग्य छात्र अपनी उपाधि लेकर कामके लिये यत्र-तत्र भटकता हुआ कालिदासके साहित्यमे नही मिलता। इस प्रकार महाकविने अपनी कृतियोमे शिक्षासम्बन्धी कतिपय ज्वलन्त प्रश्नोको उठाया है और उन प्रश्नोका अपने ढगसे समाधान भी रखा है। महाकवि कालिदास एक महान् दूरद्रष्टा थे। महाकविकी और उनके विचारोकी आज भी प्रासगिकता है। आजके संदर्भमे भी उनकी अवधारणाएँ मननीय एव विचारणीय है।

रघुवंशमें शिक्षाके कुछ मूल्यवान् सूत्र

(डॉ॰ श्रीशशिधरजी शर्मा, एम्॰ ए॰, डी॰ लिट्॰)

शिक्षापर भारतीय शास्त्रोमे पर्याप्त विवेचना हुई है। 'रघुवश' कविकुलगुरु कालिदासकी सर्वोदात्त कृति होनेपर भी समग्र रघुकुलकी ललामतम उपलब्धियोका भी लेखा-जोखा है, अत उसमे किसी आनुषङ्गिक विषयपर जमकर लिखना महाकविके लिये कठिन था। फिर भी उसमे शिक्षाके प्रसङ्गमे जो कुछ कहा गया है, वह मौलिक है और आजकी शिक्षा-समस्याओके समाधान-निमित्त मूल्यवान् सूत्रोको उपस्थित करता है। कालिदासके कुमारसम्भव, अभिज्ञान-शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्रादिमे भी शिक्षा-सम्बन्धी अत्यन्त महत्त्वके निर्देश है, पर विस्तारभयसे यहाँ रघुवशका ही विवेचन प्रस्तुत है।

---

३ उपदेश विदु शुद्ध सन्तस्तमुपदेशिन। श्यामायते न विद्वत्सु य काञ्चनमिवाग्निषु॥　(मालवि॰ २। ९)

४ समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै। स मे चिरायास्खलितोपचारा ता भक्तिमेवागणयत् पुरस्तात्॥　(रघुवश ५। २०)

संस्कारोकी पृष्ठभूमि

पहलेकी अपेक्षा आज शिक्षाका प्रसार बहुत अधिक है, पद-पदपर शिक्षालय सुलभ हैं । विदेशोंमें तो शिक्षाका प्रतिशत बहुत ही बढा हुआ है, फिर भी शिक्षा अपने लक्ष्यसे बहुत दूर है । शिक्षाका लक्ष्य है व्यक्तिका परिष्कार, जिसके द्वारा मानवमे देवत्वका आधान होता था, किंतु आजकी शिक्षामे बिलकुल विपरीत है । अशिक्षितोकी अपेक्षा आजका शिक्षित-समुदाय अधिक गहरे अपराधोसे लिप्त है । राष्ट्रिय रहस्योका विक्रय करनेवाले या कम-से-कम समयमे अधिक-से-अधिक व्यक्तियोकी हत्याके साधनोका आविष्कार करनेवाले सब सुशिक्षित है । विकासका साधन शिक्षा आज विनाशका साधन बनी है । यह विपर्यय कैसा ? रघुवंशमे इसका समाधान प्राप्त होता है—संस्कारोमे । संस्कार किये जानेपर विष भी औषध बन जाता है और संस्कारके बिना औषध-द्रव्य भी व्यवहार्य नही होते ।

भारतीयोके षोडश संस्कार शिक्षाकी पूर्णताके ही तो साधन थे । इसीलिये कालिदासने रघुका चित्रण करते हुए लिखा है कि चूडाकर्म-संस्कारके अनन्तर जब उन्होंने लिपिको ग्रहण किया—लिखना प्रारम्भ किया—तब उनका वाङ्मयमे अनायास सहज प्रवेश हो गया, जैसे जलका नदीके मुहानेसे समुद्रमे प्रवेश हो जाता है—

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकै-
रमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं
नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥
(३ । २८)

उपनयन-संस्कार हो जानेके पश्चात् गुरुजनोंके प्रिय उन रघुको गुरुओंने शिक्षा प्रदान की और उनके प्रयास सफलतासे मण्डित हुए, क्योंकि पात्रमे दी गयी शिक्षा ही सफल होती है ।

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो
विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते
क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥
(३ । २९)

यहाँ यह बतलाया गया कि यद्यपि रघु सहज ही गुरुजनोंको प्रिय थे, फिर भी उन्होंने उपनयन-संस्कारके पश्चात् ही उन्हें शिक्षा-वितरण किया । दूसरी बात यह यहाँ कही गयी कि पात्रमें दी गयी शिक्षा ही सफल होती है । आज पात्रापात्र-विचारके अभावमें ही शिक्षा बन्दरके हाथका खंजर बन गयी है ।

रघुवंशीय शिक्षाकी तीसरी विशेषता है उसका विनयके साथ नित्यसम्बन्ध । उस विनयने ही उन्हें गुरुजनोंका सहज स्नेहपात्र गुरुप्रिय बनाया था । विनयकी शिक्षा तो अँगुली पकडकर चलनेकी अवस्थासे ही मिलने लगती थी । तभी तो लिखा है—

ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलि-
मभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया ॥
(३ । २५)

उनका यह विनय सदा एकरस रहा । तभी तो कविने लिखा है कि युवक रघु यद्यपि देहसे अपने पितासे बढ गये थे, फिर भी विनयवश वे नीचे (झुके हुए) ही दीखे—

वपुःप्रकर्षादजयद् गुरुं रघु-
स्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥
(३ । ३४)

कविकी दृष्टिमे यह विनय दो प्रकारका है—एक सहज और दूसरा संस्कार अर्थात् समग्र विद्याभ्याससे प्राप्त होनेवाला ।[१] रघुमे ये दोनों ही विनय विद्यमान थे—'**निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ**' (३ । ३५) । आजकी शिक्षा इसलिये भी असफल है: क्योंकि उसका विनयसे कोई नाता नही । फलत. वह मानवताका नही, केवल दम्भका पोषण करती है ।

सर्वपथीनता

रघुकी शिक्षाके प्रसङ्गमे एक वैशिष्ट्य यह भी द्रष्टव्य

१ निसर्गेण स्वभावेन संस्कारेण शास्त्राभ्यासजनितवासनया च विनीतो नम्र । (मल्लिनाथ)

है कि उसका क्षेत्र लोक और परलोक दोनोको समेटे हुए है। कविसम्राट् लिखते है कि उदारमना रघुने बुद्धिके सम्पूर्ण गुणोद्वारा चतु:समुद्र-सदृशी त्रयी, आन्वीक्षिकी आदि चारो विद्याओको यो पार कर लिया, जैसे सूर्य वायुसे भी अधिक वेगवान् अपने घोडोके सहारे चार समुद्र-जैसी (अपार) चारो दिशाओको पार कर लेते है—

धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः
क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभि-
र्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥

(३।३०)

इस पद्यमे सकेतित बुद्धिके सात गुण है—गुरुजनोकी सेवा, उनके मुखारविन्दसे श्रवण, सुने हुएको ग्रहण करना, उसे धारण करना, तर्क-वितर्क, अर्थ-ज्ञान और तत्त्वतक पहुँच। जैसा कि कामन्दकमे कहा गया है—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥

इनमे सर्वप्रथम गुण है गुरु-सेवा। शुश्रूषाका अर्थ गुरुमुखसे सुननेकी इच्छा भी किया जा सकता है—तब भी अभिप्राय गुरुमहिमापर ही केन्द्रित रहेगा। फलत छात्रोकी अनुशासनहीनताका प्रश्न ही नही उठता। साथ ही गुरु भी तो तब योग्य ही हो सकेगे, संस्तुतिसे नही। इसके साथ ही पाठ्यक्रमकी सर्वाङ्गीणता भी यहाँ दर्शनीय है। रघुने आन्वीक्षिकी (न्यायशास्त्र), त्रयी (अध्यात्मविद्या), वार्ता (कृषि-वैज्ञानिकी) और दण्डनीति (राजनीति) चारो विद्याएँ पढी थी। साराश—तब शिक्षा लोक-परलोक दोनोको बनानेवाली होती थी। अंग्रेजोने भारतमे तो लिपिक पैदा करनेवाली शिक्षा चलायी ही, किंतु अन्य देशोमे भी केवल भौतिक शिक्षाकी उपलब्धियाँ मानवके सम्पूर्ण विकासमे अक्षय रहती है। अतिलौकिक बला-अतिबला-जैसी विद्याओकी बात यहाँ जान-बूझकर छोड दी गयी है।

घरसे शिक्षा

आजकल माता-पिता बच्चोको स्कूल भेज देने मात्रसे अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझते हैं। विश्वशिक्षाविदोके अनुसार बच्चोमे पनपनेवाली कुण्ठामे यह एक प्रमुख कारण है, जिसका पर्यवसान अपराधोन्मुखतामे होता है, किंतु रघुने धनुर्वेद अपने पिताश्री महाराज दिलीपसे ही पवित्र मृगचर्म धारण करके (नियमपूर्वक) सीखा था। उनके पिता भी तो सम्राट् मात्र ही न थे, वे धनुर्धरोके अग्रणी भी थे—

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवी-
मशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः
क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥

(३।३१)

अत रघुवंशका आदर्श रहा कि शिक्षाका आरम्भ घरसे हो और उसमे पिताकी भूमिका प्रमुख हो। फलत पितामे शील एव योग्यता सहज आक्षिप्त है।

त्यागरूप पारसमणि

त्याग जीवनकी पारसमणि है। यह जिसे छू देती है, वही सोना बन जाता है। आज शिक्षामे बहुमुखी प्रगति होनेपर भी उसकी विफलताका प्रधान कारण उसमे त्यागकी भावनाका न रहना है। गुरुदक्षिणाके लिये अड़े हुए कौत्सको खीझकर जब गुरुने कहा कि तुमने चौदह विद्याएँ पढ़ी हैं तो चौदह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ लाओ। रघुने याचक बनकर आये हुए कौत्सके आगे कुबेरसे सैकड़ो करोड स्वर्णमुद्राओकी वर्षा करा दी, तब कौत्स गुरुदक्षिणाके चौदह करोड़से अधिक एक पाई भी लेनेको उद्यत न था। उदार दाता रघुका आग्रह था कि सब आपको ही ले जाना होगा, क्योंकि मै तो सर्वस्व दान कर चुका हूँ। सारा साकेत ठगा-सा खडा था कि रघु और कौत्समेसे किसे बढकर माने—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी
नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥

(५।३१)

यदि हम रघुवंशकी शिक्षासे सूत्रोको पकड सकें तो निस्सदेह हमारी शिक्षा-समस्याएँ समाप्त हो सकती हैं।

शिक्षा, सेवा, विनय और शील

(डॉ॰ श्रीअनन्तजी मिश्र)

शिक्षा शब्दका उच्चारण करते ही इसके दो परिपार्श्व अर्थात् दो समानान्तर संदर्भ तुरंत सामने आ जाते हैं। एक है शिक्षक और दूसरा शिक्षार्थी। प्रथम बात तो यह है कि शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों ही भगवान्‌के स्वरूप है। दोनोको दोनोके रूपोंका यथार्थ बोध हुए बिना शिक्षाका वास्तविक उद्देश्य प्राप्त नही होगा। दोनोंको दो रूपोमे भगवान्‌का ही कार्य सम्पादित करना होता है। एकको शिक्षा देनी है, वह दाता है और दूसरेको ग्रहण करनी है, वह ग्रहीता है। पर दोनोके मनमे क्रमशः न तो यह अभिमान होना चाहिये कि वह शिक्षक है, ज्ञानी है और न यह हीनता-बोध कि वह अज्ञानी है। इसमे पहलेका दायित्व दुगुना है। उसे शिक्षार्थीके प्रति यह जिम्मेदारी भी निभानी है कि वह उसे किसी प्रकारके हीनता-बोधसे बचाये भी रखे और यह भी देखता रहे कि शिक्षार्थीकी जिज्ञासा घटने न पाये, उसे अल्प ज्ञानका संतोष न होने पाये।

भगवत्कार्य समझकर शिक्षा और शिक्षितके कार्योंका पर्यालोचन करनेसे शिक्षाकी बहुत-सी समस्याएँ अपने-आप समाप्त हो जाती है। वस्तुत शिक्षक और शिक्षार्थी अध्यापन और अध्ययनके वातावरणमे स्वयको ही माँजते, धोते और इस प्रकार निर्मल होते हैं जिसे भगवान्‌ने गीतामे '**परिप्रश्नेन सेवया**'के संकेतसे स्पष्ट किया है। वह केवल शिक्षार्थीपर ही लागू नही होता। यह बात दोनोपर लागू होती है। शिक्षाका संदर्भ सेवासे कृतार्थ होता है। कोई यह कह सकते हैं कि सेवाका यहाँ क्या संदर्भ है। यह तो ज्ञान-दान है। ज्ञान-दान भी क्या, ज्ञानका प्रसार है। पर प्रसारसे ज्ञानका आचरण-पक्ष उजागर नही होता। जो आधुनिक शिक्षामे खोट उत्पन्न होती जा रही है और जो दोष आज तिलसे ताड़ बनता जा रहा है, उसके पीछे 'शिक्षाका प्रसार' एक कारण है। शिक्षाको प्रचार-प्रसारसे जोड़ना मात्रात्मक अर्थमें तो उपयोगी हो सकता है, पर गुणात्मक स्तरपर इसकी कृतकार्यता तबतक नहीं हो सकती जबतक कि शिक्षक-समुदाय इसे सेवाके रूपमें ग्रहण नहीं करता। वस्तुतः वे निष्ठा और पवित्रताके भाव, जो शिक्षा-प्राप्त व्यक्तिको सदाचारी बनाते हैं, बिना सेवा-भावनाके प्रकट नहीं होते।

शिक्षाका सम्बन्ध संस्कारों, साधनों और विद्याओंसे है। संस्कार तो व्यक्तिगत होते हैं, पर विद्या और साधनाको अपेक्षित दिशा और भूमिका देनी पड़ती है। विद्याके लिये साधना और साधनाके लिये विद्या, इन दोनो ही वस्तुओंको तत्त्वसे जाननेकी आवश्यकता है। विद्या-प्राप्तिका उद्देश्य विवाद, धन-मद और अहंकार-वर्धन नहीं होना चाहिये। विद्यामें विनयकी ही प्राप्ति होनी चाहिये। विनय केवल निरभिमानिताका पर्याय नहीं है। इसके लिये विशेष दिशा अर्थात् पारमार्थिक तत्त्वज्ञान, तत्त्वप्रवेश, तत्त्व-बोध और तत्त्वात्मबोधकी प्रक्रियाके क्रममें अपनेको ले जाना पड़ता है, क्योंकि विनय शब्दमें भी (**'णीञ् प्रापणे'**) धातु विद्यमान है। शिक्षार्थी और शिक्षकको इस गम्भीर अनुरोधके अनुकूल अपनी जागतिक शिक्षाको भी देखना एव परखना चाहिये।

शिक्षा अपने तत्त्वार्थमें एक प्रकारकी दीक्षा है। शिक्षाके बाद दीक्षान्त-भाषणोंका यही अद्यतन महत्त्व है। शिक्षा और दीक्षा— दोनों मिलकर आचारका निर्धारण एवं नियन्त्रण करते है। यह आचार जब प्रवृत्तिका पर्याय बन जाता है तब शीलका उदय होता है। यह शील ही शिक्षाका चरम फल है। शील सघन साधनाके पश्चात् अमृत-तत्त्वकी प्राप्ति कराता है। महान् आत्माओंकी लोक-यात्राएँ उनके शील तथा साधनाओंकी चरम परिणतियाँ है। प्रत्येक व्यक्तिके शीलका निर्माण शिक्षा-व्यवस्था करे और सम्पूर्ण व्यक्तियोका संनिवेश एक सम्पूर्ण शीलवान् समाजका निर्माण कर सके तो पूरे समाजको विद्यारूप अमृतका फल प्राप्त हो सकेगा, ऐसा विश्वास सभीको सद्बुद्धि प्रदान करे। ऐसी मङ्गलमयी कामना हम सबको करनी चाहिये।

शिक्षार्जनमें विशिष्ट कोशों, विश्वविद्यालयों, पुस्तकालयों और प्रकाशन-संस्थाओंका योगदान

(प० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

शिक्षाके मूल स्रोत श्रीभगवान् ही है। उनके सहज श्वाससे अपौरुषेय वेदोके साथ वेदाङ्ग स्वत· प्रकट हुए। बादमे कोशोमे यास्कमुनिका निरुक्त विशेष प्रचलित हुआ। फिर लौकिक संस्कृत-ज्ञानार्थ व्याडि, विश्वप्रकाश, अमर, हैम, मेदिनी, रत्नमाला, वैजयन्ती, हलायुध आदि पर्यायवाची एवं बहु-अर्थक कोश प्रकाशमे आये। अमरकोशपर पचाससे अधिक संस्कृत टीकाएँ है। पाश्चात्त्य विद्वानोने अनेक विश्वकोश रचे, जिनमे प्रायः व्यक्ति, देश, नदी, पर्वत आदिके नाम भी है तथा उनका पूर्ण परिचय एवं विवरण भी वहाँ प्राप्त होता है, पर इनमे जातिवाचक कोशोके शब्द प्राय· नही हैं। इनमें इनसाइक्लोपीडिया-ब्रिटानिका (३० जिल्दोमे) के अबतक प्रायः २५ संस्करण छप चुके हैं। जैम्स हेस्टिंग्सका धर्म एवं आचारका विश्वकोश सर्वोत्तम है, जो १५ जिल्दोमे है। विश्वबन्धुका वैदिक-पदानुक्रमकोश २० जिल्दोमे है, यह दुष्कर तपका ही परिणाम है। इसमे हजारों विद्वानोंका योगदान रहा है। संस्कृत, अंग्रेजी कोशोमे बेनेफी, विल्सन, मैकडेनाल, मोनियर विलियम्स, आप्टे, ह्विटने आदिके कोश प्रसिद्ध है। संस्कृत-शब्द-कोश (राथका) दस विशाल भागोमे विशेष उल्लेख्य है। सिद्धेश्वर शास्त्री चित्रावका मराठी चारित्रिक विश्वकोश प्राचीन, मध्ययुगीन एवं अर्वाचीन सभी व्यक्तियोके चरित्र-ज्ञान, शिक्षण-लेखन एवं कार्योका एक वाङ्मय दर्पण कहा जा सकता है।

कुन्हनराजा आदिके कैट्लगस ग्रन्थ ज्ञान-कोशोंके रूपमे अत्यन्त सहायक हैं। मालशेखरका पाली वैयक्तिनामकोश (लंदनसे प्रकाशित) २ बड़े जिल्दोमे है। टैंककी जैन-बाइओग्राफी भी बड़े महत्त्वकी है। सेटपीट्स राजेट्सने विद्याओका परिचयात्मक कोश पर्याय-कोशके साथ प्रस्तुत किया है। इनमे शिल्पशास्त्र, यन्त्र, विज्ञान, नौयान, वायुयान, विद्युत्, चिकित्साशास्त्र, पुरातत्त्व, भूगोल, ज्यामिति, रसायन, दर्शनशास्त्र, ज्योतिर्विज्ञान, भविष्यकथन आदि प्रत्येकके तीन-चार सौ भेदतक प्रदिष्ट है। केवल पाश्चात्त्य दर्शनशास्त्रके पॉच सौ भेद-उपभेद इसके ३२३-२५ पृष्ठोपर निर्दिष्ट हैं। भविष्यकथन-सम्बन्धी चार सौ विद्याओ, रंगके हजारो भेद, व्यापारशास्त्र, सिलाई, तौल, जीवविद्या, भूगर्भविद्या, अणुवीक्षण, हजारों रत्नोके भेद, परिचय, फोटो, कानून, संगीत, रेडियो, गैस, मुद्रा, विश्वकी हजारो भाषाओके संग्रह-परिचय इसमे निर्दिष्ट हैं तथा पृष्ठ १८०—८३ पर हजारो फल, पुष्प, शाक और भोज्यपदार्थोका विवरण है। शिक्षा-शिक्षक, विद्या-विद्यार्थी, विद्यालय, ग्रन्थ-ग्रन्थालय, ज्ञान, अध्ययनादिसे सम्बन्धित प्राय· एक लाख महत्त्वपूर्ण शब्दोका संकलन ५३५ वे प्रकरणके एज्यूकेशनशब्दसे प्रारम्भ कर ६५० वे प्रकरणतक विभिन्न धारा एवं शाखा-उपशाखाओमे अद्भुत ढंगसे किया गया है।

शिक्षा-विद्या-विज्ञान-कलाके प्रेमियोने तपद्वारा इनपर अलग-अलग विशाल कोश बनाये हैं, उदाहरणार्थ—पी० आर० ऐय्यरका कानूनकोश, भारत-सरकारकी विधिशब्दावली (तीसरा संस्करण), डॉ० रघुवीरका पक्षी-नाम-विज्ञान-कोश (भारत, वर्मा, लकाके विशेषरूपसे), वसु एवं बोरेका वनौषधिकोश (७ जिल्दोमे), बर्नेटका केमिकल तथा टेकनिकल कोश, बर्गीजका वैक्टेरियोलॉजीका बृहत् कोश (दसवॉ सस्करण), वसकेनेडीका मारफॉलोजीकोश, ह्विटने धातुकोश, चैम्बर्स तथा आक्सफोर्डके विभिन्न कोश एवं विश्वकोश इस दिशामे विशेष उल्लेख्य हैं। इंग्लैडसे छपा रगोका कोश (सोसायटी ऑफ डायर्स एण्ड पेन्टर्स) भी उल्लेख्य है। राल्फ टर्नरका भाषायीकोश ११ बडे जिल्दोंमें है, जिसमे पहले सस्कृत वादमे पचासो दूसरी भाषाओके पर्याय हैं।

भारतीय कोशोंमे इधर वैदिक, पौराणिककोश

(हिंदी-अंग्रेजी पौराणिक इन्साइक्लोपीडिया), मीमांसाकोश, श्रौतकोश निर्मित हुए हैं। ब्रह्मसूत्र स्वयं ही पचासों विद्याओं, संवर्गविद्या, मधुविद्या, पर्यङ्कविद्या आदि सैकड़ों वेद-वेदान्तकी विद्याओंका विश्वकोश है। नगेन्द्रनाथ वसुका बंगला एवं हिंदी विश्वकोश भी प्राच्य-पाश्चात्य विद्याओंका २६ वृहत् जिल्दोंमें महान् कोश है। इसी प्रकार वाचस्पत्य, शब्दकल्पद्रुम, अभिधानचिन्तामणि, तुलसी-शब्द-सागर आदि भी महान् श्रेष्ठ कोश हैं।

विश्वके प्रमुख विश्वविद्यालय एवं पुस्तकालय

भारतमें पहले महर्षि व्यास, भरद्वाज और वसिष्ठ आदिके महान् विश्वविद्यालय थे, जहाँ श्रीरामप्रेम एवं श्रीरामदर्शन सुलभ था। बादमें तक्षशिला, विक्रमशिला, वलभी (कल्याणी), नालंदा, मिथिला, नदिया आदिके विश्वविद्यालय इतिहासमें अति प्रसिद्ध हुए। कालिफोर्निया, टोकियो, मास्को, पेरिस, सिडनी आदिके विश्वविद्यालय भी विश्वमें विशेष उल्लेखनीय हैं। भारतमें अलीगढ़ (स्थापित १९२२ई०), काशी हिंदू-विश्वविद्यालय, नेहरू-विश्वविद्यालय (स्था० १९६७ई०) एवं विश्वभारती (शान्तिनिकेतन) बोलपुर, बंगाल (स्था० १९२१ई०)—ये केन्द्रिय विश्वविद्यालय हैं। कलकत्ता-विश्वविद्यालय सर्वाधिक प्राचीन है, इसकी स्थापना विक्टोरियाने १८५७ई०मे प्रथम स्वतन्त्रता-संग्रामके बाद तत्काल की थी। उसके अन्तर्गत २०० महाविद्यालय हैं। बम्बई एवं मद्रासके विश्वविद्यालय भी कलकत्ताके थोड़े ही बाद १८५७ई०में ही स्थापित हुए। इन्हें मान्यता १९०४ई०में मिली। वहाँ अंग्रेजी, बंगला एवं तमिल आदि भी माध्यम है। मद्राससे सम्बद्ध १२० महाविद्यालय हैं। प्रयाग (इलाहाबाद)-विश्वविद्यालय (उत्तरप्रदेश) भारतका चौथा पुराना विश्वविद्यालय है, जिसकी स्थापना १८८७ई०मे हुई थी। पटना-विश्वविद्यालयकी स्थापना १९१७ई०में, लखनऊ-विश्वविद्यालयकी १९२१ई०में और आन्ध्र-विश्वविद्यालयकी १९२१ई०मे हुई। अन्नामल्लाई-विश्वविद्यालयकी स्थापना १९२९ई०मे और उस्मानिया-विश्वविद्यालय हैदराबादकी १९२८ई०में हुई।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद भारतमें अबतक प्रायः २०० विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके हैं, जिनमें कुछ प्रमुख ये हैं—अवध-विश्वविद्यालय, फैजाबाद १९७५ई०, अवधेशप्रताप-विश्वविद्यालय—रीवाँ १९७०ई०, असम-कृषि-विश्वविद्यालय—जोरहाट १९७०ई०, आन्ध्र-कृषि-विश्वविद्यालय—राजेन्द्रनगर १९६५ई०, [illegible]—हैदराबाद १९६०ई०, इन्दिरा-कलासंगीत-विश्वविद्यालय—खैरागढ (म०प्र०) १९५६ई०, इन्दौर-विश्वविद्यालय—इन्दौर १९६४ई०, उत्तरप्रदेश-कृषि-विश्वविद्यालय—पंतनगर-नैनीताल १९६०ई०, उत्तर-बंग-विश्वविद्यालय—राजा राममोहनपुर, दार्जिलिंग—(पश्चिम बंगाल) १९६२ई०, उदयपुर-विश्वविद्यालय—प्रतापनगर, उदयपुर १९६२ई०, उत्कल-विश्वविद्यालय—वाणीविहार, भुवनेश्वर १९४३ई०, उड़ीसा-कृषि-तकनीकी-विश्वविद्यालय—भुवनेश्वर (उड़ीसा) १९६२ई०, कर्नाटक-विश्वविद्यालय (कर्नाटक) १९४९ई०, कल्याणी-विश्वविद्यालय—कल्याणी (गुजरात) १९५५ई०, कानपुर-विश्वविद्यालय—सर्वोदयनगर-कानपुर (उ० प्र०) १९६६ई०, कामेश्वरसिंह-दरभंगा-संस्कृत-विश्वविद्यालय—दरभंगा (बिहार), कालीकट-विश्वविद्यालय, कश्मीर-विश्वविद्यालय, काशीविद्यापीठ, कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय, केरल-विश्वविद्यालय (त्रिवेन्द्रम्) १९३७ई०, गुजरात-विश्वविद्यालय—नवरंगपुरा, अहमदाबाद-विश्वविद्यालय, गुरुनानक-विश्वविद्यालय—अमृतसर १९७०ई०, गोरखपुर-विश्वविद्यालय १९५७ई०, गोहाटी-विश्वविद्यालय १९४८ई०, जबलपुर-विश्वविद्यालय १९५७ई०, जम्मू-विश्वविद्यालय १९४९ई०, जवाहरलाल-कृषि-विश्वविद्यालय—जबलपुर १९६४ई०, जो (या) देवपुर १९५५ई०, जीवाजी-विश्वविद्यालय १९६४ई०, जोधपुर-विश्वविद्यालय १९६२ई०, झाँसी-विश्वविद्यालय १९८३ई०, दिल्ली-विश्वविद्यालय १९२२ई०, डिब्रूगढ-विश्वविद्यालय १९६५ई०, नागपुर-विश्वविद्यालय १९२३ई०, पूना-विश्वविद्यालय १९४९ई०, पंजाब-कृषि-विश्वविद्यालय—लुधियाना १९६२ई०, पंजाबी-विश्वविद्यालय—पटियाला १९६२ई०, बंगलौर-विश्वविद्यालय १९६४ई०, बरहामपुर-विश्वविद्यालय १९६७ई०, बिहार-विश्वविद्यालय—मुजफ्फरपुर १९५२ई०, बर्दवान-विश्वविद्यालय १९६०ई०, भोपाल-विश्वविद्यालय १९७०ई०, भागलपुर-विश्वविद्यालय

१९६०ई०, मगध-विश्वविद्यालय—गया १९६२ई०, महामना मालवीय-कृषि-विश्वविद्यालय—पूना १९७०ई०, मराठवाडा-विश्वविद्यालय—औरंगाबाद १९५८ई०, महाराष्ट्र-कृषि विद्यापीठ—वुरली, बम्बई १९६८ई०, मेरठ-विश्वविद्यालय १९६६ई०, मैसूर-विश्वविद्यालय १९२६ई०, रविशंकर-विश्वविद्यालय—रामपुर १९६४ई०, राँची-विश्वविद्यालय—राँची १९६०ई०, रवीन्द्रभारती-विश्वविद्यालय—कलकत्ता १९६२ई०, राजस्थान-विश्वविद्यालय—जयपुर १९४७ई०, रुड़की-विश्वविद्यालय—रुड़की १९४९ई०, वाराणसेय सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय—वाराणसी १९५८ई०, विक्रम-विश्वविद्यालय—उज्जैन १९५७ई०, विश्वभारती-विश्वविद्यालय बोलपुर १९५१ई०, वेंकटेश्वर-विश्वविद्यालय—तिरुपति (आन्ध्र) १९६४ई०, शिवाजी-विश्वविद्यालय— कोल्हापुर (महाराष्ट्र), सम्बलपुर-विश्वविद्यालय (उड़ीसा) १९६७ई०, सरदार पटेल विश्वविद्यालय—वल्लभविद्यानगर (गुजरात) १९५५ई०, सागर-विश्वविद्यालय (म०प्र०) १९४६ई०, सौराष्ट्र-विश्वविद्यालय—राजकोट, गुजरात १९६५ई०, हरियाणा-कृषि-विश्वविद्यालय (हरियाणा) १९७८ई०, हिमाचल-विश्वविद्यालय—शिमला (हि०प्र०) १९७२ई० । इनके अतिरिक्त कई औषध-शिक्षणानुसंधान आदि भी हैं। गुरुकुल-कागड़ी, गुजरात-विद्यापीठादि अन्य बीसो विश्वविद्यालय मान्यता-प्राप्त शिक्षण-संस्थाएँ है और जौनपुर आदिमे भी नये विश्वविद्यालय निर्मित हो रहे हैं।

प्रसिद्ध पुस्तकालय

प्रायः इन सब विश्वविद्यालयोमे विभागीय एवं केन्द्रीय पुस्तकालय भी हैं। इनमे हिंदू-विश्वविद्यालय काशी, आड्यार-ग्रन्थालय मद्रास और सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालयके पुस्तकालय अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। हिंदू-विश्वविद्यालयके गायकवाड़-पुस्तकालयमे ३ लाखके लगभग पुस्तके है। राष्ट्रिय पुस्तकालय कलकत्ता, इंडिया-आफिस लंदन और बर्लिन-लाइब्रेरी जर्मनीमे ग्रन्थोके विशाल भण्डार हैं। बुद्धनगर-लाइब्रेरी और सिन्हा-ग्रन्थागार पटना भी प्रसिद्ध हैं। कलकत्ताके राष्ट्रिय पुस्तकालयकी स्थापना लार्ड कर्जनद्वारा १९००ई०मे हुई, पर उसकी नीव हेस्टिंग्जद्वारा १८३५ई०मे ही इम्पीरियल लाइब्रेरीके रूपमे पड़ गयी थी। लार्ड कर्जनने इसका (१८९९-१९०२ई० तक) अधिक विस्तार किया। पं० जवाहरलाल नेहरूने १९६२ई०मे इसका नेशनल लाइब्रेरी नाम रख दिया। इसमे इस समय २० लाख पुस्तके है, ६०० कार्यकर्ता हैं, २० हजार ग्रन्थ प्रतिवर्ष आते हैं, वार्षिक व्यय ४० लाख रुपया है, २० हजार पाठक पंजीकृत हैं, ८० हजार पुस्तकें प्रतिवर्ष पढ़ी जाती हैं, बुक-डिलेवरीसे पुस्तके आती हैं तथा बाहर भी पाठकोको भेजी जाती हैं। इसी प्रकार नेपालराज्य काठमाण्डू, चम्बा स्टेट पंजाब तथा कोचीन आदि नरेशोके ग्रन्थागार एवं खुदावख्श खाँकी लाइब्रेरी भी हस्तलेख एवं प्रकाशित पुस्तकोके संग्रहके लिये आदर्शभूत एवं उल्लेखनीय हैं।

इसी प्रकार शिक्षामे ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रमो एव विश्वविद्यालयोके शिक्षणका भी महत्त्वपूर्ण योगदान हुआ है। पंजाबका विश्वेश्वरानन्द-शोध-सस्थान, पूनाके ट्रेनिंग कालेज एवं भण्डारकर शोध-संस्थान, बड़ौदा एव तंजोरमे महाराजाओके सरस्वती-महल आदि पुस्तकालय अत्यन्त विख्यात है। इनमे लाखो बहुमूल्य सग्रह है। इनके अतिरिक्त आनन्दाश्रम-पूना, ऐग्लो संस्कृत लाइब्रेरी—नवद्वीप, अनूपसस्कृत-पुस्तकालय—बीकानेर, हनुमान-पुस्तकालय—रतनगढ, भारतीय इतिहास-संशोधन-मण्डल—पूना, भारतीय विद्याभवन—बम्बई, एशियाटिक सोसायटी—कलकत्ता, बम्बई, लंदन, दाहिलक्ष्मी-लाइब्रेरी—नाडियाड, मद्रास और मैसूरकी सरकारी लाइब्रेरी, ग्रेटर इंडिया सोसायटी—चितपुर—कलकत्ता, सिंधिया ओरियंटल इन्स्टीच्यूट (प्राच्य ग्रन्थ-संग्रह)—उज्जैन, त्रिवेन्द्रम् पब्लिक-लाइब्रेरी, बगीय साहित्य-परिषद कलकत्ता, विश्वभारती-पुस्तकालय कलकत्ता, मीरघाट काशीके विश्वनाथ पुस्तकालय आदि विशेष उल्लेख्य है। सबसे अधिक छपी पुस्तकें ब्रिटिश म्यूजियम लंदनमे हैं, जिसकी छपी सूची स्वतन्त्र रूपसे बिकती है। कटक और कोलम्बो म्युजियम्समे भी पर्याप्त ग्रन्थसंग्रह हैं। बम्बईके प्रिन्स आफ बुक म्युजियममे भी एक बड़ा ग्रन्थागार है।

कतिपय विराट् मन्दिर, मठो और संस्कृत-

महाविद्यालयोमें भी विशाल पुस्तकालय हैं । विजयनगर महाराज, कलकत्ताके गवर्नमेंट संस्कृत-कालेज, सताराके वई नगरकी प्रज्ञा-पाठशाला, पुडुंकोट और उडीपीके ग्रन्थागार, श्रवणवेलागावो चारुकीर्ति जैनभण्डार, श्रीरंगम्‌के गतोविन्ल मठ, कांची कामकोटिपीठके शृंगेरीके शंकरमठ, नाथद्वारा उदयपुर और उदयगिर कांचीके प्रतिवादिभयंकरमठमें भी विशाल पुस्तकालय हैं । काशीके जङ्गमवाड़ी मठ (गोदौलिया) मे प्राचीन हस्तलेखोंका अच्छा संग्रह है ।

प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाएँ और ग्रन्थ-मालाएँ

विभिन्न प्रकाशन-सस्थाओने श्रेष्ठ हस्तलेखोंका मुद्रण कर शिक्षा-प्रसारमे अद्वितीय सहयोग प्रदान किया है । इनकी चर्चाके विना शिक्षाक्षेत्रका परिचय अधूरा रहेगा । भारतमे छपाईका कार्य १७६०ई०मे कलकत्तेमे प्रारम्भ हुआ । वहाँ एशियाटिक सोसायटीके हजारो दुर्लभ सस्कृत, अंग्रेजी, अरवी, फारसी आदिके ग्रन्थ छपे, पर उनका अधिक ध्यान संस्कृतपर ही था। उनके मुख्य पत्र 'जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी और एशियाटिक रिसर्चेज'में संस्कृत तथा प्राचीन भारतीय पुरातत्त्व ही लक्ष्य था । वादमे वम्बई निर्णयसागरप्रेस, गुजरात प्रिंटिंग प्रेस तथा उसके कुछ समय वाद वेंकटेश्वर प्रेसकी स्थापना हुई । मैसूर, कश्मीर, वड़ौदा आदिके महाराजाओने रिसर्च-सस्थाओके बड़े प्रेस स्थापित किये । इन सभीने शिक्षा-प्रचारमे अवर्णनीय सहयोग प्रदान किया और अव भी कर रहे है । कलकत्ताके जीवानन्द-विद्यासागर तथा वंगवासी प्रेसने क्रमश॰ १८ पुराण मूल तथा वंगला-अनुवादसहित एवं प्रायः सभी वैदिक सहिताएँ, दर्शन, वेदाङ्ग एव काव्य, नाटक, कोशादि प्रकाशित किये । इसी प्रकार चित्रशाला प्रेस पूना, आनन्दाश्रम सस्कृत-संस्थान पूना, भण्डारकर-शोध-संस्थान, प्राच्य ग्रन्थालय पूनाके महत्त्वके ग्रन्थ छापे हैं ।

लक्ष्मी वेंकटेश्वरादिके कार्य विश्वविद्यालयोसे भी महान् है । रामचरितमानस विश्वका सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है, इसे तथा ऐसे अन्य कई ग्रन्थोको इन प्रकाशनोंने तथा कई विदेशी प्रकाशनोने भी भारतके घर-घरमे पहुँचाया है और शिक्षोपयोगी ग्रन्थमालाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमे अद्वैत-मञ्जरी-ग्रन्थमाला, आड्यार-ग्रन्थागार-ग्रन्थमाला—आड्यार (मद्रास), आगम-संग्रह-ग्रन्थमाला कलकत्ता, आगमोदय-समिति-ग्रन्थमाला—वम्बई, इलाहावाद-विश्वविद्यालय-संस्कृत-ग्रन्थमाला—प्रयाग, वालमनोरमा-ग्रन्थमाला—मद्रास, वुद्ध-संस्कृत-ग्रन्थमाला—मिथिला, काशी-संस्कृत-ग्रन्थमाला— वाराणसी, भारती-मन्दिर-ग्रन्थमाला—वाराणसी, भारतीय ज्ञानपीठ—वाराणसी, भारतीय ग्रन्थमाला—विद्याभवन वम्बई, कलकत्ता ओरियंटल सिरीज— कलकत्ता, एशियाटिक सोसाइटी-ग्रन्थमाला—कलकत्ता, विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्-ग्रन्थमाला—पटना, कलकत्ता-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला—कलकत्ता १२, चुन्नीलाल जैन, सार्वजनिक शिक्षण-संस्थान-ग्रन्थमाला—सूरत, कोचीन-संस्कृत-ग्रन्थमाला—कोचीन, ढाका-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला ढाका (वंगलादेश), दयानन्द ग्रन्थमाला—लाहौर, दिल्ली-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला—दिल्ली, मद्रास-हिंदी-अनुसंधान-परिषद्-ग्रन्थमाला—मद्रास, हिन्द -विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला—नेपाल, कोलम्बिया-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला—न्यूयार्क (अमेरिका), कश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थमाला—श्रीनगर (कश्मीर), काव्यमाला-गुच्छक तथा राजस्थान-पुरातन-ग्रन्थमाला—जोधपुर आदि प्रमुख हैं। विशिष्ट प्रकाशनवाले मुद्रणालयोंने भी शिक्षाके क्षेत्रमें अपरिमित योगदान दिये हैं । जिनमें कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—गणेशनारायण एण्ड कं०—वम्बई, गीताप्रेस गोरखपुर, निर्णयसागर प्रेस वम्बई, चौखम्वा ग्रन्थमाला—वाराणसी ।

इनके अतिरिक्त इम्पीरियल गजेटियर्स, ईस्टइंडियन गजेटियर्स, प्रान्तीय गजेटियर्स आदि तथा परशुरामकृष्ण गोडेके शोध-लेख-संग्रह और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदिके संस्कृत-बाल-शिक्षा-सहायक ग्रन्थ, पं० गगाशंकरजी मिश्रके एवं सरसुन्दरलालके भारतमें (ब्रिटिश) अंग्रेजी राज्य आदि ग्रन्थ भी श्रेष्ठ हैं। सागर-नंदीका नाटक-लक्षणरत्नकोश, गोरखप्रसादका भारतीय ज्योतिषका इतिहास, शंकरवालकृष्ण दीक्षितका भारतीय ज्योतिष आदि ग्रन्थ भी बड़े लाभप्रद हैं। वामन परशुराम आप्टे आदिके ग्रन्थ, वी०वी० काणेका ७ जिल्दोंमे भारतीय धर्मशास्त्रोका इतिहास (अंग्रेजी, हिंदीमें) भी अत्यन्त महत्त्वके एवं उल्लेख्य हैं ।

मानसका एक शिक्षापूर्ण प्रसंग

श्रीरामका चरित स्वयंमे शिक्षाका आदर्श और आदर्श शिक्षा दोनो है, किंतु शिक्षाके क्षेत्रमे उन्होने शिक्षा ग्रहण करनेका जो स्वरूप चरितार्थ किया, वह सदैव अनुकरणीय रहा है और आगे भी रहेगा।

श्रीराम स्वयं मर्यादापुरुषोत्तम थे तथा अखण्ड ज्ञानके अवतार थे—*'ग्यान अखंड एक सीताबर।'* इसीलिये उनका गुरुके माध्यमसे शिक्षा ग्रहण करना भी तुलसीदासजीके लिये आश्चर्यका विषय था। तुलसीदासजीने कहा है—

'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी'॥

अवश्य ही यह भारी कौतुक है, किंतु मर्यादापुरुषोत्तमके लिये यह भी मर्यादाके निर्धारणका एक मापदण्ड था। भारतीय परम्परामे गुरुकी अनिवार्यता और उपादेयता सहज स्वीकृत तथ्य है। इसी तथ्यको गोस्वामीजीने इस प्रकार सरल ढंगसे *'बिन गुर होइ कि ग्यान'* के रूपमे तो कहा ही, श्रीरामद्वारा कुलगुरु वसिष्ठ और शिक्षा-गुरु विश्वामित्रसे शिक्षा ग्रहण करनेके प्रसंगोमे भो प्रतिपादित किया।

श्रीराम स्वयं तो ईश्वरावतार थे ही, चक्रवर्ती सम्राट् महाराज दशरथके ज्येष्ठ पुत्र भी थे। महर्षि वसिष्ठ उनके कुलगुरु थे—राजपुरोहित, किंतु विद्यार्जनके लिये श्रीरामको परम्परानुसार गुरुके आश्रममे जाकर ही शिक्षा लेनी पडी। घरके ऐश्वर्यमय वातावरणको छोडकर ऋषिके आश्रममे सहज, सरल, कष्टमय जीवन जीकर विद्या-अर्जन आदर्श शिक्षाका भारतीय परम्परामे प्रमुख आधार था। विद्या यदि विनयसे शोभित होती है तो विनयको चरित्रमे उतारनेकी यह सर्वोत्तम विधा है।

गोस्वामीजीने संकेत किया है—

गुरगृहँ गए पढन रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई॥

जिस प्रकार गुरुकी महत्ता है, ठीक उसी प्रकार शिष्यका भी अपना एक स्थान है। शिष्य अपनी योग्यता और पात्रताके आधारपर गुरुसे प्राप्त विद्याको ग्रहण करता है, विद्याको फलवती बनाता है। इसलिये योग्य शिक्षार्थीके ही रूपमे श्रीरामने अल्पकालमे ही सभी विद्याओमे कुशलता प्राप्त कर ली।

पुस्तकोका महत्त्व शिक्षार्जनमे है अवश्य, किंतु वे बोध करानेमे कदाचित् ही सक्षम होती हो। पुस्तकोसे प्राप्त ज्ञान वाक्य-ज्ञानतक ही सीमित रह जाता है, किंतु गुरु-कृपा अथवा 'प्रसाद'का अपना महत्त्व अलग ही है। जिन्होने प्रभुकृपासे गुरु पाया है, वे ही उसका महत्त्व जान और बखान सकते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि गुरुके सांनिध्यमे शङ्का-समाधान होता रहता है और साथ ही गुरु अपने आचरणसे भी शिक्षार्थीमे 'प्रत्यक्ष ज्ञान'का प्रसाद प्रत्यक्ष और परोक्ष-रूपसे भरते रहते हैं। इसीलिये कहा है—**'शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः।'** इसी संदर्भमे नारदजीकी एक उक्ति इस प्रकार है—

पुस्तकप्रत्याधीतं हि नाधीतं गुरुसंनिधौ।
भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियः॥

'गुरुके सांनिध्य बिना मात्र पुस्तकोद्वारा अध्ययन की हुई विद्या उसी प्रकार सभामे शोभा नहीं पाती जैसे स्त्रीका जार-गर्भ।'

गुरुमें श्रद्धा और उनकी सेवा अपनेमे स्वयं विद्यार्जनका एक स्वरूप और माध्यम है। गोस्वामीजीने कहा है—*'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई।'* भगवान् श्रीरामके दूसरे गुरु महर्षि विश्वामित्र थे। रामचरितमानसमे एक प्रसंग है—श्रीरामका विश्वामित्रजीके साथ उनके यज्ञकी रक्षाके निमित्त जानेसे सम्बन्धित रास्तेमे ताडका नामकी राक्षसी मिलती है। विश्वामित्रजी श्रीरामको संकेत करते हैं और वे एक ही बाणसे उसका नाश कर देते हैं।

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही। बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही॥

इस क्षणतक श्रीराम विश्वामित्रजीकी दृष्टिमे एक सामान्य विद्यार्थीके रूपमे थे। जब उन्होने ताड़का-जैसी प्रबल राक्षसीका नाश कर दिया, तब उनकी योग्यता पहचानी गयी और तब उन्हे विश्वामित्रजीने विद्या दी। इस प्रसंगसे जहाँ एक ओर शिष्यकी क्षमता समझकर तदनुकूल शिक्षा देनेका संकेत मिलता है, वही श्रीराम-श्रीकृष्ण-जैसे योग्यतम शिष्यको अपना आराध्य

मानते हुए भी उपयुक्त शिक्षा देनेके कर्तव्य-पालनका भी संकेत मिलता है । ब्रह्मविद्यामे पारङ्गत गुरु अथवा विद्यार्थी जब निष्ठापूर्वक एक-दूसरेमे ईश्वरभाव रखकर विद्याका आदान-प्रदान करते है, तब गुरु और शिष्यका कल्याण होनेके साथ ही सम्पूर्ण जगत्का भी कल्याण होने लगता है । विद्याका प्रयोजन यही है । यह देनेसे बढ़ती है, उपयुक्त पात्रमे विकास करती है और इस चराचर जगत्में अपनी सुगन्ध फैलाकर फलवती बनती है । इसी दृष्टिसे शिक्षा-जगत्मे ऋषिप्रणीत अध्यात्मपरक व्यवस्थाकी उपयोगिता है । बिना इस आदर्शको अपनाये 'विद्या' और 'शिक्षा' की यथार्थता प्रतिष्ठापित नही हो सकती ।

गोस्वामीजीने जिस प्रकारकी गुरु-सेवाका चित्रण इन प्रसंगोमे किया है वह समझने योग्य है । वे कहते हैं—

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई । लगे चरन चापन दोउ भाई ॥

× × ×

बार बार मुनि अग्या दीन्ही । रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥

× × ×

उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान ।
गुर ते पहिलेहिं जगतपति जागे रामु सुजान ॥

गोस्वामीजीने गीतावलीमें भी कहा है—

नीच ज्यों टहल करैं रुख राखैं अनुसरैं ।
कौसिक-से कोही बस किये दुहूँ भाई ॥

गुरु क्रोधी है तो कोई बात नहीं, श्रीराम इतना झुक गये कि गुरुके क्रोधको स्थान ही न रहा और इस विनयावनत शिष्यने अपनी नम्रतासे, अपनी सेवासे गुरुको भी जीत लिया । शिक्षाकी कुजी यही है, शिक्षाकी उपलब्धि भी यही है ।

बच्चोंके पूर्ण विकासके लिये खेलोंकी महत्त्वपूर्ण भूमिका

बच्चोके पूर्ण विकासके लिये जहाॅ शिक्षा, अनुशासनका महत्त्व है, वही खेलकूद, मनोरञ्जनका भी अपना अलग महत्त्व है । खेलते-कूदते तथा प्रसन्नचित्त रहनेवाले बच्चोका शारीरिक एव मानसिक विकास बड़ी तेजीसे होता है ।

बच्चोकी परीक्षाके दिनोमे तो यह आवश्यक हो जाता है कि वे पढ़ाईपर अधिक ध्यान दे, खेलकी ओर कम ध्यान दे; किंतु जब पढ़ाईका जोर कम हो तो बच्चोका खेलना-कूदना भी आवश्यक हो जाता है ।

कबड्डी

प्रायः माता-पिता इसी भ्रममे रहते है कि हमारा बच्चा पढ़ता नही है । वह प्रत्येक समय खेलके विचारमे रहता है, इसलिये वे दिनभर, बच्चा जबतक उनके पास रहता है, उसे पढ़नेके लिये टोकते रहते है अर्थात् बच्चोको बलपूर्वक पढनेके लिये बैठाते हैं सामाजिक उन्नति एवं कलात्मक विकासके लिये खेलकूद आवश्यक हैं । बच्चा प्रत्येक काम खेल-खेलमे ही शीघ्र सीख जाता है ।

यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि दौड़ने, भागने, कूदनेवाले खेलोमे स्फूर्ति बनी रहती है, बच्चा चुस्त तथा

फुर्तीला बना रहता है तथा मांसपेशियाँ गतिशील रहनेसे उनपर अतिरिक्त चर्बी चढ़नेका भय नहीं रहता, जिस कारण रुकने-मुड़नेमे सरलता रहती है और बदन लचीला वना रहता है।

उनके मनपर किसी प्रकारका वोझ या डर नहीं व्याप्त हो पाता। एकदम खुलेमें स्वतन्त्र पक्षीकी भाँति चहचहाते बच्चे हम सभीका मन मोह लेते हैं।

कई बार ऐसा देखा गया है कि जो बच्चा समाजसे

कुश्ती–कसरत

इसके विपरीत यदि बच्चेको खेलकूदके साधन सुलभ न हों तो वह बीमार, चिड़चिड़ा, उद्दण्ड और विद्रोही हो जाता है। खेलनेसे रक्तका प्रवाह भी तेजीसे होता है और रक्त शुद्ध होता है। पसीनेके रूपमे अंदरकी गंदगी बाहर आ जाती है और बच्चे अपनेको चुस्त एवं स्वस्थ अनुभव कर पाते हैं।

अलग रखा जाता है वह अहकारी, स्वार्थी और उद्दण्ड बन जाता है। उसमें आत्मविश्वासकी कमी हो जाती है। समवयस्क साथियोसे मिलनेमें वह झिझकता है और उसमे हीन भावना उत्पन्न हो जाती है। ऐसे बच्चे वड़े होनेपर भी किसी प्रकारका आत्मनिर्णय लेने-योग्य नहीं रहते और सदा दूसरोकी राय माँगते रहते हैं।

दौड़

सामाजिक विकासके लिये बच्चोका खेलकूद भी बहुत आवश्यक है। अपने घरकी चहारदीवारीसे बाहर अपने घर-परिवारसे थोड़ी देरके लिये वे एकदम अलग हो जाते हैं और तब वे सारे भयको भुलाकर दूसरे बच्चोंके साथ खेल-कूदकर आपसमे सहयोग, मेल-जोल और आदान-प्रदान निर्भीक होकर सीखते हैं। उस समय

वैसे तो स्कूलोंमे भी खेल-कूदकी व्यवस्था होती है, पर बच्चे उतनेसे ही संतुष्ट नहीं हो पाते। कड़े अनुशासनके कारण बच्चे स्कूलके खेलोमें स्वतन्त्रता नहीं अनुभव कर पाते। सामाजिक विकासके लिये यह आवश्यक है कि बच्चा स्कूलके वाहर भी स्वतन्त्र रूपसे खेले। इससे बच्चे एक-दूसरेका सहयोग पायेगे। भाषाके आदान-प्रदान

रस्साकसी

एवं आपसी व्यवहारसे परस्पर सम्कृतिके विषयमें जानकारी प्राप्त करेगे ।

यदि किसी कारणसे बच्चेको बाहर खेलनेकी सुविधा नहीं मिल पाती तो माँ-बापको चाहिये कि वे स्कूलके प्रत्येक खेल, नाटक, जिमनास्टिक तथा आसन आदिमें भाग लेनेके लिये प्रोत्साहित करे । इससे शारीरिक स्फूर्ति, रक्त-शुद्धता और मानसिक विकासमें सहायता मिलती है ।

बच्चे घरमें भी इंडोर गेम खेल सकते हैं । आजकल बच्चोमे ज्ञानवर्धक बहुत-से खेल प्रचलित हैं । खिलौनोंको चुनते समय इस बातका ध्यान रखिये कि बच्चे खेल-खेलमें अपने ज्ञानमे भी वृद्धि कर सकें ।

खेलके मैदानोंमें बच्चे एकताका तथा आगे बढ़नेका पाठ पढ़ते हैं । वे प्रतियोगिताका पाठ खेलके मैदानमें ही पढ़ते हैं । इससे हार-जीतको समान भावनासे सोचने करनेकी क्षमता आ जाती है ।

अतएव प्रत्येक माता-पिताका कर्तव्य है कि वे बच्चोंमें मित्र-भावनाको जाग्रत् करनेमें उनके पढ़ने, खेलने और निश्चित काम करनेका समय बाँध दें । इससे उनकी पढ़ाई भी सुचारुरूपसे चलती रहेगी, उनमें अनुशासन भी वर्धन होता रहेगा और वे अपना काम अपने-आप करनेकी क्षमता स्वतः पैदा कर लेंगे ।

सुलेखका महत्त्व

गाँधीजीने अपनी आत्मकथामे लिखा है—'पता नहीं कहाँसे यह गलत खयाल मुझे था कि पढाईमे सुलेखकी आवश्यकता नही है । यह विलायत जानेतक बना रहा । बादमें मै पछताया और शरमाया । मैं समझ गया कि अक्षरोका खराब होना अधूरी शिक्षाकी निशानी है । अतः हर एक व्यक्ति मेरे इस उदाहरणसे सबक ले और समझे कि सुन्दर अक्षर शिक्षाका आवश्यक अङ्ग है ।'

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अस्पष्ट एव गंदा लेख पढनेका मन किसीका नही होता । सुन्दर लिखावट देखकर पढनेवाले व्यक्तिको प्रसन्नता होती है । इसमे संदेह नही कि लिखावटका सुन्दर, स्पष्ट और शुद्ध होना प्रत्येक क्षेत्रमें सफलता पानेके लिये एक आवश्यक गुन माना गया है ।

अनेक परीक्षाओंमें सुन्दर लिखावटके लिये अलगसे पांच अङ्क रखे जाते हैं । रोजगार प्राप्त करनेमें भी सुन्दर लिखावटके लिये महत्त्व दिया जाता है । अनेक अच्छे पदोके विज्ञापनमें तो विशेषरूपसे लिख दिया जाता है कि 'प्रार्थी स्वयंका लिखा हुआ पत्र ही भेजे ।'

सम्भवत. आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि विज्ञानकी एक शाखा ग्राफीलाजीकी सहायतासे आपकी लिखावटको देखकर चरित्र-विश्लेपण किया जा सकता है । लिखावट-विशेषज्ञोके अनुसार जव हम चिन्ता या

तनावकी स्थितिमे होते है, तब लिखावट सिकुड़ जाती है और जब प्रसन्नताकी स्थितिमे रहते हैं, तब लिखावटके अक्षर बड़े-बड़े और काफी फैले हुए शुद्ध रूपमे आते हैं ।

आजकल अधिकांश विद्यार्थियोकी लिखावट सुन्दर नहीं होती । इसका प्रमुख कारण है कि लिखना प्रारम्भ करते ही वे पेन, बाल-पेन या पेसिलका अनुचित ढंगसे प्रयोग करना प्रारम्भ कर देते हैं । शिक्षक, माता, अभिभावक व्यस्तताके कारण बच्चोकी खराब लिखावटकी ओर ध्यान नहीं दे पाते । इससे उनकी लिखावट भविष्यमे और भी खराब हो जाती है ।

अस्पष्ट एवं गंदी लिखावट लिखनेका कारण जल्दबाजी और समयका अभाव बताया जाता है, जो बहाना मात्र है । वास्तविक कारण तो लिखनेसे जी चुराना होता है । इस दिशामे निरन्तर उपेक्षासे हस्तलिखावट प्रतिदिन बिगड़ती जाती है । यह निश्चित रूपसे जान लेना चाहिये कि विद्यार्थी-जीवनमे अधिक-से-अधिक लिखनेकी बहुत बड़ी आवश्यकता होती है । इसमे पीछे रह जानेवाले विद्यार्थी परीक्षा-हालमे सब कुछ आते हुए भी पूरे उत्तर निश्चित समयमे नही लिख पाते, अतः लिखनेसे जी चुराना बिलकुल ठीक नहीं है ।

सुन्दर लिखावट हो, इसके लिये आपका पेन या बालपेन ऐसा हो जो बिना रुकावटके अच्छी तरह सरलतासे चलता रहे । सदैव लिखते समय पर्याप्त हाशिया, डैश, पैराग्राफ, अर्धविराम, पूर्णविराम तथा अनुस्वारकी ओर अवश्य ध्यान दे । शब्दोके बीचमे थोडी-थोड़ी जगह बराबर छोड़े और इस ढंगसे लिखनेका प्रयास करे कि ऊपरकी पंक्तिके शब्दके नीचे ही नीचेकी पंक्तिके शब्द आये । इससे लिखावटमे सुन्दरता आ जायगी । लेखनमे काटा-पीटी न करे, शब्दोके अक्षर छपे हुए अक्षरोके समान एकदम सीधे लिखे । घसीटकर न लिखे । अशुद्ध शब्दको मात्र एक लकीर खीच कर काटे । अंग्रेजीके अक्षर एक ही आकारके हो, इस प्रकारसे लिखे ।
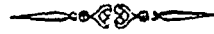
स्वास्थ्योपयोगी आयुर्वेदिक शिक्षाएँ

(वैद्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, आयुर्वेदाचार्य (स्वर्णपदक-प्राप्त), आयुर्वेदवाचस्पति)

मानव-जीवनका परम लक्ष्य पुरुषार्थ-चतुष्टयकी प्राप्ति है । उत्तम स्वास्थ्यके अभावमे रुग्ण शरीरसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी उपलब्धि असम्भव है । आरोग्यके बिना जीवन भार है । स्वस्थ योद्धा राष्ट्रको विजयी बनाते है । आचार्य चरकके अनुसार—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ॥

आरोग्यके लिये स्वास्थ्य-शिक्षा आवश्यक है । प्राचीन ऋषि-मुनि आयुर्वेदके उपदेशोका पालन करते हुए स्वस्थ तथा दीर्घ जीवन प्राप्त करते थे । सम्प्रति विद्यार्थियोके पाठ्यक्रममे आयुर्वेदीय स्वास्थ्य-सूत्रोकी उपेक्षा होनेसे रोग, अवसाद एवं नैराश्यकी वृद्धि हो रही है ।

आयुर्वेद जीवनका विज्ञान है । इसमे शरीर, मन तथा आत्माके प्रसाद और उन्नयनका विशद विवेचन किया गया है । स्वस्थकी स्वास्थ्य-रक्षा एव आतुरका विकार-प्रशमन—ये आयुर्वेदके दो मुख्य प्रयोजन है । इसमे स्वस्थ व्यक्तिकी परिभाषा वैज्ञानिकरूपमे प्रस्तुत की गयी है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुर्मलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

अर्थात् वात-पित्त-कफकी समता, त्रयोदश अग्नियो, सप्त धातुओ और मलद्रव्योकी क्रिया एव परिमाणका साम्य तथा आत्मा, इन्द्रियो और मनकी प्रसन्नता स्वस्थता कहलाती है । स्वस्थ रहनेके लिये आयुर्वेदमे पद-पदपर दिनचर्या एव ऋतुचर्याके अन्तर्गत आरोग्यदायक शिक्षाओका समावेश किया गया है ।

शौचके पश्चात् स्वच्छ मिट्टीसे हाथ धोने चाहिये। अब यह सिद्ध हो चुका है कि मलमे विद्यमान फेरस साबुनसे स्वच्छ नहीं होता। मिट्टीमे स्थित सिलिकन तत्त्व फेरसके साथ मिलकर फेरोसिल्किन आक्साइडके झाग पैदा करता है। परिणामतः मल पूर्णाशमें मुक्त हो जाता है।

दन्तधावन—दाँत तथा मुखकी शुद्धि-हेतु नीम या बबूलकी दातुन श्रेष्ठ है। दाँतोकी अशुद्धिसे अधिकाश पेटकी व्याधियाँ जन्म लेती हैं। विश्व-स्वास्थ्य-संगठनके प्रमुख चिकित्सक डॉ॰ डेविड बर्नीजने यह प्रमाणित किया है कि नीमका दातुन कैंसर और मुँहकी अन्य विकृतियोको रोकनेमें सक्षम है।

व्यायाम—विभिन्न रोगोंका प्रतीकार करने या रोग-प्रतिरोध-क्षमता बढाने-हेतु व्यायाम बहुत लाभकारी है। प्राणायाम, भ्रमण, योगासन, तैरना आदि शरीर और मन दोनोंके लिये बलदायक हैं।

स्नान—भारतीय जीवनमें नित्य-स्नानका विशेष महत्त्व है। शरीरकी त्वचामें असंख्य छिद्र होते है, जिनसे वाष्प या पसीनेके द्वारा हर समय सोडियम क्लोराइड, यूरिया, लेक्टिक एसिड आदि मल-द्रव्य निकलते रहते हैं। त्वचाके छिद्रोका अवरोध होनेपर ये हानिकारक द्रव्य शरीरमें ही रहकर विकृति पैदा करते हैं। स्नानद्वारा इन छिद्रोंका मुँह खुल जाता है तथा त्वचा निर्मल, नीरोग और पुष्ट होकर शरीरकी रक्षा करती है।

आहार—आयुर्वेदमें आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य—ये तीन जीवनके उपस्तम्भ माने गये हैं। आहार ही प्राणोंका आधार है। आहार संतुलितरूपमे तथा समयपर करना चाहिये। प्रकृति, संयोग, देश और कालके विरुद्ध किया गया भोजन अहितकारी होता है। भोजन पाँव धोकर एवं बैठकर करना चाहिये। पैर धोनेसे रक्तवाहिनियोंका संकोच होता है, जिससे रक्तप्रवाह पाँवोंमें कम और पेटमे अधिक होता है। बैठनेपर भी पैरोंकी नसें दबनेसे रक्त पेटकी ओर अधिक प्रवाहित होता है। इस अवस्थामें पाचन-क्रिया सुधरती है। मौन होकर भोजन करनेसे वायुरोग नहीं होते। भोजन न तो अधिक शीघ्र करना चाहिये न अत्यन्त धीरे। उष्ण, स्निग्ध और मन लगाकर किया हुआ आहार शीघ्र पोषण देता है। भोजन करते समय पूर्वमें मधुर, मध्यमें अम्ल एवं अन्तमें लवणरसयुक्त पदार्थ खाने चाहिये। अजीर्णावस्थामें किया गया भोजन विषके समान होता है।

निद्रा—प्रगाढ़ निद्रा अरोगता, बल, वर्ण तथा स्फूर्ति प्रदान करती है। मध्यरात्रिके पहलेकी नींद अधिक लाभप्रद है। अधिक निद्रा, अल्प निद्रा तथा सूर्योदय और सूर्यास्तके समयकी निद्रासे आयु क्षीण होती है। चिन्तामुक्त होकर स्वच्छ और शान्त स्थानपर सोना चाहिये। तेज गंध, उपवास, शोक, भय एवं क्रोध तथा अनिद्रा रोगको उत्पन्न करते है। पर्याप्त और सम्यक् निद्रा शारीरिक तथा मानसिक रोगोंसे बचाती है।

ब्रह्मचर्य—अधिक विषय-भोग शरीरका विनाशक होता है। ब्रह्मचर्य आरोग्यका मुख्य सूत्र है। आयुर्वेदके अनुसार अधिक विषयभोगसे भ्रम, बलक्षय, सुस्ती, पैरोंकी कमजोरी, धातुक्षय, इन्द्रियोका क्षय तथा अकाल-मृत्यु होती है। ब्रह्मचर्य या अत्यल्प कामाचारसे स्मृति, आरोग्य,

आयुष्य, मेधा, पुष्टि, यश एवं चिरयौवनकी प्राप्ति होती है ।

वेगधारण—महर्षि चरकके उपदेशानुसार मनुष्यको अत्यन्त साहस, लोभ, शोक, भय, क्रोध, मान, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अतिराग, परधन तथा परस्त्रीहरणकी इच्छा, कठोर वचन, चुगलखोरी, असत्यभाषण, परपीडन, हिंसा प्रभृति वेगोको धारण करना अर्थात् इन्हे रोकना चाहिये । मानसिक रोगोसे बचनेका यह उत्कृष्ट उपाय है । इसी प्रसंगमे अधारणीय वेगोका वर्णन करते हुए कहा गया है कि मूत्र, पुरीष, शुक्र, अपानवायु, वमन, छीक, डकार, जॅभाई, क्षुधा, पिपासा, ऑसू, निद्रा और श्रमजन्य नि.श्वासके वेगको कभी नहीं रोकना चाहिये । अधारणीय वेगोके धारण तथा धारणीय वेगोके अधारणसे बहुत-सी व्याधियॉ उत्पन्न होती हैं ।

प्रज्ञापराध निषेध—बुद्धि, धैर्य एवं स्मृतिका भ्रंश या नाश दुःख और रोगोको आमन्त्रित करता है । इनकी विकृतिमे जो कर्म किये जाते है, उन्हे प्रज्ञापराध कहते हैं । बुद्धि क्षीण होनेपर मनुष्य हितकारी काल, कर्म तथा अर्थको अहितकारी और अहितकारीको हितकारी समझने लगता है । धृति-भ्रश होनेपर विषयभोगोकी ओरसे विमुख होना असम्भव हो जाता है । स्मृतिह्राससे विभ्रमता एव अन्य मानसिक रोग प्रादुर्भूत होते हैं । अतः मनुष्यको ज्ञानमार्गसे कभी च्युत नहीं होना चाहिये ।

आचार-रसायन—व्याधिका विनाश करनेकी अपेक्षा उसे उत्पन्न ही न होने देना अधिक श्रेष्ठ है । आयुर्वेदमे रसायन-प्रकरणमे यह व्यवस्था की गयी है । रसायनोमे आचार-रसायनका शीर्षस्थान है । पुनर्वसु आत्रेयके मतानुसार सत्यवादी, अक्रोधी, मदिरा और अतिवासनासे विरत, अहिंसक, अतिश्रमरहित, शान्त, प्रियवादी, जपशील, पवित्र, धीर, दानी, तपस्वी, देवता, गाय, गुरु और वृद्धोकी सेवामे रत, अक्रूर, दयालु, समयपर सोनेवाला, दूध और घीका नित्य सेवन करनेवाला, युक्तिविद्, निरहंकारी, उत्तम आचार-विचारवाला, विशालहृदय, आध्यात्मिक विषयोमे प्रवृत्त, आस्तिक, जितेन्द्रिय तथा देश-कालके अनुसार आचरण करनेवाला मनुष्य सदा रसायनयुक्त होता है । रसायनके सेवनसे दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, यौवन, प्रभा, वर्ण, बल, सिद्धि, नम्रता और कान्तिकी प्राप्ति होती है । आप्तजनोकी शिक्षाका अनुपालन करते हुए हितकारी आहार-विहारका सेवन करनेवाला व्यक्ति कभी रोगी नहीं होता—

नरो हिताहारविहारसेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः ।
दाता समः सत्यपरः क्षमावा-
नाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥

(च० शरीरस्थान २)

बुन्देलखण्डमें मुगलकालीन शिक्षा

(प० श्रीगगारामजी शास्त्री)

मुगलकालमे बुन्देलखण्डमे शिक्षाका बड़ा व्यापक प्रचार था । उस समय बुन्देलखण्ड शिक्षाके क्षेत्रमे किसी भी प्रदेशसे पिछड़ा न था । ज्योतिष, आयुर्वेद, नीतिशास्त्र, संगीत, चित्रकला, काव्य-शास्त्र, स्थापत्य-मूर्तिकला, सामुद्रिक, मन्त्र-तन्त्र-शास्त्र, कर्मकाण्ड आदि विषयोपर उस समयका लिपिबद्ध किया हुआ जो प्रचुर साहित्य बुन्देलखण्डमे उपलब्ध होता है, उससे तत्कालीन विद्वत्ता और सृजन-शक्ति सहजमे ऑकी जा सकती है । यद्यपि आजकी भॉति उन दिनों शिक्षाका पूर्ण उत्तरदायित्व शासनपर न था; हॉ, मुगल बादशाहोके द्वारा दिल्ली, आगरा, जौनपुर आदि कुछ स्थानोपर शासकीय व्ययसे कुछ मदरसे चलाये जा रहे थे, बुन्देलखण्डमे केवल सिकन्दर लोदीके समयमे नरवरमे एक संस्कृत-पाठशाला खोलनेके अतिरिक्त इस क्षेत्रमे अन्य किसी शासकीय शिक्षण-संस्थाका उल्लेख नही मिलता, तथापि उस समय प्रत्येक गॉवमे एक अध्यापक होता था, जो गॉवके प्रत्येक बालकको शिक्षा देता था ।

अधिक जनसंख्यावाले गॉवोमे, जिन्हे कस्बा कहा

जाता था, दो अथवा तीन प्रकारके विद्यालय हुआ करते थे । उस समय पढ़ाईके तीन पाठ्यक्रम थे—पहलेमे हिंदी-माध्यमकी पाठशालाओमे कोई ब्राह्मण अथवा कायस्थ बालकोको पढ़ाता था । शिक्षकको पाँड़े (पाण्डेय) कहा जाता था । इस प्रकारकी पाठशालामें हिंदी-वर्णमालासे शिक्षाका आरम्भ कराया जाता था । दूसरेमे उर्दू, फारसी पढ़ायी जाती थी । सिकन्दर लोदीके समयमे ही कायस्थोने फारसीमे साहित्य और भाषाका अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था । नरवरमे उस समय ऐसे अनेक कायस्थ-परिवार थे, जो हिंदी और फारसी दोनो भाषाओका अच्छा ज्ञान रखते थे । तीसरे प्रकारके स्कूलोमे संस्कृतकी शिक्षाका प्रबन्ध था । अध्यापक प्रत्येक विद्यार्थीपर व्यक्तिगत ध्यान देता था । उस समय शिक्षक और विद्यार्थीमे नियमित और घनिष्ठ सम्पर्क बना रहता था, जो तत्कालीन शिक्षा-प्रणालीकी प्रमुख विशेषता थी । उस समयका तो यह सिद्धान्त था—

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थी नोपलभ्यते ॥

(विक्रमच० २८)

'गुरुकी सेवासे या विपुल धन देकर गुरुको सतुष्ट करके अथवा विद्याके परस्पर आदान-प्रदानसे विद्या प्राप्त की जा सकती है, विद्या-प्राप्तिके लिये इनके अतिरिक्त चौथा कोई मार्ग नहीं है ।'

पाठशाला—कोई मन्दिर, मस्जिद, चौपाल अथवा अध्यापकका निवास-स्थान ही पाठशालाके उपयोगमे लाया जाता था । कही-कहीं किसी गाँवके जमीदार अथवा जागीरदार रईसका मकान, जिसे हवेली कहा जाता था, उसका एक भाग पाठशाला-भवनका काम देता था । छायादार वृक्षके नीचे, गाँवके समीपकी अमराई अथवा किसी बाग-बगीचेमे भी पाठशाला हुआ करती थी । पाठशालाके लिये पृथक्से भवन-निर्माण करानेकी अथवा किरायेपर भवन लेनेकी आवश्यकता नही होती थी ।

बर्नियरने वाराणसीके विषयमे लिखा है कि कोई नियमित कालेज अथवा युनिवर्सिटी न होनेपर भी वहाँ नगरके अनेक भागोमे आचार्य मिलते थे । अध्यापककी जीविकाके लिये गाँवकी ओरसे किसी-किसीको जमीन मिली रहती थी । व्रत, त्योहार, अमावस और पूर्णिमाके अवसरोपर गुरुजीको अधिकांश विद्यार्थी भोजनके लिये आटा, दाल आदि सामग्री देते थे, जिसे सीधा कहा जाता था । सम्पन्न परिवार कुछ धन भी देते थे । वर्णमाला और सौतक गिनती पूरी हो जानेपर अध्यापकको एक रुपया दक्षिणामे दिया जाता था ।

शिक्षण-सामग्री—शिक्षाका प्रारम्भ पाटी और खड़ियासे कराया जाता था । उर्दूमे पाटीको तख्ती कहा जाता है । इसका आकार १५×२५×१ सेटीमीटरके लगभग होता था । उसके एक सिरेपर पकड़नेके लिये मूठ होती थी, जिसमे एक सुराख करके डोरी बाँध दी जाती थी । इस डोरीमे पाटी माँठकर स्वच्छ करनेके लिये एक चिथडा बँधा रहता था । इसपर मुलतानी मिट्टी अथवा खड़िया मिट्टी घोलकर सरकंडे-नरकट आदिके कलमसे लिखा जाता था । पाटीको कालिखसे पोता जाता था, जिससे उसपर सफेद अक्षर स्पष्ट लिखे जा सके । इससे विद्यार्थीको सुलेखका अभ्यास कराया जाता था । दावातके स्थानपर मिट्टीके दो खानेवाले छोटेसे पात्रमें एक खानेमे पाटी पोतनेकी कालिख और दूसरेमे खड़िया मिट्टी अथवा मुलतानी मिट्टी घुली हुई रहती थी । उसीसे कलात्मक महीन और सुन्दर लेखनके लिये तूलिकाकी भाँति पंखोका प्रयोग प्रचलित था । मुगलकालतक आते-आते ताडपत्र और भोजपत्रका चलन कम हो गया था । केवल धार्मिक ग्रन्थ और मन्त्र-तन्त्र-शास्त्रके ग्रन्थको लिखनेके लिये उनका प्रयोग किया जाता था । कागज बनानेका एकमात्र केन्द्र कालपीमे था । उस समयका कागज चिकना कम पर स्थायी होता था । आजकलके कागजकी भाँति अल्प समय बीतनेपर ही उसका भार कम होकर पतला और जर्जर नही होता था । कृमि-कीटोसे सुरक्षाके लिये ऐसे कागजपर कभी-कभी हरताल पानीमे घोलकर पोत दिया जाता था । लिखनेमे प्रमुख रूपसे काली स्याहीका ही उपयोग होता था । जिससे लिखे हुए अक्षर दो-चार सौ वर्ष बीतनेपर भी फीके नहीं पड़ते थे । पूर्ण विराम और अङ्क लिखनेमे लाल और पीली स्याहीका भी उपयोग किया जाता था । पीली स्याही हरताल घोलकर और

लाल स्याही शिगरफ घोलकर बनायी जाती थी । शिंगरफ, जिसे बुन्देली भाषामे इंगुर कहते हैं, कृमिघ्न होनेके साथ ही उसमे पारेका मिश्रण होनेके कारण चमकीला भी होता है । ताड़पत्र, भोजपत्र और कालपीमे निर्मित कागजपर लिखे गये उस समयके अनेक ग्रन्थ आज भी बुन्देलखण्डमे प्रचुरतासे मिलते है । इन पुस्तकोके चमकदार सुन्दर अक्षर देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वे अभी-अभी सुन्दर छापेसे निकाली गयी हो ।

उस समय शिक्षा आजकलकी भाँति व्यय-साध्य न होनेके कारण अन्त्यजोको छोड़कर शेष सभी वर्ग और जातियोके विद्यार्थी प्राथमिक शिक्षा सरलतासे प्राप्त कर लेते थे । पर हस्तशिल्प-शिक्षाका प्रचार प्रधान जातियोमे उस समय कम था जैसा कि तुलसीदासजीके—*'पात भरी सहरी, सकल सुत बारे बारे, केवट की जाति कछु बेद न पढ़ाइहौं ।'* (कवितावली २/८)—इस कथनसे स्पष्ट होता है ।

प्राचीन गुरु-परम्पराकी पढ़ाई आजके सामूहिक शिक्षणके प्रचलित दोषोसे मुक्त होनेके साथ ही परीक्षा-प्रणालीसे प्रतिदिन बढ़ती जानेवाली बुराइयोसे भी मुक्त थी । आज ज्ञानका मानदण्ड केवल प्रमाण-पत्रतक सीमित है । ज्ञानके स्थानपर उस कागजके प्रमाणित टुकडेका ही महत्त्व समाज और शासनके द्वारा स्वीकार किया गया है, जिससे शिक्षाके सम्पूर्ण प्रयत्न ज्ञानार्जनके लक्ष्यसे हटकर प्रमाणार्जनमे ही केन्द्रित होकर रह गये है । मुगलकालमे केवल अपने गुरुकुलके नामसे ही विद्यार्थीकी योग्यताका बोध होता था । महाराज रघुके पास आनेपर वरतन्तुका सम्मान महर्षि कौत्सके शिष्य होनेके कारण ही हुआ था । अकबरके दरबारमे 'प्रवीणराय' की योग्यताका प्रमाण आचार्य केशवदासके कारण माना गया था ।

अवकाशके लिये उन दिनो 'अनध्याय' शब्द प्रचलित था । जिस दिन अध्ययन-अध्यापन बद रहे उसे 'अनध्याय' का दिन कहा जाता था । इस सम्बन्धमे सामान्यतया निम्नलिखित श्लोक प्रचलित था—

अष्टमी गुरुहन्त्री च शिष्यहन्त्री चतुर्दशी ।
अमावास्या द्वयोर्हन्त्री प्रतिपत्पाठवर्जिता ॥

एक चान्द्रमासमे दो प्रतिपदा, दो अष्टमी, दो चतुर्दशी और एक अमावस्या होती है—इस प्रकार सात दिन अनध्यायके हो जाते हैं । मुगलकालतक इन अनध्यायके दिनोमे कमी हो गयी थी । प्रतिपदाको केवल व्याकरणका अध्ययन बद रहता था । अमावस्याको सबका पूर्णरूपसे अनध्याय होता था । पर्व, ग्रहण और मकरसंक्रान्ति अनध्यायके दिन माने जाते थे । आजकलकी भाँति उस समय शरत्कालीन और ग्रीष्मकालीन लबे अवकाश नहीं होते थे; क्योंकि पाठशालाओका समय प्रात से मध्याह्न और अपराह्णसे सायं-कालतक रहता था । यह परम्परा आजसे कुछ समय पूर्वतक बनी रही ।

माध्यमिक शिक्षामे भास्कराचार्यकृत लीलावतीका हिंदी-अनुवाद अथवा गुरप्रकाश गणितकी पाठ्यपुस्तक थी । नाममंजरी और अनेकार्थप्रकाश पाठ्य-ग्रन्थके रूपमे पढाये जाते थे । काव्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये केशवदासकृत कविप्रिया, रसिकप्रिया तथा मतिरामकृत रसराज और अलंकारचन्द्रिका नामकी पुस्तके पढ़ायी जाती थीं । माध्यमिक स्तरसे जो विद्यार्थी संस्कृत पढना चाहते थे, उन्हे अमरकोष, सारस्वत, सिद्धान्तचन्द्रिका, भर्तृहरि-रचित नीतिशतक और रघुवंश आदि ग्रन्थोका अनुशीलन कराया जाता था । विषयविशेषके लिये ज्योतिषमे मुहूर्तचिन्तामणि, शीघ्रबोध, जातकविहार आदि तथा आयुर्वेदमे माधवनिदान, शार्ङ्गधरसंहिता, वैद्यजीवन आदि पढाये जाते थे । फारसी-माध्यमसे पढ़नेवालोके लिये खालिकवारी, करीमा, गुलिस्ताँ और बोस्ताँ पाठ्यक्रममे निर्धारित थे'।

उच्चशिक्षाके उदाहरणके लिये यहाँ केवल सस्कृत और ज्योतिषका पाठ्यक्रम ही दिया जा रहा है । तत्कालीन सभाप्रकाश-ग्रन्थके अनुसार उस समय सस्कृतमे मेघदूत, कुमारसम्भव, रघुवंश, शिशुपाल-वध, किरातार्जुनीय और नैषधीयचरित अनिवार्यरूपसे पाठ्यपुस्तके थीं ।

रसगङ्गाधर, काव्यप्रकाश, कुवलयानन्द, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थोके अतिरिक्त वाल्मीकि-रामायण, महाभारत,

और श्रीमद्भागवत भी पाठ्यग्रन्थके रूपमें पढ़ना आवश्यक था। ज्योतिषके चारों अङ्ग—जातक, ताजिक, मुहूर्त, प्रश्नका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सारावली, बृहज्जातक, ताजिक नीलकण्ठी, मुहूर्तचिन्तामणि, पञ्चपक्षी आदि तथा गणितमें सूर्यसिद्धान्त, ग्रहलाघव, होरामकरन्द आदि प्रमुख रूपसे पढ़ाये जाते थे। गणित ज्योतिष प्रत्येकके लिये अनिवार्य था। उस समय प्रत्येक गणकको अपना स्वयंका पञ्चाङ्ग बनाकर उपयोगमें लाना होता था; क्योंकि प्रकाशनकलाके अभावमे हाथसे लिखे हुए पञ्चाङ्ग उतने सुलभ न थे।

विधाध्ययनके प्रमुख केन्द्र

बुन्देल-शासकोके प्रारम्भ-कालसे ही ओड़छा विद्याका प्रमुख केन्द्र रहा है। महामहोपाध्याय वीर मिश्रने यहीं-पर धर्मशास्त्र और कर्मकाण्डके विद्यार्थियोंके लिये वीरमित्रोदय-जैसे वृहत्काय ग्रन्थका निर्माण किया था। आचार्य केशवदासने प्रवीणरायके लिये कविप्रिया और रसिकप्रियाकी रचना की, जो शताब्दियोंतक हिंदी-कवियोके लिये पाठ्यपुस्तक रही। काशीनाथ मिश्रने ज्योतिषके प्रारम्भिक ज्ञानके लिये शीघ्रबोधकी रचना की। शिरोमणि मिश्रने नाममालाका हिंदी-अनुवाद उर्वशीके नामसे किया। भक्त कवि हरिराम व्यासने संगीत-शास्त्रके ज्ञाताओके लिये अनेक पदोकी रचना की। इन सभी महानुभावोंके स्थान गुरुकुलसे किसी भी प्रकार कम न थे।

सेवढ़ा—वर्तमान कालमे मध्यप्रदेशके दतिया जिलाके अन्तर्गत सेवढ़ा नामका एक छोटा-सा नगर है। यह ब्रह्माके मानस पुत्रों—सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमारकी तपोभूमि होनेके कारण आज भी पवित्र तीर्थके रूपमे प्रसिद्ध है। गुप्तकालसे लेकर अबतक यह गिरि, पुरी, भारती, सरस्वती, तीर्थ आदि सभी प्रकारके संन्यासियोकी तपःस्थली रहा है, जहाॅं उनके अनेक मठ आज भी भग्नावशेषके रूपमें साधनामार्ग और विद्या-वैभवकी साक्षी दे रहे हैं। यहाॅं विद्यार्थियोको नि:शुल्क भोजन और शिक्षाकी व्यवस्था स्वतन्त्रताके पूर्वतक बनी रही। पुराने मठमें विभिन्न विषयोकी शिक्षा देनेके लिये विभिन्न कक्ष थे। विषयके अनुसार शिक्षक भी संन्यासी ही थे। आजसे चार सौ वर्ष पूर्वतक जो विषय यहाॅं पढ़ाये जाते थे, उनकी जीर्ण-शीर्ण पुस्तके और वे किसके द्वारा किसके पढनेके लिये लिखी गयी थीं; यह विवरण उपलब्ध है। ये पुस्तके गणित और फलित ज्योतिष, संगीत, वेद, आयुर्वेद, कर्मकाण्ड, मन्त्र-शास्त्र, सामुद्रिक, कर्मविपाक, व्याकरण, योग और तन्त्र-शास्त्रसे सम्बन्धित हैं। पढ़ानेवाले अन्य विद्वानोंको राजाश्रय प्राप्त था। उनमें वेदमूर्ति, ज्योतिपराय, पद्माकर और जगन्नाथ अग्निहोत्रीके नाम उल्लेखनीय हैं। इन परिवारोंमें निःशुल्क विद्यादानकी यह व्यवस्था कुछ वर्ष-पूर्वतक चलती रही।

नरवर—सिकन्दर लोदीके समयसे ही नरवर उर्दू, हिंदी और संस्कृतके पठन-पाठनका केन्द्र रहा। हिंदू-मुस्लिम-संस्कृतिके मिलनके परिणामस्वरूप यहाॅंके नवाब हंसवखाॅंने विहारी-सतसईकी प्रसिद्ध टीका लिखी। दतिया-नरेश पारीछतको पढ़ानेके लिये मौलवी सैयदअलीको नरवरसे ही बुलाया गया था। यह अब भी है, स्वामी करपात्रीजी महाराज-जैसे अनेक विद्वानोंको प्रकट करनेका श्रेय इसे ही है।

पन्ना—पन्नाका प्राचीन नाम श्रीपर्णा था, जो किसी समय इसमेंसे श्रीहटकर पर्णा, धीरे-धीरे बदलते-बदलते परणा हो गया, अब यह पन्ना हो गया। यह प्राचीनकालसे ही विद्याका केन्द्र रहा और छत्रसालके समयमे चरमोत्कर्षको पहुॅंच गया था। यहाॅंके विद्वानोंने अनेक मौलिक ग्रन्थ लिखनेके साथ ही विद्यार्थियोंके लिये अनेक संस्कृत-ग्रन्थोंके बुन्देली अनुवाद प्रस्तुत किये। कलकत्तामें हिंदीकी शिक्षाके लिये खड़ी बोलीमें उस समयतक पाठ्य पुस्तके उपलब्ध न थीं, जबकि बुन्देलीमे इसके शताब्दियोंपूर्व गद्य और पद्यमें प्रचुर साहित्य उपलब्ध था, जो अबतक प्रकाशनकी प्रतीक्षामें कृमिकीटोका भोजन बनता जा रहा है।

इसके अतिरिक्त उड़ीनो, समधर, सागर आदि भी शिक्षाके लिये उस समय प्रसिद्ध स्थान माने जाते थे।

तत्कालीन शिक्षाकी कुछ विशेषताएँ

डॉ० भगवतशरण उपाध्यायने अपने 'गुप्तकालका सांस्कृतिक इतिहास'में लिखा है कि संस्कृतके लिये

साधारण तौरपर यह माना जा सकता है कि पाठ्य-विषयोंमे भारतमे सदियों, सहस्राब्दियोमे भी अन्तर कम पड़ा है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो मुगलकालको शिक्षाके क्षेत्रमें मौलिक क्रान्तिका समय कहा जा सकता है। पिछले एक सहस्र वर्षसे भी अधिक समयसे शिक्षाके क्षेत्रमे सस्कृतका वर्चस्व चला आ रहा था। भारतके अन्य क्षेत्रोमे भले ही पालि, प्राकृत और अपभ्रंशमे साहित्य लिखा गया हो, पर बुन्देलखण्डमे शिक्षा एक वर्ग-विशेषतक ही सीमित रहती आयी थी। संस्कृतका बोलबाला था। बुन्देलखण्डमे संस्कृत-ग्रन्थोकी टीकाएँ हिंदीमें भी लिखी गयीं। केवल आयुर्वेदविषयको ही ले तो उसमे संस्कृत-ग्रन्थोके अनुवादके साथ इतने अधिक मौलिक ग्रन्थोकी रचना हुई—चरक, सुश्रुत, वाग्भटके ग्रन्थोंके भावानुवाद हुए। उस कालमे बुन्देलीमे लिखे आयुर्वेदके मौलिक ग्रन्थोकी लम्बी सूचीमेंसे कुछ महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित ग्रन्थोके नाम यहाँ दिये जा रहे है—१-देवीसिंहविलास (ओडछा-नरेशद्वाराप्रणीत), २-हिंदी-निघण्टु, ३-भाषा-निघण्टु, ४-मदनविनोद, ५-रामविनोद (रामचन्द्रकृत, जिसमे ३३५७ छन्द है), ६-निरामय-तरङ्गिनी, ७-मूरप्रभाकर, ८-अनन्तमतवेद्यक आदि।

इसी प्रकार अमरकोषका स्थान नन्ददासकृत नाममजरी, अनेकार्थप्रकाश तथा शिरोमणि मिश्रकृत नाममाला और अमीर खुसरोकी खालिकवारीने लिया। भर्तृहरिके नीतिशतक और चाणक्यनीतिदर्पणके स्थानपर चन्नायके आ गये। लीलावतीका स्थान गुरप्रकाशने लिया। आचार्य केशवदास-प्रणीत कविप्रिया और रसिकप्रियाने संस्कृतके साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश और कुवलयानन्दको विदाई दे दी। शिक्षाका क्षेत्र विस्तृत होनेके साथ ही उसमे कुछ दोष भी आये। उस समय जो पुस्तके लिखी गयीं उनके प्रतिलिपिकारोंने अनेक भूले कर उन्हे आजके स्नातकके लिये भी दुर्बोध बना दिया है।

भूलो चूको जानिके मोहि न दीजो गारि।
जैसी प्रति पायी सही तैसी लयी उतारि॥

—इतना कह देनेसे तो दोषका मार्जन नही हो जाता। इतना होनेपर भी यह तो मानना ही पडेगा कि अति उत्साहपूर्ण सदोष प्रयत्नसे भी ज्ञानगङ्गाकी प्राचीन धाराको अक्षुण्ण-रूपसे प्रवाहित करनेवाले इन भगीरथोंका प्रयत्न अविस्मरणीय है।

विजयनगर-सम्राट् श्रीकृष्णदेवरायकृत राजनीतिकी शिक्षा

[तेलगू-प्रबन्ध-काव्य 'आमुक्त माल्यदा'मे वर्णित]

(डॉ॰ श्रीएम्॰ सगमेशम्, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰, डी॰ लिट्॰)

हमारे यहाँके प्राचीन साहित्यमे मुख्यतया प्रबन्ध-साहित्यमे कथाके व्याजसे नीति, धर्म, अध्यात्म आदिकी शिक्षा देनेकी पद्धति नही है। सस्कृतमें हितोपदेश, पञ्चतन्त्र, पुरुषपरीक्षा आदि कथा-काव्य शिक्षाके उद्देश्यसे ही निर्मित हुए हैं। शिवतत्त्वरत्नाकरकी कथाएँ एवं वाणभट्टकी कादम्बरीमे शुकनासोपदेश शिक्षाके लिये प्रसिद्ध हैं। क्षेत्रीय भाषा-साहित्यमे भी यह परम्परा अक्षुण्ण देखनेको मिलती है। तेलगू-भाषामें निर्मित प्रबन्ध-काव्योमे प्रख्यात विजयनगर-साम्राज्यके सम्राट् श्रीकृष्णदेवरायकृत 'आमुक्त माल्यदा' नामक प्रबन्ध इस क्षेत्रमे बहुत प्रसिद्ध है और तेलगूके प्रबन्ध उत्तम कोटिके काव्योंमेसे अन्यतम हैं। इसमे राजकविके द्वारा प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य श्रीयामुनाचार्यके कथासंदर्भमे राज्यको त्यागकर जाते हुए पिताके द्वारा सिंहासनारूढ पुत्रको दी हुई राजनीतिकी शिक्षाका विस्तृत वर्णन है। यह तत्कालोचित होकर भी शास्त्रज्ञानके साथ स्वीयानुभवभूत ज्ञानको मिलाकर सार्वभौम राजकविके द्वारा प्रपञ्चित होनेसे समयोचित शास्त्र और अनुभवके अनुरूप अपना पृथक् महत्त्व रखता है। वास्तवमें यह आजकलके हमारे प्रजातन्त्रके नेता लोगोंके लिये भी अत्यन्त उपादेय है। उसी शिक्षा-प्रसंग (आमुक्त

माल्यदा, आश्वास ४, पद्य २०४ से २८५ तक) का सारांश यहाँ दिया जाता है ।

'पुत्र ! तुम अब राजा बने हो, अतः तुम्हे अपना कर्तव्य भी अच्छी तरह जान लेना चाहिये । अपने राज्यकी प्रजाकी रक्षामे तुम कभी भी आलसी मत बनना, विपन्नोका दुःख दूर करनेमे श्रद्धावान् बनना और दुष्टजनोपर कार्यभार मत छोड़ना ।

'जब राजा राष्ट्रका हित चाहता है, तब राष्ट्र भी राजाका हित चाहता है । इस प्रकारके परस्पर हित-चिन्तनसे महान् लाभ होता है । प्रजा भगवान्का ही पर्याय अथवा रूपान्तर है । एक-कण्ठ होकर प्रजा जो कुछ चाहती है, वह उनकी अन्तरात्माकी कृपासे अवश्य फलता है ।

'राजाको शासक होना चाहिये । आभीर, भिल्ल-जैसे लोग भी धनुष-बाण-जैसे आयुधोके बलसे शासक बनते हैं और उनका आतङ्क सब लोग मानते है । अत· सार्वभौम राजाको प्रबल शासक होना चाहिये, जिससे उसकी आज्ञाका सर्वत्र निर्विरोध पालन हो ।

'तुम अपने राज्यके दुर्गोका शासन अपने आप्तो या द्विजोके हाथमे रखना और देखना कि दुर्गोका शासन समुचित रूपसे चले, जिससे सर्वत्र दूरसे ही आतङ्कका भाव फैले । दुर्गाध्यक्षके रूपमे अशक्तको कभी न रखना ।

'अपने आश्रितोमेसे किसीको पहले ऊँचा पद देकर फिर किसी कारणसे उसे अपदस्थ या नीच पदस्थ करोगे तो वह तुम्हारा घोर शत्रु बन जायगा । अत. पहलेसे ही शील-चारित्र्यका ध्यान रखकर आश्रितोकी क्रमवृद्धि करते रहना । यदि तुम अपना हित चाहते हो तो कभी भी अनभिजात, असत्यवादी, अनपढ़, अन्यदेशीय, अधार्मिक या उद्धतको, चाहे वह विप्र ही क्यों न हो, अपने आश्रयमे न रखना ।

'जो व्यक्ति भोग-विलासके व्यसनी होते है, पतित और भ्रष्ट लोगोके साथ रहते हैं, उनसे सदा दूर रहना । जो नितान्त शिक्षित हो, अधर्मसे डरता हो, राजनीति और समाजनीतिसे भलीभाँति परिचित हो, आयुमे पचास या सत्तरके मध्य हो, अनामय शरीरका हो और वैसे ही पूर्वजोका हो, निरभिमानी हो और प्रार्थित होनेपर ही पदपर रहनेको सहमत हो, ऐसे सज्जनको मन्त्रिपरिषद्में स्थान देना । इससे राजाको सभी श्रेय सुलभतासे साध्य होते हैं ।'

'यदि ऐसे सज्जनोंका मन्त्रिगणमें अभाव हो तो राजाको स्वयं सोच-विचारकर नीतिसे आगे बढ़ना चाहिये, परंतु किसी एकको प्रबल या बुद्धिमान् मानकर सीमासे बाहर प्रत्येक समस्यापर उसीकी मन्त्रणासे चले तो अन्तमें राजाको अपना स्वातन्त्र्य खो देना पडता हैं और उसे परमुखापेक्षी बनना पड़ता है ।

'कोई भी कार्य मात्र धनसे सिद्ध नहीं होता, कार्यकी सफलता और सिद्धिके लिये विवेकी कार्यकर्ताओंकी सहायता भी लेनी चाहिये और ऐसे लोग निर्लोभी और उदार राजाको ही प्राप्त होते हैं । विस्तृत भण्डार, हय, गज आदिका सम्भार, सेनाका विशाल संचय होनेपर भी विवेकी तथा हितैषी मन्त्रिगण और मित्र-मण्डलीके अभावसे पहले कितने ही राज्य धराशायी हो गये थे, अत यह बात निरन्तर ध्यानमें रखनी चाहिये ।

'अन्य वर्णोंको अपने मधुर व्यवहारसे वशमे करके स्वधर्मका निरन्तर पालन करनेवाला उत्तम वर्णका कुशल व्यक्ति मिले तो उसपर कार्यभार छोडना हितकर है । धनके लोभी व्यक्तिको कभी पदाधिकारी वनाना उचित नहीं । वह प्रजापीडक होता है, जिससे अन्तमें राज्य तथा राजा दोनोका अहित होता है ।

'किसीके दोपके विषयमे सुनते ही उसपर क्रोध नही करना चाहिये ? विचार करके गुण-दोष जानकर समुचित रीतिसे उससे बर्ताव करना चाहिये । राजाके सदस्योमे ईर्ष्या या मात्सर्यके कारण एक ही नीतिका दूसरा खण्डन या उपहास करे तो तत्काल किसीका पक्ष नहीं लेना चाहिये । स्वयं उस विषयपर मननपूर्वक विचार करके जो उचित कहता है, उसका पक्ष लेना चाहिये, केवल वैरभावसे कुछ सामन्त या सचिव गुप्त-रूपसे कई लोगोको राजाके विरुद्ध बना देते है । वे अपने आप्तोको धन-सुवर्णादि दिलवाते है और दूसरोको राजासे दूर हटाते है । राजाके विषयमे अनेक प्रकारके अपवादका प्रचार कर वे प्रजामे राजाके प्रति घृणा उत्पन्न करते है । प्रजामे

राजभक्तिको शिथिल करते हैं। ऐसे लोगोंको सावधानीपूर्वक देखते रहना चाहिये। आयमे थोड़ी-सी भी कमी हो जाय, तो कुछ लोग राजाके प्रबल विरोधी बन जाते हैं। इन सबकी अच्छी जानकारी रखते हुए भण्डार, सेना-संचय और हित-मित्रोकी सहायतासे ऐसे आन्तरङ्गिक शत्रुओका निश्शेषरूपसे दमन कर देना चाहिये।

'जो गाँव वन-पर्वत-प्रान्तके होते हैं, उन्हे उद्धत व्यक्तियोंके अधिकारमे रखना चाहिये। इससे या तो वहाँके चोर-डाकुओका, नहीं तो उसी उद्धत व्यक्तिका नाश हो जाता है, जो दोनो स्थितियोमे राजाके लिये हितकर है।

'सीमा-परान्तके आटविक जनोंसे किसी प्रकार मित्रता निभानी है। वे लोग अल्पजीवी हैं, अत· उनमे विश्वास, अविश्वास, स्नेह, वैर, आनुकूल्य आदि भी थोड़ी-सी समस्यापर व्यक्त होते हैं। वे असत्य नहीं बोलते और असत्यवादीपर विश्वास कभी नहीं करते। अतः सत्यतासे उन्हें वशमे कर लेना चाहिये। वही राजा कुशल कहलाता है, जो सत्यतासे आटविको, दूत-सम्मानसे शत्रु-राजाओ, सेना-मूल्यसे सेवक-भृत्यो, प्रशंसा और पुरस्कारोसे पारिषदो एवं वीर भटोको प्रसन्न रखता है।

'राजाका आन्तरिक मित्र कोई विरला ही होता है, अतः किसीपर अधिक विश्वास या अविश्वास नहीं करना चाहिये। सर्वदा भोजन-शयन-आसनोमें भी सतर्क रहना चाहिये। अहित करनेवालेको जीतकर भी उससे फिर वैर नहीं भूलना चाहिये। हिंसासे काम न लेना, दुर्ग जीतनेपर वहाँके लोगोको कष्ट न देना, दुर्गके अन्तःपुर-अवरोध हाथमे पड़े तो उन्हे मान-सम्मानसहित वापस सुरक्षित भेजना, प्रजाहितके कामोमे श्रद्धा और रुचि दिखाना राजाको यशस्वी और सुखी बनानेमे सहायक होते हैं। देश जीतना या राज्यको विस्तृत करना भी अवश्य चाहिये; क्योंकि वही धनार्जनका प्रमुख उपाय है, किंतु प्रजाका अहित न हो; क्योंकि प्रजाका हित ही राजाका और राज्यका हित है। प्रजाको कष्ट देनेसे राजाको स्वयं कष्ट उठाना पड़ता है।

'अपने राग-भोगोंके लिये आयमेसे एक भाग लेकर शेषमेंसे दो भाग सेना-संचयके लिये पृथक् रखना तथा अवशेषको भंडार-घरमे भेज देना चाहिये। दान-धर्म अवश्य करना चाहिये, उदारता प्रशंसनीय है, किंतु अनुचित उदारता आत्मघातका लक्षण है, अतः धर्मकार्योंमें भी सतर्क रहना चाहिये। आधि-व्याधि या दुर्भिक्ष-जैसे समयोमे दान-धर्म ही नहीं, अपितु देशके अरिष्टको दूर करनेवाले यज्ञ-यागोके लिये भी राजभण्डारसे धन-व्यय करना चाहिये।

'हित, अहित और हिताहितके अनुसार राजाके तीन प्रकारके सेवक होते हैं। भिषक्, बुध, पुरोहित-जैसे लोग हित माने जाते हैं, धनार्जन-जैसे कार्योंमे नियुक्त कर्मचारी हिताहित वर्गमे आते हैं। अवसर न पाकर आश्रयमे रहकर भी अपने स्वतन्त्र-अधिकारकी आकाङ्क्षा रखनेवाले लोग राज्यके अहितकी बात सोचते हैं। इन तीनोंका विवेकपूर्वक विवेचन कर उनसे यथोचित रीतिसे व्यवहार करना चाहिये।

'वैरियोकी वार्ताओका सग्रह करना चाहिये। दण्डनीयको दण्डित करनेमे आलस्य करना अपयशका कारण बनता है। फिर आरक्षकोका समाचार भी लेते रहना चाहिये और उनकी रक्षामे श्रद्धा भी दिखानी चाहिये।

'मन्त्रणा करना अत्यन्त आवश्यक है। नये पदाधिकारियोंको मन्त्रणासे दूर रखना उचित है। मन्त्रणा लेनेपर भी राजाको किसी विषयके निर्णयमे अन्तिम निर्णय शास्त्रज्ञान, अध्यात्म एवं अपनी बुद्धि-कुशलतासे करना चाहिये। शेषको बुद्धिमान्, अनुभवी एवं विश्वासी सचिवोकी मन्त्रणापर सुनिश्चित करना चाहिये।

'दण्डमे कठोरता, चाटुकारितामें विश्वास, सधिका वैमुख्य, दुष्टोंको दण्डित न करना, विश्वसनीयताको दूर रखना और अविश्वसनीयताको आश्रय देना, मन्त्रणामे मुखप्रीति, मन्त्र-भेद करनेवालोंको सजा देनेमें आलस्य, किसी एक असाधारण बात होनेपर उसका पूरा-पूरा विचार न करवाना, मान्यजनोका अपमान, हीनजनोका साहचर्य, व्यसनोमे लगे रहना और दीर्घसूत्रता—ये राजधर्मके विरुद्ध

हैं। ये राजाके विनाशके कारण बनते हैं।

'देशका व्यापार बढाना, निधि-निक्षेपोंकी रक्षा करना, कृषि-उद्योगोकी उन्नतिमे सहायता पहुँचाना, सीमा-प्रान्तोमे दस्यु-संचालनका अन्त करना राजा तथा राज्यके हितकी दृष्टिसे अतीव आवश्यक है।

'राज्यान्ते नरकं ध्रुवम्'—इस सूक्तिका आशय यही है कि राजधर्मको निभाना और अपनेको पापसे विमुक्त रखना नितान्त कठिन है। अतः राजाको निरन्तर धर्मपर बुद्धि रखकर प्रत्येक दशामे भगवान्पर भरोसा रखकर स्वधर्मके निर्वहणमे आगे बढ़ना चाहिये। मूर्धाभिषिक्त राजाको धर्म-प्रतिष्ठित कहा जाता है, अत· राजाकी दृष्टि सदा धर्मपर ही रहनी चाहिये।

'मनु, पराशर-जैसे महात्माओने राजधर्मकी विविध शिक्षाएँ लोककल्याणके लिये दी हैं। पहलेके प्रसिद्ध राजालोग इनका अनुसरण करके यशस्वी बने है। अब समय बदल गया। हम अल्प-शक्तिवाले है। उन सभी धर्मोका पालन हमसे कदाचित् ही हो सके। पहले ब्राह्मण देवता शापानुग्रह-दक्ष थे। आजकलके ब्राह्मणोमे न वैसी तपस्या है, न वैसी शक्ति। इसका अर्थ यह नहीं कि वे अपना स्वधर्म निभानेमें असफलता दिखायें। उसी तरह हम राजा लोगोंको भी यथासम्भव और यथाशक्ति पुरानी श्रुति-स्मृतियोंमे कहे न्यायमार्गका अनुसरण करते हुए राज्यका पालन करना चाहिये।

'तुम्हारी बुद्धि धर्मपर अटल रहे। समानजनोंमें तुम उत्तमश्लोक बननेका यत्न करो। सर्वत्र विजयी बनो। तुम्हारा शुभ हो।'

विदाईके अवसरपर पुत्रीको शिक्षा

[भारतवर्षमे प्रत्येक माता-पिता अपनी प्राणप्यारी पुत्रीको विवाहोपरान्त इस भावनाके साथ अपने घरसे विदा करते है कि उसका जीवन और भविष्य सुखमय एवं समृद्धिशाली बने तथा ससुरालमे उसे सुयशकी प्राप्ति हो। अतः इस समय दी जानेवाली शिक्षा अत्यन्त मार्मिक और महत्त्वकी है, जो यहाँ प्रस्तुत है। —सम्पादक]

'प्यारी पुत्री! यदि तू इतना स्मरण रखेगी तो संसारमे बहुत सुखी रहेगी—

१.आज विवाह होनेके पश्चात् तू हमारी नही रहेगी। आजतक तू जिस प्रकार हमारी आज्ञाका पालन करती थी, उसी प्रकार अब अपने सास, ससुर तथा पतिकी आज्ञाका पालन करना।

२.विवाहोपरान्त एकमात्र पति ही तेरे स्वामी होगे। उनके साथ सदैव उच्च व्यवहार रखना और नम्रता रखना। अपने पतिकी आज्ञाका बराबर पालन करना ही एक नारीका श्रेष्ठ और पवित्र कर्तव्य है।

३.अपनी ससुरालमे सदैव विनय और सहनशीलता रखना तथा कार्यकुशल बनना।

४.ससुरालके व्यक्तियोके साथ कभी ऐसा व्यवहार मत करना, जिससे उन्हे दुःख हो, यदि ऐसा करेगी तो पतिका प्रेम खो बैठेगी।

५ कभी क्रोध मत करना, पति कोई भूल करे तो मौन रखना और जब पति शान्त अवस्थामे हों, तब उन्हें वास्तविक स्थिति नम्रतापूर्वक समझाना।

६.अधिक बाते मत करना। असत्य मत बोलना। पडोसीकी निन्दा मत करना। जो कर सके वह सेवा सबकी करना। सेवा एक वशीकरण मन्त्र है।

७ हाथ देखनेवाले ज्योतिषीसे अपनी भाग्य-रेखाओके विषयमे कभी मत पूछना। तेरा कार्य ही तेरा भाग्य निर्मित करेगा—यह निश्चय समझ लेना।

८.परिवारमे छोटे-बड़े सबकी सेवा करनेसे सबका प्रेम प्राप्त होगा।

९.अपने घरका काम कोर-कसरसे चलाना और सावधानीपूर्वक सब व्यवस्था करना।

१०.अपने पिताकी उच्च शिक्षा अथवा श्रीमताईका अभिमान मत करना। पतिके समक्ष अपने पिताके वैभवका गुणगान कभी मत करना।

११.सदा लज्जाशील कपडे पहनना। बहुत भड़कीले

तथा आकर्षित करनेवाले कपड़े मत पहनना और सदा सादगीसे रहना ।

१२.आतिथ्य ही घरका वैभव है, प्रेम ही घरकी प्रतिष्ठा है, व्यवस्था ही घरकी शोभा है, सदाचार ही घरकी सुगन्ध है और समाधान ही घरका सुख है ।

१३.ऋण हो जाय इतना खर्च मत करना, पाप हो ऐसी कमाई मत करना, क्लेश हो ऐसा मत बोलना, चिन्ता हो वैसा मत करना, रोग हो वैसा मत खाना और शरीर दीखे वैसा कपडा मत पहनना ।

बेटी ! हमारी यह अन्तिम सुनहरी शिक्षा है, इसे जीवनमे उतारना । मैं तेरे जीवनमे आजादी, प्रगति, समृद्धि, भक्ति, शान्ति और दीर्घायुकी कामना करता हूँ । सदैव सबका कल्याण हो ।

—प्रेषक—वैद्य बदरुद्दीन राणपुरी 'दादा'
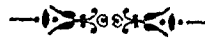
रामचरितमानसमें नारीधर्मकी शिक्षा

(मानस-मराल पं० श्रीजगेशनारायणजी शर्मा)

गोस्वामी तुलसीदासविरचित रामचरितमानस शिक्षाकी दृष्टिसे अनुपम ग्रन्थ है । मानसके प्रत्येक पात्र कुछ-न-कुछ जीवनोपयोगी शिक्षा अवश्य देते हैं—कहीं कथाओके माध्यमसे, कही उपदेशो और संवादोके माध्यमसे तो कहीं चरित्रोके माध्यमसे । महाकविने शिक्षाका संगुम्फन इस अमर कृतिमे किया है ।

रामचरितमानसमे नारी-शिक्षा-सम्बन्धी सूत्र आदिसे अन्ततक बिखरे पड़े हैं । बालकाण्डके प्रारम्भमे सतीशिरोमणि पार्वतीजीका पावन चरित्र पाठकोके समक्ष उभरता है । पार्वतीजीके चरित्रसे नारियोको यह शिक्षा मिलती है कि निजपतिप्रेममे नारीकी अचल निष्ठा होनी चाहिये । पार्वतीजी पर्वतराज हिमवान्‌की पुत्री है । प्रतीकात्मक भाषामे पर्वतको अचल निष्ठाके रूपमे स्वीकार किया गया है । विवाहके पूर्व जब सप्तर्षि पार्वतीजीकी परीक्षा लेने जाते हैं तब शिवके चरित्रमें नाना प्रकारका दोष बतलाकर उनसे सकलगुणराशि भगवान् विष्णुसे ब्याह करनेका आग्रह करते हैं, किंतु पार्वतीजी तो मन-ही-मन स्वयंको महादेवजीके चरणोंमे समर्पित कर चुकी है । अब गुण-दोष-विचार करनेका अवसर ही कहाँ है ?

अब मैं जन्मु संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा ॥

× × × × × ×

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी ॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू ॥
(रा०च०मा० १।८१।२, ५-६)

भगवान् शंकरके प्रति पार्वतीजीका यह आत्मसमर्पण नारी-समाजके लिये अनुकरणीय है ।

सीताजीका आदर्श चरित्र नारी-समाजके लिये शिक्षा ग्रहण करनेका उत्तमोत्तम उदाहरण है । भगवती सीताके चरित्रसे यह शिक्षा मिलती है कि पतिके पदचिह्नोका अनुसरण करना भारतीय नारीकी गौरवमयी परम्परा है । सीताजीको नारी-धर्मकी शिक्षा उनकी माता महारानी सुनयना देती हैं । विवाहके पश्चात् जब जनकपुरसे सीताजीकी विदाई होती है तब माता सुनयना उन्हे आशीर्वाद देकर अन्तिम उपदेश देते हुए कहती हैं—

होएहु संतत पियहि पिआरी। चिरु अहिवात असीस हमारी॥
सासु ससुर गुर सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥
(रा०च०मा० १।३३४।४-५)

सास-ससुर और गुरुकी सेवा करनेका उपदेश सुनयना माता अपनी प्यारी पुत्री जानकीजीको करती हैं । पतिरुखके अनुसार जीवनको ढालना पत्नीका पावन कर्तव्य है । जानकीजीका सारा जीवन माताकी शिक्षाके अनुरूप ढला हुआ है । पतिके सुख-दु खकी चिरसङ्गिनी बनकर वैदेही माताकी आज्ञाका अक्षरश· पालन करती हैं । श्रीरामको मनानेके लिये माताओंको सङ्ग लेकर जब भरतजी चित्रकूट आते है तो जानकीजी रात्रिमें अपनी सभी सासुओंकी सेवा प्रेमपूर्वक करती है—

सीय सासु प्रति वेष वनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥

× × × × × ×

सीयँ सासु सेवा वस कीन्हीं। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्हीं॥

(रा०च०मा० २ । २५२ । २,४)

सीताजीकी सेवाका यह आदर्श यदि आजकी नारी अपना ले तो सास-बहूके कलहसे भारतीय समाजको मुक्ति मिल जाय । पतिके पदचिह्नोका अनुगमन करती हुई जिस प्रकार सीताजी तपोमय जीवन व्यतीत करती हैं, वह नारी-समाजके लिये परम गौरवमय है ।

नारी-जीवनकी सर्वोत्तम शिक्षा अरण्यकाण्डके प्रारम्भमें अनसूया-जानकी-संवादके माध्यमसे दी गयी है । जानकीजीके वहानेसे ऋषिपत्नी अनसूयाने पातिव्रत्यधर्मकी दुर्लभ शिक्षा सम्पूर्ण नारी-समाजके लिये दी है । सती अनसूयाकी यह अमूल्य शिक्षा मननीय और अनुकरणीय है । यद्यपि नारीके लिये माता-पिता तथा भाई-वन्धु सभी हितकारी हैं, किंतु पति तो उसके लिये परमेश्वरके समान है । जो नारी परमेश्वर मानकर पतिकी सेवा नहीं करती वह अधम कोटिमे परिगणनीय और निन्दनीय है—

कह रिषिवधू सरस मृदु वानी। नारिधर्म कछु व्याज वखानी॥
मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सव सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्ता वयदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥

(रा०च०मा० ३ । ५ । ४-६)

अनसूयाका कथन है कि नारीकी पहचान विपत्तिकालमें होती है । जो आपत्तिकालमें भी पतिका साथ निभाती है, वही नारी वन्दनीय और अर्चनीय है ।

जाने-अनजाने किसी भी प्रकारके रोगी, धनहीन और विकलाङ्ग पतिका भी अपमान करनेवाली नारी यमपुरी जाकर नाना प्रकारकी यातना सहती है—

वृद्ध रोगवस जड़ धनहीना। अंध वधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

(रा०च०मा० ३ । ५ । ८-९)

जो नारी पतिपरायणा है उसके लिये अलगसे किसी धर्मका विधान नहीं है । उसके लिये यज्ञ, दान, तपस्या आदि अनिवार्य नहीं हैं । मात्र पतिकी सेवाके द्वारा वह समस्त शुभकर्मोके आनुषङ्गिक फलकी अधिकारिणी बन जाती है—

एकइ धर्म एक व्रत नेमा । कायँ वचन मन पति पद प्रेमा॥

(रा०च०मा० ३ । ५ । १०)

पुन पातिव्रत्यधर्मका निरूपण करते हुए ऋषिपत्नी नारियोकी चार कोटियाँ निर्धारण करती है—(१) उत्तम, (२) मध्यम, (३) निकृष्ट और (४) अधम ।

(१) उत्तम कोटिकी नारी वह है जो स्वप्नमे भी पर-पुरुषको सकामभावसे नहीं देखती—

उत्तम के अस वस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

(रा०च०मा० ३ । ५ । १२)

(२) मध्यम कोटिकी नारी पर-पुरुषको भ्राता, पिता और पुत्रवत् देखती है । यदि समवयस्क है तो भाई मानकर, वड़ा है तो पिता मानकर और अल्पवयस्क है तो पुत्र मानकर देखती है—

मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥

(रा०च०मा० ३ । ५ । १३)

(३) निकृष्ट नारी मनसे तो पर-पुरुषके प्रति अनुरक्त हो जाती है, किंतु कुलमर्यादाके भयसे उसका सङ्ग नहीं कर पाती । तृतीय कोटिकी ऐसी निकृष्ट नारी निन्दनीय है—

धर्म विचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥

(रा०च०मा० ३ । ५ । १४)

(४) अधम नारी मनसे पतित तो पहले ही हो जाती है और अवसर मिलनेपर तनसे भी पतित हो जाती है । ऐसी दुराचारिणी नारी समाजके लिये कलक है । जो नारी पतिसे वञ्चना करके पर-पतिसे रति करती है, वह सौ कल्पतक रौरव नरकमें निवास करती है । उस अभागिनीको यह पता ही नहीं है कि क्षणिक सुखके लिये वह अपना हीरा-जैसा जन्म व्यर्थमें नष्ट कर देती है—

विनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पति वचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥

(रा०च०मा० ३ । ५ । १५-१७)

इनमेंसे दो प्रकारकी नारियाँ तो वन्दनीय हैं और उनका चरित्र वर्तमान और भावी पीढ़ीके लिये अनुकरणीय है, किंतु अन्तिम दो प्रकारकी नारियाँ समाजके लिये कलंक और सर्वथा त्याज्य हैं ।

परमगतिकी प्राप्तिके लिये नारी-जीवन-जैसा सरल-सुलभ कोई जीवन नहीं है। नाना प्रकारके साधन, भजन, शम, दम, तितिक्षा और त्याग-वैराग्यके द्वारा पुरुष जिस अलभ्य गतिकी प्राप्तिमें अपनेको असमर्थ पाता है, उस दुर्लभ गतिको नारी मात्र पतिकी सेवा करके प्राप्त कर सकती है—

बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाडि छल गहई॥

(रा॰च॰मा॰ ३।५।१८)

इसके प्रतिकूल जो अधम नारी पतिके प्रतिकूल स्वेच्छाचारिणी बन जाती है, उसे अगले जन्ममे तरुणावस्थामे ही वैधव्य-दुःख झेलना पड़ता है—

पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥

(रा॰च॰मा॰ ३।५।१९)

इस प्रकार रामचरितमानसमे नारी-धर्मकी अमूल्य शिक्षा दी गयी है, जिसे अपनाकर नारी अपना तथा समाजका जीवन धन्य बना सकती है। माता कौसल्या और सुमित्राका त्यागमय दिव्य जीवन भारतीय ललनाओके लिये वन्दनीय और अनुकरणीय है। स्वयंप्रभासे योगसाधना, शबरी और त्रिजटासे भक्ति तथा मन्दोदरीसे सत्कर्मकी शिक्षा नारियाँ ग्रहण कर सकती है।
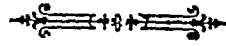
विद्या ही मनुष्यका स्थायी धन है

(डॉ॰ श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰)

हम सभी विद्यारूपी पूँजी अर्जित कर सकते हैं। यह पग-पगपर हमारी सहायता करती है। कहा है—

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

'जिन लोगोंके पास विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण और धर्म नही है, वे संसारमे पृथ्वीपर भारस्वरूप होकर मनुष्यके वेशमे पशुके समान हैं।'

यदि आप अपने देशसे बाहर किसी व्यापार, अध्ययन, नये सम्बन्ध, सैर और ज्ञान-प्राप्तिके लिये विदेश जा रहे है, जहाँ यह आशा करनी चाहिये कि कोई भी अपना मित्र या सम्बन्धी जान-पहिचानवाला व्यक्ति सहायता और सहयोगके लिये न मिलेगा, वहाँ आपकी शिक्षाद्वारा प्राप्त विद्या ही काम आयेगी। विद्या आपकी बुद्धिको तीव्र करती है, समझने-समझानेकी शक्तिको बढाती है और तर्क करने योग्य बनाती है। भारतीय चिन्तकोने सत्य ही कहा है—

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च॥

अर्थात् यह बात स्मरण रखने योग्य है कि 'विदेशोमे विद्या मित्रके समान काम करती है। घरोमे पत्नी मित्र है। रोगग्रस्तके लिये औषध मित्र है तथा मृतकके लिये धर्म मित्र है।'

यदि आप किसी उच्चकुल (ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि) मे जन्मे हैं, राजपरिवार या उच्चपदपर रहे (माता, पिता, अधिकारी, जमींदार, शासक आदिमेसे कोई है), तो केवल जन्मसे उच्चकुलके कारण आपका सम्मान नही होगा। विशाल सम्पत्तिवाले, राजा-महाराजा, अमीर, पूँजीवाले परिवारमे जन्म लेनेपर भी आपमे विद्याके असली धनकी आवश्यकता है। आपके ज्ञान, आपकी योग्यता, आपकी विद्या-बुद्धिके अनुसार ही आपका सामाजिक सम्मान होगा। जनता विद्वान्का ही स्थायी आदर करती है। कहा है कि—

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥

'जिस तरह बिना गन्धके किंशुकके लाल फूलोको भी कोई नहीं पूछता, उसी तरह रूप-यौवनसे युक्त और उच्चकुलमे उत्पन्न पुरुष भी यदि विद्याहीन हैं, तो उनका कोई सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रिय आदर नहीं होता।'

बिश्नोई-पंथमें 'सबद-वाणी'की आदर्श शिक्षा

(श्रीमॉंगीलालजी बिश्नोई 'अज्ञात')

लोक-प्रसिद्ध परम धार्मिक प्रमरवंशावतंस महाराज श्रीविक्रमादित्यकी बयालीसवीं पीढीमे वर्तमान राजस्थान-राज्य (तत्कालीन जोधपुर-राज्य)मे नागौरसे ५० कि०मी० उत्तरमे स्थित पीपासर नामक ग्राममे श्रीजाम्भोजीने क्षत्रियकुल-पॅवार लोहटजीके घर जन्म लेकर ७ वर्षतक बाल-क्रीडामे, २७ वर्षतक गोचारणमे और ५१ वर्षतक भुक्ति-मुक्ति देनेवाली वाणी कहनेमे व्यतीत किये। उनकी शिक्षाऍं 'सबद-वाणी'के नामसे लोक-प्रचलित है। विष्णु-उपासक 'बिश्नोई' इसे पञ्चम वेदके रूपमे मानते है। वि० संवत् १५०८ की भाद्रपदबदी अष्टमीको जन्मे हुए श्रीजम्भेश्वर सत-परम्पराके प्रथम सत एवं परम योगेश्वर है, जो विश्वके प्रथम 'पारिस्थितिक विज्ञानी' है। जिनकी शिक्षाओपर चलते हुए वि० संवत् १७८७मे श्रीमती अमृतादेवीके नेतृत्वमे ३६३ बिश्नोई स्त्री-पुरुष खेजडी वृक्षोके रक्षार्थ उनसे चिपक-चिपककर कट मरे थे। पर्यावरणके मूल आधार वृक्षोकी रक्षाके लिये इतनी बडी सख्यामे जम्भेश्वर-अनुयायियोका यह आत्म-बलिदान विश्वका एक अद्वितीय उदाहरण है। श्रीजाम्भोजीके अनुयायी आज भी हरे वृक्ष एव वन्य जीवोके रक्षार्थ प्राणोत्सर्ग करनेको तत्पर मिलते है।

वि० संवत् १५४२ मे 'सम्भराथल' धोरेपर श्रीजाम्भोजी द्वारा विभिन्न धर्मो तथा जातियोमेसे एक लाखसे भी अधिक लोगोको 'पाहल' (अभिमन्त्रित जल) पिलाकर बिश्नोई-पथमे दीक्षित किया गया। राजस्थान, पजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश राज्योमे लगभग २ करोड़ बिश्नोई-मतावलम्बी निवसित है।

'सबद-वाणी'की भाषा ठेठ देहाती एवं सहज बोधगम्य है। इसमे विष्णु-उपासना और नाम-जपपर विशेष बल दिया गया है। ३३ करोड़ देवी-देवताओकी परम्परामे श्रीजाम्भोजी स्वयंको विष्णु भगवान्‌का अंशावतार उद्घोषित करते हैं। सत एवं गुरु-परम्परापर आधारित बिश्नोई-पथ मानवमात्रके कल्याणकी भावनासे ओतप्रोत है। श्रीजाम्भोजीद्वारा उच्चरित प्रथम शब्द 'गुरु' था, जो उनके पहले 'सबद' मे इस प्रकार है—*'गुरु चीन्हूँ, गुरु चीन्ह पिरोहित।'* हे लोगो! हे पुरोहित! गुरुको पहचानो।

'सबद-वाणी'मे आध्यात्मिक, वैदिक, यौगिक, पारमार्थिक तथा लौकिक शिक्षाका अथाह भण्डार भरा पडा है। द्रष्टव्य है 'सबदो' की कुछ उक्तियॉं—

(१) विष्णु तथा अनादि अवतरण-विषयक

'आद अनाद तो हम रचीलो, हमे सिरजीलो सैकोण'। (सबद २) आदि-अनादिकी सृष्टि तो मैने की है। मेरा सृजन करनेवाला मेरे सिवा अन्य कोई कैसे हो सकता है? *बात कदो की पूछै लोई, जुग छत्तीस विचारूँ। ताह परै रे अवर छत्तीसूँ, पहला अन्त न पारूँ॥ म्हे तद पंण हुँता, अब पंण आछै, वल-वल हुयसॉं। कहि कद-कदका करूँ विचारूँ।* (सवद ४) हे भाई! तुम कबकी बात पूछ रहे हो। मुझे छत्तीस युगोकी जानकारी है। उनसे भी पहले अनन्त छत्तीस युगोकी भी, जिनका आदि-अन्त नही है। मै तब भी था, अब भी हूँ और फिर-फिर होऊँगा। कहो, कब-कबका विचार करूँ? ईश्वरके वन्दनीय नवो अवतार मेरे ही स्वरूप है (सबद ५)। दृश्य-अदृश्य रूपोमें मै सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमे विचरण करता हूँ। पल-पल घटते हुए भी अघट रहता है। अनन्त युगोसे अमर-स्मरणके रूपमे मै स्मरण किया जाता रहा हूँ। मेरे न माता है, न पिता (सबद ९)। मै उच्च मण्डलका अधिवासी हूँ (सबद २९)। जो मक्का-मदीनामे अवतरित हुआ वही मरुस्थलमे राजस्थानकी धीरा धरतीपर अवतीर्ण हुआ है (सबद ५०)। यदि मै अपना आपा (सामर्थ्य) प्रकट कर दूँ तो चारो खण्ड (दिशाऍं) और नवो द्वीप थर्रा जायँ (सबद ७३)। मेरे अनन्त-अनन्त युग व्यतीत हो चुके है। मै शून्य मण्डलका अधिष्ठाता हूँ (सबद ८३)।

(२) नश्वरता

म्हॉं देखतॉं देव-दाणूँ खीणॉं, जंबू मंझे राचि

। ***रहिबा थेहूँ।*** (सबद २५) हे राजन्! मेरे देखते देव-दैत्य चल बसे। जम्बू (भारत उपमहाद्वीप) के मध्य तुम स्थिर नहीं रहोगे।***अनेक-अनेक चलंताँ दीठा, कलिका माणस कौर विचारूँ।*** (सबद ३३) मैंने असंख्योको चल-बसते देखा है। कलियुगके मनुष्यका फिर विचार ही कैसा? इस धरतीपर तुम्हारा रत्तीभर भी स्थायी राज्य नहीं रहेगा (सबद ६५)। जीवात्माका वास्तविक स्थायी आवास तो दूर है। यहाँ तो अस्थायी निवास है (सबद ८७)।

(३) मानसिक शुद्धि

अड़सठ तीरथ हिरदा भीतर, बाहर लोकाचारूँ। (सबद ३) अड़सठ तीर्थोका पुण्य तो आन्तरिक शुद्धतामे है। बाहरका दिखावा तो लोकाचार है। ***भलियो होय सो भली बुध आवै, बुरियो बुरी कमावै।*** (सबद २०) भले व्यक्तिको अच्छी बुद्धि मिलती है। बुरा व्यक्ति बुराई ही कमाता है।

(४) विष्णु-जप

बिम्बे बेलाँ विष्णु न जंप्यो, ताछै का चीन्हो कछु कमायो।(सबद ७) मनुष्य! शारीरिक शक्ति रहते हुए यदि तुमने विष्णु भगवान्का जप नहीं किया तो बता, तुमने क्या जाना और क्या कमाया? अतः एकाग्रचित्त होकर विष्णुका जप करो (सबद २३)। भगवान् विष्णुके जपके बिना तुम्हारा मानव-जन्म आकके डोड़े तथा खीपकी फलियोके समान निरर्थक हो रहा है (सबद २७)। विष्णु भगवान्का जप करते हुए यदि तुम्हारी जीभ थक जाती है तो तुम्हारा बिना जीभका ही होना ठीक है। हरिका नाम-स्मरण करते भी यदि तुम्हे कोई विपत्ति आ घेरे तो पश्चात्ताप न करो (सबद ३४)। ***विष्णु-विष्णु तू भणि रे प्राणी, इस जीवन के हावै।*** (सबद १२०)हे प्राणी! इस जीवनके रहते तुम विष्णु-विष्णु जपते रहो।

(५) मुसलमानोंके प्रति

ज्यूँ थे पच्छिम दिशा उलबंग पुकारो,भल जे यो चीन्हो रहमाणो। (सबद ९) जैसे तुम पश्चिम दिशामे मुँह करके उच्च स्वरसे अजान लगाते हो, उससे अच्छा तो यह है कि तुम रहमानको दिलसे जानो-मानो। ***दिल खोजो दरवेश भईलो, तइया मुसलमानो।*** (सबद १०) अपने दिलको टटोलकर जो परम दयालु हो गया है, वही तो मुसलमान है।

(६) जीव-दया

जीवाँ ऊपरि जोर करीजै, अंति काल हुयसी भारी। (सबद ९) जीवोपर जोर-जबरदस्ती करते हो। अन्तिम समयमे मृत्युके पश्चात् कर्मोका लेखा-जोखा होनेके समय कर्म-फलकी दृष्टिसे यह जीवात्माको भारी पड़ेगा।

(७) कर्म-फल और प्रधानता

विष्णु ने दोष किसौ रे प्राणीं, तेरी करणीं का उपकारूँ। (सबद १३) हे जीवात्मा! तुम अपने दुःखोके लिये विष्णु भगवान्को क्यो दोष देते हो? जो कुछ भी तुम भोग रहे हो, वह सब तुम्हारे स्वयंके कृत्योका प्रतिफल है। ***गोवछवास कमाय ले जीवड़ा, सो सुरगापुरि लहणा।*** (सबद ५३) हे जीवात्मा! तुम जो कुछ भी इस मानव-शरीरके रहते अपने सत्-असत् कर्मोसे कमाओगे, वही प्रतिफलके रूपमे स्वर्गमे तुम्हे भोगनेको मिलेगा। ***उत्तम कुलीका उत्तम न होयबा कारण किरिया सारूँ।*** (सबद २६) उत्तम या उच्च कुलमे जन्म लेनेसे ही वंशानुगतताके कारण कोई बड़ा नहीं हो सकता। यदि कर्म उच्च है तो वही उत्तम है।

(८) योग

पताल का पाणीं अकास कूँ चढ़ायले, भेटले गुरुका दरशणा। (सबद ४९) मूलाधारकी ओर स्रावित पतनकी ओर अधोगामी 'बिन्दु' को ऊर्ध्वरेतस्-विधिसे सहस्रारमे पहुँचा दो तो 'आज्ञाचक्र'मे गुरु-रूपी ज्योतिर्मय परमात्माके दर्शन हो सकते है। ***पूरक पूर पूरलै पौण, भूख नहीं अन जीमंत कौण।*** (सबद ५१) प्राणायाम करते हुए पूरककी साधना पूर्ण कर पवनकी सिद्धि कर लो फिर भूख व्यापेगी ही नही। अब खायेगा कौन? ***उरधक चंदा निरथक सुरूँ नव लख तारा नेड़ा न दूरूँ।*** (सबद ८९) योगाभ्यासमे चन्द्रमाकी अवस्थिति ऊर्ध्व तथा सूर्यकी निम्न होती है।

नौ लाख तारोंकी ज्योति दृष्टिगोचर होती है—जो न पास है न दूर ।

(९) गुरु-प्राधान्य

जइया गुरु न चीन्हो, तइया सींच्या न मूलूँ । कोई-कोई बोलत थूलूँ । (सवद ३५) जिसने गुरुको नहीं पहचाना, उसने भगवत्प्राप्ति-हेतु जड़का सिचन नहीं किया । गुरु-विहीन कई लोग तो मिथ्या सम्भाषण ही करते हैं । *निश्चै कायों-वायो होयसै, जे गुरु बिन खेल पसारी ।* (सवद ४२) यदि विना गुरुके तुमने कोई कार्य प्रारम्भ किया तो अज्ञानवश निश्चित रूपसे दुर्व्यवस्था उत्पन्न हो जायगी । *दोय दिल दोय मन, गुरु न चेला ।* (सवद ४५) द्वैत रहते गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जुड ही नहीं सकता ।

(१०) लोक-शिक्षा

वादीलो अहंकारीलो ते भार घणां ले मरणां । (सवद ५३) विवादी तथा अहकारी व्यक्ति व्यर्थका बोझ मनपर लिये मरेगा । *देखि अदेख्या, सुण्याँ-असुण्यॉ, खिमा, रूप तप कीजै ।* (सवद १०३) देखे-विना देखे, सुने-अनसुने, सभी अवसरोपर क्षमारूपी तपस्या करनी चाहिये ।

(११) दान

दान सुपाते, बीज सुखेते, अमृत फूल फलीजै । काया कसौटी मन जोगूँटो, जरणा ढाकण दीजै ॥ थोडे मांहिं थोडे रो दीजै,-होते नाह न कीजै ॥ (सवद ५८) सुपात्रको दिया गया दान तथा सुक्षेत्रमें बोया गया बीज अमृतदायी फल प्रदान करता है । कायाको कसौटी और मनमे योग-साधनाको अपनाते हुए सहनशक्ति-रूपी आवरण देना चाहिये । थोडेमें थोडा देना चाहिये, परंतु होते हुए अस्वीकार नहीं करना चाहिये ।

(१२) पाखण्ड-खण्डन

भूत परेती कॉय जपीजै, यह पाखण्ड परमाणो । (सवद ६९) भूत-प्रेतादिको क्यो जपते हो ? यह तो पाखण्डका प्रमाण है । *पाहण प्रीति फिटा कर प्राणीं, गुरु बिन मुक्ति न जाई ।* (सवद ९७) हे जीवात्मा ! निष्करुणताको छोड़ दे । गुरु विना मुक्ति नहीं हो सकती ।

माता सुमित्राकी लक्ष्मणको सीख

गुर पितु मातु बंधु सुर साई । सेइअहिं सकल प्रान की नाई ॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जी के । स्वारथ रहित सखा सबही के ॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते । सब मानिअहिं राम के नातें ॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू । लेहु तात जग जीवन लाहू ॥
पुत्रवती जुवती जग सोई । रघुपति भगतु जासु सुतु होई ॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी । राम बिमुख सुत तें हित जानी ॥
सकल सुकृत कर बड फलु एहू । राम सीय पद सहज सनेहू ॥
रागु रोषु इरिषा मदु मोहू । जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू ॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई । मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ॥
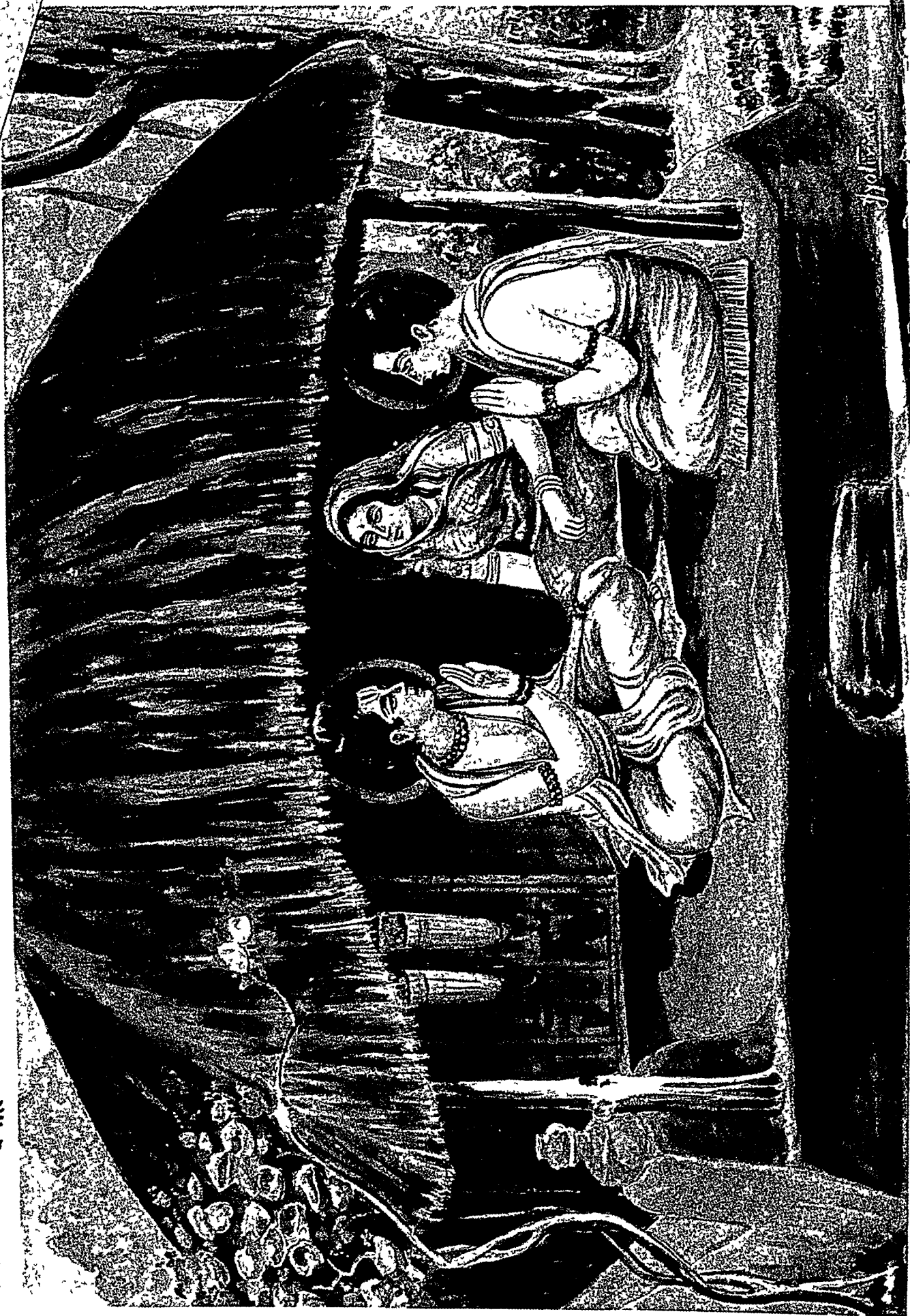
रूपी तपस्या करनी

लीजै । काया
ड़े मांहिं थोडे
नको दिया
ल प्रदान
नाको
ड़ेमें
ना

सामान्य शिक्षा

बुनियादी शिक्षाका महत्त्व

(श्रीसुखसागरजी सिन्हा, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, साहित्यरत्न)

भारतमें प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा-पद्धतिकी विकृतियो एवं अर्थहीनताने बुनियादी शिक्षा-पद्धतिको जन्म दिया। महात्मा गाँधीके अनुसार शिक्षाका उद्देश्य मनुष्यके शरीर, मस्तिष्क और आत्मामे उत्तम तत्त्वोका विकास करना है। सच्ची शिक्षासे व्यक्तिकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक— सभी शक्तियोका विकास होता है। शिक्षा सबके लिये है, सम्पूर्ण जीवनके लिये है, इसे विद्यालयो और महाविद्यालयोकी चहारदीवारीसे निकालकर समाज और जीवनके सच्चे परिवेशमे सर्वसुलभ बनाना अपेक्षित है। इसे पुस्तको और पुस्तकालयोके कृत्रिम तथा सांकेतिक अभियन्त्रोतक ही सीमित न रखकर प्रकृति और परिस्थितियोके सच्चे संदर्भमे लाना होगा। गाँधीजीने स्वतन्त्रता-संघर्ष तथा आर्थिक क्रान्ति, सामाजिक परिवर्तन एवं मानव-कल्याणके लिये चलाये गये अपने अनेक अभियानोके दौरान यह अनुभव किया कि प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा-पद्धतिमे परिवर्तन लाये बिना वाञ्छित नये मानव-समाजकी कल्पना करना व्यर्थ है। अतः उन्होंने एक नयी शिक्षा-पद्धतिका आविष्कार किया, जिससे शोषण, परतन्त्रता और विषमताको दूरकर एक नये आदर्श समाजका निर्माण किया जा सके। गाँधीजीकी इस अभिनव शिक्षा-पद्धतिको ही 'नयी तालीम' या 'बुनियादी शिक्षा'-पद्धति कहते हैं।

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धतिके दोष

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धतिकी आलोचना करते हुए गाँधीजीने इसकी सबसे बडी इस त्रुटिकी ओर संकेत किया कि इस शिक्षा-पद्धतिमे उन वस्तुओके लिये बिलकुल स्थान नहीं है, जिन्हे बच्चे अपने घरेलू जीवनके साहचर्यसे जानते है। ज्यो-ज्यो बच्चे उच्च शिक्षाकी ओर अग्रसर होते हैं, त्यो-त्यो उनके अपने गाँव-घरका वातावरण दूर छूटता चला जाता है। बादमे एक ऐसी स्थिति आती है जब ग्रामीण जीवन उनके लिये सर्वथा अपरिचित और अनाकर्षक बन जाता है।

अंग्रेजी शिक्षाकी त्रुटियो एवं भारतके लिये उसकी अनुपयोगिताओकी ओर गाँधीजीके अतिरिक्त अन्य अनेक देशी-विदेशी शिक्षा-शास्त्रियो एवं विद्वानोने भी संकेत किया है, जिनमे प्रमुख हैं—आचार्य विनोबा भावे, जाकिर हुसेन, काका कालेलकर, आर० आर० दिवाकर, इवान इलिच (डि स्कूलिंग), आलविन टायलर (फ्यूचर शॉक), पाउलो फ्रायरे (कल्चरल ऐक्शन फार फ्रीडम)। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री पाउलो फ्रायरेके अनुसार वर्तमान शिक्षा-पद्धति एक बैंकिंग व्यापार है, जिसमे कुछ इने-गिने शिक्षक शिक्षार्थीसमूहके 'मस्तिष्क-रूपी खातेमें अपने संचित शब्दो, वाक्यो और अन्य सिद्धान्तोके स्मरणरूपी ज्ञानको जमा करते हैं।' यही शिक्षा-पद्धति उपदेश-कथनके हस्तान्तरण

व्यापारके ज्वरसे पीडित है । यह ज्ञानको कर्मसे पृथक् करती है तथा समाजमे अनावश्यक भेदभावकी दरारे उत्पन्न करती है । यह भारत-जैसे कृषि-प्रधान देशके नागरिकोको केवल अक्षर-ज्ञान कराकर भावी जीवनमे बेकार बना देती है । शरीर-श्रमके लिये अयोग्य ठहराकर अंग्रेजी शिक्षा यहाँके नागरिकोको परावलम्बी और पौरुषहीन बना डालती है तथा व्यक्तिमे रटने एवं अनुकरण करनेकी प्रवृत्ति घर कर लेती है और उसकी स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति अवरुद्ध हो जाती है ।

बेकारी—अंग्रेजी शिक्षा-पद्धतिका ही अभिशाप

यह शिक्षा-पद्धति अक्षर-ज्ञानमात्र देकर आध्यात्मिक ज्ञान तथा शारीरिक श्रमकी अवहेलना करना सिखाकर व्यक्तिको बलहीन, निराश और बेकार बना देती है । स्थिति इतनी भयावह हो गयी है कि कृषि-स्नातक भी खेतकी मेडपर जाना पसंद नहीं करते । यदि युवक किसी प्रकार बी० ए०, एम्० ए० पास कर गये तो उन्हे नौकरी चाहिये ही । यह शिक्षा उद्योग अथवा स्वतन्त्र व्यवसायमे जाकर स्वावलम्बी बननेका जोखिम उठानेके लिये उन्हे तैयार ही नही करती । यहाँतक कि डॉक्टर और इंजीनियरकी डिग्रीधारी युवकोकी भी यही स्थिति है । बेकारोकी फौजके सामने जीवनके लिये कोई आदर्श उद्देश्य नहीं है । उनके सामने तोड-फोड़, प्रदर्शन, घेराव, हड़ताल, लूट-मारके सिवा और कोई काम नहीं रह जाता । शिक्षाने स्वावलम्बी बनाया नहीं, 'डिग्निटी आफ लेबर' का पाठ पढ़ाया नहीं, फिर अनुशासनहीन, आत्मविश्वास-रहित मनसे टूटा हुआ, तनावग्रस्त व्यक्ति कौन-सा काम कर सकता है ?

प्रचलित अंग्रेजी शिक्षाके कारण हमारे सामने दो ही विकल्प हैं । यदि हम उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आबादीकी माँगके अनुरूप स्कूल, कालेज खोलकर शिक्षाका प्रसार करते हैं तो शिक्षित बेकारोकी संख्या बढ़ती है और यदि इसके विपरीत पर्याप्त समुचित साधनके अभावमे करोडो व्यक्तियोको शिक्षासे वञ्चित रखते है तो देशमे मूर्ख और अन्धविश्वासी व्यक्तियोकी सख्या बढ़ती है । कहना नहीं होगा कि शिक्षित बेकारोकी फौज अथवा मूर्ख नागरिकोकी भरमार दोनो ही विकल्प हमारे नवोदित लोकतन्त्रके लिये घातक है, ऐसी स्थितिमे महात्मा गाँधीने यह अनुभव किया कि वर्तमान शिक्षा-पद्धतिमें आमूल-चूल परिवर्तन करना हमारी सबसे बडी आवश्यकता है ।

बुनियादी शिक्षाका उद्देश्य

बुनियादी शिक्षाका उद्देश्य है नागरिकोका चरित्र-निर्माण करना । इसका उद्देश्य मात्र साक्षर बनाना नहीं, अपितु कर्मके माध्यमसे सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति है, जिसमे मनुष्यके हस्तकौशलके विकासके साथ-साथ उसके मानसिक और आध्यात्मिक सभी प्रकारकी शक्तियोका विकास सम्भव हो सके । गाँधीजी लिखते हैं—'मै यह मानता हूँ कि मस्तिष्क और आत्माका सर्वोच्च विकास शिक्षाकी इस व्यवस्था (हस्तकर्म) से सम्भव है । आवश्यकता इस बातकी है कि हस्तकर्मकी शिक्षाको आजकी भाँति यान्त्रिक तरीकेसे न देकर वैज्ञानिक पद्धतियोसे दिया जाय अर्थात् बच्चेको 'क्यो और कैसे'का ज्ञान प्रत्येक प्रक्रियाके लिये मालूम होना चाहिये ।' गाँधीजीने इस तथ्यपर विशेष जोर दिया कि महान् लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक व्यक्तिमे साहस, शक्ति, सद्‌गुण, आत्मानुभव तथा सेवाभावका पूर्णरूपेण विकास किया जाय ।

बुनियादी शिक्षा और समवाय-पद्धति

समवाय-पद्धतिमें ज्ञान और कर्म दोनोका पारस्परिक समन्वय स्थापित किया जाता है । कार्यसे अलग न तो बुद्धिका विकास सम्भव है न बुद्धि-विवेकके बिना कार्य सम्पन्न हो सकता है । जबतक शरीर, मस्तिष्क और आत्माका विकास एक साथ नही हो जाता, तबतक केवल बौद्धिक विकास एकाङ्गी होगा । अत शिक्षणका माध्यम वातावरणकी प्राकृतिक वस्तु तथा उत्पादक कर्मका होना आवश्यक है । कार्योके माध्यमसे शिक्षा देनेसे बच्चोके लिये यह खेलका आनन्द देनेके साथ-साथ उनके संवेगो, व्यवहारो तथा प्रवृत्तियोको तुष्ट करता है और बच्चा विशुद्ध शैक्षणिक तथा सैद्धान्तिक प्रशिक्षणके भारसे मुक्त हो जाता है ।

बुनियादी शिक्षा और आत्म-निर्भरता

बुनियादी शिक्षा-पद्धतिमे 'प्रकृति, पड़ोस, पेट तथा परमात्मा' के साथ अनुबन्ध स्थापित करनेका प्रयास किया

जाता है, अत इससे जीविका भी मिलती है और जीवन भी सुधरता है । अंग्रेजी शिक्षा-पद्धतिकी उपज बेकारीकी समस्याको दूर करनेकी यह बहुत बडी बीमा है । इस शिक्षा-पद्धतिमे विद्यालय और उद्योगका आपसमे सहयोग होनेसे बुनियादी शिक्षण-संस्थाएँ आर्थिक क्षेत्रमे सरकार और पूँजीपतियोके नियन्त्रणसे मुक्त रहकर स्वावलम्बी बन जाती है और उनपर संकुचित सम्प्रदाय या दलगत राजनीतिका प्रभाव पडनेका भय नही रहता । इस शिक्षा-पद्धतिमे शिक्षकोकी स्वतन्त्र हस्तीको स्वीकार किया गया है । इसे पूर्ण स्वायत्तता प्रदान की गयी है ।

बुनियादी शिक्षामें शिक्षककी भूमिका

बुनियादी शिक्षा-पद्धति सफलतापूर्वक लागू करनेके लिये प्रतिभाशाली कुशल चरित्रवान् और आस्थावान् शिक्षक चाहिये । बुनियादी शिक्षाको असली रूप देनेके लिये आचार्य विनोबा भावेने 'आचार्यकुल'के गठनपर बल दिया है । 'आचार्यकुल' अर्थात् ऐसे शिक्षको, आचार्योका परिवार, जो आचार और विचार दोनो दृष्टियोसे समाजके लिये अनुकरणीय हो । शिक्षकोके आवश्यक गुणके विषयमे विनोबा भावेजी लिखते है—'ज्ञानकी उपासना करना, चित्त-शुद्धिके लिये प्रयत्न करना, विद्यार्थियोके लिये वात्सल्यभावना रखकर उनके विकासके लिये सतत प्रयास करते रहना, सारे समाजके सामने जो समस्याएँ आती है, उनपर तटस्थ-भावसे चिन्तन करके सर्वसम्मतिका निर्णय समाजके सामने रखना और समाजको इस प्रकारका मार्गदर्शन देते रहना आदि कार्य जो हम करने जा रहे है वह एक परिवारकी स्थापनाका ही काम है ।' इस प्रकार विनोबा भावेके अनुसार बुनियादी शिक्षा-पद्धतिके अन्तर्गत, शिक्षकमे तीन गुणोका होना अति आवश्यक है—विद्यार्थियोपर प्रेम, वात्सल्य और अनुराग, निरन्तर अध्ययनशीलता और तटस्थता तथा दलगत राजनीतिसे मुक्ति । इस प्रकार बुनियादी शिक्षा-पद्धतिमे शिक्षकपर सर्वोदय समाजके निर्माणका दायित्व सबसे अधिक है । समाज, राष्ट्र अथवा विश्वमे शिक्षासे बढ़कर शान्ति-स्थापनाका कोई दूसरा अस्त्र नही हो सकता ।

यह विडम्बना ही कही जा सकती है कि अपने देशकी संस्कृति, सभ्यता, अध्यात्म, कला-कौशल, जनसंख्या, भौगोलिक एव ऐतिहासिक स्थिति आदि सभी दृष्टियोसे अनुकूल होते हुए भी 'बुनियादी शिक्षा-पद्धति'को यहाँ जो महत्त्व मिलना चाहिये वह नही मिल रहा है । इसका एक प्रमुख कारण है हमारी गुलामी मानसिकता । भारतीय जीवनपर अंग्रेजी शिक्षा, अग्रेजियत, अग्रेजी भाषा, अग्रेजी सभ्यता आदिने इतना अधिक प्रभुत्व जमा लिया है कि स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद अपना शासन-प्रबन्ध होनेके बावजूद अपने देशके स्कूली वातावरण, पाठ्य-क्रम, शिक्षक एव शिक्षाके माध्यमपर अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति पूरी तरह हावी है । परिणाम यह है कि **'सा विद्या या विमुक्तये'**के अनुसार जिस विद्यासे हमे मुक्ति मिलनी चाहिये वह **'मुक्तये'** न होकर **'भुक्तये'** हो गयी है। किंतु हमे इस चक्रव्यूहको तोडना होगा । राष्ट्रके शरीर, मेधा और आत्मासे सम्बन्धित शक्तियोका पूर्णरूपेण सर्वाङ्गीण विकास करना है तो 'बुनियादी शिक्षा-पद्धति'को सही परिप्रेक्ष्यमे अपनाना होगा ।

अभिवादनका फल

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

(मनु० २ । १२१)

'जो नित्य प्रणाम करनेके स्वभाववाला और वृद्धोकी सेवा करनेवाला है, उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चार बढते हैं ।'

चारित्रिक विकासके पथपर—स्काउट-गाइड-आन्दोलन

[एक सहशैक्षिक कार्यक्रम]

(डॉ० श्रीरामदत्तजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, साहित्याचार्य)

शिक्षा-जगत्मे विश्वभरमें बालक-बालिकाओंके चारित्रिक तथा शारीरिक विकास और कलाकौशल तथा सेवा-भावनाके प्रशिक्षणके लिये स्काउट-गाइड-आन्दोलन पिछले ८० वर्षसे सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है । सन् १९०८ई०मे लगाया गया यह अकुर आज विशाल वटवृक्षके रूपमे विश्वभरमे बाहरी जीवन और सेवाके माध्यमसे विश्वभ्रातृत्वकी भावना फैला रहा है । शिक्षाके क्षेत्रमें एक पूरक और सहशैक्षिक कार्यक्रमके रूपमें ऐसा कोई अन्य विश्वव्यापी कार्यक्रम नहीं है । आइये, इस महान् शैक्षिक कार्यक्रमका हम परिचय प्राप्त करें ।

सन् १८७६ई०मे एक युवक अग्रेज सेनाधिकारी भारत आये और लगभग दस वर्षतक उन्हे भारतमें रहने और यहाँके जीवनका गहन अध्ययन करनेका अवसर मिला ।

लार्ड बेडनपावल आफ गिलवेल

गुरुकुल-आश्रम-प्रणाली और सेवाभावी युवकोकी कार्य-प्रणालीका उन्हे हरिद्वारके जंगलोमे एक भारतीय महात्माके आश्रममे दर्शन हुआ । उससे प्रेरणा लेकर यही बीज १९०८ई०मे इंग्लैडके ब्राउन-सी द्वीपपर एक बाल-शिविरके रूपमे अकुरित हुआ और इस प्रकार फैला कि ८० वर्षोंसे यह 'स्काउट-गाइड-आन्दोलन' (संगठन) के नामसे सारे संसारमें फैल गया । इन अंग्रेज सेनाधिकारीका नाम था—'बेडनपावल', जो 'मेफकिंगके योद्धा' तथा 'लार्ड बेडनपावल ऑफ गिलवेल' के रूपमें सम्मानित हुए ।

इंग्लैंडसे बाहर इस संगठनके प्रसारके बावजूद जब अंग्रेज इसे भारतीय बालकोंके लिये आरम्भ करनेके लिये सहमत न हुए, तब कुछ निष्ठावान् भारतीय सज्जनोंने स्वतन्त्ररूपसे स्काउट-दल खोले, जिनमें पं० श्रीराम बाजपेयी

महामना पं० श्रीमदनमोहन मालवीय

तथा डॉ० अरुंडेलके नाम अग्रणी हैं । बादमे श्रीमती एनीबेसेंटने दक्षिण भारतमें तथा महामना मालवीयने डॉ० हृदयनाथ कुंजरू और श्रीराम बाजपेयीके सहयोगसे उत्तर भारतमें स्वतन्त्र स्काउट-संघ आरम्भ किये । इससे अंग्रेजोंको भी झुकना पड़ा । अनेक परिवर्तनोकी लम्बी कहानीके पश्चात् स्वतन्त्रता-प्राप्तिपर इन सघोका एकीकरण कर 'भारत स्काउट एवं गाइड' संगठन ७ नवम्बर १९५०ई०को बनाया गया, जिसका नेतृत्व डॉ० कुंजरू और पं० श्रीराम बाजपेयीको सौंपा गया । आज यह संगठन पूरे भारतमें फैला हुआ है और श्रीलक्ष्मणसिह इसके राष्ट्रिय कमिश्नर हैं, जिनके सफल नेतृत्वमे लगभग पंद्रह लाख

बालक-बालिकाएँ इस चरित्र-विकास और भ्रातृत्वके मिले-जुले खेलका आनन्द ले रहे हैं । वे 'सेवाके लिये तत्पर रहनेकी चेष्टा करने' का मूलमन्त्र लिये इस खेलद्वारा सर्वाङ्गीण विकासकी ओर आगे बढ रहे है ।

"वास्तवमे 'स्काउटिंग-गाइडिंग' बाहर प्रकृतिमे खेलनेका एक आनन्ददायक खेल है, जिसमे प्रौढ़-नेतृत्वमे बालक-बालिका एक साथ बड़े और छोटे भाईके रूपमे साहसिक नवीन अभ्यासोमे लग सकते है तथा आनन्द, कला-कौशल और परोपकार सीख सकते हैं ।" (बेडनपावल)

स्काउट-गाइड-प्रशिक्षण चतुर्मुखी शिक्षाकी एक योजना है, जो विश्वभरके प्रजातान्त्रिक देशोमे सर्वत्र सफल और साकार सिद्ध हुई है । इसमे—(१) चारित्रिक विकासके लिये—स्काउट-गाइड-नियम-प्रतिज्ञा, स्काउट-भावना, मूलमन्त्र, प्रकृतिका ज्ञान और सम्मान, पशुओंसे मित्रता, दूसरोकी सेवा एव सहायता, टोली-विधिमे पारस्परिक सहयोगकी भावना आदिद्वारा बालक-बालिकाओको आगे बढाया जाता है । (२) शारीरिक स्वास्थ्य और बलके विकासके लिये—व्यक्तिगत स्वास्थ्यकी स्वयं देखभाल करनेकी आदत, मादक पदार्थोसे परहेज, ब्रह्मचर्यका पालन, प्रकृतिकी गोदमे शिविर-जीवन, खेलकूद, तैरना, भ्रमण, पर्वतारोहण आदि अनेक अभ्यासोका सहारा लिया जाता है । (३) हस्तकला और कलाकौशलके विकासके लिये—शिविर-जीवन, पर्यटन, वनविद्याके अभ्यास, हस्तकला और रुचिकार्य सीखनेके अवसर, पदचिह्नोद्वारा खोज, जगलकी खोज, तारोका ज्ञान, पशु-पक्षियोका अध्ययन और वन, भूमि तथा जीव-सरक्षण और पर्यावरण-सरक्षणकी परियोजनाओके कार्यक्रम सक्रियरूपसे आयोजित किये जाते है । (४) दूसरोके प्रति सेवा-भावनाके विकासके लिये स्काउट-गाइड-प्रतिज्ञा और नियमका पालन, प्रार्थना-सभा, प्रतिदिन एक भलाईका काम करना, प्राथमिक चिकित्साका गहन प्रशिक्षण, दुर्घटनाओ और अग्निकाण्डोमे सेवा, युद्धके समयके लिये नागरिक-सरक्षाकी तैयारी, अस्पतालो और मेलोमे सेवाकार्य, श्रमदान तथा अनेक प्रकारके सेवा-कार्योके द्वारा बालक-बालिकाओको ईश्वर तथा धर्मके प्रति सम्मान करने और मानवता तथा जीव-मात्रके प्रति सेवा और सहानुभूतिसे ओतप्रोत बनाया जाता है ।

भारतमाता और स्काउट

स्काउट-गाइड-प्रशिक्षणका मूलाधार है—'स्काउट-गाइड-नियम-प्रतिज्ञाका पालन ।' प्रत्येक स्काउट-गाइड दीक्षाके समय यथाशक्ति—(१) ईश्वर एव देशके प्रति कर्तव्य पालन करने, (२) सदा दूसरोकी सेवा करने और (३) स्काउट-गाइड-नियमोंका पालन करनेकी तीन प्रतिज्ञाएँ करता है और तीन खड़ी अगुलियोसे प्रणाम करता और गणवेश धारण करता है । दस नियमोको एक पद्यमे व्यक्त किया गया है, जो इस प्रकार है—

विश्वसनीय,[१] वफादार,[२] सहायक,[३]
बन्धु,[४] विनम्र,[५] दयालु,[६] हम ।
आज्ञाकारी,[७] वीर-प्रसन्नचित्त[८]
मितव्ययी,[९] शुद्ध समीर-सम[१०] ॥

—ये दस नियम मानवताके अनमोल रत्न तथा सब धर्मोके सारपर आधारित है, जो बालक-बालिकाओके सर्वाङ्गीण विकासकी आधारशिला हैं ।

इस संगठनमे आयु और कार्यक्रमके आधारपर तीन शाखाएँ हैं—(१) ६ वर्षसे ११वर्षके 'वीर बालक' या 'वीर बाला', (२) ११वर्षसे १६वर्षतकके 'बालचर' (स्काउट या गाइड) तथा (३) १६ वर्षकी आयुसे ऊपरके युवक 'रोवर स्काउट' या 'रेंजर गाइड' कहलाते है । इनका प्रगतिशील और श्रेणीबद्ध कार्यक्रम है, जिसमे

दक्षता प्राप्त करनेपर अनेक प्रकारके बैज (पदक) दिये जाते हैं। भारतमे सर्वोच्च पदक 'राष्ट्रपति-स्काउट-गाइड' बैज या अवार्ड है, जो स्वयं राष्ट्रपति प्रदान कर बालक-बालिकाओंको प्रोत्साहित एवं सम्मानित करते हैं।

आजकल ग्रामीण अञ्चलोमे 'ग्रामीण स्काउटिंग'की विशेष योजना चलायी जा रही है। समुद्री-स्काउटिंग और नभ-स्काउटिंगकी शाखाओके नमूनेपर भारतके राजस्थान राज्यमे 'मरु-स्काउटिंग' की एक नवीन शाखाका प्रादुर्भाव हुआ है, जिसके योजनाकार और प्रवर्तक होनेका श्रेय राजस्थानके एक उत्साही स्काउट-कमिश्नर श्रीकृष्णदत्त शर्माको मिला है और विश्व-स्काउटिंगके क्षेत्रमे यह भारतका अमूल्य योगदान माना गया है। इस प्रकार अपनी विविध विधाओ और रचनात्मक कार्यक्रमोके द्वारा यह स्काउट-गाइड-संगठन विश्वभरके स्काउट और गाइडके भ्रातृत्वमे सम्मिलित होकर वर्तमान शिक्षाके सम्पूरकके रूपमे अपने बालक-बालिकाओको अपने देशके सुनागरिक बननेकी ओर अग्रसर कर रहा है। इस वर्ष संसारभरके स्काउट इस महान् आन्दोलनकी अस्सीवीं जयन्ती मना रहे हैं और वे सब इस विचारपर आगे बढ़ रहे हैं कि—

अपनी नौका खेओ आप।

श्रीकृष्णदत्त शर्मा
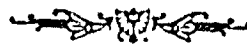
शिक्षा और संग्रहालय

(श्रीशैलेन्द्रकुमारजी रस्तोगी)

'शिक्षा' मानव-जीवनमे कभी भी समाप्त नहीं होती। उपदेश तो स्कूलके बाद नही मिलते, किंतु शिक्षा जीवनके साथ ही समाप्त होती है। 'शिक्षा' शब्द 'शिक्ष' धातुमें अ+'टाप्' प्रत्यय लगाकर बना है, जिसका अर्थ है अध्ययन। इस विश्वको शिक्षालय कहा गया है। Museum को संग्रहालय कहते है। ग्रीक मतमे 'Muse' ज्ञानकी देवीको कहते हैं, जिसका अर्थ हुआ 'ज्ञानालय'। 'संग्रह' इकट्ठा करनेको कहते है। वह स्थान जहॉ वस्तुऍ इकट्ठी हो। संग्रहालयमे मात्र वस्तुओका एकत्रित होना ही पर्याप्त नही है। वस्तुऍ तो व्यापारी या दूकानदारके यहॉ भी एकत्रित होती है, किंतु वह संग्रहालय नही है।

अस्तु, संग्रहालय वह स्थान है, जहॉ संग्रह हो और वस्तुऍ भी शिक्षात्मक ढंगसे प्रदर्शित हों। प्राय बड़े संग्रहालयोंमे कठिनाईसे दस प्रतिशत वस्तुएँ ही जनताके दर्शनके लिये वीथिकाओमे सजायी जाती है।

संग्रहालयमें बाल, युवक, वृद्ध, स्त्री-पुरुष, स्वदेशी-विदेशी, साक्षर-निरक्षर—सभी आते हैं और यदि वे रुचिसे देखे तो यहॉ उनका ज्ञानवर्द्धन (शिक्षा) एव मनोरञ्जन दोनो ही होते है। यहॉ देखकर और उसके विषयमे प्रदर्शक व्याख्याताओकी व्याख्या या लिखी परिचय-पट्टिकाओ या बड़े सग्रहालयोंमे वीथिकाओकी रनिंग कमेन्ट्री सुनकर दोहरा प्रभाव पडता है।

संग्रहालय राष्ट्रिय, प्रान्तीय, व्यक्तिगत (नेहरू), आञ्चलिक, विद्यालय, विश्वविद्यालय, मेडिकल कालेज आदिद्वारा सचालित होते है, किंतु सभीका उद्देश्य दर्शकोको

उद्बोधित करना होता है। संग्रहालयके द्वारा राष्ट्रियता, सस्कृति, कला, विज्ञान, भूगोल, इतिहास—सभीकी शिक्षा दे सकते है। टेकनिकल शिक्षाको भी संग्रहालयद्वारा दे सकते हैं। बंगलोर और चण्डीगढ़मे ऐसे ही दो विशेष संग्रहालय है।

शहीदोके चित्रो तथा उनके उपयोगमे आयी हुई वस्तुओको प्रदर्शित कर दर्शकोमे देश-प्रेम जाग्रत् किया जा सकता है। बापू, चन्द्रशेखर आदिके उपयोगमे आये खादी वस्त्र, बंदूक आदिको देखकर कौन उद्वेलित नहीं हो जाता है? उनपर किये गये अत्याचारोको चित्रोमे देखकर किसे रोमाञ्च नही हो जाता है?

यदि सग्रहालयमे कोई मूर्तियोको देखता है तो उनपर बने वस्त्र, आकृति आदिको देखकर उस कालकी सभ्यता, रहन-सहन आदिका सजीव ज्ञान प्राप्त होता है, जो मात्र पुस्तकोको पढकर नहीं प्राप्त हो सकता। मूर्तियोमे ही देशी-विदेशी लोगोको देखकर उनके नाक-नक्शे, वेश-भूषाका परिचय प्राप्त होता है। गुप्तकालीन या कुषाणकालीन सिक्कोंको देखकर राजाओकी तत्कालीन वेश-भूषा, आर्थिक स्थिति आदिका ज्ञान होता है। देव-मूर्तियोपर रौद्र एव सौम्य भावको देखकर उनके आन्तरिक भावको पढ़ा जा सकता है। शिवकी अनुग्रह-मूर्ति, प्रचण्ड ताण्डव-मूर्ति, महिषमर्दिनीकी मूर्ति या वर देती हुई सरस्वतीकी मूर्ति—इन सभीसे इनके मनोभावोकी स्थिति ज्ञात होती है। यक्ष, किन्नर, गुह्यक, वामनक आदिकी आकृतियाँ भी अपनी विशेषताओसे जानी जाती हैं।

मेरे ज्ञानमे दो ऐसी प्रतिमाएँ है, जो विद्यार्थी एवं शिक्षककी हैं। ये क्रमश राष्ट्रिय सग्रहालय नयी दिल्ली एव राज्य-सग्रहालय लखनऊमे है। प्रथम मिट्टीपर एक बालकका अङ्कन है, जो तख्तीपर अक्षराभ्यास कर रहा है। द्वितीय मूर्ति मथुरासे प्राप्त लगभग १९०० वर्ष पुरानी पुरुषकी बैठी मूर्ति है, जिसने बाये हाथसे घुटनेपर रखी पोथी पकड़ रखी है और दायाँ हाथ स्पष्ट मुद्रा बता रहा है, जैसा कि वेद-पाठ करनेवाले आज भी करते है। मुनि, साधुओके आश्रमके अङ्कनोसे भी उस समयकी धार्मिक एव सामाजिक स्थितिका भान होता है। धर्मका स्थायित्व कलासे ही प्राप्त होता है। ग्रन्थोमे प्रत्येककी गति सम्भव नही। यही कारण है कि इन प्रतिमाओ एव देवालयोके द्वारा ही भारत ही क्यो, सारे विश्वके धर्म, संस्कृति आदि भी बच सके है। अस्तु, मेरे विचारसे शिक्षाका सशक्त माध्यम सग्रहालय ही है। ये भारतमे ही शिक्षाके माध्यम नही है, अपितु सम्पूर्ण विश्वमे इन्हे शिक्षका एक अप्रतिम माध्यम माना जा सकता है।

विश्वकी सबसे बड़ी परीक्षा-संस्था—माध्यमिक शिक्षा-परिषद्

[एक परिचय]

यदि आँकडोको विकासका पैमाना माना जाय तो उत्तर-प्रदेश माध्यमिक शिक्षा-परिषद्ने एक कीर्तिमान स्थापित किया है। आज यह परिषद् परीक्षा सचालित करनेवाली विश्वकी एक सबसे बड़ी सस्था बन गयी है।

यह परिषद् सन् १९२१ ई॰मे यूनाइटेड प्राविन्स लेजिसलेटिव कौसिलके अधिनियमके अन्तर्गत प्रयागमे गठित हुई। तब परीक्षार्थियोकी संख्या नगण्य थी। सन् १९२५ई॰मे केवल ६४ परीक्षार्थियोने इस परिषद्की परीक्षा दी। तबसे इसकी परीक्षाओमे लगातार परीक्षार्थियोकी संख्यामे वृद्धि होती रही है। पहले २५ वर्षोंमें ६४ की संख्या बढ़कर ४६००० हुई, जो १९८६मे बढकर १८,३९,६३८ हो गयी। देशके किसी भी प्रदेशमे किसी परीक्षामे इतनी बड़ी संख्यामे परीक्षार्थी नही बैठते है और न विश्वके किसी देशमे ऐसा उदाहरण ही मिलता है।

परिषद्पर कार्यका भार भी इसी अवधिमें दो हजार गुनासे अधिक बढ़ा है । इस कारण परिषद्के केन्द्रीय कार्यालयद्वारा सम्पूर्ण कार्यका निष्पादन सम्भव नहीं रहा और प्रदेशभरके लोगोको भी यहाँ सीधे सम्पर्क करनेमें कठिनाई हो रही थी । इसे देखते हुए कुछ वर्ष पूर्व परिषद्के चार क्षेत्रीय कार्यालय—मेरठ, वाराणसी, बरेली और इलाहाबादमे खोल दिये गये, जो अपने क्षेत्रके जिलोका कार्य सँभालते है ।

इस विभाजनके पश्चात् भी इन क्षेत्रीय कार्यालयोपर कार्यका भार कम नही है । साधारणतया प्रत्येक क्षेत्रीय कार्यालयपर तीनसे छः लाख परीक्षार्थियोका भार रहता है ।

परिषद्के केवल ५८ अधिकारी तथा १४७९ कर्मचारी प्रतिवर्ष लाखो छात्र-छात्राओकी परीक्षा संचालित करनेका काम सँभालते हैं और भार इतना अधिक होते हुए भी समयपर परीक्षाफल घोषित हो जाते है ।

परीक्षा-संचालन और परीक्षा-फल घोषित करनेके अतिरिक्त भी परिषद्पर अन्य बहुत-सी महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ हैं । परिषद्के अन्य कार्येमि प्रमुख हैं—प्रश्नपत्रोका आकलन और पुस्तकोका लेखन तथा प्रकाशन, पाठ्यक्रम तैयार करना तथा सामान्य नीति बनाना आदि ।

समयके परिवर्तनके साथ परिषद्ने भी अपनी पद्धतिमें कई परिवर्तन और सुधार किये हैं । असफल रहनेवाले परीक्षार्थियोंके लिये पहले जो पूरक परीक्षा होती थी, उसे समाप्त करके अब ग्रेस-स्लैब-प्रणाली प्रारम्भ की गयी है ।

इसी तरह परिषद् अब व्यक्तिगत तथा संस्थागत परीक्षार्थियोंके लिये अलग-अलग परीक्षाएँ न आयोजित कर प्रतिवर्ष सभी छात्रोंके लिये १९ मार्चसे ११ अप्रैलतक परीक्षाएँ आयोजित करती है ।

परीक्षाओमें नकल और अनुचित साधनोंके प्रयोगपर रोक लगानेके उद्देश्यसे शीघ्र ही नया कानून लाया जायगा, जिससे परीक्षामें नकल एवं अनुचित साधनके प्रयोगको अपराध माना जायगा । इस कानूनद्वारा अपराधकी गम्भीरताके अनुसार दण्ड देनेका प्रावधान रहेगा । कानून-परिधिमें परीक्षार्थीके साथ-साथ परीक्षक भी आयेंगे । यह कानून सम्प्रति राज्य-सरकारके विचाराधीन है और अतिशीघ्र इसके उपयोगमें आनेकी आशा है ।

परिषद् राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिकी आकाङ्क्षाओंके अनुरूप अपनी परीक्षाओमें गुणात्मक सुधार लानेके लिये भी तत्पर है ।

शिक्षा—सामाजिक परिवर्तनके लिये

(डॉ॰ श्रीराजेन्द्ररजनजी)

लोकतन्त्र केवल एक शासन-विधिका नाम नही है, वास्तवमें यह एक सर्वाङ्गीण जीवन-दर्शन है । इस जीवन-दर्शनका सर्वोपरि सत्य 'जन' है, इसलिये जन-तन्त्रात्मक समाज-व्यवस्थामे शिक्षाका पहला दायित्व यह है कि वह समाजमे इस प्रकारकी वैचारिक चेतनाको सजीव बनाये, जिससे 'जन'की सत्ता धनी, निर्धन, ऊँच-नीच, लिग और क्षेत्रीयताके भेदभावोसे ऊपर प्रतिष्ठित हो सके । जनतन्त्रमे साहित्य, कलाकौशल, ज्ञान-विज्ञान तथा सामाजिक-आर्थिक सरचनाका केन्द्रबिन्दु 'जन' होता है ।

भारतीय परम्परामे जन—आजसे हजारो वर्ष पहले ऋग्वेदने 'जन'की व्याख्या इन शब्दोमें की थी—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास
उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः ।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो
दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥
अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।

युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा
पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥[१]

(५।५९।६, ५।६०।५)

वास्तवमे महर्षि वेदव्यासके शब्दोमे **'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्'** अथवा महाकवि चंडीदासके शब्दोमे ***'सबार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार ऊपरे नाई'*** रूप 'जन' विश्वका सबसे बड़ा ऐतिहासिक सत्य है। जैसे-जैसे सभ्यताका विकास हो रहा है, 'जन'की विराट् सत्ता सारे विश्वमे प्रखर होती जा रही है। विश्वके सभी देश इस महिमामय 'जन'की सत्ताको स्वीकार कर चुके है।

सांस्कृतिक स्वतन्त्रताके लिये शिक्षा— शताब्दियोसे विदेशी संस्कृतिके प्रभुत्वने हमारी संस्कृतिपर प्रहार किया है और उसने हमारे गॉवोकी संस्कृतिको गॅवारू और असभ्य कहा है। आज जो गॉवका विद्यार्थी पाश्चात्त्य सस्कृतिकी चकाचौंधमे भ्रान्त होकर महानगरोकी ओर दौड़ रहा है, उसमे आत्म-विश्वास जगाना शिक्षाका ध्येय है। भारतकी आत्मा ग्राम्यजीवनमे ही है। इसलिये भारतकी आत्माका साक्षात्कार जनपदीय अध्ययनसे ही सम्भव है। पुस्तकोसे जो कुछ जाना जा सकता है, वह उस तत्त्वसे बहुत दूर है, जो सचमुच जाननेयोग्य है। अपने सास्कृतिक मर्मस्थानोको पुनः स्वस्थ बनानेके लिये लोक-जीवनके अध्ययनके अतिरिक्त हमारे सामने कोई विकल्प नही है। जनपदीय अध्ययनके द्वारा हम न केवल अपने जन्म-सिद्ध संस्कारोके साथ फिरसे जुड़ जायॅगे, अपितु अपने उन पूर्वजोकी परम्पराके साथ भी हमारा मन एकरस हो जायगा, जो जनपदीय जीवनके सच्चे प्रतिनिधि थे। नयी शिक्षा-प्रणालीमे जैसे साइंटीफिक एटीट्यूडके विकासकी बात कही गयी है, वैसे ही जनपदीय दृष्टिकोणका विकास हमारी शिक्षाका महान् दायित्व है।

विडम्बना—यह कैसी विडम्बना है कि हमारी शिक्षा-नीतिके विधाता यूरोपका शिक्षा-सर्वेक्षण तो कर आते है, परंतु उन ग्रामोमे कुछ दिनो अपना जीवन व्यतीत करके ग्राम्यजीवनकी सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक, राजनीतिक परम्पराओ और आवश्यकताओका सर्वेक्षण करनेमे कठिनाईका अनुभव करते है, जिनमे हमारे देशकी अस्सी प्रतिशत जनताका निवास है। समय आ गया है कि हम इस दृष्टिकोणमे परिवर्तन करे। अब आवश्यकता है कि नये विश्वविद्यालय गॉवोमे स्थापित किये जायॅ।

आर्थिक विषमता मिटानेके लिये सम्पूर्ण क्रान्ति—आजकी हमारी अर्थव्यवस्थामे चरित्रका कोई मूल्य नही है; क्योंकि समाजमे व्यक्तिको चरित्रके कारण नही, धनके कारण सम्मान मिलता है। इसलिये धनकी स्पर्धा बढ़ती है। वेदव्यासके शब्दोमे बिना दूसरोके मर्मका भेदन किये तथा बिना दुष्कर कर्म किये बड़ी पूँजी प्राप्त नही होती—

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

(महा॰ शा॰ प॰ राजधर्मानुशासन १२)

इसीलिये श्रीमद्भागवतमे उन्होने राज्यके लिये स्पष्ट शब्दोमें यह व्यवस्था दी थी कि 'पृथ्वी, अन्तरिक्ष, प्रकृति दिव्य हैं। उनके द्वारा उत्पन्न सभी प्रकारकी सम्पत्तियॉ ईश्वर-प्रदत्त है। उनपर किसी व्यक्तिका अधिकार नही है। मनुष्योका अधिकार केवल उतने ही धनपर है जितनेसे उनकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सम्पत्तिको अपना समझनेवाला व्यक्ति चोर है तथा वह शासनके द्वारा दण्डित किये जाने योग्य अपराधी है[२]।' मनुने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि आयके साधनोकी पवित्रता

---

१. ये सब परस्पर बडे नहीं, छोटे भी नहीं हैं, परतु वे सब-के-सब उदय प्राप्त करनेवाले हैं। इसीलिये उत्साहके साथ विशेष रीतिसे बढनेका प्रयत्न करते हैं। ये सब जन्मसे कुलीन और भूमिको माता माननेवाले है। ये सब भाई-जैसे हैं तथा उत्तम ऐश्वर्यके लिये मिलकर उन्नतिका प्रयत्न करते हैं। इन सबका तरुण पिता उत्तम कार्य करनेवाला ईश्वर है। इसके लिये उत्तम प्रकारका दूध देनेवाली माता प्रकृति है।

२ दिव्य भौम चान्तरिक्ष वित्तमच्युतनिर्मितम्। तत् सर्वमुपभुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुध ॥
यावद् भ्रियेत जठर तावत् स्वत्व हि देहिनाम्। अधिक योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥ (श्रीमद्भा॰ ७।१४।७, ८)

ही सर्वोपरि है, वार-वार स्नान करनेसे कोई पवित्र नहीं होता—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

(मनु॰ ५।१०६)

परंतु पैसेकी स्पर्धा हमारे देशकी इन महती परम्पराओंपर उसी प्रकार अट्टहास कर रही है, जिस प्रकार एक दिन अंगदकी शिक्षापर रावणने अट्टहास किया था।

स्वतन्त्रताके वाद विश्वविद्यालयोंकी संख्यामें भारी वृद्धि हुई है, किंतु प्रश्न यह है कि नौकरियोंके लिये निर्धारित कागजी योग्यताका कोरम पूरा करनेके लिये डिग्रियाँ वाँटनेके अतिरिक्त इन विश्वविद्यालयोंने समाजके लिये क्या योगदान किया? हमारे आध्यात्मिक-सांस्कृतिक मूल्योंकी रक्षाके लिये उन्होंने क्या किया? जिन सामाजिक समस्याओंका सामना पूरे राष्ट्रको करना पड रहा है, उनके समाधानके लिये इन महान् संस्थाओंने क्या किया? इतना धन व्यय करनेके वाद विज्ञान, साहित्य और संस्कृतिके क्षेत्रमें विश्वविद्यालयोंकी वास्तविक उपलब्धियोंका लेखा-जोखा लेना आवश्यक है। विश्वविद्यालय समाजके मस्तिष्क हैं। क्या उनका यह कर्तव्य नहीं कि वे अपने सेवित क्षेत्रके निवासियोंकी वौद्धिक समस्याओंके संदर्भमें उनका सहयोग करे?

शिक्षाओंका दूसरा रूप—इसके विपरीत शिक्षाका दूसरा रूप वे वहुसंख्यक छोटे-छोटे विद्यालय हैं, जो दरिद्रताके आसरेमें पड़े हैं। जहाँकी छत और दीवारें प्रायः मौत वनकर खड़ी देखी जाती हैं। जहाँ अर्थाभावके कारण इतर व्यवस्थामें लगे हुए अध्यापकोंके पास विद्यार्थीको भलीभाँति शिक्षित करनेका समय नहीं है।

वौद्धिक-मानसिक दासता—हमारी वर्तमान शिक्षामें वौद्धिक दासताकी जड़ें गहरी हैं, जिनके कारण आधुनिक शिक्षित व्यक्ति अपने गाँवसे और गाँवकी जीवन-परम्परासे पृथक् हो जाता है, क्योंकि यह शिक्षा प्रत्येक विषयको इस प्रकार प्रस्तुत करती है, जैसे सव कुछ आयातित हो तथा शिक्षार्थीके मनमें अपने परिवेशके प्रति हीनताका भाव भर देती है। केवल आधुनिक वैज्ञानिक विषय ही नहीं, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, मानवविज्ञान आदि विषय भी हॉब्स, मार्क्स, अरस्तू, लॉक, एडम्स, पेस्तालात्सी, जी॰ एच॰ थामसन, नन, रॉस आदिके विचारोंके साथ न जाने मनु, वसिष्ठ, कौटिल्य, व्यास, कपिल, कणाद, पाणिनि, चरक, शंकर, वल्लभ आदिके विचारोंको समझने-समझानेका प्रयास क्यों नहीं करते? हमारे विषयोंका विभाजन नितान्त अवैज्ञानिक है। एक व्यक्ति ज्यामितिकी कठिन निर्मेय-प्रमेय और त्रिकोणमितिके प्रश्न कर लेगा, परंतु प्रतिदिन व्यवहारमें आनेवाले हिसावमें चक्कर खायेगा। गणितमें आज भी शोषक संस्कृतिकी व्याज-प्रणाली वड़ी रुचिसे समझायी जाती है। शिक्षाके नामपर जो जानकारियोंका ढेर छात्रको लेनेको कहा जाता है वह जीवनकी सचाईसे वहुत दूर है। इसी प्रकारके अध्ययनका परिणाम यह है कि सामान्य विद्यार्थीमें समाजका उपकार करनेकी क्षमता तो पर्याप्त दूरकी वात है, वह अपने जीवन, स्वास्थ्य और परिवार-जीवनके प्रति भी जागरूक नहीं वन पाता। वह विद्यालय आता है, परंतु उसमें सत्यको समझनेकी वृत्तिका विकास नहीं हो पाता। इसका कारण भारतकी धरतीसे शिक्षाका सम्वन्ध टूट जाना है।

जनपदीय दृष्टिकोणका अभाव—यह वात उपहासास्पद ही है कि हमारे विद्यार्थी दुनिया भरका हिस्ट्री, सिविक्स और मेथमेटिक्स पढ़ें, पर यदि हमारे किसान उनसे पूछें कि क्या आपने हम लोगोंकी दशाकी छानवीन कर ली? क्या आपको हम लोगोंकी आवश्यकताओंका पूरा आभास है? क्या इस भूमिके कृषि, खनिज पदार्थ, गोवंश, पशु-पक्षी, नदी, पहाड़, वनस्पति आदिके सम्वन्धमें आपको पूरा-पूरा ज्ञान है? हमारे द्रव्य-साधनोंका उपयोग कैसे हो सकता है? कौन-कौनसे उद्योग-धंधोंको हमारे यहाँ आश्रय मिलना चाहिये? तो वे मौन होकर अपने अज्ञानका प्रमाण देंगे।

जन-जागरणकी दुन्दुभि—शैक्षिक क्रान्ति—हमारा जनतन्त्रात्मक समाज दासताके संस्कारोंसे आज भी आवद्ध है। शैक्षिक क्रान्तिके द्वारा हमें उसे जगाना है। जवतक शैक्षिक क्रान्तिद्वारा जनता नहीं जागेगी, तवतक संकीर्ण सिद्धान्तोंके प्रच्छन्न आवरणमें शोषणका चक्र चलता रहेगा।

जन-जागरणके लिये तपस्विनी शैक्षिक क्रान्ति जब सिंहनाद करेगी तभी उसकी ध्वनि सुनकर दूसरोके खेतोंको चरनेवाले पशु चौकड़ी मारकर भागने लगेंगे। शैक्षिक क्रान्तिके द्वारा मिथ्याभिमानपूर्ण जीवनका खोखलापन स्पष्ट होगा। शिक्षाका दायित्व है कि वह लोगोको उनकी दैनिक समस्याओके विश्लेषणकी क्षमता प्रदान करे, जिससे लोग उन समस्याओको समझ ले जिनके कारण हमारे देशकी अस्सी प्रतिशत जनता दु:ख, दैन्य और दरिद्रतासे आक्रान्त है। शैक्षिक क्रान्ति निर्भय बनानेवाले धर्मकी प्रतिष्ठापक है। शैक्षिक क्रान्ति रुढिवादिता, जातीय-प्रान्तीय-साम्प्रदायिक सकीर्णता, अनास्था, भोगवादी जीवनदर्शन और भ्रष्टाचरणके विरुद्ध विद्रोहकी जननी है; क्योंकि समाजमे आज भी वैसी ही हठवादिता और जर्जर मान्यताएँ अपने विभिन्न स्वरूपोमें जीवित हैं, जिनके विरुद्ध बुद्ध, महावीर, ईसा, कबीर, नानक, स्वामी दयानन्द, तिलक और गाँधीने विद्रोहका स्वर ऊँचा किया था।

मनुष्योंकी बढती सख्या धरतीपर भार बनती जा रही है। चाणक्यनीतिमे एक सूक्ति है—

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

अर्थात् जिनमे विद्या, तप, दान, गुण, शील और धर्म नही हैं, वे मनुष्य-रूपमे पशु है और धरतीपर भाररूप ही हैं। सचमुच आज कोटि-कोटि मनुष्य '**साहित्यसंगीत-कलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः**'-रूप पशु-जीवनके स्तरसे ऊपर नही उठ सके हैं। दिनभर परिश्रम करके कुछ खा-पीकर बच्चोके साथ सो जाना ही उनका जीवन है और यह जीवन उनकी मजबूरी है। प्रश्न है कि आज भी वे मानवताके महान् सदेशोंसे वञ्चित और मानवताके गौरवसे अनभिज्ञ, कायर और क्लीव क्यों हैं? इसका एकमात्र उत्तर है—अशिक्षा।

दरिद्रता केवल शिक्षासे ही मिटेगी—वास्तवमे गरीब लोग अशिक्षा और अज्ञानमे छटपटा रहे है। जिस दिन वे जान जायँगे कि श्रम ही वास्तविक सम्पत्ति है, जिस दिन उनके पूर्वजोकी वेद, वेदाङ्ग, गीता, पुराण, शिल्प, कला और अध्यात्मकी सम्पत्तिका उत्तराधिकार उन्हे प्राप्त हो जायगा, जिस दिन अनन्त शाखा-प्रशाखाओमे '**पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्**' (शत० ४।३।४।३) '**प्राजापत्यो वै पुरुषः**' (तैत्तिरीय० ३।२।५।३) का उद्घोष करनेवाले वेदका गुह्यसंदेश उनतक पहुँच जायगा कि—

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति सक्राम॥

(अथर्व २।११।५)

'मनुष्य तू वीर्यवान् है, तेजस्वी है, अपनेमे आनन्दमय है और ज्योतिवाला है, तू श्रेष्टताको प्राप्त कर।'—उस दिन नया मनुष्य उठ खडा होगा। जिस दिन इनमे बीजरूपसे व्याप्त विद्या, तप, ज्ञान, दान, गुण और धर्मको विकसित करनेवाला अनुकूल परिवेश उत्पन्न हो जायगा, उस दिन धरतीका कायाकल्प होगा और मनुष्य पृथिवीपर भार बनकर न रहेगा। जन्मभर घटनेकी समस्या न रहेगी, क्योंकि शिक्षाके द्वारा वे आत्मशक्तिको पहचान जायँगे।

स्वामी विवेकानन्दके अनुसार 'हमारा अन्तिम ध्येय मनुष्यत्वका विकास करना ही है। जिस शिक्षाके द्वारा मनुष्यकी इच्छाका प्रवाह और आविष्कार सयमित होकर फलदायी बन सके, उसीका नाम शिक्षा है। हमारे देशको अब आवश्यकता है लौह-बाहुओ और फौलादी स्नायुओकी, दुर्दमनीय प्रचण्ड इच्छाशक्तिकी जो सृष्टिके अन्तःस्थित भेदों और रहस्योमे प्रवेश कर सके और जो अपने उद्देश्यकी पूर्ति प्रत्येक अवस्थामे करनेको तैयार हों, चाहे उनके लिये उन्हे समुद्रके अन्तस्तलमे जाना पडे या प्रत्यक्ष मृत्युका सामना करना पडे। हमे मनुष्यको निर्भीक बनानेवाली शिक्षा चाहिये।'

सम्पूर्ण क्रान्तिका दिन—जिस दिन मनुष्य इस प्रकारकी शिक्षाके द्वारा अपनी सम्पूर्णताको पहचान जायगा, वही दिन विश्वके इतिहासमे सम्पूर्ण क्रान्तिका होगा। विज्ञानने अभी खण्ड सत्य देखा है। सम्पूर्णता खण्डतामे नहीं, अखण्डतामे है। अभीतक हम खण्डित पृथिवी ही देख सके हैं, जो भूगोलके नक्शामे अलग-अलग रंग भरकर दिखायी जाती

है। इन अलग-अलग रंगोका ही यह रंग है कि विज्ञान संहारशक्तिके सृजनमे लगा हुआ है। जिस दिन विज्ञान इस अखण्डताको देख लेगा, उसी दिन सृजनात्मक शक्ति तेजस्विनी बन जायगी और उस दिन धरतीपर मानवता अपनी अम्लान मुसकानसे आनन्द-ही-आनन्द भर देगी। उसी दिन एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको डरायेगा नही। एक मनुष्य दूसरे मनुष्यसे यह नही कहेगा कि मै तुमसे वडा हूँ, क्योंकि मै धनी हूँ। मै तुमसे वड़ा हूँ, क्योंकि मै रूसी, अमरीकी, अग्रेज या भारतीय हूँ। मैं अधिक पवित्र हूँ; क्योंकि मै हिंदू, मुसलमान, पारसी या ईसाई हूँ।

विद्ययामृतमश्नुते—वास्तवमे विज्ञानका सच्चा विकास तभी होगा जव मनुष्यकी आत्माका विकास उसपर हावी हो जायगा और भौतिकवाद तथा आध्यात्मिक चिन्तन परस्पर पूरक बनेगे। इसके लिये भारतकी जीवन-सम्बन्धी उन धारणाओका अध्ययन करना होगा जिनके पीछे हजारो वर्षोका अटूट और अविरल चिन्तन है। कितने आक्रान्ता आये, कितने दुर्दान्त शत्रु आये, परंतु जिस देशका चिन्तन कभी घवराया नही और जो आज भी जीवित है, हमे उस देशकी संस्कृतिके उन अमृततत्त्वोको सम्पूर्ण मानवताकी शिक्षामे प्रतिष्ठित करने है, जिस देशकी संस्कृति चिर-पुरातन होते हुए भी चिर-नूतन है और समय आनेपर जिसका तेज सारे संसारको अपनी पवित्रतासे जगमगा देता है। जिस देशके अग्रजन्माने विश्वमञ्चपर खडे होकर कहा था—'ऐ संसारके लोगो ! अपने आचरणकी शिक्षा इस देशमे उत्पन्न मनीषियोसे ग्रहण करो। इस देशने विद्याको ही सर्वोच्च आदर्श माना था— **'विद्ययामृतमश्नुते।'**

स्वाधीन भारतमें राष्ट्रिय शिक्षा-नीति—एक अनुशीलन

(पं० श्रीआद्याचरणजी झा)

पराधीन भारतकी शिक्षा-नीति

पराधीन भारतकी शिक्षाका उद्देश्य भारतीयोको भारतीयतासे विमुख करना, अग्रेजी भाषाका वर्चस्व स्थापित करना और शिक्षित होनेपर उन्हे राजकीय सेवक वनाना मात्र था। इस उद्देश्यमे वे भरपूर सफल रहे, किंतु दैवयोगसे राष्ट्रमे कुछ ऐसे प्रतिभाशाली उदात्त विचारवाले व्यक्ति सामने आये, जिनके हृदयमे पाश्चात्त्य शिक्षामे दीक्षित होनेपर भी भारतीयताकी भव्य भावना और देश-प्रेमकी उत्ताल तरंगे हिलोरे लेने लगी। इस प्रकार भारतमे स्वतन्त्रताका वातावरण वनने लगा। परिणामस्वरूप देशव्यापी आन्दोलन, त्याग और वलिदानोसे देश स्वतन्त्र हुआ।

पराधीन भारतमे जहाँ शिक्षा-व्यवस्थामे निहित स्वार्थ अन्तर्निहित थे, वहाँ प्राच्य शिक्षापर कोई सीधा प्रहार न था। माध्यमिक कक्षातक संस्कृत, अरवी, फारसी अर्थात् एक प्राच्य भाषा अनिवार्य विषयके रूपमे थी तथा स्नातक कक्षातक अनिवार्य ऐच्छिक विषयके रूपमें थी। प्रान्तोंमे कुछ संस्कृत-विद्यालय, टोल, पाठशालाएँ, मदरसे, मखतव आदि विशुद्ध प्राच्य विद्याकी शिक्षण-सस्थाएँ चलती थीं। आर्थिक दुर्व्यवस्था रहते हुए भी उस समय संस्कृत एव संस्कृतज्ञोंका सम्मान था।

स्वतन्त्र भारतकी शिक्षा-नीति

भारत स्वतन्त्र हुआ। असीम उत्साह, अशेष उमग और अपराजेय देश-प्रेमकी भावनासे राष्ट्रिय ध्वज १५अगस्त १९४७ ई०को फहराया गया और आँखे मूँदकर राष्ट्रिय गान गाये गये। विश्वास था कि अव शीघ्र ही भारतीयता प्रतिष्ठित होगी, किंतु हुआ सर्वथा विपरीत। माध्यमिक कक्षातक संस्कृत आदि प्राच्य भाषाओको अतिरिक्त ऐच्छिक विषयके रूपमे कर दिया गया, जिसमे ३०से अधिक प्राप्ताङ्कको योगाङ्कमे जोडकर श्रेणी-निर्धारण होने लगा, परंतु उन अङ्कोंसे प्राप्त श्रेणी किसी भी प्रतियोगिता-परीक्षाके लिये उपयोगी नही होगी—यह भी निर्णय साथ ही था।

सबसे बड़े दुर्भाग्यकी बात तो यह हुई कि राष्ट्रभाषाके रूपमे हिंदीको भी पूर्ण स्थान नहीं मिला। १५ वर्षोंके लिये अंग्रेजी सह-भाषा बनायी गयी, जिसकी अवधि द्रौपदीके चीरकी तरह बढ़ती चली गयी। अब तो चालीस वर्षोंकी स्वतन्त्रताके बाद भी अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजियत, अंग्रेजी-माध्यमके विद्यालयो, पब्लिक स्कूलोकी संख्या महानगरोसे लेकर छोटे-छोटे गॉवोतकमे बढ़ती जा रही है। राष्ट्रस्तरीय प्रतियोगिता-परीक्षा अंग्रेजीके बिना सम्भव नही है। बिना अंग्रेजीके ज्ञानके भले ही साक्षर कहा ले, शिक्षित नहीं माने जाते। संस्कृतको अनावश्यक समझा गया अथवा मात्र एक औपचारिक स्थान दिया गया।

शिक्षा-सुधार

स्वाधीनतासे पूर्व भी कुछ शिक्षा-सुधार-समितियाँ बनी, जिनमे एक डॉ॰ राधाकृष्णन्की अध्यक्षतामे 'राधाकृष्णन्-कमेटी'के नामसे जानी गयी, दूसरी 'मुदालियर-कमीशन' बनी। उनके प्रतिवेदन भी तत्कालीन शासनको मिले, पर वे क्या हुए, कहाँ गये, भगवान् जाने। स्वाधीनताके बाद 'कोठारी-कमीशन' बना। उसने भी पूरी छान-बीन की, प्रतिवेदन दिये। उसपर प्रायोगिक प्रयास भी हुए, आज भी कुछ हो रहे हैं, किंतु कभी भी सही अर्थोंमे राष्ट्रिय शिक्षा-नीति नहीं बन सकी। फलत अंग्रेजोके शासनकालकी नीतिपर ही साधारण हेर-फेरके साथ आज भी हम चल रहे है। हिंदी माध्यम बनी नहीं और संस्कृतका मान-सम्मान घट गया। भारतीयताकी प्रतीक ये दोनो भाषाएँ उपेक्षित रही।

प्राच्य शिक्षा

सन् १९५६ ई॰ मे प्रख्यात शिक्षा-शास्त्री डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जीकी अध्यक्षतामे 'भारतीय संस्कृत-आयोग' बना। इस आयोगने राष्ट्रमे लगभग एक वर्षतक घूम-घूमकर निरीक्षण कर ३० नवम्बर, सन् १९५७ ई॰को अंग्रेजी भाषामे लगभग पाँच सौ पृष्ठोका पुस्तकाकार प्रतिवेदन तत्कालीन भारतके शिक्षा-मन्त्री मौलाना आजादको समर्पित किया। उक्त प्रतिवेदनके आधारपर सन् १९५९-६० ई॰मे सम्पूर्णानन्दजीद्वारा सर्वप्रथम वाराणसीमे संस्कृत-विश्वविद्यालयकी स्थापना हुई। २६ जनवरी, सन् १९६१ ई॰को दरभंगामे दूसरे संस्कृत-विश्वविद्यालयकी स्थापना हुई। अभी-अभी पुरी (उडीसा) मे तृतीय संस्कृत- विश्वविद्यालयकी स्थापना हुई है। दो तो चिरकालसे चल रहे हैं, किंतु तीसरा गत तीन वर्षोंसे चल रहा है। अन्य भी दो संस्कृत-विश्वविद्यालयोकी स्थापनाका निर्णय लिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त अनेकानेक केन्द्रिय संस्कृत-विद्यापीठ, राज्य-संस्कृत-शोध-संस्थान आदि भी खुले। संस्कृतोत्थानकी आशा-किरणे फूटीं, किंतु सभी विश्वविद्यालय एवं संस्थान अपने उद्देश्य और लक्ष्यसे दूर होते गये, कोई विकास नही हुआ। कुछको छोड़कर शेष अस्ताचलगामी हैं।

विभिन्न प्रयोग

इसी बीच सन् १९४८ ई॰से ही महात्मा गाँधीकी बुनियादी शिक्षा-पद्धति चलायी गयी। इसका उद्देश्य तो बडा ही पवित्र था, किंतु पता नहीं, वह पद्धति कहाँ विलीन हो गयी। हाँ, दो-चार सौ पदाधिकारी नियुक्त हो गये, कोटि-कोटि रुपये व्यय भी हुए। इसी क्रममे सन् १९५१-५२ ई॰से रात्रि-पाठशालाके रूपमे एक 'वयस्क-शिक्षा-योजना' चलायी गयी, वह भी असमय ही कालकवलित हो गयी। पुन इसी प्रकरणमे सन् १९७८ई॰मे 'जनताशासन'-कालमे तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाईके प्रयाससे 'अनौपचारिक शिक्षा—वयस्क-शिक्षा-योजना' बडे वेगसे चली। आज भी वह मात्र कागजपर चल रही है।

नयी शिक्षा-नीति

अब भारतके उत्साही युवा प्रधान मन्त्रीकी उदात्त भावनासे प्रेरित नयी शिक्षा-नीति एक नयी लहर पैदा कर रही है। २१वी सदीमे जानेके लिये उतावले व्यक्ति इस 'नयी शिक्षा-नीति'की नौकापर चढ़कर सन् १९९० ई॰तक इसी दशाब्दीमे २१वी सदीमे पहुँचनेका स्वप्न देख रहे है। बाते बड़ी अच्छी हैं। इस योजनाके प्रसंग अग्रेजी भाषामे आकर्षक मुद्रणमे ११७ पृष्ठोकी एक पुस्तक

(योजना-प्रारूप) सारे देशमे प्रसारित की गयी । इस आधारपर सारे देशके विश्वविद्यालयो, महाविद्यालयो, विद्यालयो, शिक्षण-संस्थानो, स्वैच्छिक संस्थाओंमें सर्वत्र अनेकानेक सेमिनार गोष्ठियाँ, मन्त्री-स्तरसे विश्वविद्यालय-स्तरतक, प्राचार्य-स्तरसे शिक्षक-स्तरतक, शिक्षाप्रेमी-स्तरसे प्रबुद्ध नागरिक-स्तरतक, विधायक-स्तरसे व्यापारी-स्तरतक सर्वत्र हुई । प्रतिवेदन यथास्थान भेजे गये, किंतु ऐसा लगता है कि मूलभूत बातोंपर किसीने ध्यान नही दिया । लगभग ८० कोटि भारतीय जनताकी सर्वोच्च संवैधानिक पीठ—लोकसभाके सत्तापक्षके माननीय सांसदोने भी संस्कृत-विहीन नयी शिक्षा-नीति-योजनाको निर्विरोध पारित कर दिया । सस्कृतमे ही अपने पद-गोपनीयताकी शपथ ग्रहण करनेवाले लोकसभा-अध्यक्ष भी अपनी शक्तिका उपयोग नहीं कर सके । समस्त राष्ट्रके संस्कृत-प्रेमी एवं संस्कृत-महत्त्वज्ञाता चीखते रहे, प्रस्ताव भेजते रहे, किंतु परिणाम शून्य रहा । इस तरह 'नयी शिक्षा-नीति' लागू हो गयी, चल रही है, चलती रहेगी । इस विधेयकमे भारतके भावी कर्णधार बच्चों-युवको-वयस्कोको ऐच्छिक रूपमे भी 'संस्कृत' पढ़नेका अवसर नही दिया गया । 'सस्कृत'को देशकी मुख्य शिक्षाधारासे हटा दिया गया । सारे देशमे एक हजारमें ९९९ छात्र निश्चित रूपसे सामान्य विद्यालयो-विश्वविद्यालयोंमे जाते है । हजारमे प्राय एक छात्र (वास्तवमे वह भी नहीं) येन-केन-प्रकारेण चल रही संस्कृत-सस्थामें जाते हैं । फलत· कोटि-कोटि भारतीय बच्चे सस्कृतके सामान्य-ज्ञानसे वञ्चित रहेगे । 'नयी शिक्षा-नीति' मे 'भारतीय संस्कृति', 'प्राचीन परम्परा' आदि शब्दोके आकर्षक जाल फैलाये गये हैं, किंतु क्या सम्पूर्ण राष्ट्रमे सब-के-सब यह भी नहीं समझते कि बिना संस्कृतके भारतीय सस्कृति-परम्परापर आधृत भारतीयताका ज्ञान कहाँसे होगा ? नैतिक शिक्षाके बिना नैतिक चरित्र कैसे बनेगा ? तथा नैतिकताके आधार-तत्त्वके, जो संस्कृत-वाङ्मयमे उपलब्ध हमारी परम्परागत रची-पची धरोहर है, प्रभावके बिना नैतिकता और भारतीयताका अर्थ क्या होगा ?

नयी शिक्षा-नीतिका खोखलापन

यह नयी शिक्षा-पद्धति सभीके लिये है भी नहीं । हजार क्या हजारमें एकके लिये भी नहीं है । इसकी प्रतियोगिता-परीक्षामे ग्रामीण भूखे बच्चे लखपतिके पुत्रोंके साथ बैठेंगे । चमत्कार तो यह कि करोड़पति और दाने-दानेके लिये मुँहताज—दोनों प्रकारके व्यक्तियोंके सभी व्ययभार समानरूपमें भारत-सरकार वहन करेगी, जो प्रतिछात्र लगभग एक हजार रुपये मासिक है । समानताका इससे अच्छा परिहास सम्भवतः दूसरा नहीं होगा । सामान्य ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति भी समझते है कि इस प्रतियोगितामे केवल पैरवी-पुत्रोंके ही प्रवेश होगे, दो-चार अपवादोंको छोडकर । इस शिक्षा-नीतिको स्वोपार्जनमूलक-शिक्षाके रूपमे घोषित किया गया है । क्या १० वर्षकी आयुसे ही पब्लिक स्कूलके ठाट-बाटमें पलनेवाले, छुरी-काँटा-चम्मचसे डाइनिंग टेबुलपर खानेवाले, मर्करी-प्रकाशित विद्युत्-व्यजन-चालित कक्षमे रहने-पढ़नेवाले बच्चे चरखा चला सकेंगे ? कृषि-कार्य करेंगे ? सिलाई-धुलाई करेंगे अथवा पचहत्तर प्रतिशत ऐसे भारतीयोंके साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर चल सकेंगे, जो गंदी बस्तियोंके गहन अन्धकारमे जनमते, जीते और मर रहे है ?

अद्यतन दुःखद स्थिति

वर्तमान शिक्षा-प्रणालीमें पले-पढ़े-पढाते महानुभाव क्या कर रहे है, इसपर कौन विचार कर रहा है ? उद्दण्डता, उच्छृङ्खलता, स्वेच्छाचारिता ही 'स्वतन्त्रता' शब्दकी प्रयोगात्मक व्याख्या है । शिक्षण-संस्थाओमे शिक्षा और परीक्षा दोनोंकी स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक है । इस सम्बन्धमे विचार करनेसे निराशा ही हाथ आती है । यही स्पष्ट स्थिति है, यही स्वतन्त्र भारतकी राष्ट्रिय शिक्षा-नीति है और इसीमे हम पल रहे है ।

दैवयोगसे देशके विभिन्न भागोमें कुछ-न-कुछ प्रतिभा प्रकट ही होती रहती है, जो सरस्वतीके वरदपुत्र होते हैं, वे चरित्रवान्, निष्ठावान् और परिश्रमी भी । आवश्यकता है उन सभीको एक मञ्चपर लाने और प्रतिष्ठित करनेकी, साथ ही उन्हे सक्रिय बनाकर शिक्षा-जगत्मे नीति, नैतिकता

और न्यायकी प्रतिष्ठा करनेकी। मात्र सरकारकी ओर देखना उचित नहीं है। स्वयंसेवी संस्थाओं और भारतीय संस्कृतिके वरदपुत्रोको हाथ मिलाकर आदर्श शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित करके मानक प्रस्तुत करना चाहिये। साथ ही उनके ही द्वारा भारत-भारतीयता-भारतीय संस्कृतिके त्रिवेणी-संगमपर खड़े होकर राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिका निर्धारण करना चाहिये। सरकार और सरकारी तन्त्रकी ओर कातर-दृष्टि रखनेका अवसर समाप्त हो चुका है।

बालकोंकी शिक्षा

(श्रीबालेश्वरदयालजी बाजपेयी)

किसी भी व्यक्तिको सुशिक्षित बनानेके लिये यह आवश्यक है कि बाल्यावस्थासे ही उसकी प्रवृत्तियोपर ध्यान रखा जाय। प्रस्तुत लेखमें ऐसे कुछ सूत्र संकलित किये गये हैं, जो बालकके भावी जीवनको उन्नत बनानेके लिये अनिवार्य-रूपसे सहायक सिद्ध होगे।

बच्चोकी चित्तवृत्ति प्राय· चपल होती है, अतः उन्हे शिक्षित करनेसे पहले उनके पास कुछ स्थिर खिलौने लानेके लिये ये अत्यन्त अपेक्षित हैं। बच्चोमे ईश्वर, माता-पिता, गुरुके प्रति आस्तिक एवं प्रतिष्ठाका भाव तथा भारतीय संस्कृतिपर निष्ठाभाव उत्पन्न करना चाहिये। प्रार्थनाद्वारा भी बच्चोको शिक्षा तथा अभ्यासद्वारा भुक्ति और मुक्तिके लिये सक्षम बनाना प्रत्येक माता-पिता-गुरु और समाजका महान् कर्तव्य है।

शिक्षा—बच्चोको तीन एवं पाँच वर्षकी आयुके

सेवा

आदि रखकर शान्त-एकाग्र बनानेकी आदत डालनी चाहिये। उन्हे भयकर स्वरूपो, डरावने चित्रो, सभी प्रकारके चलचित्रो, सिनेमा, टी० वी० आदिसे बचाना चाहिये।

सभी जीवोके शरीर एवं मन योगवाही होते हैं। उनमे किसी प्रकारके सम्पर्कसे गुण-दोषका आ जाना स्वाभाविक है। इसलिये बच्चोको कुसंग एवं शारीरिक तथा मानसिक रोगोके संक्रमणसे सदा बचाना चाहिये।

बच्चोमे अपनेसे बडोके प्रति अभिवादन और नमस्कारकी आदत डालनी चाहिये। नम्रता एवं कृतज्ञ-भाव बीचसे ही अपनी सनातन वर्णमाला (लिपि) के जो शिवजीके डमरूकी ध्वनिसे निकली हुई वर्णमाला है, जिसे आजकल हिंदी-वर्णमाला कहते हैं, लिखने-पढ़नेका अभ्यास कराना चाहिये। पाँच वर्षकी आयुके पश्चात् विद्यालयीय प्रवेशके साथ पठन-प्रणाली प्रारम्भ करा देनी चाहिये।

बिना सदाचारकी शिक्षा दिये बच्चोका चरित्र सच्चरित्र नहीं बन पाता, शिक्षामें भी अच्छा विकास नहीं हो पाता, बच्चे समाजके अच्छे नागरिक नहीं बन पाते, अतः

गुरु-सेवा

शिक्षा प्रारम्भ करनेके साथ सदाचारकी शिक्षा भी प्रारम्भ कर देनी चाहिये ।

लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत् ।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रमिवाचरेत् ॥

भक्ति-पूजा

शिक्षा एवं सदाचारके निमित्त 'बच्चोका पाँच वर्षकी अवस्थातक लाड-प्यार और दस वर्षकी अवस्थातक स्नेहिल अनुशासन करना चाहिये, तत्पश्चात् सोलहवे वर्षके प्राप्त होनेपर पुत्रके साथ मित्रवत् व्यवहार करना चाहिये ।'

बालकोको रातमे जल्दी सोने, ब्राह्ममुहूर्तमे उठने, ईश्वर-चिन्तन करने, शौचादि कार्यसे निवृत्त होने और अपना पाठ याद करनेका अभ्यास करना चाहिये । दिनचर्या, रात्रिचर्या नियमतः करनी चाहिये । समय व्यर्थ नष्ट नही करना चाहिये । सत्य तथा मधुर-भाषी होना चाहिये । अतिथि-सत्कारकी भी आदत डालनी चाहिये । अभक्ष्य-भोजन एवं मादक द्रव्य या बुरी आदतो एवं कुसंगसे बचना चाहिये । सभीके साथ सद्भाव एवं प्रेमभावसे ही रहना चाहिये । आपसमें विवाद नहीं करना चाहिये । गुरु, परिवार, आश्रितजन, पशु-पक्षी, भूखे-प्यासे, दीन-दुखी, अपाहिज, याचक, पड़ोसीजनोका सत्कार करना चाहिये एवं उनका मन प्रसन्न रखना चाहिये । यथाशक्ति प्राणिमात्रकी सेवा जो एक तप है—करनेकी आदत डालनी चाहिये । परस्परमे बाँटकर खानेकी प्रवृत्ति बनानी चाहिये । उपार्जनमे न्यायपूर्वक नियमित लाभ लेना ही समाजके लिये श्रेयस्कर है ।

काकचेष्टा वकुलध्यानं श्वाननिद्रा तथैव च ।
स्वल्पाहारो गृहत्यागी छात्रस्य पञ्च लक्षणम् ॥

'कौए-जैसी चेष्टा, बगुला-जैसा ध्यान, कुत्ते-जैसी नींद, स्वल्पाहार और गृहका त्याग—विद्यार्थियोके लिये ये पाँच श्रेयस्कर लक्षण हैं ।'

रामायण, श्रीमद्भागवत, गीता, रामचरितमानस आदिका स्वाध्याय प्रतिदिन आवश्यक है ।

बाल-शिक्षाका वास्तविक रूप

(श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश')

भारतमे आजकल बालकोको जो शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हो रही है, वह भारतीय संस्कृतिके लिये तो घातक है ही, उन बालकोके लिये भी अत्यन्त हानिकर और उनके जीवनको असंयमपूर्ण, रोगग्रस्त, दुःखी बनाकर अन्तमे मानव-जीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रखनेवाली है । अधिकांश बुद्धिमान् सज्जन बहुत विचार-विनिमयके अनन्तर इसी निर्णयपर पहुँचे हैं कि हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमारे बालकोके लिये सर्वथा अनुपयोगी है । त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोका जो अनुभव था, वह सब प्रकारसे इस लोक और परलोकमे कल्याणकारक था । पर आज हमलोग उनके अनुभवके लाभसे वञ्चित हो रहे हैं, क्योंकि उन महानुभावोकी जो भी शिक्षा है, वह शास्त्रोमे है तथा अन्य प्रकारके व्यर्थके कार्योमे समय खो देनेके कारण समयाभावसे और श्रद्धा-भक्ति-रुचिकी कमीसे हमलोग शास्त्र पढ़ते नहीं, अत· उनसे प्राय. अनभिज्ञ रहते है । हमारी संतोन तो इनके ज्ञानसे प्राय· सर्वथा शून्य है और होती जा रही है । इसलिये भारतीय संस्कृतिके प्रति श्रद्धा रखनेवालो तथा बालकोके सच्चे शुभ चिन्तकोको ऐसी शिक्षा-पद्धति बनानेका प्रयत्न करना चाहिये, जिससे बालक-बालिकाओमे वर्णाश्रमधर्म, ईश्वरभक्ति, माता-पिताकी सेवा, देवपूजा, श्राद्ध, एकनारीव्रत, सतीत्व आदिमे श्रद्धा उत्पन्न हो । साथ ही अभिभावकोको स्वयं इनका पालन करना चाहिये । जो अभिभावक स्वय सद्गुण-सदाचारका पालन नही करता, उसका बच्चोपर असर नही हो सकता । ऐसी उत्तम शिक्षाके लिये गीता, भागवत, रामचरितमानस, वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण, महाभारत, जैमिनीय अश्वमेध, पद्मपुराण, मनुस्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थोका स्वय अध्ययन करना चाहिये और बालक-बालिकाओको कराना चाहिये । यदि प्रतिदिन अपने घरमे चाहे एक घंटा या आधा घंटा ही हो, सब मिलकर इन ग्रन्थोका क्रमसे अध्ययन करें तो बालकोको घर बैठे ही शास्त्र-ज्ञान हो सकता है । इस प्रकारके अभ्याससे ऋषि, मुनि, महात्मा, शास्त्र, ईश्वर और परलोकमे श्रद्धा-विश्वास बढ़कर बालकोंका स्वाभाविक ही उत्थान हो सकता है तथा बालक आदर्श बन सकते हैं । बालकोकी उन्नतिसे ही कुटुम्ब, जाति, देश और राष्ट्र तथा भावी संतानकी उन्नति हो सकती है । अतः बालकोके शिक्षण और चरित्रपर अभिभावकोको विशेष ध्यान देना चाहिये ।

वर्तमान शिक्षा-सस्थाओमे बालकोको ईश्वर-भक्ति और धर्म-पालनकी शिक्षाका देना तो दूर रहा, इनका बुरी तरहसे विरोध किया जाता है । ईश्वर और धर्मकी हँसी उड़ायी जाती है और कहा जाता है कि धर्म ही हमारे पतन और अवनतिका हेतु है एव बालकोमे इस प्रकारके मिथ्या सिद्धान्त भरे जाते हैं कि 'आर्यलोग बाहरसे भारतमे आये है, चार-पाँच हजार वर्षोसे पूर्वका कोई इतिहास नहीं मिलता तथा जगत् उत्तरोत्तर उन्नत हो रहा है ।' इन भावोसे धर्म और ईश्वरके प्रति अनास्था होकर उनका घोर पतन हो रहा है । इसलिये उन्हे धर्मका ज्ञान होना असम्भव-सा होता जा रहा है । आजकलकी प्रणालीके अनुसार बच्चा जब छ-सात वर्षका होता है तभी हम उसे पढ़नेके लिये स्कूलमे भेज देते हैं, वहाँ धर्मज्ञानसे रहित अपरिपक्वमति तथा कालेजोसे निकले हुए प्रायः प्राचीनताके विरोधी नये अध्यापकोके साथ उच्छृङ्खल वातावरणमे रहकर जब वह लगभग सोलह वर्षका होता है तब उसे कालेजमे भेज देते हैं । वह बीस वर्षकी आयुतक कठिनतासे बी० ए० पास कर पाता है, परतु जब वह बी० ए० पास होकर घर आता है, तब अपने माँ-बापको मूर्ख समझने लगता है और हमारी बची-खुची भारतीय संस्कृतिके पुराने सस्कारोंको देखकर हँसी उडाता है; क्योंकि समय और श्रद्धाके अभावके कारण ऋषि-मुनियोंकी भारतीय संस्कृतिसे युक्त ग्रन्थ उसके सम्मुख नहीं आते, इसलिये वह इन सबसे अनभिज्ञ रहता है । ऐसी परिस्थितिमें हमारे बालक हमारे प्राचीन अनुभवी

ऋषि-मुनियोकी आर्य-संस्कृतिके लाभसे वञ्चित नहीं रहेंगे तो और क्या होगा ?

शिशु-कक्षासे लेकर विश्वविद्यालयोंकी उच्च कक्षाओं-तकके विद्यार्थी आज धर्म-ज्ञान-शून्य पाये जाते हैं, यह इसी वर्तमान शिक्षाका दुष्परिणाम है । यहाँतक कि उनमें भारतीय शिष्टाचारका भी अभाव होता चला जा रहा है, यह बड़े ही खेदकी बात है ।

प्राचीन भारतीय शिष्टाचार या धर्मके सेवनसे लाभ

धर्मको दृष्टिमे रखकर बालकोके लिये अब यहाँ कुछ विशेष उपयोगी बातें लिखी जा रही हैं । बालकको चाहिये कि वह आलस्य, प्रमाद, भोग, दुर्व्यसन, दुर्गुण और दुराचारोको विषके समान समझकर उन्हें त्याग दे एवं सद्गुण-सदाचारका सेवन, विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोकी एवं दुःखी अनाथ प्राणियोकी कर्तव्य समझकर नि स्वार्थ-भावसे सेवा तथा ईश्वरकी भक्तिको अमृतके समान समझकर उसका श्रद्धापूर्वक सेवन करे । यदि इनमेसे एकका भी निष्कामभावसे पालन किया जाय तो कल्याण हो सकता है, फिर सबका पालन करनेसे तो कल्याण होनेमे सदेह ही क्या है ।

छ. घंटेसे अधिक सोना, दिनमे सोना, असमयमे सोना, काम करते या साधन करते समय नींद लेना, काममे असावधानी करना, अल्पकालमे हो सकनेवाले काममे अधिक समय लगा देना, आवश्यक कामके आरम्भमें भी विलम्ब करना तथा अकर्मण्यताको अपनाना आदि सब 'आलस्य'के अन्तर्गत हैं ।

मन, वाणी और शरीरके द्वारा न करनेयोग्य व्यर्थ चेष्टा करना तथा करनेयोग्य कार्यकी अवहेलना करना—'प्रमाद' है ।

ऐश-आराम, स्वाद-शौक, फैशन-विलासिता आदि विषयोका सेवन, इत्र-फुलेल, सेट-पाउडर आदिका लगाना, शृंगार करना, नाच-सिनेमा आदिका देखना, विलास तथा प्रमादोत्पादक क्लबोमें जाना आदि सब 'भोग' है ।

बीड़ी, सिगरेट, गाँजा, भाँग, चरस, कोकिन, अफीम, आसव आदि मादक वस्तुओंका सेवन, चौपड-ताश, शतरंज खेलना आदि सब 'दुर्व्यसन' हैं ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, अभिमान, अहंकार, मद, ईर्ष्या आदि 'दुर्गुण' हैं ।

हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, मांस-भक्षण, मदिरापान, अंडे खाना, जूठन खाना, जुआ खेलना आदि 'दुराचार' हैं ।

संयम, क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य, निष्कामता आदि 'सद्गुण' हैं ।

यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत और सेवा-पूजा करना तथा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्यका पालन करना आदि 'सदाचार' है ।

इनके अतिरिक्त विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोकी सेवा तथा ईश्वरकी भक्ति—ये सभी परम आवश्यक और कल्याणकारी हैं । इसलिये बालकों और नवयुवकोंसे हमारा निवेदन है कि वे निष्कामभावसे उपर्युक्त साधनोद्वारा अपने जीवनके स्तरको ऊँचा उठायें, उसका पतन न होने दें ।

युवकोसे भी हमारा निवेदन है कि वर्तमानमें जो बहुत ही नैतिक पतन हो रहा है, इससे बचकर अपनी आत्माको ऊपर उठाये तथा जिससे इस लोक और परलोकमे परम कल्याण हो, वही आचरण करे । सच्चे हृदयसे ऐसा प्रयत्न करें, जिसमे अपनी भौतिक और बौद्धिक, व्यावहारिक और सामाजिक, नैतिक और धार्मिक तथा आध्यात्मिक या पारमार्थिक उन्नति हो, मानव-जीवन सफल हो, यहाँ अभ्युदयकी और अन्तमे मुक्तिकी प्राप्ति हो ।

अन्तमें भारत-सरकारके सभी शिक्षाशास्त्रियों एव विद्वानोसे यही नम्र निवेदन है कि धार्मिक शिक्षाको भी यथाक्रमसे अनिवार्य बनाया जाय । आज सभी पाश्चात्त्य देशोमे अपने-अपने धर्मानुसार धार्मिक शिक्षा परम्परागत चालू है । तब भारत क्यो पिछड़े, जो सदासे धर्मपरायण रहा है । धार्मिक शिक्षासे लोगोमें अच्छे संस्कार उत्पन्न होगे एवं देशका सर्वाङ्गीण कल्याण होगा । आशा है भारतके सभी धर्माचार्य इसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए कोई ठोस क्रियात्मक रूप राष्ट्र एवं समाजके हितार्थ बनायेगे ।

शिक्षार्थीके लिये ब्रह्मचर्याश्रमकी अनिवार्यता

वास्तवमे 'ब्रह्मचर्य' शब्दका अर्थ है—ब्रह्मके स्वरूपमें विचरण करना अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपका मनन करना। जिसका मन नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्दब्रह्ममें विचरण करता है, वही सच्चा ब्रह्मचारी है। इसमे प्रधान आवश्यकता है—शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके बलकी। यह बल प्राप्त होता है—वीर्यकी रक्षासे। इसलिये सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना कहा जाता है। अत बालकोको चाहिये कि न तो ऐसी कोई क्रिया करे, न ऐसा संग ही करे तथा न ऐसे पदार्थोका सेवन ही करे कि जिससे वीर्यकी हानि हो।

सिनेमा-थियेटरोमे प्राय· कुत्सित दृश्य दिखाये जाते हैं, इसलिये बालक-बालिकाओको सिनेमा-थियेटर कभी नहीं देखना चाहिये और सिनेमा-थियेटरमे नट-नटी तो कभी बनना ही नहीं चाहिये। इस विषयके साहित्य, विज्ञान और चित्रोको भी नहीं देखना-पढ़ना चाहिये; क्योंकि इसके प्रभावसे स्वास्थ्य और चरित्रकी बड़ी भारी हानि होती है और दर्शकका घोर पतन हो सकता है।

लड़के-लड़कियोका परस्परका संसर्ग भी ब्रह्मचर्यमे बहुत घातक है। अत· इस प्रकारके संसर्गका भी त्याग करना चाहिये तथा लडके भी दूसरे लडको तथा अध्यापकोके साथ गदी चेष्टा, सकेत, हँसी-मजाक और बातचीत करके अपना पतन कर लेते है, इससे भी लडकोको बहुत ही सावधान रहना चाहिये। लडके-लडकियोको न तो परस्परमे दुर्भावसे किसीको देखना चाहिये न कभी अश्लील बातचीत और हँसी-मजाक ही करना चाहिये, क्योंकि इससे मनोविकार उत्पन्न होता है। प्रत्यक्षकी तो बात ही क्या, सुन्दरताकी दृष्टिसे चित्रमे लिखी हुई स्त्रीके चित्रको पुरुष और पुरुषके चित्रको कन्या कभी न देखे। पुरुषको चाहिये कि माता-बहन और पुत्री ही क्यो न हो, एकान्तमे कभी उनके साथ रहे ही नही। श्रीमनुजी कहते है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(२।२१५)

'माता, बहन या लड़कीके साथ भी एकान्तमे न बैठे; क्योंकि इन्द्रियोका समूह बडा बलवान् है, वह विद्वान्को भी अपनी ओर खीच लेता है।' ऐसे ही स्त्रीको भी अपने पिता, भाई और युवा पुत्रके पास भी एकान्तमे नहीं बैठना चाहिये।

बालकोको आठ प्रकारके मैथुनोका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। शास्त्रोमे आठ प्रकारके मैथुन इस प्रकार बतलाये गये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

'स्त्रीका स्मरण, स्त्री-सम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोके साथ खेलना, स्त्रियोको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका निश्चय करना और सकल्प करना तथा स्त्री-सङ्ग करना—ये आठ प्रकारके मैथुन माने गये है।'

जिस प्रकार बालकोके लिये बालिका या स्त्रियोका स्मरण आदि त्याज्य है, वैसे ही बालिकाओके लिये पुरुषो और बालकोके स्मरण आदि त्याज्य हैं। यदि कहे कि इनमे और सब बातोका तो त्याग किया जा सकता है, किंतु समयपर बातचीत तो करनी ही पड़ती है, सो ठीक है। लड़कीका कर्तव्य है कि किसी पुरुष या बालकसे आवश्यक बात करनेका काम पडे तो नीची दृष्टि करके उसे पिता या भाईके समान समझकर शुद्ध भावसे बात करे तथा बालकको चाहिये कि किसी स्त्री या लड़कीसे आवश्यक बात करनेका काम पड़े तो नीची दृष्टि करके उसे माता-बहनके समान समझकर शुद्ध भावसे बात करे।

मनमे विकार पैदा करनेवाले वेष-भूषा, साज-शृगार, तेल-फुलेल, केश-विन्यास, गहने-कपड़े, फैशन आदिका विद्यार्थी बालक-बालिका सर्वथा त्याग कर दे। ऐसी

संस्थाओ, स्थानो, नाट्य-गृहो, उत्सवस्थलों, क्लबों, पार्टियों, भोजों, भोजनालयो, होटलों और उद्यानोंमे भी न जायें, जहाँ विकार उत्पन्न होनेकी तथा खान-पान और चरित्र-भ्रष्ट होनेकी जरा भी आशंका हो । सदा सादगीसे रहें और पवित्र सादा भोजन करे । इस प्रकार बालक-बालिकाओको ऊपर बताये हुए नियमोंका आचरण करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये ।

श्रीहनुमान्‌जीने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, जिसके प्रभावसे वे बड़े ही धीर-वीर, तेजस्वी, ज्ञानी, विरक्त, भगवान्‌के भक्त, विद्वान् और बुद्धिमान् हुए ।

भीष्मपितामहने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया था, यह वात महाभारतके आदिपर्वसे सिद्ध होती है । दाशराजके यहाँ जाकर अपने पिताके लिये सत्यवतीको लानेके समय भीष्मने अपने राज्यके अधिकारका त्याग किया और आजीवन विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा करके आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, इससे संतुष्ट होकर उनके पिता शन्तनुने उन्हें वरदान दिया कि 'तुम्हारी इच्छाके विना तुम्हे मृत्यु नहीं मार सकेगी ।'

यदि आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन न हो सके तो आजकलके समयके अनुसार अठारह वर्षतक तो बालकोको अवश्य ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये । इससे पूर्व ब्रह्मचर्य खण्डित होनेसे शीघ्र ही वल, बुद्धि, तेज, आयु और स्मृतिका क्षय हो जाता है तथा रोगोंका शिकार होकर शीघ्र ही कालके मुखका ग्रास वनना पड़ता है । यह वात शास्त्रसंगत तो है ही, युक्तिसंगत भी है, गम्भीरतासे सोचनेपर प्रत्यक्ष अनुभवमें भी आती है । अतएव ब्रह्मचर्य कभी खण्डित न हो, इसके लिये विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि ब्रह्मचर्यके पालनसे वल, बुद्धि, वीर्य, तेज, स्मृति, धीरता, वीरता और गम्भीरताकी वृद्धि होकर उत्तम कीर्ति होती है तथा ईश्वरकी कृपासे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और सद्गुण-सदाचारकी तथा परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति भी हो सकती है । प्राचीनकालमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये व्रह्मचारीगण ब्रह्मचर्यका पालन करते थे । कठोपनिषद्‌में बतलाया गया है—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।

(१।२।१५)

'जिस परमपदकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उसे मैं तुम्हें संक्षेपसे बताता हूँ—'ओम्' यही वह पद है ।' इसलिये वालकोको व्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

वर्तमान शिक्षा-व्यवस्थामें संस्कृतका उपयोग

(संकलनकर्ता-श्रीमहेन्द्रकुमारजी वाजपेयी, 'सरल' शास्त्री, साहित्यरत्न, एम्० ए०, एल्० टी०)

ऐसा कहा गया है कि सन् १९८६ ई० तक शिक्षाकी समस्त उपलब्धियो और असफलताओको तथा देशकी वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों—विशेषकर समाजके विभिन्न वर्गोंमें व्याप्त विषमताओ तथा वड़ी तेजीसे होनेवाले वैज्ञानिक तकनीकीके विकासके कारण उत्पन्न परिवर्तनों—को ध्यानमें रखकर 'राष्ट्रिय शिक्षा-नीति' का निर्माण किया गया है । विचारणीय विषय यह है कि यह घोषणा वर्तमान स्थितियोकी दृष्टिसे कहाँतक उचित है ।

राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिके मुख्य विषय ये हैं—प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षाके लिये राष्ट्रिय पाठ्यक्रमकी रूपरेखा, शिक्षकोंके लिये व्यावसायिक आचार-संहिता, शैक्षिक विकासके लिये सामुदायिक प्रतिभागिता, वाञ्छित वर्गोंके लिये समान अवसरका प्रावधान, राष्ट्रिय एकताके प्रोत्साहन-मूल्योकी शिक्षा, नैतिक शिक्षा, जन-माध्यमका प्रयोग, स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षा, सामान्य शिक्षामे विज्ञानका अध्यापन, स्काउट एवं गाइड, विद्यालयोंमें खेलकूद तथा पाठ्य-सहगामी क्रियाओंका

आयोजन और अध्यापक-स्व-मूल्याङ्कन । उक्त मुख्य विषयोमे योगासनोपर भी विशेष ध्यानका प्रावधान है । यह सब तो ठीक है, किंतु साथ ही जो इसमे आगे कहा गया है कि 'अग्रेजी हमारे लिये ऐसा ज्ञानका झरोखा है, जिसमे ज्ञानके विभिन्न क्षेत्रोकी जानकारी संगृहीत होकर उपलब्ध है ।' यह बात सस्कृतके परिप्रेक्ष्यमे सच नहीं है ।

सन् १८३५ ई०मे गवर्नर जनरल विलियम बेटिंकके विधि-सलाहकार लार्ड मैकालेने उच्च शिक्षाका माध्यम 'संस्कृत' आदिके स्थानपर अंग्रेजीको अनिवार्य करके 'नयी शिक्षा-पद्धति' चलायी थी, जिसका उद्देश्य मात्र व्यापार एवं प्रशासनके लिये लिपिक तैयार करना था । लार्ड कर्जनने इसपर नया पानी चढाया । फिर क्या था, मात्र अग्रेजी भाषा विद्वत्ता एव सभ्यताका पर्याय बनने लगी । विदेशी वेश, भाषा, सभ्यता अपनानेवाले सभ्य और भारतीय संस्कृतिके परिपालक मातृभाषाका प्रयोग करनेवाले देहाती, अनपढ़ और गॅवार कहे जाकर तिरस्कृत होने लगे ।

यद्यपि स्वामी दयानन्द सरस्वती, लोकमान्य तिलक, गोखले, विवेकानन्द, महामना मालवीय और महात्मा गॉधी आदिने भारतीय सस्कृतिके अभ्युत्थान-हेतु बहुत प्रयास किया, तथापि स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद गोरे तो चले गये, किंतु हमारी ऑखोपर लगा गोरी सस्कृतिका चश्मा छोड़ गये ।

सन् १९८५ ई०मे नयी शिक्षा-नीतिकी सलाहकार-समितिने सम्भवत उस कार्यको भी पूरा करनेकी योजना बनायी जिसे मैकाले भी न कर सका था । त्रिभाषा-सूत्रमे सस्कृतके लिये कोई स्थान नही रखा गया । इसके अनुसार प्रथम भाषाके रूपमे मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा होगी । अहिंदीभाषी क्षेत्रोके लिये हिंदी या अंग्रेजी, हिंदीभाषी प्रान्तोमे द्वितीय भाषाओमेसे कोई एक अथवा अंग्रेजी होगी । तृतीय भाषाके रूपमे अहिंदीभाषी प्रान्तोमे हिंदी अथवा अंग्रेजी अथवा आधुनिक भारतीय भाषाओमेसे कोई एक होगी, जिसे द्वितीय भाषाके रूपमे नही पढा गया है । ध्यान देनेकी बात है—एक ओर राष्ट्रिय एकता और अखण्डताको पुष्ट करनेके नारे लगाये जा रहे हैं तथा दूसरी ओर हिंदी एवं अहिंदीभाषी राज्योके बीच विभाजनकी सुदृढ भित्तिका निर्माण किया गया है । अब जिनकी मातृभाषा हिंदी है, वे हिंदी और जिनकी उर्दू है, वे उर्दू पढेगे । इस प्रकार उर्दूभाषी क्षेत्रोमे राष्ट्रभाषा हिंदीकी भी अनिवार्यता समाप्त कर दी गयी ।

इस नीतिके अनुसार मातृभाषा (हिंदी/उर्दू) के अतिरिक्त प्रत्येक छात्रको, चाहे वह ग्रामीण क्षेत्रका हो या नगरका, अग्रेजी तो अनिवार्यतः पढनी पडेगी, साथ ही एक आधुनिक भारतीय भाषा भी । पर इसमे आधुनिक भारतीय भाषाओकी जो सूची दी गयी है उसमें संविधानकी आठवी अनुसूचीमे उल्लिखित १५ भाषाओमें संस्कृतका उल्लेख नही है ।

संस्कृत आदिकालसे राष्ट्रिय एकता, ज्ञान-विज्ञान, नैतिकता एवं संस्कृतिकी पोषिका रही है । न केवल समग्र भारत प्रत्युत संसार उसे समादरकी दृष्टिसे देखता है । संस्कृत सभी क्षेत्रोमे सभी लोगोंके लिये समादरणीय रही है और आज भी है । इसे प्रोत्साहित करके सम्भवत हम भाषावादको समाप्त करनेमे अवश्य ही सक्षम होगे । साथ ही हम अपनी सास्कृतिक धरोहरको भी अक्षुण्ण बनानेके साथ-साथ उसका विकास करनेमे भी सहयोगी सिद्ध होगे, क्योंकि वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, स्मृतियॉ, सांख्य, योग, मीमासा, वैशेषिक, बौद्ध, जैन दर्शन, सर्वथा वैज्ञानिक पाणिनीय व्याकरण, कालिदासादिके काव्य, शंकरका अद्वैत—सभी कुछ संस्कृतमे सुरक्षित हैं । हिंदुओके अतिरिक्त अन्य जातियोके लोग भी इस विशाल साहित्यका लाभ अवश्य ही उठाना चाहेगे ।

हिंदी ही नही, देशकी अधिकाश भाषाओकी जननी अथवा मातामही संस्कृत है । मूल अथवा परिवर्तित रूपमे बड़ी मात्रामे सस्कृत शब्द विभिन्न भाषाओंमे समाविष्ट है । आधुनिक ज्ञान-विज्ञान जानने-सीखनेके लिये तथा शब्द-सम्पदाकी अभिवृद्धिके लिये हम संस्कृतकी ही धातुओ, उपसर्गो तथा प्रत्ययोका आश्रय लेकर आवश्यक नवीन शब्दोका निर्माण करते हैं । इसीपर आधृत होती है— युगकी प्रगति । अरेवियातक फैले हुए अखण्ड भारतका समग्र प्राच्य साहित्य सुरभारतीमे ही निवद्ध है ।

विज्ञान, कला, गणित, साख्यिकी, इतिहास, भूगोल,

खगोल, धर्मशास्त्र, विधि, निषेध, कानूनशास्त्र, ज्योतिष, चिकित्सा-विज्ञान, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, राजनीति, शिल्प और स्थापत्य, परमाणु-विज्ञान (ब्रह्मास्त्र), नाट्य, नाटक, कामशास्त्र, नैतिकता, दर्शन, विधि, प्राणि-विज्ञान, भौतिक विज्ञान— सभी कुछ संस्कृतमे था और है । डॉ॰ रघुवीर आदिके अनुसार सस्कृत विश्व-भाषा थी, इसमें संदेह नही है । सस्कृत भारतीय मनीषाके परमोत्कर्षकी एकमात्र प्रत्यक्ष साक्षी है । इस अमूल्य निधिका तिरस्कार हमारे लिये सर्वथा अनुचित है । हमारे माननीय शिक्षामन्त्रीका इस सदर्भमे कहना है कि हिंदीभाषी लोग दक्षिणभारतीय भाषा न पढकर संस्कृत पढते हैं, इसलिये भाषाओकी सूचीसे उसे (सस्कृत) हटा दिया गया है । इस संदर्भमें हिंदीभाषी प्रान्तोके लिये दक्षिणकी किसी भाषाका अध्ययन अनिवार्य कर देना उचित था न कि ईर्ष्या या द्वेष अथवा किसी षड्यन्त्रके अधीन ऐसा अविचारित निर्णय लेना ।

कपिल, कणाद, चरक, सुश्रुत, भास्कराचार्य (द्वितीय) (जिन्होने न्यूटनसे ५०० वर्षो पूर्व पृथिवीमे गुरुत्वाकर्षण-शक्ति होनेकी परिकल्पना की थी), वराहमिहिर, रसायनशास्त्री नागार्जुन, विमानविद्या-जनक भरद्वाज, पृथिवी सूर्यकी परिक्रमा करती है—इस सिद्धान्तके स्थापक आर्यभट्ट-जैसे महान् वैज्ञानिकोपर क्या हमे गर्व नहीं है? क्या वे सब जाति-विशेषकी धरोहर हैं? क्या उनका जीवन और उनके विचार हम सभी भारतवासियोको भुला देने योग्य हैं?

कम्प्यूटर-प्रोग्रामिंगके लिये माध्यम भाषाके रूपमे एम्॰ ए॰ एस्॰ ए॰ के वैज्ञानिकोने संस्कृतको सर्वश्रेष्ठ भाषाके रूपमे चुना है । पाश्चात्त्य देशोमे इस दिशामे गहन शोधकार्य हो रहे है । 'नालेज इंजीनियरिंग' नामक एक नयी शाखाकी स्थापना आभियान्त्रिकीके क्षेत्रमे हुई है, जिसमे प्राप्त ज्ञानके स्वरूप, उसे अभिव्यक्त करनेकी भाषा एव उसके व्यावहारिक रूप—इन तीनो पक्षोपर अध्ययन किया जा रहा है । उक्त तीनों ही पक्षोपर संस्कृतके मीमांसा-शास्त्र एवं व्याकरण-शास्त्रमे विशद चर्चा एवं व्याख्या हुई है । अत· संगणकको मानव-मस्तिष्कके समान विचार एवं विवेकपूर्ण निर्णयके लिये सक्षम बनानेकी दृष्टिसे पाश्चात्त्य देशोमे सस्कृतके उक्त शास्त्रोपर व्यापक अनुसधान चल रहा है । इसी संदर्भमें भारतमें भी १८ से २२ दिसम्बर १९८६ तक बगलोरमें 'नालेज रिप्रेसेन्टेशन एण्ड इनफेन्स संस्कृत' शीर्षक विषयपर एक अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन हो चुका है । 'नालेज इंजीनियरिंग'-जैसे नये तकनीकी क्षेत्रमें भारत महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकता है । अतः देशको २१ वीं सदीके सगणक-जगत्में जानेके लिये संस्कृत-शिक्षाकी व्यवस्था अनिवार्य होनी चाहिये थी । विश्वभरके महान् आभियान्त्रिकी वैज्ञानिकोंने मत व्यक्त किया है कि 'सगणकके द्वारा ठीक परिणाम प्राप्त करनेमें वैदिक गणितका सहयोग अपेक्षित और अपरिहार्य होगा ।'

सस्कृत ही वर्तमान दशामें समस्त भारतीयोंको एकता-सूत्रमे बाँधनेमे सक्षम है, अत· राष्ट्रिय समग्रता-हेतु एवं भाषागत समस्या-समाधानार्थ इस देशको संस्कृतकी आवश्यकता है । उचित यही होगा कि प्रत्येक भारतीयको अनिवार्यत· संस्कृताध्ययन सुलभ करवाया जाय, चाहे वह हिंदू हो अथवा मुसलमान, सिख हो या ईसाई; क्योंकि संस्कृत न केवल एक समृद्ध भाषा है, अपितु इसका अपना ऐतिहासिक तथा वास्तविक मूल्य भी है, जिसे कोई भी व्यक्ति इनकार नही कर सकता ।

वस्तुतः संस्कृत समग्र देशके प्रान्तोंकी सम्पर्क-भाषा बनने योग्य है और प्रादेशिक भाषाओंकी उपजीव्य भी । विदेशोमे भी संस्कृत और संस्कृतज्ञ सम्मान पाते है । इसीको माध्यम बनाकर हम अन्ताराष्ट्रिय जगत्में अपने साहित्यको सुललितरूपमे विकसित कर अपना माथा ऊँचा करके गौरव और श्रीकी वृद्धि कर सकते हैं । यदि अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमे कोई भाषा अग्रेजीसे भी अधिक उपयोगी और प्रभावशाली हो सकती है तो वह संस्कृत ही है । इसपर हमे गर्व होना चाहिये और इसका विकास कर हमे अपने देशमें एकता और विश्वमे भारतके उदात्त चरित्रको स्थापित करते हुए प्रयास करना चाहिये कि यह विश्वकी 'सम्पर्क-भाषा' बने । संस्कृत इसके योग्य है, अत· इस दिशामे हमारा प्रयास सार्थक होगा । इससे हम न केवल अपना खोया हुआ आत्मगौरव पा सकेंगे प्रत्युत सम्पूर्ण विश्वकी सेवा भी कर सकेंगे ।

सांस्कृतिक कार्यक्रमके नामपर पतन

(पं० श्रीभवानीलालजी भारतीय, एम्० ए०, वाचस्पति)

आज हमारे देशमे सांस्कृतिक कार्यक्रमोकी सर्वत्र धूम है। किसी शिक्षण-सस्थाको देखिये, किसी राष्ट्रिय पर्वमे सम्मिलित होइये या किसी भी विदेशी अतिथिके स्वागत-समारोहमे जाइये—आपको सर्वत्र पायलोकी झनकार और नूपुरोकी मधुर रुनझुन सुनायी देगी। आज प्राइमरी स्कूलोके नन्हे-मुन्ने बालको-बालिकाओसे लेकर विश्व-विद्यालयोके विकसित मस्तिष्कवाले युवक एवं युवतियाँ भी इन तथाकथित सांस्कृतिक कार्यक्रमोमे मग्न दिखायी दे रही है। तब सहसा प्रश्न होता है कि क्या हमारे देशकी सस्कृति केवल नृत्य, गीत, रागरसतक ही सीमित रह गयी है अथवा उसके उपादान और भी अधिक गम्भीर है?

आज हमने सांस्कृतिक कार्यक्रमोका क्या अर्थ समझा है? क्या समय-समयपर आयोजित होनेवाले नृत्य-गीतके कार्यक्रमोको ही हम सांस्कृतिक कार्यक्रमोके अन्तर्गत लेते है? संस्कृतिके उदात्त तत्त्वोको केवल संगीत और अभिनयतक ही सीमित कर देना कहाँतक न्याय्य है? सस्कृति तो किसी राष्ट्रकी सम्पूर्ण परम्पराओका आकलन होती है। शताब्दियोसे हमारे राष्ट्रने ज्ञान-विज्ञान-नीति-धर्म-कला और चिन्तनके क्षेत्रमे जो कुछ उपलब्ध किया है, उसकी समष्टि ही हमारी संस्कृति है। फिर यह समझमे नही आता कि हम आज केवल सगीत और अभिनयको ही संस्कृति क्यो समझ बैठे हैं?

हम यहाँ सस्कृतिकी कोई परिभाषा देनेका प्रयत्न नही करेगे, परंतु इतना तो निश्चित-रूपसे कह सकते हैं कि आज यहाँ तथा विदेशोमे संस्कृतिके नामपर जो प्रदर्शन हो रहे हैं, संस्कृतिके पवित्र नाम-रूपके व्याजसे जो कुछ ताण्डव हो रहा है, वह शोचनीय है। वह सस्कृति तो है ही नहीं, और चाहे कुछ हो। सरलता, सौम्यता, अध्यात्मनिष्ठा, प्राणिमात्रके प्रति आत्मीयता तथा मैत्रीभाव, त्याग, सेवा, अहिंसा, सत्य और विश्वबन्धुत्वकी भावना ही तो भारतीय संस्कृतिके मूल तत्त्व है, जिनके कारण संसारमें हमारे राष्ट्रका सम्मान है, परंतु आज हम क्या देख रहे हैं? हमारे देशके विद्यालयोके अधिकांश छात्रोका पर्याप्त समय इन कार्यक्रमोकी तैयारियोमे ही नष्ट होता है। आज १५ अगस्त है तो कल २६ जनवरी है। आज युवक-युवतियोका समारोह है तो कल कुछ और है। स्कूल और कालेजोका कोई उत्सव तबतक सफल नही समझा जाता, जबतक एक मधुर और कर्णप्रिय सांस्कृतिक आयोजन उसके साथ न हो। इन उत्सवोपर शिक्षाके उच्च अधिकारियो और मन्त्रियोका भी शुभागमन होता है। छात्रोकी शिक्षा और उनके चरित्रके विषयमे चाहे उन्हे कुछ भी अवगत न कराया जाय, परंतु एक रसिक आयोजन अवश्य होगा। इन आयोजनोकी तैयारियोमे छात्रोका अमूल्य समय और उससे भी मूल्यवान चरित्र कितना नष्ट होता है, इसकी ओर किसीका ध्यान ही नही है।

आज विदेशी अतिथि आते है, हमारी सभ्यता, विचारधारा और जीवन-निर्वाहके साधन देखनेके लिये, परंतु हम भारतकी वास्तविकताको दिखानेकी अपेक्षा 'कल्चरल प्रोग्राम' के नामपर उन्हे दिखलाते हैं अपनी तरुण बहिन-बेटियोका नाच? क्या हमारे पास कोई अच्छी वस्तु दिखानेको नही है? क्या हम उन्हे अरविन्द-आश्रम, शान्तिनिकेतन और गरुकुलोकी सैर नही करा सकते?

स्वराज्य आनेसे पहले हम अपने यहाँके राजा-महाराजाओकी, उनकी सुरा, सुन्दरी और विलासिताकी निन्दा करते थे, परंतु क्या आज सरकारी मन्त्रियो और अधिकारियोके द्वारा इन्ही वातोको प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा है? अग्रेजोके शासनकालमे भी कभी किसी स्कूल या कालेजमे बालिकाएँ नहीं नचायी जाती थीं। सन् १९४७ई०मे कॉग्रेस गवर्नमेंट आनेपर बहुत-से रसिक लोग मन्त्रियोकी कृपासे सरकारी शिक्षा-समितियोंमें घुस पडे

और उन्होने शिक्षा-कार्यक्रमोमे बालिकाओको नचाना आरम्भ किया । पहले केवल छोटी बालिकाएँ ही नाचती थीं, पर एक बार जो लज्जाका पर्दा हटा कि वे ही छोटी बालिकाएँ बड़ी होकर भी निःसंकोच जनताके सामने नाचने और नचायी जाने लगी तथा हमारे राज्यमन्त्री और अधिकारी बड़े शौकसे उन्हे देखने लगे । परिणाम यह हुआ कि स्कूलोकी युवती बालिकाएँ जनताके सामने और बारातोमे बरातियोके सामने नाचने लगी । इस प्रकार हमारे मन्त्री इस पतनके जिम्मेदार है ।

हम माननीय मन्त्रियोसे निवेदन करते है कि वे कालेज और स्कूलकी बालिकाओका नाच देखना बंद कर दे और आदेश जारी करे कि सरकारी अधिकारी इन नाचोको न देखे और न कभी इनका आयोजन कराये । हम दावेके साथ कह सकते है कि यदि मन्त्रीलोग और उच्चाधिकारी इन नाचोका देखना तथा कराना बंद कर दे तो इन वयस्क बालिकाओका नाचना, जो पेशेवरोकी हदको पहुँचाता जाता है, बंद हो जायगा और समाजमे बढ़ती हुई विलासिता और व्यभिचारका प्रवाह रुक जायगा ।

जो लोग इन नाचोंको कराते हैं, चाहे वे माता-पिता हो या शिक्षक हों या सरकारी अधिकारी हों अथवा मन्त्री हो, वे अवश्य ही पापोको प्रोत्साहन देनेवाले हैं ।

हम साहित्यकारोंसे निवेदन करते हैं कि वे अपने आयोजनोको रसीला बनानेकी लालसामे समाजमे विलासिता न फैलने दे और उसके दूषित परिणामोंको न आने दें । वे बालिकाओंको जनसमूहमें न नचायें ।

पत्रकारोने देशको आजादी दिलाने और देश-सुधार करनेमे बड़ा काम किया है। वे देशको विलासिताकी बुरी दशामे जानेसे रोक सकते हैं । खेद है, पत्रकार अभीतक इस विषयमें सो रहे हैं—हम आशा करते हैं कि वे शीघ्र इस ओर ध्यान देंगे ।

हम शिक्षको और शिक्षिकाओसे निवेदन करते हैं कि कृपया वे बालिकाओंको नाचना न सिखाये और उनका जीवन विलासिताप्रिय न बनाये ।[१]

चेतावनी

यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः । धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत् स खलु वञ्च्यते ॥

(महा० शान्ति० २९७ ।३४)

जो मनुष्य परम दुर्लभ मानव-जन्मको पाकर भी कामपरायण हो दूसरोसे द्वेष करता और धर्मकी अवहेलना करता रहता है, वह महान् लाभसे वञ्चित रह जाता है ।

---

१ प्रसिद्ध आचार्य श्रीक्षितिमोहनसेनने लिखा था—मुझे तो ऐसा लगता है कि हमलोग 'सस्कृति' शब्दका अर्थ ही भूल गये हैं । आज तो सास्कृतिक उत्सवोके कार्यक्रम ही सस्कृतिके मूल अङ्गरूप बन गये है । गीत-गान, सगीतवादन, अभिनय और नृत्य, जलपान तथा अल्पाहार—क्या यह सस्कृति है ? मनुष्यके सामाजिक व्यवहारमे चाहे सस्कृति व्यक्त होती हो, पर सस्कृतिका निवासस्थान तो मनुष्यका अन्त.करण है । सस्कृतिका जितना ही विकास होता है, उतना ही हमारे मन तथा वासनाओमेसे हिंसा तथा आशाके तत्त्वोकी कमी होती है । उनका स्थान स्नेह तथा साहसकी भावना ले लेती है । सस्कृति हमारी चेतनाको परिष्कृत करती है, इससे हमारे विचार, आचार, व्यवहार भी परिष्कृत होते है, सुन्दर बन जाते है ।

हमारा सामाजिक जीवन, पडोसियोके साथ हमारा सम्बन्ध, हमारे सास्कृतिक उत्सव-समारोह—ये सभी हमारी सस्कृतिकी बाह्य वस्तुएँ है । अदरकी वस्तु तो यह है कि हम यथार्थमे सस्कृत हो गये है या नही ? हमने अपनी जगली और पाशविक वृत्तियोका त्याग करके अपने सस्कारोको सुन्दर बना लिया है या नही ? हमारी जीवनचर्या हमारे देश और जातिकी परम्पराओको आगे बढा रही है या नही ? अपने शरीरो तथा घरोको किस प्रकारसे सजा रहे है, यह तो 'फैशन'का विषय है और हम अपने मन-हृदयको और अपने समग्र जीवनको किस प्रकारसे सजा रहे है, यह सस्कृतिका विषय है ।

शिक्षा क्यों और कैसी हो ?

(श्रीराजेन्द्रबिहारीलालजी)

मनुष्य और अन्य प्राणियोमे एक बड़ा अन्तर यह है कि पशुओके शावकोमे जो कुछ बुद्धि होती है, वह उनके जीवन-निर्वाहके लिये पर्याप्त होती है, किंतु मानव-शिशुकी बुद्धिका विकास किये बिना उसका जीवन-निर्वाह होना असम्भव है, अतः उसे विकसित करनेसे ही वह अद्भुत शक्तियोको प्राप्त कर बड़े-बड़े काम कर सकता है। यदि बुद्धिको विकसित या जाग्रत् न किया जाय तो मनुष्य जानवरोकी अपेक्षा कहीं अधिक दुर्बल और नि.सहाय रहेगा और उसके लिये मनुष्यत्व प्राप्त करना तो दूर रहा, जीवन-निर्वाह करना भी दुष्कर हो जायगा।

बुद्धि मनुष्यके जीवन-रथकी सारथि है। शिक्षामे बुद्धि-विकास और ज्ञानोपार्जनका तो प्रमुख स्थान है ही, साथ-साथ व्यक्तित्वके दूसरे पक्षोंपर भी ध्यान देना चाहिये। शरीरको स्वस्थ और बलिष्ठ, भावोको सुन्दर और सयत, चरित्रको निर्मल, परोपकारी तथा धार्मिक बनाना आवश्यक है। यह सारा काम उत्तम शिक्षाद्वारा ही किया जा सकता है। बचपनमे बालककी शिक्षाका उत्तरदायित्व उसके माता-पितापर रहता है। वे ही उसके सर्वप्रथम गुरु है। वयस्क लोगोके आचार-व्यवहार और उपदेशोका प्रभाव बालकोके भावी जीवनपर बहुत दूरगामी होता है।

कुछ बड़ा होनेपर बालक पाठशालामे प्रवेश करता है। वहाँ उसे नियमित रूपसे पढ़ना-लिखना और सदाचरण सीखनेका अवसर मिलता है। इस प्रारम्भिक शिक्षामे अपने देशका भूगोल तथा इतिहास, सामान्य ज्ञान और विज्ञान, स्वास्थ्य-सिद्धान्त आदि जीवनोपयोगी सामग्री सम्मिलित होनी चाहिये। इसके आगे चलकर शिक्षामे विशेषीकरण आरम्भ हो जाता है। शिक्षार्थी अपनी रुचि और योग्यता तथा समाजकी आवश्यकताके अनुसार अपने लिये पाठ्य विषय चुन लेता है। माता-पिता और विद्यालयोसे मिली हुई शिक्षा बड़े महत्त्वकी होती है, किंतु उससे भी अधिक महत्त्वकी शिक्षा वह होती है, जिसे व्यक्ति पठन-पाठन, सोच-विचार, अवलोकन और विचार-विमर्श आदिके द्वारा स्वयं अपने-आपको देता है। बुद्धिमान् और प्रगतिशील पुरुष अपने मनके द्वारको नये विचारोके लिये सदा खुला रखता है। वह आजीवन एक शिक्षार्थी बना रहता है। वह अपने अनुभवसे तो सीखता ही है, दूसरोके अनुभवका भी पूरा लाभ उठाता है। इस तरह वह अपने ज्ञान, योग्यता और कार्यकुशलतामे निरन्तर वृद्धि करता रहता है। शिक्षा वही उपयुक्त है जो विद्यार्थीमे ज्ञानोपार्जनकी तथा नयी बातोको सीखनेकी उत्कण्ठाको जगाये और बढ़ावा दे।

मानव-जीवनकी एक विशेषता यह है कि मनुष्यके शरीरका विकास तो प्रौढावस्थामे रुक जाता है, किंतु ज्ञान एव साधनोंका विकास वृद्धावस्थातक जारी रखा जा सकता है। इसके लिये शर्त यह है कि मनुष्य नये विषय सीखने और कठिन समस्याओका हल खोजनेमे बुद्धिका निरन्तर प्रयोग करता रहे। बुद्धिको क्रियाशील बनाये रखनेसे मन प्रसन्न रहता है और समस्त शरीरको भी सुखी और स्वस्थ रखनेमे बड़ी सहायता मिलती है। बुद्धि और मनको शुभ चिन्तन और शुभ कार्योंमे लगाये रखना दीर्घायुका भी एक रहस्य है।

शिक्षाकी सफलताके लिये यह परमावश्यक है कि विद्यार्थियोंके मनमे अपने शिक्षकोके प्रति प्रेम और आदरका भाव हों। शिक्षाका स्तर तभी ऊँचा हो सकता है जब अध्यापक स्वयं अपनेको आदरका पात्र बनाये। शिक्षक भावी राष्ट्रके निर्माता हैं। अच्छी शिक्षाद्वारा भारतको पृथ्वीपर स्वर्गका नमूना बनाया जा सकता है, यही हमारा उद्देश्य होना चाहिये। शिक्षा वही है जिससे मनुष्यके हर पहलूका विकास और उत्थान हो। ऐसी शिक्षामे मानव-जीवनके सारे कर्तव्यो, उद्देश्यो, आदर्शो, धर्म, ज्ञान और विज्ञानका सार समाविष्ट होना चाहिये। दूसरे शब्दोमे कहे तो उत्तम शिक्षा वही है जो विद्यार्थियोंको

ज्ञानवान् बनानेके साथ-साथ स्वधर्म-पालनका पाठ भी सिखाये और उनके मनमे यह बात अच्छी तरह जमा दे कि अपने धर्मको कुशलतासे निभानेवाले परम सिद्धिको प्राप्त कर लेते है । वही शिक्षा गुणकारी सिद्ध हो सकती है जिसमे भगवद्भक्तिके साथ सेवा-धर्म भी सिखाया जाता है ।

संसारका कार्य चलानेके लिये साधारण दक्षता तो पर्याप्त है, किंतु संसारकी उन्नतिके लिये उत्तम दक्षताकी आवश्यकता है । जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमे मूर्धन्य विद्वान्, कार्यकर्ता और उदार महापुरुषोकी आवश्यकता है । समयके साथ आगे बढ़ते रहनेके लिये बालकों तथा नवयुवकोमे महानता और नेतृत्वके गुणोका विकास होना चाहिये । हमारे देशको तपस्वी संतो और धर्माचार्योके साथ-साथ महान् वैज्ञानिको, इंजीनियरो, डाक्टरो, शिक्षाविदो, निःस्वार्थ राजनेताओ, सुयोग्य प्रशासको और उदार उद्योगपतियोकी भी आवश्यकता है । यह सब उत्तम शिक्षासे ही सम्भव है ।

शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो धर्मके सभी अङ्गोपर समुचित बल दे । हमारे शास्त्रोमे धर्मके चार चरण या स्तम्भ बताये गये है—तपस्या, सत्य, संयम और परोपकार । इसी तरह शास्त्रोमे जीवनके चार मुख्य उद्देश्य या फल भी बताये गये है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । आवश्यकता ऐसी शिक्षाकी है जो मनुष्यको चारो ही पदार्थोकी प्राप्तिके लिये प्रोत्साहित करे । इसमे भी अधिक ध्यान देनेकी बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति पूरा पुरुषार्थ तो करे किंतु केवल अपने लाभके लिये ही नहीं अपितु सभीके कल्याणके लिये करे । शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो मेहनत और ईमानदारीसे प्राप्त साधनोका सबकी भलाईके लिये सदुपयोग करना सिखाये । सात्त्विक सुख वही है जो दूसरोको सुख देनेसे मिलता है । हमारे भक्त कवियोने ठीक ही कहा है—

'सुख दीन्हे सुख होत है', 'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई ।'
'वैष्णव जन तो तेने कहिये जो पीर पराई जाणे रे ।'

समष्टि अर्थात् समाज, राष्ट्र और संसारके प्रति व्यक्तिका क्या कर्तव्य है, शिक्षासे यह विलकुल स्पष्ट हो जाना चाहिये । समष्टि भगवान्के विराट् स्वरूपका ही अङ्ग है, उनसे ओत-प्रोत है । इसलिये समाजकी सेवा विराट् भगवान्की आराधना है । समुचित शिक्षा वही है जो मनुष्यको बुद्धिमान्, विद्या-प्रेमी और कार्य-कुशल बनाये, उसे संयम, सदाचार, शील और परोपकारके मार्गपर अग्रसर करे, उसमे दैवी गुणोका संचार करे, उसे सात्त्विक बनाये और ऐसे समाजका सृजन कराये जो गीताके शब्दोमे श्री, विजय, विभूति और नीतिसे सम्पन्न हो । रामचरितमानसने आदर्श राष्ट्रको रामराज्यकी संज्ञा देकर उसका गीताके समान ही चित्र खींचा है, जैसा कि निम्नलिखित चौपाइयोसे विदित होता है—

दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम राज नहिं काहुहि ब्यापा ॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं । पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं ॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी । नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी । सब कृतग्य नहिं कपट सयानी ॥
राम राज कर सुख संपदा । बरनि न सकइ फनीस सारदा ॥

ऐसे महान्, सुन्दर, सुखी, समृद्ध, ऐश्वर्यशाली और सदाचारी राष्ट्रका निर्माण करना ही शिक्षाका चरम लक्ष्य है ।

चार चीजोका सदा सेवन करना चाहिये—सत्सङ्ग, संतोष, दान और दया । चार अवस्थाओमें आदमी बिगड़ता है । इसलिये इनमे सावधान रहना चाहिये—जवानी, धन, अधिकार और अविवेक । चार चीजे मनुष्यको बड़े भाग्यसे मिलती है—भगवान्को याद रखनेकी लगन, संतोकी सङ्गति, चरित्रकी निर्मलता और उदारता । चार गुण बहुत दुर्लभ है—धनमे पवित्रता, दानमे विनय, वीरतामे दया और अधिकारमे निरभिमानिता ।

शिक्षा और लोक-साहित्य

(श्रीपरमानन्दजी पाण्डेय)

पाश्चात्त्य सस्कृतिका विष हमारे गॉवोमे तेजीसे फैल रहा है, जिससे हमारे शान्त और मधुर जनपदीय जीवनपर गम्भीर खतरा पैदा हो गया है। अतः विद्यार्थियोको अपनी लोक-संस्कृतिकी ओर आकृष्ट करना परमावश्यक है। लोक-साहित्यमे हमारे सास्कृतिक आचार-विचारोके साथ ही शिक्षाके सभी आधारभूत तत्त्व पाये जाते हैं, जो शिक्षाके सर्वाङ्गीण विकासमे महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकते है। इसलिये विद्यालय-स्तरके पाठ्यक्रममे लोक-साहित्यको समुचित स्थान देना श्रेयस्कर है। एक सुयोग्य नागरिकमे नैतिकता, राष्ट्रियता, विश्व-बन्धुत्व आदि गुणोका होना आवश्यक है। हमारा लोक-साहित्य इन गुणोको विकसित करनेमे सहायक हो सकता है।

ध्यातव्य है कि बचपनकी सारी वस्तुएँ बडी प्यारी लगती है। जहाँ बचपन बीतता है—वह गाँव, घर-द्वार, खेत, नदी, अमराइयाँ, पेड़-पौधे सभी प्यारे लगते है। बचपनके सगी-साथी भी बड़े अच्छे लगते हैं—एकदम अपने लगते हैं। इसे नैसर्गिक प्रकृति या मनोविज्ञान जो भी कहा जाय। इसी प्रकार मनुष्य अपनी माँकि दूधके साथ जो भाषा सीखता है—जिस भाषामे वह प्रथम-प्रथम मुँह खोलता है, वह अत्यन्त प्रिय लगती है—आत्माकी भाषा होती है और इस भाषामे जो कुछ मिलता है वह भी बहुत प्रिय लगता है, सीधे हृदयको छूता है। अपनी लोकभाषाके प्रति इस नैसर्गिक अनुरागका उपयोग बालकोके शिक्षणमे किया जाय तो वे निश्चय ही लाभान्वित होगे। अत· शिक्षामे लोक-साहित्यकी विशेष उपादेयता है। एतदर्थ यहाँ लोकसाहित्यकी सामग्रीपर दृष्टिपात करना उचित है।

मनुष्यको आगे बढ़नेके लिये कभी-कभी अपने अतीतको भी देखना-जानना आवश्यक है। सौभाग्यसे हमारे भारतका अतीत अत्यन्त गौरवशाली रहा है, जो हमे पुराण और इतिहास बताते हैं। हमारे लोक-साहित्यमे भी ऐसे गीतो, गाथाओ और कथाओका प्राचुर्य है, जिनमे अनेक पौराणिक तथा ऐतिहासिक चरित्रोंका रोचक और प्रभावशाली वर्णन है, जिससे बालकोंका बौद्धिक और नैतिक विकास हो सकता है। प्रायः प्रत्येक लोकभाषामे राजा हरिश्चन्द्र और गोपीचंद, भरथरीकी कथाएँ प्राप्य हैं, जिनसे सत्यनिष्ठा, त्याग, ज्ञान एवं पातिव्रत्यकी प्रेरणा मिलती है। इसी प्रकार आल्हा-ऊदलकी गाथामे अप्रतिम वीरताका संदेश भरा है।

हमारे देशमे सती स्त्रीकी महिमा अपार है, यहाँतक कि देवता भी सती स्त्रीसे डरते थे। आज भी भारतीय स्त्रियाँ पातिव्रत्य और सतीत्वके लिये विख्यात हैं। लोक-साहित्यमे सती अनसूया, सावित्री-सत्यवान् और सती विदुलाकी गाथाएँ विद्यालयोमे पढ़नेवाली बालिकाओको नारी-गरिमाकी शिक्षा देनेमे सहायक होगी। सावित्री-सत्यवान्‌की कथा प्राय· सभी लोक-भाषाओमे प्राप्य है। इस कथाका स्रोत महाभारत है। प्रसिद्ध है कि सावित्रीने अपने सतीत्वके बलपर अपने मृत पति सत्यवान्‌को पुनर्जीवित कर लिया था। सती विदुलाने भी सर्पदंशसे मृत पतिको पुनर्जीवित किया था। विदुला विषहरी लोकभाषा अङ्गिकाका गाथा-काव्य है, जो १७वी सदीमे रचा गया।

भारतीय सस्कृतिमे पति-पत्नीका सम्बन्ध परम पवित्र और अनुपम है। अन्य देशोके लोग, विशेषत· स्त्रियाँ इसके लिये तरसती हैं। हमारे लोक-साहित्यमे इसकी महत्ता भूरिश प्रदर्शित है। यहाँतक कि पशु-पक्षीके जीवनमे इसका महत्त्व दिखलाया गया है। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है—एक लोक-गीतके अनुसार प्यासा हिरन यमुना-किनारे पानी पीने जाता है। बहेलिया उसे मारकर उसके मांस-चामको हाजीपुर-हाटमें बेच लेता है। इसपर व्याकुल हिरनी सती होनेके लिये हिरनकी हड्डीकी याचना करती है—

> चाम मास बेचिहें बहेलिया, हाडवा दिहेरे मोर।
> ओहि हाड लेई सती होइबों, एहि जमुना के तीर॥

हिरनीका विलाप कितना करुण एवं हृदय-द्रावक है ।

पति-पत्नीका प्रेम पारिवारिक सुख-शान्तिका मूल है । लोक-साहित्यमे माता-पिता, भाई-बहन, भाई-भाई, दादा-नाना, बूआ-चाची आदिके अतिरिक्त पड़ोसी तथा ब्राह्मण, नाई, हलवाई, धोबी, कुम्हार, सुनार, बढ़ई, मोची प्रभृति समाजके सभी वर्गके लोगोके प्रति यथायोग्य श्रद्धा, सम्मान, प्रेम, सहिष्णुता एवं सहयोगकी मनोरम अभिव्यक्ति की गयी है । इससे हमारे पारिवारिक एवं सामाजिक संगठन तथा राष्ट्रिय एकताको बल मिलता है ।

लोक-साहित्यमे नदियो, नगरो, प्रदेशोके नाम बहुधा आते हैं, जैसे—गङ्गा, यमुना, सरयू, काशी, अयोध्या (अवध), पटना, जनकपुर, जगन्नाथ धाम, वैद्यनाथ धाम, बंगाल, औरंग देश आदि । इसके अध्ययनसे छात्रोको अपने देशकी भौगोलिक जानकारी भी होगी । हमारे लोक-साहित्यमे हमारी आर्थिक समृद्धि तथा वाणिज्य-व्यवसायकी भी झलक मिलती है ।

हमारे लोक-साहित्यमे सामाजिक कुरीतियोपर भी प्रहार किये गये है । बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, कन्याके विवाहके लिये पिताकी चिन्ता, बाल-विधवा पुत्रीका मार्मिक विलाप, सौतकी बुराइयाँ आदिमे समाज-सुधारका मार्मिक संदेश प्राप्य है ।

ग्रामीण-विकासके लिये शिक्षा

(डॉ॰ एस॰ के॰ मित्रा)

गॉवके आर्थिक विकासके लिये कृषि और उद्योग—दोनो ही क्षेत्रोमे शिक्षा ग्रामीण-समुदायको नया जागरण, नया ज्ञान, सोचने-विचारनेकी नयी आदत और नया दृष्टिकोण प्रदान कर सकती है । विज्ञानके सम्बन्धमे ग्रामीण-समुदाय विशिष्ट-रूपसे अँधेरेमे है । इसीलिये आर्थिक विकासके साथ-ही-साथ सामाजिक विकासकी आवश्यकता होगी, जिससे गॉवके लोगोके मस्तिष्क पुराने रीति-रिवाज, परम्परा तथा रूढियोके बन्धनसे मुक्ति पा सके । यह संदेहकी बात नही कि सभी परम्पराएँ बुरी नही हैं, फिर भी इनमें बहुत-सी ऐसी है जो नयी परिस्थितिमे नये ढंगसे सोचनेमे बाधा उपस्थित करती है । इसलिये गॉवके विकासके लिये शिक्षाकी दिशामे क्रान्तिकारी परिवर्तन करना होगा ।

इतिहासमे हम देखते हैं कि औपचारिक अर्थोमे शिक्षाका सम्बन्ध नगरीकरणसे रहा है । यूनानमे शिक्षाका विकास नगरराज्योके साथ-साथ हुआ । वहॉ शिक्षाका उपयोग ऐसे साधनके रूपमें किया जाता था, जिससे युवकोंका मस्तिष्क विकसित किया जा सके और वे नगरराज्योंकी नागरिकताके उत्तरदायित्वका निर्वाह कर सके । इसी प्रकार रोममे भी शिक्षाका उपयोग कुलीन नागरिकोके लिये ही होता था । इसके बाद शिक्षाके लक्षणमे बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हो पाया । पश्चिमी देशोमे जब व्यापारिक-समुदायका विकास हुआ, तब शिक्षाने एक मध्यवर्गीय दिशा स्वीकार की, जो औद्योगिक क्रान्तिके साथ ब्रिटेनमे निश्चितरूपसे सामने आयी । ऐतिहासिक दृष्टिसे पश्चिमी देशोमे शिक्षा शहरी विकासके साथ जुडी रही है । यही शिक्षा बादमे राजनीतिक जनतन्त्रके उदयके साथ ग्रामीण क्षेत्रोतक फैल गयी । उस समय शिक्षित हो जानेका अर्थ ऐसा भद्रपुरुष बनना था, जो अपने हृदय और मस्तिष्ककी सम्पूर्ण विशेषताओके द्वारा दूसरोके श्रमपर जीवित रह सके । श्रमिक-वर्गकी मॉग यह रही कि शिक्षाके द्वारा वे निम्नवर्गीय जीवनसे मुक्ति पाये और शहरी क्षेत्रोमे बाबुओ-जैसी नौकरी प्राप्त कर सके ।

आधुनिक युगमे 'जनताके लिये शिक्षा', 'सबके लिये शिक्षा', 'जीवनपर्यन्त शिक्षा' और 'ग्रामीण-विकासके लिये शिक्षा' आदि विकासकी मॉगे है । इनका सम्बन्ध शिक्षाकी दिशामे आधारभूत परिवर्तनसे है । आजकल औद्योगिक समुदायमे शिक्षा मध्यवर्ग और शहरीकरणसे घनिष्ठरूपमे

सम्बन्धित है। यह बहुत आवश्यक है कि अब शिक्षाकी दिशामे परिवर्तन किया जाय, जिससे उसे ग्रामीण-विकाससे सम्बद्ध किया जा सके।

यहाँ यह मान्यता ध्यानमे रखने योग्य है कि शहरीकरण या औद्योगीकरण किये बिना ही कृषिपर जीवन-यापन करनेवाले गाँवोका विकास किया जा सकता है। यदि यह मान्यता उचित नहीं है तो गाँवके विकासके लिये वहाँ और अधिक अच्छे तथा और अधिक संख्यामे स्कूल-कालेजोकी स्थापना करनी होगी। ग्रामीण-विकासका तात्पर्य व्यापकरूपमे आर्थिक और सामाजिक विकाससे है। हमे यह देखना है कि शिक्षा इसे कैसे पूरी कर सकती है?

आर्थिक विकासके लिये यह आवश्यक है कि गाँवोमे कृषि, उद्योग और समाज-सेवाओका विकास किया जाय। आज कृषिकी यह आवश्यकता है कि उत्पादकता बढ़े और उत्पादकताके लिये यह आवश्यक है कि नये साधन अपनाये जायँ। कृषि-भूमिका उचित रीतिसे वितरण किया जाय जिससे आर्थिक रूपसे ग्रामीण-समुदाय संतुष्ट हो। भूमिका नवीनीकरण और उर्वर होना आवश्यक है और इसके लिये नयी टैक्नीक, नये उपाय और उत्पादनकी नयी विधि आवश्यक है। जब जनसंख्याका इतना भारी दबाव है, तब भूमिका बार-बार और अधिक उपयोग करना पड़ेगा, परंतु इस प्रकार यह बहुत सम्भव है कि भूमिके उत्पादक तत्त्व निर्बल हो जायँ। इसलिये अच्छी और विकसित खेतीके साथ ग्रामीण-समुदायकी आवश्यकता है कि नये साधनोको अपनाया जाय, वनोका संरक्षण किया जाय तथा भूमिका विकास किया जाय। इन सबके लिये ग्रामीण-समुदायको नये ज्ञान, नयी आदत और नये दृष्टिकोणकी आवश्यकता होगी।

ग्रामीण क्षेत्रोके आर्थिक विकासके लिये कृषिपर आधारित उद्योगोकी आवश्यकता है। इन उद्योगोमे मध्यम श्रेणीकी टैक्नालाजीका प्रयोग करना होगा, जिससे किसान उन्हे सरलतासे अपना सके तथा बडी पूँजी लगानेकी भी आवश्यकता न हो। इस प्रकारके कृषि-उद्योग-केन्द्रोकी स्थापना, मण्डी और परिवहन आदिके लिये किसानोको ग्रामीण-बैंकोसे ऋण लेनेकी सुविधा प्राप्त करानी होगी। इस कार्यके लिये नवीन दृष्टिकोण और नये साधनोको अपनाना होगा।

अब प्रश्न यह है कि किस प्रकारकी शिक्षा इस कार्यको पूरा कर सकती है और कैसे कर सकती है? हम खिन्नताके साथ इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि औपचारिक शिक्षा इस चुनौतीको स्वीकार करनेमे असमर्थ होगी। यदि औपचारिक शिक्षा शहरीकरण किये बिना ही ग्रामीण कृषि-समुदायको उसकी आर्थिक आवश्यकताएँ प्राप्त करानेमे समर्थ होती तो हमारे ये विद्यालय इस लक्ष्यको बहुत पहले ही प्राप्त कर चुके होते, किंतु हमारे विद्यालय ऐसा नही कर पाये। इसके विपरीत शिक्षाने गाँवके शिक्षित व्यक्तिको गाँवसे अलग कर दिया। गाँवको उसकी शिक्षाका लाभ प्राप्त नहीं हो सका और गाँवके लोग अपनी समस्याओसे पुरानी प्रणालीसे ही जूझ रहे है। इस कारण हमे अनौपचारिक शिक्षाके सम्बन्धमे सोचना होगा। अनौपचारिक शिक्षा ही विकास-कार्योसे सीधी सम्बद्ध हो सकती है। यह शिक्षा दूसरे प्रकारकी होगी। इसमे लोग काम करते हुए कामसे शिक्षा प्राप्त करेगे, जबकि वास्तवमे लोग काम करते हुए सीखनेकी चेष्टा नहीं करते, किंतु अब उन्हे जानना होगा, सोचना होगा और साधन-सम्पन्न बनना होगा। इसलिये शिक्षाके सामने यह चुनौती है कि वह इस प्रकारके पाठ्यक्रमका विकास करे।

इस समय यह प्रतीत होता है कि गाँवके विकासके लिये सरकारी एजेसियाँ—जैसे सडक बनाने, विद्युतीकरण करने, स्वास्थ्य, उत्पादन आदिके उद्देश्यसे सेवारत है, उसी प्रकार उन्हे शिक्षाके अङ्गको भी अपनेमे जोड लेना चाहिये। ये एजेंसियाँ गाँवके लोगोके लिये वैज्ञानिक जानकारी प्रदान करनेके लिये अपनी सेवाएँ प्रस्तुत करे। यह एक प्रसार-कार्य है तथा प्रसारके मार्गसे ही यह कार्य सम्पन्न होगा, औपचारिक स्कूली पाठ्यक्रमके अनुसार नहीं। इसके लिये सूचना प्रदान करनेवाले मनोरञ्जक साधनो, जैसे—पोस्टरो, पुस्तिकाओं, फिल्मो और स्लाइडोंकी आवश्यकता होगी। ऐसी सूचनाएँ युवक और वृद्ध

सभीके लिये होगी, जो उनके लिये उन्हींके स्थानपर आवश्यकतानुसार जब वे चाहे, उपलब्ध होगी ।

इस प्रकारकी अनौपचारिक शिक्षाका विकास सर्वोत्तमरूपमे सरकारकी सहायतासे स्वयंसेवी संस्थाओ, सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओ और युवको-द्वारा किया जा सकता है । ग्रामीण क्षेत्रोकी आवश्यकताके अनुसार इस प्रकारके लोगोको दीक्षित करना होगा, जिससे वे गॉवके लोगोको नया ज्ञान प्राप्त करनेमे और नयी दिशामे नये साहसके साथ कार्यमे जुट जानेके लिये प्रेरित करनेमे सहायक बन सके । साक्षरता भी इस प्रकारकी शिक्षाका एक अङ्ग होगी, परंतु वह एकमात्र लक्ष्य नहीं हो सकती । व्यापकरूपसे परिस्थितियोके अध्ययनपर आधारित यह शिक्षा मानव-सम्बन्धो और सामाजिक परिवर्तनोकी शिक्षा होगी । यह विश्वासके स्थानपर तर्क तथा अन्धविश्वासके स्थानपर विज्ञानकी स्थापना करेगी । इस प्रकार श्रम-केन्द्रित अनौपचारिक शिक्षाकी दिशा होगी—साधनोका संयोजन, भूमिका विकास, ध्येयके साथ मध्य श्रेणीकी टैक्नालाजीका प्रयोग ।

ग्रामीण-विकासके संदर्भमे अनौपचारिक शिक्षापर विचार करने और यह तर्क प्रस्तुत करनेके बाद कि ग्रामीण-विकासकी दिशामे केवल अनौपचारिक शिक्षा ही सार्थक भूमिका प्रस्तुत कर सकती है, अब औपचारिक शिक्षापर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है । यह इसलिये कि केवल औपचारिक शिक्षा ही श्रम और कामकी आवश्यकता पूरी नही कर सकती, परतु यदि अनौपचारिक शिक्षा विस्तृतरूपमे विकसित होती है तो औपचारिक शिक्षापर भी यह दबाव पड़ेगा कि वह किसी प्रकार ग्राम-समुदायके निकट आये । इस संदर्भमे स्कूल और कालेजकी शिक्षाके अन्तर्गत कुछ कार्यक्रमोके सम्बन्धमे सोचा जा सकता है । स्कूलोमे जहॉ कि कार्यानुभव अनिवार्य विषय है, उन कार्यानुभवोका संयोजन इस प्रकार किया जा सकता है, जिससे उत्पादक कार्य सम्पन्न हो सके । इसके लिये सम्भवत अध्यापक-शिक्षामे पूर्ण परिवर्तनकी आवश्यकता होगी । अध्यापक-शिक्षाका पाठ्यक्रम प्रत्येक स्तरपर ऐसा होना चाहिये, जिसमे वास्तविक विकास-कार्योमे योगदान करना आवश्यक हो । ग्रामसेवा अध्यापक-शिक्षाका अति महत्त्वपूर्ण अङ्ग होना चाहिये। यह सेवा पूर्व-अध्यापक-शिक्षाका कार्यक्रम होना चाहिये।

नये दसवर्षीय पाठ्यक्रमके अन्तर्गत राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण-परिषद्ने विज्ञानके द्वारा परिवेश-अध्ययनके रूपमे एक प्रयास किया है । इस परिवेश-अध्ययनका बहुत कुछ आधार ग्राम्यजीवन है, इससे ग्रामीण-विकासकी समस्याओको वैज्ञानिक रूपमे सार्थकताके साथ समझा जा सकेगा ।

एनसर्टद्वारा प्रस्तुत हायर सेकेंडरीकी ग्यारहवी और बारहवी कक्षाओके पाठ्यक्रममे एकेडेमिक और व्यावसायिक दोनो धाराओके छात्रोके लिये एक सामान्य पाठ्यक्रमका प्रावधान किया गया है । इस पाठ्यक्रमके ढॉचेमे एक पाठ्यक्रम ग्रामीण-विकाससे सम्बन्धित होगा, जिसमे उसकी समस्याएँ तथा देशमे उनका समाधान करनेको उठाये गये कदम, इन समस्याओको समझनेके तरीके और उनपर सार्थक निर्णय लेनेके उपायोपर भी विचार होगा । हम आशा करते है कि इस प्रकारका नया पाठ्यक्रम बडी कल्पनाशीलताके साथ बनाया जायगा ।

अभी यह कहना कठिन है कि महाविद्यालय-स्तरपर क्या होगा । १+३ स्तरपर विषयोके पाठ्यक्रमोका निर्माण हो रहा है । यह सम्भव है कि इनका आधार १०+२ का पाठ्यक्रम ही होगा तथा ग्राम्य-विकास और ग्रामीण परिवेशके वैज्ञानिक अध्ययनकी दिशामे इस स्तरपर और अधिक गहरी [illegible]ोका समावेश होगा ।

इस प्रकार [illegible]ह दीखता है कि औपचारिक शिक्षा तथा विशेषकर [illegible]नौपचारिक शिक्षा—दोनो ही स्तरपर शिक्षाशास्त्री उचि[illegible] दिशामे आगे बढ रहे है । आवश्यकता है कि उनके ह[illegible] सुदृढ बनाये जायॅ, परतु प्राइवेट और-सार्वजनिक दोनो [illegible] क्षेत्रोमे विकासात्मक कार्य करनेवाली सस्थाओमे जाग[illegible]का अभी अभाव है । जबतक यह अनुभव नही वि[illegible] जाता कि वे विकास-कार्यरत संस्थाएँ बच्चो, जवानो [illegible]र प्रौढ़ोको सिखानेकी जिम्मेदारी ग्रहण करे, तबतक [illegible]ग्रामीण-विकासके लिये शिक्षाका उद्देश्य प्राप्त करना कठिन ही होगा, औपचारिक शिक्षाके बहुत-

से प्रयास अध्ययनका अभ्यास बनकर रह जायँगे । दूसरी ओर विकासात्मक कार्य करनेवाली संस्थाएँ ग्रामीण-समुदायमे नये ज्ञान, नये दृष्टिकोण और नयी आदतके अभावके कारण अपनेको कुण्ठित अनुभव करेगी; क्योंकि जबतक ये संस्थाएँ अपने सहयोगके लिये उत्साहके साथ लोगोको अपने साथ लेकर नही चलेगी, उन्हे प्रोत्साहित नही करेगी, विकासकार्योंकी प्रेरणा नहीं देगी, तबतक बहुत कुछ परिश्रम व्यर्थ जायगा और अपेक्षित परिणाम नहीं ही प्राप्त हो सकेंगे । अतः हमारे सामने यह चुनौती है कि हम एक ऐसी आयोजनात्मक पद्धतिकी खोज करे जो सार्वजनिक विकासात्मक एजेसी तथा शैक्षिक एजेंसियोंको सहायता दे तथा उन्हे परस्पर पूरक बनाये ।

व्यक्तित्वके विकासमें शिक्षाका योगदान

(श्रीआनन्दविहारीजी पाठक, एम्० ए०, साहित्यालंकार, साहित्यरत्न, वैद्य-विशारद)

मानव-जीवनको सफल और सुन्दर बनानेमे शिक्षाका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । मनुष्य जीवन-पर्यन्त शिक्षाकी प्राप्ति विविध रूपोमे करता है और अपने ज्ञानको उत्तरोत्तर बढ़ानेके लिये इसका सहारा लेता है । शिक्षा प्राप्त करनेका शुभारम्भ मानवके बाल्य-कालसे ही होता है । बाल्यावस्था ही शिक्षा प्राप्त करनेका प्रमुख समय माना जाता है । बच्चोके व्यक्तित्व-विकासके लिये शिक्षा देनेके कार्यका आरम्भ शैशवावस्थासे ही घर और परिवारके लोगोंके बीच हो जाता है ।

हमारी आजकी शिक्षा-पद्धतिमे व्यक्तित्वके विकासके साधनोका सर्वथा अभाव है । इसी कारण देशकी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अव्यावहारिक, निरुपादेय तथा हानिकर सिद्ध हो रही है, जिससे हम भारतीय स्कूली-शिक्षा पाकर भी जीवनभर मानव-जीवनके व्यावहारिक कार्यो एव अनुभवोसे वञ्चित रहकर कोरे-के-कोरे पड़े रह जाते हैं । शिक्षा और मानव-जीवनके बीच अव्यवस्थित स्थिति बनी ही रह जाती है ।

यदि हमारी मूल प्रवृत्तियोके आधारपर ही बच्चोको शिक्षा देनेकी व्यवस्था व्यावहारिक रूपमे की जाय तो उनमे व्यक्तित्वका विकास होना सम्भव हो सकता है । इसमे तब संदेह नहीं कि ऐसी शिक्षा बच्चोको सक्रिय, कर्तव्यशील, व्यवहारकुशल, आत्मनिर्भर और विकासोन्मुख बनानेमें सफल होगी और हमारे बच्चे राष्ट्रके आदर्श एवं योग्य नागरिक बन सकेगे ।

मूल प्रवृत्तियाँ प्राणिमात्रमे जन्मजात होती हैं । ये आप-ही-आप संचालित होती रहती हैं । इन्हें नैसर्गिक गुण, स्वभाव अथवा प्रकृतिके नामसे भी कहा जाता है । पशु-पक्षियोमे तो ये नैसर्गिक गुण अथवा मूल प्रवृत्तियाँ अत्यन्त दृढ़रूपमे रहती हैं । यही कारण है कि यदि बत्तखके नवजात शिशुको भी अचानक गहरे पानीमे फेक दिया जाता है तो वह बिना सिखे-सिखाये ही अपने-आप तैरने लग जाता है । पर मनुष्य इन मूल प्रवृत्तियोमें अपनी ज्ञानशक्तिके सहारे सुधार लाकर इन्हे अनुकूल, जीवनोपयोगी तथा व्यावहारिक बना लेता है ।

मानवमे ये जन्मजात मूल प्रवृत्तियाँ अवस्था-भेद और परिस्थितियोके कारण विभिन्न रूपोमे विकसित होती हैं । अतः शिक्षकोका आवश्यक कर्तव्य है कि वे अवस्था-भेदके कारण मूल प्रवृत्तियोके विभिन्न विकसित स्वरूपोंका ध्यान रखकर ही बच्चोको शिक्षा प्रदान करे और बच्चोके चरित्र-निर्माणके साथ-साथ उनके व्यक्तित्वका विकास करनमे योगदान दे ।

मूलतः मूल प्रवृत्तियोके दो भेद माने गये हैं—एक सहज क्रियाएँ और दूसरी सहज प्रवृत्तियाँ । सहज क्रियाएँ तो हमारे शरीरकी रक्षाके लिये यान्त्रिक रूपसे स्वत. हुआ करती हैं और स्वचालित रहती हैं । इसकी ठीक-ठीक जानकारी भी हमे नहीं हो पाती । इनका मानसिक क्रियाओसे कोई घनिष्ठ लगाव नहीं रहता । छींकना, साँस लेना, पलकोका गिरना-उठना, हृदयकी

धड़कन आदि सहज क्रियाएँ है, जो आप-से-आप चालित होती रहती है। इसका ज्ञान साधारण तौरपर हमे वैसा नही रहता। इन क्रियाओके निष्पादनमे शरीरका कोई अङ्ग-विशेष ही कार्यशील होता है, किंतु इसके विपरीत सहज प्रवृत्तियाँ विशुद्ध मानसिक क्रियाएँ हैं। इनके संचालनमे सम्पूर्ण शरीर क्रियाशील हो जाता है।

मानव-शिशुमे अनुकरण, जिज्ञासा, संचय, प्रतिद्वन्द्विता, भयभीत होना आदि मूल प्रवृत्तियोका विशेष जोर देखा जाता है। अनुकरणकी मूल प्रवृत्ति मानव-जीवनमे शैशवावस्थासे ही विशेष स्थान रखती है। बच्चे बोलना, चलना एवं अन्य कार्योका अनुकरण करना इसी मूल प्रवृत्तिसे सीखते है। इस प्रवृत्तिके सुविकासकी ओर आरम्भसे ही ध्यान न रखनेसे बच्चे बुरे आचरणोको नकल कर सीख लेते हैं। इस प्रवृत्तिके सुप्रयोगसे बालक आदर्श बातोको सीखते है और वे अपने जीवनको सुन्दर बना पाते है।

हम बच्चोमे यह भी देखते है कि वे किसी नयी वस्तुको देखकर उसके विषयमे जाननेके लिये प्रश्नोकी झड़ी लगा देते है। कुछ शिक्षक एवं अभिभावकगण ऐसा करनेपर डॉट-फटकारद्वारा उन्हे चुप कर देते है। फलस्वरूप डॉट सुननेके भयसे वे फिर कुछ पूछनेका साहस नही करते और परिणामत उनकी जिज्ञासा-शक्ति धीरे-धीरे मन्द पड जाती है, जिससे बच्चोमे ज्ञानार्जनकी शक्ति कुण्ठित हो जाती है, यहॉतक कि प्रतिभाशाली बालक भी मन्द हो जाता है। जिज्ञासा सम्पूर्ण ज्ञानकी जननी है। संसारके सभी वैज्ञानिक आविष्कार इस जिज्ञासा-प्रवृत्तिके सहारे ही मानवद्वारा किये जा सके हैं। अतः बालकोद्वारा जिज्ञासामय प्रश्नोके पूछने और शङ्का-समाधान करनेके लिये कुछ कहनेपर उन्हे डॉट-फटकार कर चुप कर दिये जानेकी अपेक्षा समुचित और सुन्दर ढंगसे उनकी जिज्ञासाको शान्त करनेका प्रयास सदा किया जाना चाहिये।

इसी प्रकार संचयकी प्रवृत्ति बालकोमे रहनेके कारण ही बच्चे छोटी अवस्थासे ही ईंट, पत्थर, शीशे आदिके टुकड़ोको जमा करके अपने पास रखते हैं। इसी मूल प्रवृत्तिके कारण विभिन्न प्रकारके डाक-टिकटों, ऐतिहासिक-भौगोलिक चित्रो तथा अन्य संग्रहणीय वस्तुओको एकत्र करके रखते हुए बच्चे-बच्चियाँ देखे जाते हैं। इस प्रवृत्तिमे सुधारकी दिशा देकर शिक्षकगण बच्चोमे उपादेय एवं समाजोपयोगी वस्तुओका संचय करनेकी प्रवृत्ति पैदा करके उनका जीवन उपयोगी बना सकते हैं। इसी प्रकार प्रतिद्वन्द्विताकी प्रवृत्तिसे स्पर्धाकी भावना पैदा करके हम बच्चोको प्रगतिशील एवं कर्मठ बनानेका कार्य पूरा कर सकते हैं।

अतएव यह स्पष्ट एवं निर्विवाद है कि हमारी शिक्षा यदि मूल प्रवृत्तियोके आधारपर ही व्यावहारिक और उपादेय ढंगसे दी जाय तो बच्चे-बच्चियोके व्यक्तित्वका विकास सम्भव हो सकेगा और हमारी शिक्षा सच्चे अर्थोमे फलवती सिद्ध हो सकेगी।

राष्ट्र और अध्यात्म-शिक्षा

(श्रीहरिकृष्णजी दुजारी)

राष्ट्र और शिक्षाका गहन सम्बन्ध है। शिक्षा ही राष्ट्रकी उन्नतिकी भित्ति है। जिस राष्ट्रकी शिक्षा सशक्त होगी, वह राष्ट्र अवश्य ही एक दिन शक्तिशाली होगा। हमारा भारतवर्ष उच्च शिक्षाके कारण ही सदा सर्वत्र गौरवान्वित रहा। हमारी शिक्षा सदैव अध्यात्म-प्रधान रही है।

बच्चे ही हमारे राष्ट्रकी आत्मा है। राष्ट्रका भविष्य होनहार बच्चोपर ही निर्भर करता है। आजके बच्चे ही भविष्यमे राष्ट्रको उज्ज्वल एवं शक्तिशाली बनायेगे। बच्चोका भविष्य उनकी शिक्षापर निर्भर करता है।

आजकी हमारी शिक्षा अत्यन्त निर्बल हो रही है। हम स्वयमे अपनी आस्था खो रहे है। हमारा नैतिक

पतन बड़े वेगसे हो रहा है । चरित्र नामकी वस्तु बच्चोंके जीवनसे धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है । बच्चोंकी अमूल्य निधि उनका चरित्र ही है । उनके पूर्वजोकी धन-सम्पत्ति तो उनके उपयोगमे कितनी आयेगी यह तो कौन जाने, परंतु उनका चरित्र उनके अवश्य काम आयेगा और वह उनकी संतानोकी भी अमूल्य निधि होगा । चरित्रके प्रति उदासीनता ही राष्ट्रके पतनका एक प्रमुख हेतु है ।

'नास्ति विद्यासमं चक्षुः'—विद्याके समान दूसरा नेत्र नही है । पूर्वकालमे हमारी विद्या (शिक्षा) का श्रीगणेश होता था—**'सत्यं वद, धर्म चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, क्रोधं कामं च जहि'**—सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो, स्वाध्यायमे प्रमाद मत करो, काम-क्रोधको जीतो । बालक अपने पाठको केवल पढ़कर या रटकर ही कण्ठस्थ नही करते थे, अपितु पढे पाठको हृदयङ्गम करते थे । जब अध्ययन-कालमे कौरव-पाण्डव बालकोकी प्रगति देखी जाने लगी, उस समय बालक युधिष्ठिरसे पूछा गया कि 'तुमने पाठ कहाँतक सीखा है?' तो उसने उत्तरमे कहा—'मैंने अभीतक पाठका केवल पहला वाक्य **'सत्यं वद'** ही सीखा है।' युधिष्ठिरके अभिभावक धृतराष्ट्रको यह सुनकर बहुत बुरा लगा कि उसे गुरुजीने इतने दिनोंमे केवल एक वाक्य ही सिखाया, परंतु धृतराष्ट्रको उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई, जब उन्हे यह मालूम हुआ कि युधिष्ठिरने अपने पाठका पहला वाक्य अपने जीवनमे पूर्णरूपसे उतार लिया है । अन्य वाक्य अपने जीवनमे पूर्णरूपसे उतार पाया है या नही, इसका वह अभीतक पूरा निर्णय नही कर पाया है । युधिष्ठिरका पाठ सीखनेका अभिप्राय अपने जीवनमे पूर्णरूपसे पाठको उतारना था । पूर्वकालमे गुरुजन एवं विद्यार्थी दोनोका ही लक्ष्य रहता था कि जो पढा-पढाया जाय वह जीवनमे खरा उतरे ।

बचपनसे ही सदाचार और भगवद्विश्वासके बीज बच्चोमे अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित होने लगते है । इन बीजोका रोपण करनेवाले उनके माता-पिता एवं गुरुजन ही होते हैं । उनके आचरणोका बालकपर गहरा प्रभाव पड़ता है । इन गुणोसे विभूषित बच्चे राष्ट्रको उच्च दिशा देते है ।

श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य-सम्बन्धी 'कर्मयोग-शास्त्र' नामक ग्रन्थके प्रणेता थे लोकमान्य बालगंगाधर तिलक । इस ग्रन्थको देखनेपर उनके अगाध पाण्डित्य तथा दार्शनिक उच्च ज्ञानका परिचय प्राप्त होता है । लोकमान्य तिलकके माता-पिता साधारण स्थितिके सद्गृहस्थ थे, परंतु उन्होने अपने बालक तिलकको उच्च गुणवान् बनानेमे कठोर परिश्रम किया । पिताजी संस्कृतके अच्छे पण्डित थे । धार्मिक माता और मेधावी विद्वान् पिताने बालक तिलककी शिक्षापर पूरा ध्यान दियां । इनके पिताजी कागजके टुकड़ोपर एक-एक श्लोक लिखकर प्रत्येक श्लोकपर एक पैसा रख देते थे । बालक तिलकको एक श्लोक याद कर लेनेपर एक पैसा मिल जाता था । एक पैसेके प्रलोभनसे तिलकने उत्साहपूर्वक अनेक श्लोक याद कर लिये थे । उनकी बहन भी इस कार्यमे उनसे स्पर्धा रखती थी । माता-पिताके अनुशासनमे तिलक अपने विद्यालयके एक मेधावी छात्र थे । बालक तिलक बडे होकर केवल मेधावी ही नहीं बने अपितु राष्ट्रकी स्वतन्त्रता-प्राप्तिमे उनका बहुत बडा योगदान रहा ।

गीताञ्जलिके रचयिता विश्वके नॉविल पुरस्कारसे पुरस्कृत श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरके माता-पिता बड़े आस्तिक थे । उनकी छोटी अवस्थामे ही उनकी माता उन्हे रामायण एवं महाभारतकी भक्ति-भावमयी कथाएँ सुनाया करती थी । माताजीकी रुग्ण-अवस्थामे उनका सेवक उन्हे रामायणकी कथाएँ सुनाया करता था । उन कथाओका बालक रवीन्द्रनाथके हृदयपर गहरा प्रभाव पडा । इसी कारण उनकी रचनाएँ भक्ति-भावसे ओत-प्रोत रहीं ।

इधरकी एक घटना है । एक मित्रके दो बच्चे थे । उन्हे पढ़ानेके लिये घरपर एक शिक्षक महोदय आया करते थे । एक दिन अचानक एक सज्जन उनके यहाँ पहुँच गये । उन्होने देखा कि दोनो बच्चे खिलौनेसे खेल रहे है और शिक्षक महोदय एक कहानियोकी पुस्तक पढनेमे तल्लीन हैं । यहाँतक कि शिक्षक एवं बच्चोको

किसीके आनेका भान ही नहीं हुआ। बगलके कमरेमें बच्चोंके माता-पिता टी० वी० देखनेमें तल्लीन थे। इस प्रकार हो रही है आजकलकी शिक्षा। बच्चे या तो परीक्षामें सफल ही नहीं होते या परीक्षाके दिनोंमें रटकर अथवा नाना प्रकारके निम्नकोटिके साधन अपनाकर किसी तरह परीक्षामें सफल हो जाते हैं।

आजकल माता-पिता बच्चोंको विद्यालयमें भर्ती करके अपने कर्तव्यकी इति मान लेते हैं। अधिक-से-अधिक परीक्षाके दिनोंमें वे लोग घरपर पढ़ानेके लिये एक शिक्षक नियुक्त कर देते हैं। बच्चे पढ़ रहे है या नहीं? बच्चोंकी क्या प्रगति हो रही है? उनका आचरण-व्यवहार कैसा है? इन सब बातोंको देखनेके लिये उन्हें अवकाश कहाँ? यदि इस विषयपर उन लोगोंसे कुछ पूछा जाय तो वे एक दूसरेके दोषोंका विस्तारसे वर्णन कर सकते हैं। माता-पिता, शिक्षक एवं विद्यार्थी सभी अपने कर्तव्यको भूले हुए हैं।

माता-पिता एवं शिक्षकके सदाचारमय जीवनका प्रभाव बच्चोंपर अवश्य पड़ता है। वैसे तो गर्भकालमें ही माता-पिताके संस्कारोंका प्रभाव बच्चेपर होने लगता है। बच्चे अपने माता-पिता एवं गुरुजनोंको देख-देखकर ही आचरण करना सीखते हैं। सत्यता, नम्रता, निष्कपटता आदि गुणोंकी शिक्षा उसे माता-पिता एवं गुरुजनोंसे मिलती है। उनके छोटे-छोटे आचरण उनके हृदयमें घर कर लेते हैं। माता छोटे बच्चेको कड़वी ओषधि पिलाती है। जब वह नहीं पीता तो माता उसे फुसलाकर कहती है कि 'बेटा! यह मीठी है, जल्दी पी लो।' बच्चा ओषधि पी तो लेता है, परंतु पीते ही उसे मालूम हो जाता है कि ओषधि कड़वी है, मीठी नहीं। माताके असत्य बोलनेके संस्कार तत्काल बच्चेके मनमें घर कर लेते हैं। कोई वस्तु बच्चेको नहीं देनी होती है, तब उसे छिपाकर बच्चेसे कह देते हैं कि 'हौआ' ले गया। बादमें बच्चा जब उस वस्तुको देखता है तब वह तुरंत समझ जाता है कि उसे असत्य समझाया गया था। बच्चोंमें समझनेकी शक्ति अधिक होती है। इस तरह असत्यकी कई घटनाएँ देख-देखकर असत्यके अङ्कुर बच्चोंमें गहरे पड जाते हैं।

रोते बच्चेको तो चुप करनेके लिये कई बार माता-पिता क्रोधमें उसे बुरी तरह पीटते हैं। जैसे-जैसे बच्चा रोता है, उसे अधिक पीटते जाते हैं। माता-पिताके क्रोधके बीज बच्चोंमें यहींसे पैदा होने लगते हैं। बच्चा सीख जाता है कि क्रोध कैसे किया जाता है। इसी तरह चोरी-कपट आदि दुर्गुण बच्चे अपने बड़ोंको करते देखकर ही सीखते हैं। बच्चोंके साथ माता-पिता एवं गुरुजनोंका सदाचारपूर्वक रहना अत्यन्त आवश्यक है।

राष्ट्रमें दुराचार-अपराध नित्य नये-नये तरीकोंसे बढ़ रहे हैं। अध्यात्म-शिक्षासे ही ये अपराध नियन्त्रणमें आ सकते है। अध्यात्म-शिक्षासे बच्चोंमें भगवान्‌के प्रति श्रद्धा एवं पापकर्मके प्रति घृणाके बीज अङ्कुरित होंगे और भगवान्‌के प्रति श्रद्धा-प्रेम होनेसे स्वाभाविक ही उनमें सद्‌गुणोंका प्रादुर्भाव होगा तथा दुष्कर्मोंके प्रति घृणा पैदा होगी। दुष्कर्मोंके प्रति घृणासे ही अपराध दूर या कम हो सकते हैं। जैसे-जैसे अध्यात्म-शिक्षामें कमी आ रही है, समाजमें दुर्गुण बढ़ रहे हैं। पापके प्रति घृणा कम हो रही है। हमारी हिंदू-संस्कृति नष्ट हो रही है। पाश्चात्य राष्ट्रोंकी नकल हमारे आदर्शोंको समूल नष्ट कर रही है। माता-पिता, गुरुजन एवं सरकारको बच्चोंकी भारतीय संस्कृतिके आदर्शोंके अनुरूप शिक्षाकी ओर ध्यान देना चाहिये। आजसे ५०-६० वर्ष पहलेके लोग आजके लोगोंसे अधिक अंग्रेजी भाषाको जानते थे, समझते थे, परंतु उनके आचरणोंमें अंग्रेजियत नहीं आयी थी और आजके नवयुवकोंमें अंग्रेजी भाषाका ज्ञान तो कम है, फिर भी उनके आचरणोंमें अंग्रेजियत अधिक आ रही है। वे भारतीय संस्कृतिके गुणोंसे दूर होते जा रहे हैं। अध्यात्म-शिक्षा ही इस कमीको दूर कर सकती है।

नयी शिक्षा-नीति

राष्ट्रिय शिक्षा-प्रणाली

(माननीय श्रीराजीव गॉधी, प्रधान मन्त्री, भारत-सरकार)

[माननीय प्रधान मन्त्री श्रीराजीव गॉधीने राष्ट्रिय शिक्षा-प्रणालीपर भारत-सरकारकी नयी शिक्षा-नीतिके सम्बन्धमे राष्ट्रिय विकास-परिषद्की ३९वीं बैठकमे अपना विचार व्यक्त किया था, जो सूचना-कार्यालय भारत-सरकारद्वारा कल्याणमे प्रकाशनार्थ प्राप्त हुआ है, उसे यहॉ प्रस्तुत किया जा रहा है । —सम्पादक]

नयी शिक्षा-नीतिपर बहुत चर्चा हुई है । पर्याप्त विचार-विमर्श और जानकारी एकत्र करनेके बाद हमने एक प्रारूप तैयार किया है जो नीति नहीं है, क्योंकि विशेष दिशा देनेके लिये नीतिका सक्षिप्त और सारगर्भित रूप इसीमेसे निकलेगा । हमने इस प्रस्तुतिमे पहली बात यह समझानेकी चेष्टा की है कि शिक्षा विकासकी प्रक्रियाका ही एक अङ्ग है और इसे विकाससे पृथक् नही किया जा सकता । ये दोनो अलग बाते नही हैं । इस तरह शिक्षासे विकासको गति मिलती है, किंतु शायद इससे भी अधिक विकासके कारण शिक्षाकी मॉग और भी ज्यादा और तेजीसे बढती है । आज शिक्षा-प्रणाली जिस रूपमे है, उसका सम्बन्ध राज्यो, केन्द्र और जनता—तीनोसे है । अत· हम जो भी निर्णय यहॉ लेते हैं उसके क्रियान्वयनमे भी इन तीनोकी सक्रिय भूमिका होनी चाहिये । यदि कोई भी इससे छूट जाता है तो क्रियान्वयन वैसा नही होगा जैसा कि हम चाहते है । शिक्षाका विषय समवर्ती सूचीमे होनेके कारण हमारा यह सयुक्त दायित्व है कि जो शिक्षा हम लोगोको दें वह ऐसी हो कि वर्तमान कठिनाइयोके रहते अच्छी-से-अच्छी हो सके । शिक्षाका मूलभूत उद्देश्य व्यक्तिकी ऐसी स्वतन्त्रता है जो इसके जीवनमे पूर्णताकी ऐसी अनुभूति जगाये जो सबके बीच समानता लाये, व्यक्तिगत उत्कृष्टताको बढावा दे, व्यक्तिगत और सामूहिक आत्मनिर्भरताको प्रश्रय दे और इन सबसे अधिक राष्ट्रिय प्रतिबद्धताको बल दे । हमे ऐसी शिक्षाके लिये उन सुविधाओको जुटाना है जो विकासकी दृष्टिसे उत्पादक हो और जिनसे सामाजिक, क्षेत्रीय और भाषा-सम्बन्धी रुकावटे दूर हो । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम किसी क्षेत्रीय सस्कृति या भाषाको नष्ट करना चाहते हैं, इसका उद्देश्य केवल यह है कि प्रत्येक भाषा और संस्कृतिका विकास इस प्रकार हो कि उससे हमारी विभिन्न संस्कृतियो और लोगोके बीच दीवारे न खड़ी हो ।

शिक्षा लोगोको प्रभुता, प्रौद्योगिकीपर स्थापित करे न कि लोगोको उसका गुलाम बना दे । हम किसी वस्तुकी नकल कर उसे ज्यो-का-त्यो न ले, अपितु उसके स्वभावको समझकर उसमे ऐसे संशोधन करे जो हमारे लिये और देशके लिये लाभकारी हो । शिक्षाको अन्याय, असहिष्णुता और अंधविश्वाससे लड़ना है । यही कारण है कि इस प्रस्तुतिमे हमने राष्ट्रिय मुख्य पाठ्यक्रमका सुझाव दिया है । इसके चारो ओर और स्थानीय, सांस्कृतिक, भाषा-सम्बन्धी एवं अन्य विषय सँजोये जा सकते हैं, किंतु मुख्य पाठ्यक्रमका अभिप्राय यह होगा कि आप उत्तरी, दक्षिणी, पश्चिमी या पूर्वी किसी भी कोनेमे हो, किंतु शिक्षाकी दिशा एक होगी । भारतके किसी भी भागमें स्कूल जानेवाले किसी भी छात्रको एक ऐसा मानक पैकेज मिलेगा, जो इस मुख्य क्षेत्रमे राष्ट्रिय प्रतिबद्धताके लिये आधारभूत दिशा देगा । यह राष्ट्रिय प्रतिबद्धता केवल एकताकी ही दृष्टिसे नहीं, अपितु शिक्षाकी पूरी परिधिकी व्यापक अवधारणाकी दृष्टिसे भी होगी । शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो हमारी जनताकी आन्तरिक शक्तिका निर्माण करे । नयी पीढ़ीको यह पुरातन विरासतसे अवगत कराती है और युवापीढ़ीके समक्ष कलात्मकताके

भण्डार खोलती है । यह भी केवल एक क्षेत्र या एक राज्यमे उपलब्ध सामग्रीतक ही सीमित नहीं रहना चाहिये । स्थानीय संस्कृति, स्थानीय भाषा, स्थानीय विरासतका संगम सारे देशकी विरासत, भारतीय संस्कृति और समृद्धिके साथ होना चाहिये ।

शिक्षा जीवनके प्रत्येक क्षेत्रको प्रभावित करती है; अतः इसे ऐसा होना चाहिये कि भविष्यके लिये हमारी राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकासकी आकाङ्क्षाओ और दिशाओको ध्यानमे रखते हुए अतीतका सर्वोत्कृष्ट उपयोग कर वर्तमानको सर्वोत्कृष्ट बनाया जा सके । सत्य यह है कि कोई भी देश अपनी शिक्षा-प्रणालीसे पूर्णतया सतुष्ट नहीं है और सुधार तथा सशोधनकी प्रक्रिया निरन्तर जारी है । शिक्षा इसलिये दी जाती है कि हम सञ्चित ज्ञान प्राप्त कर सके । एक तरहसे इसका उद्देश्य लोगोको वह ज्ञान देना है जो हमारे पास है । यही हम आज कर भी रहे है, किंतु हमे इससे आगे बढना होगा । यही पर्याप्त नही है कि बच्चोको हम ज्ञान दे, कौशल सिखाये और वे नैतिक एवं अन्य मान्यताएँ दे जो हमे विरासतमें मिली है । शिक्षा-प्रणालीके द्वारा हमे उन्हे भविष्योन्मुखी बनाना होगा जिससे वे केवल अतीतमे ही खोये न रहे, अपितु भविष्यके प्रति सोचे । अपनी शिक्षा-प्रणालीमे ऐसा परिवर्तन करना सचमुच कठिन कार्य है, किंतु यदि हम ऐसा नही कर पाते तो हम विकासकी ओर एकबद्धताकी प्रक्रियाकी वह गति नही दे सकते जो आवश्यक है । भविष्योन्मुखी शिक्षा केवल विज्ञान और तकनीकप्रधान शिक्षा नहीं हैं, यद्यपि विज्ञान और तकनीक भी उसके अङ्ग है । यह एक व्यापक अवधारणा है जिसके द्वारा हम नयी पीढ़ीमे भविष्यकी ऐसी कल्पना जगाना चाहते है कि वे देशके विकास और सुदृढीकरणको सही और व्यापक परिप्रेक्ष्यमे देख सके । शिक्षाके विषयमे ये विचार नये नहीं है । हमारे स्वतन्त्रता-आन्दोलन और भारतीय नवजागरणके कालमे हमे विवेकानन्द, गाँधीजी, टैगोर और हालमे ही जाकिर हुसैनजी-जैसे महान् नेताओके नये विचार मिले । स्वतन्त्रताके बाद शिक्षा-प्रणालीमे सुधारपर विचारके लिये कई आयोगोकी नियुक्ति हुई । आज हमारा उद्देश्य प्रचलित प्रणालीको समाप्त करना या नष्ट करना नही है । प्रयास यह है कि संशोधनोद्वारा इस प्रणालीको विशिष्ट दिशाओंकी ओर उन्मुख किया जाय और जहाँ निष्क्रियता आ गयी है उसे दूर किया जाय । इन विचारोका मुख्य जोर असमानताओको मिटाने, प्रतिभाको बन्धनमुक्त करने और राष्ट्रिय स्तरपर आत्म-संतोष उत्पन्न करनेपर है । इसीलिये हमने सोचा कि नयी पहलकी आवश्यकता है । नयी पहल इसलिये कि शिक्षाका उद्देश्य केवल भौतिक प्रगति या लाभ ही नहीं है । विकासको केवल आर्थिक विकास मानकर हमने प्रायः सांस्कृतिक, सामाजिक और सच्चे विकासको अनदेखा कर दिया है । यदि हम सब भी इस राहपर चलते रहे तो हमे अपनी संस्कृतिको खो देनेका भय है और उस भारतीयताको भी खो देनेका खतरा है जो हम कभी नहीं चाहेगे।

आर्थिक विकासका अभिप्राय किसी तरहकी श्रेष्ठता नही है । आज हम ऑकडोके आधारपर कहते हैं कि जिस देशकी प्रतिव्यक्ति आय अधिक है, वह अधिक विकसित है, अतः हमसे श्रेष्ठ है । यथार्थ यह है कि श्रेष्ठ होना इससे कही अधिक व्यापक अवधारणा है और श्रेष्ठ होनेका मतलब है कि हम क्या सोचते हैं, क्या अनुभव करते है, इसका सम्बन्ध हमारी पूरी संस्कृति और विरासतसे है । आज हमे शिक्षा-प्रणालीमे स्वयंको केवल आर्थिक प्रगतितक ही सीमित नही रखना है । इसका क्षेत्र और व्यापक होना चाहिये । हमारे ज्ञान या पारम्परिक बुद्धिकी उपेक्षा नही की जा सकती । जो ज्ञान हमे विरासतमे मिला है उसे महत्त्वहीन नही माना जा सकता । दूर-दराज या पिछड़े क्षेत्रोमे, गाँवोमे बसे हमारे लोग निरक्षर हो सकते हैं, किंतु हम यह नही कह सकते कि उनमे बुद्धि नही है । वे बुद्धिमान् है, कमी है तो केवल साक्षरताकी, औपचारिक शिक्षाकी । अतः ऐसे उपाय करने होगे कि औपचारिक शिक्षा कही उस बुद्धि और विवेकको समाप्त न कर दे जो हमारे लोगोमे

पहलेसे ही है । इस बुद्धि और विवेकको बनाये रखकर इस प्रकार औपचारिक शिक्षाद्वारा साक्षरताका प्रसार करना है कि लोग अंधविश्वास, शोषण और गुलामीसे मुक्त हो सके । साक्षरता इन बेड़ियोको तोड़नेका एक माध्यम है । साक्षरतासे हमारे समाजकी शक्ति तथा समाजमे शोषणके प्रति विरोधकी शक्ति बढेगी ।

हमारी शिक्षा-प्रणालीकी एक समस्या हमे अंग्रेजी शासनकी देन है । अंग्रेजोके समयमे जोर लोगोको क्लर्क बनानेपर था जिससे उनमे सोचनेकी शक्ति न हो और बिना सोचे-समझे वे कागजी काम करते रहें । दुर्भाग्यसे हमने भी इस प्रणालीको चलने दिया और स्थितिको बदलनेके लिये कोई गम्भीर प्रयत्न नही किया । परिणाम यह है कि इससे असंतुलन उत्पन्न हुए और शिक्षित लोगो एवं युवकोमे असंतोष तथा हताशा बढी जो हम आज देख ही रहे हैं । यदि हम स्कूली शिक्षापर मैकालेके विचार देखे तो पता चलेगा कि इस शिक्षाका उद्देश्य कुछ विशेष स्कूली शिक्षाके पहलुओतक ही था । इससे भारतीय जीवनके यथार्थसे हट गये और पहलेकी तरह आज भी राष्ट्रिय आवश्यकताओसे दूर हैं । शहरी क्षेत्रोको प्रधानता देनेवाली इस शिक्षाने ग्रामीण क्षेत्रोकी उपेक्षा की । शहरो और कस्बोके समक्ष गॉवोको निकृष्ट माना गया । डिग्रियोको बहुत अधिक महत्त्व दिया गया । शिक्षित लोग शिक्षा पानेके बाद गॉववालोके किसी काम नही आते । आज हमारे गॉवमे चुस्त पैंटवाली सभ्यता पनप रही है जो युवकोको गॉवोसे दूर करती है तथा उन्हे अपने ही घर और कस्बोमे बेगाना बनाकर ऐसी निराशा उत्पन्न करती है जिसे बहुत दिनतक अनदेखा नही किया जा सकता ।

नयी नीति है शिक्षा और ज्ञानको एक-दूसरेसे जोड़ना, चाहे वह शहर हो चाहे गाँव, चाहे जनजाति-क्षेत्र हो, चाहे पहाड़ी क्षेत्र, चाहे वन-क्षेत्र हो । वह शिक्षा ऐसी हो कि उसे उस क्षेत्रमे रोजगारके अवसर प्राप्त हो । आज देशके गॉवोके ऐसे कई युवक हैं, उनमे वयस्क भी हो सकते हैं जो शिक्षित हैं । मैं अपने निर्वाचन-क्षेत्रकी ही बात करता हूँ, वहॉ हजारो लोग ऐसे हैं, जिन्होने अच्छी शिक्षा प्राप्त की है, किंतु ग्रामीण क्षेत्रमे उनमेसे एक भी व्यक्ति नही मिलेगा, वे या तो बम्बईमे होगे या दिल्लीमे, अथवा कलकत्तेमे या मद्रासमे, वे सभी शहरोमें होगे । उनमेसे कोई भी शिक्षा प्राप्त कर गॉव वापस नहीं लौटता । अतः शिक्षाका लाभ गॉवोको नही मिलता, अपितु शहरोको ही मिलता है, क्योंकि शिक्षा प्राप्त कर लोग गॉवोको न लौटकर शहरोमे ही रुक जाते हैं । हमे इस प्रवृत्तिको रोककर उससे उलटी प्रवृत्तिको आरम्भ करनेका प्रयास करना चाहिये । इस दिशामे प्रयास औपचारिक शिक्षाद्वारा, व्यावसायिक शिक्षाद्वारा, अनौपचारिक शिक्षाद्वारा जहॉतक पहुँच सके वहॉतक प्रतिव्यक्तिको शिक्षित करना है तथा इसके साथ ही एक ऐसी प्रणाली होनी चाहिये जिससे ऐसे प्रत्येक व्यक्तितक पहुँचा जा सके, जिसे शिक्षा देनी है । इसके लिये हमे सभी उपलब्ध तरीके अपनाने होगे । हमने कई क्षेत्रोमे अपने चिन्तनको सीमित कर दिया है । वास्तवमे शिक्षा मूलत ज्ञानके प्रसारका एक माध्यम है, चिन्तन तथा परिप्रेक्ष्यके प्रसारका एक तरीका है, एक पीढीसे दूसरी पीढ़ीतक जीवनके सही मूल्योको पहुँचाना तथा भावी पीढीको आनेवाली चुनौतियोका सामना करनेके लिये तैयार करना है । प्रसारकी विधियोको अबसे ४० या ५० वर्ष पहले उपयोग की जा रही विधियोतक ही सीमित नही रखा जा सकता । परम्परागत भारतीय शिक्षा-प्रणाली एक व्यक्तितक सीमित थी, जिसमे गुरु और शिष्यके बीच निकटका व्यक्तिगत सम्पर्क रहता था जबकि आज एक गुरु और कई शिष्यवाले युगमे यह सम्बन्ध बिलकुल समाप्त हो गया है । एक अध्यापक और एक शिष्य अथवा एक अध्यापक और तीन या चार छात्रपर आधारित सम्प्रेषण-प्रणाली तब माने नही रखती, जब हम एक अध्यापक और १०० छात्रो या २०० छात्रोके बारेमे बात कर रहे हो । किसी कक्षामे १०० छात्रोके होनेपर हमे हर प्रकारकी उपलब्ध विधिका प्रयोग करना होगा और पश्चिमी देशो या अन्य देशोमे प्रयोग की जा रही विधियोको अपनाने या उनकी नकल करनेके स्थानपर उन विधियोका अपनी आवश्यकताके अनुसार ही प्रयोग करना होगा,

क्योंकि हम ऐसी युवा-पीढ़ी तैयार नहीं करना चाहते जो किसी अन्य देशकी युवा-पीढ़ीकी नकल हो, अपितु हम भारतकी युवा-पीढी तैयार करना चाहते है। वास्तवमें नीतिके क्रियान्वयनका कार्यक्रम बनाते समय ही यह नीति और अधिक स्पष्ट होगी। आरम्भमे ही एक बात स्पष्ट कर दे कि हमे यह नहीं भूलना चाहिये कि बुनियादी रूपसे यह मात्र एक नीति-पत्र है। यह कार्यान्वयनका निर्धारण अथवा कार्यक्रम नहीं है और न ही यह कार्यान्वयनकी योजना है। जिसका हमे अनुसरण करना है। यह तो केवल मार्ग-निर्देश देनेके लिये है। हमें विचार-विमर्शके दौरान यह बात ध्यानमे रखनी है। नयी शिक्षा-नीति केवल दो भारतीयोंके लिये नहीं होगी। इसे समतावादी होनी चाहिये। सभीकी इसतक पहुँच होनी चाहिये या फिर सबके लिये इसतक पहुँचको सुस्पष्ट किया जाना आवश्यक है। हम यह कहनेका प्रयास नहीं करेगे कि हम बुद्धिमत्ताके प्रत्येक स्तरपर या उसी वर्गमें योग्यताके प्रत्येक स्तरपर हर बच्चेको समान शिक्षा दे सकते हैं', किंतु बुद्धिमान् बच्चोको, चाहे वे कमजोर वर्ग, सर्वाधिक पिछड़े तबके अथवा समाजके किसी भी वर्गके क्यों न हो, अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दिये जानेका प्रयास होना चाहिये। हमने उनके लिये स्कूल खोले, किंतु अच्छे स्कूलोंमें वे ही बच्चे पहुँच सके, जिनके पास पैसा है अर्थात् जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है। केवल इसलिये ही हमें इसे बदलनेका प्रयास नही करना है कि हम निष्पक्ष होना चाहते हैं। हम निष्पक्ष और समतावादी होना चाहते हैं, किंतु इसमे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य निहित है। यदि भारतको तेजीसे विकसित होना है, यदि भारतको अपने सभी संसाधनोंका दोहन करना है तो इसके संसाधन केवल धनी और मध्य वर्गतक सीमित नहीं रह सकते। इसके सर्वाधिक समृद्ध साधन उपलब्ध हैं, किंतु ये संसाधन देशके निर्धनतम और सर्वाधिक पिछड़े हुए क्षेत्रोमे नही है। हमें उन मानवीय संसाधनोतक पहुँचना है और देशको सुदृढ़ बनाने तथा लाभ पहुँचानेके लिये उनका विकास करना है। हमने इस पहलूपर ध्यान देनेका प्रयास किया है।

शिक्षा केवल ऐसी एकपक्षीय व्यवस्था नहीं हो सकती जिसमें अध्यापक छात्रको पढ़ायें कि यह ठीक है तथा छात्र उसे समझें, मूल्यांकन किये बिना परीक्षामें अध्यापकद्वारा पढ़ाये गये तथ्योंको लिखकर अच्छे अङ्क प्राप्त कर लें। इस तरहकी शिक्षा ऐसे व्यक्तियोंको कदापि तैयार नहीं कर सकती जो भविष्यके भारतकी परिकल्पना कर सकें। जो यह सोच सकें कि कैसे काम किया जाय। इसमें मनुष्यका इस तरहसे विकास होता है जो यन्त्रकी तरह काम करता है और हमें इस प्रवृत्तिको बदलनेके प्रयास करने चाहिये। किसी भी शिक्षकको यह अनुभव नहीं करना चाहिये कि वह सर्वज्ञ है। सर्वश्रेष्ठ शिक्षक वह नहीं है जो बच्चेको ज्ञानविशेष देता है, अपितु वास्तविक शिक्षक वही है जो बच्चोंको ऐसी शिक्षा दे जिससे बच्चोंका मस्तिष्क सक्रिय हो, उनमें जिज्ञासाकी भावना पैदा हो। उनकी विचारोंकी शक्ति तेज हो जिससे बच्चेके सर्वोत्तम गुण उभरकर सामने आयें।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि ऐसे अध्यापकोंकी संख्या—विशेषकर सरकारी स्कूलोंमे ऐसे अध्यापकोंकी संख्या अधिक नहीं है जो कि यह काम कर सकें। हमारी शिक्षा-नीतिको उत्तम बनानेका कोई भी प्रयत्न तबतक सफल नहीं हो सकता जबतक कि शिक्षकोंको जो कि किसी भी शिक्षण-प्रक्रियाकी धुरी हैं, ऊपर उठानेके लिये है, उनकी उत्तमताकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता है, प्रशिक्षण-समाजमे उन्हे यथोचित मान नहीं दिया जाता है। हमारा विकास कदाचित् इस बातपर निर्भर करता है कि हम अपने समाजमें शिक्षकको कितना मान-सम्मान देते हैं। हम अपने शिक्षकोंको जिस स्तरतक सम्मान देंगे उसी स्तरतक हम ऊपर उठ पायेंगे। जैसा कि मैंने अभी कहा कि हम अपनी सामाजिक व्यवस्थामें जितना मान-सम्मान शिक्षकोंको देगे और जितना अधिक ध्यान उनके विकासके लिये देगे उतना ही ध्यान हम छात्रोपर भी दे पायेगे। किंतु इसके साथ ही हम शिक्षकोसे भी यह अपेक्षा करेंगे कि उनका दृष्टिकोण भी सही हो। शिक्षक जिन मूल्योकी शिक्षा दे, वे नैतिक मूल्य बदलती हुई परिस्थितियोके अनुरूप सही हों। खोज एवं सृजनशीलता

ाक्षकका बुनियादी गुण होना चाहिये और यह तभी हो कता है जब हम शिक्षकके प्रशिक्षणपर पूरा ध्यान दें था यह सुनिश्चित् करे कि योग्यतम लोग शिक्षक बनें था ऐसा न हो कि हर जगह रोजगार तलाशनेके बाद और कोई चारा न देखकर शिक्षक बने। शिक्षाकी ीति ऐसी होनी चाहिये कि वह हमारी आजकी राष्ट्रिय मस्याओको सुलझानेमे मदद करे। राष्ट्रिय समस्याओंमें बसे अधिक बल राष्ट्रिय एकता और अखण्डतापर दिया ाना चाहिये। क्षेत्रीय विशेषताओको समाप्त किये बिना, त्रेत्रीय संस्कृतियोंका विकास करते हुए हमे यह सुनिश्चित करना होगा कि क्षेत्रीयताकी भावना इस तरह न विकसित हो कि वह हमारी राष्ट्रिय पहचानको समाप्त या कमजोर कर दे। हमे यह सुनिश्चित करना है कि धार्मिक नवजागरणवाद हमारी शिक्षा-प्रक्रियाकी कट्टरवादिताका माध्यम न बने।

हमें यह देखना होगा कि हमारी शिक्षा-प्रक्रियासे समाजमें हिंसा कम हो। इससे समाजमे व्याप्त हिंसाके लिये एक चुनौती पैदा हो। इससे भौतिकवाद या उपभोक्तावादकी उस अवधारणाके लिये चुनौती पैदा हो जो प्रचारमाध्यमो और हमारे आस-पासकी दुनियाद्वारा हमपर थोपी गयी है। वास्तवमे इसका दबाव बहुत गम्भीर है। शिक्षा-प्रणाली-द्वारा इसका सामना किया जाना है। हमारी शिक्षा-प्रणाली धर्म-निरपेक्षता, समाजवाद, लोकतन्त्र, राष्ट्रवादको बढ़ावा देने तथा समुचित नैतिक मूल्योको आगे बढ़ानेमे सहायक होनी चाहिये। हमे ग्रामीण क्षेत्रोमे रहनेवाले लोगोकी आवश्यकताएँ पूरी करने, उनके पोषाहार, स्वास्थ्यमे सुधार लाने और सबसे बढ़कर उनके जीवनको उत्तम बनानेके लिये उपलब्ध अवसरोको और बढ़ानेके लिये शिक्षा और विज्ञानका प्रयोग करना है।

हमने यह भी देखा है कि शिक्षाका जितना भी प्रसार हुआ है, वह परिवारके आकारको घटानेमे सहायक हुआ है और एक तरहसे इसने उन दूसरे तरीकोंकी तुलनामे, जिनका हम प्रचार करनेकी कोशिशमे लगे हैं, जनसख्या-नियन्त्रणका काम कहीं अच्छे ढंगसे किया है। हमारे आर्थिक विकासकी गति हमारी जनसंख्यामे होनेवाली वृद्धिकी तुलनामे अधिक होनी चाहिये। जनसंख्यापर काबू पानेका एक सबसे अच्छा तरीका लोगोको शिक्षित् करना है, खास तौरसे महिलाओको शिक्षित करना।

हम अपनी शिक्षा-प्रणालीको मात्र साक्षरता, डिग्रियों और उच्च शिक्षातक ही सीमित नही कर सकते। इसमे दैनिक जीवनसे सम्बद्ध दक्षताओके विकासके लिये व्यावसायिक प्रशिक्षणको समुचित स्थान दिया जाना चाहिये। व्यावसायिक प्रशिक्षण किस स्तरका होना चाहिये, इसका भी ध्यान रखना होगा। कुछ क्षेत्रोंमे यह एक बहुत ही साधारण प्रशिक्षण हो सकता है तो कुछ क्षेत्रोमे यह प्रशिक्षण अत्यन्त आधुनिक स्तरका हो सकता है। हमारी प्रणाली इस प्रकारकी होनी चाहिये जो लोगोको अपना रोजगार आरम्भ करनेके लिये प्रेरित करे, जो उनमे अपनी सहायता स्वय करनेकी भावना पैदा करे। भारत-जैसे बड़े देशमे आज ऐसी भावनाकी बहुत आवश्यकता है। यह काम मात्र परीक्षाओके माध्यमसे पूरा नहीं किया जा सकता। इसके लिये ऐसे तरीकोका पता लगाना होगा जिनसे हम प्रत्येक बच्चेकी योग्यता और प्रत्येक व्यक्तिकी दक्षताका सही-सही पता लगा सके। हमे यह सोचना होगा कि हम डिग्रियोको नौकरियोसे अलग कैसे कर सकते है। सरकारी क्षेत्रमें रोजगार सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण है। हमे इसी क्षेत्रके लिये एक विशेष योजना बनानी चाहिये, जिससे डिग्रियो और नौकरियोको अलग किया जा सके, जिससे कालेज खोलनेके लिये दबाव कम हो और जिसके माध्यमसे सरकारमे काम करनेके लिये और देशकी सेवा करनेके लिये सर्वश्रेष्ठ लोग उपलब्ध हो। हमे यह लक्ष्य प्राप्त करना होगा।

हमारे यहाँ अनौपचारिक या सुदूर शिक्षा-प्रणालीका होना भी आवश्यक है। यह व्यावसायिक शिक्षा नहीं है। इस प्रणालीके अन्तर्गत ऐसे लोगोको पढ़ानेका प्रयास किया जायगा जो औपचारिक प्रणालीके अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त नही कर सके या औपचारिक शिक्षाके दौरान उनकी पढ़ाई बीचमे रुक गयी थी। इस प्रणालीसे उन्हे अपनी छूटी हुई शिक्षाको फिरसे आगे बढ़ानेका मौका मिलेगा

और वे अपनेको औपचारिक शिक्षा-प्रणालीके स्तरतक ला सकते है । यदि वे अनुभव करते है कि वे सक्षम है या उन्होने काफी शिक्षा प्राप्त कर ली है या वे चुनौतीका सामना कर सकते है तो वे फिरसे औपचारिक शिक्षा-प्रणालीमे शामिल हो सकते है ।

हमें अपने समाजको एक ऐसा समाज बनाना होगा जहाँ शिक्षाके प्रति हमेशा रुझान बना रहे । स्कूल या कालेज छोड़नेके साथ ही शिक्षा समाप्त नही हो जाती । यह तो एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवनभर चलती है और जबतक हमारे समाजमे शिक्षाके प्रति सशक्त रुझान नहीं बनेगा, तबतक हम वास्तवमे विकसित नहीं हो सकेंगे और आनेवाले वर्षोंमे भारतके सम्मुख चुनौतियोका सामना नहीं कर सकेंगे ।

हमारी शिक्षा-प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जिससे लोगोकी क्षमताओका विकास हो, उनके जीवनके माध्यमसे हमारे समाजमे उनका महत्त्वपूर्ण योगदान हो । यह सब करनेके लिये हमे सभीके लिये एक बुनियादी शिक्षा उपलब्ध करानी होगी चाहे यह औपचारिक शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षाके माध्यमसे हो या फिर खुले विश्वविद्यालयो-जैसे अन्य संस्थानो, सुदूर शिक्षाप्रणाली या शिक्षाके अन्य माध्यमोसे हो ।

जब हम लोगोपर दृष्टि डालते हैं तो पाते है कि हमारे समाजके कुछ वर्ग ऐसे है जहाँ शिक्षाका प्रसार उतना नहीं हुआ है जितना होना चाहिये था । अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ और कुछ दूसरे कमजोर वर्ग ऐसे ही उदाहरण है । किंतु यदि हमे किसी ऐसे वर्गका पता लगाना हो जो शिक्षाकी दृष्टिसे सबसे अधिक उपेक्षित रहा है तो वह वर्ग है महिलाओका, लड़कियोका । चाहे उच्च वर्ग हो या मध्यम वर्ग, चाहे अनुसूचित जातियाँ हो या अनुसूचित जनजातियाँ या पिछड़े वर्ग, चाहे अल्पसंख्यक हो, सभी वर्गोंमे लड़कियोको ही सबसे कम शिक्षा मिलती है, लड़कियोकी ही पढ़ाई अधूरी रह जाती है । हमारे लिये यह विशेष चुनौती होनी चाहिये, हम देखे कि हम स्कूलोमे अधिक-से-अधिक संख्यामें लड़कियोंको कैसे शिक्षा दे सकते हैं । हमने लड़कियोके लिये माध्यमिक स्तरतक शिक्षाको निःशुल्क कर दिया है, किंतु इससे उनकी बीचमे ही पढ़ाई छोड़नेकी दरमे कमी नहीं आयी है । हमे ऐसे उपाय करने चाहिये जिससे लड़कियोको अपनी पढ़ाई जारी रखनेकी प्रेरणा मिले । यह प्रेरणा लड़कियोको ही नहीं अपितु उनके माता-पिता और समाजको भी मिलनी चाहिये, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रोमे लोग लड़कियोकी पढ़ाईको महत्त्व दे ।

गाँवोके परिवारोकी कुछ ऐसी व्यावहारिक समस्याएँ होती है, जो लड़कियोके स्कूल जानेमे बाधक होती हैं। इन समस्याओको दूर किया जाना चाहिये । घरसे स्कूल काफी दूरीपर होना, सह-शिक्षावाले स्कूलोमे लड़कोके साथ मेल-जोल, घरपर छोटे बच्चोके साथ-साथ घरकी देखभाल करना ऐसी ही कुछ समस्याएँ है । लड़कियोको स्कूलोमे भेजने और उनकी पढाईको जारी रखनेके लिये हमे समाजके नेताओ, स्वयंसेवी संस्थाओ, विशेषकर महिलाओकी संस्थाओको सक्रिय करना होगा । यह कहा जाता है कि एक पुरुषको शिक्षित करनेका अर्थ होता है कि आपने किसी एक विशेष कार्यके लिये एक व्यक्तिको प्रशिक्षित कर दिया, किंतु जब आप एक महिलाको शिक्षित करते है तो आप पूरे परिवारको शिक्षित करते हैं ।

इसी प्रकार अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियोकी ओर भी विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये, क्योंकि उनकी भी इसी प्रकारकी समस्याएँ हैं । उनकी आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नही होती कि वे अपने बच्चोको स्कूलमे अधिक समयतक पढा सके । ऐसी स्थितिमे अनौपचारिक प्रणालीका महत्त्वपूर्ण योगदान होगा । यहाँ बच्चोकी सुविधा और उनकी सीखनेकी क्षमताके अनुसार उन्हे पढ़ानेके लिये समुचित कार्यक्रम बनाये जा सकते है । सबको प्राथमिक शिक्षाका उद्देश्य उसी स्थितिमे प्राप्त किया जा सकता है जबकि समाजका इसमे सक्रिय योगदान हो । अतीतमे लोकोपकारी व्यक्तियोने हमारी शिक्षाप्रणालीमे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है । आज एक बार फिर शिक्षा-प्रणालीमे हमारे समाज और नागरिकोकी वैसी ही भागीदारी आवश्यक हो गयी है । हमे ऐसी

भागीदारीको बढावा देनेके लिये उपायोका पता लगाना है ।

शिक्षाका उद्देश्य पढने-लिखनेतक ही सीमित नही हो सकता । इसका उद्देश्य चरित्र-निर्माण, बच्चेके व्यक्तित्वका निर्माण, खेल-कूद, कलामे हमारी सांस्कृतिक विरासतको उजागर करना-जैसे पारम्परिक रूपसे उपेक्षित, किंतु व्यक्तिके विकासके लिये अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रोकी ओर ध्यान देना हो । हमे सर्वश्रेष्ठ बच्चों, सबसे अधिक प्रतिभावान् बच्चो और उन क्षेत्रोका पता लगाना है, जिनमे उनका सबसे अच्छा विकास हो सकता है । हमे उन्हे उनके विशेष गुणोका विकास करनेका अवसर प्रदान करना है । हमने इस उद्देश्यसे नवोदय विद्यालयका सुझाव दिया । यह स्कूलोकी ऐसी योजना है जो जिलो और गाँवोंमे चल रहे पारम्परिक स्कूलोसे कहीं उत्तम है और जो विशिष्ट वर्गके स्कूलसे भिन्न है । हम समझते हैं कि गरीबो और समाजके सबसे कमजोर वर्गोको अच्छी शिक्षा उपलब्ध करानेकी दिशामें हमारे द्वारा उठाया गया सम्भवतः यह पहला बडा समतावादी कदम है । यह समानता और गुणवत्ताके लिये उठाया गया कदम है । इसका उद्देश्य सबसे अच्छे बच्चोको सबसे अच्छी शिक्षा उपलब्ध कराना है चाहे उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि, आर्थिक, सास्कृतिक और सामाजिक स्थिति कैसी भी रही है ।

हमे अपने निर्धारित लक्ष्योको प्राप्त करनेके लिये चाहे वे कितने ही बड़े क्यो न हो, हमे नयी शिक्षा-प्रणालीमे एक नयी व्यवस्थाका विकास करना होगा । शिक्षा-जैसे अत्यन्त विशिष्ट विषयमे प्रशासनसे जुडे लोगोको सम्मिलित करना ही पर्याप्त नहीं होगा । हमे अपनी पूरी शिक्षा-प्रणालीकी व्यवस्था, जिसमे शिक्षकोके प्रशिक्षणसे लेकर उनके कार्य-निष्पादन, शिक्षासे सम्बद्ध प्रशासनिक कार्मिको और इस क्षेत्रमे केन्द्र और राज्योके बीच सम्बन्धोका ध्यान रखना होगा और दोनोकी समान भागीदारी सुनिश्चित करनी होगी । नयी शिक्षा-प्रणालीका उद्देश्य गरीबीको दूर करना तथा समाजको एक नया रूप देना होना चाहिये । इसपर राजनीति, संकीर्णता, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और धर्मान्धताका प्रभाव नहीं होना चाहिये । हमें शिक्षा-संस्थानोको और स्वायत्तता देनी होगी । इन संस्थानोको लोगोमे वैज्ञानिक दृष्टिकोणका विकास करना होगा । ऐसे दृष्टिकोणका नही जिससे उच्चकोटिके वैज्ञानिकोका विकास हो, अपितु एक ऐसे औसत भारतीय दृष्टिकोणका विकास हो जो विज्ञान और प्रौद्योगिकीके क्षेत्रोंमे सर्वश्रेष्ठ लोगोका पता लगानेमे सहायक हो । हमे यह देखना है कि हम उच्चतर और व्यावसायिक शिक्षाको किस सीमातक सहायता उपलब्ध कराना चाहते है ।

हमारी जो कुछ जिम्मेदारी है, उसका सदुपयोग केवल तभी हो सकता है, जब मुख्य जोर शिक्षापर दिया जाय । शायद शिक्षाके लिये आर्थिक आवश्यकताओसे अधिक मात्रात्मक आवश्यकताएँ योग्यतात्मक आवश्यकताएँ है और जीवन, दैनिक जीवन, हमारे विकास, हमारे भविष्यके प्रति शिक्षाकी प्रासगिकता (ऐसा क्षेत्र) है जहाँ विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग, राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद्, एन० आई० पी० ए०, राज्य-परिषदोकी बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका है । उन्हे यह देखना चाहिये कि स्तर तथा दिशाको प्रणालीमे समाहित किया जाय और इन्हे व्यवस्थाके निम्नतम स्तरोतक पहुँचाया जाय ।

परम पदको कौन पाते हैं ?

यैस्त्यक्तो ममताभावो लोभकोपौ निराकृतौ ।
ते यान्ति परमं स्थानं कामक्रोधविवर्जिताः ॥

(स्कन्द० मा० के० ३१ । ६६)

जो ममता, लोभ और क्रोधका त्याग कर चुके है, ऐसे काम-क्रोधरहित पुरुष ही परम पदको प्राप्त करते हैं ।

नयी शिक्षा-नीतिमें शिक्षकोंकी भूमिका

(श्रीमती कृष्णा साही, शिक्षा एवं संस्कृति-राज्यमन्त्री, भारत-सरकार)

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि 'कल्याण' शिक्षापर एक विशेषाङ्क निकाल रहा है। गुरुको अत्यन्त उच्च सम्मान प्रदान करना भारतमे हजारो वर्षकी पुरानी परम्परा रही है। प्राचीनकालमें हमारे गुरु बच्चोंको न केवल कुछ ज्ञान तथा कौशल प्रदान करनेके लिये ही उत्तरदायी थे, अपितु उनके सम्पूर्ण विकासके लिये उत्तरदायी थे। इस प्रकार वे एक महती जिम्मेदारी निभाते थे और इसे निभानेके लिये उनमे वैसे ही महान् आध्यात्मिक और बौद्धिक गुण भी होते थे।

अब हम बच्चोंके सम्पूर्ण विकासको शिक्षाके मूल उद्देश्यके रूपमे पुन· स्थापित कर रहे है। संसदद्वारा सन् १९८६ ई०मे अनुमोदित 'नयी शिक्षा-नीति'में इसे और साथ ही इस लक्ष्यको प्राप्त करनेमे शिक्षकके सर्वोपरि महत्त्वको स्वीकार किया गया है। इस नीतिके अनुसरणमे देशके लगभग सभी जिलोंमे प्रारम्भिक स्कूलोंके शिक्षकोंके लिये पूर्व-सेवा तथा सेवाकालीन पाठ्यक्रमोको आयोजित करनेकी समुचित क्षमतावाले उपयुक्त रूपसे सुसज्जित जिला शिक्षा और प्रशिक्षण-संस्थान स्थापित किये जानेका प्रस्ताव है। माध्यमिक शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थाओंको भी उपयुक्त रूपमे सशक्त किया जायगा। हमारे शिक्षकोंकी गुणवत्तामें सुधार करनेके लिये अनेक उपाय भी किये जा रहे है।

जहाँ एक ओर सरकार उपर्युक्त पहल कर रही है, वहीं दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि हमारी शिक्षा-पद्धतिमें शिक्षककी भूमिकापर सतत चिन्तन और विचारोंका आदान-प्रदान हो तथा यह सुनिश्चित करनेके लिये उपाय सोचे जायँ कि शिक्षक उक्त भूमिकाको भलीभाँति निभायें।

मुझे विश्वास है कि 'कल्याण'द्वारा प्रकाशित किये जा रहे विशेषाङ्कमें इस विषयपर हमारे देशके शाश्वत ज्ञान और सारे विश्वकी आधुनिक विचारधाराओंका समागम हो सकेगा और देशकी समूची शिक्षा-प्रणालीमें सुधार करनेके लिये अनेक बहुमूल्य सुझाव मिल सकेंगे।

डॉ० सम्पूर्णानन्दके शैक्षिक विचार

भारतीय सस्कृतिका प्रधान अङ्ग वही है, जिसका विकास आजसे सहस्त्रो वर्ष पूर्व सिन्धु और सरस्वतीके किनारे भृगु, अथर्व, अङ्गिरा, वसिष्ठ और विश्वामित्रके तपोवनोंमे हुआ था। तबसे उसमें बहुत-सी देशी-विदेशी सस्कृतियोंका योग हुआ है। उसने उन सबको अपनाया है और एक नया रूप दिया है, परंतु यह न भूलना चाहिये कि इस अङ्ग अर्थात् इस धारासे ही भारतीय सस्कृतिका भारतीयपन उसका व्यक्तित्व है। यदि यह परम्परा लुप्त हो गयी तो हमारी सास्कृतिक विशेषता भी लुप्त हो जायगी। भारतीय तब भी रहेगे, भारत भी रहेगा, देशमे चार पैसा भी होगा, अपना राजपाट भी होगा, परंतु हमारी आत्मा मर चुकी होगी। हमारा सांस्कृतिक जीवन दूसरोंकी प्रतिकृति—नकल-मात्र होगा।

इस संस्कृतिकी रक्षाका सबसे बड़ा दायित्व शिक्षित-वर्गके उस अशपर है, जिसे हमारे समाजका नेतृत्व प्राप्त है। जो भृगु और अंगिरा के आसनपर बैठकर यजमानको कर्मकाण्डमे दीक्षित करता है, जो व्यासपीठपर धर्मका उपदेश करता है, उसे तो अपने कर्तव्यका पालन करना है, अपनी बात कहनी है, अपने स्थानपर अटल रहना है।

(सकलनकर्ता—श्रीश्रवणकुमार पाठक,—रुद्रायन)

व्यावसायिक तथा नैतिक मूल्योंके परिवेशमें शिक्षाकी उपयोगिता

(डॉ॰ श्रीकर्णसिंहजी)

[यद्यपि आधुनिक शिक्षा-पद्धतिके दूषित पाठ्यक्रमोपर विचार करके भारत-सरकारने नयी शिक्षा-नीतिकी रचना की है और वह लागू भी है, तथापि भारतके कोने-कोनेसे उसमे परिवर्तनके सुझाव आ रहे है, जिनके आधारपर हमारे युवा प्रधान मन्त्री तथा शिक्षा-मन्त्री दोनो ही व्यावसायिक तथा नैतिक मूल्योपर आधारित शिक्षा-नीतिकी पुनःसंरचनापर बल दे रहे है । इस संदर्भमे भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री तथा मूर्धन्य चिन्तक डॉ॰ श्रीकर्णसिंहद्वारा प्रस्तुत नयी शिक्षा-नीतिकी रूपरेखा सर्वोत्कृष्ट है, जिसे यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है । —सम्पादक]

भारत आज जिस भारी परिवर्तनके प्रवेशद्वारपर खडा है, उसकी नीव हमारे बदले हुए आबादीके ढाँचे और स्वतन्त्रताके समयसे अपनायी गयी अनेक आर्थिक तथा विकासोन्मुख नीतियोके संचित प्रभावद्वारा रखी गयी है । इसके लक्षण नयी पीढ़ीमे नयी जागरूकता तथा आत्मविश्वासके रूपमे प्रकट होने लगे हैं । नागरिक तथा ग्रामीण क्षेत्रोके युवा पुरुषो तथा स्त्रियोमे एक विलक्षण परिवर्तन देखनेमे आ रहा है, जो उन लोगोको दिखलायी नही पड़ता, जिनके विचारोंकी सुई स्वाधीनता-पूर्वकी विचार-पद्धतिमें ही अटक कर रह गयी है । उनकी ऑखोकी चमक देखकर प्रसन्नता होती है । हम उन्हे प्राय· पर्याप्त रोष-भरे पाते है, परंतु उनमें कुछ अच्छा कर दिखाने और अपना तथा राष्ट्रका समुचित भविष्य बनानेकी अदमनीय आकाङ्क्षा प्रतिबिम्बित होती है ।

२१वीं सदीकी ओर सिरके बल सरपट दौड़ती दुनियामे हमे भ्रष्टाचार, अंधविश्वास और रूढिवादकी बेडियॉ तोड़नेके लिये प्रबल प्रयत्न करनेका आह्वान मिल रहा है, जिन्होने हमे इतने समयसे बॉध रखा है । हमे आभ्यन्तरिक और बाह्य शक्तियोको सगठित कर भविष्यमे दृढतापूर्वक प्रवेश करना है । निस्संदेह इस प्रक्रियाका प्रमुख साधन हमारी शिक्षा-प्रणाली होगी । इसलिये यह उपयुक्त ही है कि हमारे युवा प्रधान मन्त्रीने शिक्षाकी पुन सरचनापर विशेष बल दिया है, परंतु दु·साध्य कार्यको आरम्भ करनेके पूर्व हमारे मस्तिष्कमे यह ठीक-ठीक स्पष्ट हो जाना चाहिये कि हम क्या पाना चाहते है; क्योकि बिना स्पष्ट लक्ष्यके पूरी व्यवस्थाको छेडना नकारात्मक और आत्मघाती अभ्यास होगा ।

प्राथमिक शिक्षा

प्राथमिक शिक्षाकी सर्वव्यापकता, माध्यमिक शिक्षाके व्यावसायीकरण और विश्वविद्यालय-शिक्षाके वैज्ञानिक पुनर्गठनका कार्य सम्मुख है । इन सभी तीनो खण्डोमें सुसंगत और वाञ्छनीय नैतिक मूल्योकी योजनाके पुनः प्रवेशका सुनिश्चित प्रयत्न होना चाहिये । बहुत बड़ी संख्या और सीमित साधनोकी दृष्टिसे उत्तरदायित्व सँभालना सरल न होगा, परतु यदि इसका दृढता और सूझ-बूझसे सामना न किया गया तो हम अपने राष्ट्रकी भावी नियतिके निर्माणका अमूल्य अवसर खो देगे ।

पहली समस्या साधनोकी है । सातवी पञ्चवर्षीय योजनाके प्रारम्भिक प्रलेखसे ही स्पष्ट है कि स्वास्थ्य और शिक्षाको अब भी नरम क्षेत्र माना जा रहा है और इन्हे अल्प आर्थिक प्राथमिकता दी जा रही है—यह बडे दुर्भाग्यकी बात है, क्योंकि वास्तवमे ये ही दो क्षेत्र ऐसे हैं जिन्हे सीधी मानवीय लागत कहा जा सकता है । हम नागरिकोके उपयोगके लिये इमारतो, पुलो, होटलो तथा अन्य निर्माण-कार्योमे अरबो रुपये खर्च करते हैं, परंतु उस राशिका चौथाई अश भी इन नागरिकोके स्वास्थ्य तथा इनकी चेतनाके विकासके लिये सीधा व्यय नही कर सकते । परिणामस्वरूप हम ऐसी परिस्थितिमे आते जा रहे है जहॉ भीतरी तथा बाहरी विकासके बीचकी दूरी तेजीसे बढती जा रही है । हम पश्चिमके जीवन-स्तरकी समता कभी नहीं कर सकेगे । साथ ही यदि हम अपनी शिक्षा-पद्धतिको प्राच्य नैतिक आधार नही दे पाते तो अपनी आन्तरिक क्षमता और सत्यनिष्ठाको खो बैठेगे । इसके लिये योजनाकी प्राथमिकताओकी पुनर्व्यवस्था करना

आवश्यक होगा, जिससे मानवीय लागत और इस्पातपर व्यय की गयी लागत कम-से-कम आनुपातिक हो सके ।

प्राथमिक शिक्षाकी सर्वव्यापकता एक संवैधानिक अनिवार्यता है, जिसकी हम अवहेलना करते रहे है और जिसे हर कीमतपर पूरा किया जाना चाहिये । ऐसी परिस्थिति नहीं होनी चाहिये कि २१वी सदीमे प्रवेशके समय लाखों भारतीय पढ़ने-लिखनेमे असमर्थ हो । संविधानके प्रावधानके अनुसार इसके लागू होनेके दस वर्षके अंदर १४ वर्षतकको आयुवालोकी शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य होनी चाहिये थी, परंतु ३५ वर्षके बाद अब भी हम इसे प्राप्त करनेसे बहुत दूर है । शिक्षाकी किसी भी पुन:संरचनाका आरम्भ इस नैतिक तथा संवैधानिक अनिवार्यताको पूरा करके ही करना होगा और सातवी योजनामे इसके लिये आवश्यक साधन जुटाने होगे, भले ही इसके लिये दूसरे क्षेत्रोमे कमी ही क्यो न करनी पड़े ।

माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक क्षेत्रमे व्यावसायिकताकी संकल्पनाका आरम्भ १०+२ स्तरपर हो चुका है, परंतु आम धारणा यह है कि वास्तवमे इसका प्रयोग संतोषजनक नहीं है । संकल्पना तो यह थी कि यह नवयुवकोंके एक बड़े प्रतिशतको अनेक व्यवसायोमें सक्षम बना देगी । इस प्रकार कालेजमे जानेकी लक्ष्यहीन प्रवृत्ति भी कम हो जायगी, जो मानवीय संसाधनोका भीषण अपव्यय एवं दुरुपयोग-सा है । अनेकानेक कारणोसे यह सम्भव नही हुआ । एक कारण तो यह है कि दो वर्षका समय वास्तवमे किसी व्यवसायको ठीक-ठीक सिखानेके लिये पर्याप्त नहीं है । इसपर गम्भीरतासे विचार किया जाना चाहिये कि कालेजके पाठ्यक्रमसे एक वर्ष उच्चतर माध्यमिक स्तरमे क्यो न जोड दिया जाय और इस प्रकार पहलेके जूनियर कालेजोको नये रूपमे दोबारा चालू किया जाय । दसवी कक्षाके बाद इसमे तीन साल लगेगे जो प्रमुखत व्यवसायपर आधारित होगे और तेजीसे बढ़नेवाली तकनीकी आवश्यकताओकी पूर्ति करेगे जो अर्थव्यवस्थाके आधुनिकीकरणसे निरन्तर बढती जायगी ।

यह आश्चर्यकी बात है कि आज लाखो स्नातकों तथा उत्तर स्नातकोकी बेकारीके बावजूद बड़े-बड़े नगरोंमें भी पूरी तरह प्रशिक्षित नलसाजो, बिजली तथा टेलीविजन ठीक करनेवालोका मिलना असम्भव है । इसी प्रकार विकासशील ग्रामीण तथा स्व-रोजगारके वढते क्षेत्रमें व्यवसायोमे प्रशिक्षित युवको और युवतियोंके वड़े दलकी आवश्यकता है, जिन्हे पहलेसे ही भीड़भाड़वाले तथा नित्य बढ़ती रुग्ण, गंदी बस्तियोवाले नगरोकी ओर जानेकी अपेक्षा ग्रामीण तथा अर्धग्रामीण क्षेत्रोंमे जाकर काम करनेके लिये प्रेरित किया जाना चाहिये । सहायक तथा पोषक क्रिया-कलापोका पूरा समूह है, जिनके लिये हमारी आजकी शिक्षा पूर्णतः अनुपयुक्त है और जिसकी पूर्ति सावधानीसे तैयार किये गये त्रिवर्षीय उच्चतर माध्यमिक व्यावसायिक पाठ्यक्रमद्वारा की जा सकती है ।

यदि ऐसा किया जाय तो आजकी अपेक्षा कालेजोमे प्रवेश कहीं अधिक कठोरता और उत्कृष्टताके आधारपर किया जा सकता है । आज स्कूलसे कालेजमे भर्ती होनेकी लक्ष्यहीन प्रवृत्तिके कारण मानवीय तथा भौतिक साधनोकी घातक नश्वरताका बढ़ता बोझ हमारे-जैसा राष्ट्र सहन नही कर सकता । कालेजमे प्रवेशको प्रतियोगिताके आधारपर सीमित करना पड़ेगा, जिससे उच्च शिक्षा प्रतिभावान् युवक ही ले सके । यदि यह हो सके तो वास्तवमे यह शिक्षा-प्रक्रियामें एक उपलब्धि मानी जायगी । कालेजोमे भीडभाड़ और स्तरका गिरना कम होते जायँगे और शीर्षस्थ विश्वविद्यालय एक बार फिर निम्न स्तरके शैक्षणिक प्रशासनमे निरन्तर उलझे रहनेकी अपेक्षा उच्चतर अध्ययनके केन्द्र बन सकेगे । डिग्री-कालेज स्नातक-स्तरतक स्वतः पूर्ण संस्थाके रूपमे विकसित होगे और विश्वविद्यालय अपनेको स्नातकोत्तर अध्ययन तथा अनुसंधान-कार्यके लिये सीमित रखेगे, जिसके लिये वे वस्तुतः स्थापित किये गये थे ।

वास्तवमे विचारणीय विषय पञ्चवर्षीय ढाँचा है, जिसमे पाँचवे दर्जेतक प्राथमिक विद्यालय, छठेसे दसवे दर्जेतक निचला माध्यमिक खण्ड, ग्यारहवेसे तेरहवे दर्जेतक उच्चतर माध्यमिक व्यावसायिक खण्ड, चौदहवेसे सोलहवे दर्जेतक कालेज अथवा निचला त्रिवर्षीय खण्ड और उत्तर स्नातक

तथा शोधकार्यके लिये विश्वविद्यालय अथवा उच्चतर त्रिवर्षीय खण्ड हैं। डाक्टरी, इंजीनियरी तथा अन्य व्यावसायिक शाखाएँ ग्यारहवीं कक्षासे आरम्भ होकर आगे चलेगी।

शिक्षक-प्रशिक्षण

स्पष्टतया ऐसे प्रस्तावका प्रभाव-क्षेत्र व्यापक है। मैट्रिकसे उच्चतर माध्यमिक पद्धतिमे परिवर्तन करनेमें विशेष रूपसे पाठ्य-पुस्तको और शिक्षण-प्रशिक्षणमे कई वर्ष संगति बैठानेमे ही लग गये। तथापि इस बारका परिवर्तन अधिक सरल है; क्योंकि सुझायी गयी बाते पिछली स्थितिसे मेल खाती हैं। परंतु ढाँचेके बावजूद जो कहीं अधिक आवश्यक बात है वह है शिक्षाकी विषय-वस्तु। हमारे युगकी एक बड़ी त्रासदी रही है कि यद्यपि हम मानवताकी प्रसिद्ध और शक्तिशाली बौद्धिक परम्पराओंमेंसे एकके उत्तराधिकारी है तो भी हमारी शिक्षा-पद्धतिमें निर्देशन और लक्ष्यकी कमी है। जिन भीषण परिस्थितियोके परिणामस्वरूप, देशके बँटवारेकी कीमत चुकाकर हमने स्वतन्त्रता पायी उनकी हमपर ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि हमारी शिक्षा नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्योंसे सर्वथा वञ्चित रह गयी। धर्मनिरपेक्षताकी गलत व्याख्याके कारण वास्तवमे हमने टबके पानीके साथ शिशुको भी बाहर फेक दिया है। हिंदुत्वके पक्षपाती होनेके दोषारोपणसे हम इतने भयभीत थे कि शिक्षा-पद्धतिमे हमने प्राच्य नैतिक मूल्योका तनिक भी संनिवेश नही किया। इस तथ्यके बावजूद भारत-सरकार-द्वारा गठित कमेटियो और कमीशनोकी लम्बी शृंखला चली। सन् १९०४ ई०मे राधाकृष्णन्-कमीशन, सन् १९५० ई०मे श्रीप्रकाश-कमेटी, सन् १९६० ई०मे कोठारी-कमीशनने नैतिक शिक्षा आरम्भ करनेकी जोरदार संस्तुति की है।

वाञ्छनीय लक्ष्य

पाठ्यक्रमकी पुनःसंरचना हमे पाठ्यक्रम तथा शैक्षिक-प्रणालीका पूर्ण संशोधन करनेकी शक्ति देगी, जिसमे अपने नागरिकोको वाञ्छनीय नैतिक मूल्य प्रदान करनेकी आवश्यकतापर ध्यान देना होगा। यद्यपि मै अपने यहाँ धार्मिक शिक्षा आरम्भ करनेका तर्क नहीं प्रस्तुत कर रहा हूँ, जो हमारे संवैधानिक ढाँचेमें व्यक्तिगत तथा धार्मिक संस्थाओके लिये छोड़ दी गयी है; तथापि निश्चित रूपसे हमारी यह जिम्मेदारी है कि हम देखे कि भारतकी भावी पीढ़ियाँ हमारी समृद्ध आध्यात्मिक तथा बौद्धिक विरासतका ज्ञान प्राप्त करते हुए बढ़े। पश्चिममे जिस तरह सुकरात और प्लेटो (अफलातून) के अध्ययनको किसी भी तरह थैगरवादका प्रचार नहीं माना जाता, उसी तरह उपनिषदोके अध्ययनको भी हिंदू-धर्मका प्रचार नहीं मानना चाहिये। इसी तरह सामाजिकतापर आधारित कार्य-नीति, जिसका लक्ष्य व्यक्ति तथा सामूहिक विकास है, तभी क्रियात्मक रूप धारण कर सकती है जब गीता या अन्य धार्मिक ग्रन्थोमे दी गयी निःस्वार्थ और समर्पणकी भावनाकी पुनः व्याख्या करके इसे आजकी परिस्थितियोके अनुरूप सार्थक बनाया जाय।

हमे दूसरी धार्मिक परम्पराओ तथा विभिन्न क्षेत्रोसे भी प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिये। उदाहरण-स्वरूप जैन तथा बौद्ध-परम्पराओसे अहिंसा, ईसाइयोकी उदारता तथा सेवाकी प्रतिज्ञा, इस्लामी सामाजिक समानताका महत्त्व तथा सिखोके भाईचारे और बलिदानकी परम्परा—सभी हमारी सांस्कृतिक विरासतके मूल्यवान् तत्त्व है, जिन्हे हम अपनी शिक्षाके सिद्धान्तोके लिये सूझबूझके साथ प्रयुक्त कर सकते हैं। साथ ही हम जिस विश्वमे रहते है, उसके विषयमे स्वतन्त्र और निर्भीक जाँच-पड़तालकी वैज्ञानिक भावनाके, जो वेदान्तकी परम्परासे किसी प्रकार भी विपरीत नही है, पोषण और विकासकी आवश्यकता है।

हमारी शिक्षा-पद्धतिके बाहरी ढाँचे तथा आन्तरिक भावनाका रचनात्मक पुनर्नवीकरण इस दशाब्दीके बचे हुए वर्षोंमे बड़ी दिलचस्प चुनौती है। वास्तवमे हमे शैक्षणिक आदर्श उपस्थित करनेमे समर्थ होना चाहिये। वह केवल अपने ही लिये नही अपितु समस्त विकासशील जगत्के लिये हो, जो निराश होकर पूर्वकी परम्परा तथा बुद्धिमत्ता और पश्चिमकी तकनीकी प्रगतिके बीच समन्वय खोज रहा है।

वैचारिक साहस पैदा करें

(डॉ० श्रीविद्यानिवासजी मिश्र)

नयी शिक्षा-नीति भारतके समस्त प्रान्तोमे लागू की जायगी, फिर भी उसमे भाषाका कोई संकेत नहीं है। जब समस्त प्रान्तोमे कोई भी ऐसी भाषा नहीं है, जो प्रान्तोको आपसमे जोड़ती हो, तब यह आशङ्का स्वाभाविक ही है कि नयी शिक्षा-नीतिमे शिक्षा किस भाषाके माध्यमसे दी जायगी ?

नयी शिक्षा-नीतिमे मूलरूपसे जो उद्देश्य समायोजित होना चाहिये था, उसका अभाव है। जीविका एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जीवनमे अर्थका महत्त्व है, वह एक पुरुषार्थ है, किंतु वह पुरुषार्थके साधनोमे द्वितीय है, प्रथम नहीं। उसकी सिद्धि होनी चाहिये, परंतु उसकी सिद्धिको शिक्षासे जोड़ना उचित नहीं है। स्वतन्त्र तथा सरकारी क्षेत्रोंमे सेवाके कितने अवसर हो सकते हैं? हमारे विश्वविद्यालय हजारोकी संख्यामे छात्र भर्ती कर लेते हैं और प्रतिवर्ष हजारोकी सख्यामे लोग डॉक्टर, शिक्षक, इंजीनियर और वकालतकी डिग्रियाँ लेकर निकलते है, जो बेरोजगारीकी संख्यामे वृद्धि ही करते है। एक ऐसी नीति हो, जो आगामी ५ से १० वर्षकी योजनाको बनाये तथा इससे कुछ न्यूनाधिक उत्पादन करे। किंतु शिक्षाका यह मुख्य क्षेत्र नहीं है, यह इसका उपक्षेत्र है। शिक्षाका मुख्य क्षेत्र तो वही है, जिससे मनुष्य सोचनेकी शक्ति पा सके। हमारे यहाँ ९० प्रतिशत मनुष्य, सोचनेकी शक्ति मौखिक परम्परासे ही प्राप्त करते आये हैं।

वैज्ञानिक मनोवृत्ति और संगणकीकरणकी बात की जाती है, परंतु मूल प्रश्न है मनुष्यके अस्तित्वका, जिसमे उसकी सम्भावना एवं जीवनका आस्वाद निहित है। इसे आँखोसे ओझल नहीं होने देना चाहिये। मनुष्य बनाना है, ससाधन नहीं। मनुष्य इस प्रकृतिका विजेता नहीं, इसका सहचर है और सबसे अधिक चैतन्य उसमे उन्मीलित है, इसलिये उसपर सबसे अधिक दायित्व है कि वह इस चैतन्यका सहभागी सबको बनाये, भोक्ता न बनकर सहभोक्ता बने। अध्यापक छात्रको पढ़ाये, तो साथ पढते हुए पढ़ाये, उसके प्रश्नका उत्तर देते हुए पढ़ाये। यह नही कि वह पढ़ाये और छात्रसे दूर रहे। दोनोमे परस्पर सहयोग आवश्यक है। यह सहयोग इस विश्व-दृष्टिपर आश्रित है, जो आपसे अपेक्षा रखती है कि आप अकेले तबतक कुछ नहीं कर सकते, जबतक आप सबके साथ नहीं जुड़ते।

संगणकीकरण-प्रणालीसे सबसे अधिक हानि यह होगी कि हमारे छात्र बिना उसकी सहायताके २ × २ = ४ नहीं कर सकेगे तथा संगणककी सहायता लिये बिना शब्दोका निर्माण नही कर सकेगे। उनकी सृजनात्मक क्षमता नष्ट हो जायगी। जिस तकनीकी-जालकी रचना हमने की है, वह जाल ही हमे ग्रस रहा है। इससे बचना चाहिये, इसे नियन्त्रक न बनने दें।

जिन लोगोने बच्चोंके मनोविज्ञानपर अमेरिका तथा कनाडामे प्रयोग किया है, उनका भी यही निष्कर्ष है कि जो आँखे निरन्तर टेलीविजनसे चिपकी रहती है, वे ब्योरे नहीं देख सकती, एक पत्ती और दूसरी पत्तीमे भेद नहीं कर सकती और प्रकृतिमे बिखरे नानाविध रंगोको नहीं देख सकती। उनमे पूर्णता ग्रहण करनेकी शक्ति खण्डित होती है। इन निष्कर्षो एव देशके साधनोका विचार करके देशकी शिक्षा-नीतिका विचार होना चाहिये।

अधिकांश प्राइमरी पाठशालाओमे कहींपर चट्टियाँ नहीं हैं, कहीं भवन नही है, कही अध्यापक नही हैं। इतना ही नहीं, कही-कही तो कुछ भी नहीं है—न छात्र, न अध्यापक और न अन्य सामान, किंतु कागजपर स्कूल यथावत् चल रहे है। इसीलिये इसके समानान्तर सम्पन्न वर्गके लिये एक शिक्षा विकसित हुई है। उस शिक्षाको प्रभुओका संरक्षण प्राप्त है; क्योंकि उसी शिक्षाके बलपर शासक एव शासितका भेद अनन्तकालतक स्थिर रखा जा सकेगा। इस शिक्षाके बलपर सम्पन्न सम्पन्नतर होगा, विपन्न विपन्नतर होगा।

जो ज्ञान दिया और दिलाया जाता है, उसका भी

लक्ष्य यही है, पर इसके साथ कुछ वस्तुएँ जुडती हैं। इस कारण कि मनुष्यकी ऑखे खुले, उन्हे देखनेका अवसर मिले। अनेक प्रकारकी सूचनाएँ प्राप्त हो, उन्हे देखते एवं प्राप्त करते हुए उन्हे जॉचनेकी प्रक्रिया प्रारम्भ हो, यह आवश्यक है।

एक शब्द है संस्कृति, जिसने धर्मको अपदस्थ किया है। धर्म-जैसे व्यापक शब्दको अपदस्थ करके यह संस्कृतिका अनुवाद बन गया है। हमारी अपनी भाषामें 'सम्' उपसर्ग और 'डुकृञ् करणे' धातुसे जुड़कर दो शब्द बनते है—संकर और संस्कार। पाणिनिने अन्तर किया कि जो जोड़ गुणोको स्वीकार करते हुए और अवगुणोको हटाते हुए होता है, वह संस्कार है। यदि बिना विवेकके जोड़ हो जाता है तो वह संकर है। संस्कृतिमे सकर नही है। वह ऐसा योग है, जिसमे विवेकपूर्वक कुछ वस्तुएँ हटायी जाती हैं और कुछका अपमार्जन होता है, कुछका निराकरण होता है और कुछ ग्रहण की जाती हैं, इसलिये जिसे सास्कृतिक आदान-प्रदान कहते हैं, उसमे कोई वस्तु उधार नही ग्रहण की जाती है, वे ली जाती हैं पश्चिमकी संस्कृतिमे। परिश्रम ऊर्जस्विता और सामाजिक न्यायपर बल है। यह ग्राह्य है, परंतु साथ-साथ मनुष्यके उपभोक्ता होनेका जो भाव है, यह त्याज्य है। मनुष्य उपभोक्ता मात्र नही है। उपभोक्ता तो मात्र निकालना जानता है। मनुष्य भी मनुष्यके प्रति उपयोगी बन जाता है। नारीके प्रति उसकी दृष्टि मलिन हो जाती है। जब वह सोचता है कि हम सहभोक्ता हैं, हम सृष्टिके केन्द्रमे नहीं हैं, सृष्टि हमारे भीतर है, तब दृष्टि ठीक होती है।

महर्षि वाल्मीकिने एक बहेलियेको एक क्रौचको मारते हुए देखा, तो उनके मनको लगा कि बडा अधर्म हुआ। इसने एक आनन्द और उल्लासके क्षणको नष्ट कर दिया। यदि इस अधर्मको हमने सह लिया तो और अधर्म होगा। अत. उसे शाप दिया, उस शापसे भारतीय साहित्यका जन्म हुआ। अन्याय और अधर्मको सहन न करनेवाले क्रोध और करुणासे उद्वेलित तथा न्यायकी मॉगसे हमारे साहित्यका प्रारम्भ हुआ है। वही हमारा आदिकाव्य है। इस सृष्टिमे कुछ भी त्याज्य नही है, जो है, उसे समझे और उसके साथ समरस हो—यह हमारा दायित्व है।

शिक्षामे साहचर्य-भाव देनेकी चेष्टा की विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने, किंतु रवि ठाकुरका 'विश्वभारती' संस्थान भी बदल गया। गॉधीजीके नामपर खोला गया काशी-विद्यापीठ भी बदल गया। ये संस्थाएँ क्यो बदल गयी जिनमे देशकी मिट्टीसे आयी देशकी अस्मिताकी परिकल्पना थी?

आधुनिक नयी शिक्षा-नीति जिस भटकावकी ओर हमे ले जायगी उसमे बुनियादी वस्तुएँ रहेगी या नही? वहाँ राष्ट्रिय शिक्षण-सस्थान श्रीराम और श्रीकृष्णके श्लोक नहीं रखना चाहते, क्योंकि उससे दूसरे सम्प्रदायोके भावोपर चोट पहुँच सकती है। श्रीराम और श्रीकृष्णको हटा देनेपर भारतीय साहित्य एवं कलामे प्राण नही रह जाते, आधार और अवलम्बन नही रह जाता। इन्डोनेशिया-जैसे मुस्लिम देशके प्रत्येक विद्यालयमे गणेश और सरस्वतीकी प्रतिमाएँ लगी हुई हैं। फिर हमारे देशमे ऐसा क्यो नही हो सकता? यह कैसी शिक्षा-नीति है, जो भारतीय परम्परा और सस्कृतिको अवरुद्ध करना चाहती है—एक नकली संकरसे। वराहमिहिरने कहा है कि श्रीराम और श्रीकृष्ण किसी जाति एव देशके नही है। इसका प्रमाण थाईलैडमे मिलेगा। वे कहते हैं कि श्रीराम-श्रीकृष्ण इन्डोनेशियाके थे, हमारे थे, किसी देश और मजहबके नहीं थे। हमारे यहाँ इसका प्रमाण रहीम और रसखानमे मिलेगा। उन्हे हटा दे, बच्चोकी शिक्षा, विकास और जीवन-मूल्योके मापदण्डके रूपमे उनका तिरस्कार कर दे तो वह कौन-सी शिक्षा होगी?

भारतीय शिक्षाकी नीति है वेदकी वह परम्परा, जो कहती है कि आत्म-साक्षात्कार करो, अपनेको जानो, अपने लिये जानो, तब समझ सकोगे सबको। एक बार लेनिन रूसके एक स्कूलमे गये। बच्चोसे पूछे—'क्या पढ़ रहे हो?' उत्तर मिला— 'यह वह ·· ·।' उन्होने पूछा—'किंतु टालस्टाय, पुश्किन, दास्तावेझकी?' 'नही। ये नीतिके अनुकूल नही पड़ते।' वे उत्तर पाकर चौक

पडे । उन्होंने कहा—'ये नीतिके अनुकूल नही पडते है । अरे, टालस्टाय और पुश्किनने ही तो लेनिनको बनाया है । जब ये ही नहीं, तो पढ़ाई क्यो ?' इसी प्रकार यदि हमारी शिक्षा-नीतिमे 'रामायण', 'महाभारत', भागवतादिके पाठ्यक्रम नही, तो व्यर्थ है यह शिक्षा । इन ग्रन्थोंके पठन-पाठनके बिना यह शिक्षा अधूरी है—सभीके लिये, किसी विशेष मजहबके लिये नहीं । विश्वको व्यापक दृष्टिसे समझनेके लिये उसपर निर्भीक होकर बल देना चाहिये । आज जो गलत है उस साहसको शिक्षाके माध्यमसे बच्चोंमें पैदा करना नितान्त आवश्यक है ।
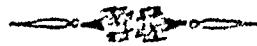
शिक्षा-तन्त्र गुरु-प्रधान हो

(स्व॰ डॉ॰ श्रीगोवर्धननाथजी शुक्ल)

भारतीय शिक्षा-पद्धतिके इतिहासमे शिक्षा-पद्धतियोको लेकर हमारे देशमे प्रयोगोकी परम्परा कभी नही चली, अपितु उनके निष्पन्न रूपोंका ही प्रवर्तन किया गया । आजकी भाँति शिक्षा-पद्धतियोंके प्रयोगोंद्वारा जन-जीवनसे खिलवाड़ करना भारतीय शिक्षा-पद्धतिके अतीत इतिहासमे देखनेको नही मिलता । प्राचीन शिक्षा-पद्धति एक निश्चित लक्ष्यात्मिका शाश्वत पद्धति थी । उसकी घोषणा थी—'**सा विद्या या विमुक्तये** ।' यह मुक्ति—आध्यात्मिकी और व्यावहारिकी—उभयस्वरूपा थी । मुक्ति अज्ञान अथवा क्लेशसे थी । यह अज्ञान चाहे अध्यात्म-विषयक हो, चाहे लोक-व्यवहार-विषयक । अतः वह विद्या, जिसकी शिक्षा दी जाती थी, सदैव पात्रानुकूल या छात्रानुकूल और देश-कालानुकूल होती थी । पात्रताका निर्णय गुरुकुलोंके आचार्य ही करके विद्यादान देते थे । निश्चय ही इस पात्रतामें वर्णाश्रम-धर्मानुकूल पाठ्यक्रमकी प्रमुखता होती थी । इस समय भी कतिपय गुरुकुल राजकीय सहायतापर चलते थे । यह ठीक है कि कुछ गुरुकुलोंका संचालन व्यक्तिगत सामर्थ्यपर भी होता था । ऐसे व्यक्तिगत गुरुकुलके कुलपति निःसंदेह असीम सारस्वत एवं बौद्धिक क्षमताके केन्द्र रहे होंगे ।

शासकीय गुरुकुलका बढ़िया उदाहरण श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादोपाख्यानसे मिल जाता है । हिरण्यकशिपुने शण्ड और अमर्क नामक दो अध्यापकोको अपने प्रिय पुत्र प्रह्लादको अध्यापनार्थ सौपा था । प्रह्लादके तत्त्व-ज्ञानोपदेश इतने सुस्पष्ट थे कि सभी विद्यार्थी भक्त, जिज्ञासु एव सच्चे ज्ञानी बननेके लिये उद्यत हुए । जो सच्ची शिक्षा दे वही गुरु है, अतः प्रह्लाद ही उनके गुरु बने । बालकोंने राज्यशिक्षापर ध्यान देना छोड दिया ।

शासकीय गुरुकुलका दूसरा उदाहरण यदुवंशके आचार्योंका है । यदुवंशके बालकोंको शिक्षा देनेके लिये तीन करोड अठासी लाख आचार्य थे । निश्चय ही ये आचार्यगण यदु-राजकुलसे वृत्ति पाते रहे होंगे । ऐसे राज्याश्रित गुरुकुलोंकी शिक्षा-दीक्षाका परिणाम भी आगे चलकर क्या हुआ, यह प्रसिद्ध ही है—साम्बकी अनुशासनहीन-वृत्ति एव उच्छृङ्खलता, परिणामतः यदुकुलका संहार । अतः वेतनभोगी या शासकीय वृत्तिपर शिक्षा देनेवाले आचार्योंके सामने अनुशासनकी समस्या तब भी बनी रहती थी । वेतनभोगी आचार्यगण अपने शिष्योंमे उतनी गहरी निष्ठा अथवा असीम श्रद्धा नहीं जमा पाते थे, जितनी कि व्यक्तिगत गुरुकुलोंके आचार्य ।

शासकीय प्राचीन गुरुकुलोसे निकले हुए उच्चकोटिके छात्रोकी चर्चा हमारे पुराणोमें क्वचित् मिलती है । भगवान् रामको वसिष्ठके स्व-संचालित गुरुकुलमे अल्पकालमे ही समस्त विद्याएँ आ गयी थीं । श्रीकृष्ण-बलरामको शिक्षा-समाप्तिपर गुरु-दक्षिणा देनेपर ही स्नेहभरा आशीर्वाद मिला था—

गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी ।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥

(श्रीमद्भा॰ १० । ४५ । ४८)

कौत्स, सुतीक्ष्ण, आयोद-धौम्यके शिष्य आरुणि, परशुरामके शिष्य कर्ण, बलरामके शिष्य दुर्योधन एवं भीमसेन आदि ऐसे ही उदाहरण हैं ।

राष्ट्रिय शिक्षा-नीति—एक विहंगावलोकन

(श्रीमुरारीलालजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

शिक्षाकी प्रक्रिया युग-सापेक्ष होती है। युगकी गति और उसके नये-नये परिवर्तनोके आधारपर प्रत्येक युगमे शिक्षाकी परिभाषा और उद्देश्यके साथ ही उसका स्वरूप भी बदल जाता है। यह मानव-इतिहासकी सचाई है। मानवके विकासके लिये खुलते नित नये आयाम शिक्षा और शिक्षाविदोके लिये चुनौतीका कार्य करते है, जिसके अनुरूप ही शिक्षाकी नयी परिवर्तित-परिवर्द्धित रूप-रेखाकी आवश्यकता होती है। शिक्षाकी एक बहुत बडी भूमिका यह भी है कि वह अपनी जाति, धर्म, सस्कृति तथा इतिहासको अक्षुण्ण बनाये रखे, जिससे कि राष्ट्रका गौरवशाली अतीत भावी पीढीके समक्ष द्योतित हो सके और युवा पीढी अपने अतीतसे कटकर न रह जाय।

राष्ट्रिय शिक्षा-नीति १९८६के सामने यही दो बड़ी चुनौतियाँ रही है—एक ओर भारतकी विकासशील वैज्ञानिक तकनीकी-साधनाका मार्ग और दूसरी ओर ऋषि-मुनियोकी सतत साधनासे प्रसूत जीवनके अमूल्य सिद्धान्त, विविध अनुभव, प्रशस्त पुण्य पथ।

शिक्षा भौतिक एव आध्यात्मिक विकासका एक सशक्त माध्यम है, यह स्वीकारते हुए नयी शिक्षा-नीतिमे यह निर्णय लिया गया है कि शिक्षा अनिवार्यरूपसे सभीके लिये सुलभ हो। जाति, वर्ण, लिङ्ग आदिका भेदभाव किये बिना शिक्षा-प्राप्तिके अवसर सभीके लिये समान रूपसे मिले। इस उद्देश्यको पूरा करनेके लिये नयी शिक्षा-नीतिमे प्रौढ़-शिक्षा, नारी-शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षापर विशेष महत्त्व दिया गया है। इदिरागाँधी खुला विश्वविद्यालय तथा नवोदय विद्यालयोकी स्थापना इस दिशामे एक क्रान्तिकारी कदम है। नवोदय विद्यालयोके द्वारा उच्चस्तरीय शिक्षा सरकारद्वारा दी जा रही है, इन विद्यालयोमे पढनेवाले बालक-बालिकाएँ प्राय. ग्रामीण क्षेत्रोसे चुने जाते है और उनका चुनाव प्रतिभाके आधारपर किया जाता है। गरीब, ग्रामीण उपेक्षित, किंतु प्रतिभाशाली छात्र-छात्राओकी आवास, भोजन, पुस्तको आदिकी व्यवस्था सरकारद्वारा नि:शुल्क की जाती है। इस व्यवस्थासे 'पब्लिक स्कूलो'की सम्भ्रान्तताका सामना किया जा सकेगा। ऐसे 'कामन स्कूल सिस्टम' सर्व-साधारणके लिये विद्यालयोका अनुमोदन १९६८की शिक्षा-नीतिमे भी किया गया था। खुले विश्वविद्यालयके द्वारा बिना किसी औपचारिकताके दूर बैठे स्त्री-पुरुष अपनी योग्यता बढा सकते हैं।

राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिमे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वर्तमान भारतमे प्रजातन्त्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षताके सिद्धान्तोके अनुरूप जनताको संस्कार देनेका कार्य शिक्षा ही करेगी। इस शिक्षा-नीतिमे वैज्ञानिक बुद्धि, स्वतन्त्र मानसिक तथा आत्मिक विकासपर विशेष बल दिया गया है। आजकी एक बड़ी समस्या यह है कि हमारे समाजमे नैतिक मूल्योका अथवा जीवन-मूल्योका क्षरण इतनी तीव्र गतिसे हुआ है कि एक प्रकारसे नैराश्यका वातावरण उत्पन्न हो गया है। मूल्य-शिक्षापर विशेष ध्यान केन्द्रित करनेके लिये पाठ्यक्रममे मूल्योको स्थापित करने-हेतु प्रयास किये जा रहे है।

शिक्षा विभिन्न स्तरोपर आर्थिक प्रगतिके लिये मानव-शक्तिका विकास करती है। शिक्षा ही राष्ट्रिय आस्थाको बनाये रखनेके लिये विभिन्न प्रकारके शोध और विकास-प्रक्रियाओको बढावा देनेके लिये आधार बनती है। राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिका आधारभूत सिद्धान्त यह है कि वह राष्ट्रके वर्तमान और भविष्यके लिये सर्वोत्तम पूँजी-निवेश है।

राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिमे पूरे देशके लिये १०+२+३ प्रणालीको स्वीकार किया गया है। अबतक प्रत्येक राज्यकी अपनी-अपनी प्रणाली थी। विश्वविद्यालयो तथा बोर्डोकी परीक्षाओ और उनकी उपाधियोका स्तर और उसके लिये अध्ययनकी अवधि अलग-अलग थी। १९८७से सभी विश्वविद्यालयोमे त्रिवर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम प्रारम्भ कर दिया गया है। एकरूपताकी दृष्टिसे यह एक

महत्त्वपूर्ण निर्णय है ।

राष्ट्रिय पहचानको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये पूरे देशमें विभिन्न स्तरोंपर राष्ट्रिय आन्दोलन, भारतीय संविधान तथा अन्य महत्त्वपूर्ण विषयोंपर एक-जैसे पाठ्यक्रमकी योजना भी तैयार की गयी है। भारतने सदासे अन्ताराष्ट्रिय सहयोग और विश्वबन्धुत्वकी भावनाका विस्तार किया है । **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**की मानवतावादी भावनाके विकासके लिये नयी शिक्षा-नीतिमें समुचित व्यवस्था की गयी है ।

नयी शिक्षा-नीतिमे व्यवसायोंको प्रमाण-पत्रों अथवा उपाधियोकी अनिवार्यतासे मुक्त करनेकी व्यवस्था दी गयी है । व्यक्तिकी योग्यताको ही व्यवसायोके लिये चयनका आधार माना जायगा । महात्मा गाँधीके स्वप्नोंको साकार करनेके लिये, ग्रामीण विश्वविद्यालय खोलनेका भी अनुमोदन नयी शिक्षा-नीतिमें किया गया है । व्यवसायोन्मुख शिक्षा तथा संस्कृतिपरक शिक्षा नयी शिक्षा-नीतिके दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं ।

नयी शिक्षा-नीतिमे बालक अथवा बालिकाको ही केन्द्रमे रखकर चलनेकी बात कही गयी है अर्थात् शिक्षा-तन्त्रमें सर्वाधिक महत्त्व शिक्षार्थीको दिया जायगा । प्रबन्धक, प्राचार्य, शिक्षक, पाठ्यक्रम-समितियाँ शिक्षार्थीको प्रमुख मानकर नीतियोका निर्धारण करेगी ।

अध्यापकोंकी आर्थिक और शैक्षणिक स्थितिको सुधारनेके लिये नयी शिक्षा-नीतिमें अनेक व्यवस्थाएँ भिन्न-भिन्न स्तरोके अनुरूप दी गयी हैं। समाजमें अध्यापककी भूमिका महत्त्वपूर्ण हो और वह अपनी योग्यता तथा अपने कौशलका निरन्तर विकास करता रहे, इस दृष्टिसे इस नीतिमे अनेक उपाय बताये गये हैं । अनेक प्रकारके प्रशिक्षण-कार्यक्रम तथा नये वेतनमान देकर सरकारने इस दिशामें सक्रिय भूमिका निभानी आरम्भ कर दी है ।

नयी शिक्षा-नीतिमें बहुत कुछ नया और प्रयोगात्मक है। राष्ट्रिय एकता, धर्म-निरपेक्षता और समानताकी भावनाके विकासके लिये बहुत कुछ कार्य आरम्भ किया जा चुका है, किंतु अनेक प्रश्न ऐसे भी हैं जिनका समाधान नीति-निर्धारकोंके पास मिलना कठिन है । यहाँ संक्षेपमें उन समस्याओंकी चर्चा अनुपयुक्त नहीं होगी ।

राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिमें संस्कृत भाषा और साहित्य सर्वथा उपेक्षित रहा है । नवोदय विद्यालयोंका प्रतिभाशाली विद्यार्थी तो इस बातसे सर्वथा अनजान ही रह जायगा कि संस्कृत भी कोई भाषा है और भारतीय संस्कृतिका स्रोत मूलरूपसे संस्कृत-साहित्यमें ही विद्यमान है । एक ओर संस्कृतकी उपेक्षा की गयी है और दूसरी ओर नयी शिक्षा-नीतिमे संस्कृतिपर विशेष बल दिया गया है । यह बहुत बड़ा विरोधाभास है ।

दूसरी समस्या नीति-निर्धारकोंकी मानसिकताकी है । एक ओर वे अत्यन्त महँगी शिक्षा-व्यवस्थाका सूत्र-पात कर रहे हैं, जिसमें दूर-संचार-माध्यम, कम्प्यूटर एवं महँगे उपादानोका प्रयोग किया जा रहा है और करोड़ों रुपये व्यय करके नवोदय विद्यालयोंमें मुट्ठीभर बालक-बालिकाओंको राष्ट्रके भविष्यके लिये तैयार किया जा रहा है तथा दूसरी ओर लाखों ऐसे विद्यालय देशभरमें हैं जिनमे बच्चोंके बैठनेकी व्यवस्था और शिक्षकोंकी नियुक्तिका उपक्रम भी नहीं हुआ है ।

नयी शिक्षा-नीति क्या है? इस सम्बन्धमें सही जानकारी उन शिक्षकोंतकको नहीं दी जा सकी है जिन-पर इसके लागू करनेका गुरुतर दायित्व है। अंग्रेजी भाषाके प्रभुत्वसे हम अबतक मुक्त नहीं हो सके हैं, अपितु अधिकाधिक उसके व्यामोहमे फँसते जा रहे हैं । यहाँतक कि नयी शिक्षा-नीतिका प्रारूप तथा उससे सम्बन्धित लेख भी हिंदीमे उपलब्ध नहीं हो सके हैं । खुले विश्वविद्यालय, नवोदय विद्यालयोंकी समस्त कार्यवाही तथा पत्र-व्यवहार शत-प्रतिशत अंग्रेजीमे ही हो रहा है ।

यदि सिद्धान्त और व्यवहारमे अन्तर न रहे तो नयी शिक्षा-नीतिकी बहुत-सी अच्छी नीतियाँ राष्ट्रके विकासमे सहायक सिद्ध हो सकती हैं । भारतीय मानसकी अगुआई इसके लिये आवश्यक है और उससे भी अधिक आवश्यक यह है कि शिक्षाके क्षेत्रको व्यवहारतः राजनीतिसे सर्वथा मुक्त रखा जाय ।

विकलाङ्गोंके लिये शिक्षा

(श्रीप्रणवजी खुल्लर)

शिक्षाके सम्बन्धमे समाजके कमजोर वर्गोमे सबसे निर्बल वर्ग है नेत्रहीनो, बधिरो और शारीरिक दृष्टिसे अपङ्ग लोगोका। बीते हुए समयमे विकलाङ्गोको बड़ी असुविधा और कष्ट उठाना पड़ा है। विकलाङ्गो तथा कमजोर वर्गके अन्य लोगोके प्रति व्यवहारका ढंग ही किसी देशके सांस्कृतिक स्तरकी कसौटी है।

आज भारतमे विकलाङ्गोकी संख्या एक करोड़ बीस लाख है। इनमे दस प्रतिशत एकाधिक कमीके शिकार हैं। सत्रह लाख विकलाङ्गतासे ग्रस्त हैं। इनमेसे कुल ५० प्रतिशत बच्चे विशेष स्कूलोमे भर्ती हैं, जो प्राय. शहरी क्षेत्रोमे हैं। अस्सी प्रतिशत नेत्रहीन, बधिर और मानसिक रूपसे पिछड़े बच्चे देहातोमे है। जहाँ कोई सुविधा नहीं है।

'नयी शिक्षा-नीति'के अनुसार विकलाङ्गोको दी जानेवाली सुविधाओका उद्देश्य उन्हे सामान्य लोगोके साथ बराबरीके स्तरपर लाना, सहज विकासके लिये तैयार करना तथा साहस और विश्वासके साथ जीवन जीने योग्य बनाना है। इसके लिये निम्नलिखित उपाय किये जायँगे।

विशेष उपाय

जहाँतक व्यावहारिक होगा, वहाँतक शारीरिक दृष्टिसे विकलाङ्ग और मामूली न्यूनतावाले बच्चोके लिये अन्य बच्चोकी तरह सामान्य शिक्षाकी व्यवस्था रहेगी। अधिक न्यूनतावाले बच्चोके लिये यथासम्भव प्रत्येक जिला-मुख्यालयपर विशेष विद्यालयकी व्यवस्था की जायगी और साथमे छात्रावासकी सुविधा रहेगी। विकलाङ्गोको व्यावसायिक प्रशिक्षण देनेके लिये पर्याप्त प्रबन्ध किये जायँगे। शिक्षको और विशेषरूपसे प्राथमिक कक्षाओके शिक्षकोके प्रशिक्षणमे आवश्यक सुधार किया जायगा, जिससे विकलाङ्ग बच्चोकी कठिनाइयोको सुलझाया जा सके। विकलाङ्गोंकी शिक्षाके लिये स्वैच्छिक प्रयासोको हरसम्भव प्रोत्साहन दिया जायगा।

मूक, बधिर एव अन्ध-विद्यालय भारतमे १९३०से ही चालू हैं। इसके लिये एक कार्यक्रम (१९८६) और तैयार किया गया है। इसमे व्यवस्था है कि सामा[illegible] विद्यालय-प्रणालीके अन्तर्गत प्रशासको और शिक्षको लिये आयोजित विशेष कार्यक्रमोके द्वारा सातवी योजना दौरान सामान्य स्कूलोमे विकलाङ्गोकी सख्यामे प्रतिव[illegible] २५ प्रतिशत वृद्धि की जाय। शिक्षकोके लिये ब[illegible] पैमानेपर सेवा-कालीन प्रशिक्षणमे एक ऐसे बच्चोके प्रबन्ध[illegible] विषयोका समावेश किया जाय। प्रशासकोके लिये विशे[illegible] कार्यक्रमका प्रस्ताव है। सुविधा विकसित करके विकला[illegible] बच्चोकी शिक्षामे लगे शिक्षकोके लिये विशेषज्ञोव[illegible] परिनिरीक्षण-सेवा सुलभ की जायगी। पठन-पाठनव[illegible] वैकल्पिक सामग्री, शिक्षकोके लिये हैण्डबुक तथा ऐ[illegible] बच्चोकी देख-रेखके लिये मार्ग-दर्शक नियम तैयार कर[illegible] होगे। सामान्य स्कूलोमे पूर्व-व्यावसायिक और व्यावसायिव[illegible] विषयोके लिये अतिरिक्त उपकरण आदिकी व्यवस्था व[illegible] जायगी। अक्षमताके आकलनके लिये जिला-स्तरप[illegible] मनोवैज्ञानिक सेवाएँ विकसित करना आवश्यक है। स्वास्थ[illegible] और कल्याण-मन्त्रालयोकी यथावश्यक सहायता भी सुलभ होनी चाहिये। प्रोत्साहनोके बिना विकलाङ्गोकी शिक्षाक[illegible] कोई काम सफल नही हो सकता, इसलिये इस कार्यक्रमम[illegible] प्रोत्साहनोका भी प्रस्ताव रखा गया है।

प्रोत्साहन

जिन क्षेत्रोमे यह कार्यक्रम लागू होगा वहाँ सहायव[illegible] उपकरणोकी व्यवस्था की जायगी। परिवहन-भत्ते (५० रु० प्रतिमाह) की व्यवस्था की गयी है। गाँवमे जिन स्कूलोमे कम-से-कम १० विकलाङ्ग बच्चे होगे उन्हे स्कूली रिक्शापर आनेवाली लागतकी राशि देनेका प्रबन्ध किया जायगा। जिन स्कूलोमे कम-से-कम १० विकलाङ्ग बच्चे हैं, उसकी इमारतकी बनावटसे यदि ऐसे छात्रोके लिये बाधा पैदा होती है तो उसे ठीक किया जायगा।

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातिके विद्यार्थियोकी तरह विकलाङ्ग बच्चोको भी स्कूली पुस्तके

और पहननेके वस्त्र निःशुल्क दिये जायँगे। लड़कियो और अनुसूचित जनजातिके बच्चो-जैसे विशेष वर्गोको उपस्थिति-सम्बन्धी मिलनेवाला प्रोत्साहन विकलाङ्ग बच्चोको भी मिलेगा। विकलाङ्ग बच्चोको स्कूलोमे शिक्षाके लिये तैयार करनेके लिये प्रारम्भिक बाल-केन्द्र बनाये जायँगे। निर्धारित वर्गसे अधिक उम्रके (६ वर्षके बजाय ८-९ वर्षके) बच्चोकी भर्तीका भी प्रबन्ध किया जायगा। संक्रमण-कालमे यह आवश्यक है। उनकी शिक्षामे अधिक समय लगनेके कारण यह आवश्यक भी हे।

अत्यधिक विकलाङ्गोके लिये जिला और उपजिला-स्तरपर विशेष विद्यालय खोलनेकी आवश्यकता है। इन विद्यालयोके साथ व्यावसायिक प्रशिक्षण-केन्द्र भी होने चाहिये जहाँ उन्हें कलाकुशल बनानेपर बल दिया जाना चाहिये।

छात्रावास

लड़को और लड़कियोके लिये अलग-अलग छात्रावास बनाये जायँगे। लडकोंके छात्रावासमे कम-से-कम ४० और लड़कियोके छात्रावासमे कम-से-कम २० लडकियोके रहनेकी व्यवस्था होगी। इनमें स्कूलो तथा व्यावसायिक केन्द्रोके छात्र रहेंगे।

आठवीं योजनामें ५००० विशेष विद्यालय

आठवीं पञ्चवर्षीय योजनाके दौरान पाँच हजार और विशेष विद्यालय उपजिला-स्तरपर खोले जायँगे, जिन्हे मिलाकर विद्यालयोंकी संख्या ७५०० हो जायगी। नवी योजनातक उनकी संख्या बढाकर १०,००० करनी होगी।

विशेष विद्यालयोंकी स्थापना केन्द्रीय योजनाके अन्तर्गत होनी चाहिये, जिसका क्रियान्वयन राज्य-सरकारों या स्वयंसेवी संस्थाओके द्वारा किया जाय। सातवी योजनाके दौरान आशा है कि ४०० विशेष विद्यालय स्थापित कर दिये जायँ। पहले उन जिलोमें विद्यालय खोले जायँ जहाँ कोई विशेष विद्यालय नहीं है। प्रारम्भमें प्रत्येक ऐसे विद्यालयमें सभी श्रेणीके कम-से-कम ६० विकलाङ्ग विद्यार्थी हो। यदि ऐसे एक विद्यालयमे ८-१० विशेष शिक्षक रखे जायँ तो चालू योजना-अवधिमे हमे ३५००-४००० विशेष शिक्षकोंकी आवश्यकता पड़ेगी।

प्रस्तावित विशेष विद्यालयोके लिये शिक्षकोंके प्रशिक्षणके कामको राष्ट्रिय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण-परिषद्, विद्यालय तथा राष्ट्रिय और प्रादेशिक विकलाङ्ग-संस्थानोको तत्काल आरम्भ करना होगा। अनुदान-प्राप्त संस्थाएँ सामान्यतः अप्रशिक्षित शिक्षकोंको अध्यापक रख लेती है। अनुदान देनेवाले अधिकरणोको यह शर्त रखनी चाहिये कि प्रशिक्षण-प्राप्त शिक्षक नियुक्त करनेपर ही अनुदान दिया जायगा।

जिला-स्तरपर डाक्टरो और मनोविज्ञानशास्त्रियोको भी विकलाङ्ग व्यक्तियोके पुनर्वासके लिये तैयार करना आवश्यक है। विकलाङ्गोके माता-पिताके लिये सलाह और मार्गदर्शनकी व्यवस्था भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। विकलाङ्गोंकी पाठ्यक्रम-सम्बन्धी आवश्यकताओं, शिक्षाकी कठिनाइयो और स्वास्थ्य-सम्बन्धी आवश्यकताओपर ध्यान रखनेके लिये मानव-संसाधन-विकास, स्वास्थ्य और कल्याण-मन्त्रालयोको समन्वित रूपसे काम करना चाहिये।

सत्सङ्गका प्रभाव

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित्किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

जब मुझे थोड़ा ज्ञान प्राप्त हुआ, तब मैं हाथीकी भाँति मदान्ध हो गया और 'मै सर्वज्ञ हूँ'—ऐसा समझकर मेरा मन अभिमानसे भर गया; किंतु जब बुद्धिमानोकी संगतिसे मुझे कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ, तब मुझे ज्ञात हुआ कि 'मैं मूर्ख हूँ' और मेरा अभिमान ज्वरकी तरह नष्ट हो गया।

नयी शिक्षा-प्रणाली और विज्ञान-शिक्षा

(डॉ॰ श्रीबिहारीशरणजी)

नयी शिक्षा-प्रणालीसे सम्बन्धित जो प्रश्न इस समय अधिकारी-वर्ग, शिक्षकों और अभिभावकोंके मस्तिष्कको झकझोर रहा है, वह है 'नयी शिक्षा-प्रणालीका क्रियान्वयन'। 'क्या हम इसे क्रियान्वित कर पायेगे ?' इसमे सबको संशय हो रहा है। संशयके मूलभूत कारण हैं— (१) नयी शिक्षा-प्रणालीमे विज्ञान, (२) कार्य-अनुभवका अनिवार्य विषय होना, (३) शिक्षक-प्रशिक्षण-कार्यक्रमकी विशालता और (४) स्कूलोका भविष्य—कौन बारहवीं कक्षातक उन्नत होगे और कौन दसवींतक ही रहेगे ?

विज्ञान एक अनिवार्य विषय

विज्ञानके पठन-पाठनके लिये प्रयोगशाला, उपकरण आदि आवश्यक हैं, इन सबके लिये धनकी आवश्यकता है। क्या केन्द्र और राज्य-सरकारोके पास इसके लिये पर्याप्त धन है ? किसीने तो यहाँतक कहा है कि प्रत्येक स्कूलमे विज्ञान-शिक्षा लागू करनेके लिये कम-से-कम १२,००० रुपयेकी आवश्यकता होगी। अर्थात् भारतके केवल ३०,००० हाईस्कूलोमे ही शिक्षा लागू करनेके लिये कम-से-कम ३६ करोड़ रुपयोकी आवश्यकता होगी। जो राज्य सन् १९७७ ई॰से नयी प्रणाली लागू करनेके लिये कृत-संकल्प हैं, उनके लिये हताश होनेका यह एक मुख्य कारण है।

राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण-परिषद्मे इस विषयपर गम्भीरतासे चिन्तन हुआ है। राज्योको जो सर्कुलर भेजा गया है उसका आशय कुछ इस प्रकार है—

आदर्श विज्ञान-शिक्षा—जिसमे सभी विद्यार्थी प्रयोग करे और शिक्षक प्रयोग दिखावे—यह हमारा आधार रहेगा। बच्चे प्रयोग करे, यह केन्द्र और राज्योके वित्तीय साधनोको देखते हुए अभी एक कल्पना है। इस कल्पनाको साकार करना हमारा लक्ष्य रहेगा। इस बातको और वित्तीय साधनोको ध्यानमे रखते हुए स्कूलोको तीन वर्गोंमे बाँटा गया है—(१) पूर्णत साधन-विहीन स्कूल, (२) अंशतः साधन-युक्त स्कूल, (३) पूर्णत. साधन-युक्त स्कूल।

पूर्णत· साधनविहीन स्कूल वे हैं, जिनमे राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद् (एन॰ सी॰ ई॰ आर॰ टी॰) की किट भी उपलब्ध नही है। ऐसे स्कूलोमे 'शिक्षक प्रयोग दिखाये' के आधारपर अनुमानतः प्रतिस्कूल ३५०० रुपया व्यय होगा। अंशतः साधनयुक्त स्कूल वे है, जिन्हे राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसधान एव प्रशिक्षण-परिषद्की किट उपलब्ध है। आशा है कम-से-कम ३० प्रतिशत स्कूल इस प्रकारके होगे। ऐसे स्कूलोपर 'शिक्षक प्रयोग दिखाये' के आधारपर अनुमानत केवल १४०० रुपया प्रतिस्कूल व्यय होगा। पूर्णत. साधनयुक्त स्कूल वे है, जिनके पास आदर्श विज्ञान-शिक्षणके लिये वित्तीय साधन है अर्थात् 'विद्यार्थी प्रयोग करे और शिक्षक प्रयोग दिखाये'—ये दोनों सम्भव है। ऐसे किटरहित स्कूलोपर कुल व्यय लगभग १३,५०० रुपया प्रतिस्कूल और किटयुक्त स्कूलोपर ११,३०० रुपया व्यय होगा। किस-किस सामग्रीकी विज्ञान-शिक्षणमे आवश्यकता है, इसकी सूची राज्य-सरकारो अथवा राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद्के पास प्राप्य है।

दूसरी समस्या है कार्य-अनुभवकी। इस विषयपर राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद्की ओरसे 'वर्क एक्सपीरियन्स मैनुअल सिरीज' चार खण्डोमे प्रकाशित हो रही है। प्रथमसे दसवीं कक्षातक सीमित साधनोद्वारा क्या-क्या किया जा सकता है ? इसपर अनेक सुझाव है। शिक्षकोको अपना बुद्धि-परिचय देनेके लिये भी पर्याप्त स्थान है। जहाँतक + दो स्तर (स्टेज) का सम्बन्ध है, कार्य-अनुभव आस-पाससे उपलब्ध धन्धो और उद्योगोंपर आधारित हो, ऐसा सुझाव है।

तीसरी समस्या है शिक्षक-प्रशिक्षणकी। राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद् शिक्षक-प्रशिक्षण-हेतु तीन

प्रकारके कार्यक्रमोका आयोजन कर रही है— (१) पत्राचार-कोर्सोंका आरम्भ, (२) ग्रीष्मकालीन प्रशिक्षण-शिविर और (३) शिक्षक-शिक्षा-विभागद्वारा अल्पकालीन प्रशिक्षण-कोर्स ।

पत्राचार-कोर्सके विशाल कार्यक्रमके अन्तर्गत १०+२+३ प्रणालीके विपयमे प्रतिवर्ष १२,००० से भी अधिक शिक्षकोंके प्रशिक्षणकी सम्भावना है । इन कोर्सोके आयोजनका भार मैसूर, भुवनेश्वर, भोपाल और अजमेरमें स्थित राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसधान एवं प्रशिक्षण-परिषद्के चार क्षेत्रीय कालेजोपर है । ग्रीष्मकालीन शिविरोंके अन्तर्गत केवल विज्ञानके क्षेत्रमें लगभग १०० शिविरोंका प्रतिवर्ष आयोजन होता है और प्रत्येक शिविरमें लगभग ४५ शिक्षकोंको लाभ पहुँचता है । इन शिविरोंका कार्यकाल ४ सप्ताहतकका रहता है। इसी प्रकार शिक्षक-शिक्षा-विभागद्वारा प्रशिक्षण-कार्यक्रमोंका आयोजन होता है ।

चौथी समस्या है, कौन-से स्कूल +२ के लिये उन्नत होंगे और कौन-से नहीं? इसपर राज्य-सरकार गहनतासे विचार कर रही है । सबका उत्तर है साधन । जिनके पास साधन हैं, उन सभीको उन्नत होना चाहिये ।

खुली परीक्षा-पद्धति—सम्भावनाएँ और सीमाएँ

(डॉ० श्री यी० के० राय)

अपने देशकी शिक्षा-प्रणालीका सबसे दोषपूर्ण पहलू परीक्षा है, इसी कारण इसे बुराइयोका गट्ठर कहा जाता है । पर्चे लीक करना, नकल करना, परीक्षकोंको धमकाना और परीक्षा-फलकी गलत घोषणा करना आदि शैक्षिक बेईमानीकी बाते आज सामान्य हो गयी हैं । इन्हीके कारण आज विश्वविद्यालयो, कालेजोद्वारा सचालित परीक्षाओमे छात्र नकलरूपी नावका निर्लज्जतासे सहारा लेकर परीक्षारूपी वैतरणीको पार करनेका प्रयास करते हैं । इस कार्यमें उन्हें शिक्षकों, अभिभावको तथा समाजके अन्य वर्गोका भरपूर सहयोग मिलता है । आजकी परीक्षाओमे नकलका 'महायज्ञ' प्रायः अधिकांश स्थानोपर सम्पन्न होता हुआ दिखलायी पडता है । इस महायज्ञमें सरकार 'ब्रह्मा', परीक्षा लेनेवाली संस्थाएँ 'यजमान', प्रधानाचार्य और शिक्षक 'पण्डित' तथा छात्र, अभिभावक और अन्य लोग 'छात्रो' का कार्य करते हैं । नकलके इस यज्ञके द्वारा सभी लोग मिलजुलकर शिक्षाकी आहुति दे रहे हैं । नकलकी इस भीषण समस्याका समाधान करनेके लिये कुछ शिक्षा-शास्त्रियोका सुझाव है कि परीक्षाओमें पुस्तकोको रखने तथा उनका उपयोग करनेकी छूट प्रदान की जाय । दूसरे शब्दोमे खुली पुस्तक-पद्धतिको अपनाया जाय ।

आज 'खुला विश्वविद्यालय तथा खुली शिक्षा' की माँग की जा रही है । इसी क्रममें इस नये सम्प्रत्यय खुली पुस्तक-परीक्षाका जन्म हुआ है । इसमे छात्रोंको परीक्षामे पाठ्य पुस्तकों तथा अन्य सामग्रियोंका सहयोग लेनेकी छूट होती है । परीक्षामे प्राप्त ज्ञानके उपयोगकी परीक्षा करना मुख्य उद्देश्य होता है । इस परीक्षा-पद्धतिके पीछे व्याप्त अन्य उद्देश्य इस प्रकार हैं—

(१) वर्तमान परीक्षा-प्रणालीमें स्मरण-शक्तिपर दिये जानेवाले बलको कम करना । (२) उच्च संज्ञानात्मक योग्यताओंकी परीक्षा करके परीक्षा-प्रणालीको विस्तृत करना । (३) छात्रोंमें अध्ययनकी आदतका विकास करना । (४) शिक्षण तथा अधिगमकी प्रक्रियाको उन्नतिशील बनाना । (५) छात्रोमें भयसे सम्बन्धित मनोविकृतिको दूर करना । (६) परीक्षा-प्रणालीसे उत्पन्न तनाव तथा दबावको कम करना । (७) प्रश्नपत्रोंमें सुधार लाना और (८) नकलकी प्रवृत्तिपर रोक लगाना ।

वर्तमान शिक्षाप्रणालीके विषयमे कहा जाता है कि इसमे परीक्षा पास करना मुख्य उद्देश्य होता है तथा इस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये एकमात्र रटनेका सहारा लिया

जाता है। दूसरे शब्दोमे आजकी परीक्षा-प्रणालीमे स्मरणशक्तिपर आवश्यकतासे अधिक बल दिया जाता है। इसके विषयमे टी० रेमटने ठीक ही कहा है—'वर्तमान परीक्षा-प्रणालीमे तथ्योको रटनेपर अधिक बल दिया जाता है, उनके उपयोगपर नहीं। इसमे निर्णय तथा अनुमान लगानेकी योग्यताका मापन नहीं होता।'

खुली पुस्तक-परीक्षा-पद्धतिका दूसरा उद्देश्य उच्च सज्ञानात्मक योग्यताओकी परीक्षा करना तथा परीक्षाके क्षेत्रको विस्तृत करना है। आजकी नकल-प्रधान परीक्षाका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है; क्योंकि इसमे मुख्य बल रटनेपर दिया जाता है। ज्ञानके चार स्तर होते है—(१) पहचाननेसे सम्बन्धित ज्ञान, (२) स्मरण करनेसे सम्बन्धित ज्ञान, (३) वर्णन करनेसे सम्बन्धित ज्ञान और (४) उपयोगसे सम्बन्धित ज्ञान। उपयोगसे सम्बन्धित ज्ञानको ज्ञानका सबसे उच्च स्तर माना जाता है तथा इस उच्च स्तरकी परीक्षा करके खुली पुस्तक-परीक्षा-प्रणालीका उद्देश्य परीक्षाके क्षेत्रको विस्तृत करना है।

इस नवीन परीक्षा-प्रणालीका तीसरा उद्देश्य छात्रोमे अध्ययनकी आदतका विकास करना है। आज प्रायः देखा जाता है कि छात्र अध्ययनकी आदतसे दूर भागते जा रहे हैं। वे पुस्तकोका गहन अध्ययन करनेकी आवश्यकताका अनुभव नहीं करते। बाजारमे हनुमान-चालीसाके रूपमे उपलब्ध नोट्सको पढ़कर उत्तीर्ण हो जाते हैं। इस प्रणालीमे इस प्रवृत्तिपर रोक लगेगी तथा छात्रोंको विवश होकर अध्ययनकी आदतका विकास करना होगा। अध्ययनकी अच्छी आदतसे छात्रोको समयका सदुपयोग करनेका अवसर मिलेगा तथा अनुशासनहीनताकी समस्याका समाधान हो जायगा।

खुली पुस्तक-परीक्षा-प्रणालीका चौथा उद्देश्य शिक्षण तथा सीखनेके स्तरको ऊँचा करना है। आजकी शिक्षा-व्यवस्थामे परीक्षा साधनके रूपमे न रहकर साध्य बन बैठी है। इस स्थितिमे शिक्षक तथा छात्रोका उद्देश्य ज्ञानप्राप्तिके स्थानपर परीक्षा पास करना हो गया है। इसका दुष्परिणाम यह है कि शिक्षाके उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षणविधि तथा शिक्षाके अन्य अङ्ग परीक्षाके द्वारा प्रभावित होते है।

खुली पुस्तक-परीक्षा-प्रणालीमे प्रश्नोका स्तर इस प्रकार होगा कि छात्र अपने अध्ययनको तथा शिक्षक अपनी अध्यापन-विधिको सुधारने एवं उच्च करनेके लिये विवश होगे। इसका परिणाम यह होगा कि अध्ययन और अध्यापनमे सुधार होगा। इसके अतिरिक्त परीक्षा साध्य न होकर साधन मात्र रह जायगी तथा छात्रोका उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना होगा न कि केवल परीक्षा उत्तीर्ण करना। आजकी परिस्थितिके संदर्भमे विचार देते हुए जान० एम० लेम्बोने ठीक ही कहा है—'ग्रेडपर अधिक बल देनेके कारण शिक्षाके मुख्य उद्देश्योके प्रति लोगोका ध्यान कम हो गया है। मुख्य बल रटकर परीक्षा पास करना है। इस दोषके कारण अन्य गुणोके अतिरिक्त चिन्तन-पक्षका विकास नही हो पाता।'

इसी कारण वर्तमान परीक्षामे अच्छे अङ्कोसे उत्तीर्ण छात्र वास्तविक जीवनमे उतने सफल नही होते। सन् १९६४ ई०मे उत्कल विश्वविद्यालयके प्रोफेसरोके द्वारा प्रदत्त रिपोर्टका एक अश इस प्रकार है—'ग्रेडके आधारपर भावी जीवन तथा व्यावहारिक जीवनमे प्राप्त होनेवाली सफलताके विषयमे कोई निश्चित रूपसे भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। वर्तमान परीक्षा-प्रणालीमे परीक्षापर अधिक बल देनेकी परम्पराके स्थानपर ज्ञानको प्राप्त करनेपर बल दिया गया है।'

खुली परीक्षा-पद्धतिमे मानसिक दबाव, तनाव तथा भयको दूर करनेका प्रयास किया जाता है। यह कहा जाता है कि परीक्षाका भय प्राय. सभीको होता है, क्योंकि एक मूर्ख व्यक्ति भी ऐसे प्रश्नोको पूछ सकता है, जिनका उत्तर अधिक बुद्धिमान् भी नहीं दे सकता। खुली परीक्षा-पद्धतिमे इस तरहकी बेचैनी तथा तनावसे मुक्ति पानेका उद्देश्य रखा गया है। सभी छात्रोको पुस्तकीय सहायतासे प्रश्नोको हल करनेके लिये स्वतन्त्रता रहती है। इस सुविधाके कारण परीक्षाके भयसे मुक्ति पानेकी सम्भावना बढ सकती है।

इस पद्धतिसे परीक्षामे पूछे जानेवाले प्रश्नोकी शैलीमे सुधार होगा। परीक्षामे सामान्यतया ऐसे प्रश्न पूछे जाते

है कि जिनका उत्तर देनेके लिये चिन्तनकी सामान्यतया आवश्यकता नही होती। ऑख मूँदकर तथ्योको रटकर इन प्रश्नोका उत्तर दिया जाता है। इस स्थितिके कारण परीक्षाके पीछे यह सुझाव दिया जाता है कि परीक्षा-प्रणालीमे पूछे जानेवाले प्रश्नोको अधोलिखित विशेषताओसे युक्त करना चाहिये—

(१) क्या इस प्रश्नका शिक्षण-पद्धतिपर अच्छा प्रभाव पड़ेगा ? (२) क्या यह अच्छे ढंगसे अध्यापन-कार्यको सम्पन्न करनेके लिये प्रोत्साहन देगा ? (३) क्या यह छात्रोके लिये स्पष्ट-रूपसे बोधगम्य है और (४) क्या यह रटनेकी प्रवृत्तिको अनुत्साहित करेगा ?

इन उपर्युक्त बातोके अतिरिक्त प्रश्नोका स्वभाव ऐसा होना चाहिये जिनसे प्राप्त ज्ञानके उपयोगकी परीक्षा हो सके। इन विशेषताओसे युक्त प्रश्नोको पूछनेका उद्देश्य खुली परीक्षा-पद्धतिमे है, जिसमे प्रश्नोके गुणमे सुधार हो सके।

खुली पुस्तक-परीक्षामे नकलकी प्रवृत्तिको कम करनेका उद्देश्य रखा गया है। चूँकि इसमे पुस्तकोकी सहायता लेनेकी स्वतन्त्रता रहेगी, इसलिये शैक्षिक बेईमानीकी सम्भावना स्वाभाविक रूपसे समाप्त हो जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि उस खतरेसे शिक्षकोकी भी मुक्ति हो जायगी, जिसका वे परीक्षाके दौरान सामना करते हैं।

इन उपर्युक्त लाभो एवं उद्देश्योकी प्राप्तिके लिये ही आज इस नये कदमको उठानेकी बात की जा रही है, परंतु इस अभिनव कदमकी कुछ सीमाएँ है, जिनमेसे कुछका विवरण अधोलिखित है—

(१) शैक्षिक बेईमानीकी सम्भावना घटनेके स्थानपर बढ़ेगी; क्योंकि छात्र परीक्षाहालमें अपने विचारों तथा हलोका आदान-प्रदान करेंगे। (२) स्व-अध्ययनकी आदतका विकास नही होगा; क्योंकि छात्र विषय-वस्तुसे सम्बन्धित सामग्रीको परीक्षाके समय सरलतासे प्राप्त कर लेगे। (३) प्राप्त ज्ञानके उपयोगकी परीक्षाके लिये योग्य अध्यापकोका हमारे यहाँ अभाव है। (४) प्रश्नोत्तरीसे सम्बन्धित छोटी-छोटी पुस्तकोंकी बाढ़ आ जानेकी सम्भावना बढेगी और (५) इस प्रकारकी पद्धति केवल उच्च कक्षाओमे ही उपयोगी सिद्ध होगी।

उपर्युक्त सीमाओके रहते इस नये कदमका परीक्षण आवश्यक है। इस संदर्भमे सफलताकी प्राप्ति पर्याप्त हदतक शिक्षको तथा प्रधानाचार्योंके ऊपर निर्भर करेगी। इसलिये इन्हे धैर्य, साहस, विवेक तथा ईमानदारीसे कार्य करना चाहिये। उन्हे कोई ऐसा आचरण नहीं करना चाहिये, जिससे वे समाजमें आलोचनाका पात्र बन सके। संक्षेपमे नकल तथा शैक्षिक बेईमानीसे सम्बन्धित दोषोका निराकरण करनेके लिये खोजी गयी इस नयी पद्धतिकी सफलता सरकार, प्रधानाचार्य, शिक्षक, अभिभावक तथा छात्र सभीके संयुक्त सहयोगके ऊपर निर्भर है, अन्यथा यह अभिनव कदम न केवल असफल होगा प्रत्युत वातावरणको भी विषाक्त बना देगा।

जनक और जननीसे

(श्रीबद्रीप्रसादजी गुप्त 'आर्य')

इतना दुलराओ बालकको, हो अनुशासन-हीन नहीं,
इतना प्यार करो, हो जिससे निष्क्रिय, कर्म-विहीन नहीं,
इतना सुख दो, जितनेसे कर सके बुद्धिका वह विस्तार—
हो न कभी मतिमंद आलसी, उपजे शुद्ध विवेक-विचार।

इतना मुक्त करो, जितनेसे स्वतन्त्रताका अनुभव हो,
इतनी दो न मुक्ति, जिससे उच्छृङ्खलताका उद्भव हो,
इतना प्रेम दिखाओ, जितनेसे अपना सम्मान रहे,
इतनी करो ताड़ना, जिससे उसमे हठ न गुमान रहे।

वह डालो संस्कार कि जिससे पुण्यात्मा सद्ज्ञानी हो,
वर्चस्वी, वाग्मी, विवेकी, वीर धीर बलिदानी हो,
मात-पिताका आज्ञाकारी, गुरु-चरणोका भक्त रहे,
धर्म, स्वजाति, राष्ट्र-सेवामे जीवनभर अनुरक्त रहे।

विश्वविद्यालय बौद्धिक स्वातन्त्र्यके केन्द्र बनें

(प्रो० श्रीशकरदयालुजी त्रिपाठी)

भारतमे पराधीनताका सर्वाधिक प्रभाव सांस्कृतिक चेतना एवं बौद्धिक विकासके क्षेत्रोपर पडा है और भारतीय विश्वविद्यालय इस दुष्प्रवृत्तिके मुख्य प्रतीक रहे हैं। स्वतन्त्रताके पूर्वका प्रबुद्ध वर्ग मैकाले-प्रणीत शिक्षा-प्रणालीको न केवल देशके लिये अनुपयुक्त समझता था, अपितु उसकी मान्यता थी कि तत्कालीन विश्वविद्यालय ऐसे विद्यार्थियोका निर्माण करते है, जो राष्ट्रिय चेतना-धारासे विरत, राष्ट्रिय आकाङ्क्षाओसे अनभिज्ञ तथा इतिहासकी भावी रूप-रेखासे सर्वथा अपरिचित है और होगे।

उन दिनो सारी परिस्थितियोका सारा दोष विदेशी सत्ताको दिया जाता था और ऐसा समझा जाता था कि स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद जिस नये समाजका उदय होगा, उसमे विश्वविद्यालय ऐसे बौद्धिक स्वातन्त्र्यके केन्द्रके रूपमे विकसित होगे, जिनमे भौतिक चिन्तन तो होगा ही, साथ ही भारतीय संस्कृतिके अनुरूप उनका विकास भी होगा तथा वे एक नये क्रान्तिकारी समाजकी सरचनाके आधार बनेगे। विश्वविद्यालय उस समयके सभी राजनेताओ एव विचारकोके आशा-केन्द्र थे।

घटनाचक्रोकी यह विडम्बना ही है कि स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् भारतमे पराधीनताकी प्रवृत्तियोका ही विकास हुआ। स्वतन्त्रता-संग्रामके समय जिन प्रवृत्तियोको अस्वस्थ एव अराष्ट्रिय समझा जाता था, वे ही आज प्रगति तथा विकासका प्रतीक बन गयी है। जहाँ आर्थिक क्षेत्रमे विदेशी सहायता तथा अन्ताराष्ट्रिय कम्पनियोपर हमारा परावलम्बन बढा है, सांस्कृतिक क्षेत्रमे हमारी हीन-भावना विकसित हुई है, नैतिक मान्यताएँ तेजीसे बदली है, स्वराज्यके प्रति भी श्रद्धा कम हुई है, भारतीय मूल्यो, स्वभाषा, वस्त्र-वेशभूषाके प्रति हमारा आग्रह घटा है (राजनेताओ, राज्यपालो तथा मन्त्रियोकी टाई-संस्कृति इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है), वहीं हमारे विश्वविद्यालय विदेशी संस्कृति, तकनीकके प्रचार-केन्द्र एवं उनकी सभ्यताके दीप-स्तम्भ बन गये हैं। आज वहाँ होड़ इस बातकी लगी है कि कौन अधिक-से-अधिक 'अभारतीय' है तथा विदेशी संस्कृति उसके कितना निकट है। इस बातकी प्रतिस्पर्धा नही है कि अपने स्वतन्त्र देशको गौरवके अनुरूप आचरणमे प्रतिष्ठित करके नवयुवकोमे स्वदेशाभिमान जाग्रत् किया जाय, अपितु इस बातकी है कि कौन कितना अधिक अमेरिकन, ब्रिटिश, जर्मन, फ्रेंच या रूसी विचारधारासे पोषित और प्रभावित है।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके तुरत पश्चात् देशकी सांस्कृतिक परम्परा एवं बौद्धिक जीवनको नियन्त्रित करनेकी दृष्टिसे अनेक शिक्षण-संस्थान, फाउण्डेशन, स्कालरशिप तथा शैक्षणिक आंदान-प्रदान (एक्सचेज) कार्यक्रम (अधिकतर अमेरिकन) प्रारम्भ किये गये, जो शैक्षणिक कम और राजनीतिक अधिक थे। सास्कृतिक सहयोग, आर्थिक पुनर्निर्माण एवं ज्ञान-परिवर्धनके नामपर हजारो नवयुवकोका 'आधुनिकीकरण', 'विदेशीकरण' तथा 'विसंस्कृतीकरण' किया गया। सम्पूर्ण देशमे यह धारणा विकसित की गयी कि जबतक ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज या हारवर्डकी मोहर न हो (यद्यपि आजकल उनका आर्थिक ढाँचा बुरी तरह लडखड़ाया हुआ है), तबतक कोई भी व्यक्ति विचारक, सुसंस्कृत एव चिन्तनशील अध्यापक नही हो सकता। प्राय यह भुला दिया गया है कि बौद्धिक विकास आत्माभिमुखी प्रक्रिया है, न कि बाह्य आडम्बर। विदेशी शिक्षा-प्राप्त नवयुवक (कुछ अपवादोको छोडकर) न तो भारतीय समाज-व्यवस्थामे समरस हो पाते हैं और न शिक्षण-कार्यके प्रति समर्पणकी भावनासे कार्य ही कर पाते है। पाश्चात्त्य प्रभावके अन्तर्गत प्रशिक्षण तो उनके लिये व्यवसाय या विकासकी सीढी मात्र है।

राष्ट्रिय चेतना, गौरव एवं ज्ञानके अभावमे आजके विश्वविद्यालय कोई मौलिक देन देनेमे असमर्थ हैं। जिन मूल्योकी यहाँ स्थापना होती है, वे किसी भी प्रकार बौद्धिक स्वातन्त्र्य एवं विकासके लिये उपयुक्त नही है। इस प्रकारकी प्रशिक्षण-प्रणालीसे आधुनिकतावादी तो जन्म ले सकते

है, किंतु युग-परिवर्तक समाजनिर्माता नहीं; इतिहासकार बन सकते हैं, किंतु इतिहास-निर्माता नहीं, मन्त्रद्रष्टा नहीं । वे किसीका अनुगमन कर सकते हैं, पर नेतृत्व नहीं ।

आज सभी अनुभव करते हैं कि वर्तमान विश्वविद्यालय राष्ट्रनिर्माणमें अपना योगदान नहीं दे पा रहे हैं, शिक्षक मार्गदर्शनके स्थानसे च्युत हो गये हैं, विद्यार्थियोमे स्वदेशाभिमान एवं उत्तरदायित्वका अभाव है । सभी मानते हैं कि वर्तमान अनुलिपिकारिणी शिक्षण-प्रणाली देशके लिये अनुपयुक्त एवं अभिशाप है । सभी लोग हिंदीको राष्ट्रभाषाके पदपर सुशोभित करनेकी बात कहते हैं तथा क्षेत्रीय भाषाओंको विकसित करनेकी बातका समर्थन भी करते हैं, परंतु फिर भी अंग्रेजी भाषाका ही एकच्छत्र साम्राज्य है । सभी ओर विचार एवं कर्तव्यमे गतिरोध पैदा हो गया है ।

आवश्यकता है कि विश्वविद्यालय बौद्धिक स्वातन्त्र्यके केन्द्र बनें, हम मौलिक चिन्तनकी ओर अग्रसर हों, ज्ञान कहींसे भी मिले, ग्रहण करें, किंतु भारतीय आधार न छोड़े, सुस्थिर एवं सुस्पष्ट शिक्षकनीतिका अनुसरण करके विश्वविद्यालयोंको जनाभिमुख बनायें, गारा-मिट्टीके स्थानपर सद्ज्ञानपर बल दे तथा विद्यार्थियोंमें श्रेष्ठतम मानवीय गुणोंका निर्माणकर भारतवर्षके पुनर्निर्माण, आर्थिक विकास एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरणमें अपना सहयोग प्रदान करें ।
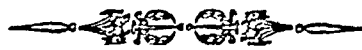
बाल-विश्वविद्यालय

(श्रीजयप्रकाशजी भारती)

संसारमें पहली बार बाल-विश्वविद्यालय स्थापित करनेकी चर्चा चल रही है । सामाजिक बुराइयाँ मिटाने और विकासके मार्गपर चलनेका शुभारम्भ बालकसे ही हो सकता है । इसके लिये हमारी चार दशककी पुरानी शिक्षा असफल ही रही, यह हम स्वीकार कर चुके हैं । नयी शिक्षा-प्रणाली कुछ सार्थक है भी, इसीमे सदेह होता है ।

बाल-विश्वविद्यालयकी कल्पना एकदम अनूठी है । बालक और विश्वविद्यालय—दो शब्द साथ-साथ हो तो उन्हें हमारे महारथी शिक्षाविद् पचा नहीं सकते। वे परम्परागत विश्वविद्यालयसे अलग कैसे सोचें । विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोगने रस्सोंसे घेराबंदी करके अधिकांश विश्वविद्यालयोंको कब्रिस्तान बना रखा है । बौद्धिक समाज पश्चिमका पालतू बना हुआ है । बाल-विश्वविद्यालयमें बाल-शिक्षा और अनुसंधानको एक ही परिसरमें रखा जायगा ।

बाल-विश्वविद्यालय ऐसा होगा जो अनुदानकी बैसाखियोंपर न टिका हो । उसके तीन मुख्य भाग होंगे—(१) जिस बाल-शिक्षाको हम सपनोंमें सँजोते आये हैं, उसे साकार करनेवाला विद्यालय । (२) विद्यालयका शिशु-प्रभाग तीनसे पाँच-छः वर्षतकके फुदकते-किलकारियाँ भरते शिशुओंका होगा । (३) खेल-खेलमे उनकी शिक्षा होगी, कोई पाठ्य-पुस्तक उनके लिये निर्धारित न होगी ।

मुख्य विद्यालयमे पाँच वर्षसे ऊपरके बालक भर्ती किये जायँगे । आरम्भमे एक हजार, उसके बाद प्रतिवर्ष एक हजार जुड़ते रहेगे । दस हजारसे अधिक बच्चे भर्ती न होगे । पिछड़े और ग्रामीण क्षेत्रके बालक भी वहाँ लिये जायँगे । ग्यारह वर्षतक उनकी शिक्षा वहीं रहकर होगी । वे बालक तीन भाषाएँ सीखेंगे । इसके सिवा प्रतिदिनके काममें आने योग्य गणित तथा दूसरे विषय भी पढ़ाये जायँगे । यह शिक्षा बहुत-सी पाठ्य-पुस्तकोंके भरोसे नहीं चलेगी । इस अवधिमे सभी बालक विश्वविद्यालय-परिसरमे काम भी करेंगे । वे कोई-न-कोई ऐसी कला सीख लेगे, जिससे वे सत्रह वर्षके होनेपर चाहें तो अपना काम आरम्भ कर सके । ग्यारह वर्षकी इस शिक्षामे उन्हे परीक्षा और प्रमाण-पत्रके बन्धनमें बँधना

न पड़ेगा ।

इसके बाद उनकी विशेषज्ञ-शिक्षा आरम्भ होगी। जिस दिशामे उनकी विशेष रुचि हो, उसीके शीर्षस्थ विशेषज्ञकी देख-रेखमे युवा छात्र अपना अध्ययन करेगे। उसकी अवधि छ-सात वर्षतक हो सकती है। कतिपय मामलोमे आवश्यकता होनेपर दस वर्षतक भी हो सकती है। बाल-विश्वविद्यालयमे विशेषज्ञ-शिक्षा पूरी करनेवाले छात्रोको जहाँ-तहाँ नौकरीके लिये भटकना नही पडेगा। यदि वे चाहेगे तो विश्वविद्यालयमे अच्छे वेतनपर आजीवन काम कर सकेगे।

वाल-विश्वविद्यालयके छात्रोको बहुत-सा ज्ञान आप-से-आप मिल जायगा। परिसरमे 'लघु भारत' का निर्माण किया जायगा। प्रत्येक राज्यको भूमि प्रदान की जायगी, जहाँ वे अपना-अपना सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित कर सके। ये केन्द्र बारहो मास जीवंत बने रहेगे। राज्य-विशेषका रहन-सहन, खान-पान, पहनावा, लोक-जीवन तथा अन्य मुख्य विशेपताओकी झाँकी हर किसीको वहाँ मिल जायगी। राज्योके पर्व-त्योहार भी आये दिन वहाँ मनाये जायँगे।

बाल-विश्वविद्यालयमे बालकसे जुड़े सभी विषयोपर शोध-कार्य भी होगे। वही बालकके स्वास्थ्य, मनोविज्ञान, व्यवहार, मनोरञ्जन, खेलकूद, शिक्षण-पद्धति तथा ज्ञान-विज्ञानसे जुड़े विविध विषयोपर अध्ययन एवं शोधकी व्यवस्था रहेगी। इस समय इन पाँच सस्थानोको वहाँ आरम्भ करनेका प्रस्ताव है—(१) बाल-स्वास्थ्य-शोध-संस्थान, (२) बाल-मनोरञ्जनका संस्थान, (३) बाल-शिक्षा-अध्ययन एवं शोध, (४) खेलकूद-सस्थान और (५) विश्व-बाल-साहित्य तथा दृश्य-श्रव्य-सस्थान एव विशाल पुस्तकालय।

बाल-विश्वविद्यालयकी सम्पूर्ण रूपरेखा तैयार करनेके लिये गठित समितिके अध्यक्ष देशके जाने-माने शिक्षाविद् प्रोफेसर मुनिस रज़ा है। उनका कहना है कि राजधानीके निकट जो बाल-विश्वविद्यालय बनेगा, वह तो 'नोडल' या संगम-जैसा होगा, शेष देशके अन्य भागोमे उसके क्षेत्रीय परिसर भी बनते जायँगे। भूतपूर्व उपराष्ट्रपति श्री बी॰ डी॰ जत्ती विश्वविद्यालयके सूत्रधार है। भारतीय बाल-शिक्षा-परिषद्ने इस दिशामे पहल की है और दो सौ एकड़ भूमि जुटा ली है। विविध क्षेत्रोके विशेषज्ञ समितिसे जुड़ रहे है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुरके शान्ति-निकेतन, पांडीचेरीमे अरविन्द-आश्रम गुरुकुल-पद्धति, गिजुभाईके बाल-मन्दिर तथा इवान इलिचके 'स्कूलरहित समाज'मे जो अच्छी बाते है, उन्हे केन्द्रमे रखकर बाल-विश्वविद्यालयकी योजना आगे बढेगी। इसकी सम्पूर्ण रूपरेखा उभरनेमे समय लगेगा। नवम्बर सन् १९८७ई॰मे नयी दिल्लीमे हुए 'राष्ट्रिय बाल-शिक्षा-सम्मेलन'मे देशके सभी भागोसे एक हजार शिक्षाविद्, शिक्षक, विचारक तथा बालकके विषयमे सोचने-समझनेवाले विशेषज्ञोने भाग लिया 'बाल-विश्वविद्यालय'-सत्रकी अध्यक्षता शिक्षा एव संस्कृति-मन्त्री श्रीमती कृष्णा साहीने की। श्रीमती साहीने कहा कि बाल-विश्वविद्यालयके अन्तर्गत बालकका सम्पूर्ण विकास हो सकेगा। इस योजनामे निर्धारित पाठ्यक्रम-द्वारा ज्ञान करानेपर जोर नही है, अपितु स्वास्थ्य, खेलकूद, मनोरञ्जन तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमोद्वारा बहुमुखी विकास किया जायगा। इससे बच्चोका मानसिक स्तर बढेगा, साथ ही राष्ट्रिय एकता और सद्भावकी दिशामे यह सफल प्रयोग होगा, किंतु बाल-विश्वविद्यालयके आयोजक 'जीवन-शिक्षा'के विचारोको सँजोये हुए है। यह योजना नयी पीढीमे एकता, सद्भाव तथा मानवताके अङ्कुर अवश्य रोप सकेगी।

समर्पणका सरल उपाय है नामस्मरण। नामस्मरणसे पाप भस्म होते है। सकाम नामस्मरण करनेसे वह नाम जो इच्छा हो वह पूरी कर देता है। निष्काम नामस्मरण करनेसे वह नाम पापको भस्म कर देता है। मनके श्रीकृष्णार्पण होनेसे भक्ति उल्लसित होती है।

अभिनव शिक्षा—कुछ बुनियादी प्रश्न

(श्रीलालताप्रसादजी शर्मा)

शिक्षा मनुष्यके सम्यक् विकासके लिये उसके विभिन्न ज्ञान-तन्तुओंको प्रशिक्षित करनेकी प्रक्रिया है। इसके द्वारा लोगोमें आत्मसात् करने, ग्रहण करने, रचनात्मक कार्य करने, दूसरोंकी सहायता करने और राष्ट्रिय महत्त्वके कार्यक्रमोमें पूर्ण सहयोग देनेकी भावनाका विकास होता है। इसका उद्देश्य व्यक्तिको परिपक्व बनाना है। शिक्षा केवल वही नहीं है, जो विद्यार्थियोको स्कूल और कालेजोमे दी जातो है, अपितु व्यापक अर्थमें जीवनपर्यन्त चलती रहनेवाली एक ऐसी प्रक्रिया है, जो विभिन्न वर्ग और श्रेणीके लोगोके आपसी विचार-विमर्शके द्वारा चलती रहती है तथा उसका चलते रहना बहुत आवश्यक है। शिक्षा हमारे चिन्तनको विवेक-सम्मत बनाती है, जिससे हमे समाजको कुरीति और अन्यायसे मुक्त करनेकी प्रेरणा मिलती है।

शिक्षा कैसी हो ?

शिक्षा कैसी हो? सारी दुनियामे जब कभी इस विषयपर विचार-विमर्श होता है तब सभी यह सोचते हैं कि शिक्षा ऐसी हो, जिसके माध्यमसे मनुष्य प्रकृति और अपने साथियोके साथ अत्यधिक निकट-सम्बन्ध स्थापित कर सके। न केवल मानव, अपितु प्राणिजगत्के लिये अपने मनमें और अधिक प्यार पैदा कर सके तथा यही नहीं, पेड़-पौधे तथा उन सभी वस्तुओके प्रति अधिक व्यापक दृष्टिकोण बना सके, जो इस दुनियाको रहनेके योग्य बनाता है। हमारी पुरानी परम्पराओकी जो बाते ऐसा दृष्टिकोण विकसित करनेमे सहायक हैं, उन्हे नि.संदेह हमे अपनानी है, साथ ही नया ज्ञान प्राप्त करना भी हमारा दायित्व है। जो कुछ विदेशोमे खोजा और विकसित किया जा चुका है, उसपर ही निर्भर न रहकर देखना यह है कि हम किस सीमातक उसमे अपना योगदान कर सकते हैं।

वर्तमान शिक्षा-प्रणालीमें सुधार

हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अनुपयोगी हो गयी है। यह प्रणाली मुख्यतया पश्चिमसे अनुप्राणित है। यह व्यक्ति-विशेषके विकासपर बल देते हुए केवल उपाधि पानेका अथवा रोजगारके लिये अन्य शर्तोंको पूरा करनेका माध्यम मात्र बनकर रह गयी है, किंतु वर्तमान शिक्षा-पद्धतिकी भी हम निन्दा नहीं कर सकते; क्योंकि अपनी इन सीमाओके बावजूद भी इसने अनेक वैज्ञानिक, अभियन्ता, शिक्षाविद् एवं बड़ी संख्यामें होनहार व्यक्तियोंको पैदा किया है। वर्तमान शिक्षापद्धतिमें इस प्रकारके परिवर्तनोंकी आवश्यकता है, जो सभीकी आवश्यकता पूरा करे। यद्यपि इस शिक्षा-प्रणालीमे मौलिक संशोधन नहीं हो पाये हैं तथापि प्रयत्न किया जा रहा है कि इसे गहन सामाजिक उद्देश्यसे परिपूर्ण किया जा सके।

जीवन-मूलक शिक्षा

शिक्षाको हमारी सामाजिक जीवन-पद्धतिके अनुरूप बनाया जाना चाहिये। पाठ ऐसे हों, जो जीवन और परिस्थितियोंसे सम्बन्धित हों, जिनसे छात्रोंमें देश-प्रेमकी भावनाका विकास हो और इस प्रेरणाका उदय हो कि हम दूसरोसे जीवन-पर्यन्त सीखते ही रहे; क्योंकि जहाँ सीखना बंद किया, वहीं मस्तिष्क भी बंद हो जाता है। छात्रोको पुस्तकीय ज्ञान देनेके बजाय उनकी मनोवृत्तिमे परिवर्तन लानेकी चेष्टा की जानी चाहिये, जिससे वे जाति-पाँति, धर्म, भाषा, क्षेत्र और वर्ण आदिके कारण भेद-भाव न बरते तथा बदल रहे विश्वकी चुनौतियोका सामना करनेके लिये तैयार हो। राष्ट्रको नयी प्रतिभा मिले और लोगोकी क्षमता बढ़े—यही शिक्षा-व्यवस्थाका उद्देश्य होना चाहिये।

दस धन दो धन तीन

सारे देशमे बुनियादी शिक्षा एक ही होनी चाहिये,

पर स्थानीय आवश्यकताओं और परिस्थितिके अनुसार परिवर्तन भी अपेक्षित है; क्योंकि शिक्षाको सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। बच्चोकी वास्तविक और परिवर्तित आवश्यकताओके अनुसार अनवरत अनुकूलता आवश्यक है। उसमे प्रयोग और लचीलापन रहना आवश्यक है, किंतु इस सम्बन्धमे हमे बुनियादी बातोको ध्यानमे अवश्य रखना चाहिये। दस धन दो धन तीनकी नयी शिक्षा-प्रणालीके कई विषयोपर मत-वैभिन्न्य है, परतु शिक्षाको व्यापक बनाने तथा छात्रोंको विकल्पके और अधिक अवसर प्रदान करनेके ध्येयसे इसे अपनाया गया है।

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन

शिक्षण-संस्थाओका काम यह है कि वे छात्रोमे छिपी शक्तिको जगायें और उस शक्तिके पूर्ण उपयोगके लिये वातावरण तैयार करे। शिक्षाको कक्षाओकी सीमित परिधिसे निकालकर सामाजिक परिवर्तनके लिये वातावरणका निर्माण करनेकी दिशामे लगाया जाना चाहिये। छात्रोको केवल अक्षर तथा अङ्कगणितका ज्ञान ही नहीं होना चाहिये, अपितु उन्हे अपने राष्ट्र और क्षेत्रकी समस्याओसे अवगत कराया जाना चाहिये, जिससे वे जागरूक बन सके। केवल जान लेना ही पर्याप्त नही है, जाने हुएको यदि आप किसी प्रकार जीवनमे उतारते हैं, तो यह बहुत महत्त्वकी बात है। डिग्री ले लेनेका अर्थ यह नहीं है कि कोई हाथसे काम न करे। श्रमको अपनी प्रतिष्ठाके विरुद्ध समझनेका दृष्टिकोण हमारे देशकी परम्परा और परिस्थितिके अनुकूल नहीं है। शिक्षा-संस्थाओका कर्तव्य है कि वे श्रमके प्रति आस्थाका वातावरण बनायें, तभी हमारे युवक स्वावलम्बकी ओर अग्रसर हो सकेगे। राष्ट्र-निर्माणकी प्रक्रियामें छात्रोको इस ओर ध्यान देनेकी अपेक्षा कि 'राष्ट्र उनके लिये क्या कर रहा है', इस बातपर अधिक ध्यान देना चाहिये कि 'राष्ट्रके लिये वे क्या कर सकते हैं।'

शिक्षा गाँवोंकी ओर

विश्वविद्यालयो और प्रयोगशालाओको अवश्य ही गाँवोके निकट आना चाहिये। यह जानकर आश्चर्य होता है कि हमारे विश्वविद्यालयो और प्रयोगशालाओको दी जानेवाली अनुदानकी राशिमेसे भारी धन ऐसे अनुसंधान-कार्योपर खर्च किया जाता है, जो बौद्धिकरूपसे प्रशिक्षित करनेके लिये भी लाभदायक नहीं है। इस मतसे सहमति अवश्य है कि शिक्षा-पद्धति ग्रामीण आवश्यकताओं और ग्रामीण समस्याओसे सम्बद्ध हो, इसे ग्रामीण मेधासे भी सम्बन्धित होना चाहिये। लोगोको यह अनुभूति होनी चाहिये कि भारतकी अपनी जीवन-पद्धति है तथा भारतकी प्रत्येक समस्याका भारतीय समाधान है। छात्र अपनी डिग्रियाँ प्राप्त करनेके बाद गाँवोमे जायँ और न केवल गरीबी हटानेके लिये अपितु ऐसी बुराइयोके विरुद्ध संघर्ष करनेके लिये, जिससे वे सब बुराइयाँ दूर हो सके, जिनसे राष्ट्र निर्बल होता है।

जनपदीय अध्ययन

बहुत-से नौजवान पढ-लिखकर गाँवसे शहरकी ओर भागते हैं और उनकी पढ़ाई-लिखाईका लाभ गाँवोको नही मिल पाता। वास्तवमे शिक्षाद्वारा गाँवोका उत्थान होना चाहिये। ग्रामीण उत्थानका पहला कदम है गाँवोमे वहाँके वातावरण, स्थानीय वनस्पतियो, वन्य-जन्तुओ और वहाँकी कला तथा शिल्पके प्रति सम्मानकी भावना उत्पन्न करना। पुरानी लोकप्रिय घरेलू ओषधियाँ लुप्त होती जा रही है, कुछ थोड़ी-सी बची हैं, जो विज्ञानके बजाय विश्वासके बलपर टिकी है, किंतु विज्ञान धीरे-धीरे पता लगा रहा है कि सारी ओषधियाँ अवैज्ञानिक नही है। हमे ग्रामीण महिलाओ और बच्चोको बहुमूल्य कन्दमूलोंको पहचानने और उन्हे सुरक्षित रखनेके लिये प्रेरित करना चाहिये। जो कन्दमूल पोषणकी कमी दूर करते है, उनकी अधिक उपज और उपयोगको हमे लोकप्रिय बनाना चाहिये। इस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये शिक्षा-संस्थाओको अपने जनपदीय परिवेशका विभिन्न दृष्टिकोणोसे बहुविषयक अध्ययन करना चाहिये। हमे प्रत्येक क्षेत्रमे उपलब्ध स्थानीय सामग्रीका अधिकाधिक उपयोग करनेके लिये एक नया राष्ट्रिय आन्दोलन आरम्भ करना चाहिये।

उच्च आदर्श

शिक्षाके द्वारा अन्धविश्वासोको निर्मूल करना बहुत आवश्यक है। जीवनके उच्च लक्ष्योको प्राप्त करनेके

लिये साहस, ईमानदारी एव धैर्य अनिवार्य है । लोगोको आत्मसंतोषकी भावनासे शान्त होकर नहीं बैठना चाहिये, अपितु उपलब्धियोकी ऊँचाइयोपर अथक आगे बढ़ते रहना चाहिये । असंतोष दो प्रकारका होता है—एक तो केवल कुण्ठा होती है और दूसरा रूप यह होता है कि महानताकी ऊँची-से-ऊँची सीढ़ियोपर पहुँचनेके लिये स्वयंको सुधारनेके सतत प्रयास करते रहना ।

एक सम्पर्क-भाषा

भारत-जैसे विशाल देशके लिये एक सम्पर्क-भाषा बहुत आवश्यक है, जिससे विभिन्न क्षेत्रोके लोग एक दूसरेके विचार समझ सके । जहाँतक अग्रेजीका प्रश्न है, दो प्रतिशतसे कम लोग ही इसका प्रयोग करते हैं, इसीलिये यह आवश्यक है कि हिंदीको राष्ट्रिय सम्पर्क-भाषाके रूपमे विकसित किया जाय । इसके लिये सतर्क रहनेकी आवश्यकता है कि हिंदीके प्रचारमे कोई दबाव न दिया जाय । लोगोको राष्ट्रभाषा स्वेच्छासे सीखनी चाहिये ।

भारतीय दृष्टिकोण

विदेशी दासताके कारण कुछ लोगोमे अभीतक हीनताकी भावना शेष है, इसी कारण भारतकी प्रत्येक वस्तुको वे हेय समझते हैं और विदेशकी हर वस्तुको उच्च मानते है । हमे अन्य देशो तथा विदेशी विशेषज्ञोका अनुकरण नहीं करना है, किंतु अपनी जीवन-पद्धतिके लिये जो अनुकूल है, उसे अपनानेमे संकोच नही करना चाहिये और भारतीय वातावरणके लिये अनुकूल जो नहीं है, उसे तिलाञ्जलि दे देनी चाहिये । हमारे समाजशास्त्री बहुत अंशोमें विदेशियोद्वारा लिखी पुस्तकोपर निर्भर रहते है । वे इस विषयपर भारतीय छात्रोंके लिये जो भी पुस्तक लिखते हैं, वह भी विदेशी पुस्तकोकी नकल-सी होती है । वास्तवमे समाजशास्त्र और अर्थशास्त्रको पश्चिमी परिवेशमे नहीं अपितु भारतीय परिवेशमे यहाँकी सामाजिक व्यवस्था एवं प्रणालीको ध्यानमे रखकर देखा और उसका अध्ययन किया जाना चाहिये । देशको निःसदेह वैज्ञानिको और प्राविधिकोंकी आवश्यकता है, किंतु इससे भी अधिक वे लोग आवश्यक हैं जो अपनेको सर्वतोभावेन भारतीय मानते हैं ।

धनाभाव

धनके अभावके कारण शिक्षाकी प्रगति कदापि नहीं रुकनी चाहिये । अनावश्यक मदोपर कटौतीकी पर्याप्त गुंजाइश है । विद्यालयोके लिये भव्य मकानकी आवश्यकता नही है । विद्यार्थियोको खुले वातावरणमे पढ़ाया जा सकता है । कवीन्द्र रवीन्द्रकी विश्वभारती इसका सुन्दर उदाहरण है । भवनकी आवश्यकता केवल वर्षासे रक्षाके लिये होती है । अतः पेडोकी छाया, चबूतरों और दालानोमें शिक्षा, विशेषकर प्राथमिक शिक्षाका प्रवन्ध किया जा सकता है । प्रयोगशालाओके लिये भवनकी आवश्यकता होती है, परंतु इसके लिये भी निर्माण-कार्य स्थानीय साधनोसे हो सकता है ।

उच्च शिक्षाके असंतुलित फैलावपर प्रतिबन्ध

उच्च शिक्षाके असंतुलित फैलावसे शिक्षामें अनेक विकृतियाँ आयी हैं । पेशेवर छात्रोंको जो पढनेके लिये कालेजमे नही आते, किसी अन्य अभिप्रायसे आते हैं, निरुत्साह किया जाना चाहिये । इसके लिये उच्च शिक्षापर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है,पर यह प्रतिबन्ध इस प्रकार लगाया जाय जिससे कमजोर वर्ग यह अनुभव न करे कि उसके लिये उच्च शिक्षाके द्वार बंद हो गये हैं ।

शिक्षककी जिम्मेदारी

शिक्षाका उद्देश्य तबतक पूरा नहीं हो सकता, जबतक छात्रो और शिक्षकोंमे अच्छे सम्बन्ध विकसित नहीं होगे और शिक्षकोको उचित सम्मान नहीं मिलेगा । अधिकारियोको इस संदर्भमे अफसरशाहीसे बचना चाहिये । हमारे भविष्यके लिये शिक्षकोकी योग्यता और उनकी मनोवृत्तियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं । वे नये समाजको गढ़ते हैं और परम्पराको आगे बढ़ाते हैं, इसीलिये वे सदा आदर और श्रद्धाके पात्र है । हमने अपने देशके लिये जो बुनियादी उद्देश्य और लक्ष्य कायम किये हैं, उन्हे युवकोतक पहुँचाना और उसके लिये उन्हे तैयार करनेकी जिम्मेदारी शिक्षकोकी है । प्रगतिके लिये हमारी वर्तमान उत्साहपूर्ण खोजमे अध्यापकोको अगुआ होना चाहिये । अशिक्षा, गरीबी और प्रतिक्रियावादी शक्तियोके विरुद्ध संघर्ष करनेमे

अध्यापकोकी भारी जिम्मेदारी है। शिक्षकोका कर्तव्य है कि संविधानमे प्रस्तावित नागरिकोके दस मूल कर्तव्योके प्रति जागरूकता पैदा करे, साथ ही जनसाधारणको उनके अनुपालनके लिये प्रेरित करे। नागरिकोके कर्तव्योकी सूचीमे सम्मिलित प्रावधानोमे अन्तिम प्रावधानको सबसे अधिक महत्त्व देना चाहिये, जिसमे नागरिकोका व्यक्तिगत और सामूहिक जीवनमे उत्कृष्टता प्राप्त करनेका आह्वान किया गया है।

गैर औपचारिक शिक्षा

गैर औपचारिक शिक्षाके माने हैं तथाकथित अशिक्षित व्यक्तिको बौद्धिक समस्याओको हल करनेमे सम्मिलित करना तथा यह पता लगाना कि वास्तविक जीवनमे उनके क्या अनुभव रहे, उनकी क्या कठिनाइयाँ हैं और हमने उन कठिनाइयोको दूर करनेके जो उपाय सोचे है, क्या उनसे वे दूर हो सकेंगी। हमे यह सोचना है कि हम उन्हें राष्ट्रिय समस्याओके समाधान खोजनेमे कैसे सम्मिलित करे? कैसे उनके विचारोका पता लगाये? किस तरह उन्हे सोचनेके लिये प्रेरित करे, चाहे वे झुग्गीमे रहते हो, चाहे वे थोड़ा अच्छे क्वार्टरोमे रहते हों। उन्हे यह अनुभव कराना है कि देशमे जो कुछ भी हो रहा है, उसमे उनका भी योगदान है। यदि उन्हे यह समझमे नहीं आ रहा है कि इसे किस प्रकार प्रारम्भ करे तो केवल ये बाते सुनना भी उनके लिये महत्त्व रखती है।

नयी बातोके विषयमें सोचना निःसंदेह बुद्धिजीवियोका काम है, परंतु हमे ऐसा वातावरण तैयार करना चाहिये, जिसमे नयी बातोके विषयमे सोचने-विचारनेका अवसर सभी नागरिकोको मिले। हो सकता है कि हर आदमीके सोचनेका ढंग उतना अच्छा न हो सके, परंतु हमारा ध्येय यह होना चाहिये कि देशमे सभी बातोके विषयमे सोचनेकी एक परम्परा बने। इस प्रक्रियासे यह बात सामने आयेगी कि हर वस्तुको हम यो ही अङ्गीकार नहीं कर लेते, हम लकीरके फकीर नही है, यहाँतक कि अपनी परम्पराका भी हम अन्धानुकरण नही करते, अपितु हममे यह जानने-समझनेका ज्ञान है कि क्या सही और क्या समयातीत है? यही हम चाहते है कि हमारे विश्वविद्यालय इस विषयमे सोचे और विचारे।

१०+२+३ शिक्षा-प्रणाली—पुरानी और अपूर्ण योजना

(डॉ॰ श्रीवेदरामजी शर्मा)

१०+२+३ 'शिक्षा-योजना', जिसे साधारण बोल-चालमे नयी शिक्षा-योजना कहा जाता है, वस्तुतः एक पुरानी और अपूर्ण शिक्षा-योजना है। पुरानी इसलिये, क्योंकि उसे कलकत्ता-विश्वविद्यालयमे (सैडलर-) आयोगद्वारा सन् १९१९ ई॰मे प्रस्तावित किया गया था और अपूर्ण इसलिये, क्योंकि उसमे ग्रामीय जीवन एवं विकासकी उपेक्षा की गयी है। राष्ट्रके सर्वतोमुखी विकासकी दृष्टिसे माध्यमिक शिक्षा (मुदालियर-) आयोग सन् १९५२-५३ई॰ और कोठारी-आयोग सन् १९६४-६६ई॰की अपेक्षा विश्वविद्यालयीय शिक्षा (राधाकृष्णन्) आयोग सन् १९४८-४९ई॰, जिसमे भारतके लिये दो स्वतन्त्र किंतु परस्पर पूरक शिक्षा-प्रणालियो—(१) ग्रामीय शिक्षा-प्रणाली और (२) नगरीय शिक्षा-प्रणालीकी कल्पना की गयी है, अधिक याथार्थिक एवं व्यावहारिक प्रतीत होती हैं।

नयी शिक्षा-योजनाकी एक विचारणीय विशेषता यह है कि वह तीन क्रमिक खण्डो या स्तरोमे विभक्त है, जिनमेसे प्रथम खण्डकी अवधि १० वर्ष, द्वितीयकी दो वर्ष और तृतीयकी तीन वर्ष है। इस प्रकार प्रथम कक्षासे लेकर प्रथम उपाधितक कुल शिक्षावधि पंद्रह वर्ष होगी। प्रथम दशवर्षीय शिक्षा प्राप्त करनेके लिये विद्यार्थी छ वर्षकी आयुमे (अर्थात् छठे वर्षके अन्त और सातवे वर्षके प्रारम्भमे) पहली कक्षामे प्रवेश लेगा और सोलह वर्षकी अवस्थामे दसवीं कक्षातककी शिक्षा पूर्ण करेगा।

दशवर्षीय शिक्षा 'एकरूप सामान्य शिक्षा' होगी अर्थात् छःसे सोलहतकके आयु-विस्तारमें प्रत्येक विद्यार्थीको एक-जैसे विषय पढने होंगे और यह विचार नहीं किया जायगा कि वह बालक है या बालिका, ग्रामीण है या नगरीय। राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण-परिषद, दिल्लीद्वारा प्रकाशित 'दशवर्षीय स्कूलके लिये पाठयक्रम—एक रूपरेखा' के अनुसार कक्षा नौ-दसमें प्रत्येक विद्यार्थीको कलाओं, कार्यानुभव और शारीरिक शिक्षा, स्वास्थ्य-शिक्षा तथा खेलके साथ-साथ तेरह विषय (प्रथम भाषा, हिंदी अथवा अंग्रेजी, कोई भारतीय भाषा, गणित, बीजगणित, ज्यामिति, इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान,' भौतिकविज्ञान और जीव-विज्ञान) पढ़ने होंगे।

नयी शिक्षा-प्रणाली मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्तोंपर आधारित नहीं है

नयी शिक्षा-योजनाके समर्थकों और प्रचारकोंका दावा है कि दशवर्षीय समान्य-शिक्षा भारतीय किशोरोंको सामाजिक समायोजना और जीविकोपार्जन—दोनों दृष्टियोसे सक्षम बना देगी, किंतु गहराईसे विचार करनेपर यह शिक्षा-योजना इसी दावेकी कसौटीपर लड़खड़ा जाती है। प्रश्न है, क्या समाजिक समायोजन और जीविकोपार्जनकी दृष्टिसे सभी किशोरोंकी परिस्थितियाँ, आकाङ्क्षाएँ एवं क्षमताएँ एक-सी है और उनका बालक या बालिका, ग्रामीय या नगरीय होना कोई अर्थ या महत्त्व नहीं रखता? यदि इस प्रश्नका स्वीकारात्मक उत्तर दे दिया जाय तो मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त एवं मान्यताएँ झूठी पड जायँगी। दुर्भाग्यसे प्रस्तावित नयी शिक्षा-योजना इस प्रश्नका उत्तर स्वीकारात्मक ही देती है और इसीलिये उसकी आलोचना इस आधारपर की जाती है कि वह मान्य मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्तोंपर आधारित नहीं है। अन्यथा १६ वर्षतक प्रत्येक विद्यार्थिके लिये एक-समान विषय निर्धारित करनेका क्या तात्पर्य है?

भारत-जैसे विशाल देशमें पाठ्यक्रमीय एकता कदापि वाञ्छनीय नहीं

दशवर्षीय स्तरपर सोलह वर्षतककी आयुके लिये पाठ्यक्रमीय एकरूपताका प्रतिपादन भारत-जैसे विशाल देशके लिये, विविधता जिसकी सहज विशेषता है, कदापि वाञ्छनीय नहीं है। भारतके लिये नयी शिक्षा-योजना तैयार करते समय यदि अन्य आधारोंपर नहीं तो कम-से-कम लिङ्ग तथा पर्यावरणकी विभिन्नताओंपर तो विचार किया ही जाना चाहिये। यदि यह सत्य है कि शिक्षा और संस्कृतिमें अटूट सम्बन्ध होता है तो हम इस तथ्यकी उपेक्षा कैसे कर सकते हैं कि भारतीय संस्कृतिमें नारी-जीवनके आदर्श, दृष्टिकोण, आकाङ्क्षाएँ एवं आवश्यकताएँ पुरुष-जीवनके आदर्शों, दृष्टिकोणों आकाङ्क्षाओं एवं आवश्यकताओंसे भिन्न मानी गयी हैं और इसी प्रकार ग्रामीण जीवनके लिये अपेक्षित दृष्टिकोण, क्षमता एवं आवश्यकताएँ नगरीय जीवनके लिये अपेक्षित दृष्टिकोणों, क्षमताओं एवं आवश्यकताओंसे पृथक् होती हैं? तत्कालीन शिक्षा-मन्त्रीने नयी शिक्षा-योजनाका प्रस्ताव करने और प्रचार करते समय सम्भवतः भारतीय परिप्रेक्ष्यमें शिक्षा तथा संस्कृतिके सम्बन्धोंकी इस विशिष्ट प्रकृतिकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। यही कमी कोठारी-आयोगके सुझावोंमें दीख पड़ती है।

पुरुष और स्त्रियोकी शिक्षा सभी विषयोंमें समान नहीं होनी चाहिये

प्रसन्नताका विषय है कि इस कसौटीपर राधाकृष्णन्-आयोग पूर्णतः खरा उतरता है। स्त्रियोंकी शिक्षा स्त्रियोंके अनुरूप तथा पुरुषोंकी शिक्षासे भिन्न होनी चाहिये—इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए राधाकृष्णन्-आयोग कहता है—'महिलाओंको युगके जीवन तथा विचार और अभिरुचियोंमें पुरुषोंके साथ भाग लेना चाहिये। वे उतनी ही पूर्णता तथा विशेषताके साथ उस शैक्षिक कार्यके लिये उपयुक्त होती हैं, जिसके लिये पुरुष। महिलाओंमें सामान्य योग्यताका वितरण लगभग

वही है जैसा पुरुषोंमें। यद्यपि पुरुष एवं स्त्रियाँ शैक्षिक कार्यमे समानरूपसे दक्ष हैं और अनेक विषय समानरूपसे रुचिकर तथा उपयुक्त होते हैं, तथापि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पुरुषो तथा स्त्रियोकी शिक्षा सभी विषयोमे समान होनी चाहिये।'

ग्रामशिक्षा सर्वोपरि है

राधाकृष्णन्-आयोगमे पर्यावरणके आधारपर भी शैक्षिक विविधताका प्रतिपादन इतनी ही पुष्टताके साथ मिलता है। भारतीय गाँवके महत्त्वका वर्णन करते हुए आयोग कहता है—'स्वतन्त्र भारत जैसे-जैसे अपनी गति-प्रगतिका नियोजन प्रारम्भ करता है, वैसे-वैसे ग्रामीण कल्याणके प्रति एक बढ़ती हुई अभिरुचि दीख पडती है। यह केवल गाँवोके लिये ही नहीं, अपितु समूचे भारतके भाग्यके लिये भी महत्त्वपूर्ण है। विश्व-इतिहासकी गति-प्रगतिमें एक राष्ट्रकी महानता उसके ग्रामीय जीवनके विघटनके बाद शायद ही कभी जीवित रही हो। अकथनीय युगोसे मनुष्य स्वभावसे एक ग्रामीण रहा है और किसी अन्य पर्यावरणमें अधिक समयतक जीवित नहीं बचा है। यूरोप तथा अमेरिकामे इस विषयके ऊपर किये गये प्रायः प्रत्येक अध्ययनने यह प्रकट किया है कि नियमतः नगरीय परिवार केवल कुछ पीढ़ियोतक ही जीवित रहते हैं। नगर केवल तभीतक विकसित होते और सम्पन्न रहते हैं जबतक वे ग्रामीण जनसंख्यासे सतत पोषित होते रहते हैं। जबतक एक राष्ट्रका ग्रामीय जीवन हृष्ट-पुष्ट है, तबतक उसमे जीवन तथा शक्तिके भण्डार हैं। जब नगर एक लम्बे समयतक गाँवोसे, उन्हे प्रायः कुछ भी न लौटाते हुए, जीवन तथा संस्कृतिकी क्रीम खींचते रहते हैं, जैसा कि गत दो शताब्दियोमे भारतमे हुआ है, तो संस्कृति एवं ऊर्जाके विद्यमान ग्रामीय साधन रिक्त हो जाते हैं और राष्ट्रकी शक्ति कम हो जाती है। भारतको यह निश्चय करना ही चाहिये कि क्या उसे गाँवोंको इतना समृद्ध, रोचक एवं सांस्कृतिक दृष्टिसे सम्पन्न स्थान बनाते हुए अवसर एवं साहसके इतने क्षेत्रके साथ कि वहाँ युवकोको नगरोकी अपेक्षा अधिक रुचि तथा अभिरुचि, अधिक सांस्कृतिक लाभ और अधिक अग्रगमनके लिये अधिक अवसर प्राप्त होगा, एक दूर-दूरतक वितरित जनसंख्याको लक्ष्य बनाना चाहिये अथवा राज्य या वैयक्तिक निकायोसे विशाल केन्द्रित उद्योग चलाने चाहिये।'

समानान्तर ग्रामीय शिक्षा-योजनाकी अपरिहार्यता

सर्वविदित है कि लगभग पचासी प्रतिशत भारतीय जनसंख्या गाँवोमे रहती है, जो अकथनीय दरिद्रता, अभाव, अज्ञान, रोग, नैराश्य, रूढ़िवाद और शोषणके शिकार हैं। स्वतन्त्रभारतमे राष्ट्रिय विकासकी जो भी योजनाएँ बनायी गयी हैं, उनका अधिकतर लाभ नगरोको ही प्राप्त हुआ है और गाँव न केवल उन लाभोसे वञ्चित रहे हैं, अपितु नगरोद्वारा उनका शोषण भी पूर्ववत् जारी रहा है। युवकोके लिये ग्राम्य जीवनमें कोई आर्थिक अवसर नहीं, सांस्कृतिक आकर्षण नहीं। फलतः शिक्षा प्राप्त करनेके पश्चात् वे अपने-अपने गाँवोंको छोड़कर नगरोकी ओर दौड़ रहे हैं, जिसके कारण गाँवोकी दशा और भी शोचनीय होती जा रही है। इस विषम परिस्थितिमे ऐसी ग्रामीय शिक्षा-योजना ही एकमात्र विकल्प रह जाती है, जो ग्रामीय युवकोको ग्रामीय जीवन तथा पुनर्निर्माणके लिये प्रेरित करे। राधाकृष्णन्-आयोगने इस तथ्यको भलीभाँति समझा है और अपने प्रतिवेदनमे एक समानान्तर ग्रामीय शिक्षा-योजनाकी रूपरेखा प्रस्तुत की है, जो तीन स्तरोमे विभक्त है। प्रत्येक स्तरपर भिन्न प्रकारकी शिक्षा-संस्थाएँ हैं, यथा (१) प्रारम्भिक स्तरपर 'बेसिक स्कूल', (२) माध्यमिक स्तरपर 'ग्रामीय माध्यमिक स्कूल' और (३) उच्च स्तरपर 'ग्रामीय महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय'। आयोगने अपने प्रतिवेदनके अठारहवे अध्यायमे इन शिक्षा-संस्थाओके विभिन्न पक्षोपर विस्तारपूर्वक विचार किया है। इस विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि राधाकृष्णन्-आयोग लिंग तथा पर्यावरण—दोनो तत्त्वोके आधारपर प्रारम्भिक

स्तरसे लेकर उच्च स्तरतक शैक्षिक विविधताके सिद्धान्तका समर्थक है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि कोठारी-आयोग तथा नयी शिक्षा-योजनाके समर्थकोंने बालक-बालिका और ग्राम-नगर-जैसे महत्त्वपूर्ण तत्त्वोंकी उपेक्षा करके एकरूप सामान्य शिक्षाके नामसे सोलह वर्षतक प्रत्येक विद्यार्थीके लिये एक समान शिक्षाका प्रस्ताव करके एक अमनोवैज्ञानिक, असमाजशास्त्रीय, अव्यावहारिक और अहितकर विचारका ही प्रचार किया है, जो लोकतन्त्री भारतके लिये स्वीकार्य एवं अनुकरणीय नहीं है।

मातृभाषा—नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय

(श्रीराहुलसांकृत्यायन)

यदि विदेशी साम्राज्यवादियोंकी भाँति हम भी कुछ बाबुओंको शिक्षित बनाकर उन्हें शासक बनाना चाहते हैं और चाहते हैं कि ९० प्रतिशत जनता अशिक्षित रहकर अपने शासकोंकी मनमानीमें दखल न दे, तो मातृभाषाको छोड़कर दूसरी भाषाको शिक्षाका माध्यम बनानेकी शर्त बिलकुल ठीक है।

मानव-जातिके आजतकके अर्जित तथा प्रतिदिन प्रतिक्षण बढ़ते विस्तृत ज्ञान, दर्शन, विज्ञान, राजनीतिके हम उत्तराधिकारी हैं और उस ज्ञानको प्राप्त करना तथा उसे काममें लाना हमारे जीवित रहनेके लिये आवश्यक है। यह ज्ञान सदा भाषाके अंदर रहता है, भाषाके माध्यमसे ही प्राप्त हो सकता है। प्रश्न है, क्या आप ज्ञानको बिना समय, श्रम और भारी व्ययके सिखलाना चाहते हैं?

मातृभाषाओंको ज्ञानका माध्यम बनानेमें शिक्षाकी प्रगति कितनी तेजीसे हो सकती है, इसका सुन्दर उदाहरण सोवियत मध्य एशियाकी तुर्कमान, उजबेक, किर्गिज, कजाक जातियाँ हैं, जो सन् १९१७ ई०से पहले शिक्षामें भारतीयोंसे भी अधिक पिछड़ी हुई थीं। जारशाही दिलसे चाहती ही न थी कि उनमें शिक्षा सार्वजनीन हो, इसलिये उसने अपने स्कूलोंमें रूसीको माध्यम रखा था। शिक्षित शहरी तरुण तुर्की (टर्कीकी साहित्यिक भाषा) को शिक्षाका माध्यम बनाना चाहते थे, जो कि मध्य-एशियाकी इन जातियोंकी मातृभाषाओंके समीप होते हुए भी उनकी मातृभाषा न थी। रूसीमें यदि ज्ञानके दानादानमें समर्थ होनेके लिये दस वर्षकी शर्त थी तो तुर्कीमें आठ वर्षकी। जब दोनों ही शत-प्रतिशत जनताको साक्षर या शिक्षित देखनेके लिये उत्सुक नहीं थे, तो फिर उन्हें मातृभाषाओंकी ओर दृष्टि दौड़ानेकी आवश्यकता ही क्या थी? किंतु जब सन् १९१७ ई०की रूसी जनक्रान्तिमें जनताको साक्षर-शिक्षित करना जीवन और मृत्युका प्रश्न हो गया तब क्रान्तिके नायकोंका ध्यान जनताकी बोलियों—तुर्कमानी, उज्बकी, किर्गिजी और कजाकीकी ओर गया। उस समय इन भाषाओंकी न कोई लिपि थी, न लिखित साहित्य। इसके विपरीत रूसी और तुर्की साहित्य विशाल थे। किंतु जनताके पथ-प्रदर्शक भलीभाँति समझते थे कि सारी जनताको रूसी और तुर्की भाषापर अधिकार करनेके लिये विवश करनेकी अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि रूसी, तुर्की तथा दूसरी समुन्नत भाषाओंमें सुरक्षित ज्ञानको तुर्कमानी आदि भाषाओंमें अनुवाद करके जनताके सामने रखा जाय। उन्होंने ऐसा ही किया और आज २५ वर्ष बाद मध्य-एशियाकी कैसी कायापलट हुई, यह हमारे सामने है। जिस उज्बकी भाषामें आजसे २५ वर्ष पहले एक भी छपी पुस्तक न थी, आज वह तासकंदके विश्वविद्यालयके भिन्न-भिन्न विषयवाले कालेजोंमें शिक्षाका माध्यम है। उसमें अनेक दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं।

मातृभाषाकी हमारी परिभाषा है, जिसके बोलनेमें अनपढ-से-अनपढ मनुष्य और बच्चातक भी व्याकरणकी अशुद्धि न कर सके।

जननायकोंका शैक्षिक चिन्तन

स्वामी विवेकानन्दका शैक्षिक चिन्तन

१२ जनवरी, १८६३को उत्पन्न हुए नरेन्द्रदत्त २५ वर्षकी अवस्थामे कषायवस्त्र धारणकर स्वामी विवेकानन्द हो गये और भारतीय नवजागरणके अग्रदूत माने गये। देशमे नवजागरण लानेके लिये उन्होने सम्पूर्ण भारतका भ्रमण किया तथा देशके पतनके कारणो एवं जीवनके सभी पक्षो और समस्याओपर गहराईसे विचार किया।

चारित्रिक शिक्षापर बल देते हुए उन्होने कहा था—'शिक्षा मनुष्यके भीतर निहित पूर्णताका विकास है। वह शिक्षा जो जनसमुदायको जीवनसग्रामके उपयुक्त नहीं बना सकती, जो उनकी चारित्र्यशक्तिका विकास नहीं कर सकती, जो उनके मनमे परहित-भावना और सिंहके समान साहस पैदा नही कर सकती, क्या उसे भी हम शिक्षा नाम दे सकते हैं?' शिक्षाका उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा था—'सभी शिक्षाओका, अभ्यासोका उद्देश्य मनुष्य-निर्माण ही है। समस्त अभ्यासोका अन्तिम ध्येय मनुष्यका विकास करना है। जिस अभ्यासके द्वारा मनुष्यकी इच्छाशक्तिका प्रवाह और आविष्कार संयमित होकर फलदायी बन सके, उसीका नाम शिक्षा है।'

स्वामीजीने शिक्षाको ज्ञानका पर्यायमात्र न मानकर जीवन-निर्माण, मनुष्यत्वके विकास एव चरित्रके गठनका साधन माना है। उनका दृष्टिकोण है—'शिक्षा उस जानकारीके समुदायका नाम नही है, जो तुम्हारे मस्तिष्कमे भर दिया गया है और वहाँ पड़े-पडे तुम्हारे सारे जीवन-भर बिना पचाये सड रहा है। हमे तो भावो या विचारोंको ऐसे आत्मसात् कर लेना चाहिये, जिससे जीवन-निर्माण, मनुष्यत्व आये और चरित्रका गठन हो। यदि शिक्षा और जानकारी एक ही वस्तु होती तो पुस्तकालय ससारके सबसे बडे सत और विश्वकोष ऋषि बन जाते।'

स्वामीजी विश्वको धार्मिक शिक्षा देनेवाले आचार्य भी थे। उन्होने शिक्षाको धर्मसे पृथक् न मानकर पूर्णत. धर्मनिरपेक्ष शिक्षाका विरोध किया। उनका मत था कि व्यक्तिके समान राष्ट्रकी भी एक विशिष्ट प्रतिभा होती है, उसके विकासका एक मार्ग होता है। भारतका प्राण-केन्द्र धर्म ही है। अत. यहाँ धर्म-निरपेक्ष शिक्षाकी कल्पना ही भ्रामक है। उन्होने कहा था—'हमारी शिक्षा, बुद्धि और हमारे विचार पूर्णतः आध्यात्मिक है, जो धर्ममे ही अपनी पूर्णता पाते है।'

स्वामीजी प्राचीन गुरुगृहवास-प्रथाको ही वर्तमान परिस्थितिके अनुकूल संशोधित एवं परिवर्धित कर लड़के और लड़कियो—दोनोके लिये लागू करनेके पक्षमे थे। वे कहते थे—'मेरे विचारसे शिक्षाका अर्थ है—गुरुगृहवास। शिक्षक अर्थात् गुरुके व्यक्तिगत जीवनसे उत्तम कोई शिक्षा नहीं हो सकती। जिनका चरित्र जाज्वल्यमान अग्निके समान हो, ऐसे व्यक्ति (गुरु) के सहवासमे शिष्यको बाल्यावस्थासे ही रहना चाहिये, जिससे कि उच्चतम शिक्षाका सजीव आदर्श शिष्यके सामने रहे।' हमारे देशमे ज्ञानका दान प्राचीनकालसे ही त्यागी पुरुषोद्वारा होता रहा है। पवित्र जीवनका प्रत्यक्ष उदाहरण ही मानवके अन्तःस्थित प्रसुप्त देवत्वको जाग्रत् कर सकता है, इस तथ्यको स्वीकार करते हुए उन्होने गम्भीर स्वरोमे उद्घोषणा की थी—'यदि देशके बच्चोकी शिक्षाका भार फिरसे त्यागी व्यक्तियोके कधोपर नही आता तो भारतको दूसरोकी पादुकाओको सदा-सदाके लिये अपने सिरपर ढोते रहना होगा।'

स्वामीजीने गुरुगृहवासके साथ ही कठोर ब्रह्मचर्यव्रत, मनकी एकाग्रता और विषयोके प्रति अनासक्तिको भी विद्यार्थियोके लिये आवश्यक माना है। उनका कहना था—'आजकी यह उच्च शिक्षा रहे या बद हो जाय, इससे क्या बनता-बिगड़ता है? यह अधिक अच्छा होगा, यदि लोगोको थोड़ी तकनीकी-शिक्षा मिल सके, जिससे वे नौकरीकी खोजमे इधर-उधर भटकनेके बदले किसी

काममें लग सकें और जीविकोपार्जन कर सके ।' उनके इन कथनोसे वर्तमान तकनीकी-शिक्षाके प्रति उनके उदार दृष्टिकोणका परिचय मिलता है ।

स्वामीजी देशके विकासके लिये विज्ञानकी शिक्षाकी आवश्यकता तो अनुभव करते थे, किंतु उसमे वेदान्तका समन्वय आवश्यक समझते थे । उनका विश्वास था कि वेदान्त मानवको जीवित रहनेके लिये, विवेक तथा कष्ट सहनेके लिये धैर्य प्रदान करनेके साथ-साथ स्वार्थ एवं लोलुपतापर अंकुश लगाकर उसकी मनोगत आकाङ्क्षाओकी तृप्ति भी करवा सकता है और विश्वकी नैतिक क्षयग्रस्तताका निवारण भी कर सकता है ।

विज्ञानके साथ-साथ स्वामीजीने कलाकी शिक्षाको भी अनिवार्य माना । उनके मतानुसार जीवनकी जटिलता एवं दुर्वहनीयतामें पड़कर भारतीयोको कलाको विस्मृत नही करना चाहिये—'एशियावासियोकी आत्मा ही कलामय है । एशियावासी किसी भी कलारहित वस्तुका उपयोग नहीं करते । क्या वे नहीं जानते कि कला हमारे लिये धर्मका ही एक अङ्ग है? पश्चिमका आदर्श उपयोगिता है, भारतका आदर्श कला । भारतवासियोको दोनोके समन्वयका प्रयास करना चाहिये ।'

स्वामी विवेकानन्द मानसिक एवं आध्यात्मिक बलके साथ शारीरिक बलको भी अत्यधिक आवश्यक मानते थे । उनका विश्वास था कि शरीरसे दुर्बल व्यक्ति आत्मसाक्षात्कारके सर्वथा अयोग्य होता है, इसलिये वे अपने देशके समस्त स्त्री-पुरुषोंको सबल और सशक्त देखना चाहते थे ।

मातृभाषामें शिक्षा तथा प्रादेशिक भाषाओंकी संवर्धनाके समर्थक होते हुए भी स्वामीजी संस्कृत-भाषाको सबसे ऊपर मानते थे । वे कहते थे—'संस्कृतकी ध्वनिमात्र ही जातिको शक्ति, क्षमता और प्रतिष्ठा प्रदान करती है ।' संस्कृत पुरातन विद्याका कोष तथा मानव-जातिके सर्वाधिक उदात्त विचारोंका संग्रह है । इसीके माध्यमसे हम अपनी प्राचीन महानताका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, यही हमें उस आत्मविश्वास एवं श्रद्धासे परिपूर्ण कर सकती है, जिसे हम विदेशी शासन तथा राष्ट्रविरोधी शिक्षा-प्रणालीके कारण गँवा चुके हैं । स्वामीजी तो संस्कृतको संस्कृतिका रक्षक एवं पर्याय ही मानते थे । उनका विश्वास था कि यदि हम सुसंस्कृत होना चाहते हैं, भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करना चाहते हैं तो हमें संस्कृत-भाषा एवं उसके वेदान्त, गीता, भक्ति-ग्रन्थ, धर्म-शास्त्र तथा नीतिके उपदेशोंको ग्रहणकर आचरणमे लाना पड़ेगा ।

वर्तमान युग संक्रान्तिका युग है । इस संक्रान्ति-कालमें ही भविष्यका स्वरूप निर्धारित होगा । यदि हम चाहते हैं कि हमारा देश प्रगतिके पथपर अग्रसर हो, महत्तर एवं गौरवशाली भारतका निर्माण हो तो हमें अपनी शिक्षा-समस्याको सुलझानेमे, नयी शिक्षा-योजनाके निर्माणमें स्वामी विवेकानन्दके शैक्षिक चिन्तनको महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करना चाहिये और उनके सुझावोको अपनाना चाहिये ।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोरकी शैक्षिक विचारधारा

(श्रीजगदीशप्रसादजी शर्मा)

कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोरके शिक्षासम्बन्धी विचार बड़े उदात्त हैं । सन् १८९५ ई०मे उन्होने 'शिक्षाके हेर-फेर' शीर्षक प्रबन्धको पढ़ते हुए सशक्त शब्दोमे स्पष्ट कर दिया था कि 'तत्कालीन भारतीय शिक्षा-पद्धतिके सीमित एवं संकुचित क्षेत्रमे मानसिक शक्तियोका स्वाभाविक विकास होना कभी सम्भव नहीं है । आनन्द और स्वतन्त्र वातावरणसे वञ्चित शिक्षासे बालकोका मानसिक विकास ही केवल अवरुद्ध नहीं हो जाता, प्रत्युत अकर्मण्य हो जाता है और बाल-प्रकृतिकी भूख नहीं मिट पाती ।' आजसे ९० वर्ष पूर्व उनकी यह चिन्तनधारा क्या उनकी दूरदर्शिताका यथेष्ट प्रमाण नहीं है ? उनके शिक्षा-दर्शनकी पृष्ठभूमिमे संवेदनशील विराट् हृदय था, जिसके द्वारा

उन्होने बालक, प्रकृति तथा मानवको पहचाननेका प्रयास किया था ।

भारतीय जीवनमें पाश्चात्त्य शिक्षाके कुपरिणामोसे व्यथित होकर उन्होने कहा था—'सभी देशोकी शिक्षाके साथ देशके सर्वाङ्गीण जीवनधाराका गहरा सम्बन्ध रहता है । हमारे देशकी आधुनिक शिक्षाका केवल नाममात्रका सम्पर्क शिक्षित समाजके कुछ व्यवसायो, जैसे—डॉक्टरी, वकालत, क्लर्की, मास्टरी आदिसे है । जहॉ हल और कोल्हू चल रहे हैं, कुम्हारके चाक चल रहे हैं, वहाँतक ऐसी शिक्षा नहीं पहुॅच पाती । अन्य किसी देशमे ऐसी दुर्दशा देखनेको नहीं मिलती । इसका कारण यह है कि हमारे विश्वविद्यालयोकी जड़े भूमिमे स्थित न होकर दूसरे पेड़-पौधोपर अमरबेलकी तरह लटक रही हैं । भारतके लिये सार्थक विद्यालय वे ही होगे जहॉ सिखाया गया अर्थशास्त्र, कृषि, स्वास्थ्य एवं विज्ञानका वास्तविक और व्यावहारिक प्रयोग विद्यालयके चारो ओर स्थित गॉवोमे हो सके । ऐसे विद्यालय सामाजिक जीवनके केन्द्र होगे । इन विद्यालयोमे उत्कृष्ट आदर्शोपर कृषि, गोपालन, कपड़ोकी बुनाई आदिकी शिक्षा दी जायगी । इन विद्यालयोका आर्थिक संगठन सहकारितापर आधारित होना चाहिये, तभी ऐसे विद्यालय, शिक्षक और छात्र समाजके जीवनसे घनिष्ठ रूपसे संयुक्त हो सकेगे ।' आज सारे विश्वमें जिस शिक्षाको विज्ञान एवं प्राविधिमय गणतन्त्र समाजके अनुकूल बनानेकी चर्चा जोरोसे चल रही है, उस राष्ट्रिय शिक्षाकी नीतिका निर्धारण करनेके लिये कविगुरु इस ओर बहुत पहले ही संकेत कर चुके थे ।

देशके जीवनरूपी वृक्षकी जड़ जहॉपर है, शिक्षाकी वर्षा उससे सौ हाथ दूर गिर रही है । दूरीकी बाधाको पार करके जो कुछ थोड़ा-सा भी रस जड़तक पहुॅच पाता है, वह जीवनकी शुष्कताको ही दूर करनेके लिये यथेष्ट नहीं होता । सजीव मातृभाषाके रसमे घुलकर ही शिक्षा चिरस्थायी बन सकती है । यदि ऐसा न हो तो वह शिक्षा समाजके उच्च स्तरोके लिये सामयिक शोभाका कारण भले ही बन जाय, किंतु सनातन जीवनकी धारा नहीं बन सकती ।

गुरुदेवने शिक्षाके क्षेत्रमे इस बातपर बल दिया था कि 'शिक्षणकी प्रक्रिया इस प्रकार संगठित हो कि बालकको अपनी रुचि और प्रवृत्तिके अनुसार आत्माभिव्यक्तिकी स्वतन्त्रता और सुविधा मिल सके तथा उसे प्रकृतिका स्निग्ध स्पर्श और मानवका स्वाभाविक स्नेह मिले । शिक्षा-संस्थानोंमे पारिवारिक चैतन्यता और शिक्षक-छात्रोमे सद्भाव ही अन्य अभावोकी पूर्ति कर सकता है ।' कविगुरुकी इस अन्तर्दृष्टिके पीछे उनके बालजीवनका प्रत्यक्ष अनुभव था । विद्यालयमे भर्ती होनेपर बालक रवीन्द्रनाथको प्रकृतिसे सम्पर्कका तथा शिक्षकोके व्यवहारमे पारिवारिक आत्मीयताका अभाव अत्यन्त पीड़ादायक हो गया था । सन् १९०१ ई०में शान्तिनिकेतनकी स्थापनाके कारणकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा था—'हमने अपने विद्यालयके छात्रोमे प्रकृति देवीकी भॉति मानवीय प्रतिवेशके साथ सतेज मनोभाव, उन्मुखता और प्रियत्व-बोध जाग्रत् करनेकी यथासाध्य चेष्टा की है । इसके लिये हमने साहित्य, प्रचलित पर्व एवं उत्सव और साधारण धर्म-शिक्षासे सहायता ली है, जिससे आत्माका बाह्य जगत्से घनिष्ठ सम्बन्ध हो सके ।' धर्म-शिक्षासे यह न समझा जाय कि शान्ति-निकेतनमे किसी विशेष सम्प्रदायके धर्मका अनुसरण किया जाता था । वहाँ उपासनाओ, प्रार्थनाओ तथा चर्चाओमे सभी धर्मोके मूल तत्त्वोका समावेश रहता था । प्राचीन भारतीय ऋषियोके उपदेशोके साथ-साथ ईसा, हजरत मुहम्मद, बुद्ध, नानक, चैतन्य, कबीर आदि सभीके विचारोको स्थान दिया जाता था ।

कविगुरुकी दृष्टिमे स्वयं वातावरण ही पाठ्य पुस्तकों, विद्यालय-भवन, संगठन तथा समस्त क्रियाकलापोसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है । उनका विश्वास था कि शिक्षापूर्ण वातावरणमे ही बालकके सृजनमूलक जीवनका निर्माण सम्भव है । समुचित वातावरणमे ही नवीन रचनाओ तथा नवीन परिस्थितियोके अनुकूल बुद्धिके उपयोगका सम्यक् अवसर मिलता है ।

'बच्चोको कठोर दण्ड देते हुए देखकर मैं अध्यापकको ही दोषी मानता हूँ । जब मैं शान्ति-निकेतनमे कार्य करता

था, तब शिक्षकोंके कठोर विचारसे छात्रकी रक्षा करना मेरे लिये एक गम्भीर समस्या थी । मुझे अध्यापकोंको समझाना पड़ता था कि अध्यापक शिक्षाको एक यन्त्र मात्र बनानेके लिये नहीं है । ऐसा करनेपर मुझे कभी-कभी उनका अप्रिय पात्र भी बनना पड़ता था । मुझे ऐसे बहुत-से अवसर स्मरण हैं, जब मुझे अध्यापकोंके उस दण्डसे छात्रोंकी रक्षा करनी पड़ी थी, परतु बादमें मुझे कभी इसके लिये पछताना नहीं पड़ा । चाहे राष्ट्रतन्त्र हो या शिक्षातन्त्र, कठोर शासनकी नीति शासकवर्गकी अकर्मण्यताका प्रमाण है ।'

बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें जब प्रगतिशील देशोंतकमें छात्रोंको किसी प्रकारकी स्वतन्त्रता न देकर कठोर नियन्त्रणमे रखा जाता था, कविगुरु टैगोर ही सर्वप्रथम छात्र-स्वराज्यके प्रवर्तकके रूपमें अवतरित हुए । अध्यापकोंने उनके मतका विरोध किया, परतु उन्होंने शान्ति-निकेतनमें 'आश्रम-समिति'की स्थापना की । छात्रोंकी यह समिति छात्रोंके लिये नियम और विधान बनाती थी । इसकी एक कार्यवाहक समिति यह देखती थी कि नियमोंका पालन हुआ या नहीं । छात्र स्वय वाद-विवाद करते थे तथा मतदानद्वारा आपसमे निर्णय लेते थे । आश्रम-समितिकी एक विचार-समिति भी थी जो अपराधियोंका भी विचार करती थी । धीरे-धीरे यह व्यवस्था अनुशासन, संयम और नीतिकी व्यावहारिक शिक्षा देनेका एक उत्तम एवं परीक्षित साधन बन गयी ।

कविगुरु टैगोरका विश्वास था कि केवल बौद्धिक शिक्षापर बल देनेसे ही मानवकी कोमल वृत्तियाँ प्रस्फुटित नहीं हो पातीं । शिल्प एवं ललित कलाओंकी चर्चा आवश्यक है । हाथ, कान और आँखोंका प्रशिक्षण तथा इनमें सामञ्जस्य उत्पन्न करना शिक्षाका एक सर्वोत्तम ध्येय है । भारतीय शिक्षाके इतिहासमें शान्तिनिकेतनमें ही कविगुरुने सर्वप्रथम शिक्षाकी परिधिमें शिल्प, कला और संगीतको मान्यता दी ।

शिक्षाके क्षेत्रमें गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोरकी नयी-नयी गतिविधियाँ और नवीन प्रयोग प्रमाणित करते हैं कि वे एक युग-प्रवर्तक, शिक्षामनीषी और दूरदर्शी शिक्षा-मर्मज्ञ थे । हमने तो उन्हें उस समय पहचाना जब विदेशियोंने उन्हें नोबेल पुरस्कारसे सम्मानित किया । आज भारतमें शिक्षाके पुनर्गठनके लिये विदेशी योजनाओं और विदेशी शिक्षाशास्त्रियोंपर ही पूर्णतया निर्भर न रहकर शिक्षाविदोंके विचारों एवं प्रयोगोंपर भी गम्भीरतासे विचार करने और उन्हें उचित मर्यादा देनेकी आवश्यकता है ।
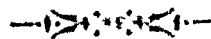
श्रीअरविन्दका शिक्षा-दर्शन

योगिराज श्रीअरविन्द आधुनिक भारतके उन थोड़े-से प्रमुख शिक्षा-दार्शनिकोंमेसे हैं, जो पौरस्त्य और पाश्चात्य संस्कृतियोके समन्वयकी कड़ी हैं । प्रत्येक दार्शनिकके शिक्षासम्बन्धी विचार उसके दार्शनिक विचारोंपर ही आधारित होते हैं । श्रीअरविन्दने यद्यपि एक सर्वाङ्ग विश्वदर्शन उपस्थित किया तथापि यहाँ मात्र उनके शिक्षासम्बन्धी विचारोंको ही विवेचित किया जा रहा है ।

शिक्षाका उद्देश्य

श्रीअरविन्दके मतानुसार बालककी शिक्षा उसकी प्रकृतिमे जो कुछ सर्वोत्तम, सर्वाधिक शक्तिशाली, सर्वाधिक अन्तरङ्ग और जीवनपूर्ण है, उसे अभिव्यक्त करना होनी चाहिये । मनुष्यकी क्रिया और विकास जिस साँचेमें ढलना चाहिये, वह उसके अन्तरङ्ग गुण और शक्तिका साँचा है । उसे नयी वस्तुएँ प्राप्त करनी चाहिये, परतु वे उन्हें सर्वोत्तम रूपसे और सबसे अधिक प्राणमय रूपमें स्वयं अपने विकास, प्रकार और अन्तरङ्ग शक्तिके आधारपर ही प्राप्तव्य हैं ।' इस प्रकार शिक्षाका उद्देश्य आत्मशिक्षा है । वह एक प्रयोजनमय प्रक्रिया है, जिसमे व्यक्ति अपनी अन्तरङ्ग प्रकृति और उसकी अभीप्साओंको प्राप्त करता है । इस प्रक्रियामे शिक्षार्थी अपने उद्देश्यको प्राप्त

करनेके लिये शिक्षकको, शिक्षालयो और पुस्तकोका उपयोग करता है। शिक्षक शिक्षार्थीको एक ऐसे मार्गपर ले जाता है, जहाँ शिक्षार्थीकी अपनी आन्तरिक प्रकृति ही उसका पथ-प्रदर्शन करती है। यह शिक्षार्थी-केन्द्रित शिक्षा है। प्रत्येक सच्ची शिक्षा ऐसी ही होनी चाहिये।

शिक्षाका मनोवैज्ञानिक आधार

श्रीअरविन्दके शब्दोमे 'मस्तिष्कको ऐसा कुछ भी नहीं सिखाया जा सकता, जो जीवकी आत्माके अनावरणमे सुप्त ज्ञानके रूपमे पहलेसे ही गुप्त न हो।' शिक्षाका मूल उद्देश्य मनुष्यमे सुप्त शक्तियोका अनावरण एवं विकास करना है। शिक्षा पूर्णरूपसे मनोवैज्ञानिक तथ्योपर आधारित होनी चाहिये। श्रीअरविन्दने कहा है—'शिक्षाका सच्चा आधार मानव-मस्तिष्क, शिशु, किशोर और वयस्कका अध्ययन है।'

शिक्षाके सामाजिक आदर्श

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। उसके आदर्श इस बातसे निश्चित होगे कि हम किस प्रकारके समाजका निर्माण करना चाहते है। श्रीअरविन्द एक दैवी समाज और दैवी मानवकी कल्पना करते है। उनकी शिक्षा-प्रणालीका उद्देश्य व्यक्ति और समाजकी दैवी पूर्णताको प्राप्त करना है। मनुष्यका लक्ष्य ऐसी सर्वाङ्गपूर्णता प्राप्त करना है, जिसमे वह केवल एक व्यक्तिके रूपमे ही नहीं, अपितु समाजके सदस्यके रूपमे भी विकसित होता है।

शिक्षाके मौलिक सिद्धान्त

श्रीअरविन्दका शिक्षा-दर्शन कुछ मौलिक सिद्धान्तोपर आधारित है। सर्वप्रथम बालकको स्वयं जानना और विकसित होना है, शिक्षक केवल उसका निर्देशन और सहायता करता है। दूसरे शिक्षा शिक्षार्थीकी विशिष्ट प्रकृतिके अनुरूप होनी चाहिये। तीसरा सिद्धान्त निकटसे दूरकी ओर, वर्तमानसे भविष्यकी ओर चलना है। यह सिद्धान्त दूसरे सिद्धान्तसे ही निकलता है। इस प्रकार शिक्षालयमे पाठ्यक्रम, शिक्षाका माध्यम, सामान्य वातावरण, सभी कुछ शिक्षार्थीके लिये स्वाभाविक होना चाहिये। केवल शिक्षाका आदर्श ही नही, अपितु उसका स्वरूप भी 'स्वदेशी' होना चाहिये। राष्ट्रिय शिक्षा-प्रणाली विशिष्ट राष्ट्रके भूतपर आधारित होनी चाहिये और राष्ट्र-भाषाके माध्यमसे ही चलायी जानी चाहिये।

शिक्षाका माध्यम

श्रीअरविन्द मातृभाषाको ही बालककी शिक्षाका उपयुक्त माध्यम मानते है। मातृभाषाके माध्यमसे बालक अपने देशकी संस्कृति, साहित्य और इतिहासका परिचय प्राप्त करता है और उसे अपने चारो ओरके जीवनको समझनेमे सहायता मिलती है। मातृभाषापर अधिकार होनेके बाद ही विदेशी भाषाएँ सिखानी चाहिये। यहाँ श्रीअरविन्दके विचार अन्य समकालीन भारतीय शिक्षा-दार्शनिकोके अनुरूप है।

मानसिक शक्तियोंका प्रशिक्षण

श्रीअरविन्द जहाँ पाश्चात्त्य दार्शनिकोके साथ सक्रियतासे सीखनेका महत्त्व दर्शाते है, वहाँ निष्क्रियतासे सीखनेपर भी बल देते है। बालकको अपने मनको सक्रिय करनेके साथ-साथ निष्क्रिय करनेका भी अभ्यास करना चाहिये। शिक्षाके लिये बाह्य सामग्रीका इतना महत्त्व नहीं है, जितना शिक्षार्थीमे विशेष विषयपर अधिकार करनेकी इच्छाका है। विभिन्न मानसिक विषयोके अध्यापनमे सबसे पहली बात बालकमे रुचि उत्पन्न करना है। विभिन्न विज्ञानोको बालककी विभिन्न आन्तरिक प्रवृत्तियोकी सहायतासे सिखाया जा सकता है। देशभक्ति और नायक-पूजाकी प्रवृत्तिसे इतिहासको मनोरञ्जक बनाया जा सकता है। जिज्ञासाकी प्रवृत्तिको उकसाकर बालकको विज्ञानका प्रशिक्षण दिया जा सकता है। उसकी बौद्धिक चेतनाको उकसाकर उसे दर्शन सिखाया जा सकता है। अनुकरण और कल्पना कलाको सीखनेमे सहायक है। शिक्षकको सबसे पहले बालकको ध्यान केन्द्रित करना सिखाना चाहिये। ध्यानका यह केन्द्रीकरण पहले शब्दोपर और फिर विचारोपर किया जाना चाहिये। इस सम्पूर्ण प्रक्रियामे बाहरसे कोई भी दबाव उचित नही है। अवधानके साथ-साथ स्मृति और निर्णयकी शक्तियोको भी प्रोत्साहित किया जाना

चाहिये । प्राकृतिक वस्तुओ, जैसे—फूलोके निरीक्षण, भेद, तुलना आदिसे बालककी स्मृतिको विकसित किया जा सकता है । तारोके निरीक्षणसे नक्षत्र-विद्या सिखायी जा सकती है । भूमि और पत्थरोके निरीक्षणसे भूगर्भका अध्ययन कराया जा सकता है और पशुओके निरीक्षणसे जीवशास्त्र सिखाया जा सकता है । इस प्रकार बालकको उसके चारो ओरके निकट परिवेशकी सहायतासे ही मानसिक शिक्षा दी जानी चाहिये । मानसिक शिक्षामे निर्णय-शक्तिका प्रशिक्षण अत्यन्त आवश्यक है । बालकको सही निर्णय करनेके साथ-साथ अन्य व्यक्तियोके निर्णयोसे अपने निर्णयकी तुलना करके अपनी गलतियोको समझना भी सीखना चाहिये ।

शारीरिक शिक्षा

शारीरिक शिक्षाके बिना मानसिक शिक्षा अधूरी है; क्योंकि शिक्षाका उद्देश्य व्यक्तिका पूर्ण विकास है । शरीर समस्त कर्मका माध्यम है । शारीरिक प्रशिक्षणसे शरीरकी पूर्णता, स्वास्थ्य और शक्ति प्राप्त करनेका प्रयास किया जाता है । अतः विभिन्न प्रकारके खेलो और व्यायामोके द्वारा शारीरिक शिक्षा दी जानी चाहिये । शारीरिक विकासके लिये श्रीअरविन्दने ब्रह्मचर्यपर विशेष बल दिया है । ब्रह्मचर्यसे वीर्य अनुशासित होता है और शिक्षार्थी उच्च लक्ष्योकी ओर बढ़ सकता है । मानसिक नियन्त्रणके लिये भी ब्रह्मचर्यकी अनिवार्यता है ।

नैतिक शिक्षा

किसी भी आदर्श शिक्षा-प्रणालीमे नैतिक शिक्षाका महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह नैतिक शिक्षा केवल उपदेश और अध्ययनसे सम्भव नहीं है, क्योंकि ये सब तो कृत्रिम और यन्त्रवत् साधन है । मनुष्यकी नैतिक प्रकृतिमे भाव, संस्कार और स्वभाव सम्मिलित है । नैतिक विकासके लिये इन सबका रूपान्तर आवश्यक है । प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणालीमें गुरु शिक्षार्थीके सम्मुख एक आदर्श था, जिससे उसके चरित्रके अनुकरणसे ही उसे नैतिक शिक्षा प्राप्त हो जाती थी । आधुनिक युगमे उन प्राचीन परिस्थितियोको वापस नहीं लाया जा सकता, परंतु ऐसी शिक्षा-प्रणालीकी स्थापना अवश्य की जा सकती है, जिसमें शिक्षक-वर्ग वैतनिक प्रशिक्षक न होकर मित्र, निर्देशक और सहायक हो । नैतिक शिक्षा उपदेशसे नही, अपितु संकेतसे दी जा सकती है । इस संकेतमे स्वाध्यायका विशेष महत्त्व है । विद्यार्थियोके सम्मुख महापुरुषोके आदर्श उपस्थित किये जा सकते हैं । इसके लिये सबसे आवश्यक यह है कि शिक्षक स्वयं उच्च नैतिक आदर्श उपस्थित करे ।

धार्मिक शिक्षा

नैतिक शिक्षाके साथ-साथ श्रीअरविन्दके अनुसार धार्मिक शिक्षा भी आवश्यक है । यह धार्मिक शिक्षा विभिन्न धर्मोके अध्ययनमात्रसे नहीं हो सकती, जबतक कि धार्मिक उपदेशोके अनुसार आचरण न किया जाय । शिक्षाकी राष्ट्रिय व्यवस्थामे धार्मिक शिक्षाको स्थान दिया जाना चाहिये और फिर इस सम्बन्धमे धर्मके मूल तत्त्वोको लेकर पाठ्यक्रमोकी व्यवस्था की जानी चाहिये ।

निष्कर्ष

श्रीअरविन्द टुकड़ोमे बाँटकर शिक्षा देनेके विरुद्ध हैं । शिक्षा समन्वित होनी चाहिये । शिक्षार्थीके मस्तिष्कपर कभी भी इतने अधिक विषयोका बोझ नहीं लादा जाना चाहिये कि वह किसीका भी अध्ययन भलीप्रकार न कर सके । पाँच-छ. विषय पढानेकी अपेक्षा दो-तीन विषयोपर अधिकार करानेका प्रयास अधिक उत्तम है । बालककी शिक्षा सात या आठ वर्षकी आयुमे प्रारम्भ की जा सकती है; क्योंकि इस आयुमे वह पर्याप्त समयतक किसी विषयपर ध्यान केन्द्रित कर सकता है । इससे कम आयुमे शिशुके लिये किसी विषयपर अधिक समयतक ध्यान जमाना सम्भव नही है । इससे पूर्व उसे उसके चारो ओरके परिवेशसे परिचित कराया जा सकता है ।

आज भारतमे शिक्षाके क्षेत्रमे विचारको और शिक्षकोके सामने जब अनेक समस्याएँ भयंकर-रूपसे उपस्थित हैं, तो इन समस्याओंके मूल कारणोको खोजनेमे श्रीअरविन्दके शिक्षा-दर्शनसे सहायता ली जा सकती है; क्योंकि अन्य क्षेत्रोंके समान शिक्षाके क्षेत्रमे भी उन्होने व्यापकता और गहराई—दोनो ही दृष्टिसे सत्योकी खोज की है । इसीलिये उनका शिक्षा-दर्शन केवल समकालीन भारतीय शिक्षा-दर्शनमे ही नहीं, अपितु विश्वके शिक्षा-दर्शनमे भी विशिष्ट स्थान रखता है ।

महात्मा गाँधीका शैक्षिक चिन्तन

'शिक्षासे मेरा तात्पर्य यह है कि बालक और मनुष्यके शरीर, मन और आत्मामे जो कुछ श्रेष्ठ है, उसका पूरी तरह प्रस्फुटन होना चाहिये। साक्षरता शिक्षाका न अन्तिम उद्देश्य है और न प्रारम्भिक। यह केवल एक साधन है। इसके द्वारा स्त्री-पुरुषोको शिक्षा दी जा सकती है। साक्षरता अपने-आपमे कोई शिक्षा नहीं है। इसलिये मैं शिक्षाका प्रारम्भ कोई उपयोगी शिल्प सिखानेसे करूँगा, जिससे वह प्रारम्भ होते ही कुछ उपार्जन करने योग्य हो सके।'

आन्तरिक संस्कृति—साक्षरताके बजाय मैं शिक्षाके सास्कृतिक पक्षको अधिक महत्त्व देता हूँ। संस्कृति जीव है, प्रारम्भिक वस्तु है। तुम्हारे आचरण और व्यक्तिगत व्यवहारकी छोटी-से-छोटी बातमे—उठने-बैठने, चलने-फिरने और वेश-भूषामें—इसकी झलक होनी चाहिये। आन्तरिक संस्कृतिकी झलक तुम्हारी वाणीमे, आतिथ्यमे, पारस्परिक व्यवहारमे और गुरुजनोके प्रति व्यवहारमे होनी चाहिये।

नैतिक शिक्षा—हृदयके संस्कार अथवा चरित्र-निर्माणको मैंने सदा प्रथम स्थान दिया और अब मुझे विश्वास हो गया कि नैतिक शिक्षा आयु या बचपनके वातावरणकी चिन्ता किये बिना सभीको दी जा सकती है। मैंने तो चौबीसों घंटे उनके बीचमे पिताके रूपमे रहनेका निश्चय किया। चरित्र-निर्माणको मैंने उनकी शिक्षाकी सही नीव माना और जब नींव मजबूतीसे जम गयी तो मुझे विश्वास हो गया कि अन्य सब विषयोको बच्चे स्वय या मित्रोकी सहायतासे सीख लेगे।

आत्म-साक्षात्कार—आत्माका विकास ही चरित्र-निर्माण है। यह व्यक्तिको ज्ञान प्राप्त करने योग्य तथा आत्म-साक्षात्कारके योग्य भी बनाता है। मेरा यह विश्वास है कि यह बच्चोकी शिक्षाका मुख्य भाग है। आत्माके संस्कारके बिना सब शिक्षा बेकार ही नही, अपितु घातक भी हो सकती है।

खेती और बुनाई—भारतीय जनतामे अधिकांश लोग किसान हैं। यदि हमारे लड़कोको प्रारम्भसे ही खेती और बुनाईकी जानकारी दी जाती और इन दो वर्गोकी आवश्यकताको उन्होने ठीक-ठीक पहचाना होता तथा यदि इन वर्गोंने इन व्यवसायोकी वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त की होती तो हमारे किसान आज सुखी और समृद्ध होते।

श्रमकी प्रतिष्ठा—अन्य देशोकी स्थिति कैसी भी हो, किंतु भारतमे जहाँ अस्सी प्रतिशतसे अधिक जनता खेतीपर निर्भर है और दस प्रतिशत उद्योगोपर, वहाँ शिक्षाको केवल साहित्यिक बनाना तथा लडके-लड़कियोको बादके जीवनमे शारीरिक परिश्रमके अयोग्य बनाना एक अपराध है। अपने भोजनके लिये परिश्रम करनेमे हमे समयका अधिकांश भाग व्यतीत करना पड़ता है, अत. हमारे बच्चोको बचपनसे ही शारीरिक परिश्रमकी महत्ता सिखायी जानी चाहिये। उन्हे ऐसी शिक्षा नही देनी चाहिये, जिससे वे परिश्रमसे घृणा करे। यह खेदका विषय है कि हमारे स्कूली बच्चे शारीरिक परिश्रमको यदि घृणाकी दृष्टिसे नहीं तो उपेक्षाकी दृष्टिसे अवश्य देखते है।

शिक्षा आत्मनिर्भर बनानेवाली होनी चाहिये। मेरे विचारसे इसका उपाय यह है कि शिक्षा व्यावसायिक या शारीरिक प्रशिक्षणद्वारा दी जाय। मुझे स्वयं उसका अनुभव है। दक्षिण अफ्रीकाके टाल्स्टायल फार्ममे मैने अपने पुत्रो तथा अन्य बच्चोको किसी शारीरिक कार्य—बढ़ईगीरी, जूता-निर्माणके माध्यमसे प्रशिक्षण दिया।

चरखा—मैं हर अवसरपर हर समय चरखेका उपदेश देनेसे नहीं थकता, क्योंकि यह सरल वस्तु है, किंतु फिर भी बहुत कल्याणकारी है। सम्भवत. यह रुचिकर न हो, क्योंकि कोई भी स्वास्थ्यकर सादा भोजन मसालेदार अस्वास्थ्यकर भोजनके समान रुचिकर नही हो सकता। इसलिये गीतामे एक स्मरणीय स्थलपर सभी विचारशील व्यक्तियोंसे उन वस्तुओको ग्रहण करनेके लिये कहा गया है, जिनका पहला स्वाद कड़ुआ होता है, किंतु जो अन्तमे अमरत्व प्रदान करती है। चरखा और उसके उत्पादन आज ऐसी ही वस्तु हैं। चरखेसे बढ़कर

कोई यज्ञ नहीं, जो अशान्त आत्माको शान्त करता है, विद्यार्थियोंके भटकते मनको स्थिर करता है और उनके जीवनमें आध्यात्मिक ज्योति फैलाता है।

वर्तमान शिक्षा—मुझे यह विश्वास है कि प्रारम्भिक शिक्षाकी वर्तमान अवस्थामे न केवल धनका विनाश हो रहा है, अपितु निश्चित हानि हो रही है। इससे अधिकाश वच्चे माँ-वापके हाथसे निकल जाते हैं और उनके पेशेसे अलग हो जाते हैं। वे बुरी आदतें अपना लेते हैं, शहरी ढंग अपना लेते हैं और किसी वस्तुका अल्प ज्ञान पा लेते है, जिसे चाहे कुछ कहा जाय, पर शिक्षा नहीं कहा जा सकता।

अंग्रेजीका माध्यम—अंग्रेजीको दिये गये अत्यधिक महत्त्वने शिक्षित वर्गके ऊपर ऐसा वोझ डाल दिया है, जिससे वह जीवनभरके लिये मानसिक रूपसे लँगड़ा हो गया है और अपने ही देशमे अनजान वन गया है। व्यावसायिक प्रशिक्षणके अभावसे शिक्षित वर्ग उत्पादन-कार्य करनेके लिये लगभग अयोग्य हो गया है और उसने शारीरिक हानि भी उठायी है। प्रारम्भिक शिक्षापर व्यय किया जानेवाला धन इस रूपमें नष्ट हो रहा है कि जो कुछ थोडा-वहुत पढाया जाता है, वह शीघ्र ही भुला दिया जाता है और गाँव या शहरके सदर्भमें उसका मूल्य नहींके वरावर है। देशके नवयुवकोंके ऊपर विदेशी माध्यमका यह नाशक आरोपण इतिहासमें विदेशी शासनकी वहुत-सी वुराइयोंमें सवसे वड़ी वुराई माना जायगा। इसने राष्ट्रकी शक्तिको सोख लिया है तथा विद्यार्थियोके जीवनको घटा दिया है।

शिक्षाका माध्यम—शिल्प और उद्योग—शिल्प, कला, स्वास्थ्य और शिक्षाको एक व्यवस्थाके अन्तर्गत समन्वित कर देना चाहिये। शिक्षा इन चारोका सुन्दर समन्वय है और इसमें जन्मसे लेकर मृत्युतककी शिक्षा आ जाती है। शिल्प और उद्योगको शिक्षासे अलग माननेके स्थानपर मैं उन्हें शिक्षाका माध्यम मानूँगा। मेरी नयी शिक्षा धनपर निर्भर नहीं है। शिक्षाकी पद्धतिसे ही स्वय उसे चलानेका खर्च निकल आना चाहिये। मैं जानता हूँ कि शिक्षा केवल वही है जो आत्म-निर्भर हो, फिर चाहे इसकी कितनी भी आलोचना की जाय।

जीवनकी पुस्तक—दस्तकारीके माध्यमसे शिक्षा पानेवाला राष्ट्र जीवनकी कार्यवाहियोंमें व्याप्त सत्य और प्रेमके चिन्तनद्वारा ऊपर उठता है। प्रेम चाहता है कि सच्ची शिक्षा सभीको सरलतासे प्राप्त हो और प्रत्येक ग्रामीणके लिये उसके जीवनमे उपयोगी हो। ऐसी शिक्षा न पुस्तकोंसे प्राप्त की जाती है और न उनपर निर्भर है। स्थानीय या साम्प्रदायिक धर्मोंसे इसका कोई सम्वन्ध नही है। यदि इसे धार्मिक कहा जाता है तो इसका धर्म विश्वधर्म है, जिससे सव स्थानीय धर्मोंका विकास हुआ है। इसलिये इसे जीवनकी पुस्तकसे पढ़ा जाता है, जिसका कोई मूल्य नहीं है और जिसे संसारकी कोई भी शक्ति आदमीसे छीन नहीं सकती।

व्यावहारिक प्रशिक्षण—व्यावहारिक प्रशिक्षणके द्वारा किसी शिल्पकी पूरी कला और विज्ञानको सिखा कर और उसके माध्यमसे पूरी शिक्षा देकर समस्या हल हो सकती है। उदाहरणके लिये तकली कातना सिखाते समय हमे रूईकी किस्मों, भारतके विभिन्न प्रान्तोंकी मिट्टी, दस्तकारीके पतनका इतिहास, उसके राजनीतिक कारण, इसके साथ भारतमें अंग्रेजी शासनका इतिहास तथा गणित आदिका ज्ञान उन्हें प्रदान करना चाहिये।

विश्वविद्यालयकी शिक्षाका उद्देश्य ऐसे सच्चे जनसेवक पैदा करना होना चाहिये जो देशकी स्वतन्त्रताके लिये जी और मर सकें। इसलिये मेरा विचार है कि विश्वविद्यालयकी शिक्षा समन्वित होनी चाहिये और प्रारम्भिक शिक्षाके समान होनी चाहिये। उच्च शिक्षा, चाहे वह उद्योग-सम्वन्धी हो या तकनीकी या कला, सरस साहित्य अथवा चित्रकलासे सम्वन्धित हो, निजी प्रयासके लिये छोड़ देनी चाहिये, जिससे वह स्वाभाविक आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सके। राज्यके विश्वविद्यालयोंको परीक्षा लेनेवाली संस्थाएँ होनी चाहिये, जो परीक्षाशुल्कके आधारपर आत्मनिर्भर वने।

प्रतिदिन काम आनेवाला ज्ञान—लिखना, पढ़ना और अङ्कगणितका कोरा ज्ञान अब भी ग्राम्य-जीवनका स्थायी भाग नहीं है और न आगे कभी होगा। उन्हे ऐसी शिक्षा देनी चाहिये जो प्रतिदिनके कामकी हो। इसे उनके ऊपर थोपनी नहीं चाहिये। उनमे उसके लिये प्रेरणा होनी चाहिये। आज जो जानकारी उनके पास है, उसे न तो वे चाहते हैं और न पसंद करते हैं। गॉववालोंको गॉवका अङ्कगणित, गॉवका भूगोल, गॉवका इतिहास पढ़ाइये, उन्हे प्रतिदिन काम आनेवाला साहित्यिक ज्ञान दीजिये, जिससे वे चिट्ठियॉ आदि लिख-पढ सके। ऐसे ज्ञानको वे सुरक्षित रखेगे और आगे बढ़ेगे। जो प्रतिदिन काम नही आ सकतीं उन पुस्तकोका उनके लिये कोई उपयोग नहीं है।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्—बहुत-से विद्यार्थी यह अनुभव करते हैं कि शरीरकी ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक नहीं है। यह भयंकर भूल है। शरीरके लिये नियमित व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है। जिस विद्यार्थीके पास शरीरकी सम्पत्ति नही है उससे आप क्या आशा कर सकते हैं? जिस तरह दूधको बहुत समयतक कागज या गत्तेके डिब्बेमे नहीं रखा जा सकता, उसी प्रकार शिक्षाको हमारे विद्यार्थियोके दुर्बल शरीरमे अधिक समयतक नही रखा जा सकता। आत्माका आवास होनेके कारण शरीर पवित्र है। हमे इसकी रक्षा करनी चाहिये। नियमित रूपसे उत्साहपूर्वक डेढ़ घंटे प्रातः और डेढ़ घ सायंकाल घूमनेसे शरीर स्वस्थ और दिमाग ताजा रहता है।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः—अब धर्मको लेता हूँ। जहाँ धर्म नहीं, वहाँ ज्ञान, धन, स्वास आदि नही हो सकते। जहाँ धर्म नही है, वहाँ जीव बंजर है, वहाँ कोई उन्नति नहीं हो सकती। हम वर्तमान शिक्षा-व्यवस्थामे धार्मिक शिक्षाके लिये क स्थान नहीं है। वह बिना दूल्हेकी बरातके समान है धर्मके ज्ञानके बिना विद्यार्थी आनन्दका अनुभव नहीं क सकते। किसी प्रकार धर्मका ज्ञान प्राप्त करना प्रत्ये विद्यार्थीका कर्तव्य है।

ब्रह्मचारीका हीन पर्यायवाची—विद्यार्थी—हम भाषामे विद्यार्थीका पर्यायवाची एक सुन्दर शब्द 'ब्रह्मचारी'। 'विद्यार्थी' तो गढ़ा हुआ शब्द है अ 'ब्रह्मचारी'का हीन पर्यायवाची है। मुझे आशा है आप सब 'ब्रह्मचारी' शब्दका अर्थ समझते है। इसव अर्थ है 'ब्रह्म'का अन्वेषी। संसारके सब बड़े-बड़े धर्मो कितना ही भेद हो, किंतु इस आधारभूत वस्तुके सम्बन्ध वे सब एकमत है कि अशुद्ध हृदयका कोई भी व्यक्ति ईश्वरके सात्त्विक सिंहासनके सम्मुख खड़ा नही हो सकता अतः समस्त ज्ञानका ध्येय चरित्र-निर्माण हो चाहिये। —संकलनकर्ता—श्रीओमप्रकाशजी, खेडा
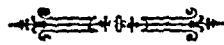
आचार्य विनोबा भावेकी शिक्षा

[आचार्य-सम्मेलनमे प्रबोधन—१४ जनवरी, सन् १९७६ ई०]

मुझसे कहा गया कि आजके उपकुलपति और उनके साथके बहुत-से आचार्य सरकारके गुलाम-से बन गये हैं; क्योंकि पैसा सरकारसे मिलता है। सोचनेकी बात है, सरकारसे तो न्यायालयको भी पैसा मिलता है। वह पैसा देशका ही पैसा है। इस कारण शिक्षा-विभाग स्वतन्त्र होना चाहिये। वेतन भले सरकारसे मिलता हो, किंतु उस विभागपर सरकारका कोई अधिकार न हो। उनकी अपनी संगठना है और वे सब मिलकर ए मतिसे कुछ विचार प्रकट करते है। जबतक एकमा हुई नही, तबतक आपसमे चर्चा करते हैं और ऐ व्यक्तिगत तौरपर बोलते नहीं। सामूहिक तौरपर ही बोलेंगे इस तरह शिक्षा-विभाग सरकारसे मुक्त होना चाहिये आचार्योके और शिक्षकोके पास जो शक्ति है, उसव कोई तुलना सरकारकी शक्तिसे नही हो सकती। सरका

तो पॉच सालके लिये आपकी नौकर है। उनका राज आपको ठीक लगा तो फिर पाँच सालके लिये उनका चुनाव करेगे, नही ठीक लगा तो नहीं करेंगे। किंतु शिक्षक तो २०-२५ सालतक सिखाता रहेगा और जब वह सेवामुक्त होगा तो दूसरे जो शिक्षक उनके स्थानपर आयेगे, वे उनके पढ़ाये हुए विद्यार्थियोंमेसे आयेंगे। इसलिये यदि शिक्षा-विभाग अपनी बात निश्चयपूर्वक सबकी रायसे सरकारके सामने रखेगा तो सरकारको मानना पड़ेगा।

आपलोग जो आचार्य कहलाते है, उनकी परम्परा शकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ-जैसी है। आजकल इंग्लिशके कारण 'आचार्य' शब्द कमजोर माना गया है। प्राचार्य कह दिया है। इंग्लिशमे प्रोफेसरमे 'प्र' आता है, इसलिये आचार्यमे 'प्र' लगाकर उसे बना दिया प्राचार्य। प्राचार्यका अर्थ हो गया प्रचार करनेवाला और आचार्यका अर्थ है आचरण करनेवाला। ऐसी दशामें आचरण समाप्त हो गया और प्रचार आ गया उसकी जगह। इसलिये मेरा सुझाव है कि आप प्राचार्य मत बनियेगा। प्रोफेसरका अर्थ होता है इंग्लिशमें जो प्रोफेस करता है, आचरण नहीं करता, वह प्रोफेसर है। ऐसा ढोंगी शब्द छोड़ दीजिये और आचार्य ही कायम रखिये।

एक बात और सोचनेकी है, उसे भी मैंने कई बार कही है कि सिक्यूलरका अर्थ ये लोग लेते है—निधर्मी राज्य और इसलिये उत्तम-से-उत्तम जो ग्रन्थ हैं हिंदू-धर्मके, इस्लाम-धर्मके, क्रिश्चियनिटीके, वे सारे उत्तम ग्रन्थ पढ़ाये नहीं जायेंगे। वह सिक्यूलरका बिलकुल गलत अर्थ है। यह ठीक है कि हिंदूधर्म-शास्त्रके साथ-साथ मुस्लिम, क्रिश्चियन आदि सब धर्मोकी शिक्षा विद्यार्थियोको दी जानी चाहिये। इसलिये बाबाने सब धर्मोका सार निकाल रखा है। वे सारवाली पुस्तकें हैं, उन्हें विद्यार्थियोंको सिखानी चाहिये, जिससे उनके चित्तपर संस्कार पड़ेगा सर्वधर्म-समभावका। सब धर्मोंने मिलकर जो आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा दी होगी वह विद्यार्थियोंके चित्तमें स्थिर हो जायगी।

तो दो बाते मैंने आपके सामने रखीं—(१) शिक्षा-विभाग स्वतन्त्र हो और (२) सब धर्मोंकी शिक्षा मिले। सिक्यूलर है इसलिये धर्मग्रन्थका अध्ययन ही न करना बिलकुल गलत है। और विशेष बात तो यह है कि जो सरकारके शिक्षामन्त्री होते हैं, उनके हाथमें सत्ता है। वे जो पाठ्य पुस्तक निश्चित करेंगे वह सब विद्यार्थियोंको पढ़ना पड़ेगा। उसमें उनकी परीक्षा ली जायगी। जो परीक्षामें फेल होंगे वे आगे नहीं बढ़ेंगे। तो शिक्षाधिकारीके हाथमें ऐसी सत्ता आ गयी जो आपने न तो शकराचार्यको दी, न कबीरको दी, न तुलसीदासको दी। फिर तुलसीदास आदिके ग्रन्थ हम पढ़ते तो हैं, किंतु यह वे नही कर सके कि आपको रामचरितमानस पढ़ना ही चाहिये। आप पढ़िये यह आपकी इच्छाकी बात है। परंतु 'आपको पढ़ना ही पड़ेगा' इस प्रकारकी सत्ता आपने शिक्षाधिकारीके हाथमें दे रखी है। बिलकुल गलत है, उसका वह अधिकार। आचार्योंकी जो संस्था होगी उसीके द्वारा निर्णय होगा। उनके जो शिक्षाधिकारी हैं वे आपके पास आ जायँ, आपकी बातें समझ लें और तदनुकूल जो करना होगा वह करें, परंतु उनके अनुकूल आप करें, यह मामला उलटा हो गया। आपके अनुकूल वे करें उनके हाथमे सत्ता है। सत्ताके द्वारा भी कुछ चला सकते हैं। तो आपकी बात सुनकर वैसी पाठ्य पुस्तक वे तैयार करें। यह खास करके शिक्षा-विभागके विषयमें दो बातें मैने आपके सामने रखी हैं।

जिस पापके आरम्भमे ईश्वरका भय और अन्तमे ईश्वरसे याचना होती है, वह पाप भी साधकको ईश्वरके समीप ले जाता है, किंतु जिस तपश्चर्याके आरम्भमे अहंभाव और अन्तमे अभिमान होता है, वह तप भी तपस्वीको ईश्वरसे दूर ले जाता है।

गुरु-शिष्यका प्राचीन सम्बन्ध स्थापित हुए बिना शिक्षाका विकास सम्भव नहीं

(शान्तिनिकेतन विश्वभारती विश्वविद्यालय (सन् १९५४ ई०) मे पं० श्रीजवाहरलालजी नेहरूके दीक्षान्त भाषणका एक अंश)

आपने कहा—'गुरुदेव के आदर्श अभीतक अधूरे पड़े हैं। उन अधूरे आदर्शोंको पूरा करना है। विश्वभारतीसे जो सम्बन्धित हैं, उनका अब यह कर्तव्य हो जाता है कि वे विश्वभारतीके आदर्शो और सिद्धान्तोको सही मार्गोद्वारा विकसित और क्रियान्वित करे। मुझे आशा है कि विश्वभारती संसारके विभिन्न भागोसे आये छात्रोको ऐक्य-सूत्रमें सम्बद्ध कर अपने पुण्य कार्यको जारी रखेगी।'

आधुनिक युगमे गुरु-शिष्यका जो सम्बन्ध है, उसकी ओर संकेत करते हुए श्रीनेहरूजीने कहा कि 'आज जब शिक्षको एवं छात्रोके सम्बन्धको देखता हूँ तो बड़ा दुःख होता है। यह कितना आश्चर्यका विषय है कि आजके छात्र अपने शिक्षकोको शत्रु समझते हैं। शिक्षकोके साथ भी यही बात पायी जाती है। कभी-कभी विश्वविद्यालयोमे भी हड़ताले होती है। यह कितना दुःखद विषय है। जिस तरह फैक्टरियोमें मजदूर वेतन-वृद्धिके लिये हड़ताल करते हैं, उसी तरह इन पवित्र प्रतिष्ठानोमे भी हड़ताले की जाती हैं। ऐसी स्थितिमे शिक्षाका प्रचार कैसे हो सकता है? जबतक भारतमे पुनः गुरु-शिष्यका प्राचीन सुमधुर सम्बन्ध स्थापित नहीं हो जाता, तबतक शिक्षाका विकास सम्भव नहीं है। इस दिशामे विश्वभारती विद्यागृह एक आदर्श उपस्थित करता है।

'विद्यालयोंका कार्यक्षेत्र केवल छात्रोको पास करानेतक ही सीमित नहीं है। किताबी-ज्ञान देना ही उनका कर्तव्य नहीं है, अपितु छात्रोका सर्वाङ्गीण विकास करना उनका कर्तव्य है। छात्रोंको मानसिक विकास करनेमे सहायता दी जानी चाहिये।'

धार्मिक शिक्षाकी आवश्यकता

(स्व० श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचार्यजीके सन् १९५४ई०के दीक्षान्त-भाषणसे)

[आगरा विश्वविद्यालयके उन्तीसवे दीक्षान्त-समारोहमे तत्कालीन प्रसिद्ध राजनेता स्वर्गीय श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचार्य महोदयने जो महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था, यहाँ उसका सार दिया जा रहा है। हमारी वर्तमान दुःस्थितिका दिग्दर्शन करानेके साथ ही उसके दूर करनेके सुन्दर उपाय भी उसमे बतलाये गये है। हमारा देश स्वतन्त्र हो गया, शिक्षाका पर्याप्त प्रचार हो रहा है, कारखाने बन रहे है, सड़को-पुलोका भी निर्माण हो रहा है और देशके सर्वतोमुखी विकासकी बड़ी-बड़ी योजनाएँ काममे लायी जा रही है, परंतु देशका चारित्रिक स्तर सर्वत्र बड़ी तेजीसे गिर रहा है। यह सबसे बड़ी हानि है। वर्तमानमे हमलोग अर्थ तथा अधिकारके पीछे इतने पागल हो रहे है कि मानो उच्च चरित्र-निर्माणकी आवश्यकताको भूल ही गये है। इस परिस्थितिमे राजाजीका वह भाषण अत्यन्त महत्त्वका एवं सामयिक होनेसे मनन करने योग्य है। —सम्पादक]

परमात्माकी विस्मृति

आजके युगमे हम परमपिता परमात्माको भूल गये हैं। प्रसिद्ध विद्वान् कार्लाइलने भी विज्ञान और साम्राज्यवादके विस्तारके फलस्वरूप पाश्चात्त्य जगत्के मानवमात्रकी धातु-प्रियता तथा कलहप्रिय प्रवृत्तिसे दुःखी होकर यह बात कही थी। साम्राज्य अब विश्वके मानचित्रसे नष्ट हो गये है और विज्ञान भी अपनी चरम सीमाको पार कर चुका है। अतः पश्चिममे एक नवीन ज्ञान-ज्योतिका प्रादुर्भाव

१ यहाँ गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर अभिप्रेत हैं। उनका देहान्त सन् १९४०ई०मे हुआ था।

हो रहा है, परंतु हम पूर्वनिवासी अब भी शासन और विधायकोंके अंदर प्रभुको विस्मृत करते जानेकी प्रवृत्ति देखते हैं, जिसकी निन्दा कार्लाइलने अपने समयमें की थी। मैं राष्ट्रिय विकासके लिये आधारभूत इस महत्त्वपूर्ण सत्यकी ओर विचारकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

श्रेष्ठ चरित्रकी अनिवार्य आवश्यकता

चरित्रका अच्छा होना शारीरिक शक्ति एवं बुद्धिकी प्रखरतासे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। देशके अंदर शान्ति-स्थापना एवं बाहरी आक्रमणसे उसकी रक्षाके निमित्त नागरिक प्रशासन तथा सैनिक व्यवस्थाके लिये जन-समुदायमेंसे पर्याप्त संख्यामें लोगोंका शारीरिक एवं मानसिक दृष्टिसे शक्तिशाली होना आवश्यक है, किंतु देशकी उन्नति तथा चतुर्मुखी विकासके लिये जीवनके दैनिक कार्योंको मिल-जुलकर एक दूसरेके सहयोगसे करनेवाले समस्त नागरिकोंके चरित्रका अच्छा होना नितान्त अनिवार्य है। चरित्र वह भूमि है, जहाँ अन्य सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। यदि वही खराब है तो सभी कुछ खराब होगा। मनुष्यको ईमानदार, वचनका पालन करनेवाला, सबके प्रति दयालु तथा एक दूसरेके प्रति किये गये वायदोंको निभानेवाला और अपने निजी स्वार्थोंसे अधिक दैवी गुणोंका मूल्य करनेवाला होना चाहिये।

बुरी प्रवृत्तियोंकी वृद्धि

आजके स्कूलों और कालेजोंमें दी जानेवाली उच्च शिक्षा चरित्र-निर्माणमें सहायक नहीं अपितु बाधक ही है। विदेशी नकलपर हमारे देशमें चल रही इस प्रवृत्तिको देखकर कोई भी उज्ज्वल भविष्यकी कल्पना नहीं कर सकता। यह सत्य है कि हम इन दिनों चिन्तायुक्त हैं। हम अपने चारों ओर प्रत्येकको थोड़ा-सा ज्ञान और थोड़ी-सी शिक्षा प्राप्तकर येन-केन-प्रकारेण धन-प्राप्तिकी इच्छा करते हुए देखते हैं। गाँधीवादी सत्य-अहिंसात्मक एवं आत्मिक विकासके आन्दोलनद्वारा प्राप्त स्वतन्त्रता, सम्मान एवं प्रशासनिक उत्तरदायित्व वहन करनेके बाद हमें आशा रखनी चाहिये थी कि लोगोंका जीवनके प्रति दृष्टिकोण बदलेगा, किंतु आशाके विपरीत धोखा देने और झूठे बाह्य प्रदर्शनकी प्रवृत्तियोंकी वृद्धि होती दिखायी दे रही है।

छात्रोंमें कर्तव्यपालनकी भावना आवश्यक

छात्रोंमें वर्तमान समयके शिक्षित लोगोंकी अपेक्षा अधिक कर्तव्यपालनकी भावना होनी चाहिये। राष्ट्रकी स्थितिको सुधारनेके लिये छात्रोंको भौतिक प्रलोभनों एवं निजी स्वार्थोंके आकर्षणसे दूर रहना चाहिये। यदि इस सिद्धान्तको पूर्ण गम्भीरता एवं राष्ट्रके लिये जीवन-मरणके प्रश्नकी भाँति स्वीकार कर लिया गया तो यह हमारी शिक्षा-नीतिमें तुरंत परिवर्तन लानेका आधार बन जायगा।

मानव-सभ्यताका मूल—'धर्म'

यदि हम निष्पक्ष दृष्टिसे देखें तो यह स्पष्ट है कि कुछ त्रुटियोंके रहते हुए भी संसारमें धर्म ही मनुष्यको सदा विनाश और रोगोंके पथसे बचाता रहा है। यह तथ्य हम संसारमें मानव-समाजके सामाजिक तथा आर्थिक इतिहासको देखकर प्रमाणित कर सकते हैं कि धर्म ही मनुष्यको क्रियाशील सहयोगी जीवन बितानेके लिये प्रोत्साहित करता आया है। सम्पूर्ण मानव-सभ्यताका मूल धर्म ही है। यदि हम स्कूलों और कालेजोंसे धार्मिक शिक्षाको दूर कर दें तो हम सार्वजनिक चरित्रका निर्माण कदापि नहीं कर सकते। हमने अन्धविश्वासोंको धर्मकी संज्ञा देकर आज बालकोंके घरेलू जीवनसे भी धर्मको अलग कर दिया है—यहाँतक कि छात्रोंकी विद्यालयोंमें उपस्थितिने उनके घरोंमें मनायी जानेवाली धार्मिक क्रियाओंको सम्पादित करना भी उनके लिये असम्भव बना दिया है। इस प्रकार हमने वर्तमान शिक्षा-पद्धतिके कारण अपनेको धर्मके लिये एक खोखली दीवाल बना रखा है। यही दशा रही तो हम अनिवार्यरूपसे बुरे-से-बुरे होते चले जायँगे। हम यह स्वीकार तो करते हैं कि हमें युवकोंके जीवनमें पवित्रता तथा बुराईसे दूर रहनेकी भावनाका विकास करना चाहिये, परंतु इसके लिये हम किंचिन्मात्र भी प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। हमें ऐसे साधन उपलब्ध करने होंगे कि जिनकी सहायतासे उन उद्देश्योंकी पूर्ति की जा सके।

छात्रोंके मस्तिष्कसे सर्वशक्तिमान् प्रभुकी भावना दूर करनेका हमारा प्रयास

वास्तविकता यह है कि वर्तमान शिक्षा छात्रोके अंदर रटने तथा रटी हुई बातोका परीक्षामे प्रदर्शन करके उपाधि प्राप्त करनेकी आदत डालती है। हमने विकासोन्मुख तरुणो और तरुणियोके चरित्रको वर्तमान शिक्षाद्वारा खोखला बना डाला है। जब उनके चरित्रके अंदर हमारे द्वारा प्रवेश कराया हुआ यह भयानक रोग अनुशासनहीनताके रूपमे फूट पड़ता है, तब हम उसकी निन्दा करने लगते हैं। सर्वशक्तिमान् प्रभु ही ससारपर शासन कर रहे हैं—इस विचारको क्या हम युवक और युवतियोके मस्तिष्कसे दूर रखनेका प्रयास नहीं कर रहे हैं?

छात्रोंमें दैवी गुणोंके विकासके लिये धार्मिक शिक्षाकी अनिवार्य आवश्यकता

शिक्षाका सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य छात्रोमे दैवी गुणो तथा कर्तव्यपरायणताका विकास करना है। धार्मिक शिक्षा इस उद्देश्यकी पूर्तिमे सहायक होगी। नवयुवकोंको बुरी बातों तथा अवाञ्छनीय आचरणकी प्रवृत्तिसे दूर रहना सिखाना चाहिये। यदि हमने स्कूलोमे धार्मिक शिक्षा प्रदान न की तो इन गुणोका आविर्भाव हम नागरिकोमे नही कर सकते। विभिन्न धार्मिक मान्यताओको समाप्तकर उनके चलानेवालोको केवल कल्पित व्यक्ति मानना विनाशकारी है। ईसामसीह, मुहम्मदसाहब, भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, भगवान् बुद्ध आदिको यदि हम भौतिक दृष्टिकोणसे केवल कल्पित व्यक्ति ही मान ले तो ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध तथा हिंदूधर्मोमे रह ही क्या जायगा?

राष्ट्रिय चरित्रका ह्रास न हो, इसके लिये हमें प्रत्येक छात्रको स्कूलमे उसके अपने पारिवारिक धर्ममे दीक्षित करना होगा। इस कार्यमे अव्यावहारिकता कहीं नही है। विज्ञानको संसारने एक बार विजेताके रूपमे प्रदर्शित किया था, परंतु अब वही विज्ञान धर्मका सबसे बडा सहयोगी है। उच्च विज्ञान भौतिकवादके दृष्टिकोणको त्यागकर अब आत्मिक विकास तथा उपनिषदोकी भाँति देवत्वकी ओर ले जानेवाला बन रहा है, किंतु विज्ञान धार्मिक विश्वास और दैवी गुणोके विकासमे तभी सहायक हो सकता है, जब मनुष्यको बचपनमे ही उसके अनुकूल शिक्षा दी जाय। मेरी कामना है कि हम भारतीय केवल भौतिक चमक-दमक एवं बाह्य प्रसन्नताके चक्करमे ही न पड़े रहें, परंतु यह सब बिना धर्मके नहीं हो सकता। इसलिये चरित्रवान् भारतीयोके निर्माणके लिये स्कूलोमे प्रत्येक लड़के और लडकीको धार्मिक शिक्षा देना अनिवार्य होना चाहिये।

शिक्षा-प्रणालीमें नैतिक और आध्यात्मिक मूल्योंका महत्त्व और उनकी आवश्यकता

(पंजाब-विश्वविद्यालयके समावर्तन-समारोहमे श्रीकन्हैयालाल एम्० मुंशीके भाषणका एक अंश)

कुछ वर्षो पूर्व पंजाब-विश्वविद्यालयमे दीक्षान्त-भाषण देते हुए श्रीमुंशीजीने कहा कि 'पंजाब-सरकार शीघ्र कुरुक्षेत्रमे सस्कृत-शिक्षाका एक केन्द्र (संस्कृत-विश्वविद्यालय) खोलेगी। विभाजनके पूर्व पुराने पंजाब-विश्वविद्यालयने संस्कृतके विशेष अध्ययनके लिये ख्याति प्राप्त की थी और आशा है कि खण्डित पंजाबका यह विश्वविद्यालय भी संस्कृतको लोकप्रिय बनानेकी पुरानी परम्पराको स्थिर रखेगा।'

श्रीमुंशीजीने कहा कि 'छात्रोको रचनात्मक शक्तिसे सम्पन्न करना विश्वविद्यालयका मुख्य ध्येय होना चाहिये। रचनात्मक शक्तिकी प्राप्तिके लिये हमे ईमानदार, सत्यनिष्ठ और निष्पक्ष होना आवश्यक है। इन गुणोके लाभके लिये यह आवश्यक है कि हम मनीषियो एवं सज्जनोंसे सम्पर्क रखें, महत्त्वपूर्ण घटनाओपर विचार करे और इतिहास, दर्शन तथा धर्म आदिका अध्ययन करे। यह बात न केवल विद्यार्थियोके लिये ही अपितु सभी लोगोके

लिये लागू है । तभी हम पुराने विचारोंकी जाँच करने तथा नये विचारोंको ग्रहण करनेमें समर्थ हो सकते हैं । इससे हमारा चरित्र-निर्माण होगा और हम अनुशासनपूर्ण तथा जिम्मेदार बनेंगे ।'

श्रीमुंशीजीने आगे कहा कि 'हमारी शिक्षा-प्रणालीका एक मुख्य दोष यह है कि विश्वविद्यालयसे निकलनेवाले छात्र शिक्षा-कार्य करनेकी अपेक्षा ऊँची सरकारी नौकरी, व्यापार या वकीलका पेशा करना अधिक पसंद करते हैं । इसके लिये विश्वविद्यालय ही एकमात्र दोषी हैं; क्योंकि वे ऐसी शिक्षा देते हैं जो न तो दिलचस्पी पैदा करती है और न तो मस्तिष्कको प्रशिक्षित ही करती है ।'

उन्होंने कहा कि 'नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य हमारे जीवनके मूल तत्त्व हैं, अतः प्रत्येक शिक्षा-प्रणालीमें उन्हें स्थान देना आवश्यक है; क्योंकि इनके बिना हम भविष्यकी समस्याएँ सुलझानेमें असमर्थ रहेंगे । दुर्भाग्यसे आज अधिकांश विश्वविद्यालय इन मूल्योंकी ट्रेनिंग देनेके सम्बन्धमें उदासीन हैं, किंतु यह स्थिति खेदजनक है । हमें यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिये कि इन मूल्योंको अपनाये बिना हम सफलता प्राप्त नहीं कर सकते और हमारा कार्य वास्तविक एवं चिरस्थायी नहीं हो सकता ।'

बच्चोंके जीवन-निर्माणमें माता-पिता और शिक्षकका समान दायित्व

(माननीय डॉ० बी० पट्टाभि सीतारामैया)

शैशव यौवनका जनक है । दूसरे शब्दोंमें, जो बचपनमें बोया जायगा, वही जवानीमें काटना पड़ेगा । हमारे बच्चोंको जो अवसर आज सुलभ है, वह हमें अपने बचपनमें स्वप्नमें भी दुर्लभ था । आज चार वर्षका बच्चा मोटरको चालू करना जानता है । वह कहने लगता है 'बटन दबाओ', 'ब्रेक छोड़ दो', 'मूठ दबाओ', 'गियर लगाओ' और 'गतिवर्द्धक दबाते समय इसे छोड़ दो ।' यहाँतक कि वह यह सब करके दिखा भी देता है और गाड़ी चल पड़ती है, जिसे देखकर माता-पिता स्तम्भित हो जाते हैं । मद्रासमें मैरीनापर तीन और चार वर्षके बच्चे तीस मीलकी रफ्तारसे चलनेवाली मोटरगाड़ियोंको दूरसे पहचान लेते हैं और अपने समवयस्कोंमें इस बातके लिये विवाद करने लगते हैं कि अमुक गाड़ी पांटियक है या शेवरलेट है, ऑस्टिन है या हिंदुस्तान है, वाग्जाल है या सिट्रोएन है? बच्चोंका मस्तिष्क या इसका विकास उसके युगपर अवलम्बित है और अपने प्रभावोंके ही अनुसार वे विचार भी ग्रहण करते हैं । हमारे बचपनमें जो हमारे लिये हितकर था, वह सम्भवतः आजके बच्चोंके लिये हितकर न हो । उदाहरणार्थ आज नहीं जँचेगा कि कोई अपनी डाक्टरी बैलगाड़ीमें बैठकर चलाये । इसलिये अब अपने बच्चोंको वहाँसे प्रारम्भ करना है, जहाँ हमने समाप्त किया है । बच्चोंके जीवनके विविध क्षेत्रोंमें अनेक प्रकारके विकास हुए हैं ।

ध्यान देनेकी बात है । बच्चेकी रुचि उसके परिसर, परिवार और परम्पराके दायके अनुसार बनती है । शाकाहारी बच्चा मछली-मांस खानेकी निन्दनीयता कैसे समझेगा? परंतु यदि उसके माता-पिता नहीं खाते तो बच्चा भी इन पदार्थोंसे दूर रहेगा ।

बच्चेको कभी भी न तंग करना चाहिये, न खिझाना चाहिये और न धोखा देना चाहिये । बच्चे,पागल और स्त्रियाँ एक ऐसी श्रेणीमें बाँधी गयी हैं, जिसे कभी गुमराह नहीं करना चाहिये । यदि कोई ओषधि कड़वी है तो उसे कभी मीठा न बतलाया जाय, नहीं तो वे बादमें मीठी ओषधि लेनेसे भी अस्वीकार कर देंगे । यदि किसी पागलको पागलखानेमें आप ले जा रहे हैं तो उससे कभी मत कहिये कि तुम्हें रिश्तेदारके घर ले जा रहे

। गन्तव्य स्थानका सीधा उल्लेख करनेसे वह अपने ाग्यसे समझौता कर लेगा और उसे अच्छा होनेमें नधिक सुभीता तथा शीघ्रता होगी। बादके जीवनकी चियोंकी सृष्टि शैशवमे ही होती है। यदि माता-पिता ादा चिढते रहते हैं तो बच्चे भी चिड़चिड़े हो जाते ैं। बच्चोको कभी भी भयसे अभिभूत न होने देना ाहिये। उनके मनमे पूर्ण विश्वास जगाना चाहिये, जिससे े अपने माता-पिताके समक्ष आत्मविश्वासके साथ आये।

आजकल बच्चोंको शिक्षा-संस्थाओमे शिक्षकोद्वारा नावश्यक प्रश्नोत्तर पूछने और उनके क्रूर शासनसे भय त्पन्न हो जाता है, जिससे वे पाठशालामे पढ़नेके लिये ानेमे हिचकते हैं। अभिभावकोको उन्हे पाठशाला भेजनेमे धिक कठिनाई उठानी पड़ती है, ऐसी स्थितिमे यदि यके स्थानपर प्रेमसे तथा शासनके स्थानपर अनुरोध ौर युक्तिसे काम लिया जाय तो बच्चेका विकास अच्छी रह किया जा सकता है।

बच्चोकी शिक्षाके लिये केवल शिक्षकोको ही दोषका भागी बनाना उचित नहीं है। घरमे माता अपनी घरेलू झंझटोमे, जब कि एक ओर पति शीघ्रतासे भोजन माँग रहा हो और दूसरी ओर बच्चा स्तनपानके लिये मचल रहा हो, कभी-कभी सम्भवतः पाठशाला जानेवाले बच्चोकी आवश्यकताओकी पूर्ति तत्काल नहीं कर पाती और पेंसिल, कागज, रबर, पैसे या कापी देनेके अतिरिक्त माता जब बच्चेके ऊपर बिगड़ खड़ी होती है, तब वह एकदम हतप्रभ हो जाता है और उसमे चिड़चिड़ापन आने लगता है, जिससे बढ़कर जीवनमे किसी दुर्गुणकी कल्पना नहीं की जा सकती। तब माता बच्चेको पीटना आरम्भ करती है। मजा तब आता है, जब पिता माताको डाँटता है, माता बच्चेको डाँटती है और बच्चा रो-रोकर पिताको खिझाता है। इस प्रकार एक विचित्र बुराइयोंका चक्र बन जाता है। जब आप बच्चेके मनमें भय पैदा करते हैं, तब वह घबरा उठता है और लड़कियोंको तो आगे चलकर हिस्टीरिया रोग हो जाता है तथा लडके दुर्विनीतता और जडता सीख जाते हैं। माताओंके लिये शिशु-पालनकी शिक्षाका पाठ्यक्रम होना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि पितावर्ग उनसे कुछ अच्छे हैं, वे भी उतने ही खराब हैं, किंतु माताको पति और संतान—दोनो चक्कियोके बीच पिसना है, इसलिये उसका दायित्व अधिक है। बच्चेके अविश्वासका कारण जाँचते समय प्रत्येक स्थितिकी देखभाल अधिकतम सावधानीसे करनी चाहिये। कभी-कभी बच्चे इसलिये पीटे जाते हैं कि वे चिल्लाना बंद करे, पर पीटनेसे चिल्लाना अनिवार्यत. और दूने वेगसे बढ़ता है और जितना ही पिता चिल्लाता है 'मत रोओ' उतना ही बच्चा और गला फाडकर उत्क्रोश करने लगता है। इससे माता-पिता और खीझ उठते हैं, उसे बाँह पकड़कर झकझोरते हैं, दीवालपर उसका सिर दे मारते है, माताके पाससे खींचकर उसे जोरसे दबाते हैं। कभी-कभी बच्चा मर भी जाता है और तब करुणार्त कहानी पूर्ण हो जाती है और सारा रोना-चिल्लाना विफल हो जाता है। इसलिये ऐसी स्थिति संलक्षित होते ही अपने आवेगके ऊपर नियन्त्रण लगा देना चाहिये। अपना क्रोध अपनेको ही खाता है। यदि माता-पिता और शिक्षक इन प्रारम्भिक तथ्योको भलीभाँति जान ले तो बच्चोका पालन और शिक्षण विशेषरूपसे होने लगे।

जिसे गुरुका अनुग्रह मिला हो, गुरुसेवाके परमानन्दका जिसने भोग किया हो, वही उसकी माधुरी जान सकता है। गुरुकृपाके बिना कोई साधक कभी कृतकार्य नहीं हुआ। श्रीगुरुकी चरण-धूलिमे लोटे बिना कोई भी कृतकृत्य नहीं हुआ। श्रीगुरु बोलते-चालते ब्रह्म है। गुरु और शिष्यका सम्बन्ध पूर्वज और वंशजके सम्बन्ध-जैसा ही है। श्रद्धा, नम्रता, शरणागति और आदरभावसे गुरुका मन मोह ले तभी उसकी आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। स्वानुभूति ज्ञानकी परम सीमा है। वह स्वानुभूति ग्रन्थोसे नहीं प्राप्त हो सकती, पृथ्वीपर्यटन करनेसे नहीं मिलती। स्वानुभावका यथार्थ रहस्य श्रीगुरुकी कृपाके बिना त्रिकालमे भी नहीं ज्ञात होता।

लोकनायक श्रीजयप्रकाशनारायणके शैक्षिक विचार

आज जितने भी ज्वलन्त प्रश्न सामने उपस्थित हैं, उनमे मेरी दृष्टिमे शिक्षामे आमूल परिवर्तन या क्रान्तिके प्रश्नका सबसे अधिक महत्त्व है, परंतु खेद है कि इस दिशामे क्रान्तिकारी चिन्तन भी नही हो रहा है। जो कुछ सुधारकी बाते सुनता हूँ, जैसे १०+२+३ या इस प्रकारका और कुछ, ये सब इतने सतही है कि किसी क्रान्तिकारी परिवर्तनके साधन नहीं हो सकते। प्रौढ़ोकी शिक्षापर पिछले दिनो जोर दिया गया है, किंतु मेरी दृष्टिमे प्रौढ़-शिक्षा किताबी शिक्षा न होकर विचार-परिवर्तनकी शिक्षा होनी चाहिये।

शिक्षाका ग्रामीणीकरण आवश्यक है। ऐसे ग्रामीण विद्यालय चले, जहाँ सीमित साधनोसे कृषिकी, ग्रामीण लघु उद्योगोकी, उस क्षेत्रविशेषके युवकोके प्रयोगमे आनेवाले समाज-विज्ञानकी तथा भाषा और साहित्यकी शिक्षा दी जाय। भोजनका प्रश्न है, पोषक-तत्त्वोका प्रश्न है, हरी खादका और पशुओ आदिसे मिलनेवाली स्वाभाविक खादके सही उपयोगका प्रश्न है।—इन सबकी शिक्षा जिसमे न मिले, वह शिक्षा-पद्धति भारतके लिये किस कामकी? पिछले युवा और जनताके आन्दोलनमे जो हजारो और लाखो लोग खिच कर आये थे, उनके सामने यह प्रश्न उठता रहता है कि आगे वे क्या करे? ऊपर मैने जिस कामको कहा है, वह ऐसा महत्त्वपूर्ण काम है, जिसमे सबको योगदान करना चाहिये और तभी 'भावी इतिहास हमारा है'—यह नारा सफल होगा, वास्तविक होगा।

× × × ×

हमारी विरासतमे कुछ वस्तुएँ वहुत मूल्यवान् और महान् हैं, उनकी हमें रक्षा करनी है और उन्हे मजबूत बनाना है, किंतु साथ ही हमने उत्तराधिकारमे वहुत-से अन्धविश्वास, गलत मूल्य और अन्यायपूर्ण मानवीय और सामाजिक सम्वन्ध भी पाये हैं। भगवान् बुद्धके समयसे और हो सकता है उनसे पहलेसे भी यह प्रयत्न किया जा रहा है कि ऊँच-नीचपर आधारित कु-प्रथाओंको समाप्त किया जाय, किंतु अभीतक यह प्रथा पूरे देशमें फैली हुई है। अब समय आ गया है कि हम समाजके इस कलंकको मिटा दें तथा भाईचारे और समानताको अपना आदर्श बनायें और अपने जीवनमे उतारें।

इसी तरह शादी, जन्म और मृत्युसे जुड़े हुए भी कुछ और बुरे रिवाज हैं। सम्पूर्ण क्रान्तिके द्वारा इन्हें भी समाप्त किया जाना चाहिये।

अव मैं जीवनके अधिक आधुनिक पहलुओंकी चर्चा करूँगा। जैसा कि शिक्षाका समय आ गया है कि कोठारी-कमीशन तथा दूसरे सारे शिक्षा-कमीशनोके आमूल परिवर्तनके सुझावको लागू किया जाय। इस क्षेत्रमें हम चीनके उदाहरणका अनुकरण कर सकते हैं, जहाँ सभी स्कूल और कालेज बंद कर दिये गये थे और विद्यार्थियोको गाँवो और झोपड़पट्टियोमे भेजा गया, जिससे वे जवान, बूढे हर नागरिकको बुनियादी शिक्षा दे सके।

मै यहाँ उन प्रचलित और आर्थिक सुधारोकी चर्चा करूँगा जिनके विषयमे बात तो वहुत हुई, किंतु काम बहुत कम किया गया है। इन कामोके लिये युवाशक्तिका उपयोग किया जा सकता है। जिसका लाभ समाज और युवक दोनोको ही मिलेगा।

यह बड़ी बुद्धिमानी है कि अपनी क्रियाओमे कभी उद्धत न होओ और न अपने ही विचारोपर अड़ जाओ, न सभी सुनी हुई बातोपर विश्वास ही कर लो और न शीघ्रतामे आकर जो कुछ तुमने सुना है या मान लिया है—दूसरोपर प्रकट ही करने लगो।

भारतीय नारीका निर्माण

(लखनऊ-विश्वविद्यालयके भूतपूर्व उपकुलपति डॉ॰ श्रीराधाकमल मुखर्जी महोदयद्वारा सन् १९५५ ई॰ मे विश्वविद्यालयकी छात्राओके प्रति दिये गये उपदेशका एक अंश)

मुखर्जी महोदयने विश्वविद्यालयके 'कैलास-छात्रा-निवास'की छात्राओंसे कहा—'देशके वर्तमान सामाजिक परिवर्तनके युगमें हमारी छात्राओके सामने एक ऐसा भीषण संघर्ष उपस्थित है, जो छात्रोके सामने उतने विकट रूपमें नहीं है। परिवारके वातावरणमे सिद्धान्तो एवं आदर्शोंकी जो धारा उन्हे प्राप्त होती है, उससे बिलकुल विरोधी धारा उन्हें विश्वविद्यालयकी सीमामे मिलती है। हमारी शिक्षित बालिकाओं एवं महिलाओके जीवनमे जो असामञ्जस्य एव विविध प्रकारकी स्नायविक विकृतियाँ पायी जाती हैं, उनका कारण यह संघर्ष ही है।

'इस युगकी महिलाओंके लिये घरमें उपयोगी काम-धंधेका क्षेत्र संकीर्ण होता जा रहा है और उसके फलस्वरूप उनमे इन दिनो आरामतलबी तथा निठल्लापन अधिक आ गया है, जिससे वे समाजकी दृष्टिमे अधिक उपयोगी होनेके बदले प्रत्यक्ष ही अकर्मण्य एवं क्षयग्रस्त हो गयी हैं। दूसरी ओर, गृहस्थोचित धार्मिक क्रियाकलाप, कथा-वार्ताका अभाव तथा व्रतों एवं त्यौहारोकी शृङ्खला विच्छिन्न हो जानेसे उनके अंदरकी वह निःस्वार्थ भक्ति, वह आत्मसंयम एवं उत्सर्गकी वे प्राचीन भावनाएँ नष्ट हो गयी हैं, जिनके आधारपर भारतीय नारीत्वका निर्माण हुआ था।

'बाजारू कहानियों, उपन्यास तथा सस्ते चल-चित्रो एवं चलते नाटकोके द्वारा भी प्रेमके वास्तविक स्वरूपको विकृत किया जा रहा है तथा यौन-सम्बन्धकी प्रच्छन्नता एवं पवित्रता नष्ट हो रही है। दाम्पत्यके धार्मिक बन्धनसे जीवनमे रसका स्रोत बहता था, यही भारतीय ऋषियोके ज्ञानका निदर्शन था; परंतु यूरोप एवं अमेरिकामें पारिवारिक जीवनका जो विघटनात्मक स्वरूप देखनेमें आता है, उसने कामके एक ऐसे कृत्रिम, अस्वाभाविक एवं स्वप्निल आदर्शकी सृष्टि की है, जिससे अत्यन्त प्राचीन भारतीय परम्परा एवं अनुभूति संकटापन्न हो गयी है।'

अन्तमे मुखर्जी महोदयने कहा—'विश्वविद्यालय एक ऐसा स्थान है, जहाँ जीवनके उच्च आदर्शोंका स्वीकार और पोषण किया जाता है। आधुनिक महाविद्यालयो एवं विश्वविद्यालयोमें शिक्षा प्राप्त करनेवाली कन्याओंके लिये यह आवश्यक है कि वे सिद्धान्तगत इन संघर्षोंको अपनी भारतीय शैलीसे दूर करें तथा अर्वाचीन सामाजिक ढाँचेमें प्राचीन एवं अर्वाचीन आदर्शोंके समन्वयसे अपने लिये जीवन-सरणियोंका निर्माण करें। गृह, विवाह एवं परिवारके विभिन्न आदर्शोंके सामञ्जस्य एवं समन्वयसे ही ठोस व्यक्तित्वकी सृष्टि हो सकती है और उसीसे हमारे महिला-समाजके भारतीय गार्हस्थ्य-जीवनकी सुख-शान्तिकी रक्षा सम्भव है।'

महात्मा लोग सभी सम्पदा, पद, सम्मान, मित्र और अपने समीपी व्यक्तियोको त्यागकर संसारकी किसी भी वस्तुको नहीं रखते। वे कठिनाईसे जीवन-धारणमात्रके लिये आवश्यक पदार्थोंको अङ्गीकार करते है और आवश्यकताके समय भी शरीरकी सेवा करनेमे दुखी होते है। सांसारिक दृष्टिसे तो वे बहुत दरिद्र होते है, किंतु सद्गुण और सदाचारमे बहुत धनी। बाह्यतः उनका जीवन अभावमय होता है, परंतु आन्तरिक जीवन सदाचरण और दैवी आश्वासनके कारण नित्य प्रसन्न होता है। वे इस पृथ्वीपर अपरिचित रहते है, परंतु भगवान्के अति निकट और परिचित मित्र। वे स्वयं अपनेको नगण्य समझते है, किंतु भगवान्की ऑखोमे अति प्रिय है।

भारतीय शिक्षाकी समुन्नतिके आधार क्या हों

[भारतके भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीमोरारजी भाईके साथ एक साक्षात्कार]

(श्रीमॉगीलालजी मिश्र)

शिक्षा चरित्र-निर्माणका मूल आधार है । इस संदर्भमे माननीय भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीमोरारजी भाईके साथ देशकी शैक्षणिक समस्याओके विषयमें विचार किया गया । यहाँ उसका सारांश प्रस्तुत है । आशा है, यह इस ओर कुछ मार्गदर्शन कर सकेगा ।

प्रश्न—तीन दशककी लम्बी अवधिमे भी स्वतन्त्र भारतको अपनी शिक्षाका लक्ष्य प्राप्त क्यों नहीं हुआ ? ऐसा लगता है, जैसे आज भी यहाँ ब्रिटिश-शिक्षा-प्रणालीकी ही परम्परा चालू है । इस विषयमे आपका अभिमत क्या है ?

उत्तर—वास्तविक भारतीय शिक्षाका लक्ष्य अभीतक देशमे प्राप्त नहीं हो पाया है; क्योंकि जिनके हाथमें आजतक कारोबार रहा, वे लोग अधिकतर अंग्रेजी-शिक्षा-पद्धतिसे प्रभावित रहे, जिससे भारतीय संस्कृतिके लिये गौरवका अनुभव न कर पाये । यहाँ मैकालेद्वारा प्रवर्तित शिक्षा-पद्धति चल रही है । इसे बदलना होगा और यह तभी बदली जा सकती है, जब शिक्षा देशकी अपनी भाषामे दी जाय ।

इसके अतिरिक्त शिक्षामे चारित्रिक गठनपर अधिक ध्यान दिया जाना आवश्यक है, जिससे देशमे चारित्रिक गुण और निर्भयता बढ़े । जबतक ऐसा नहीं किया जाता तबतक देशकी शिक्षा-पद्धतिका सुधार सम्भव नहीं है । महात्मा गाँधीने बुनियादी शिक्षापर जोर दिया था । वही सही ढंग है ।

प्रश्न—व्यवसायोन्मुखी शिक्षा—एक बहुचर्चित शब्द हो गया है । आज जब इंजीनियर, डॉक्टर और इसी प्रकारके अन्य तकनीकी व्यक्ति बेरोजगार और दिशाहीन भटक रहे हैं तो फिर व्यवसायोन्मुखी शिक्षाका क्या महत्त्व है ?

उत्तर—इंजीनियर, डॉक्टर और इसी प्रकारके अन्य तकनीकी व्यक्ति हमारे यहाँ जो निकल रहे हैं, वे अधिक सुविधापूर्ण जीवन चाहते हैं । वे हाथोंसे काम करना और स्वावलम्बी जीवन जीना कम चाहते हैं । अतः प्रायोगिक शिक्षा अधिक दी जानी चाहिये तथा स्वावलम्बनपर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये । ऐसा होनेपर यह समस्या सुलझ सकेगी ।

प्रश्न— छात्र-आन्दोलन, जो गत १५ वर्षोंसे लगातार भड़कता चला आ रहा है, शैक्षणिक कम तथा सामाजिक दूसरे शब्दोमे, राजनीति-मिश्रित अधिक रहा है, जैसे बिहार और गुजरातमें । ऐसा क्यो ?

उत्तर—छात्र-आन्दोलन भी छात्रोंका असंतोष बतलाता है । छात्रोका समय पूरा उपयोगी ज्ञानमे नहीं लगाया जाता, जिससे उन्हे पर्याप्त समय रहता है । इसीलिये उनके समयका अधिकतर उपयोग आन्दोलनोंमें होता है । अध्यापकोकी भी प्रायः यही दशा है । अध्यापक-छात्रका सम्बन्ध कम हो गया है । शिक्षा-संस्थाओका संचालन करनेवाले भी छात्रोके सम्पर्कमे कम रहते हैं । इसीलिये आन्दोलन बढ़ता है । विशेषकर अनुशासनपर ध्यान नहीं है । प्रमुख व्यक्तियोमे भी जब अनुशासनहीनता दिखायी देती है, तब छात्रोंपर उसका बुरा असर पड़ता है ।

प्रश्न—विधायक और सांसदके पदोके लिये न्यूनतम आयुकी तरह अधिकतम शिक्षाका प्रावधान क्यों नहीं ?

उत्तर—विधायक और सांसदके लिये न्यूनतम आयुकी आवश्यकता रखी गयी है, परंतु अधिकतम शिक्षाका प्रावधान आवश्यक नहीं । शिक्षित समझ सकते हैं और अशिक्षित नहीं—ऐसा मैं नहीं मानता । हमारे देशमे शिक्षित होना एक समस्या है । आज अशिक्षितका उतना दोष नहीं, जितना शिक्षितका है ।

प्रश्न—विधायक और सांसद सामान्य घटनाओपर स्थगनप्रस्ताव और 'वाक आउट' तथा लम्बी-चौड़ी बहस करते हैं, किंतु शिक्षा-विषयक बजट-प्रस्ताव तथा अन्य प्रसङ्गोपर औपचारिकताएँ पूरी करनेके सिवा कोई विशेष रुचि लेते नही देखे गये । इसका कारण अधिकतम सदस्योका अपेक्षित शिक्षित होना नहीं है या शिक्षाके

महत्त्वको स्वीकारा नहीं जा रहा है?

उत्तर—संसदमें और विधानसभाओमे अधिकतर सदस्य शिक्षित हैं। अशिक्षित 'न' के बराबर हैं, परंतु वे शिक्षापर अधिक ध्यान नहीं देते; क्योंकि उसमे दिलचस्पी नही है। हमारी शिक्षा-पद्धति गलत है। उसीका यह प्रभाव है। ठीक होनेपर यह कमी दूर हो जायगी।

प्रश्न—शिक्षाको लेकर अनेक कमीशन बैठाये गये, किंतु प्रायोगिक परिवर्तन शून्य-सा क्यो रहा?

उत्तर—शिक्षाको लेकर जो कमीशन बैठाये गये, उनकी संस्तुतिपर सही काम किया जाता तो अच्छा होता। जिनके हाथमे शासन रहा उन्हे इसकी आवश्यकताका अनुभव नहीं हुआ—यह ठीक नहीं हुआ, किंतु इन सबसे अधिक उत्तरदायी स्वयं शिक्षक हैं। शिक्षक भी वेतन, अवकाश आदिपर अधिक ध्यान देते हैं, जब कि शिक्षकको शिक्षाका स्वरूप बनाना चाहिये। पुस्तकसे जो शिक्षा दी जाती है, वह उतनी प्रभावी नहीं होती जितनी जीवनसे दी जानेवाली शिक्षा होती है।

शिक्षक समाजका अङ्ग है। कमी उसमे भी है। मन्त्री और अधिकारी भी समाजके अङ्ग हैं। समाजकी कमीसे वे भी अछूते नहीं, किंतु शिक्षकका स्थान ऊँचा है। उसे अपनी कमी दूर करनी होगी तभी समाजकी कमी दूर होगी। यह प्राथमिकता है। यदि इस तरह समझकर चला जाय तो सुधार अपेक्षाकृत शीघ्र होगा।

प्रश्न—शासकीय शिक्षा-संस्थाओका स्तर सार्वजनिक शिक्षा-संस्थाओसे बदतर है। इसका यह निष्कर्ष क्यो नहीं स्वीकारा जाता कि शिक्षा-संस्थाएँ आटोनोमस रहे—सीधे समाजके नियन्त्रणमें रहें?

उत्तर—शिक्षा-संस्थाओमे राज्यके हस्तक्षेपसे उनका स्वरूप बिगड़ता है, किंतु आज शिक्षक स्वयं शासकीय हस्तक्षेप चाहते हैं। यह उलटी बात है। इसका विरोध होना चाहिये। शिक्षा-संस्थाओका स्वायत्त रहना ही समाजके लिये हितकर और देशके लिये शुभ है।

प्रश्न—गत पाँच दशाब्दियोमे भारतमें शिक्षाक्षेत्रमे चार विभिन्न आदर्श प्रस्तुत हुए—(१) स्वामी दयानन्दका गुरुकुल-आदर्श, (२) रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी शान्ति-निकेतन-पद्धति, (३) मालवीयजीकी हिंदू-विश्वविद्यालय-प्रणाली और (४) गाँधीजीका गुजरात-विद्यापीठ-आदर्श। शासनने इनमेसे किसी एकको पूर्णतः क्यो नहीं स्वीकारा?

उत्तर—पिछली दशाब्दियोमे हमारे यहाँ जो चार आदर्श प्रस्तुत हुए, उनमे सबसे अधिक उपयोगी और भविष्यके लिये शुभकारी आदर्श मैं गाँधीजीके आदर्शको मानता हूँ, परंतु हमलोग कम हिम्मतवाले हैं, आदर्श ऊँचा तो रखते हैं, लेकिन उसी स्तरका व्यवहार नही रखते। हमे अपने व्यवहारको भी आदर्शकी तरह ऊँचा उठाना है और आदर्शके लिये परिश्रम भी अधिक करना है। तभी देशका कल्याण हो सकेगा।

प्रश्न—और अन्तमे भारतमे पब्लिक स्कूलोके विषयमें आपके क्या विचार हैं? क्या यह विघटनकारी प्रणाली नही है? क्या इसे चलते रहना चाहिये?

उत्तर—पब्लिक स्कूल न रहे—यह मेरा विचार है। सब स्कूल समान रहे। इस प्रकार समाजमें गलत वर्गीकरण होता है। खर्चीले स्कूलोमे कम बच्चे पढ़ते हैं, इसीलिये उनपर अधिक ध्यान दिया जाता है। इनमें छोटे-बड़ेकी भावना फैलती है। इसके विपरीत अगणित सामान्य शिक्षासंस्थाएँ हैं, जिनमे छात्रोपर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता, इससे अवमानना पैदा होती है। समाजमें सभीको समान शिक्षा मिलनी चाहिये। इसे एक कर्तव्यके रूपमे स्वीकार किया जाना चाहिये।

सारा प्रपञ्च छोड़कर भगवच्चरणोका ही सदा ध्यान करना चाहिये। प्रभुकी प्राप्तिमे सबसे बड़ा बाधक है अभिमान। प्रभुकी शरणमे जानेसे प्रभुका सारा बल प्राप्त हो जाता है, सारा भव-भय भाग जाता है। कलिकाल काँपने लगता है।

भारतीय संस्कृतिकी शिक्षा

(श्रीगुलजारीलालजी नन्दा)

देशकी दशा व्यापक रूपसे बहुत बडी संख्यामे लोगोको चिन्ताग्रस्त कर रही है। यदि यह थोड़ी-बहुत सामान्य होती और सम्पूर्ण भारतीय समाजपर इसका बहुत गम्भीर प्रभाव पड़नेकी आशङ्का न होती तो इन विचारो एवं भावोको व्यक्त करनेका अवसर न आता, जो मै अब व्यक्त करने जा रहा हूँ। मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि देशकी दशा भारतीय जीवनके बहुत-से बुनियादी स्तरोंपर तेजीसे गिरती जा रही है और वह सबको—धनी या गरीब, विशिष्ट या साधारण वर्गकी जनताको सर्वसाधारणतः प्रत्येकके जीवनको गम्भीर रूपसे प्रभावित कर रही है। जो कुछ भी हो रहा है वह या तो उन लोगोके स्वागतार्थ है, जो ऐसी दशामे अपनी स्वार्थ-सिद्धि करनेकी प्रतीक्षामे रहते है या जो इस ढंगका परिवर्तन लानेके पक्षमे रहते हैं जो कि भारतीय परम्परा और संस्कृतिके बिलकुल विपरीत है। उनके सामाजिक परिवर्तन लानेके विचार जैसा कि हमारे महान् सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक नेताओने सिखाया है और जो भारतवासियोंके ही नहीं अपितु वास्तवमे सारी मानव-जातिके हितमे हो सकता है, उसके विपरीत हैं। हमे यह स्वतः निर्णय लेना है कि क्या हम इस सामाजिक एवं नैतिक अराजकताको सहन करनेके लिये तैयार हैं? हमे यह भी निश्चय करना है कि देशमे किसी भी प्रकारके धार्मिक विश्वास, नैतिक मूल्यो या आध्यात्मिक उद्देश्योके न रहनेसे क्या कुछ अन्तर नहीं पड़ेगा?

आजकी जिस स्थिति और पथपर हम चल रहे हैं, जबतक किसी प्रकार हम उसे परिवर्तित नहीं करते, तबतक इसका अभिप्राय देशपर भौतिकवादी शक्तियो एवं अनीश्वरवादकी विजय कराना तथा देशको बीभत्स हिंसक वातावरणमे गिराना है। उसके उपायके लिये विविध तौर-तरीकोंके विषयमे विचार किया जा सकता है और उन्हे सुधारके रूपमे तथा विशेष गलतियोके निवारण-हेतु हाथमें लेना है, परंतु वे सभी इस चुनौतीका सामना नहीं कर सकते; क्योंकि हमारी अबतककी सभी गलतियोंके मूलमे, स्थितिको सुधारनेके हेतु, एक कारण है, जो स्थितिको सुधारनेके प्रयत्नमें बाधक है। वह कारणोंका कारण क्या है? यह कार्यके दो स्तरोंपर देखा जा सकता है। एक तो यह है कि सामाजिक एवं नैतिक जिम्मेदारियोकी भावनाओके व्यापक रूपसे नष्टप्राय हो जानेसे, क्या सही है और क्या गलत है—के विवेकके अभावसे, दूसरेके प्रति अपने कर्तव्योका पालन न करनेकी अन्तःप्रेरणाके न होनेसे। भारतके लोग जिस तरहकी बाते समझेंगे और प्रशंसा करेगे, हम उस तरह कह सकते है कि हममेसे बहुत धर्मके मार्गसे विलग हो गये है। इसका एक सरल परतु बहुत ही कार्यकारी कारण इस तथ्यपर आधारित है कि कई दशकोसे हमारे समाजने जीवनमें धर्मकी उपयोगितापर बल नहीं दिया है। न तो धर्म देशके कार्यक्रमो एवं कार्यकारी नीतियोमे स्थान ही रखता है, चाहे वे राज्यसे सम्बन्धित हो या लोगोंसे या इन बुराइयोकी उपजसे, जिसे हम आज प्राप्त कर रहे हैं। यह हमारी एक लम्बे समयसे की गयी उपेक्षाका कडवा फल है। धर्मसे मुख मोड़कर हम अपराधी बने और हमने भारतीय समाजकी भित्तिको बहुत बड़ी हानि पहुँचायी, परंतु यह अबतक ऐसी स्थितिमे नहीं हुआ है कि इसका सुधार न हो सके। इस संदर्भमें धर्मको अपने कर्तव्य-पालनके रूपमे लेना चाहिये। चाहे वह कहींका हो एवं उसकी जाति, मत या संगठन कुछ भी क्यो न हो, इस बातमे कि उसका अपना कर्तव्य है, एक सार्वजनिक मान्यता एवं स्वीकृति होनी चाहिये। साधारणतः समझा जाता है कि प्रत्येकको अपने माता-पितासे, अपने शिक्षकोसे एवं समाजके नेताओसे ऐसी शिक्षा प्राप्त है, पर वे सभी उसमे असफल रहे है तथा इसमें आश्चर्य क्या कि तब हम अपनेको एक कुरूप अवस्थामे पावे और हमे उसके भयावह परिणामोका सामना करना पड़े। इस क्षतिको पूरा करनेके लिये हमारे पास एक ही सहारा

है और वह है नैतिक शिक्षाका प्रचार करना ।

इस उपचारको उन बुराइयोकी मात्राके मापके अनुकूल होना चाहिये, जो बृहत् रूप धारण कर चुकी हैं और हमे बड़ी तेजीसे तत्काल कुछ कर डालनेकी प्रबल भावना रखकर इस कार्यमे संलग्न होना चाहिये । धर्म क्या है और लगातार नैतिकताकी अवहेलना करनेके क्या अवश्यम्भावी दुष्परिणाम हैं—इस विषयमे लोगोको समझाया जाय । उन लोगोको साधारणतः यह भलीप्रकार समझाया जाय कि जो लोग अनुचित तरीकोसे भौतिक लाभ उठा रहे हैं या जीवनमे बुरे साधनोद्वारा दूसरोको दबाकर स्वयं पनप रहे हैं या पड़ोसियोकी शान्ति एवं सुरक्षाको भंग कर रहे हैं, वे सभी परिणामतः अपने किये पापकी कमाईसे अपनी ही शान्ति एवं समृद्धिको खो देगे । अपनी आत्माका हनन कर वे अपने जीवनमे दुःखमय भविष्यकी ही आशा कर सकते हैं, अन्य कुछ नहीं । जब नैतिक मूल्योंकी अवहेलना समाजका सामान्य दृश्य बन जाता है, तब अनुशासनहीनता एवं हिंसाका बोलबाला हो जाता है, जैसा कि आज देशमे हो रहा है । इसके बावजूद भी जब लोग इस आगको बुझानेके लिये नहीं जागते, तब उन्हें एक ऐसी सामूहिक आगका सामना करना पड़ेगा जिसमे कुछ मूल्यवान् वस्तुओसे, जिनकी पूर्ण सुरक्षा देशको करनी चाहिये, हाथ धोना पड़ेगा । यदि शान्तिके सभी प्रयास समाजमे व्यवस्था लानेमें असफल सिद्ध हो जाते हैं तो समाजको अराजकता एवं हिंसात्मक क्रान्तिके लिये, जो अभी दृष्टिगत हो रही है, तैयार रहना चाहिये । यदि ऐसी क्षति आ गयी तो उन बुराई करनेवालोके, जिन्होने पापकी कमाईद्वारा धन कमाया है एवं स्वयंके लिये इकट्ठा किया है, हाथ क्या रह जायगा और उनके भाग्य एवं उनके बच्चे तथा सम्बन्धियोंका भविष्य क्या होगा ? और उस देशका क्या होगा, जिसमें वे रहते और पलते हैं ? सभी अच्छे विचार रखनेवाले व्यक्तियोको, जो अपनेको तथा इस देशको अन्धकारसे बचाना चाहते हैं, इस अभियानमें जो समाजके सभी वर्गोंतक एवं देशके सभी भागोमें चलाया जाय, भाग लेना चाहिये । धर्मका यह संदेश प्रत्येक स्थान एवं प्रत्येक घरतक पहुँचाया जाय ।

इस दुःखद घटनाक्रमको होनेसे बचानेके लिये यह निःसंदेह आवश्यक है कि भारतीय संस्कृतिकी मौलिक शिक्षाका अधिक-से-अधिक प्रचार हो । भारतवासियोको नैतिक एवं आध्यात्मिक परम्पराकी सुरक्षाके लिये एक शक्तिशाली नैतिक महाशक्ति तैयार करनमे कोई भी प्रयत्न एवं तरीके शेष न छोड़ने चाहिये ।

महात्मा गाँधी और राष्ट्रिय शिक्षा

(स्व० पं० श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी)

जिस शिक्षाका राष्ट्रिय जीवनसे निकट सम्बन्ध न हो उसे महात्मा गाँधी निरर्थक ही मानते थे । वे स्कूली शिक्षाको बहुत महत्त्व नहीं देते थे । एक बार महात्मा गाँधीके भतीजेके सुपुत्र अपनी बाल्यावस्थामे बापूके साथ पैदल चल रहे थे । अवसर पाकर उन्होंने कहा—'बापू ! दादी कहती हैं कि तू तो बेपढ़ा रह जायगा, देख तेरे साथी ऊँचे दर्जोंमे पढ़ रहे हैं । मैं दादीको क्या उत्तर दूँ ?'

गाँधीजीने उत्तर दिया—'तू दादीसे कह देना कि मैं तो बापूके स्कूलमे पढ़ रहा हूँ ।' बापू अपने उस पौत्रको एक ईमानदार सार्वजनिक कार्यकर्ता बनाना चाहते थे और वे यह भलीभाँति जानते थे कि इस देशको जितनी आवश्यकता ईमानदार कार्यकर्ताओकी है, उतनी डिग्रीधारी युवकोकी नहीं है ।

महात्मा गाँधी 'राष्ट्रिय शिक्षा' किसे कहते थे, इसपर प्रकाश डालनेसे पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि वे 'अन्तारष्ट्रिय शिक्षा' किसे कहते थे । 'गाँधी-विचार-दोहन'-मे इस विषयपर बड़ी स्पष्टतासे प्रकाश डाला गया है—

(१) ८०-८५ प्रतिशत लोगोके जीवनकी

आवश्यकताओपर विचार करनेके सिवा मुट्ठीभर लोगोकी अथवा राज्यसी कुछ विभागोंकी आवश्यकताओपर ध्यान देकर जो शिक्षा दी जाती है, उसे हम 'राष्ट्रिय शिक्षा' कदापि नहीं कह सकते ।

(२) ऐसी शिक्षाने शिक्षित और अशिक्षित लोगोके बीच गहरी खाई पैदा कर दी है तथा विद्वानोको लोगोके अगुआ, पथ-प्रदर्शक तथा प्रतिनिधि बनानेके बदले जनतासे अलग रखकर ऐसा बना दिया है कि न तो वे उनकी भावनाओको समझ सकते हैं और न उनका पक्ष उपस्थित करनेकी योग्यता ही रखते हैं ।

(३) इस शिक्षाने अपना महत्त्व बढ़ानेके लिये भव्य भावनाओ, महान् साधनो, प्रचुर पुस्तको, मृगतृष्णाकी तरह दूरसे लुभानेवाले लोगोंकी आशाओ और तड़क-भड़क आदिका बड़ा आडम्बर रचकर लोगोको ऋणमे डुबो दिया है ।

(४) इस शिक्षाने कितने ही संशय पैदा कर दिये हैं, जैसे अक्षरज्ञान अर्थात् पुस्तकीय शिक्षा तथा अन्य शिक्षा दोनों एक ही वस्तु है । पुस्तकीय शिक्षाके बिना कोई शिक्षा बन ही नहीं सकती । लोगोमे यह भी संदेह पैदा हो गया है कि बिना किसी शिक्षित मनुष्यके मजदूरोंका जीवन बिताना और अपने हाथसे काम करना अपनी शिक्षाको लज्जित करना है । यह भी इस शिक्षाका एक भारी दोष है ।

(५) इस शिक्षाने लोगोंको धर्मसे विमुख कर दिया है और धर्म तथा संयमके उन संस्कारोको, जो सदियोसे संगृहीत थे, मिटानेका ही काम किया है ।

(६) ईश्वर, गुरु, बड़े-बूढ़ोकी प्रतिष्ठा, नैतिक जीवन बितानेके लिये आग्रह और संयम तथा तपमे श्रद्धा—इन विषयोंपर इस शिक्षाने पढ़े-लिखोको शङ्काशील और नास्तिक बना दिया है ।

(७) इस शिक्षाने भोग तथा सम्पत्तिमे ही श्रद्धा उत्पन्न कर दी है । बापूके इन कथनोसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे राष्ट्रके लिये किस प्रकारकी शिक्षाको हानिकारक मानते थे ।

अब संक्षेपमे उनके 'राष्ट्रिय शिक्षा' -विषयक विचारोको देखिये—

भारतकी राष्ट्रिय शिक्षाकी रचनाकी नींव इस आधारपर रखनी चाहिये कि भारतके ८०-८५ प्रतिशत लोग किस प्रकारका जीवन व्यतीत करते हैं । चूँकि हमारे देशके ८०-८५ प्रतिशत लोग प्रत्यक्ष या अपरोक्षरूपसे खेतीपर जीविका चलाते हैं, इसलिये उनकी शिक्षा इस दृष्टिसे ही होनी चाहिये कि वे अच्छे किसान बन सकें और खेतीसे जुड़े हुए धंधोका ज्ञान प्राप्त कर सकें । महात्मा गाँधीकी यह राय थी कि शिक्षाके फलस्वरूप जीविकाका प्रश्न हल हो जाना चाहिये, इसलिये औद्योगिक शिक्षा हमारी शिक्षाका प्रधान अङ्ग होना चाहिये । ऐसी शिक्षा या तो खेतोमें या देहातमे ही दी जा सकती है, कस्बों या शहरोमे नहीं ।

उनका मत था कि लिखने-पढ़नेका ज्ञान न होते हुए भी मनुष्य गिनती सीख सकता है, अपने उद्योग-धंधोंका प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है, साहित्य समझ सकता है, सुन सकता है और कण्ठस्थ भी कर सकता है । शिक्षापर जो अनाप-शनाप खर्च किया जाता है, महात्मा गाँधी उसे फिजूलखर्च ही मानते थे । हमारे सैकड़ों शिक्षित मनुष्योका ज्ञान-भण्डार इतना थोड़ा होता है कि उतनी शिक्षा लोगोंको मौखिक दे देनेमे बहुत कम समय लगेगा ।

महात्मा गाँधी कहते थे कि शिक्षाको थोड़ेसे वर्षोंमें पूरा कर लेनेका मोह हमे छोड़ देना चाहिये । उद्योग करते हुए और आजीविका प्राप्त करते-करते भी यह शिक्षा जीवनभर चल सकती है । बापू शिक्षामें पुस्तकोपर कम-से-कम आधार रखना चाहते थे । वे यह नहीं कहते थे कि पुस्तके रहे ही नही, अपितु वाचनकी अपेक्षा श्रवण, दर्शन और क्रियाको वे अधिक महत्त्व देते थे ।

बालकोंको शिक्षा

(श्रीरामचन्द्रजी शास्त्री 'विद्यालंकार')

माता और पिताकी सेवा करना परम धर्म मानो,
सिद्धि इसीसे तुम्हे मिलेगी, जीवनमे यह सच जानो।
कहो न चुभती बात किसीको, कभी न जीव सताओ तुम,
कभी न रूठो, कभी न अकड़ो, जीवन सरल बनाओ तुम ॥ १ ॥

ल्यौरीका[1]-सा निज स्वभाव मत होने देना जीवनमे,
नटखट मत बनना, रखना गुरु-ईश्वर-देश-भक्ति मनमे।
केवट बनना भारत-नौके, शुभ सच्ची धुनके होना,
बातों या गप्पोमे अपना व्यर्थ न पल भी तुम खोना ॥ २ ॥

लड़को ! आपसमे मत लड़ना, दुर्व्यसनोसे रहना दूर,
कर्मठ, उत्साही, मृदुभाषी, बनना सभ्य, सुजन अरु शूर।
अंकुशमे अपने पूज्योके रहकर व्यवहारज्ञ बनो,
कला, ज्ञान, विज्ञान, नीति, सत्-शिक्षाके मर्मज्ञ बनो ॥ ३ ॥

गीत, नाच, फैशन, बहुव्ययसे बचो, ग्राह्य सब गुण ले लो,
ताश तथा चौपड़, चरभर, शतरंज वगैरह मत खेलो।
प्रेम, सत्य, औदार्य, शीलता, दया, धैर्य अपनाओ तुम,
सच्चरित्र, निर्भीक, मनस्वी, धर्मात्मा बन जाओ तुम ॥ ४ ॥

गो द्विज-देश-जाति-रक्षक बन करना अपना उज्ज्वल नाम,
रत्न देशके कहलाओ तुम, ऐसे ऊँचे करना काम।
खलकी संगति कभी न करना, सज्जन-संगतिमे रहना,
पुत्र कहा कर भारत माँके, इसकी अपकृति मत सहना ॥ ५ ॥

रच सत्काव्य समाज-हृदयमे भरना तुम नित नूतन भाव,
कीट-समान न जीना जगमे, गुण-संग्रहमें रखना चाव।
शिक्षाहीन दीन-दुखियोको शिक्षित कर दुख हरना तुम,
क्षान्तिमान बन इस भारतको लड़को ! सुखिया करना तुम ॥ ६ ॥

---

१. भेडिया ।

सच्ची सीख

सच्ची सीख

रविशंकर महाराज एक गाँवमें सवा सौ मन गुड़ बाँट रहे थे। जब वे एक लड़कीको गुड़ देने लगे, तब उसने इन्कार करते हुए कहा—'मैं नहीं लूँगी।'

'क्यो ?'—महाराजने पूछा।

'मुझे शिक्षा मिली है कि यों मुफ्त नहीं लेना चाहिये।'

'तो कैसे लेना चाहिये ?'

'ईश्वरने दो हाथ तथा पैर दिये हैं और उनके बीचमें पेट दिया है। इसलिये मुफ्त कुछ भी नहीं लेना चाहिये। यह तो आप मुफ्त दे रहे हैं, जो मजदूरीसे मिले वही लेना चाहिये।'

महाराजको आश्चर्य हुआ। इसे ऐसी शिक्षा देनेवाला कौन है, यह जाननेके लिये उन्होने पूछा—'तुझे यह सीख किसने दी ?'

'मेरी माँने।'

महाराज उसकी माँके पास गये और पूछा—'तुमने लडकीको यह सीख कैसे दी ?'

'क्यो महाराज ? मैंने इसमे नयी बात क्या कही ? भगवान्ने जब हाथ-पैर दिये हैं, तब मुफ्त क्यो लेना चाहिये ?'

'तुमने धर्मशास्त्र पढ़े हैं ?'

'ना'

'तुम्हारी आजीविका किस प्रकार चलती है ?'

'भगवान् सिरपर बैठा है। मैं लकड़ी काट लाती हूँ और उससे अनाज मिल जाता है। लड़की राँध लेती है। यो मजदूरीसे हमारा गुजारा सुख-संतोषके साथ निभ रहा है।'

'तो इस लड़कीके पिताजी······ ।'

वह बहन उदास हो गयी और कुछ देर ठहरकर बोली—'लड़कीके पिता थोड़ी आयु लेकर आये थे। वे जवानीमे ही हमे अकेले छोड़कर चले गये। यद्यपि वे लगभग तीस बीघे जमीन और दो बैल छोड़ गये थे, तथापि मैंने विचार किया कि इस सम्पत्तिमें मेरा क्या लेना-देना है, मैं कब इसके लिये पसीना बहाने गयी थी ? अथवा यदि मैं वृद्ध होती या अपंग अथवा अशक्त होती तो अपने लिये सम्पत्तिका उपयोग भी करती, परंतु ऐसी तो मैं हूँ नहीं। मेरे मनमे आया कि मैं इस सम्पत्तिका क्या करूँ ? तब भगवान्ने ही मुझे यह सुझाव दिया कि 'यदि यह सम्पत्ति गाँवके किसी भलाईके काममे लगा दी जाय तो बहुत अच्छा हो।' मैं सोचने लगी कि ऐसा कौन-सा कार्य हो सकता है ? तत्पश्चात् मेरी समझमे यह आया कि इस गाँवमे जलका बहुत कष्ट है, इसलिये कुँआ बनवा दूँ। मैंने सम्पत्ति बेच दी और उससे मिली हुई रकम एक सेठको सौंपकर उनसे कहा कि आप इन पैसोसे एक कुँआ बनवा दे। सेठ भले आदमी थे। उन्होने परिश्रम और कोर-कसर करके कुएँके साथ ही उसी रकममेसे पशुओके जल पीनेके लिये हौज भी बनवा दी।'

इस प्रकार उस बहनने पतिकी सम्पत्तिका हक छोड़कर उसका सद्व्यय किया। उसे नहीं तो उसके हृदयको तो इतनी शिक्षा अवश्य मिली होगी कि 'मैं जो पतिको ब्याही गयी हूँ सो सम्पत्तिके लिये नही, अपितु ईश्वरकी—सत्यकी प्राप्तिके मार्गमे आगे बढ़नेके लिये ब्याही गयी हूँ।' इस प्रकार त्याग, न्याय, परोपकारकी समझ तथा संस्कारसे बढ़कर और कौन-सी शिक्षा हो सकती है ?

सत्यं शिवं सुन्दरम्

एथेनियन कवि एगोथनने एक बार अपने यहाँ एक विशाल भोजका आयोजन किया था। इस व्यक्तिको ग्रीक थियेटरमे प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था, उसी प्रसन्नताके उपलक्ष्यमे इसने अपने परम विद्वान् दार्शनिक मित्रोंको आमन्त्रित किया था। समागत मित्रोंने मनोरञ्जनके लिये वार्तालापका विषय रखा 'प्रेम' और उसपर सबने अपना मन्तव्य प्रकाशित करना आरम्भ किया।

फेडरसने कहा—'प्रेम देवताओका भी देवता तथा सबका अग्रणी है। यह उनमे सर्वाधिक शक्तिशाली है। यह वह वस्तु है, जो एक साधारण मनुष्यको वीरके रूपमे परिणत कर देती है; क्योंकि प्रेमी अपने प्रेमास्पदके सामने अपनेको कायरके रूपमें प्रदर्शित करनेमे लज्जाका अनुभव करता है। वह तो अपना शौर्य प्रदर्शितकर अपनेको शूरतम ही सिद्ध करना चाहता है। यदि मुझे एक ऐसी सेना दी जाय, जिसमे केवल प्रेमी-ही-प्रेमी रहें तो मैं निश्चय ही विश्व-विजय कर लूँ।'

पासनियस बोला—'बात बिलकुल ठीक है, तथापि आपको पार्थिव प्रेम तथा दिव्य ईश्वर-प्रेमका पार्थक्य तो स्वीकार करना ही होगा। सामान्य प्रेम—चमड़ियोके सौन्दर्यपर लुब्ध मनकी यह दशा होती है कि यौवनका अन्त होते-न-होते उसके पंख जम जाते हैं और वह उड़ जाता—छूमतर हो जाता है। पर परमात्म-प्रीति— भगवत्प्रेम सनातन होता है और उसकी गति निरन्तर विकासोन्मुख ही रहती है।'

अब विनोदी कवि अरिस्टोफेन्सकी पारी आयी। उसने प्रेमपर कुछ नवीन सिद्धान्तोका आविष्कार कर रखा था। उसने कहना आरम्भ किया—'प्राचीन युगमे नर-मादोका एकत्र एक ही विग्रहमे समन्वय था। उसका स्वरूप गेद-जैसा गोल था, जिसके चार हाथ, चार पैर तथा दो मुँह होते थे। इस जगत्‌की शक्ति तथा गति बड़ी तीव्र तथा भयंकर थी। साथ ही इनकी उमंग भी अपार थी। ये देवताओपर विजय पानेके लिये आतुर हो रहे थे। इसी बीच जियस (ग्रीस देशके सर्वश्रेष्ठ देवता ईश्वर) ने इनके दो विभाग इसलिये कर दिये, जिसमे उनकी शक्ति आधी ही रह जाय। तभीसे स्त्री-पुरुषका विभाजन हुआ। ये दोनो शक्तियाँ आज भी पुनर्मिलनके लिये आतुर दीखती हैं। इस आतुरताको ही हम 'प्रेम' शब्दसे पुकारते हैं।'

अब सभी अतिथियोने सुकरातसे इस विषयपर अपना मन्तव्य प्रकाशित करनेकी प्रार्थना की। उसने इन वक्ताओके सामने ऐसे प्रश्न उपस्थित किये कि ये लोग सर्वथा निरुत्तर हो गये। अन्तमे सुकरातने अपने सिद्धान्तको प्रकाशित करते हुए कहा—'प्रेम ईश्वरीय सौन्दर्यकी भूख है। प्रेमी प्रेमके द्वारा अमृतत्वकी ओर अग्रसर होता है। विद्या, पुण्य, यश, उत्साह, शौर्य, न्याय, विश्वास और श्रद्धा—ये सभी उस सौन्दर्यके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। यदि एक शब्दमे कहा जाय तो आत्मिक सौन्दर्य ही परम सत्य है और सत्य वह मार्ग है, जो सीधे परमेश्वरतक पहुँचा देता है।'

सुकरातके इस कथनका प्लेटोपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसी दिनसे उसका शिष्य हो गया। यही प्लेटो आगे चलकर यूनानके सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकोमे परिगणित हुआ।

लक्ष्यके प्रति एकाग्रता

द्रोणाचार्य पाण्डव एव कौरव राजकुमारोको अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा दे रहे थे। बीच-बीचमे आचार्य अपने शिष्योके हस्तलाघव, लक्ष्यवेध, शस्त्र-चालनकी परीक्षा भी लेते रहते थे। एक बार उन्होने एक लकड़ीका पक्षी बनवाकर एक सघन वृक्षकी ऊँची डालपर रखवा दिया। राजकुमारोसे कहा गया कि उस पक्षीके बाये नेत्रमे उन्हे बाण मारना है। सबसे बड़े राजकुमार युधिष्ठिरने धनुष उठाकर उसपर बाण चढ़ाया। इसी समय आचार्यने उनसे पूछा—'तुम क्या देख रहे हो?'

युधिष्ठिर सहजभावसे बोले—'मै वृक्षको, आपको तथा अपने सभी भाइयोको देख रहा हूँ।'

आचार्यने आज्ञा दी—'तुम धनुष रख दो।'

युधिष्ठिरने चुपचाप धनुष रख दिया। अब दुर्योधन उठे, बाण चढ़ाते ही उनसे भी आचार्यने वही प्रश्न किया। दुर्योधनने कहा— 'मैं सभी कुछ तो देख रहा हूँ। इसमें पूछनेकी क्या बात है?'

उन्हें भी धनुष रख देनेका आदेश हुआ। इसी प्रकार पारी-पारीसे सभी पाण्डव एवं कौरव राजकुमार उठे। सबने धनुष चढ़ाया। सबसे वही प्रश्न आचार्यने किया। सबने लगभग एक ही उत्तर दिया। आचार्यने सबको बिना बाण चलाये धनुष रख देनेकी आज्ञा दे दी। सबके अन्तमें आचार्यकी आज्ञासे अर्जुन उठे और उन्होंने धनुषपर बाण चढ़ाया। उनसे भी आचार्यने पूछा—'तुम क्या देख रहे हो?'

अर्जुनने उत्तर दिया—'मैं केवल यह वृक्ष देख रहा हूँ।'

आचार्यने फिर पूछा—'मुझे और अपने भाइयोंको तुम नहीं देखते हो क्या?'

अर्जुन—'इस समय तो मै आपमेसे किसीको नहीं देख रहा हूँ।'

आचार्य—'इस वृक्षको तो तुम पूरा देखते हो न?'

अर्जुन—'पूरा वृक्ष मुझे अब नहीं दीखता। मैं तो केवल वह डाल देख रहा हूँ जिसपर पक्षी है'।

आचार्य—'कितनी बड़ी है वह शाखा'?

अर्जुन—'मुझे अब यह पता नहीं, मैं तो मात्र पक्षीको ही देख रहा हूँ'।

आचार्य—'क्या तुम्हें दीख रहा है कि पक्षीका रंग कैसा है'?

अर्जुन—'पक्षीका रंग भी मुझे नहीं दीखता। अब मुझे केवल उसका वाम नेत्र दीख रहा है और वह नेत्र काले रंगका है।'

आचार्य—'ठीक है। तुम्हीं लक्ष्यवेध कर सकते हो। बाण छोड़ो।' अर्जुनके बाण छोड़नेपर पक्षी उस शाखासे नीचे गिर पड़ा। अर्जुनके द्वारा छोड़ा गया बाण उसके बायें नेत्रमे चुभ गया था।

आचार्यने अपने शिष्योंको समझाया—'जबतक लक्ष्यपर दृष्टि इतनी स्थिर न हो कि लक्ष्यके अतिरिक्त दूसरा कुछ दीखे ही नहीं, तबतक लक्ष्यवेध ठीक नहीं होता। इसी प्रकार जीवनमे जबतक लक्ष्य-प्राप्तिमें पूरी एकाग्रता न हो, तबतक सफलतामे संदिग्ध ही रहता है।'

(महाभारत, आदि० १३५-१३६)

बड़ोंके सम्मानका शुभ फल

कुरुक्षेत्रके मैदानमें कौरव-पाण्डव दोनो दल युद्धके लिये एकत्र हो गये थे। सेनाओंकी व्यूह-रचना हो चुकी थी। वीरोंके धनुष चढ़ चुके थे। युद्ध प्रारम्भ होनेमें क्षणोंकी ही देर जान पडती थी। सहसा धर्मराज युधिष्ठिरने अपना कवच उतारकर रथमे रख दिया और अस्त्र-शस्त्र भी रख दिये तथा वे रथसे उतरकर पैदल ही कौरव-सेनामें भीष्मपितामहकी ओर चल पड़े।

बड़े भाईको इस प्रकार शस्त्रहीन पैदल शत्रु-सेनाकी ओर जाते देखकर अर्जुन, भीमसेन, नकुल और सहदेव भी अपने रथोंसे उतर पड़े। वे लोग युधिष्ठिरके पास पहुँचे और उनके पीछे-पीछे चलने लगे। श्रीकृष्णचन्द्र भी पाण्डवोंके साथ ही चल रहे थे। भीमसेन, अर्जुन आदि बड़े चिन्तित हो रहे थे। वे पूछने लगे—'महाराज! आप यह क्या कर रहे हैं?' युधिष्ठिरने किसीको कोई उत्तर नहीं दिया। श्रीकृष्णचन्द्रने भी सबको शान्त रहनेका संकेत करके कहा—'धर्मात्मा युधिष्ठिर सदा धर्मका ही आचरण करते हैं। इस समय भी वे धर्माचरणमें ही संलग्न हैं।'

उधर कौरव-दलमे बड़ा कोलाहल मच गया। लोग कह रहे थे—'युधिष्ठिर डरपोक हैं। वे हमारी सेनाको देखकर डर गये हैं और भीष्मकी शरणमे आ रहे हैं?' कुछ लोग यह सदेह भी करने लगे कि सम्भवतः पितामह भीष्मको अपनी ओर फोड़ लेनेकी यह कोई चाल है। सैनिक प्रसन्नतापूर्वक कौरवोंकी प्रशंसा करने लगे।

युधिष्ठिर सीधे भीष्मपितामहके समीप पहुँचे और उन्हे प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—'पितामह ! हमलोग आपके साथ युद्ध करनेके लिये विवश हो गये हैं । इसके लिये आप हमें आज्ञा और आशीर्वाद दे ।'

भीष्म बोले—'भरतश्रेष्ठ ! यदि तुम इस प्रकार आकर मुझसे युद्धकी अनुमति न माँगते तो मैं तुम्हे अवश्य पराजयका शाप दे देता । अब मैं तुमपर प्रसन्न हूँ । तुम विजय प्राप्त करो । जाओ, युद्ध करो । तुम मुझसे वरदान माँगो । पार्थ ! मनुष्य धनका दास है, धन किसीका दास नहीं । मुझे धनके द्वारा कौरवोने अपने वशमे कर रखा है, इसीसे मैं नपुंसकोकी भाँति कहता हूँ कि अपने पक्षमे युद्ध करनेके अतिरिक्त तुम मुझसे जो चाहो, वह माँग लो; किंतु युद्ध तो मैं कौरवोके पक्षसे ही करूँगा ।'

युधिष्ठिरने पूछा—'आप अजेय हैं, फिर आपको हमलोग संग्राममे किस प्रकार जीत सकते हैं ?'

पितामहने उन्हे दूसरे समय आकर यह बात पूछनेको कहा । वहाँसे धर्मराज द्रोणाचार्यके पास पहुँचे और उन्हे प्रणाम करके उनसे भी युद्धके लिये अनुमति माँगी । आचार्य द्रोणने भी वही बाते कहकर आशीर्वाद दिया, परंतु जब युधिष्ठिरने उनसे उनकी पराजयका उपाय पूछा, तब आचार्यने स्पष्ट बता दिया—'मेरे हाथमे शस्त्र रहते मुझे कोई मार नहीं सकता, परंतु मेरा स्वभाव है कि किसी विश्वसनीय व्यक्तिके मुखसे युद्धमे कोई अप्रिय समाचार सुननेपर मैं धनुष रखकर ध्यानस्थ हो जाता हूँ । उस समय मुझे मारा जा सकता है ।'

युधिष्ठिर द्रोणाचार्यको प्रणाम करके कृपाचार्यके पास पहुँचे । उनको प्रणाम करके युद्धकी अनुमति माँगनेपर कृपाचार्यने भी भीष्मपितामहके समान ही सब बाते कहकर आशीर्वाद दिया, किंतु अपने उन कुलगुरुसे युधिष्ठिर उनकी मृत्युका उपाय पूछ न सके । यह दारुण बात पूछते-पूछते दुःखके मारे वे अचेत हो गये । कृपाचार्यने उनका तात्पर्य समझ लिया था । वे बोले—'राजन् ! मैं अवध्य हूँ, किसीके द्वारा भी मैं मारा नही जा सकता, परंतु मैं वचन देता हूँ कि नित्य प्रातःकाल भगवान्से तुम्हारी विजयके लिये प्रार्थना करूँगा और युद्धमे तुम्हारी विजयका बाधक नहीं बनूँगा ।'

इसके पश्चात् युधिष्ठिर मामा शल्यके पास प्रणाम करने पहुँचे । शल्यने भी पितामह भीष्मकी बाते ही दुहराकर उन्हे आशीष् दी, साथ ही यह वचन भी दिया कि 'युद्धमे अपने निष्ठुर वचनोद्वारा मै कर्णको हतोत्साह करता रहूँगा ।'

गुरुजनोको प्रणाम करके उनकी अनुमति और विजयका आशीर्वाद लेकर युधिष्ठिर भाइयोके साथ अपनी सेनामे लौट आये । उनकी इस विनम्रताने भीष्म, द्रोण आदिके हृदयमे उनके लिये ऐसी सहानुभूति उत्पन्न कर दी, जिसके बिना पाण्डवोकी विजय अत्यन्त दुष्कर थी ।—(महाभारत, भीष्म० ४३)

शुकदेवजीका वैराग्य

एक बार व्यासजीके मनमे ब्याहकी अभिलाषा हुई । उन्होने जाबालि मुनिसे कन्या माँगी । जाबालिने अपनी चेटिका नामकी कन्या उन्हे दे दी । चेटिकाका दूसरा नाम पिङ्गला था । कुछ दिनोके बाद उसके गर्भमे शुकदेवजी आये । बारह वर्ष बीत गये, पर वे बाहर नही निकले । शुकदेवजीकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी । उन्होने सारे वेद, वेदाङ्ग, पुराण, धर्मशास्त्र और मोक्ष-शास्त्रोका वहीं श्रवण करके गर्भमे ही अभ्यास कर लिया । वहाँ आश्रममे यदि पाठ करनेमे कोई भूल होती तो शुकदेवजी गर्भमेसे ही डाँट देते । इधर माताको भी गर्भके बढ़नेसे बड़ी पीडा हो रही थी । यह सब देखकर व्यासजी बडे विस्मित हुए । उन्होने गर्भस्थ बालकसे पूछा—'तुम कौन हो ?'

शुकदेवजीने कहा—'जो चौरासी लाख योनियाँ बतायी गयी हैं, उन सबमे मै घूम चुका हूँ । ऐसी दशामे मैं क्या बताऊँ कि कौन हूँ ?'

व्यासजीने कहा—'तुम बाहर क्यो नही आते ?'

शुकदेव—'भयंकर संसारमे भटकते-भटकते मुझे बड़ा वैराग्य हो गया है । पर मैं जानता हूँ कि गर्भसे बाहर

आते ही वैष्णवी मायाके स्पर्शसे सारा ज्ञान-वैराग्य हवा हो जायगा । अतएव मेरा विचार इस बार गर्भमें रहकर ही योगाभ्यासमें तत्पर हो मोक्ष-सिद्धि करनेका है ।'

अन्तमें व्यासजीके द्वारा वैष्णवी मायाके स्पर्श न करनेका आश्वासन देनेपर वे किसी प्रकार गर्भसे बाहर तो आये, पर तुरंत ही वनके लिये चलने लगे । यह देखकर व्यासजी बोले—'बेटा ! मेरे घरमें ही ठहरो । मैं तुम्हारा जातकर्म आदि संस्कार तो कर दूँ ।' इसपर शुकदेवजीने कहा— 'अबतक जन्म-जन्मान्तरोंमें मेरे सैकड़ो संस्कार हो चुके हैं । उन बन्धनप्रद संस्कारोंने ही मुझे भवसागरमें भटका रखा है । अतएव अब मुझे उनसे कोई प्रयोजन नहीं है ।'

व्यासजी—'द्विजके बालकको पहले विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रममें रहकर वेदाध्ययन करना चाहिये । तदनन्तर उसे गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रममें प्रवेश करना चाहिये । इसके बाद ही वह मोक्षको प्राप्त होता है । अन्यथा पतन अवश्यम्भावी है ।'

शुकदेव—'यदि ब्रह्मचर्यसे मोक्ष होता हो तब तो नपुंसकोंको वह सदा ही प्राप्त रहता होगा, पर ऐसा नहीं दीखता । यदि गृहस्थाश्रम मोक्षका सहायक हो, तब तो सम्पूर्ण जगत् ही मुक्त हो जाय । यदि वानप्रस्थियोंको मोक्ष होने लगे, तब तो सभी मृग पहले मुक्त हो जायँ । यदि आपके विचारसे संन्यास-धर्मका पालन करनेवालोंको मोक्ष अवश्य मिलता हो, तब तो दरिद्रोंको पहले मोक्ष मिलना चाहिये ।'

व्यासजी—'मनुका कहना है कि सद्गृहस्थोंके लिये लोक-परलोक दोनों ही सुखद होते हैं । गृहस्थका समन्वयात्मक संग्रह सनातन सुखदायक होता है ।'

शुकदेव—'सम्भव है, दैवयोगसे कभी आग भी शीत उत्पन्न कर सके, चन्द्रमासे ताप निकलने लग जाय, पर परिग्रहसे कोई सुखी हो जाय—यह तो त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है ।'

व्यासजी—'बड़े पुण्योंसे मनुष्यका शरीर मिलता है । इसे पाकर यदि कोई गृहस्थधर्मका तत्त्व ठीक-ठीक समझ जाय तो उसे क्या नहीं मिल जाता ?'

शुकदेव—'जन्म होते ही मनुष्यका गर्भ-जनित ज्ञान-ध्यान सब भूल जाता है । ऐसी दशामें गार्हस्थ्यमें प्रवेश तथा उसमें लाभकी कल्पना तो केवल आकाशसे पुष्प तोड़नेके समान है ।'

व्यासजी—'मनुष्यका पुत्र हो या गधेका, जब वह धूलमें लिपटा, चञ्चलगतिसे चलना और तोतली वाणी बोलता है, तब उसका शब्द लोगोंके लिये अपार आनन्दप्रद होता है ।'

शुकदेव—'मुने ! धूलमें लोटते हुए अपवित्र शिशुसे सुख या संतोषकी प्राप्ति सर्वथा अज्ञानमूलक ही है । उसमें सुख माननेवाले सभी अज्ञानी हैं ।'

व्यासजी—'यमलोकमें एक महाभयंकर नरक है, जिसका नाम है—'पुम्' । पुत्रहीन मनुष्य वहीं जाता है । इसलिये पुत्रकी प्रशंसा की जाती है ।'

शुकदेव—'यदि पुत्रसे ही स्वर्गकी प्राप्ति हो जाती हो तो सूअर, कूकर और टिड्डियोंको यह विशेषरूपसे मिल सकता है ।'

व्यासजी—'पुत्रके दर्शनसे मनुष्य पितृ-ऋणसे और पौत्र-दर्शनसे देव-ऋणसे मुक्त हो जाता है और प्रपौत्रके दर्शनसे उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है ।'

शुकदेव—'गीध दीर्घजीवी होते हैं, वे सभी अपनी कई पीढ़ियोंको देखते हैं । उनकी दृष्टिमें पौत्र, प्रपौत्र तो सर्वथा नगण्य वस्तु हैं । पर पता नहीं, उनमेंसे अबतक कितनोंको मोक्ष मिला ?'

यों कहकर विरक्त शुकदेवजी वनमें चले गये । बादमें पुन. बुलाकर भगवान् व्यासने उन्हे भागवत पढ़ाया ।

(स्कन्दपु०नागरखण्ड पूर्वार्ध १५०, देवीभागवत, स्कन्ध १, अ० ४-५)

चार बातोंको याद रखो—बड़े-बूढ़ोंका आदर करना, छोटोंकी रक्षा और उनपर स्नेह करना, बुद्धिमानोंसे सलाह लेना और मूर्खोंके साथ कभी नहीं उलझना ।

पाप-कर्म

कर्म-फल

यज्ञमें धर्माधर्मकी शिक्षा

विदर्भदेशमें सत्य नामका एक दरिद्र ब्राह्मण रहता था। उसका विश्वास था कि देवताके लिये पशु-बलि देनी ही चाहिये, परंतु दरिद्र होनेके कारण न तो वह पशु-पालन कर सकता था और न बलिदानके लिये पशु खरीद ही सकता था। इसलिये वह कूष्माण्डादि फलोको ही पशु कल्पित करके उनका बलिदान देकर हिंसाप्रधान यज्ञ एवं पूजन करता था।

एक तो वह ब्राह्मण स्वयं सदाचारी, तपस्वी, त्यागी और धर्मात्मा था और दूसरे उसकी पत्नी सुशीला पतिव्रता तथा तपस्विनी थी। उस साध्वीको पतिका हिंसाप्रधान पूजन—यज्ञ सर्वथा अरुचिकर था, किंतु पतिकी प्रसन्नताके लिये वह उनका सम्भार अनिच्छापूर्वक करती थी। कोई धर्माचरणकी सच्ची इच्छा रखता हो और उससे अज्ञानवश कोई भूल होती हो तो उस भूलको स्वय देवता सुधार देते है। अत. उस तपस्वी ब्राह्मणसे हिंसापूर्ण संकल्पकी जो भूल हो रही थी, उसे सुधारनेके लिये धर्म स्वयं मृगका रूप धारण करके उसके पास आकर बोले—'तुम अङ्गहीन यज्ञ कर रहे हो। पशु-बलिका संकल्प करके केवल फलादिमे पशुकी कल्पना करनेसे पूरा फल नही होता। इसलिये तुम मेरा बलिदान करो।'

ब्राह्मण हिंसाप्रधान यज्ञ-पूजन तो करता था, पशु-बलिका सकल्प भी करता था, किंतु उसने कभी पशु-बलि नही की थी। अतः उसका कोमल हृदय मृगकी हत्या करनेको प्रस्तुत नही हुआ। ब्राह्मणने मृगको हृदयसे लगाकर कहा—'तुम्हारा मङ्गल हो, तुम शीघ्र यहाँसे चले जाओ।'

धर्म, जो मृग बनकर आये थे, ब्राह्मणसे बोले—'आप मेरा वध कीजिये। यज्ञमे मारे जानेसे मेरी सद्‌गति होगी और पशु-बलि करके आप भी स्वर्ग प्राप्त करेंगे। आप इस समय स्वर्गकी अप्सराओ तथा गन्धर्वोके विचित्र विमानोको देख सकते हैं।'

ब्राह्मण यह भूल गया कि मृगने छलसे वही तर्क दिया है, जो बलिदानके पक्षपाती दिया करते हैं। स्वर्गीय विमानो तथा अप्सराओको देखकर उसके मनमें स्वर्ग-प्राप्तिकी कामना तीव्र हो गयी। उसने मृगका बलिदान कर देनेका विचार किया।

अब मृगने कहा—'ब्रह्मन्! सचमुच क्या दूसरे प्राणीकी हिंसा करनेसे किसीका कल्याण सम्भव है?'

ब्राह्मणने सोचकर उत्तर दिया—'एकका अनिष्ट करके दूसरा कैसे अपना हित कर सकता है?'

अब मृग अपने वास्तविक रूपमे प्रकट हो गया। साक्षात् धर्मराजको सामने देखकर ब्राह्मण उनके चरणोपर गिर पड़ा। धर्मने कहा—'ब्रह्मन्! आपने यज्ञमे मृगको मार देनेकी इच्छा मात्र की, इसीसे आपकी तपस्याका बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया है। यज्ञ या पूजनमे पशु-हिंसा उचित नही है।' उसी समयसे ब्राह्मणने यज्ञ-पूजनमें पशु-बलिका संकल्प भी त्याग दिया।

(महाभारत, शान्ति० २७२)
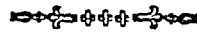
यह सच या वह सच?

मिथिला-नरेश महाराज जनक अपने राजभवनमे शयन कर रहे थे। निद्रामे उन्होने एक अद्‌भुत स्वप्न देखा—मिथिलापर किसी शत्रु नरेशने आक्रमण कर दिया है। उसकी अपार सेनाने नगरको घेर लिया है। उसके साथ तुमुल संग्राम छिड़ गया। मिथिलाकी सेना पराजित हो गयी। महाराज जनक बंदी हुए। विजयी शत्रुने आज्ञा दी—'मैं तुम्हारे प्राण नही लेता, किंतु अपने सब वस्त्राभरण उतार दो और इस राज्यसे निकल जाओ।' उस नरेशने घोषणा करा दी—'जनकको जो आश्रय या भोजन देगा, उसे प्राण-दण्ड दिया जायगा।'

राजा जनकने वस्त्राभूषण उतार दिये। वे केवल एक छोटा वस्त्र कटिमे लपेटे राजभवनसे निकल पडे।

पैदल ही उन्हे राज्य-सीमासे बाहरतक जाना पड़ा। प्राण-भयसे कोई उनसे बोलतातक न था। चलते-चलते पैरोमे छाले पड़ गये। वृक्षोंके नीचे बैठ जायँ या भूखे सो रहें, कोई अपने द्वारपर तो उनके खड़ा भी होने-मे डरता था। कई दिनोंतक अन्नका एक दाना भी उनके पेटमे नही गया।

जनकजी अब राजा न थे। बिखरे केश, धूलिसे धूसर शरीर, क्षुधा-पिपासासे अत्यन्त व्याकुल वे एक भिक्षुक-जैसे थे। राज्यसे बाहर एक नगर मिला। पता लगा कि वहाँ कोई अन्न-क्षेत्र है और उसमें भूखोको खिचडी दी जाती है। वड़ी आशासे जनक वहाँ पहुँचे, किंतु खिचड़ी बँट चुकी थी। अब बाँटनेवाला द्वार बंद करने जा रहा था। भूखसे चक्कर खाकर जनकजी बैठ गये और उनकी आँखोसे आँसू वहने लगे। अन्न बाँटनेवाले कर्मचारीको इनकी दशापर दया आ गयी। उसने कहा—'खिचड़ी तो है नहीं, किंतु बर्तनमे उसकी कुछ खुरचन लगी है। कहो तो वह तुम्हें दे दूँ। उसमें जल जानेकी गन्ध तो आ रही है।'

जनकजीको तो यही वरदान जान पड़ा। उन्होने दोनो हाथ फैला दिये। कर्मचारीने जली हुई खिचड़ीकी खुरचन उनके हाथपर रख दी, किंतु इसी समय एक चीलने झपट्टा मार दिया। उसके पंजे लगनेसे जनकका हाथ ऐसा हिला कि सारी खुरचन कीचडमे गिर पड़ी। मारे व्यथाके जनकजी चिल्ला पडे।

यहाँतक तो स्वप्न था, किंतु निद्रामें जनकजी सचमुच चिल्ला पड़े थे। चिल्लानेसे उनकी निद्रा तो टूट ही गयी। रानियाँ, सेवक-सेविकाएँ दौड़ आयीं उनके पास—'महाराजको क्या हो गया?'

महाराज जनक अब आँख फाड़-फाड़कर देखते हैं चारो ओर। वे अपने सुसज्जित शयन-कक्षमें स्वर्णरत्नोंके पलंगपर दुग्धफेन-सी कोमल शय्यापर लेटे हैं। उन्हे भूख तो है ही नहीं। रानियाँ पास खड़ी हैं। सेवक-सेविकाएँ सेवामे प्रस्तुत हैं। वे अब भी मिथला-नरेश हैं। यह सब देखकर जनकजी वोले—'यह सच या वह सच?'

रानियाँ चिन्तित हो गयीं। मन्त्रियोकी व्याकुलता बढ़ गयी। महाराज जनक, लगता था कि पागल हो गये। वे न किसीसे कुछ कहते थे, न किसीके प्रश्नका उत्तर देते थे। उनके सम्मुख जो भी जाता था, उससे वे एक ही प्रश्न करते थे—'यह सच या वह सच?'

चिकित्सक आये, मन्त्रज्ञ आये और भी न जाने कौन-कौन आये, किंतु महाराजकी दशामें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अचानक ही एक दिन ऋषि अष्टावक्रजी मिथिला पधारे। उन्होंने मन्त्रियोको आश्वासन दिया और वे महाराज जनकके समीप पहुँचे। जनकजीने उनसे भी वही प्रश्न किया। योगिराज अष्टावक्रजीने ध्यान करके प्रश्नके कारणका पता लगा लिया।

अष्टावक्रजीने पूछा—'महाराज! जव आप कटिमें एक वस्त्र-खण्ड लपेटे अन्न-क्षेत्रके द्वारपर भिक्षुकके वेशमें दोनों हाथ फैलाये खड़े थे और आपकी हथेलीपर खिचड़ीकी जली खुरचन रखी गयी थी, उस समय यह राजभवन, आपका यह राजवेश, ये रानियाँ, राजमन्त्री, सेवक-सेविकाएँ थीं?'

महाराज जनक अव बोले—'भगवन्! ये कोई उस समय नहीं थे। उस समय तो विपत्तिका मारा मैं एकाकी क्षुधित भिक्षुक मात्र था।'

अष्टावक्रजीने फिर पूछा—'और राजन्! जागनेपर जब आप इस राजवेशमे राजभवनमें पलंगपर आसीन थे, तब वह अन्नक्षेत्र, उसका वह कर्मचारी, आपका वह कंगाल-वेश, वह जली खिचड़ीकी खुरचन और आपकी वह क्षुधा थी?'

महाराज जनक—'भगवन्! बिलकुल नहीं, वह कुछ भी न था।'

अष्टावक्र—'राजन्! जो एक कालमें रहे और दूसरे कालमें न रहे, वह सत्य नहीं होता। आपके जाग्रत्मे इस समय वह स्वप्नकी अवस्था नहीं है, इसलिये वह सच नहीं और स्वप्नके समय यह अवस्था नहीं थी, इसलिये यह भी सच नहीं। न यह सच न वह सच।'

जनक—'भगवन्! तब सच क्या है?'

अष्टावक्र—'राजन्! जब आप भूखे अन्नक्षेत्रके

द्वारपर हाथ फैलाये खड़े थे, तब वहाँ आप तो थे न ?'

जनक—'भगवन्! मैं तो वहाँ था।'

अष्टावक्र—'और राजन्! इस राजभवनमे इस समय आप हैं?'

जनक—'भगवन्! मैं तो यहाँ हूँ।'

अष्टावक्र—'राजन्! जाग्रत्में, स्वप्नमें और सुषुप्ति साक्षीरूपमें भी आप रहते हैं। अवस्थाएँ बदलती हैं किंतु उनमें उन अवस्थाओंको देखनेवाले आप नह बदलते। आप तो उन सबमें रहते हैं। अत केवल आत्मा एवं परमात्मा ही सत्य है।'

विद्या गुरुसे अध्ययन करनेपर ही आती है

कनखलके समीप गङ्गा-किनारे थोड़ी दूरके अन्तरसे महर्षि भरद्वाज तथा महर्षि रैभ्यके आश्रम थे। दोनो महर्षि परस्पर घनिष्ठ मित्र थे। महर्षि रैभ्यके अर्वावसु और परावसु नामके दो पुत्र हुए। ये दोनो ही अपने पिताके समान शास्त्रोके गम्भीर विद्वान् हुए। महर्षि भरद्वाज तपस्वी थे। अध्ययन-अध्यापनमे उनकी रुचि नही थी। शास्त्रज्ञ न होनेके कारण उनकी ख्याति भी महर्षि रैभ्यकी अपेक्षा कम थी। उनके एक पुत्र थे यवक्रीत। पिताके समान यवक्रीत भी अध्ययनसे अलग ही रहे, परतु उन्हे समाजद्वारा अपने पिताकी उपेक्षा और महर्षि रैभ्य तथा उनके पुत्रोका सम्मान देखकर बडा दु:ख होता था। अन्तमे सोच-समझकर उन्होने वैदिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उग्र तप प्रारम्भ किया। वे पञ्चाग्नि तापते हुए प्रज्वलित अग्निसे अपना शरीर संतप्त करने लगे।

यवक्रीतका कठोर तप देखकर देवराज इन्द्र उनके पास आये और उनसे इस तपका कारण पूछने लगे। यवक्रीतने बताया—'गुरुके मुखसे वेदोकी सम्पूर्ण शिक्षा शीघ्र नही पायी जा सकती, इसलिये मैं तपके प्रभावसे ही सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ।'

इन्द्रने कहा—'आपने सर्वथा उल्टा मार्ग पकड रखा है। गुरुके पास जाकर अध्ययन कीजिये। इस प्रकार व्यर्थ आत्महत्या करनेसे क्या लाभ?'

इन्द्र तो चले गये, किंतु यवक्रीतने तपस्या नही छोडी। उन्होने और कठोर तप प्रारम्भ कर दिया। देवराज दया करके फिर पधारे और बोले—'ब्राह्मण! आपका यह उद्योग बुद्धिमत्तायुक्त नही है। किसीको गुरुमुखसे पढे बिना विद्या प्राप्त भी हो तो वह सफल नही होती। आप अपने दुराग्रहको छोड दे।'

जब देवराज यह आदेश देकर चले गये, तब यवक्रीत निश्चय किया कि मैं अपना अङ्ग-प्रत्यङ्ग काटकर अग्नि हवन कर दूँगा। उन्होने तपस्यासे ही विद्या पानेका आग्र रखा। उनका निश्चय जानकर देवराज इन्द्र अत्यन्त वृ एव रोगी ब्राह्मणका रूप धारण कर वहाँ आये और जह यवक्रीत गङ्गाजीमे स्नान किया करते थे, उसी स्थानप गङ्गाजीमे बालू डालने लगे।

यवक्रीत जब स्नान करने आये, तब उन्होने देखा कि एव दुर्बल वृद्ध ब्राह्मण अञ्जलिमे बालू लेकर बार-बार गङ्गा डाल रहा है। उन्होने पूछा—'विप्रवर! आप यह क्य कर रहे हैं?'

वृद्ध ब्राह्मणने उत्तर दिया—'लोगोको यहाँ गङ्गाके उ पार जानेमे बडा कष्ट होता है, इसलिये मैं गङ्गापर पुल बाँध देना चाहता हूँ।'

यवक्रीत बोले—'भगवन्! आप इस महाप्रवाहक बालूसे किसी प्रकार बाँध नही सकते। इसलिये इस असम्भव कार्यको छोड़कर जो कार्य हो सके, उसके लिये प्रयत्न कीजिये।'

अब वृद्धने घूमकर यवक्रीतकी ओर देखा औ कहा—'तुम जैसे तपस्याके द्वारा वैदिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, वैसे ही मैं भी यह कार्य कर रहा हूँ। तुम यदि असाध्यको साध्य कर सकोगे तो मैं क्यो नहीं क सकूँगा?'

ब्राह्मण कौन है, यह यवक्रीत समझ गये। उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—'देवराज! मैं अपनी भूल समझ गया आप मुझे क्षमा करें।'

(महाभारत, वन॰ १३५)

महर्षि पुलस्त्यकी सार्वजनीन शिक्षा

पद्मपुराणमे कथा आती है कि पितृभक्त भीष्मने तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये गङ्गाद्वार (हरिद्वार)मे तप किया था । उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माने अपने पुत्र पुलस्त्यको तत्त्व-ज्ञानकी शिक्षा देनेके लिये उनके पास भेजा । भीष्मकी अनेक जिज्ञासाएँ थीं, जिनकी पूर्ति पुलस्त्यने की ।

भीष्मपितामहने महर्षि पुलस्त्यसे पूछा—'ब्रह्मन्! जो सभी स्त्री-पुरुषोंके लिये उपयोगी कर्म हो, उन्हें बतलाइये ।' इसपर महर्षि पुलस्त्यने कहा—'मैं तुम्हे ऐसे पाँच आख्यान सुनाऊँगा, जिनमेसे एकका भी अनुष्ठान करके मनुष्य इस लोक और परलोकमें अभ्युदय प्राप्त कर सकता है, साथ ही वह मोक्षका भी भागी हो सकता है । वे आख्यान ये हैं—(१) माता-पिताकी पूजा, (२) पतिकी सेवा, (३) सबके प्रति समानता, (४) किसीसे द्रोह न करना और (५) विष्णुभगवान्‌की उपासना ।

(१) माता-पिताकी सेवा (महात्मा मूककी कथा)—महर्षि पुलस्त्यने इन पाँचोंको पञ्चमहायज्ञ माना है । उन्होंने बताया कि माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका प्रतीक है । इनकी सेवा करनेसे सम्पूर्ण धर्मोकी प्राप्ति हो जाती है । पुत्रके लिये माता-पिताकी सेवासे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है । पुत्र यदि माता-पिताकी सेवा छोड़कर तीर्थ या देवताओंकी सेवा करे तो उसे उसका फल नहीं मिलता । इस सम्बन्धमे एक इतिहास है—

पूर्वकालमे नरोत्तम नामका एक ब्राह्मण था । वह माता-पिताकी सेवा छोड़कर तीर्थाटन करने लगा । ब्राह्मण विधि-विधानसे तीर्थ-यात्रा कर रहा था । उससे कोई पाप नहीं हो रहा था । वह खान-पान, रहन-सहनमे नियन्त्रित था । इस पुण्यके प्रभावसे उसके कपड़े आकाशमे अपने-आप सूखा करते थे । यह देखकर ब्राह्मणके मनमें अहंभाव आ गया । वह सोचने लगा कि 'मेरे समान और कोई तपस्वी नहीं है ।' एक दिन वह अपने मुखसे अपनी प्रशंसा कर रहा था कि एक बगुलेने उसके मुँहपर बीट कर दी । ब्राह्मणको क्रोध आ गया और उसने बगुलेको शाप दे दिया । बेचारे बगुलेकी मृत्यु हो गयी । ब्राह्मणमें अब और मोहका संचार हो गया । वह समझने लगा कि मैं जिसे चाहूँगा, उसे भस्म कर दूँगा, किंतु उसका सोचना गलत था । इतनेमे आकाश-वाणी हुई—'ब्राह्मण! तुम परम धर्मात्मा मूक चाण्डालके पास जाओ । वहाँ जानेसे तुम्हे अपने कर्तव्यका बोध होगा ।' ब्राह्मण पूछता हुआ मूक चाण्डालके पास पहुँचा । उसने देखा कि मूक चाण्डालका घर बिना भित्तिके ही आकाशमें स्थित है और उस घरमें एक ब्राह्मण भी बैठा हुआ था । मूक चाण्डाल अपने माता-पिताकी सेवामे दत्तचित्त था । वह जाड़ेके दिनोंमें उनके लिये गर्म पानीका प्रबन्ध करता, गर्म-गर्म भोजनकी व्यवस्था रखता और रूईदार कपड़ोंको पहनाता था । इसी तरह गरमी और बरसातमे भी ऋतुके अनुसार भोजन और वस्त्रोंमे उनका पूरा-पूरा सम्मान करता था ।

ब्राह्मणने महात्मा मूकसे कहा—'तुम मेरे पास आओ और मेरे हितकी बात बताओ ।' मूक चाण्डालने उसका स्वागत किया और कहा—'आप मेरे अतिथि हैं । मैं आपका आतिथ्य अवश्य करूँगा । आप थोड़ी देर प्रतीक्षा करें । आप दरवाजेपर ठहर जाइये, क्योंकि मैं माता-पिताकी सेवामें लगा हूँ और यह मेरे लिये अतिथि-सेवासे बढ़कर कर्तव्य है ।'

यह सुनकर ब्राह्मणको क्रोध हो आया । वह बोला—'ब्राह्मणकी सेवासे बढकर तुम्हारे लिये और कौन सेवा हो सकती है? यदि मेरी उपेक्षा करोगे, तो मैं शाप दे दूँगा ।' महात्मा मूकने अनुनयपूर्वक कहा—'महाराज! मै बगुला नहीं हूँ कि आपके शापसे भस्म हो जाऊँगा । अब आपकी धोती आकाशमे नहीं सूखा करती । आप आकाशवाणी सुनकर मेरे घर आये हैं, थोड़ी देर ठहरें तो मैं आपकी सेवा अवश्य करूँगा । यदि शीघ्रता हो तो आप पतिव्रताके पास जायँ । उनसे आपको समुचित शिक्षा मिल सकेगी ।'

(२) पतिकी सेवा (शुभाकी कथा)—ब्राह्मण पतिव्रताके घरकी ओर चल पडा तो इसी बीच महात्मा मूकके घरमे स्थित ब्राह्मणरूपधारी भगवान् विष्णु बाहर

निकल आये और उस ब्राह्मणसे बोले कि ''चलो, मै पतिव्रताका घर बतला देता हूँ ।' ब्राह्मणने भगवान्‌से पूछा कि 'आप ब्राह्मण होकर उस चाण्डालके घरमे क्यो रहते है ? वहाँ तो स्त्रियाँ भी रहती हैं ?' भगवान्‌ने कहा—'ब्राह्मण ! इस समय तुम्हारा हृदय शुद्ध नहीं है । पीछे तुम मुझे पहचान सकोगे । पतिव्रता आदिके दर्शनके बाद ही यह योग्यता तुममें आयेगी !' ब्राह्मणने पूछा—'भगवन् ! वह पतिव्रता कौन है, जिसके पास हमलोग चल रहे है ?'

भगवान्‌ने कहा—'पतिव्रता स्त्री वह होती है जो निरन्तर अपने पतिकी सेवामे लगी रहती है । ऐसी पतिव्रता स्त्री अपने पिता और पतिके दोनो कुलोकी सौ-सौ पीढ़ियोका उद्धार कर देती है ।'

जब वे पतिव्रताके घरके पास पहुँचे, तब भगवान् सहसा अन्तर्धान हो गये । ब्राह्मणको बड़ा आश्चर्य हुआ । ब्राह्मणने पतिव्रताके दरवाजेपर आवाज लगायी । अतिथिकी बोली सुनकर पतिव्रता शीघ्रतापूर्वक घरसे बाहर निकली । उसने अतिथिका सम्मान किया । ब्राह्मणने कहा—'देवि ! आप अपनी समझके अनुसार मुझे मेरे हितकी शिक्षा दे ।' सतीने कहा—'आप मेरा आतिथ्य स्वीकार करे । इस समय मै पतिकी सेवामे हूँ । इससे अवकाश मिलनेपर आपकी सेवा करूँगी ।' ब्राह्मणने कहा—'इस समय मुझे भूख-प्यास नही है, अतः मुझे आतिथ्य नही स्वीकार करना है । मुझे तो मेरे हितकी बात बताओ, नहीं तो मै शाप दे दूँगा ।'

पतिव्रताने कहा—'ब्राह्मण ! मै वह बगुला नहीं हूँ कि आपके जलाये जल जाऊँगी, अतः आप शाप देनेका कष्ट न करे । यदि आपको जल्दी है तो आप तुलाधार वैश्यके पास जाइये ।' ऐसा निवेदन कर पतिव्रता अपने पतिकी सेवामे लग गयी । ब्राह्मणने पतिव्रताके घरमे भी चाण्डालके घरकी तरह उन्हीं विप्ररूपधारी भगवान्‌को देखा । उन्हे देखकर ब्राह्मण पतिव्रताके घरमे घुस गया । वहाँ उसे उसके पतिदेवके भी दर्शन हुए । ब्राह्मणने भगवान्‌से पूछा—'दूसरे देशमे मेरे ऊपर बीती हुई घटनाको इस पतिव्रताने कैसे बतला दिया ? चाण्डालने भी बता दिया था । ये लोग उस घटनाको कैसे जान गये ?'

भगवान्‌ने कहा—'अत्यन्त पुण्य और शुद्ध आचरण तीनो कालका ज्ञान हो जाता है । यह बताओ कि पतिव्रत तुमसे क्या कहा ?' ब्राह्मणने कहा—'पतिव्रताने तुलाध वैश्यके पास जानेको कहा है ।' भगवान्‌ने कहा कि 'चल हम तुम्हारे साथ चलते हैं ।' ब्राह्मणने तुलाधारके सम्बन्ध भगवान्‌से पूछा ।

(३) सबके प्रति समानता (तुलाधारकी कथा

—भगवान्‌ने कहा—'तुलाधार वाणिज्य-व्यवसायमे ल रहते हैं । उनकी विशेषता यह है कि वे सबमें भगवान् देखते हैं, अत. सबका सम्मान करते हैं । इसलिये उन कभी मन, वाणी या कर्मसे किसीका अहित नही हुआ । सबके उपकारमे सदा तत्पर रहते है । यह समताकी दृ उनमे अद्भुत है । दूसरी विशेषता यह है कि आजतक क वे झूठ नहीं बोले है । इसलिये सब लोग उन्हे धर्म तुलाध कहते है ।'

थोड़ी देरमे दोनो तुलाधारके पास पहुँचे, उन्हें बहुत-स स्त्रियो एवं पुरुषोने घेर रखा था । ब्राह्मणको वहाँ उपस्थि देखकर महात्मा तुलाधारने ब्राह्मणसे पूछा कि 'महाराज आपका पधारना कैसे हुआ ?' ब्राह्मणने कहा—'मै आप धर्मका उपदेश सुनने आया हूँ ।' महात्मा तुलाधार कहा—'मै राततक भीड़से निश्चिन्त नही हो पाऊँगा इसलिये आप धर्माकरके पास जाइये । वे आपको बगुले जलानेसे उत्पन्न दोष और आकाशमे धोती न सूखने रहस्यको बतायेगे ।' ब्राह्मण भगवान्‌के साथ धर्माकरके पा चल पड़ा । भगवान्‌ने उसे उसके घरतक पहुँचा दिया मार्गमे ब्राह्मणने भगवान्‌से पूछा कि 'जो प्रात.कालसे रातत जनताकी भीडमे पड़ा रहता है, वह तुलाधार न सध्या करत है, न तर्पण, अपना साधन-भजन भी पूरी तरह नहीं क पाता, फिर उसमे इतनी शक्ति कहाँसे आ गयी, जिससे उस मेरी बीती हुई घटनाओको देख लिया ?'

भगवान्‌ने बतलाया कि 'उसके पास सत्य और समत दो गुण हैं । वह प्रत्येक प्राणीमे भगवान्‌को देखता है औ उसकी सेवा करता रहता है । इस तरह तुलाधारने सत्य औ समताके द्वारा तीनों लोकोको जीत लिया है । इसीलिये देवता, ऋषि और पितर उसपर प्रसन्न रहते हैं और उसे दिव्य

दृष्टि मिल गयी है । जो किसी प्रकार समताकी दृष्टि अपनाता है, वह अपनी समस्त पीढ़ियोका उद्धार कर लेता है । समताके अपनानेसे इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह आदि गुण अपने-आप आ जाते है ।'

(४) किसीसे द्रोह न करना (धर्माकरकी कथा) —इसके बाद ब्राह्मणने धर्माकरके सम्बन्धमे जानना चाहा । उसने पूछा कि 'जिन धर्माकरके पास हम चल रहे है, उनमे क्या विशेषता है ?' भगवान्‌ने कहा—'उनकी सबसे वडी विशेषता यह है कि वे किसीसे द्रोह नहीं करते । अपने अपकारीका भी उपकार ही करते है । इसलिये उनका नाम ही अद्रोहक पड़ गया । अद्रोहकी साधनाके कारण उनमे समस्त गुण अपने-आप आ गये है । उनके-जैसा काम और क्रोधको जीतनेवाला व्यक्ति खोजनेपर भी नहीं मिलेगा । इस सम्बन्धमे मैं एक पिछली घटना सुनाता हूँ—

'एक राजकुमारको राज-काजसे छ. महीनेके लिये विदेश जाना था । उन्हे अपनी स्त्रीकी चिन्ता हो गयी कि इसे मैं कहाँ छोड जाऊँ कि यह पवित्र बनी रहे ? उन्हें धर्माकरपर विश्वास था । वे अपनी पत्नीको लेकर धर्माकरके पास पहुँचे । उनसे उन्होने अपनी पत्नीकी रक्षाका प्रस्ताव किया ।'

धर्माकरने कहा—'मैं न तो आपका भाई हूँ, न सगा-सबन्धी, फिर मेरे पास अपनी पत्नीको छोडकर विदेशमें आप कैसे निश्चिन्त रह सकते हैं ?' राजकुमारने कहा—'मेरा आपपर पूर्ण विश्वास है ।' धर्माकरने कहा—'आपकी पत्नी बहुत सुन्दरी है, अतः इनके सतीत्वकी रक्षा बहुत कठिन है, क्योंकि ऐसे मनुष्योकी कमी नहीं है, जो कामासक्त न हो । उनसे इनके सतीत्वकी रक्षा मैं कैसे कर सकता हूँ ?' राजकुमारने दृढ़तासे कहा—'जैसे भी हो, यह भार आप स्वीकार कर ले ।'

बेचारा धर्माकर धर्मसंकटमे पड गया । राजकुमारको धर्माकरपर पूरा विश्वास था । इसलिये उसने अपनी पत्नीसे कहा कि 'जैसा ये आदेश दे वैसा ही करना । यह मेरी आज्ञा है ।' ऐसा कहकर राजकुमार चला गया ।

धर्माकरने राजकुमारकी पत्नीको उसकी सुरक्षाके लिये अपने संरक्षणमे रखा । धर्माकरकी भावना इतनी ऊँची थी कि उसके प्रति मातृभाव एवं बहनके भावके अतिरिक्त और कोई भाव नही आता था । धीरे-धीरे अपनी पत्नीके प्रति भी उसकी काम-भावना समाप्त हो गयी । छः महीने बाद राजकुमार लौटा । धर्माकरके पास आते समय उसने वहाँके लोगोंसे अपनी पत्नी और उसके सम्बन्धकी बात पूछी । छिछले विचारवालोंका कहना था—'तुमने अपनी पत्नी उसे सौंप दी । ऐसी स्थितिमें वह कैसे सुरक्षित रह सकती है ?' प्रायः बहुत-से लोगोंने राजकुमारके समक्ष यही विचार रखा, किंतु राजकुमारको धर्माकरपर विश्वास था । उसने किसीके विचारपर ध्यान नहीं दिया । जब वह धर्माकरके पास पहुँचा तो वह घरसे बाहर दुःखी होकर बैठा था । उसकी पत्नी और राजकुमारी भीतर बैठी थीं । राजकुमारीका चेहरा अपने पतिके मुखको देखकर बहुत प्रसन्न था, किंतु धर्माकरके मुखपर शोककी छाया स्पष्ट दीख रही थी । राजकुमारने धर्माकरमे कहा—'आपने मेरा बड़ा उपकार किया है । आपके भरोसे पत्नीसे निश्चिन्त होकर मैं अपना राजकार्य अच्छी तरह कर सका । अब मैं अपनी पत्नीको लौटाने आया हूँ, किंतु आप प्रसन्नमनसे मुझसे बोलते क्यों नहीं हैं ? आप दुःखी क्यों दीखते हैं ?'

धर्माकरने कहा—'मैं अपनी तपस्याके बलसे जान गया हूँ कि मेरे प्रति लोग अनर्गल बात कह रहे हैं । इस तरह मेरा लोकापवाद हो रहा है । लोकापवादसे बचना चाहिये, इसलिये मैंने आग जला रखी है । इसमे पूरी ज्वाला उठ रही है । इसीमे कूदकर मैं अपनेको निर्दोष प्रमाणित करूँगा । आप थोडी देर ठहर जायें ।' इतना कहकर धर्माकर उस धधकती हुई आगमें कूद पडे, किंतु उस आगसे उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ । वे उसी तरह ज्वालाओमे सुखपूर्वक खडे रहे, मानो घरमे खडे हो । इसी बीच आकाशसे पुष्पवृष्टि होने लगी । देवताओने आकर धर्माकरको आगसे निकाल लिया और उनकी प्रशंसा की । जिन लोगोने धर्माकरके प्रति दुर्वचन कहे थे, उनके मुखपर कुष्ठ हो गया । देवताओंने तबसे धर्माकरका नाम सज्जनाद्रोहक रख दिया और राजकुमारसे कहा—'तुम अपनी पत्नीको ले जाओ,'

वह बिलकुल शुद्ध है ।'

देवताओने संसारको सूचित कर दिया कि धर्माकरके हृदयमे भगवान् वासुदेव सदा उपस्थित रहते हैं । उन्हींकी भक्तिके प्रभावसे इसने काम और लोभपर विजय प्राप्त की है । काम अत्यन्त दुर्जय है । यद्यपि देवता, असुर, मनुष्य, राक्षस, मृग, कीट, पतंग इससे प्रभावित रहते हैं तथापि भगवत्कृपासे धर्माकरने काम और लोभको जीत लिया है ।

विप्ररूपधारी भगवान् नरोत्तमको अद्रोहकका घर बताकर अदृश्य हो गये । नरोत्तमने अद्रोहकसे प्रार्थना की कि 'आप मुझे कुछ हितकी शिक्षा दे ।' अद्रोहकने नरोत्तमको वैष्णवके पास भेजा और कहा कि 'अब तुम्हे कहीं नहीं जाना पडेगा, तुम्हारी मन.कामना वहीं पूरी हो जायगी ।'

(५) विष्णुभगवान्की उपासना (वैष्णव ब्राह्मणकी कथा)—जब नरोत्तम वैष्णव ब्राह्मणके पास पहुँचा तो उसे दिव्य तेजसे घिरा हुआ पाया । वैष्णवने नरोत्तमका सम्मान किया और कहा कि 'तुम्हे देखकर मुझे प्रसन्नता हो रही है और यह मालूम पड़ रहा है कि आज तुम्हारा कल्याण हो जायगा । मेरे घरमे भगवान् विष्णु प्रत्यक्ष रूपसे स्थित रहते हैं, तुम जाओ और उनका दर्शन करो ।' वहाँ जाकर नरोत्तमने कमलके आसनपर बैठे हुए उसी ब्राह्मणको देखा, जो मूक चाण्डाल और शुभा आदिके घरमे विद्यमान थे और इसे रास्ता बतला रहे थे । नरोत्तम समझ गया कि ब्राह्मणके वेषमे भगवान् विष्णु ही मूक चाण्डालादिके घरमे स्थित थे । उसने गद्गद होकर प्रार्थना की कि 'अब आप अपना स्वरूप दिखाइये ।' भगवान्ने उसे अपना साक्षात् स्वरूप दिखाया और उससे वरदान माँगनेके लिये कहा । ब्राह्मणने कहा कि 'मेरा मन आपमे ही सदा लगा रहे, अन्य किसी वस्तुके प्रति मेरी इच्छा न हो ।' भगवान्ने कहा—**'तथास्तु'** । इसके बाद उन्होने बताया कि 'पुत्रका कर्तव्य है कि वह माता-पिताकी निरन्तर सेवा करे । तुम्हारे माता-पिता तुमसे आदर नहीं पा रहे हैं । तुम जाकर उनकी पूजा करो । उनकी पूजासे तुम्हारा कल्याण होगा, क्योंकि तुम्हारे पिता तुम्हारे लिये दुःखी है । उनके दुःखपूर्ण उच्छ्वाससे तुम्हारी तपस्या प्रतिदिन नष्ट होती जा रही है । यदि माता-पिता कोप करे तो ब्रह्मा भी उसे नही बचा सकते । तुम्हारा पहला कर्तव्य है कि तुम सीधे माता-पिताके पास जाओ और भलीभाँति उनकी पूजा करो । उन्हीकी कृपासे तुम मेरे धाममे आओगे ।'

जब लीला-संवरणका समय आया, तव मूक चाण्डाल, शुभा, तुलाधार, अद्रोहक और वैष्णव ब्राह्मणके लिये विष्णुलोकसे विमान आये और स्वागतके साथ उनका परधामगमन हुआ । पद्मपुराणकी इस कथासे भगवान्की अहैतुकी कृपाकी ओर ध्यान जाता है । नरोत्तम माता-पिताका अनादर कर जो भी धर्माचरण करता था, वह उनके अनादरके कारण नष्ट हो जाया करता था । यदि भगवान् पग-पगपर उसका साथ न देते—पाँच महापुरुषोका दर्शन न कराते और फिरसे माता-पिताकी सेवाका उपदेश न देते तो नरोत्तमका उद्धार कभी सम्भव नही होता । भगवान् इतने दयालु हैं कि अपने भक्तकी पग-पगपर रक्षा करते है। ऐसे करुणावरुणालय भगवान्का साक्षात्कार ही यथार्थ-शिक्षाका परम लक्ष्य है ।—क्रमश

अपना चित्त शुद्ध हो तो शत्रु भी मित्र हो जाते है, सिंह और साँप भी अपना हिंसाभाव भूल जाते है, ष अमृत हो जाता है, आघात हित होता है, दुःख सर्वसुखस्वरूप फल देनेवाला बनता है, आगकी लपट डी-ठंडी हवा हो जाती है । जिसका चित्त शुद्ध है, उसे सब जीव अपने जीवनके समान प्यार करते है । ारण, सबके अन्तरमे एक ही भाव है ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः

[भारतवर्षका साधु जीवन स्वयंमे एक शिक्षा है । साधुतामे विचार, दर्शन, साधना और अनुभूति आदि तो रहे ही, सामाजिकता भी उसकी पकड़के बाहर नहीं रही । मनुष्यके विकासमें उनका हर प्रकारका सहयोग सदैव रहा है । परम्पराप्राप्त दार्शनिक सर्वश्री शंकर, रामानुज और मध्व-जैसे व्यक्तित्वोंमे जिस प्रकार दर्शन, साधना और स्वानुभव तथा लोक-शिक्षाकी दृष्टि थी, उसी प्रकार तथाकथित नास्तिक दर्शन भी इन गुणोंसे वञ्चित नहीं थे । यहाँतक कि भक्ति-आन्दोलनके साधु, जो दर्शनके तर्क-वितर्कमें उतनी रुचि नहीं रखते थे और अनुभवोको ही प्राथमिकता देते थे, दर्शनके सरल और लोक-शिक्षापरक स्वरूपको सदैव सामने रखकर चले ।

भारतवर्षके साधु-चरित्र व्यक्तियोंने स्वयं उसी रास्तेपर चलकर वास्तविक स्वतन्त्रता और समानताकी आदर्श शिक्षा दी । साथ ही शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्वके तो वे जाने-माने प्रतीक ही थे ।

देव, मनुज, ऋषि, महर्षि, आचार्य तथा संत-महात्माओंकी शिक्षाओं और उनके लीला-प्रसङ्गोंको देश, काल और पात्रके आधारपर अलग अवश्य किया जा सकता है, किंतु यदि सूक्ष्म-दृष्टिसे देखा जाय तो वे एक ही सूत्रसे आबद्ध प्रतीत होगे । वास्तवमे देश, काल, पात्रसे परे उनकी यह एकसूत्रता ही लोक और परलोक दोनो ही दृष्टियोसे सबसे बड़ी शिक्षा है । इसीलिये पृथ्वीके सम्पूर्ण मानव इन महान् आत्माओंके चरित्रसे सहजरूपमे स्वत. शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं ।—सम्पादक]

श्रीब्रह्मा

ब्रह्माके पदपर जीव भी आते हैं । अश्वमेधोपासना आदि इसके साधन है । समस्त लोकोकी रचना ब्रह्माजी ही करते है । चर-अचर सभी प्राणी ब्रह्माके ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं । ब्रह्मा ही पुराणोंके आदिस्मर्ता और वेदोके आदिद्रष्टा हैं ।

सृष्टिके प्रारम्भमे ब्रह्माने अपनेको कमलपर बैठा पाया । उस कमलकी चमक करोडो सूर्योंकि समान थी । वह अनन्त योजन विस्तृत था । अद्भुत कमल था । कमल क्या था, ब्रह्माण्ड था । ब्रह्माने चारो ओर देखा, किंतु कमलको छोड़कर और कुछ दिखायी न दिया । 'मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, किसने मेरा जन्म दिया है, मुझे क्या करना है' आदि विचार उनके मनमें उठ रहे थे, पर कोई समाधान मिल नहीं रहा था । उन्होंने सोचा कि मेरे जनकका पता चल जाय, तो सब समाधान मिल जाय । वे कमलका नाल पकडकर नीचे उतरे, किंतु कुछ पता न चला । केवल ध्वनि सुनायी दी—'तपस्या करो, तपस्या करो ।'

ब्रह्माने तपस्या की । तपस्यासे उन्हे भगवान् विष्णुके दर्शन हुए । भगवान् विष्णुका मुखारविन्द प्रसन्नतासे खिला हुआ था । वे करोड़ो कामदेवोंके समान सुन्दर थे । उनकी छविपर ब्रह्मा मोहित हो गये ।

भगवान् विष्णुने ब्रह्माको सृष्टि-निर्माणके लिये आदेश दिया । ब्रह्माने तपस्या कर पहले समस्त पुराणोका स्मरण किया, उसके पश्चात् उनके मुखोंसे ईश्वरके भेजे हुए वेद उच्चरित होने लगे । वेदोको पाकर उन्हींके शब्दोकी सहायतासे ब्रह्माने सृष्टिका निर्माण किया ।

नारदको नाम-जपकी शिक्षा—पद्मपुराणमें ब्रह्माने

अपने पुत्र नारदको नाम-जपकी शिक्षा इस प्रकार दी है—'पुत्र ! इस कलियुगमें नाम-कीर्तनपूर्वक भगवान्की भक्ति विशेष महत्त्व रखती है । जिन बडे-बड़े पापोंका प्रायश्चित्त शास्त्रोमे नहीं बताया गया है, उनकी शुद्धिके लिये भगवान्का स्मरण और 'नाम-जप' उत्तम साधन है—

अस्मिन् कलौ विशेषेण नामोच्चारणपूर्वकम् ।
भक्तिः कार्या यथा वत्स तथा त्वं श्रोतुमर्हसि ॥
दृष्टं परेषां पापानामनुक्तानां विशोधनम् ।
जिष्णोर्विष्णोः प्रयत्नेन स्मरणे पापनाशनम् ॥

(पद्मपु० उत्तर० ७२ । ९-१०)

शास्त्रोमे जितने पापोके प्रायश्चित्त बतलाये गये हैं, वे घोर तपस्यारूप हैं, उन समस्त प्रायश्चित्तोसे बढ़कर है— भगवान्का स्मरण करना—

प्रायश्चित्तानि सर्वाणि तपःकर्मात्मकानि वै ।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥

(पद्मपु० उत्तर० ७२ । १३)

सांसारिक वस्तुओको मिथ्या जानकर जो भगवान्के नामका पाठ या जप करता है, वह सब पापोसे छूटकर विष्णुके परमपदको प्राप्त करता है—

मिथ्या ज्ञात्वा ततः सर्व हरेर्नाम पठञ्जपन् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो याति विष्णोः परं पदम् ॥

(पद्मपु० उत्तर० ७२ । ११)

जप, होम, पूजा आदि करते समय अपना मन भगवान्के स्मरणमे लगाना चाहिये । ऐसा करनेसे सब कर्म एक कल्पतरु अक्षय हो जाते है—

वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु ।
तदक्षयं विजानीयाद् यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥

(पद्मपु० उत्तर ७२ । १६

समान बनो—सबसे पहले ब्रह्माने ही विश्वको वेदोव उद्घोष सुनाया है । निम्नलिखित वैदिक साम्यकी शिक्ष उन्हींसे मनुष्योको प्राप्त हुई । साम्ययोगको बतलानेवाल ये ऋचाएँ ऋक्संहिताके उपसंहारमे आयी हैं—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

(ऋग्० १० । १९१ । २

'तुमलोग सगठित रहो । विरोध छोडकर समान वाव बोलो । तुमलोगोका मन समान अर्थका ही ग्रहण करे जैसे पुराने देव एकमत होकर हवि ग्रहण करते थे, वै तुमलोग भी एकमत होकर अपना-अपना भाग ग्रहण करो ।'

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।

(ऋग्० १० । १९ । ३

'तुम्हारा विचार समान हो । तुम जो पाओ, व समान रहे । तुम्हारा अन्त करण समान रहे । विचार मन्थनसे उत्पन्न जो तुम्हारा ज्ञान है, वह भी समान रहे ।'

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्० १० । १९१ । ४

'तुम्हारा संकल्प समान हो । तुम्हारे हृदय समा हो । तुम्हारे मन, बुद्धि, चित्त और अहकार समान हो जैसे भी तुमलोगोका सुन्दर सहभाव हो सके वैसा करो ।'

मनुष्य देखनेमे कोई रूपवान्, कोई कुरूप, कोई साधु, कोई असाधु देख पडते हैं, परंतु उन सबके भीतर एक ही ईश्वर विराजते है । दुष्ट मनुष्यमे भी ईश्वरका निवास है, परंतु उसका संग करना उचित नहीं साधनावस्थामे ऐसे मनुष्योसे, जो उपासनासे ठट्ठा करते है, धर्म तथा धार्मिकोकी निन्दा करते है, एकदम दूर रहना चाहिये । जिसके मनमे ईश्वरका प्रेम उत्पन्न हो गया, उसे संसारका कोई सुख अच्छा नहीं लगता । जो प्रभुके प्रेममे बावला हो गया है, जिसने अपना सब कुछ उनके चरणोमे अर्पण कर दिया है, उसका सारा भार प्रभु अपने ऊपर ले लेते है ।

श्रीविष्णु

'त्रिदेव' शब्दसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश लिये जाते है। इन पदोंपर कभी तो परब्रह्म परमात्मा ही अवतीर्ण होकर प्रतिष्ठित हो जाते है और कभी-कभी जीव भी आ जाते है। शिवपुराणमें परब्रह्म परमात्मा शिवके पदपर और श्रीमद्भागवतमे विष्णुके पदपर आये हैं । इसी बातको सूचित करनेके लिये विष्णुको 'महाविष्णु' कहा जाता है।

शिक्षा प्रायः दो प्रकारसे दी जाती है—(१) चरित्रके माध्यमसे और (२) वाणीके माध्यमसे ।

चरित्रसे परोपकारकी शिक्षा—भगवान् विष्णुका सम्पूर्ण चरित्र ही शिक्षाकी मूर्ति है। परोपकार, दया, दाक्षिण्य, सुशीलता, विनम्रता आदि गुणोकी शिक्षा इनके चरित्रके मुख्य अङ्ग हैं। ये आप्तकाम हैं, आनन्दरूप है। इन्हे किसीसे क्या लेना है? फिर भी वे विश्वके दु:ख-दर्द मिटानेके लिये और आनन्दका अनन्त सागर लहरानेके लिये भिन्न-भिन्न रूपोमे अवतार लेते हैं। किसी अन्तर्दर्शीने कहा है—

परोपकारकैवल्ये तोलयित्वा जनार्दनः।
गुर्वीमुपकृतिं मत्वा ह्यवतारान् दशाग्रहीत्॥

अर्थात् 'भगवान् विष्णुने तराजूके एक पलड़ेपर परोपकारको रखा और दूसरेपर मोक्षको—तौलनेपर परोपकारका पलड़ा भारी पड़ गया। अतः उन्होने अनेक अवतार लिये, जिनमे दस मुख्य है।'

भगवान् विष्णु वेदरूप है। अत. जितनी शिक्षाएँ हैं, सब उन्हींकी देन है। यहाँ सभीका समावेश कैसे सम्भव हो सकता है? परंतु कुछ शिक्षाएँ प्रस्तुत की जा रही है।

चरित्रसे सुशीलताकी शिक्षा—एक बार सरस्वती नदीके तटपर यज्ञ करनेके लिये ऋषियोका बहुत बडा समुदाय एकत्र हुआ। उनमे यह विचार चल पड़ा कि 'तीनो देवोमे किसे बड़ा माना जाय?' लोगोने इसके लिये तीनोकी परीक्षा करनी चाही। इस कार्यके लिये सर्वसम्मतिसे भृगुको नियुक्त किया गया।

भृगु सबसे पहले अपने पिता ब्रह्माके पास पहुँचे। परीक्षा लेनी थी। अतः उन्होंने पिताको न तो प्रणाम किया और न उनकी स्तुति ही की। यह घोर अशिष्टता थी। ब्रह्माको भृगुसे ऐसी आशा न थी। वे उबल पड़े। भृगु चुपचाप खड़े रहे। पीछे ब्रह्माने विवेकसे क्रोधको दबा दिया।

इसके बाद भृगु कैलास गये। शंकर अपने भाई भृगुको आया देख प्रेममें उतावले हो गये। उन्होंने अपनी दोनो बाँहे फैला दी, जिससे भाईको हृदयमे समेट ले, किंतु भृगुने इनके इस भ्रातृभावका कोई अनुकूल उत्तर न दिया। उल्टे फटकारते हुए कहा— 'तुम लोक और वेदकी मर्यादाका उल्लङ्घन कर रहे हो। तुमसे मैं नहीं मिलता।' शंकरको भृगुकी अज्ञतापर क्रोध आ गया। भगवती सती माताने अनुनय-विनयकर इनका क्रोध शान्त किया।

अब भृगु वैकुण्ठ पहुँचे। उस समय भगवान् विष्णु लक्ष्मीमाताकी गोदमे सिर रखकर लेटे हुए थे। भृगुने जाते ही भगवान्‌के वक्षःस्थलपर कसकर एक लात जमा दी। भगवान् तो भक्तवत्सल ठहरे। वे झट अपनी शय्यासे नीचे उतर गये। माताजी भी उतर गयीं। भगवान्‌ने सिर झुकाकर मुनिको प्रणाम किया और कहा— 'ब्रह्मन्! आपका स्वागत है। आइये, इस आसनपर बैठकर विश्राम कीजिये। मुझे आपके आनेका पता न चला, इसलिये आपकी अगवानी न कर सका। इस अपराधको क्षमा करे।' ऐसा कहकर वे भृगुके चरणोको सहलाने लगे।

भृगु गद्गद हो गये। उनकी आँखोसे आँसू टपक पड़े। वे सोचने लगे—कैसी अनूठी विनम्रता है? इसमे कितना सुवास है? कितनी मिठास है?

श्रीमद्भागवतकी शिक्षा—ब्रह्मा जब प्रकट हुए,

तब उन्होंने अपनेको एकाकी पाया। वे इतना भी नहीं समझ पाते थे कि मैं कौन हूँ और मुझे क्या करना है। तब उन्होंने तपस्या की, जिससे भगवान्के दर्शन हुए। ब्रह्माजीने उनसे प्रार्थना की कि 'आप मुझे तत्त्वोंकी एवं कर्तव्यकी शिक्षा दें।' तब भगवान्ने ब्रह्माजीको चतु:श्लोकी श्रीमद्भागवतकी शिक्षा दी। उन चार श्लोकोंमें चार तत्त्वोंका वर्णन है—पहला परमात्म-तत्त्व, दूसरा माया-तत्त्व, तीसरा जगत्-तत्त्व और चौथा आत्म-तत्त्व।

(१) परमात्म-तत्त्व—पहले श्लोकमें परमात्म-तत्त्वका वर्णन है। भगवान् कहते हैं—'सृष्टिके पहले मैं-ही-मैं था। उस समय न स्थूल था, न सूक्ष्म और न प्रकृति ही थी। सृष्टि होनेके पश्चात् यह जो जगत् दिखायी देता है, वह भी मैं ही हूँ। प्रलय होनेके पश्चात् जो कुछ शेष रह जायगा, वह भी मैं ही हूँ'—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २।९।३२)

अर्थात् 'परमात्मा एक होता है, अद्वितीय होता है। सजातीय, विजातीय और स्वगत-भेदोंसे शून्य होता है। परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।' (ऐसा समझ लेनेपर अहंकारका अङ्कुर भी नहीं फूटता।)

(२) माया-तत्त्व—जो वस्तु हो नहीं और मालूम पड़े वह माया है। जैसे आकाशमें आँखोंसे एक ही चन्द्रमा दीखता है, किंतु तिमिररोग या अँगुलीके सहारे दो चन्द्रमा दीखने लगते हैं। यह दूसरा चन्द्रमा वस्तुत: है नहीं, किंतु मायासे इसकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार समस्त दृश्य-प्रपञ्च है नहीं, किंतु दिखायी देता है। अत: यह माया है।

इसी तरह जो वस्तु विद्यमान हो और दीखे नहीं, तो यह भी माया है। जैसे ईश्वर सब जगह विद्यमान है, पर वह दीखता नहीं। अर्थात् माया आवरणशक्तिसे जीवको प्रभावित कर 'है' को छिपा देती है और विक्षेपशक्तिसे जो 'नहीं है' उसे दिखला देती है।

मायाका यह प्रभाव केवल जीवपर पड़ता है। परमात्मापर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह दिखलानेके लिये **'यथाऽऽभासो यथा तमः'** कहा गया है। सूर्यकी दो शक्तियाँ हैं—(१) प्रकाश और (२) अन्धकार। प्रकाश अन्तरङ्ग-शक्ति है और अन्धकार बहिरङ्ग-शक्ति। सूर्यकी यह बहिरङ्गा शक्ति दूसरोंपर प्रभाव डालती है, सूर्यपर नहीं। अन्धकार तो सूर्यके सामने भी कभी नहीं जा पाता। यह तमकी बात हुई। इसी प्रकार सूर्यका आभास (प्रतिबिम्ब) जलमें पड़ सकता है, वह (प्रतिबिम्ब) स्वयं सूर्यपर नहीं पड़ता। इस दृष्टान्तसे यह दिखलाया गया है कि जैसे सूर्यसे ही आभास और तमकी सत्ता है, फिर भी ये दोनों सूर्यको प्रभावित नहीं करते, वैसे ही भगवान्की बहिरङ्गा शक्ति होकर भी माया भगवान्पर प्रभाव नहीं डाल पाती। उनके सामने भी नहीं जा पाती—

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥

(श्रीमद्भा० २।९।३३)

(३) जगत्-तत्त्व—जैसे प्राणियोंके पञ्चभूतोंसे बने शरीरोंमें पञ्चभूत प्रविष्ट होकर भी अप्रविष्ट रहते हैं, उसी तरह सबमें व्याप्त होकर भी मैं उनसे निर्लिप्त हूँ—

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥

(श्रीमद्भा० २।९।३४)

(४) आत्म-तत्त्व—आत्म-तत्त्वके जिज्ञासुओंके लिये इतना ही जानना पर्याप्त है कि जो अन्वय और व्यतिरेकसे सब जगह रहे, वह आत्मा है। जब सृष्टि न थी तब भी आत्मा था, जब सृष्टि बनी तब भी आत्मा है और जब सृष्टि न रहेगी तब भी आत्मा रहेगा—

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥

(श्रीमद्भा० २।९।३५)

श्रीमद्भागवतके माहात्म्यकी शिक्षा—यह तो चतुःश्लोकी भागवतका उल्लेख हुआ। भगवान् विष्णुने सम्पूर्ण भागवतकी भी शिक्षा दी थी और आवश्यक समझकर ब्रह्माको इसके महत्त्वकी भी शिक्षा दी है।

उपयोगिताकी दृष्टिसे कुछ अंश यहाँ दिये जाते है। स्कन्दपुराणमे भगवान् विष्णुने ब्रह्मासे कहा है—

> **नित्यं भागवतं यस्तु पुराणं पठते नरः।**
> **प्रत्यक्षरं भवेत् तस्य कपिलादानजं फलम्॥**
> **यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं सुत।**
> **अष्टादशपुराणानां फलमाप्नोति मानवः॥**

'यदि मनुष्य प्रतिदिन भागवतका पाठ करता है, तो एक-एक अक्षरके उच्चारणसे कपिला गायके दानका फल प्राप्त होता है। पुत्र! यदि संयत-चित्तसे भागवतके एक श्लोकका भी कोई पाठ करता है, तो वह अठारह पुराणोके पाठका फल पा जाता है।'

इसी प्रकार विष्णुभगवान्ने श्रीमद्भागवत-ग्रन्थके पूजन, घरमे रखने और दानकी भी महिमा बतलायी है। स्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डके मार्गशीर्ष-माहात्म्यके सोलहवे अध्यायमें इसका वर्णन आया है।

श्रीशिव

परब्रह्म परमात्मा एक है। लीलाके लिये वह एकसे अनेक हो जाता है। इस लीलामे उल्लास लानेके लिये और अपने प्रेमियोकी रुचिको आदर प्रदान करनेके लिये वह कभी शिव, कभी विष्णु और कभी कृष्ण आदि नामो और रूपोमे अभिव्यक्त होता है।

शिवपुराणमे उस परात्पर ब्रह्मका नाम 'शिव' है। जब वह सृष्टिकी रचनाकी इच्छा करता है, तब निर्गुणसे सगुण 'शिव' बन जाता है और अपने दाहिने भागसे ब्रह्माको तथा बाये भागसे विष्णुको प्रकट करता है। एक ही तत्त्व तीन नाम-रूपोमे प्रकट हो जाता है। इसलिये तीनो देवोमे कोई भेद नही होता। इसी पुराणमे अन्यत्र आया है कि शिवके परात्पर निर्गुण स्वरूपको 'सदाशिव', सगुण स्वरूपको 'महेश्वर', विश्वके सृजन करनेवाले स्वरूपको 'ब्रह्मा', पालन करनेवाले स्वरूपको 'विष्णु' और संहार करनेवाले स्वरूपको 'रुद्र' कहते हैं। इस तरह अनेकतामे एकता है।

नामोसे शिक्षा—(कल्याणमय बनो और सबका कल्याण करो) 'शिव' का अर्थ होता है— 'कल्याण'। शंकरका अर्थ होता है— 'कल्याण' करनेवाला।' इन दो नामोसे भगवान् शिक्षा देते है कि 'स्वयं कल्याणमय बनो और सबका कल्याण करते रहो।'

एक बार त्रिपुरासुरसे सारा संसार त्रस्त हो गया था। ब्रह्मासे वरदान पाकर तीनो असुर उसका दुरुपयोग कर रहे थे। तीनो भाई थे। तीनोका नाम था— तारकाक्ष, विद्युन्माली और कमललोचन। तीनों ही विश्वका नाश करनेपर तुल गये थे। उनके पास तीन नगर थे। नगर तो पृथ्वीपर बसते हैं, किंतु उनके तीनों पुर आकाशमे बसे थे। वे चाहे जहाँ आ-जा सकते थे। एक-एक पुर कई-कई कोसोतक फैला हुआ था, किंतु वे इतने विलक्षण थे कि किसीको दिखायी नहीं देते थे। उनमे सारी लौकिक भोग-सामग्रियाँ तो भरी हुई थीं ही, अलौकिक वस्तुएँ भी थीं। उनमे मुख्य थे— सिद्धरससे लबालब भरे हुए कुएँ, जिनमे मरे हुए लोगोको जिलानेकी अद्‌भुत शक्ति थी (श्रीमद्भा० ७।१०।६२-७१)। वे नगर क्या थे, आकाशमे बसे हुए बड़े-बडे विमान थे। उनकी गति अद्‌भुत थी। वे क्षणभरमे चाहे जहाँ जा सकते थे। वे उन दिनोके विज्ञानके अद्‌भुत अवदान थे। आजके विज्ञानके पास ऐसा कोई विमान नही है।

विज्ञानके वे उत्तम वैभव तो थे, किंतु उनके आरोहियोने उनका खुलकर दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। क्षणभरमे वे नगर जब जहाँ-कही पहुँच जाते तो वहाँ धुआँधार अस्त्र-शस्त्र बरसाकर निरपराध लोगोकी हत्या कर देते थे। अद्‌भुत विभीषिका फैल गयी थी। सब असुरक्षित थे। पता नही, किसके सिरपर कब मौत

बरस पड़े । पीड़ितोने आशुतोषकी गुहार लगायी । ये ही तो सबका कल्याण करते है । ये ही अशरणकी शरण हैं । ये अपनी प्रजाका उत्पीडन न सह सके । इन्होने एक ही बाणसे सभीका संहार कर डाला । विश्वमे शान्ति छा गयी ।

चरित्रसे शिक्षा—(स्वयं विष पीओ, औरोको अमृत पीने दो ।) एक बार देव और असुरोंने आपसमे मन्त्रणाकर अमृतके लिये समुद्रको मथना प्रारम्भ किया । मथते-मथते वे व्यग्र हो रहे थे । इसी बीच निकला हालाहल विष। उससे बहुत उग्र लपटे निकल रही थीं, जो क्षणभरमे चारो ओर फैल गयीं । त्राहि-त्राहि मच गयी । जो जहाँ पाया, भाग खड़ा हुआ । लोगोने शिवको ही अपना रक्षक देखा । उन्हींकी शरण ली । भगवान् शंकरने समझ लिया कि देरी करनेसे यह विष तो संसारका ही संहार कर डालेगा । झट उन्होंने उस कालकूटको समेट कर पी लिया । विक्षुब्ध वातारणमे शान्ति आ गयी । लोगोके जी-मे-जी आया । विष पीकर शंकरने विश्वको बचा लिया था ।

समुद्र-मन्थनका काम फिरसे प्रारम्भ हो गया । श्रम सफल हुआ—अमृत निकल आया । लोगोने उसका पान किया, किंतु शंकर ? शंकरसे अमृत-पानसे कोई सम्बन्ध न था । दूसरोंको अमृत पिलानेके लिये ही तो उन्होंने विषपान किया था । वे विष न पीते तो दूसरे अमृत नहीं पी सकते थे । यह है शंकरकी शंकरता ।

यदि आजका मानव इस शिक्षाको अपने जीवनमे उतार ले, तो आज ही पृथ्वीपर स्वर्ग उतर आये ।

वाचनिक शिक्षा (त्रिदेवमें भेदबुद्धि न करो)

ब्रह्माने समग्र सृष्टिकी रचना की, किंतु चतु.श्लोकी भागवतकी कृपासे उनमे अहंता न आ पायी । दक्षप्रजापति ब्रह्माके ही पुत्र थे; किंतु इन्होने चतुःश्लोकी भागवतका सम्मान न किया । फलतः इनमे अहंता आ गयी । ये आगे चलकर शंकरसे द्वेष करने लगे । अहंताके अन्धकारसे इनकी आँखे बेकार हो गयी थीं । वे नहीं देख पायीं कि तीनो देवोमे कोई अन्तर नहीं है । फलत. दक्ष ब्रह्मा और विष्णुको तो सम्मान देते थे, पर शंकरको फटकार । दो अङ्गोकी तो फूलोसे पूजा और एक अङ्गपर लाठीका प्रहार । कितनी जडता थी ?

इस जडताका परिणाम भयंकर हुआ । दक्षका यज्ञ तो ध्वंस हुआ ही, वे स्वयं भी वीरभद्रके हाथों मारे गये । इस दण्डके बिना उनका अहकार नही मिटता । शंकर तो कल्याण करनेवाले हैं । उन्होने देवताओकी प्रार्थनासे दक्षको फिर जीवित किया । बकरेका सिर इसलिये जोड़ा गया कि नन्दीके द्वारा उसे ऐसा ही शाप मिला था । जडता मिट जानेके बाद ही शिक्षाका प्रभाव पड़ सकता था । अब भगवान्ने सिखलाया—'दक्ष ! मैं ही ब्रह्मा और विष्णु हूँ । वैसे मैं स्वयम्प्रकाश तथा निर्विशेष हूँ, किंतु मायाको स्वीकार कर जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहारके लिये मैं ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र बनता हूँ । अतः ये तीनो स्वरूप वस्तुत. एक हैं, जीव भी मेरे ही रूप है । इसलिये जो हम तीनो देवताओंमे भेद नहीं देखता, वही शान्ति प्राप्त कर सकता है और जो हम तीनोमे भेददृष्टि रखता है, वह नरकमे गिरता है—

सर्वभूतात्मनामेकभावानां यो न पश्यति ।
त्रिसुराणां भिदां दक्ष स शान्तिमधिगच्छति ॥
यः करोति त्रिदेवेषु भेदबुद्धिं नराधमः ।
नारके स वसेन्नूनं यावदाचन्द्रतारकम् ॥

(शि० पु० रुद्रस० सतीख० ४३ । १६-१७)

यदि कोई विष्णुभक्त होकर मेरी निन्दा करेगा अथवा अपनेको शिवभक्त समझकर विष्णुकी निन्दा करेगा, तो तुम्हे दिये हुए सब शाप उसीको प्राप्त होंगे और वह कभी तत्त्वज्ञान नही प्राप्त कर सकेगा—

हरिभक्तो हि मां निन्देत् तथा शैवो भवेद् यदि ।
तयोः शापा भवेयुस्ते तत्त्वप्राप्तिर्भवेन्नहि ॥

(शि० पु० रुद्रसं० स० ख० ४३ । २१)

मानवताकी शिक्षाका सरस अवदान (मानस)

करुणामयी पराम्बाने हमारे लिये हमारे ही स्तरपर उतरकर ऐसे-ऐसे प्रश्न किये हैं, जिनके उत्तरमें भगवान् शिवने सारे तन्त्रो, मन्त्रो तथा शावरमन्त्रोका उपदेश कर दिया है । उनकी उस शिक्षासे वाड्मयका भंडार भरा

पड़ा है, किंतु मानवताकी शिक्षाके लिये भगवान् शंकरद्वारा विरचित मानसका अपना ही स्थान है । शिवसे विश्वको यह मानस प्राप्त हो इसके लिये पराम्बाने अज्ञताका जैसा अभिनय किया, उसका जोड़ मिलना कठिन है ।

शिवपुराणकी कथा है । सीताजीका हरण हो गया था । श्रीराम शोकसे पागल होकर पेड़-पौधोंसे सीताजीका पता पूछ रहे थे । भगवान् शंकरने इस दृश्यको देखा । श्रीरामको देख भगवान् शंकरके हृदयमें इतना आनन्द उमड़ा कि वह रोके न रुका । आँखोंसे आँसूकी अजस्र धाराएँ बहने लगीं । रोम-रोममें बार-बार पुलकावलियाँ छाने लगीं । पैर डगमगाने लगे। 'सच्चिदानन्दकी जय हो'- कहकर वे दूसरी ओर चल पड़े । जान-पहिचानका अवसर न था । आँखें तृप्त हो ही गयी थीं, किंतु आनन्द अभी उमड़ता ही चला जा रहा था ।

करुणामयी माँने देखा कि अपनी अज्ञताके अभिनयका यही अच्छा अवसर है। उधर 'आनन्दरूप' श्रीराम 'शोक'-का अभिनय कर रहे थे, इधर 'ज्ञानरूपा' माँ हमारे लिये 'अज्ञान'का अभिनय करने लगीं । ऐसी अज्ञ बन गयीं, जैसे कोई निकृष्ट जीव हो । वे बोली-'नाथ ! आप तो पूर्ण ब्रह्म हैं, फिर इस राजकुमारको आपने प्रणाम कैसे कर लिया ? इसी तरह किसी मनुष्यको आपने 'सच्चिदानन्द' भी कैसे कह दिया ?'

भगवान् शंकरने कहा—'ये साक्षात् परब्रह्म हैं । मनुष्यके रूपमें दीखते भर हैं । शोक और अज्ञानकी ये केवल लीला कर रहे हैं ।' पराम्बाको तो मानसका अवतार कराना था, अतः उन्होंने अपने अभिनयको जारी रखा । उनकी बातपर विश्वास नही किया । भगवान्‌को कहना पड़ा—'यदि विश्वास न होता हो तो परीक्षा कर देख लो ।' पराम्बा सीताजीका रूप धारण कर श्रीरामके सामने खड़ी हो गयीं । देखते ही श्रीरामने प्रणाम किया और पूछा—'सतीजी ! शिवजी कहाँ हैं ? आप अकेले कैसे घूम रही हैं ?' पराम्बा पानी-पानी हो गयीं और बोलीं—'मैं आपकी प्रभुता परख रही थी ।' श्रीरामने सतीका बहुत सम्मान किया और उनकी आज्ञा लेकर वे फिर अपने अभिनयमें लग गये ।

लौटते समय पराम्बा सतीने चिन्ता और शोकसे उत्पन्न व्याकुलताका अच्छा अभिनय किया । भगवान् शंकरने पूछा—'तुमने किस प्रकार परीक्षा ली ?' पराम्बा विषादका अभिनय करती रहीं । भगवान् शंकरने ध्यानसे सारी बातें जान लीं । उन्होंने अपनी निष्ठाकी रक्षाके लिये सतीके प्रति पत्नी-भावका त्याग कर दिया । माता सीताका जिसने रूप ले लिया, उससे पत्नीका सम्बन्ध कैसे रखा जा सकता था ? किंतु पराम्बाको क्लेश न हो, इसलिये त्यागकी बात छिपा ली । पहले-जैसा ही मीठा व्यवहार बनाये रहे । पराम्बासे भी कोई बात छिपी कैसे रहती ! वे इस तथ्यको जान गयी थीं । पिताके यज्ञमें पतिकी निन्दा सुननेके प्रायश्चित्तस्वरूप उन्होंने अपनी देहका परित्याग कर दिया ।

अभिनयका दूसरा पक्ष प्रारम्भ हुआ । वे दूसरा जन्म धारण कर फिर भगवान् शंकरकी अर्धाङ्गिनी बन गयी थीं । सती-जन्मवाली अज्ञताका अभिनय पूरा नहीं हुआ था । दो जन्मोंमें उस अज्ञताका उत्तर पाकर इन्हें सूचित करना था कि 'अज' का 'जन्म लेना' बहुत रहस्यपूर्ण है । अत. अवसर पाकर पराम्बाने शंकरभगवान्‌से पूछा—'नाथ ! मैं एक जिज्ञासामे पहले जन्ममे भी आर्त थी और आज भी आर्त ही हूँ । मेरी इस आर्तिको दूर कर दीजिये । आपने बतलाया था कि श्रीराम परब्रह्म परमात्मा हैं । परीक्षाकर मैंने उन्हें ब्रह्म पाया भी, किंतु अभी संतोष नहीं होता ।'

पराम्बाके प्रश्नोंका समाधान है—'रामचरितमानस' । इस मानसको भगवान् शंकरने पहले ही बनाकर अपने मनमें रख छोड़ा था और अधिकारी पाकर महर्षि लोमशको सुनाया भी था । भगवान् शंकरकी यह रचना सस्कृत-भाषामें थी । संस्कृतमें ही काकभुशुण्डिने महर्षि लोमशसे सुना, संस्कृतमे ही याज्ञवल्क्यने भारद्वाजको सुनाया । कलियुगमे भगवान् शंकरने नरहर्यानन्दजीको वही मानस बतलाया और नरहर्यानन्दजीने बालक तुलसीदासको । दयालु विश्वनाथने हमलोगोके लिये गोस्वामी तुलसीदासजीके द्वारा इसे सरल भाषामे बनवाया । गोसाईजीके मानसका आधार शिवरचित मानस ही है । इस बातको गोसाईजीने उपक्रम

और उपसंहारके संस्कृत-श्लोकोमे स्पष्ट कर दिया है। रामचरितमानस-जैसा दूसरा गम्भीर और प्रामाणिक ग्रन्थ हिंदीमे नही है। यह सरसताकी सीमा है। शिवपुराणकी उपर्युक्त घटनासे ज्ञात होता है कि मानसकी अवतारणा करानेके लिये ही करुणामयी माँने अज्ञताका यह अभिनय किया था।

ब्रह्मर्षि सनकादि

आदिपुरुष ब्रह्मा जब सृष्टिकी रचना करने लगे, तब उनसे सबसे पहले अज्ञानकी पॉच वृत्तियॉ उत्पन्न हुई। इस पापमयी सृष्टिसे वे प्रसन्न नही हुए। तब उन्होने अच्छी सृष्टिके लिये भगवान्‌का ध्यान किया। इससे उनका मन पवित्र हो गया। इसलिये इस बार उन्होने जो सृष्टि रची, उसमे सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—ये चार निवृत्तिपरायण ऊर्ध्वरेता मुनि उत्पन्न हुए। ये चारो संत जन्मसे ही भगवान्‌के ध्यानमे निमग्न रहते थे (भा० ३।१२।१-५)।

पॉच-छः वर्षतक तो काल इनपर अपना प्रभाव दिखला सका। इसके बाद इनकी ईश्वर-निष्ठा इतनी परिपक्व हो गयी कि इनपर कालकी गति शून्य हो गयी। आज भी ये पॉच-छ· वर्षके ही दीखते हैं। कालकी गतिको शून्य कर सकना केवल सनक आदि चार भाइयोसे ही सम्भव हुआ। ब्रह्मा अपने कालमानसे ५१वे वर्षमे चल रहे है, परतु उनके पुत्र ये चारो भाई केवल पॉच-छः वर्षके ही दीखते है—**पञ्चहायनसंयुक्ताः पूर्वेषामपि पूर्वजाः**। (पद्मपु० उ० ख० ४६)।

ये सदा हरि-कीर्तन करते रहते है और भगवान्‌की लीलाके रसका सतत आस्वादन कर सदा मस्त रहते हैं। भगवान्‌की कथा तो इनके जीवनका आधार ही है (पद्मपु० उ० खं० ४७)। यदि अन्य कोई श्रोता नही रहता है तो इन्हीमेसे एक वक्ता बन जाता है और तीन श्रोता; यद्यपि ये चारो भाई ज्ञान, तपस्या और शील-स्वभावमे समान हैं (भा० १०।८७।११)।

एक दिन विशालापुरीमे चारो भाई सत्सगके लिये पधारे थे। वहॉ उन्होने नारदजीको उदास देखा। सनकादिने नारदजीसे पूछा कि 'ब्रह्मन्! आप इतने व्याकुल क्यो है? आप आसक्तिसे रहित हैं। आपके लिये यह उचित नहीं है।'

नारदजीने बताया कि 'मै सर्वोत्तम लोक समझकर पृथ्वीपर आया। यहॉ पुष्कर आदि तीर्थोमे भी पर्यटन किया, किंतु इस बार मनको शान्ति नहीं मिली; क्योकि कलियुगने सारी पृथ्वीको ग्रस लिया है। तब मै वृन्दावन पहुँचा। वहॉ मैने एक आश्चर्यजनक घटना देखी कि एक तरुणी शोकाकुल बैठी है और उसके पास दो वृद्ध पुरुष अचेत पड़े है। तरुणी उन्हे चेत करानेका असफल प्रयास कर रही थी। मुझे देखकर युवती खडी हो गयी और व्याकुलताके साथ कहने लगी कि 'आप मेरी चिन्ता दूर कर दीजिये। मनुष्यका जब बड़ा भाग्य होता है, तभी आपके दर्शन होते है।'

मैने उन लोगोका परिचय पूछा। तब युवतीने कहा—'मेरा नाम भक्ति है और ये दोनो ज्ञान तथा वैराग्य नामक मेरे दो पुत्र है। वृन्दावनमे मै तो तरुणी बन गयी हूँ, किंतु ये दोनो मेरे लडके अचेत पडे है। जोर-जोरसे सॉसे खीच रहे है। मै जानना चाहती हूँ कि मैं तरुणी क्यो? और मेरे ये पुत्र वृद्ध क्यो? होना तो यह चाहिये था कि माता बूढी हो और पुत्र तरुण।' तब मैने ध्यानसे कारण जानकर कहा—'कलियुगके प्रभावसे जीवोके द्वारा भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—तीनोकी उपेक्षा हो रही है, इसलिये ये दोनो जर्जर हो गये है। तुम भी जर्जर हो गयी थी, किंतु वृन्दावनके संयोगसे तुम्हारी जर्जरता दूर हो गयी है।' भक्तिने कहा कि 'आप इनकी भी जर्जरता दूर कर दीजिये।' मैने भक्तिको आश्वासन दिया तथा ज्ञान और वैराग्यको हाथसे हिला-डुलाकर जगाने लगा। फिर कानके पास मुँह सटाकर जोरसे कहा—'ओ ज्ञान! जल्दी जागो। ओ वैराग्य! जल्दी जागो, किंतु वे नही जागे। तव मैंने

वेद-पाठ सुनाया। गीता-पाठ करके भी जगाया। इससे वे कुछ उठे अवश्य, किंतु उनकी आँखे नही खुली। वे अलसाये पड़े रहे। तब मैं थककर भगवान्का स्मरण करने लगा। उसी समय आकाशवाणी हुई कि 'इन्हे होशमे लानेके लिये तुम्हे एक सत्कर्म करना पड़ेगा। उस सत्कर्मको कोई संत-शिरोमणि बतायेगे।'

मै उन संत-शिरोमणिकी खोजमें जुट गया और प्रत्येक तीर्थमे जाकर मुनियोसे यह साधन पूछने लगा, पर समस्या हल नहीं हो रही थी। तब मैंने थककर ज्ञान और वैराग्यको जगानेके लिये तपस्या करनेका निश्चय किया। इसके लिये मै बदरिकाश्रम पहुँचा। वहाँ मुझे सनकादि मुनीश्वर दिखायी दिये। मैंने उनके सामने अपनी समस्या रखी। तब सनकादि ऋषियोने नारदजीको भागवत-सप्ताहका सत्कर्म बतलाया और इसीसे भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके कष्ट मिट गये।

महर्षि वसिष्ठ

हम लोगोके त्राता महर्षि वसिष्ठ ब्रह्माजीकी गोदसे उत्पन्न हुए थे। ये व्यासदेवके प्रपितामह थे। ज्ञान और तपके तो ये प्रकट रूप ही थे। इन्हे ही भगवान् श्रीरामके शिक्षा-गुरु होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

चरित्रसे शिक्षा (दूर-दृष्टि रखो)—महर्षि वसिष्ठ भूत, वर्तमान और भविष्यपर सतत सजग दृष्टि रखते थे। इनकी यह दूर-दृष्टि पैनी न होती तो आज हम लोगोका जो अस्तित्व है, वह नही होता। इस सम्बन्धकी दो घटनाएँ प्रस्तुत की जाती है।

पद्मपुराणसे पता चलता है कि एक बार शनि-देवता रोहिणीका भेदन कर आगे बढनेवाले थे। इस योगका नाम शकटभेद है। कही यह योग आ जाता तो पृथ्वीपर बारह वर्षोतक घोर दुर्भिक्ष पड़ता। तब जनताका बचना असम्भव हो जाता। उस समय चक्रवर्ती राजा दशरथका राज्य था। गुरु वसिष्ठसे इन्होने शिक्षा पायी थी। उस सुशिक्षासे इनमे कूट-कूटकर समर्थता और प्रजा-वत्सलता भर गयी थी। इनके राज्यमे प्रजा स्वर्गका सुख भोग रही थी। इस योगके आ जानेपर सारा राज्य ही नरक बन जाता। लगातार बारह वर्षोकि अकाल पड़नेपर यदि पानी और अन्नके बिना लोग तड़प-तड़पकर मरते तो कितना कष्टदायक दृश्य सामने आता? महर्षि वसिष्ठकी पैनी दृष्टिसे भविष्यका यह हृदय दहलानेवाला दृश्य छिपा न रहा। उन्होने इस योगके आनेके पहले ही चक्रवर्ती दशरथको इसपर काबू पानेके लिये तैयार कर दिया।

मनस्वी दशरथ तुरंत रथपर बैठकर नक्षत्र-मण्डलमे जा पहुँचे। शिष्टाचारके अनुसार पहले तो उन्होने शनि-देवताको प्रणाम किया और उसके पश्चात् क्षात्र-धर्मके अनुसार उन्होने उनपर संहारास्त्रका संधान किया। शनिदेवता चक्रवर्ती दशरथकी कर्तव्यनिष्ठासे प्रसन्न हो गये और बोले— 'वत्स! यहाँ आकर कोई बचता नहीं है। तुम गुरु-कृपासे बच गये हो। तुम्हारी प्रजावत्सलतासे मैं संतुष्ट हूँ, अत. मनचाही वस्तु मुझसे माँग लो। मै तुम्हे सब कुछ देनेको तैयार हूँ।'

दूरदर्शी गुरुका शिष्य भी तो दूरदर्शी होता है। उन्होने आँक लिया था कि यह भयानक योग जब कभी आयेगा, तभी सारी प्रजाको तड़पायेगा। अतः उन्होने केवल वर्तमान प्रजाके लिये ही नहीं, अपितु हमलोगोको भी बचानेके लिये वरदान माँगा— 'भगवन्! जब आप प्रसन्न है, तब यह वरदान दीजिये कि जबतक सूर्य, नक्षत्र विद्यमान हो, तबतक कभी आप रोहिणीका भेदन न करे।' शनिदेवने महाराजकी इस विश्वजनीनतासे और अधिक प्रभावित होकर प्रसन्नताके साथ मुँहमाँगा वरदान दे दिया। महाराजकी दुश्चिन्ता मिट गयी।

जिनकी प्रतिदिन पूजा की जाय, उनपर हथियार उठाना कम कठोर काम नहीं है, किंतु हमलोगोकी रक्षाके लिये उन्होने इस कठोर क्षात्रधर्मका पालन किया था। शनिदेवकी कृपा देखकर महाराज दशरथके शरीरमे रोमाञ्च हो आया था। उन्होने अपने अद्भुत रथपर धनुष डाल दिया। फिर प्रेमोद्रेकसे उनकी स्तुति की (पद्मपु० उत्तर-ख० ३४।२७-३४)।

इस स्तुतिसे शनि-देवता संतुष्ट हो गये। उन्होने एक वरदान और मॉगनेको कहा। उदारचेता दशरथ केवल मनुष्योका ही कल्याण नहीं चाहते थे। वे बोले—'भगवन्! आजसे आप देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, नाग आदि किसी प्राणीको कष्ट न दे।'

कितनी उदार मॉग थी? शनि-देवताने कुछ युक्ति लगाकर यह वरदान भी दे दिया। युक्ति यह थी कि यदि मैं किसी प्राणीकी कुण्डली अथवा गोचरमे मृत्युस्थान, जन्मस्थान और चतुर्थ स्थानमे स्थित रहूँ, तो उसे मृत्युका कष्ट दे सकता हूँ, किंतु यदि वह विधिविधानसे मेरी प्रतिमाका पूजन कर तुम्हारे द्वारा किये गये स्तोत्रका पाठ करेगा तो उसे मै कभी पीड़ा नही दूँगा, अपितु उसकी रक्षा करूँगा।

रथ—महर्षिकी ऋतम्भरा प्रज्ञाकी देन—ऊपर जिस रथका वर्णन आया है, वह कितना अद्भुत रहा होगा? आजके विद्वान्‌की पहुँचसे तो वह परे था। उसकी गति प्रकाशकी गतिसे भी अधिक रही होगी। नही तो इतनी शीघ्रतासे वह शनिकी कक्षामे कैसे पहुँच पाता? प्रतीत होता है कि वह रथ महर्षिकी ऋतम्भरा प्रज्ञाकी ही देन है, क्योंकि महर्षिने महाराज रघुके लिये भी ऐसे ही रथका निर्माण किया था। वह रथ भी समुद्र, आकाश, पर्वत कही भी बेरोक-टोक आ-जा सकता था (रघुवंश ५।२७)। सम्भवतः रघुका वही रथ वशपरम्परासे दशरथको मिला हो।

इस तरह महर्षिकी दूरदृष्टिसे शकटभेदका संकट सदाके लिये दूर हो गया और विश्व विनाशसे बच गया।

स्वत्वसे विश्वका कल्याण करो—एक बार दुर्भिक्ष आ ही गया। इसमे शनिदेव आदिका हाथ न था। यह विपत्ति जनतापर उसके संचित कर्मसे आयी थी। इसमे दशरथ आदिके पुरुषार्थका भी कोई उपयोग न था। प्रजाको तो तड़पनेसे बचाना ही होगा, यह सोचकर महर्षि वसिष्ठने अपने तपका उपयोग किया। खेतो-खलिहानोमे अन्नोका ढेर लग गया। वृक्ष फलोसे लद गये। घास लहलहा उठी। मन्द, सुगन्ध, सुशीतल वायु बहने लगी। बहुतोको पता भी न चला कि वे जिस वस्तुका उपयोग कर रहे है, वह प्राकृतिक नहीं है, अपितु महर्षिका प्रसाद है। इस तरह महर्षि वसिष्ठने अपने तपसे तीनो लोकोके एक-एक कणका कल्याण कर दिया।

कुलपति वसिष्ठ—महर्षि वसिष्ठका ज्ञान-सत्र सदा चला करता था। महर्षि विश्वामित्रके अनुरोध करनेपर उन्होने भगवान् श्रीरामको जो तत्त्वोपदेश दिया है, वह 'योगवासिष्ठ' नामसे विख्यात है। महाकवि कालिदासने इनके लिये 'कुलपति' शब्दका (रघुवंश १।९५) प्रयोग किया है। कुलपति शब्दके अनेक अर्थ होते है। 'जो दस हजार शिष्योको अन्न-पान आदिकी सुविधा प्रदान कर पढ़ाये, उसे 'कुलपति' कहते हैं।' यह कुलपति शब्दका पारिभाषिक अर्थ है। प्रतीत होता है कि महाकवि कालिदासने इनके लिये कुलपति शब्दका प्रयोग इसी पारिभाषिक अर्थको लेकर किया है, क्योंकि उन्होने इसी श्लोकमे बतलाया है कि दिलीपकी नीद तब खुली, जब उनके कानोमे शिष्योको पढ़ाते हुए महर्षिके शब्द आये।

कुछ वाचनिक शिक्षाएँ (सदाचारकी शिक्षा—) सदाचारके बिना क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं, अत गुरुकुलमे प्रवेश करनेपर सबसे पहले गुरु आचारकी शिक्षा देते थे। इसलिये वे 'आचार्य' कहलाते थे—'**आचारं ग्राहयतीति आचार्यः** (निरुक्त)। यहाँ दिलीपके प्रश्नोका उत्तर देते हुए महर्षि वसिष्ठने जो गृहस्थोका आचार बतलाया है, उसका कुछ अश दिया जाता है—

ब्राह्ममुहूर्तमे उठे। हाथ-मुँह धोकर भगवान्‌का चिन्तन करे। प्रात स्मरणीय श्लोकोको पढ़े। फिर कर्म और अर्थका चिन्तन करे। तत्पश्चात् शौचसे निवृत्त होवे। यदि आवास वन या गॉवमे हो तो नैर्ऋत्यकोणकी ओर

कुछ दूर जाकर मल-मूत्रका त्याग करे । मलत्यागसे पहले तृणोसे भूमिको ढँक दे । कानपर जनेऊ चढ़ाना न भूले । मलत्यागके निमित्त दिन और संध्याके समय उत्तरकी ओर मुँह करे एवं रातको दक्षिणकी ओर । मलत्यागके समय थूकना या गहरी साँस खीचना मना है । माथा ढँका हो और मौन रहे । मलको न देखे । वहाँ अनुचित कालक्षेप न करे । लिंगमे एक बार तथा गुदामे तीन (पाँच) बार मिट्टी लगाये । प्रत्येक बार जलसे धोता जाय । बाये हाथमे दस बार मिट्टी लगाकर दोनो हाथोको सात बार मिट्टीसे धोये । पैरोमे भी मिट्टी लगानी चाहिये । इस प्रकार मिट्टी और जलसे हाथ-पैर धोकर शिखा बाँध ले, तदनन्तर आचमन करे । आचमनके समय हाथ घुटनोके भीतर होना चाहिये । आचमनके पश्चात् नेत्रोको धो डाले । दातौनका कभी-कभी निषेध भी है । मजनका निषेध नहीं है । जीभी अवश्य करे । निषिद्ध दिनोंमे भी जीभी करनी चाहिये । इसके बाद स्नान करे । स्नानाङ्गभूत तर्पण आवश्यक है । फिर दो वस्त्र धारणकर आचमन करे । इसके बाद भस्म या गोपीचन्दन लगाना चाहिये । तदनन्तर मनको एकाग्रकर संध्योपासन करे । संध्योपासनसे तीनो लोकोंमे कुछ अप्राप्य नहीं रहता । प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दान करे । देव-पूजा करे । पाँच देवताओकी पूजा आवश्यक है । यह दिनके पहले भागका कार्य हुआ । दूसरे भागमे स्वाध्याय किया जाता है । इसी समय फूल, कुश, समिधा आदिका संग्रह करे । तीसरे भागमे धनका उपार्जन करे । दिनके चौथे भागमें पुनः स्नान करे । ब्रह्मयज्ञकी पूर्तिके लिये स्वाध्याय करे । फिर देवताओं, ऋषियो और पितरोका तर्पण करे । मध्याह्न-संध्या और जपके बाद पञ्चमहायज्ञ करे । इसके बाद पूर्वकी ओर मुँहकर भगवान्का प्रसाद पावे । शास्त्रसे निषिद्ध वस्तुओको न खाये । भोजनके बाद आचमन कर मुख, नाक और आँखका स्पर्श करे । तत्पश्चात् इष्टदेवका स्मरण करे । दिनके छठे और सातवें भागमे शास्त्रोका अध्ययन करे । आठवे भागमें जीविकाका उपार्जन करे । इसके बाद साय-संध्या करे और जप करे । तदनन्तर दिशाओ और दिक्पालोंको पृथक्-पृथक् नमस्कार करे । भोजनके दोनों समय बलि-वैश्वदेव करे । यदि भोजन न करना हो, तो भी बलिवैश्वदेव करे । फिर पूर्वकी ओर सिरकर भगवान्का स्मरण करता हुआ सोवे ।
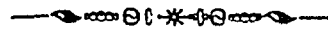
महर्षि वाल्मीकि

वाल्मीकि ब्राह्मण-पुत्र थे, किंतु वे किरातोके साथ रहकर बड़े हुए थे (अ०रा०२ । ६ । ६५) । उन किरातोंका चरित्र अच्छा न था, अतः कुसंगका प्रभाव इनपर पडा । इन्होने शूद्रासे विवाह किया और उससे बाल-बच्चे उत्पन्न किये । ये उनके पेट भरनेके लिये लूट-खसोट और चोरी करते थे । एक बार इन्हे सप्तर्षियोका सङ्ग प्राप्त हो गया । उनके सङ्गने इनके संस्कारमे आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया । सप्तर्षियोने इन्हे 'मरा-मरा' जपनेकी शिक्षा दी और कहा कि जबतक हम न लौटे, तबतक इसी मन्त्रका निरन्तर जप करते रहना । एक हजार युग बीतनेपर वे लौटे । तबतक इनपर वल्मीकका ढेर लग चुका था । ऋषियोने कहा—'निकल आओ ।' तब इन्होने नूतन शरीरसे निकलकर उनकी अभ्यर्थना की (अ० रा०२ । ६ । ६५-६८) । अब वे ब्रह्मर्षि बन गये थे ।

शिक्षण-संस्थानकी स्थापना—कुसंगति और सुसगति मनुष्यके जीवनमे कितना उतार-चढ़ाव लाती हैं, इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति महर्षिको प्राप्त थी । बचपनसे ही अच्छा सस्कार डालनेके लिये महर्षि वाल्मीकिने गङ्गाके पास तमसा-तटपर विशाल शिक्षा-सस्थान स्थापित किया था । उसमे दस हजार छात्रोके भोजनके साथ-साथ आवासकी व्यवस्था थी । रामायणमे इन्हे कुलपति कहा

ाया है । इनकी आध्यात्मिक शिक्षाके उत्कृष्ट उदाहरण भरद्वाज और धनुर्वेद तथा गानकलाके उदाहरण कुश और लव है । कुश और लवकी रण-शिक्षा इतनी प्रखर थी के इन दोनों भाइयोने सम्पूर्ण श्रीराम-सेनाको पराजित कर शत्रुघ्नजीका मुकुट और पुष्कलका किरीट माँको भेट किया था तथा हनुमान् और सुग्रीवको भी बंदी बना लिया था (पद्मपु० पा० खं०) । ये गानेमे इतने प्रवीण थे कि सुननेवाले आपा खो देते थे । शत्रुघ्न, उनके सचिव और सैनिक उस गानको सुनकर रातभर रोते ही रहे (वा० रा०७।७१) । ये धर्मशास्त्रमे इतने निष्णात थे कि इनके शिष्य लव-कुशसे जब माता सीताने कहा—'तुमलोगोने श्रीरामकी सेनाको मारकर अन्याय किया है', तब बच्चोने विनीत शब्दोमे कहा था— 'माताजी! हम दोनोसे अन्याय तो नही हुआ है । गुरु (वाल्मीकि) जीने पढ़ाते समय बतलाया था कि क्षात्र-धर्मके अनुसार पुत्र पितासे, भाई भाईसे और शिष्य गुरुसे युद्ध कर सकता है । हाँ, आपकी आज्ञा है, इसलिये सबको छोड़ देता हूँ' (पद्मपु० पा० खं०) ।

नामकी महिमा अवर्णनीय—महर्षि वाल्मीकिने भगवान् श्रीरामसे कहा था—'भगवन्! आपके नामकी महिमाका कोई वर्णन नही कर सकता । उसी नामके प्रभावसे मैं ब्रह्मर्षि बन गया (अ० रा० २।६।६४) । आपके उस नामका ही प्रभाव है कि मैं अपनी इन आँखोसे सीता और लक्ष्मणके साथ आपको देख रहा हूँ' (अ० रा० २।६।८७) ।

महर्षि मरीचि

ब्रह्माके दस मानस पुत्रोमें महर्षि मरीचि सबसे बड़े हैं । कर्दम ऋषिकी पुत्री कलासे इनके दो पुत्र उत्पन्न हुए थे—कश्यप और पूर्णिमा । कश्यपकी वंश-परम्परा इतनी बढ़ी कि इससे सारा संसार भर गया (श्रीमद्भा० ४।१।१३) । महर्षि मरीचिकी दूसरी पत्नीका नाम ऊर्णा था । ऊर्णाके गर्भसे छः पुत्र उत्पन्न हुए । वे षड्गर्भ कहलाते थे । वे धर्मशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् थे (देवीभा० ४) ।

ब्रह्माकी सभा अद्भुत थी । कौषीतकि-उपनिषद्मे उसका विस्तारसे वर्णन है । उस सभामे क्षण-क्षणमे नवीनता आती रहती थी । महर्षि मरीचि इस सभामे स्थित रहकर अपने पिताकी उपासनामे लीन रहते थे (महा० भा० स० ११।१८) । इनकी तपस्या बहुत ही बढी-चढी थी, अतः इन्हे 'ब्रह्मा' कहा जाता था (पद्मपु० सृ० खं० १८) । काशीमे इन्होने अपने नामसे जो 'मरीचीश्वर' लिङ्गकी स्थापना की थी, वह मरीचिकुण्डके पास है ।

इनकी कुछ शिक्षाएँ

उत्कृष्ट पद पानेके लिये विष्णुकी आराधना आवश्यक—बालक ध्रुवको ढाढ़स बँधाते हुए महर्षि मरीचि तथा अत्रिने यह शिक्षा दी थी— जिस सर्वोत्कृष्ट स्थानको पानेकी तुम्हारी इच्छा है, उसकी पूर्तिके लिये तुम भगवान् विष्णुकी आराधना करो । जो उनकी आराधना नहीं करता, उसे वह स्थान नहीं मिल सकता । इसलिये उनका ध्यान करते हुए **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'**—इस मन्त्रका जप करो । ठहरते , चलते, सोते, जागते तथा बैठते समय सतत भगवान्का नाम जपते रहना चाहिये (स्कं०का०पू० १९) ।

सद्गुरुके सामने वेद मौन हो गये, शास्त्र दिवाने हो गये और वाक् भी बंद हो गयी । सद्गुरुकी कृपादृष्टि जिसपर पडती है, उसकी दृष्टिमे सारी सृष्टि श्रीहरिमय हो जाती है । धन्य है श्रीगुरुदेव, जिन्होने अखण्ड नाम-स्मरण करा दिया । सद्गुरुचरणोका लाभ जिसे हो गया, वह प्रपञ्चसे मुक्त हो गया ।

महर्षि अत्रि

ब्रह्माके नेत्रोसे अत्रिकी उत्पत्ति हुई थी। जब ब्रह्माजीने इन्हें सृष्टि रचनेकी आज्ञा दी, तब ये अपनी धर्मभार्या अनसूयाके साथ ऋक्ष पर्वतपर चले गये। ये उत्तम संतानके इच्छुक थे, किंतु बिना तपके ऐसा सम्भव नही होता, अतः इन्होंने सौ वर्षोंतक घोर तप किया। ये चाहते थे कि जो जगत्का स्वामी है, वह अपने समान ही हमें संतान दे। इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेशने इन्हे दर्शन दिया। उनकी अद्भुत छटाको देखकर ये तन्मय हो गये। वे मुस्कुरा रहे थे और उनकी ममतामयी ऑखोसे कृपाकी वर्षा हो रही थी। प्रणाम और पूजनकर अत्रिने पूछा—'भगवन्! मैंने तो अद्वैततत्त्वकी उपासना की थी। परमात्मा तो एक ही होता है, मैंने तो एक उसी परमात्माकी आराधना की है। आप तीनोंमें वे कौन हैं?'

त्रिदेव बोले—'तुम्हारे संकल्पके अनुसार ही हमने तुम्हें दर्शन दिया है। हम तीनो एक ही हैं। तुम जगत्के ईश्वरको चाहते थे, हम तीनों वही हैं। हमारे अंशसे तुम्हे तीन जगद्विख्यात पुत्र होंगे।' समय आनेपर ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुके अंशसे दत्तात्रेय और शिवके अंशसे दुर्वासा पुत्ररूपमे उत्पन्न हुए (भा० ४।१।१७-३३)।

इनकी कुछ शिक्षाएँ

संतानसे पहले आराधना—महर्षि अत्रिने अपने चरित्रसे शिक्षा दी है कि गृहस्थाश्रममे आनेपर उत्तम संतानके लिये पहले ईश्वरकी आराधना करनी चाहिये। यदि कुपुत्र हो जाता है तो उससे माता, पिता, राष्ट्र—सबकी हानि होती है। धुंधुकारी-जैसी संतानसे तो सारा जीवन नरक बन जाता है।

तीनो देव एक है—इस घटनासे स्पष्ट हो जाता है कि तीनों देव वस्तुतः तीन न होकर एक हैं। एककी ही तीन अभिव्यक्तियाँ है। इनमे भेद-बुद्धि न करे।

सदा मङ्गल-ही-मङ्गल—महर्षि अत्रिने एक ऐसा उपाय बतलाया है, जिसके पालनसे सब समय मङ्गल-ही-मङ्गल प्राप्त होता है। वह उपाय है—शास्त्रने जिन कर्मोंका विधान किया है, उन्हींको यदि केवल मन, वचन और शरीरसे किया जाय और जिनका निषेध किया है, उनका सर्वथा वर्जन किया जाय तो सब समय मङ्गल-ही-मङ्गल प्राप्त होता है (अत्रिस्मृति ३८)।

क्या करें?—यदि कोई बाह्य या आभ्यन्तर किसी तरहका कोई कष्ट पहुँचावे, तो न उसपर क्रोध करना चाहिये और न प्रतिशोधकी भावना ही लानी चाहिये। इसे ही 'दम' कहा जाता है (अ०स्मृ०३९)। भगवान् जितना देता है, उतनेपर संतोष करे। प्रसन्न-मनसे प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दिया करे। अपना हो या पराया, मित्र हो या शत्रु—सबपर अपनापन रखे। सबमे भगवान्का निवास समझे (अ०स्मृ० ३८-४१)।

नियमका पालन आवश्यक—क्षमा करना, सच बोलना, मन, वचन और कर्मसे किसीको पीडा न पहुँचाना, दान देना, स्वभावमे मिठास बनाये रखना, सबसे प्रेम करना, प्रसन्न रहना, अच्छा व्यवहार बनाये रखना और ऋजुता—ये 'यम' कहलाते है। मनुष्यके लिये इनका पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि इनका पालन न किया जाय और नियमोका कठोरतासे पालन किया जाय तो भी कोई लाभ नहीं होगा। तब चाहे लाख पवित्रता रखी जाय, यज्ञ किये जायँ, तपस्या की जाय, दान दिया जाय, वेद पढा जाय, ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय, मौन या उपवास रखा जाय, किंतु बिना यमके ये सब व्यर्थ हो जाते हैं (अत्रिस्मृ० ४८-४९)।
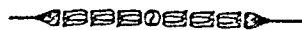
चार चीजें पहले दुर्बल दीखती है, परंतु परवा न करनेसे बहुत बढ़कर दुःखके गड्ढेमे डाल देती है—अग्नि, रोग, ऋण और पाप।
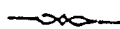
महर्षि पुलस्त्य

स्वायम्भुव-मन्वन्तरमे महर्षि पुलस्त्यकी उत्पत्ति ब्रह्माके कानसे हुई थी (भा० ३।१२)। ये तपस्याके स्वरूप थे, इसलिये अन्य प्रजापतियोकी तरह इन्हे भी 'ब्रह्मा' कहा जाता था (पद्मपु० सृष्टि-खण्ड २)। एक बार इन्हे महान् पितृभक्त भीष्मकी सृष्टिके सम्बन्धमे जाननेकी उत्कट इच्छा हुई। इसके लिये वे गङ्गाद्वारमे घोर तप कर रहे थे। तब ब्रह्माने पुलस्त्यको भीष्मके पास भेजा। महर्षि पुलस्त्यने उनके सारे प्रश्नोका उत्तर पद्मपुराणके आधारपर दिया था।

इनकी कुछ शिक्षाएँ

मानवयोनि-कर्मयोनि—मानवयोनि कर्मयोनि मानी जाती है। मनुष्य चाहे तो ब्रह्म बन सकता है और चाहे तो पत्थर। इतनी उपयोगिता है मानव-शरीरकी। महर्षि पुलस्त्यने इस तथ्यकी शिक्षा भीष्मको दी थी—'मनुष्य यदि शास्त्र-विहित कर्म करे तो वह स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्त कर सकता है। इसी तरह वह जिस-जिस पदको चाहता है, उन सबको प्राप्त कर सकता है (पद्मपु० सृष्टिखण्ड ३)।

भूदेवोकी महत्ता—भीष्मके पूछनेपर कि 'सुख-समृद्धि आदि सर्वविध मङ्गल कैसे प्राप्त किया जा सकता है?' महर्षि पुलस्त्यने बतलाया—'तीनो लोको और चारो युगोमे ब्राह्मण सदा पवित्र माने जाते है। ब्राह्मण देवताओके भी देवता है। जिसपर ब्राह्मण प्रसन्न होते हैं, उसपर विष्णु भी प्रसन्न होते हैं। ब्राह्मणके शरीरमे सदा विष्णु निवास करते हैं। ब्राह्मणकी पूजासे सौ यज्ञोका अनुष्ठान हो जाता है। ब्राह्मणोंकी पूजा करनेवाला मनुष्य कभी दरिद्र, दु:खी और रोगी नहीं होता। ब्राह्मणके मुखसे देवता हव्यका और पितर कव्यका उपभोग करते हैं। ब्राह्मणके बिना दान, होम और बलि व्यर्थ हो जाते हैं। ब्राह्मणको प्रणाम न करनेसे, इनके साथ द्वेष करनेसे या अश्रद्धा करनेसे आयु क्षीण होती है तथा धन-ऐश्वर्यका नाश और परलोकमे भय प्राप्त होता है।'

पिता और माता ईश्वरकी मूर्ति—पिता धर्म हैं, पिता स्वर्ग हैं, पिता ही परम तप हैं। पिताके प्रसन्न हो जानेसे सभी देवता प्रसन्न हो जाते हैं (पद्मपु० सृष्टि-खं० ४७।९)। माता सर्वतीर्थस्वरूपा हैं और पिता सब देवोके स्वरूप हैं, इसलिये माता और पिताकी पूजा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये (पद्मपु० सृ० खं० ४७।९)। जो माता-पिताकी प्रदक्षिणा करता है, उसे सम्पूर्ण पृथ्वीकी प्रदक्षिणाका फल प्राप्त होता है। माता-पिताकी पूजासे मनुष्य जिस धर्मको प्राप्त कर लेता है, वह हजारो यज्ञों और तीर्थयात्राओसे भी प्राप्त नहीं हो सकता (पद्मपु० सृ० ख० ४७।८)।

पति ईश्वरकी मूर्ति—जो पतिव्रता नारी पतिको परमेश्वर समझकर प्रतिदिन पतिके हितमे रत रहती है, वह अपने पिता तथा पतिके कुलोकी सौ-सौ पीढ़ियोको तार देती है (पद्मपु० सृ० ख० ४७।५१)। महर्षि पुलस्त्यने भीष्मको यही शिक्षा दी थी।

सच्चा सुख और सच्चा प्रेम

सुख तो मनको विषयोसे हटा लेनेमे ही है। ये विषय-भोग तो प्राणीको नरकमे भी मिल जाते है, अतएव इस मरणशील शरीरको पाकर जितना शीघ्र भगवत्प्राप्तिके साधनमे लगा जा सके, लग जाना चाहिये। भगवान् कहीं दूर तो है नहीं, वे तो अपने हृदयमे ही है और सबके सुहृद् है। उन्हे कोई विद्वान् या उच्च कुलका ही व्यक्ति पा सके या उनके पानेके लिये बहुत पूजादि सामग्री लगे, सो भी बात नहीं है। वे दयामय तो एकमात्र प्रेमसे ही प्रसन्न होते है।

महर्षि भृगु

महर्षि भृगु ब्रह्माकी त्वचासे उत्पन्न हुए थे। ये दक्षसे प्रभावित थे। वेदके कर्मकाण्ड-भागपर इनकी अटूट श्रद्धा थी। 'शुक्लतीर्थ' के समीप नर्मदाके उत्तर तटपर इन्होने एक आश्रम बना रखा था। जहाँ वेदोकी शिक्षा दी जाती थी। मन्त्रोके उद्घोषसे वहाँका सारा वातावरण प्रतिध्वनित होता रहता था। देवर्षि नारदसे भृगुने बतलाया था कि ब्राह्मणोको बसानेके लिये मैने योग्य भूमिकी खोजमे समुद्रपर्यन्त पर्यटन किया था (स्कन्दपुराण)।

यज्ञके विधानोपर इनका अच्छा अधिकार था। सतीका देह-त्याग देखकर जब प्रमथगण दक्षपर टूट पड़े, तब भृगुने **'अपहता असुरा रक्षा॑ᳺसि, वेदिषदः'**—इस मन्त्रसे दक्षिणाग्निमे आहुति दी। आहुति पड़ते ही यज्ञकुण्डसे ऋभु नामक प्रबल देवता प्रकट हो गये और उन्होने प्रमथगणोको मार भगाया (शि० पु० रुद्रसं० ३०)।

इससे यह भी प्रतीत होता है कि भृगुकी बुद्धि एकाङ्गी हो गयी थी। शिवतत्त्वको न समझकर ही वे उनसे द्रोह कर रहे थे। दक्ष-यज्ञके विध्वंसके बाद उनके ज्ञानमे पूर्णता आयी। उन्होने विष्णुकी प्रार्थना करते समय विश्वको शिक्षा दी है—

आत्मतत्त्व दुर्बोध है—उन्होने स्वीकार किया है कि हम प्रजापतिगण जो आत्मतत्त्वको नहीं जान पाते, उसका कारण यह है कि मायासे आत्मज्ञान लुप्त हो जाता है। जो भगवान्‌की शरण ग्रहण करता है, वही उस तत्त्वको जान पाता है (भा० ४।७।३०)।

दुःख दूर करना सबसे बड़ा पुण्य—प्रजापति भृगुने अपने पुत्र च्यवनको मार्कण्डेयपुराण सुनाया था। उसमें एक घटना आती है—'जनकवंशमे विपश्चित नामक एक राजा हुए थे। वे बड़े धर्मनिष्ठ थे और कोई पाप न होने देते थे। फिर भी उनसे एक अपराध हो गया था। एक बार उन्होने अपनी भार्याके ऋतुकालको सफल नही बनाया था। इसी पापके कारण उन्हे दारुण नामक नरक देखना पड़ा था। थोडी देरतक नरकको दिखाकर यमदूतने कहा—'महाराज! अव आपको यहाँसे पुण्यलोकोकी ओर चलना है।' जव महाराज विपश्चित चलनेको तैयार हुए, तव चारो ओरसे आवाज आने लगी—'महाराज! दो घड़ी और ठहर जाइये। आपके शरीरका स्पर्श करके जो हवा आ रही है, उससे हमलोगोकी सारी पीड़ा समाप्त हो गयी है और इतना सुख मिल रहा है कि मानो हम स्वर्गमे पहुँच गये हैं।'

महाराजने यमदूतसे कहा—'तुम जाओ। मैं तो यहाँसे नहीं जाऊँगा। मुझसे इन्हे यदि सुख मिल रहा है तो मैं इनके लाभके लिये यहाँसे हिलूँगा भी नहीं। जो दुःखी जनोका दुःख दूर नहीं करता, मेरी दृष्टिसे वह मनुष्य नही है। इनके दुःख मिटनेसे मुझे जो सुख मिलेगा उससे मैं नरककी सारी यातनाओको सह लूँगा।'

यमदूतने कहा—'महाराज! देखिये, आपको लेने धर्मराज और देवराज इन्द्र पधारे हैं। आपको तो चलना ही चाहिये।' महाराजने दोनो देवताओंका अभिवादन किया और यहीं ठहरनेकी बात दोहरायी। तब धर्मराजने कहा—'आप अपने सत्कर्मोका फल भोगनेके लिये देवलोक चले और इन पापी जीवोको नरकमे रहने दे।'

महाराजने कहा—'यदि मेरे समीप आनेपर भी इन दुःखी जीवोको कोई ऊँचा पद न मिला तो मेरा जीवन व्यर्थ हो जायगा। आप मेरे पुण्य इन्हे प्रदानकर इस दुःखसे छुटकारा दिला दे।'

इन्द्रने कहा—'आपकी इस सहृदयतासे आपका पुण्य और बढ गया और ये नारकीय जीव भी मुक्त हो गये।' देवराजकी बात पूरी भी न हो पायी थी कि आकाशसे फूलोकी वृष्टि होने लगी और स्वयं भगवान् विष्णु विमानपर बैठाकर महाराजको अपने लोकमे ले गये। इस तरह मानवताकी भावनासे महाराज विपश्चितके वे अनन्त पुण्य और बढ गये तथा जीवोको भी नरकसे छुटकारा मिला।

देवर्षि नारदका दिव्योपदेश

महर्षि अङ्गिरा

ब्रह्माके छः शक्तिशाली पुत्रोमे अङ्गिरा भी आते हैं (महा० आ० ६६।४)। इनके तीन पुत्र विश्वविख्यात हैं— (१) बृहस्पति, (२) उतथ्य और (३) संवर्त।

शिक्षा देनेमे पक्षपात न करे—पुराणने अङ्गिरा आदि प्रजापतियोको बहुत ऊँचा स्थान दिया है, इन्हे भी ब्रह्मा ही कहा है (मार्क० ५०।५-६)। फिर भी प्रवृत्ति-मार्गकी प्रधानताके कारण मायाका कुछ प्रभाव इनपर पड़ जाता था। अङ्गिरा और भृगुने आपसमे तय कर लिया था कि 'हम दोनोमेसे एक ही दोनोके पुत्रोकी शिक्षाका भार सँभाले। अङ्गिराने यह भार अपने ऊपर लेते हुए कहा था—'मै बृहस्पतिको और आपके पुत्र कविको भी बिना भेदभावके पढ़ाऊँगा। कवि मेरे यहाँ ही रहे।'

बालक कवि अङ्गिराकी सेवा करने लगा, परंतु अङ्गिरापर मायाका प्रभाव पड गया। वे दोनोमे समवुद्धि न रख सके। पुत्रको अलग पढ़ाने लगे और कविको अलग। कविको यह विषमता खलने लगी। वह बोला—'आप बृहस्पतिको अधिक पढाते हैं और मुझे कम। शिक्षकमे यह भेदभाव अनुचित है।' किंतु अङ्गिरा समव्यवहार न कर सके।

हारकर कविने गुरुजीसे आज्ञा लेकर वहाँ पढ़ना बंद कर दिया। सात्त्विक स्पर्धा बालकमे आ ही गयी थी। उसने तपस्याकर भगवान् शकरको गुरु बनाया और उनसे सञ्जीवनी-विद्या प्राप्त की, जो अङ्गिराको भी ज्ञात न थी।

आगे चलकर अङ्गिराके पुत्र बृहस्पति देवताओके गुरु बने, किंतु सञ्जीवनी-जैसी अद्भुत विद्या इनके पास न थी। स्पर्धावश कवि असुरोके गुरु बन गये (ब्रह्मपुराण)।

शिक्षा पवित्र वस्तु है। इसमे राग, द्वेष, आलस्य और उपेक्षाका प्रवेश अत्यन्त अनुचित है।

देवर्षि नारद

नारद ब्रह्माकी गोदसे उत्पन्न हुए थे। ये महान् तत्त्वज्ञ और प्रेमी भक्त थे। ईश्वरका निरन्तर स्मरणसहित कीर्तन और लोगोको शिक्षा देना—यही दो काम उनके प्रधान थे। उनके प्रशिक्षणका क्षेत्र बहुत व्यापक था। तीनो लोकोमे उनकी अबाधित गति थी। उन्होने तीन लाख श्लोकोवाला महाभारत देवताओको सुनाया था तथा व्यासजीको और सावर्णिमनुको पाञ्चरात्रागमका उपदेश दिया था। उन्होने ही मार्कण्डेयमुनिको धर्मशास्त्र एवं आत्मज्ञान सिखाया, श्रीवाल्मीकिको रामायणका ज्ञान कराया और श्रीव्याससे भागवत लिखवाया। जब पाण्डवोको वनमे ब्राह्मणोको खिलाने-पिलानेमे कठिनाई हुई, तब उनके पुरोहित धौम्यको उन्होने सूर्यकी आराधनाका सफल प्रकार बतलाया था।

कुछ लोग इनपर झगड़ा लगानेका आरोप करते हैं। पहले भी लोगोको इसपर संदेह होता था, किंतु भगवान् श्रीकृष्णने कह रखा है कि यह विश्वके हितके लिये नारदकी निर्दोष लीला है। उन्होने कहा है—'जब नारद यह परख लेते थे कि इस दैत्य या दानवका विनाशकाल आ पहुँचा है, तब वे उसके कलहकी भावनाको उभारते थे, किंतु इसके लिये ये कभी असत्य नही बोलते थे। शुद्ध सत्यका प्रयोग करते थे। अत· ये इस दोपसे लिप्त नही होते थे'(स्कन्दपुराण, माहेश्वर-खं०)। इस तरह नारद अपनी इस लीलासे उसका हित और साथ-साथ विश्वका भी कल्याण करते थे। भगवान् श्रीकृष्ण नारदको तो बहुत मानते थे। वे 'नारद-स्तोत्र'का पाठ भी किया करते थे और इस तरह वे '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव**

भजाम्यहम्'का व्यावहारिक रूप देते थे ।

नारदकी अनुकरणीय शिक्षा-पद्धति—नारदने नैतिकताको जीवनमें उतारनेके लिये जिस शिक्षा-पद्धतिका प्रयोग किया था, वह उन दिनो सफल रही और आज भी सफल हो सकती है । सरकारको और शिक्षाशास्त्रियोंको इसपर एक दृष्टि डालनी चाहिये ।

उन दिनो हिरण्यकशिपुका बोलबाला था । वह चाहता था कि किसी तरह विधाताका पद छीनकर मै ईश्वरके सारे विधानोको ही उलट-पलट दूँ । वह अहिंसाके स्थानपर हिंसाको, प्रेमके स्थानपर विद्वेषको और ईश्वरके स्थानपर अपनेको प्रतिष्ठित करना चाहता था । इसके अनुरूप वह कार्य भी कर रहा था । प्राणियोसे उसे प्रेम तो था नहीं, अत. उनकी हिंसाको देखकर ही वह प्रसन्न होता था । सह-अस्तित्वको वह कैसे सह सकता था ? उसका आदेश था कि 'सारे ईश्वरवादी मार डाले जायँ । एक भी न बचे ।' श्रीमद्भागवतसे पता चलता है कि खूँखार दैत्योंने पृथिवीपर उतरकर एक ओरसे ईश्वरवादियोको काटना प्रारम्भ कर दिया । जो दूसरोके संतापोंसे सुखका अनुभव करते हैं, वे कितना जघन्य कर्म कर सकते हैं, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है । सारा भूमण्डल श्मशान बना दिया गया । भूमण्डल ही नहीं, तीनो लोक वीरान हो गये ।

वरदानके प्रभावसे हिरण्यकशिपुका कोई वाल भी बॉका नहीं कर सकता था । देवर्षि नारद सत्यकी हत्यासे चिन्तित थे । उनके समक्ष सचाईको कैसे जितावे, यह प्रश्न था । शिक्षाका पत्थरपर क्या प्रभाव होगा ? अतः उन्होने नयी पीढ़ीको शिक्षित करना चाहा । उस समयकी पीढ़ी तो पत्थर बन गयी थी, किंतु आगेकी पीढ़ीको पत्थर बननेसे बचाया जा सकता था । परंतु उस समय परिस्थिति बहुत खराब थी । वे किसी बच्चेको कुछ सिखा नहीं सकते थे; क्योंकि तीनो लोकोमे हिरण्यकशिपुका प्रभुत्व सतर्क था । नारदजी परिस्थितिकी प्रतीक्षा करने लगे ।

हिरण्यकशिपु तप करने चला गया था । इन्द्रने अपनी वस्तुएँ लौटा लेनेके लिये उसके नगरपर चढ़ाई कर दी । हिरण्यकशिपु तो था नहीं, इन्द्रका सामना कौन करता ? देवराजने सबको पराजित कर अपनी वस्तुएँ ले लीं और राजरानी कयाधूको भी कैद कर लिया । कयाधू गर्भवती थी । उसे अपनी चिन्ता तो थी ही, उससे बढ़कर अपनी गर्भस्थ संततिकी चिन्ता थी । वह जोर-जोरसे रोती-चिल्लाती चली जा रही थी ।

नारद ऐसे ही अवसरकी प्रतीक्षा कर रहे थे । वे झट वहाँ आ पहुँचे । उन्होने इन्द्रको समझाया कि 'महिलाएँ अवध्य होती है, अतः इसे छोड़ दो ।' इन्द्रने कहा—'मै कयाधूको नहीं मारूँगा । मारूँगा इसके गर्भस्थ शिशुको । सॉपका बच्चा सॉप होता है । हिरण्यकशिपुकी तरह बड़ा होकर यह भी निरीह लोगोकी हत्या करेगा । करोड़ोकी हत्याको बचानेके लिये एककी हत्या ठीक है ।'

नारदने रहस्यकी बात सुनायी । इन्द्र कयाधूको छोडकर लौट गये । कयाधू नारदजीके आभारसे दब गयी थी । वह राजरानी थी । वह समझ गयी कि जबतक मेरे पतिदेव नहीं लौटते, तबतक नारदके पास रहनेमें ही मेरी सुरक्षा है । नारदकी तो योजना ही यही थी । कयाधू नारदजीके पास नहीं रहती, तो वे उसके गर्भस्थ शिशुको शिक्षा कैसे देते ? नयी पीढ़ीका निर्माण कैसे करते ?

शिक्षाका माध्यम सत्य घटना—ईश्वर-जैसे सूक्ष्म तत्त्वको समझानेके लिये नारदजीने सत्य घटनाको अपनी शिक्षाका माध्यम बनाया । इतिहास (इति+ह+आस) का अपलाप नास्तिक भी नही करता । सत्य घटनाके सामने आ जानेपर तर्ककी सब उछलकूद समाप्त हो जाती है । विरुद्ध होनेके कारण पथरायी बुद्धि उसे मानना तो नहीं चाहती, पर प्रत्यक्षका अपलाप भी तो नहीं कर पाती ।

नारदने सबसे पहले दो बच्चोकी घटना रखी । दो बच्चे थे । उनमें एक जानता था कि मेंहदीकी पत्तीमे लाली होती है, दूसरा नही जानता था । पहलेने कहा—'देखो भाई ! मेरा हाथ कैसा लाल है । कल मॉने मेहदी लगा दी थी । उसीसे हाथ लाल हो गया है ।' दूसरेने कहा—'नहीं, मेहदीकी पत्तीमे तो हरियाली होती है । मेरे बगीचेमे मेंहदीका वृक्ष है, मैने देखा है ।' वह दौड गया, कुछ पत्ती तोड़ भी लाया । नखोसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये, पर कहीं लाली नहीं दिखी । तब

वह बोला—'देखो मित्र ! मैंने पत्तीके सैकडो टुकड़े कर दिये, पर इसमे लाली कहीं नहीं दीखती । कहाँ है वह लाली ?' दूसरेने कहा—'मेरी माँने पीसकर इसे लगाया है । पीसनेपर लाली दीखती है । तुम भी पीसकर लगाकर थोड़ी देर छोड़ दो । फिर तुम्हारा हाथ भी लाल हो जायगा ।' बच्चेको मित्रका लाल-लाल हाथ अच्छा लग रहा था । उसने भी अपनी माँसे मेहदी पिसवाया । पिस जानेपर उसमे थोड़ी-थोड़ी लाली दीखने लगी थी । उसे लगाकर जब वह सो गया, तब उसके हाथमे भी चटकदार लाली आ गयी थी ।'

नारदजीने घटनाकी व्याख्या करते हुए कहा—'बेटी कयाधू ! जैसे मेहदीकी पत्तीमे लाली रहती है, किंतु तोड़कर उसे नही देखा जा सकता । उसे देखनेकी एक पद्धति है, वैसे ही ईश्वर कण-कणमे व्याप्त है, उसे भी पद्धति-विशेषसे देखा जा सकता है । कयाधू ! ईश्वर है और मैंने उसे देखा है ।'

इस तरह नारद प्रतिदिन एक-न-एक सत्य घटना सुनाते रहे । ब्रह्माकी घटना सुनाकर उसकी व्याख्यामे उन्होने सुनाया कि जिन ब्रह्माके वरदानसे तुम्हारा पतिदेव इतना शक्तिशाली बना है, उन ब्रह्माने भी तो ईश्वरतत्त्वका साक्षात्कार किया है । उसीकी शिक्षासे सृष्टिकी रचना की है । इसी तरह सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य आदिकी घटनाएँ वे प्रतिदिन सुनाते रहे और उनकी व्याख्या भी करते रहे ।

घटनाका प्रभाव— कयाधू अपने पतिके प्रभावकारी सम्पर्कसे भले ही पत्थर बन गयी थी, किंतु उसके गर्भमे स्थित बच्चा अभी कच्ची मिट्टीका लोदा था । इस लोदेपर कोई सस्कार डालना जितना सरल होता है, पक जानेपर उसका मिटाना उतना ही कठिन । अत प्रह्लाद नारदीय पद्धतिसे सर्वात्मना ईश्वरके भावसे भावित हो गया था । वह जब गुरुगृहमे गया, तब उसने अपने सच्चे सस्कारसे अपने साथियोको भी सस्कृत कर लिया । इस तरह प्रह्लादने अपने गुरुकी 'नयी पीढ़ीका निर्माण' वाली पद्धतिको चालू रखा ।

थोड़े दिनोके पश्चात् तो प्रह्लादके जीवनमे ऐसी घटनाओकी बाढ ही आ गयी, जिनसे ईश्वरकी सत्ता स्वत स्पष्ट होती जा रही थी । आज वह आगमें जलाया जा रहा है, तो कल अतल-सागरमे हाथ-पैर बाँधकर डुबाया जा रहा है । आग तो जलाती है, किंतु वह प्रह्लादको जलाती क्यो नही ? अवश्य कोई ऐसा सर्वशक्तिमान् है, जो आगकी दाहिका-शक्तिको कुण्ठित कर रहा है और पानीकी दम घोटनेवाली शक्तिको बेकार कर रहा है । हिरण्यकशिपु इन दोनो कामोमेसे एक भी नहीं कर सकता था । फिर वह कैसा ईश्वर ? इस तरह नयी पीढ़ीमे हिरण्यकशिपुवादका अस्तित्व समाप्त हो गया और आस्तिकवादकी स्थापना हो गयी ।

सत्य घटना आज भी प्रभावक—सत्य घटना ईश्वर न माननेवालोको कैसे चुप करा सकती है, इसका एक निदर्शन दिया जाता है । सन् १९५३ ई० की घटना है । बिरलाभवनमे गोपालदास बाबाने कई बार ईंटके टुकड़ोको मिश्रीकी डलियोमे परिणत कर दिया था । उस समय वहाँ विश्वके प्रमुख प्रतिनिधि विद्यमान थे । 'हिन्दुस्तान-टाइम्स'ने लिखा था—'उक्त बाबाजीके पास जर्मन-राजदूत, जापानी-राजदूत, मावलेकर साहब, श्रीसत्यनारायणसिह, लक्ष्मीकान्त मिश्र आदि उपस्थित थे ।' एक नम्बरी ईटको भी बाबाने मिश्रीके रूपमे परिणत कर दिया था । उन्होने ताँबिके अर्घ्यको सोनेका अर्घ्य बना दिया था और पानीको दूध भी बना दिया था । परीक्षणके लिये उस पानीसे बने दूधको गरमाकर दही जमाया गया और मथकर उससे घी भी निकाला गया ।

अन्ततोगत्वा जब ये घटनाएँ सत्य है, तब बाबाने किस शक्तिसे यह अन्यथाकरण किया, इसका उत्तर तो ढूँढना ही पड़ेगा ? विज्ञानकी शक्तिसे यह सम्भव नही है । अत अनीश्वरवादीके तर्कोको यहाँ चुप हो जाना पड़ेगा । उनके ऊपर दूसरा संस्कार दृढ हो गया है, अत वे आस्तिकताके रगमे सर्वात्मना भले न रँगाये किंतु इस तथ्यको चुपचाप मानना तो पडेगा ही, क्योंकि आस्तिकताके समक्ष नास्तिकता कभी टिक नही पाती—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।'

महर्षि अगस्त्य

महर्षि अगस्त्य मित्रावरुणके तेजसे घड़ेसे उत्पन्न हुए थे (ऋक्० ७।३३।१३)। इन्होने अनेक बार नष्ट होते हुए विश्वको बचाया है। एक बार कालकेय नामक दैत्योने सम्पूर्ण विश्वको नष्ट करनेका भयानक विचार किया। उन्होने सोचा कि विश्वकी रक्षा तपस्यासे होती है, अतः तपस्याको ही नष्ट कर दिया जाय। उन्होने अपने बचावके लिये समुद्रके भीतर डेरा डाला। वे रातको समुद्रसे बाहर निकलकर पृथ्वीपर छा जाते और खोज-खोजकर तपस्वियोका संहार करते। थोड़े ही दिनोमे पृथ्वीपर कंकाल-ही-ककाल दिखायी देने लगे। यज्ञ-याग सब बंद हो गये। देवताओने विष्णुकी शरण ली। विष्णुने बतलाया कि 'तुमलोग अगस्त्यको तैयार कर लो कि वे समुद्रको सुखा दे। उनके अतिरिक्त और कोई समुद्रको नही सुखा सकता।' अगस्त्य विश्वके हितके लिये सदा तैयार ही रहते थे। उन्होने समुद्रको सुखा दिया। फिर तो विश्वके विनाशकोंका ही सफाया हो गया (पद्मपु० सृ० १९।१८६, महा० वन० १०५)।

एक बार विन्ध्याचल सूर्यसे अप्रसन्न होकर उनका रास्ता रोककर खड़ा हो गया, इससे विश्वको बहुत कष्ट होने लगा। अगस्त्यने इस विपत्तिसे विश्वको बचाया। वे काशी छोडकर दक्षिण चले गये और आजतक न लौटे (महा० वन० १०४)। नहुषके अत्याचारसे महर्षि अगस्त्यने ही इन्द्राणीकी लाज रखी (महा० शा० ३४२।५१)।

आतापि और वातापि दोनो भाइयोने प्रतिदिन हजारो ब्राह्मणोकी हत्या प्रारम्भ कर दी थी। महर्षि अगस्त्यने उनका अन्त कर इस विभीषिकाका भी अन्त कर दिया था (महा० वन० ९९।६)।

पितरोके उद्धारके लिये इन्होने लोपामुद्रासे विवाह किया था। इनके पुत्रका नाम दृढस्यु (इध्मवाह) था (महा० वनपर्व)।

भगवान् श्रीराम जब वनवासके समय अगस्त्यके आश्रममें पहुँचे थे, तब वहाँ ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सूर्य आदि प्रधान-प्रधान देवोको देखा था। महर्षि अगस्त्यने भगवान् श्रीरामको सोने तथा हीरोंसे जटित धनुष, अमोघ बाण, अक्षय तूणीर तथा तलवार दिये थे (वा० रा० अरण्यकाण्ड)।

इस तरह महर्षि अगस्त्यकी शक्ति-सम्पन्नताकी अनेक कथाएँ हैं। इनके जीवनका एक सरस पक्ष बहुत ही मधुर है। भगवान् श्रीरामके प्रेमसे इनका बाहर-भीतर सदा सराबोर रहता था। इसी प्रेमकी चर्चा आश्रमवासियोंको भी सराबोर करती रहती थी। प्रत्येक आश्रमवासी प्रेमानन्दमें उल्लसित रहता था। वहाँ भगवान् शकर भी आ जाया करते थे। जब सौन्दर्य-सिन्धु श्रीराम महर्षि अगस्त्यके आश्रममे इनके दर्शनार्थ आये, तब मानो आनन्द-सागरमे उल्लास-ही-उल्लास उमड़ पड़ा। सब टकटकी लगाकर श्रीरामको देखने लगे, मानो चकोरोंका समुदाय चन्द्रमाको देख रहा हो (मानस ३।१२)। अगस्त्यजीको कहना पड़ा—'भगवन्! मै आपको अखण्ड अनन्त ब्रह्म जानता हूँ, तो भी मैं इस सगुणरूपपर ही लौट-लौटकर आता हूँ और आता रहूँ' (मानस ३।१३।१३)।

चरित्रसे शिक्षा—महर्षि अगस्त्यने अपने चरित्रसे शिक्षा दी है कि 'उपकार आदि सब कार्य करो, साथ ही भगवान्से प्रेम करना न भूलो; क्योंकि प्रेमका खेल खेलनेके लिये ही सृष्टिका आयोजन होता है, इसका और कोई प्रयोजन नही है।' महर्षि अगस्त्यने भगवान् श्रीरामसे याचना की थी कि 'दयामय! मैं यह वर चाहता हूँ कि आप श्रीसीता और लक्ष्मणके साथ मेरे हृदयमे सदा विराजमान रहे'—

यह बर मागउँ कृपा निकेता। बसहु हृदयँ श्री अनुज समेता॥

(मानस ३।१३।१०)

इनकी कुछ शिक्षाएँ—मनुष्यको चाहिये कि भगवान्की आराधना छोड़कर और किसी लोककी कामना न करे; क्योंकि प्रभुकी आराधनासे सभी लोक स्वयं

सुलभ हो जाते हैं। महर्षि अगस्त्यने भगवान् श्रीरामसे अपना एक अनुभव सुनाया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि परलोकमे भोजन पानेके लिये दान देना अत्यन्त आवश्यक है। यदि दान न दिया जाय तो कठोर तपस्याके बाद भी भोजन नही मिल सकता, ब्रह्मलोक भले मिल जाय। इसीलिये श्रुतिने कहा है कि 'चाहे लोक-लाजसे ही सही, जैसे बने दान अवश्य करना चाहिये।'

महर्षिने कहा था—'मैं एक घनघोर वनमे पहुँच गया था। वहाँ लम्बी-चौड़ी झील थी। उसके तटपर एक सुनसान जीर्ण आश्रम था। आश्रमके पास ही झील थी, जिसमे खूब हृष्ट-पुष्ट ताजा शव पड़ा था। मैं सोचने लगा कि यह किसका शव पड़ा है। इतनेमे वहाँ आकाशसे चमकता हुआ एक विमान उतरा। उसपर एक दिव्य पुरुष बैठा था। वह विमानसे उतरा और स्नान करके उसी शवको खाने लगा, उसे भरपेट खाया और उससे तृप्तिका अनुभव करने लगा। मुझे महान् आश्चर्य हो रहा था। तब मैंने पूछा—'देखनेमे तो तुम देवता मालूम पड़ते हो, फिर इतना घृणित भोजन क्यो करते हो?' वह हाथ जोड़कर बोला—'ब्राह्मण देवता! पहले मैं विदर्भका राजा था। वैराग्य हो जानेपर जीवनभर तपस्याके लिये निश्चय कर लिया। तब इस निर्जन वनमें आया और अस्सी हजार वर्षोंतक तप भी किया। मरनेपर तपस्याके प्रभावसे सबसे ऊँचा लोक ब्रह्मलोक भी प्राप्त हुआ। वहाँ सब सुविधाएँ मिली, किंतु भोजन न मिला। मारे भूखके मैं तिलमिला उठा। तब ब्रह्मदेवने बताया कि 'पृथ्वीलोकमे दान किये बिना ऊपरके लोकोमे भोजन नहीं मिलता; तुमने कभी किसीको खिलाया नहीं, अपितु स्वयं खाया, अतः अब तुम्हारा भोजन तुम्हारा जीवरहित शरीर ही है। सौ वर्षके बाद जब अगस्त्यजी मिलेगे, तब तुम्हारा कल्याण कर देगे। राजर्षे! अगस्त्य ऋषिका प्रभाव अतर्क्य है। वे इन्द्रसहित सभी देवताओ और असुरोका भी उद्धार कर सकते है।' राजा श्वेतने आगे कहा—'न जाने कब उन महान् ऋषिके दर्शन होगे? यो मेरे सौ वर्ष पूरे हो गये हैं।'

उसकी करुण-कहानी सुनकर मैंने उसे अपना परिचय दिया और पूछा—'बताओ मै तुम्हारा कौन-सा उपकार करूँ?' उसने मुझे एक दिव्य आभूषण दिया और कहा कि इसे आप स्वीकार न करेगे तो मेरा उद्धार सम्भव नही है। उसके उद्धारकी दृष्टिसे मैंने वह आभूषण ले लिया। ज्यो ही आभूषण मेरे हाथमे आया, त्यो ही वह हृष्ट-पुष्ट अक्षय शव वहाँसे अदृश्य हो गया। राजा श्वेत प्रसन्न मनसे ब्रह्मलोक चला गया। इसके बाद महर्षि अगस्त्यने वह आभूषण भगवान् श्रीरामको भेट कर दिया।

प्रजापति कश्यप

प्रजापति कश्यप मरीचिके ज्येष्ठ पुत्र थे। इनकी माताका नाम 'कला' था (भा०४।१)। कश्यप भी प्रजापति माने जाते है (महा० अनु० १४१)। सच तो यह है कि कश्यपसे सृष्टिका विस्तार अत्यधिक हुआ। इनकी तेरह पत्नियाँ थी, उनमे अदितिसे देवता, दितिसे दैत्य, दनुसे दानव, कद्रूसे नाग, कपिलासे गाये और दो खुरवाले प्राणी, काष्ठासे एक खुरवाले प्राणी, क्रोधवशासे क्रूर जलचर-प्राणी और क्रोधवश नामक राक्षस तथा इरासे वृक्ष आदि उत्पन्न हुए।

एक बार पृथ्वीकी अधिष्ठात्री देवी राजा अङ्गसे अप्रसन्न होकर मृत्युलोकको छोडकर ब्रह्मलोक चली गयी। उस समय प्रजापति कश्यपने ही योगबलसे पृथ्वीको धारण किया था। ब्रह्मलोकसे जब पृथ्वीदेवी लौटीं, तब इन्होने प्रजापति कश्यपको पिताका सम्मान दिया। तबसे पृथ्वी 'काश्यपी' कहलाने लगी। एक बार दुष्टोके भारसे पृथ्वी अपनी कक्षासे च्युत होने लगी। तब कश्यपने अपने उरुका सहारा दे दिया। तबसे पृथ्वीका नाम 'उर्वी' पड गया (महा० शा० ४९)।

परशुरामने इक्कीस बार क्षत्रियोका संहार कर दिया था। महर्षि कश्यप इसे रोकना चाहते थे, किंतु यह

अवसर तब हाथ लगा, जव परशुरामने कश्यपको सारी पृथ्वी दक्षिणामे दे दीं। कश्यपने बतलाया कि 'अब आपको पृथ्वीकी सीमासे बाहर रहना पडेगा।' तब परशुराम समुद्रसे निकले हुए भाग कोकणमे रहने लगे। इस तरह प्रजापति कश्यप क्षत्रियोको विनाशसे बचाकर एवं ब्राह्मणोंके ऊपर पृथ्वीका भार सौंपकर स्वयं तपस्यामे संलग्न हो गये।

माताके आचरणका संततिपर प्रभाव

(क) शास्त्र-निषिद्ध आचरणसे क्रूर संतान— एक वार प्रजापति कश्यप सायंकालका आहुतिकर्म सम्पन्न कर चुके थे, किंतु अभी सूर्यास्तका समय समाप्त न हुआ था, अतः ध्यान लगानेका उपक्रम कर रहे थे। इसी बीच उनकी पत्नी दिति पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे इनके पास पहुँची। वह कामसे आतुर थी। प्रजापति कश्यपने पत्नीका सम्मान किया। साथ ही समझाया कि 'यह संध्याका समय है। इस समय बहुत-से कर्म वर्जित हैं, जिनमे यह कर्म भी है। एक मुहूर्त ठहर जाओ। तुम्हारी इच्छा अवश्य पूरी करूँगा।' किंतु दिति अपने हठपर अड़ी रही। अन्तमे प्रजापति कश्यपको यह भी कहना पडा कि 'देवि! थोड़ी देर ठहरनेमे क्या आपत्ति है? तत्काल तुम्हारी इच्छा-पूर्ति करूँगा तो मेरा भी व्यक्तित्व कलङ्कित होगा?' किंतु दिति अपने हठपर अड़ी रही। नारियोंका असम्मान न हो जाय, इस भयसे प्रजापति कश्यपने दितिकी इच्छा पूर्ण की। इसके बाद स्नानकर वे भगवच्चिन्तन करने लगे।

आवेश शान्त होनेपर दितिको ग्लानि हुई। उसे इस बातका भय भी हुआ कि निषिद्ध समय होनेके कारण मेरी संततिकी कोई हानि न हो जाय। वह सिर नीचा किये हुए पतिके पास पहुँची और बोली—'नाथ! मैंने भूतभावन शंकरका अपमान किया है; क्योंकि उनके कालमे न करनेयोग्य काम मुझसे बन गया है, किंतु वे मेरे गर्भको नष्ट न करें। मै हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना कर रही हूँ।' प्रजापति कश्यपने कहा—'तुम्हारे गर्भका नाश तो न होगा, किंतु शास्त्रकी अवहेलनासे तुम्हारे पुत्र बड़े अत्याचारी होगे। वे सारे विश्वको रक्तसे रँग देगे।'

(ख) शास्त्रविहित आचरणसे उत्कृष्ट संतान— प्रजापति कश्यपने दितिसे आश्वासन देते हुए कहा—'भद्रे! तुमने जो अपने निषिद्ध कर्मके लिये पश्चात्ताप किया है और भगवान् शंकरकी प्रार्थना की है तथा विष्णु, शिव और मेरे प्रति आदर-भाव दिखलाया है, इस कारण ये शास्त्रविहित कर्म भी तुमसे हो गये हैं। इसका सुन्दर फल यह होगा कि तुम्हारा एक पौत्र महान् भागवत होगा।' आगे चलकर दोनो परिणाम सामने आये। माताके निषिद्ध आचरणका फल यह हुआ कि उसके दो अत्यन्त आततायी पुत्र हुए—हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु। शास्त्रविहित आचरणका परिणाम यह हुआ कि उसके पौत्र प्रह्लाद महान् संत उत्पन्न हुए।

गर्भावस्थामें माता क्या करे

मन, वचन और कर्मसे किसी प्राणीको न सताये। झूठ न बोले। क्रोध न करे। बिना धुला वस्त्र न पहने। किसीकी पहनी हुई माला न पहने। दुर्जनोसे बात न करे। जूठा न खाये। सोनेके पहले पैर धोकर पोंछ ले। अपवित्र अवस्थामे, उत्तर या पश्चिम सिर करके और दूसरेके साथ न सोये। सदा पवित्र रहे। प्रात कुछ खानेके पहले नहाकर गौ, ब्राह्मण, लक्ष्मी और नारायणकी पूजा करे। इसके बाद पुष्पमाला, सुगंध-द्रव्य, वस्त्र, आभूषण आदिसे सुवासिनियोकी पूजा करे! सूने घरमे न घुसे। बाँबीपर न खड़ी हो। नख तथा राखसे रेखा न खीचे। न तो अलसायी रहे और न अधिक श्रम करे। भूसी, गख, हड्डी, कोयले और खपड़ेपर न बैठे। बाल खोलकर खड़ी न रहे। कभी मनमे उद्वेग न लाये। कलह न करे। अमङ्गलयुक्त वचन न बोले। अधिक हँसी न करे। गुरुजनोके सामने विनम्र रहे और उनका सदा आदर करे। उत्तम कार्योंमे संलग्न रहे। पतिकी सेवामे लगी रहे। बिना चादर ओढ़े घरसे न निकले। सौभाग्यके चिह्नोसे सुसज्जित रहे। सदा भावना करती रहे कि पतिका तेज मेरी कोखमे स्थित है (पद्म॰पु॰ सृ॰ ख॰ ६। १८)।

श्रीदक्षप्रजापति

दक्ष ब्रह्माके अँगूठेसे उत्पन्न हुए थे। ब्रह्माने इन्हे आज्ञा दी कि 'तुम पराम्बाको पुत्रीरूपमे प्राप्त करनेके लिये तप करो।' दक्षमे पितृभक्तिका गुण कूट-कूटकर भरा था। पिताकी आज्ञा शिरोधार्य कर उन्होने तीन हजार दिव्य वर्षोतक घोर तप किया। कृपालु पराम्बा प्रसन्न हो गयीं। उन्होने दक्षके घर पुत्रीरूपमे अवतीर्ण होनेका वरदान दे दिया।

दक्ष प्रसन्नतापूर्वक पिताके पास उपस्थित हुए। उन दिनो ब्रह्मा सृष्टि-विस्तारके लिये बहुत व्यग्र रहते थे। पिताका भार हलका करनेके लिये दक्ष भी मानसी सृष्टि करनेमे अपने तपका उपयोग करने लगे; किंतु प्रजा बढ़ नहीं पा रही थी। तब ब्रह्माने उपाय बतलाया कि 'दक्ष! तुम वीरण प्रजापतिकी कन्या असिक्नीसे विवाह कर लो। इस प्रकार मैथुनी-सृष्टिसे प्रजाका विस्तार अपने-आप होता रहेगा।'

दक्षने पिताकी आज्ञासे वीरणीके गर्भसे दस हजार पुत्रोको उत्पन्न किया, जो 'हर्यश्व' कहलाये। ये नारदके तत्त्वोपदेशसे कल्याणपथके पथिक हो गये। इसके बाद दक्षने एक हजार पुत्र और उत्पन्न किये, जो 'शबलाश्व' नामसे प्रसिद्ध हुए। ये भी नारदके संगसे अपने बड़े भाइयोके पथके पथिक हो गये। इसके बाद दक्षने साठ कन्याओको उत्पन्न किया और इनका योग्य वरोके साथ विवाह कर दिया। इस तरह दक्षप्रजापतिने अपनी संतति-परम्परासे तीनो लोकोको भर दिया।

अभी पराम्बाका वरदान फलीभूत न हुआ था। एक दिन पति-पत्नीने बड़े मनोयोगसे पराम्बाको पुकारा। पराम्बा पुत्रीके रूपमे इनके यहाँ अवतीर्ण हो गयीं और घोर तप करके भगवान् शंकरको पतिरूपमें प्राप्त कर लिया। इस तरह दक्षप्रजापति कर्मठताके साथ सृष्टिके कार्यको आगे बढ़ा रहे थे। उनकी योग्यताके अनुरूप उन्हें सभी प्रजापतियोका पति बना दिया गया था।

पितृभक्ति आदि गुणके कारण -दक्षको इस तरह सर्वोच्च पद प्रदान किया गया था; किंतु ऊँचा पद पाकर उनमे अभिमान आ गया। जिन शिवजीको वे पहले ईश्वर और अपना स्वामी मानते थे, उन्हींको अब केवल दामाद मानने लगे। कर्मकाण्डको ही वे सम्पूर्ण वेद मान बैठे थे। ज्ञानकाण्ड उनकी आँखोंसे ओझल हो चुका था। वे अपने पथपर शिवजीको देखना चाहते थे। शिवजीकी निस्त्रैगुण्य स्थितिको वे समझ न पाते थे। फल-स्वरूप वे शिवजीसे द्रोह करने लगे थे। यही कारण है कि अपने पुत्रोके कल्याण करनेवाले नारदको उन्होने उनका ऋण न मानकर उलटे शाप दे डाला था। शिवजीको भी शाप दिया था कि 'यज्ञमे इन्हे भाग न मिलेगा' (स्क० मा० के० १)।

सर्वसमर्थ जब पथभ्रष्ट हो जाता है, तब उसका प्रभाव दूसरे लोगोपर भी पड़ता ही है। दक्ष उन दिनों समस्त ब्रह्माण्डके अधिपति बनाये गये थे। यही कारण है कि प्रयागके यज्ञमे जब दक्षने भगवान् शंकरको खरी-खोटी सुनायी, तब भृगु आदि उन्हे दुष्ट मानकर निन्दा करने लगे थे। इस तरह दक्ष प्रजापति और उनके प्रभावमे आये लोग वेदवादमे फँसकर वेदके तत्त्वज्ञानसे शून्य हो रहे थे। उनका लक्ष्य एकमात्र 'स्वर्ग' रह गया था। अपवर्गकी तो उन लोगोने उपेक्षा कर दी थी। फिर वे शिवतत्त्वको क्या समझते?

एक बार जब कनखलमे दक्षने यज्ञ किया, तब उसमे उन्होने शिवजीको भाग नही दिया; अपितु उनकी इतनी निन्दा की कि सतीको देह त्यागना पडा। इसका परिणाम अत्यन्त दुःखद हुआ। यज्ञका ध्वंस हो गया। दक्षकी जान गयी। भृगुकी दाढ़ी-मूँछ नोच ली गयी। पूषाके दाँत उखाड़े गये। भगकी आँखे निकाल ली गयी। भगवान् शंकर तो आशुतोष हैं। उन्होने ब्रह्माकी प्रार्थनापर यज्ञकी पूर्ति कर दी। दक्ष जिलाये गये, किंतु सिर बकरेका हो गया। भृगुको भी बकरेकी दाढ़ी-मूँछ लगा दी गयी। भगदेव मित्र देवताकी आँखोसे देखने लगे। पूषा यजमानके दाँतोसे खाने लगे। अन्य देवताओके भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्वस्थ हो गये। ऐसी व्यवस्था इसलिये

की गयी थी कि ये लोग अहंकारमें आकर ईश्वरको हटाकर उसकी गद्दीपर फिरसे 'कर्म'को न बैठा दे ।

दण्डसे शिक्षा—दक्षको अब अपनी भूल समझमे आ गयी थी । उन्होने बकरेके मुखसे भगवान् शिवकी स्तुति करते हुए कहा—'मेरी दृष्टि एकाङ्गी हो गयी थी । मै मूढतावश वेदके एक अङ्गपर तो फूल चढा रहा था और दूसरे अङ्गपर शूल । वेदके प्रधान अङ्ग सिरको ही मैने काट दिया था, अतः मेरा वह दुष्ट अङ्ग काटा गया । अनुरूप दण्ड देकर आपने मुझे अच्छी शिक्षा दी है । आपके इस अनुग्रहसे मै उपकृत हो गया । अब भी आपको प्रसन्न करने योग्य मेरे पास कोई गुण नही है । बस, आप अपनी कृपासे ही मुझपर प्रसन्न हो' (भाग० ४) ।

सर्वाङ्गीण दृष्टि अपनाओ—दो भाई थे । दोनोकी दृष्टि एकाङ्गी थी । उनके घर गुरुजी आ गये । एकने कहा—'गुरुजी मेरे है, तुम्हारे नही; मै सेवा करूँगा ।' दूसरेने इसी बातको जोरदार शब्दोमे दोहराया । हाथापाईकी नौबत आ गयी । गुरुजीने विवाद सुलझाया—'आधे अङ्गकी एक सेवा करे और आधेकी दूसरा सेवा करेगा ।' थोड़ी देर गाडी खिसकी । गुरुजी थके थे, अतः उन्हे नीद आने लगी । गुरुजीका एक पैर दूसरेपर आ गया । दूसरे भाईने उस पैरपर कसकर एक लाठी मारी और कहा—'तुम्हारा पैर मेरे गुरुजीके पैरपर कैसे आ गया ?' घबराकर गुरुजीने इस पैरको उस पैरपर कर लिया । दूसरा भाई भी इसी अवसरकी प्रतीक्षा कर रहा था । उसने भी लाठी चलाकर बदला लेते हुए कहा—'तुम्हारा पैर मेरे हिस्सेके पैरपर कैसे आ गया ?' बेचारे गुरुजीकी दुर्गति हो गयी ।

दक्ष, भृगु आदिके द्वारा वेदकी भी यही दुर्गति हो रही थी । वेदके तीन अङ्ग हैं—(१) कर्मकाण्ड, (२) ज्ञानकाण्ड और (३) उपासनाकाण्ड । इन तीनोंको वेद समझना वास्तविक ज्ञान है । दक्ष और उनके अनुयायी कर्मकाण्डमात्रको वेद समझ रहे थे । निस्त्रैगुण्य-विषयक वेदान्तको वेद नहीं समझते थे । अतः इस पथपर चलनेवाले भगवान् शंकरको वेदबाह्य मानते थे । इस तरह दक्ष और उनके अनुयायी वेदके एक अङ्गपर फूल चढा रहे थे और दूसरे अङ्गपर शूल । दो भाइयोंने जैसी गुरुजीकी दुर्गति कर दी थी, वैसे ही इन लोगोंने भी वेदकी और उसके प्रतिपाद्यकी हत्या कर रखी थी । ब्राह्मणोंके एक वर्गकी यह नादानी आगे विश्वको पथभ्रष्ट कर सकती थी । अतः दण्ड देकर सर्वाङ्गीण-दृष्टि रखनेकी शिक्षा दी गयी । (शि० पु०) ।
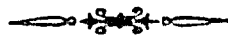
महर्षि विश्वामित्र

महर्षि विश्वामित्र तपस्याके धनी थे । देवताओके द्वारा त्रिशंकुको स्वर्गसे गिरा दिये जानेके बाद भी इन्होने तपस्याके बलपर प्रतिश्रवण आदि नूतन नक्षत्रोको रचकर फिर स्वर्ग पहुँचा दिया था (महा० अनु० ४ । ९, महा० आ० ७१ । ३४) । उस अवसरपर देवताओने विश्वामित्रकी अवहेलना कर त्रिशंकुकी यज्ञ-सामग्रियोको ही नष्ट कर दिया था । तब विश्वामित्रने अपनी तपस्याके बलपर नूतन यज्ञ-सामग्रियोकी सृष्टि कर डाली थी (महा० आ० ७१ । ३५) । इन्द्र भी इनसे भय खाते थे (महा० आ०७१ । ३२) । तपस्याके बलसे ये क्षत्रियसे ब्राह्मण हो गये थे (महा० आ० ७४ । ४८, महा० अनु० ४ । ४८) ।

इनकी कुछ शिक्षाएँ

ब्राह्ममुहूर्त्तमे उठना—ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठे । शौच, दातौन, स्नान कर संध्योपासन करे । गायत्री-जप करे । जब सूर्य उगने लगे तो उपस्थान करे ।

संध्याके तीन भेद—प्रातःकाल तारा रहते संध्या उत्तम, तारा लुप्त होनेपर मध्यम और सूर्य निकल आनेपर अधम मानी जाती है । सायंकालकी संध्या सूर्य रहते उत्तम,

सूर्य डूबनेपर मध्यम और तारा उग आनेपर अधम मानी जाती है (विश्वामित्र-स्मृति १।२२-२४)।

समयका अतिक्रमण न करे—शास्त्रने जो समय बतलाया है, उसका अतिक्रमण करना अच्छा नहीं है। जैसे अकालमे वर्षासे लाभ नहीं होता, वैसे अकालमें संध्या आदि कर्मसे लाभ कम होता है। संध्या और स्नान छोड़कर अध्ययन करना भी अनुचित है। इससे अधर्म होता है और विद्याका नाश होता है (वि० स्मृ० १।२०)।

महाराज मनु

मरीचि आदि पुत्रोके सतत प्रयत्नके बाद भी सृष्टिका विस्तार नही हो पा रहा था, इस बातको लेकर एक दिन ब्रह्मा बहुत चिन्तित थे। उसी समय उनके शरीरके दो भाग हो गये। दाये भागसे पुरुष और बाये भागसे स्त्रीकी उत्पत्ति हुई। जो पुरुष था, वह स्वायम्भुव मनु हुए और जो स्त्री थी, वह महारानी शतरूपा हुई। तबसे मिथुन-धर्मसे सृष्टि होने लगी। स्वायम्भुव मनुने शतरूपासे पाँच संताने उत्पन्न कीं, जिनमे प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र हुए तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति तीन कन्याएँ हुई (भाग० ३।१२।४९-५६)। मनुको सबका पिता और सबसे पहला राजा माना गया है—**मानव्यः प्रजाः** (तै०सं० १।७५।१।३)। वेदोने हमें शिक्षा दी है कि 'हम मनुके आदेशपर ही चले; क्योंकि उन्होने जो कुछ सिखाया है, वह सब पोषक औषध है— **'मनुर्यदवदत् तत्तद् भेषजं भेषतायाः'** (श्रुति)। उत्तमताके पथपर चल सकना कठिन होता है, अत· वेदोने एक उपाय बताया है कि हम प्रतिदिन प्रार्थना किया करे कि 'प्रभो! हमें ऐसी शक्ति दो कि हम अपने पिता मनुके पथसे विचलित न हो'—**मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः** (ऋक्० ८।३०।३)।

मनुकी कुछ शिक्षाएँ— वेद और धर्मशास्त्रने जैसा विधान किया है, वैसा ही आचरण करना चाहिये। इससे इस लोकमे कीर्ति और परलोकमे सुख मिलता है (मनु० २।८-९)। वेद आदि शास्त्रोपर कोरा तर्क नहीं करना चाहिये। यदि कोई ऐसा करे तो उसका बहिष्कार कर दें (मनु० २।१०)। इस कल्पमे महिलाओका यज्ञोपवीत नही होता। इसलिये केवल इनका विवाह वैदिक मन्त्रोसे होता है। पतिकी सेवा इनका गुरुकुलका वास और घरकी परिचर्या अग्निहोत्र माने जाते हैं (मनु० २।६७)। संध्योपासन नित्यकर्म है। इसे तीनो समय अवश्य करना चाहिये। मनुजीने कहा है कि 'जो द्विज प्रात काल और सायंकालकी संध्या नहीं करता उसका बहिष्कार कर देना चाहिये' (मनु० २।१११)। अहिंसाका पालन करना चाहिये। मन, वचन और कर्मसे हिंसा होती है, अत तीनो प्रकारकी हिंसाका त्याग करे। सदा मीठी वाणी बोले। किसीके द्वारा पीड़ा पहुँचाये जानेपर भी कठोर वाणी न बोले। जिससे किसीको तनिक भी उद्वेग हो, ऐसी वाणी न बोले (मनु० २।१६०-१६१)।
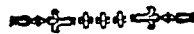
महर्षि याज्ञवल्क्य

महर्षि याज्ञवल्क्य प्रकाण्ड पण्डित, शास्त्रोमे प्रगल्भ और महाबुद्धिमान् थे। ऐसा कोई विषय नही था, जिसे वे न जानते हो (महा० शा० ३।८।६४-६५)। इनका छात्र-जीवन अत्यन्त अध्यवसायसे सम्पन्न था। इनके गुरु वैशम्पायन इनके मामा भी थे (महा० शा० ३१८।१७)। एक बार गुरुजीने इनसे अप्रसन्न होकर अपनी पढायी विद्या उगलवा ली (भा० १२।६।६३-६४)। तव याज्ञवल्क्यने सोचा कि मै कुछ ऐसी भी श्रुतियाँ प्राप्त करूँ, जो मेरे गुरुजीके पास भी न हो। इसके लिये उन्होने सूर्यकी उपासना की (भा० १२।६।६६)। सूर्य

भगवान्‌को प्रसन्न होना पड़ा । उनसे इन्होने शुक्ल यजुर्वेदकी पंद्रह शाखाएँ प्राप्त कीं (महा० शा० ३१८ । २१) । ये शाखाएँ पृथ्वीके लोगोसे अज्ञात थी (महा० शा० ३१८ । ५) । भगवान् सूर्यने इनमे वाड्मयी सरस्वतीका प्रवेश कर दिया था, जिनसे इन्होने शतपथका दर्शन किया था (महा० शा० ३१८ । ७-१६) । वैदिक वाड्मयका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेके बाद इन्होने पुराणोको भी गुरुमुखसे प्राप्त किया । इनके पौराणिक गुरु थे—व्यासके शिष्य रोमहर्षण (महा० शा० ३१८ । २१) ।

इस तरह पूरे अध्यवसायके साथ सम्पूर्ण विद्याओके प्राप्त करनेके बाद महर्षि याज्ञवल्क्यने सैकडो शिष्योको मनोयोगसे पढ़ाया । फिर इन शिष्योने सम्पूर्ण दिशाओ और विदिशाओमे शिक्षाका प्रकाश फैलाया (महा० शा० ३१८) । इस तरह सारा भूमण्डल शिक्षाके प्रकाशसे आलोकित हो गया ।

एक दिन विश्वावसु, जो वेदान्तके पूर्ण मर्मज्ञ थे, श्रीयाज्ञवल्क्यके पास आये । उन्होने इनसे चौवीस प्रश्न पूछे । वे प्रश्न बहुत ही दुरूह थे । महर्षि याज्ञवल्क्यने उन प्रश्नोपर विचार करनेके लिये विश्वावसुसे कुछ क्षणका समय मॉगा । इसके बाद याज्ञवल्क्यने श्रीसरस्वतीदेवीका स्मरण किया । फिर तो जैसे दहीसे मक्खन निकल आता है, वैसे ही उन प्रश्नोका उत्तर निकल आया । उस उत्तरसे विश्वावसुको पूरी संतुष्टि हुई । उन्होने महर्षिकी परिक्रमा कर अभिनन्दन किया और प्रसन्नताके साथ लौट गये । विश्वावसु शिक्षा-प्रसारके वडे पक्षपाती थे, इसलिये तीनो लोकोमे घूम-घूमकर उन्होने इन गूढ़ रहस्योको प्रसारित किया था (महा० शा० ३१८ । २७-८५) । इस तरह महर्षि याज्ञवल्क्यने सारे ब्रह्माण्डमे शिक्षाके प्रकाशको फैलाया था ।

इनकी कुछ शिक्षाएँ

आत्मा ही सब कुछ है—जैसे नमकके डलेमे बाहर-भीतर नमक-ही-नमक है, वैसे जगत् और आत्मामे परमात्मा-ही-परमात्मा है । वस्तुतः जैसे नमक बाहर और भीतरके भेदसे शून्य होता है, वैसे परमात्मा भी बाह्य-आभ्यन्तर-भेदसे शून्य है । सब परमात्मा-ही-परमात्मा है—**'इदं सर्वं यदयमात्मा'** (बृ० उ० ४ । ५ । ७) ।

आत्मा और परमात्मामें कोई भेद नहीं है । वस्तुत प्रिय यह आत्मा ही होता है । भ्रमसे समझा जाता है कि पत्नी प्रिय है, पुत्र प्रिय है । हे मैत्रेयि ! यह निश्चय है कि पतिके निमित्त पति प्रिय नही होता, अपितु अपने प्रयोजनके लिये ही पति प्रिय होता है । स्त्रीके निमित्त स्त्री प्रिय नहीं होती, अपितु अपने प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिय होती है । इसी तरह पुत्र, मित्र, धन आदि सब वस्तुएँ अपने ही प्रयोजनके लिये प्रिय होती है (बृ० उ० ४ । ५ । ६) । इसलिये भ्रम छोड़कर परम प्रिय आत्मतत्त्वका ही भाषण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ।

मानवमात्रके धर्म—किसीकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्र रहना, इन्द्रियोको वशमे रखना, दान देना, सभी प्राणियोंपर दया करना, मनको वशमें रखना और क्षमा करना—ये मनुष्यमात्रके धर्म है (याज्ञ० स्मृति १ । १२२) ।

महिलाओंका सम्मान करना चाहिये—पति, भाई, पिता, गोत्रके लोग, सास, ससुर, देवर और बन्धुओंका कर्तव्य है कि ये लोग सब तरहसे नारियोंका सम्मान करें (याज्ञ० स्मृति १ । ८२) ।

केवल धर्मका आचरण करे—श्रुति और स्मृतिके कथनके अनुसार चले । मन, वचन और कर्मसे यत्नपूर्वक धर्मका आचरण करे (याज्ञ० स्मृति १ । १५४ और १५६) ।

गृहस्थ भी मुक्त हो सकता है—न्यायसे प्राप्त धनसे जीविका चलानेवाला, तत्त्वज्ञानमे स्थित, अतिथि-सत्कार करनेवाला, श्राद्ध करनेवाला और सत्यवादी गृहस्थ भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है (याज्ञ० स्मृति ३ । २०५) ।

ज्ञानी, तपस्वी, शूर, कवि, पण्डित, गुणी कौन है? इस संसारमे जिसे मोहने भरमाया नहीं, कामने नचाया नहीं । यह जगत् तो काजलकी कोठरी है, कलंकसे बचनेका बस, एक ही उपाय है भगवान्‌का सतत स्मरण ।

परमशिक्षा

विद्यया विन्दतेऽमृतम्

ब्रह्मज्ञानके अधिकारी

एक समय प्रजापतिने कहा कि 'आत्मा पापसे रहित, बुढ़ापेसे रहित, मृत्युसे रहित, शोकसे रहित, क्षुधासे रहित, पिपासासे रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। उस आत्माकी खोज करनी चाहिये। वही जानने योग्य है। जो उस आत्माको जानकर उसका अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण लोको और सम्पूर्ण भोगोको प्राप्त करता है।'

प्रजापतिके इस वचनको सुनकर देवता और असुर दोनोने आत्माको जाननेकी इच्छा की। देवताओने इन्द्रको और असुरोने विरोचनको अपना प्रतिनिधि चुना। वे दोनों समित्पाणि होकर विनयपूर्वक प्रजापतिके पास गये[1] और वहाँ उनकी आज्ञाके अनुसार बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन किये। फिर वे प्रजापतिके पास गये। उन्होने उनसे पूछा—'किस इच्छासे तुम दोनो यहाँ आकर रह रहे हो?'

उन्होने कहा—'भगवन्! आपने जो कहा कि आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधा और पिपासासे रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, वह जानने योग्य है, वही अनुभव करने योग्य है, जो उसे जानकर उसका अनुभव करता है वह सम्पूर्ण लोको और सम्पूर्ण भोगोको प्राप्त होता है। हम उस आत्माको जाननेकी इच्छासे यहाँ आये हैं।'

प्रजापतिने कहा—'आँखोमे यह जो पुरुष द्रष्टा—अन्तर्मुखी दृष्टिवालोको दीखता है, यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय है, यही ब्रह्म है।'

इन्द्र और विरोचनने अशुद्धबुद्धि होनेके कारण इस कथनको अक्षरश. ज्यो-का-त्यो ग्रहण कर लिया। उन्होने समझा कि नेत्रोमे जो मनुष्यका प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है, वही आत्मा है। इसी निश्चयको दृढ़ करनेके लिये उन्होने प्रजापतिसे फिर पूछा—'भगवन्! जलमे जो पुरुषका प्रतिबिम्ब दीखता है अथवा दर्पणमे शरीरका जो प्रतिबिम्ब दीखता है, इन दोनोमेसे आपका बतलाया हुआ ब्रह्म कौन-सा है? क्या ये दोनो एक ही हैं?' प्रजापतिने कहा—'हाँ, हाँ, वह इन दोनोमे ही दीख सकता है। वही प्रत्येक वस्तुमे है।'

इसके बाद प्रजापतिने उनसे कहा—'जाओ, उस जलसे भरे हुए कुण्डमे देखो और यदि वहाँ आत्माको न पहचान सको तो फिर मुझसे पूछना, मैं तुम्हे समझाऊँगा।' दोनो जाकर कुण्डमे अपना प्रतिबिम्ब देखने लगे। प्रजापतिने पूछा—'तुमलोग क्या देखते हो?' उन्होने कहा—'भगवन्! नखसे लेकर शिखातक हम सारे आत्माको देख रहे है।' नख-शिखकी बात सुनकर ब्रह्माजीने फिर कहा—'अच्छा, तुम जाओ और शरीरोको स्नान कराकर अच्छे-अच्छे गहने पहनो और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र धारण करो। फिर जाकर जलके कुण्डमे देखो।' 'नख और केशके सदृश यह शरीर भी अनात्म है' इसी बातको समझानेके लिये प्रजापतिने यो कहा, परंतु दोनोने इस बातको नही समझा। वे दोनो अच्छी तरह नहा-धोकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालंकारोसे सजकर कुण्डपर गये और उसमे प्रतिबिम्ब देखने लगे। प्रजापतिने पूछा—'क्या देखते हो?' उन्होने कहा—'भगवन्! जैसे हमने

---

१ यह नियम है कि 'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्डकोप० १।२।१२)। 'शिष्यको हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाना चाहिये।'

सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण किये हैं, इसी प्रकार हमारे इस आत्माने भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालंकारोंको धारण किया है ।'

प्रजापतिने सोचा कि अन्तःकरणकी अशुद्धिके कारण आत्माका यथार्थ स्वरूप इनकी समझमे नही आया, सम्भवतः मेरे वचनोका मनन करनेसे इनके प्रतिबन्धक संस्कारोके दूर होनेपर इन्हे आत्मस्वरूपका ज्ञान हो सकेगा । यह विचारकर प्रजापतिने कहा—'यही आत्मा है, यही अविनाशी है, यही अभय है, यही ब्रह्म है ।'

प्रजापतिके वचन सुन इन्द्र और विरोचन संतुष्ट होकर अपने-अपने घरकी ओर चले । उन्हे यो ही जाते देखकर प्रजापतिने मनमे कहा—'ये बेचारे आत्माको जाने बिना ही, साक्षात् अनुभव किये बिना ही जा रहे हैं । इन देव और असुरोमेसे जो कोई भी इस (प्रतिबिम्बके आधारस्वरूप शरीरको ही ब्रह्म माननेके) उपनिषद्वाले होगे, उनका तो पराभव ही होगा ।'

विरोचन तो अपनेको ज्ञानी मानकर शान्त हृदयसे असुरोके पास जा पहुँचे और प्रतिबिम्बके निमित्त शरीरको ही आत्मा समझकर उन्होने इस शरीरमे आत्मबुद्धि-रूप उपनिषद्का उपदेश आरम्भ कर दिया । उन्होंने कहा—'प्रजापतिने शरीरको ही आत्मा बतलाया है, इसलिये यह शरीररूपी आत्मा ही पूजा करने योग्य है, यही सेवा करने योग्य है, इस जगत्मे केवल इस शरीररूपी आत्माकी ही पूजा और सेवा करनी चाहिये । इसीकी सेवासे मनुष्यको दोनो लोक (दोनो लोकोमे सुख) प्राप्त हो सकते है ।'

इस देहात्मवादके कारण जो दान नही करता, सत्कार्योमे श्रद्धा नहीं रखता तथा यज्ञादि नहीं करता, उसे आज भी असुर कहा जाता है । यह देहात्मवादी उपनिषद् असुरोका ही चलाया हुआ है । ऐसे लोग शरीरको ही आत्मा समझकर इसे गहने, कपड़े आदिसे सजाया करते हैं और सारा जीवन इस शरीरकी सेवा-पूजामे ही खो देते है । अन्तमे ये ही लोग मृत शरीरको भी गहने-कपड़ोसे सजाकर ऐसा समझते है कि हम स्वर्गको जीत लेगे—'अमुं लोकं जेष्यन्तः ।'

इधर दैवी सम्पदावाले इन्द्रको स्वर्गमे पहुँचनेसे पहले ही विचार हुआ कि प्रजापतिने तो आत्माको अभय कहा है, परंतु इस प्रतिबिम्बरूप आत्माको तो अनेक भय रहते है । जब शरीर सजा होता है तो प्रतिबिम्ब भी सजा हुआ दीखता है । शरीरपर सुन्दर वस्त्र होते हैं तो प्रतिबिम्ब भी सुन्दर वस्त्रोवाला दीखता है । शरीर नख-केशसे रहित स्वच्छ होता है तो प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ दीखता है । इसी प्रकार यदि शरीर अन्धा होता है तो प्रतिबिम्ब भी अन्धा होता है । शरीर काला होता है तो प्रतिबिम्ब भी काला दीखता है । शरीर लूला-लँगड़ा होता है तो प्रतिबिम्ब भी लूला-लँगडा दीखता है । शरीरका नाश होता है तो प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है । इसलिये इसमे तो मै कुछ भी आत्मस्वरूपता नहीं देखता ।

इस प्रकार विचारकर इन्द्र समित्पाणि होकर पुनः प्रजापतिके पास आये । प्रजापतिने कहा—'इन्द्र ! तुम तो विरोचनके साथ ही शान्त हृदयसे वापस चले गये थे, अब फिर किस इच्छासे आये हो ?' इन्द्रने कहा—'भगवन् ! जैसा शरीर होता है, वैसा ही प्रतिबिम्ब दीखता है, शरीर सुन्दर वस्त्रालकृत और परिष्कृत होता है तो प्रतिबिम्ब भी वस्त्रालंकृत और परिष्कृत दीखता है । शरीर अन्ध, स्राम या अङ्गहीन होता है तो प्रतिबिम्ब भी वैसा ही दीखता है । शरीरका नाश होता है तो इस प्रतिबिम्बरूप आत्माका भी नाश होता है । अतएव इसमें मुझे कोई आनन्द नहीं दीख पडता ।'

प्रजापतिने इन्द्रके वचन सुनकर कहा—'इन्द्र ! ऐसी ही बात है । वास्तवमे प्रतिबिम्ब आत्मा नहीं है । मैं तुम्हे फिर समझाऊँगा, अभी फिर बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतसे यहाँ रहो ।'

इन्द्र बत्तीस वर्षतक पुन. ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुके समीप रहे, तब प्रजापतिने उनसे कहा—'जो इस स्वप्नमें पूजित होता हुआ विचरता है, स्वप्नमे अनेक भोग भोगता है, वह आत्मा है, वही अभय है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है ।'

इन्द्र शान्त हृदयसे अपनेको कृतार्थ समझकर चले, परतु देवताओके पास पहुँचनेके पहले ही उन्होंने सोचा

कि 'स्वप्नके द्रष्टा आत्मामें भी दोष है। यद्यपि शरीर अन्धा होनेसे यह स्वप्नका द्रष्टा अन्धा नहीं होता, शरीरके स्राम (व्याधिपीड़ित) होनेसे यह स्राम नहीं होता, शरीरके दोषसे यह दूषित नही होता, शरीरके वधसे इसका वध नहीं होता, तथापि यह नाश होता हुआ-सा, भागता हुआ-सा, शोकग्रस्त होता हुआ-सा और रोता हुआ-सा लगता है, इससे मैं इसमे भी कोई आनन्द नही देखता।'

इस प्रकार विचारकर इन्द्र हाथमे समिधा लेकर फिर प्रजापतिके समीप गये और प्रजापतिके पूछनेपर उन्होने अपनी शङ्का उनसे कह सुनायी।

प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! ठीक यही बात है। स्वप्नका द्रष्टा आत्मा नहीं है। मैं तुम्हे फिर उपदेश करूँगा, तुम फिर बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतसे यहाँ रहो।'

इन्द्र तीसरी बार पुन. बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे। इसके बाद प्रजापतिने कहा—'जिसमे यह जीव निद्राको प्राप्त होकर सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारके शान्त हो जानेके कारण सम्पूर्ण रीतिसे निर्मल और पूर्ण होता है तथा स्वप्नका अनुभव नहीं करता, यह आत्मा है, अभय है, अमृत है, यही ब्रह्म है।'

आत्माका यथार्थ स्वरूप समझमे आ गया—ऐसा मानकर इन्द्र शान्त हृदयसे स्वर्गकी ओर चले, परंतु देवताओके पास पहुँचनेके पहले ही मार्गमे विचार करनेपर उन्हें सुषुप्ति-अवस्थामे पड़े हुए जीवको आत्मा समझनेमें दोष दीख पड़ा। उन्होने सोचा कि 'सुषुप्ति-अवस्थामे आत्मा जाग्रत् और स्वप्नकी तरह 'यह मैं हूँ' ऐसा अपनेको नहीं जानता, न इन भूतोको जानता है प्रत्युत उसमेंसे विनाशको ही प्राप्त होता है। अर्थात् सुषुप्ति-अवस्थाका सुख भी निरन्तर नही भोग सकता, अतएव इसमे भी मुझे कोई आनन्द नहीं दीखता।'

इस प्रकार विचारकर इन्द्र समित्पाणि होकर चौथी बार पुन. प्रजापतिके पास आये। उन्हे देखकर प्रजापतिने कहा—'तुम तो शान्त हृदयसे चले गये थे, लौटकर कैसे आये?' इन्द्रने कहा—'भगवन्! इस सुषुप्तिमे स्थित यह आत्मा जाग्रत् और स्वप्नमे जैसे अपनेको जानता है वैसा वहाँ 'यह मैं हूँ' यों नहीं जानता, इन भूतोंको नहीं जानता और इस अवस्थामें इसका विनाश-सा होता है, अतएव मैं इसमें भी कोई आनन्द नहीं देखता।'

प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! ठीक है। सुषुप्तिमें प[ड़ा] हुआ जीव वास्तवमें आत्मा नहीं है। मैं तुम्हें फिर इ[सी] आत्माका ही उपदेश करूँगा, किसी दूसरे पदार्थका नहीं। तुम यहाँ पाँच सालतक फिर ब्रह्मचर्य-व्रतसे रहो।'

तीन बार बत्तीस वर्षका ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने[पर] भी प्रतिबन्धकरूप तनिक-से भी हृदयके मलको ना[श] करके प्रकृत अधिकारी बनानेके हेतुसे फिर पाँच व[र्ष] ब्रह्मचर्यके लिये प्रजापतिने आज्ञा दे दी। पूरे एक [सौ] एक वर्षतक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन कर चुकनेपर प्रजापति[ने] उनसे कहा—'इन्द्र! यह शरीर मर्त्य है, सर्वदा मृत्यु[-] ग्रस्त है, तो भी यह अमृतरूप तथा अशरीरी आत्मा[का] अधिष्ठान (रहने और भोगादि भोगनेका स्थान) है। यह अशरीरी आत्मा जब अविवेकसे सशरीर अर्था[त्] शरीरमें आत्मभाव रखनेवाला होता है तभी सुख-दु.ख[-] ग्रस्त होता है। जहाँतक देहात्मबोध रहता है, वहाँत[क] सुख-दुःखसे छुटकारा नही मिल सकता। विज्ञानसे जिसव[का] देहात्मभाव नष्ट हो गया है उस अशरीरीको नि·संदे[ह] सुख-दु.ख कभी स्पर्श नहीं कर सकते।' इसके बा[द] वायु, अभ्र और विद्युदादिका दृष्टान्त देते हुए अन्त[में] प्रजापतिने कहा—'इस शरीरमें जो मैं देखता हूँ, ऐ[से] जानता है वह आत्मा है और नेत्र उसके रूपके ज्ञानव[के] साधन है, जो इस गन्धको मैं सूँघता हूँ, ऐसे जानता है वह आत्मा है और गन्धके ज्ञानके लिये नासिका है, जो [मैं] इस वाणीका उच्चारण करता हूँ, ऐसे जानता है व[ह] आत्मा है और उसके उच्चारणके लिये वाणी है, जो [मैं] सुनता हूँ, ऐसे जानता है वह आत्मा है और उसवे[के] श्रवणके लिये श्रोत्र हैं, जो जानता है कि मैं आत्मा हूँ वह आत्मा है और मन उसका दैवी चक्षु है। अप[ने] स्वरूपको प्राप्त वह मुक्त इस अप्राकृत चक्षुरूपी मनवे[के] द्वारा इन भोगोको देखता हुआ आनन्दको प्राप्त होता है यही आत्मतत्त्व है।'

इन्द्र आनन्दमें मग्न हो गये और देवलोकमें लौटकर उन्होंने देवताओंको इस आत्माका उपदेश किया । देवताओंने इस आत्माकी उपासना की । इसीसे उन्हे सर्वलोक और सम्पूर्ण भोगोंकी प्राप्ति हुई । जो इस आत्माको भलीभाँति जानकर इसका साक्षात्कार करता है, वही सर्वलोक और सम्पूर्ण आनन्दको प्राप्त होता है ।[1]

प्रजापतिका शिक्षा-मन्त्र—'द' 'द' 'द'

एक समय देवता, मनुष्य और असुर सबके पितामह प्रजापति ब्रह्माजीके पास शिष्यभावसे विद्या सीखने गये एव नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए उनकी सेवा करने लगे । इस प्रकार कुछ काल बीत जानेपर उन्होंने उपदेश ग्रहण करना चाहा । सबसे पहले देवताओंने जाकर प्रजापतिसे प्रार्थना की—'भगवन्! हमें उपदेश कीजिये ।' प्रजापतिने उत्तरमें एक ही अक्षर कह दिया—'द' । स्वर्गमें भोगोकी भरमार है, भोग ही देवलोकका सुख माना गया है, कभी वृद्ध न होकर देवगण सदा इन्द्रियभोगोंमे लगे रहते हैं, अपनी इस अवस्थापर विचारकर देवताओंने 'द'का अर्थ 'दमन'—इन्द्रिय-दमन समझा और अपनेको कृतकृत्य मानकर प्रजापतिको प्रणामकर वे वहाँसे चलने लगे । प्रजापतिने पूछा—'क्यों, मेरे उपदेश किये हुए अक्षरका अर्थ तो तुम समझ गये न ?' देवताओंने कहा—'जी हाँ ! समझ गये, आपने हम विलासियोंको इन्द्रिय-दमन करनेकी आज्ञा दी है ।' प्रजापतिने कहा—'तुमने ठीक समझा, मेरे 'द' कहनेका यही अर्थ था । जाओ, परंतु मेरे उपदेशके अनुसार चलना, तभी तुम्हारा कल्याण होगा ।'

तदनन्तर मनुष्योंने प्रजापतिके पास जाकर कहा—'भगवन् ! हमे उपदेश कीजिये ।' प्रजापतिने उनको भी वही 'द' अक्षर सुना दिया । मनुष्योंने विचार किया कि हम कर्मयोनि होनेके कारण सदा लोभवश कर्म करने और अर्थसंग्रह करनेमें ही लगे रहते हैं । इसलिये प्रजापतिने हम लोभियोंको 'दान' करनेका उपदेश किया है । यह निश्चयकर वे अपनेको सफल-मनोरथ मानकर चलने लगे, तब प्रजापतिने उनसे पूछा—'तुमलोग मेरे कथनका अर्थ समझकर जा रहे हो न ?' संग्रहप्रिय मनुष्योंने कहा—'जी हाँ, हम समझ गये, आपने हमें दान करनेकी आज्ञा दी है ।' यह सुनकर प्रजापति प्रसन्न होकर बोले—'हाँ, मेरे कहनेका यही अर्थ था, तुमने ठीक समझा है । अब इसके अनुसार चलना, तभी तुम्हारा कल्याण होगा ।'

इसके पश्चात् असुरोंने प्रजापतिके पास जाकर प्रार्थना की—'भगवन् ! हमे उपदेश कीजिये ।' इन्हें भी प्रजापतिने 'द' अक्षरका ही उपदेश किया । असुरोंने समझा कि हमलोग स्वभावसे ही हिंसावृत्तिवाले हैं, क्रोध और हिंसा हमारा नित्यका व्यापार है, अतएव प्रजापतिने

---

१. इस प्रकारकी तीव्र जिज्ञासा और अटल श्रद्धा होनेपर ही ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपकी उपलब्धि हुआ करती है । स्वर्गके विशाल भोगोंको छोडकर लगातार एक सौ एक वर्षोतक ब्रह्मचर्यका पालन करनेके अनन्तर देवराज इन्द्रको प्रजापति यथार्थ उपदेश करते हैं और तभी उन्हें ब्रह्मका साक्षात्कार होता है । आजकल लोग बिना ही श्रद्धा और साधनके अनायास ब्रह्मको प्राप्त कर लेना चाहते है । गुरुको खोजने और उनके समीप जानेकी भी आवश्यकता नहीं समझते । इसी कारण जैसे-के-तैसे रह जाते हैं । प्रथम तो गुरु मिलते नहीं, मिलते हैं तो विषयान्ध मनुष्य उन्हें पहचानते नहीं । बिना पहचाने और बिना ही पूछे यदि सत्पुरुष अपनी स्वाभाविक दयासे कुछ उपदेश कर देते हैं तो श्रद्धाके अभावसे वह ग्रहण नहीं किया जाता । वास्तवमे अनधिकारीको बिना पूछे उपदेश देनेका कोई महत्त्व नहीं रहता, इसीसे महात्मा लोग बिना पूछे प्राय कुछ कहा भी नहीं करते । इन सब बातोंपर विचार करके जिन लोगोंको दु खोंसे सर्वदा मुक्त होनेकी अभिलाषा है उन्हें चाहिये कि ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे सम्पन्न होकर श्रद्धा और भक्तिसे समन्वित हृदयसे सद्गुरु और शास्त्रोंकी शरण लें एवं तर्कसे सदा बचे रहकर विश्वासपूर्वक उनके आज्ञानुसार लक्ष्यका अनुसधान करके उसीमे चित्तकी वृत्तियोंको विलीन कर लें ।

प्रजापतिका शिक्षामन्त्र

हमें इस दुष्कर्मसे छुडानेके लिये कृपा करके जीवमात्रपर दया करनेका ही उपदेश दिया है। यह विचारकर वे जब चलनेको तैयार हुए, तब प्रजापतिने यह सोचकर कि ये लोग मेरे उपदेशका अर्थ समझे या नहीं, उनसे पूछा—'तुम जा रहे हो, परंतु बताओ, मैंने तुम्हे क्या करनेको कहा है?' तब हिंसाप्रिय असुरोने कहा—'देव! आपने हम हिंसकोको 'द' कहकर प्राणिमात्रपर दया करनेकी आज्ञा दी है।' यह सुनकर प्रजापतिने कहा—'वत्स! तुमने ठीक समझा, मेरे कहनेका यही तात्पर्य था। अब तुम द्वेष छोडकर प्राणिमात्रपर दया करना, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।'

देव दनुज मानव सभी लहैं परम कल्याण।
पालै जो 'द' अर्थ को दमन दया अरु दान॥

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका दिव्योपदेश

एक दिन भगवान् श्रीराम दण्डकवनमे सुखपूर्वक आसनपर विराजमान थे, पासमे ही श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजी भी यथास्थान आसनपर बैठे हुए थे। सुन्दर अवसर जानकर श्रीलक्ष्मणजीने निष्कपट अन्त करणसे दोनो हाथ जोडकर बडी नम्रताके साथ भगवान्से निवेदन किया—'सुर, नर, मुनि तथा समस्त जगत्के स्वामी! मैं आपको अपना प्रभु समझकर पूछ रहा हूँ। कृपाकर मुझे समझाकर कहिये कि ज्ञान, वैराग्य और माया किसे कहते हैं? वह कौन-सी भक्ति है, जिससे आप भक्तोपर दया करते है? और ईश्वर तथा जीवमे क्या भेद है? जिससे मेरा शोक, मोह, भ्रम आदि दूर हो जाय और मै सब कुछ छोडकर आपकी चरण-रजकी सेवामे ही तल्लीन हो जाऊँ।'

भक्तवत्सल भगवान्ने सरलहृदय, परम श्रद्धालु, एकान्तप्रेमीके कल्याणके लिये सक्षेपमे इस प्रकार उत्तर दिया—'भाई! मै और मेरा, तू और तेरा ही माया है, जिसने समस्त जीवोको अपने वशमे कर रखा है। इन्द्रियो और उनके विषयोमे जहाँतक मन जाता है, वहाँतक माया ही जानना चाहिये। इस मायाके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। इनमे एक अविद्या तो दुष्ट और अत्यन्त दु.खरूप है, जिसके वशमे होकर जीव भवकूपमे पड़ा हुआ है। दूसरी अर्थात् विद्या, जिसके वशमे समस्त गुण है, संसारकी रचना करती है। वह प्रभुकी प्रेरणासे सब कार्य करती है, उसका अपना कोई बल नही है।

'तात! जिस मनुष्यमे ज्ञानाभिमान बिलकुल नहीं है, जो सबमे समान-रूपसे ब्रह्मको व्याप्त देखता है, जिसने तृणके समान सिद्धियो और तीनो गुणोको त्याग दिया है, उसीको परम वैराग्यवान् कहना चाहिये।

'जो अपनेको मायाका स्वामी नही जानता, वही जीव है और जो बन्धन और मोक्षका दाता है, सबसे श्रेष्ठ है, मायाका प्रेरक है, वही ईश्वर है।

'वेद कहते है कि धर्मसे वैराग्य, वैराग्यसे योग, योगसे ज्ञान होता है और ज्ञान ही मोक्षको देनेवाला है, परतु मै जिससे शीघ्र प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति है और वही भक्तोको सुख देनेवाली है। वह भक्ति स्वतन्त्र है, वह किसी वस्तुपर अवलम्बित नही है, ज्ञान और विज्ञान सब उसके अधीन है। तात! भक्ति अनुपम सुखका मूल है और वह तभी प्राप्त होती है जब संत लोग अनुकूल होते है।

'अब मै भक्तिके साधनका वर्णन करता हूँ और वह सुगम मार्ग बतलाता हूँ, जिससे प्राणी मुझे सहजमे ही पा सके। पहले तो ब्राह्मणके चरणोमे बहुत प्रीति होनी चाहिये और वेदविहित अपने-अपने धर्ममें प्रवृत्ति होनी चाहिये। इसका फल यह होगा कि मन विषयोंसे विरक्त हो जायगा और तब मेरे चरणोमे अनुराग उत्पन्न हो जायगा। फिर श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नो

शिक्षाका वास्तविक लक्ष्य — आत्मसाक्षात्कार

अङ्गिराद्वारा शौनकको ब्रह्मविद्याकी शिक्षा

विश्वका मूल है, कैसे जाना जाता है?

अङ्गिरा—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

(मुण्डकोप० १।२।११)

'जो शान्त और विद्वान् लोग वनमें भिक्षावृत्तिमे रहते हुए तप और श्रद्धाका सेवन करते हैं, वे शान्तरज होकर सूर्यद्वारसे वहाँ जाते हैं, जहाँ वह अमृत अव्यय पुरुष रहता है।'

शौनक—भगवन्! सूर्यद्वारसे उस अव्यय धामको प्राप्त करनेका साधन क्या है?

अङ्गिरा—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मुण्डकोप० १।२।१२)

'कर्मसे जो-जो लोक प्राप्त होते हैं उनकी परीक्षा करके ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो, (क्योंकि संसारमें) अकृत—नित्य पदार्थ कोई नहीं है, (अतः) कृत (कर्म)से हमें क्या प्रयोजन है। तब वह 'तत्—उस' को जाननेके लिये हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जाय।'

'तब वे विद्वान् गुरु उस प्रशान्तचित्त जितेन्द्रिय शिष्यको उस ब्रह्मविद्याका उपदेश करते हैं जिससे उस सत्य और अक्षर पुरुषका ज्ञान होता है। उसी अक्षर पुरुषसे प्राण उत्पन्न होता है, उसीसे मन, इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है। अग्नि(द्युलोक) उसका मस्तक है, चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी हैं, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, उसके चरणोंसे पृथ्वी उत्पन्न हुई है, वह सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है। बहुत-से जो देवता हैं वे उसीसे उत्पन्न हुए हैं। साध्यगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण-अपान, व्रीहि, यव, तप, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और विधि—ये सब उसीसे उत्पन्न हुए हैं।'

शौनक—सत्यस्वरूप पुरुषसे ये सब उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् ये सब विकारमात्र हैं और पुरुष ही केवल सत्य है, ऐसा ही समझना चाहिये?

अङ्गिरा—नहीं, यह सारा जगत्, कर्म और तप स्वयं पुरुष ही है, ब्रह्म है, वर है, अमृत है। इस गुहामें छिपे हुए सत्यको जो जानता है, वह हे सोम्य! अविद्याकी ग्रन्थिका छेदन कर देता है। वह दीप्तिमान् है, अणुसे भी अणु है, उसमें सम्पूर्ण लोक और उनके अधिवासी स्थित हैं। वही अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी और वही मन है। वही सत्य और अमृत है। वही वेधने योग्य है। सोम्य! तुम उसे वेधो।

शौनक—भगवन्! उसका वेधन कैसे किया जाय?

अङ्गिरा—सोम्य! औपनिषद महास्त्र लेकर उपासनासे तीक्ष्ण किया हुआ बाण उसपर चढ़ाओ और उसे तद्भावभावित चित्तसे खींचकर उस अक्षरब्रह्मलक्ष्यका वेधन करो।

शौनक—भगवन्! वह औपनिषद महास्त्र क्या है, वह बाण कौन-सा है और उससे लक्ष्यवेध कैसे करना चाहिये?

अङ्गिरा—प्रणव ही वह (महास्त्र) धनुष है, आत्मा ही बाण है और वह ब्रह्म ही लक्ष्य है। प्रमादरहित (सावधान) होकर उस लक्ष्यका वेध करनेके लिये बाणके समान तन्मय होना चाहिये। जिसमें द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्ष तथा मन सब प्राणोंसहित बुना हुआ है, उसी एक आत्माको जानो, अन्य वाणीको छोड़ो, यही अमृतका सेतु है। रथचक्रकी नाभिमें जिस प्रकार अरे लगे होते हैं, उस प्रकार जिसमें सब नाड़ियाँ जुड़ी हैं वही यह अन्तर्वर्त्ती आत्मा है, जो अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है। उस आत्माका 'ॐ' से ध्यान करो। तम (अज्ञान) को पार किया चाहनेवाले तुम्हारा कल्याण हो। जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, जिसकी यह महिमा भूलोकमें है, वही

यह आत्मा ब्रह्मपुर आकाशमे स्थित है। वह मनोमय प्राण-शरीरका नेता है (मन और प्राणको एक देहसे दूसरी देहमें, एक लोकसे दूसरे लोकमे ले जाता है) और अन्नमय शरीरमे वह हृदयको आश्रय करके रहता है। उसके विज्ञानको प्राप्त होकर धीर पुरुष उस प्रकाशमान आनन्दरूप अमृतको सर्वत्र देखते हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डकोप०२।२।८)

'उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्म भी इसके क्षीण हो जाते हैं।'

'वह अमृत ब्रह्म ही आगे है, वही पीछे है, वही दायी ओर है, वही बायीं ओर है, वही नीचे है, वही ऊपर है, यह सारा विश्व वही वरिष्ठ ब्रह्म ही तो है।'

शौनक—उस ब्रह्मके साथ इस जीवका कैसा सम्बन्ध है?

अङ्गिरा—ये दोनो ही सुन्दर पक्षवाले दो पक्षियो-जैसे एक ही वृक्षका आश्रय किये हुए दो सखा हैं। इनमेंसे एक उस वृक्षके फलोको खाता है और दूसरा नहीं खाता, केवल देखता है। जो इन फलोको खाता है वह दीन(अनीश) होकर शोकको प्राप्त होता है। यही जब दूसरेको ईशरूपमे देखकर उसकी महिमाको देखता है तब यह भी वीतशोक हो जाता है। जगत्कर्ता ईश पुरुषको देखकर यह पाप-पुण्य दोनोको त्यागकर निरञ्जन परम साम्यको प्राप्त होता है।

शौनक—उस ईश पुरुषको देखनेका उपाय क्या है?

अङ्गिरा—सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यसे विशुद्धात्मा योगिजन अन्तःशरीरमे इसे ज्योतिर्मय शुभ्र रूपमें देखते हैं। वही आत्मा है। वह बृहत् है, दिव्य है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, दूर-से-दूर और समीप-से-समीप है। वह देखनेवालोके हृदयकी गुहामे छिपा हुआ रहता है। वह आँखसे नहीं दिखायी देता, वाणीसे या अन्य इन्द्रियोसे अथवा तप या कर्मसे नही जाना जाता। ज्ञानके प्रसादसे अन्तःकरण विशुद्ध होनेपर उस निष्कल पुरुषका साक्षात्कार होता है। ऐसा साक्षात्कार जिसे होता है वह जो कुछ संकल्प करता है वह सिद्ध हो जाता है। वह संकल्पमात्रसे चाहे जिस लोक या भोगको प्राप्त कर सकता है। ऐसे पुरुषकी जो उपासना करता है वह भी बन्धनमुक्त होकर आत्माको प्राप्त कर लेता है।

शौनक—आत्माका कथन करनेवाले शास्त्रोंके प्रवचनसे क्या इसकी प्राप्ति नही हो सकती?

अङ्गिरा—नहीं,

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥

(मुण्डकोप०३।२।३)

'यह आत्मा प्रवचनसे नही, मेधासे नही, बहुत श्रवण करनेसे भी नही मिलता। यह जिसका वरण करता है, उसीको यह प्राप्त होता है। उसके सामने यह आत्मा अपना स्वरूप व्यक्त कर देता है।' जो बल, अप्रमाद, संन्यास और ज्ञानके द्वारा आत्माको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है, आत्मा उसे अपने धाममे ले आता है।

शौनक—जो कोई आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है उसकी क्या स्थिति होती है?

अङ्गिरा—जो उस परब्रह्मको जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है और उसके कुलमे कोई अब्रह्मविद् नहीं होता। वह शोकको तर जाता है, पापको पार कर जाता है, हृदयग्रन्थियोसे विमुक्त होकर अमृत हो जाता है।

शौनक—भगवन्! ऐसी ब्रह्मविद्याका अधिकारी कौन होता है, यह कृपाकर बताइये।

अङ्गिरा—जो क्रियावान् हैं, श्रोत्रिय हैं, ब्रह्मनिष्ठ हैं, श्रद्धापूर्वक जो एकर्षि-हवन करते हैं और जिन्होने विधिपूर्वक शिरोव्रतका अनुष्ठान किया है उनसे यह ब्रह्मविद्या कहे।

इस प्रकार महाशाल (महागृहस्थ) शौनकके प्रश्न करनेपर महर्षि अङ्गिराने यह सत्य कथन किया। सत्यासत्यका यह ज्ञान ही वास्तविक 'शिक्षा' है।

नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः।

(मुण्डकोप० ३।२।११)

श्वेतकेतुको 'तत्त्वमसि'की शिक्षा

अरुणके पुत्र आरुणि उद्दालकके श्वेतकेतु नामका एक पुत्र था। वह वारह वर्षकी अवस्थातक केवल खेल-कूदमें ही लगा रहा। पिता सोचते रहे कि यह स्वयं ही विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा करे तो उत्तम है, परंतु उसने वैसी इच्छा नहीं की, तव पितासे नहीं रहा गया। उन्होंने एक दिन उसे अपने पास बुलाकर कहा—'वत्स श्वेतकेतो! तू किसी सुयोग्य गुरुके समीप जाकर ब्रह्मचारी होकर रह। सौम्य! अपने वंशमें कोई भी ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ जिसने वेदोंका त्याग किया हो और जो ब्राह्मणके गुण और आचारोंसे रहित होकर केवल नामधारी ब्राह्मण बनकर रहा हो। ऐसा करना योग्य नहीं है। सारांश यह कि तुझे वेदोंका अध्ययन करके ब्रह्मको प्राप्त करना ही चाहिये।'

पिता आरुणिका मीठा उलाहना सुनकर श्वेतकेतु वारह वर्षकी अवस्थामे गुरुके घर गया और पूरे चौबीस वर्षकी अवस्थातक गुरुगृहमें रहकर व्याकरणादि छः अङ्गोंसहित चारों वेदोका पूर्ण अध्ययन करनेके पश्चात् गुरुकी आज्ञा लेकर घर लौटा। उसने मन-ही-मन विचार किया कि 'मैं वेदका पूर्ण ज्ञाता हूँ, मेरे समान पण्डित और कोई नहीं है। मैं सर्वोपरि विद्वान् और वुद्धिमान् हूँ।' इस प्रकारके विचारोसे उसके मनमे गर्व उत्पन्न हो गया और वह उद्धत तथा विनयरहित होकर विना प्रणाम किये ही पिताके सामने आकर वैठ गया। आरुणि ऋषि उसका नम्रतारहित औद्धत्यपूर्ण आचरण देखकर इस वातको जान गये कि इसे वेदके अध्ययनसे वड़ा गर्व हो गया है, फिर भी उन्होंने उस अविनयी पुत्रपर क्रोध नहीं किया और कहा—'श्वेतकेतो! तूने ऐसी कौन-सी विद्या पढ़ी है कि जिससे तू अपनेको सवसे वड़ा पण्डित समझता है और इतना अभिमानमें भर गया है। विद्याका स्वरूप तो विनयसे ही निखरता है। अभिमानी पुरुषके हृदयसे सारे गुण तो दूर चले जाते हैं और समस्त दोष अपने-आप उसमें आ जाते हैं। तूने अपने गुरुसे यह सीखा हो तो वता कि ऐसी कौन-सी वस्तु है कि जिस एकके सुननेसे विना सुनी हुई सव वस्तुएँ सुनी जाती हैं, जिस एकके विचारनेसे विना विचार की हुई सब वस्तुओका विचार हो जाता है और जिस एकके ज्ञानसे नहीं जानी हुई सव वस्तुओका ज्ञान हो जाता है?'

आरुणिके ऐसे वचन सुनते ही श्वेतकेतुका गर्व गल गया, उसने सोचा कि 'मैं तो ऐसी किसी वस्तुको नहीं जानता। मेरा अभिमान मिथ्या है।' वह नम्र होकर विनयके साथ पिताके चरणोंपर गिर पड़ा और हाथ जोड़कर कहने लगा—'भगवन्! जिस एक वस्तुके श्रवण, विचार और ज्ञानसे सम्पूर्ण वस्तुओंका श्रवण, विचार और ज्ञान हो जाता है, उस वस्तुको मैं नहीं जानता। आप उस वस्तुका उपदेश कीजिये।'

आरुणिने कहा—'सौम्य! जैसे कारणरूप मिट्टीके पिण्डका ज्ञान होनेसे मिट्टीके कार्यरूप घट, शराव आदि समस्त वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि घट आदि कार्यरूप वस्तुएँ सत्य नहीं हैं, केवल वाणीके विकार हैं, सत्य तो केवल मिट्टी ही है। सौम्य! जैसे कारणरूप सोनेके पिण्डका ज्ञान होनेसे कड़े, कुण्डलादि सव कार्योका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि ये कड़े, कुण्डलादि सत्य नहीं हैं, केवल वाणीके विकार हैं, सत्य तो केवल सोना ही है और जैसे नख काटनेकी नहरनी आदिमें रहे हुए लोहेका ज्ञान हो जानेसे लोहेके कार्य खड्ग, परशु आदिका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि वास्तवमें ये सब सत्य नहीं हैं, एक लोहा ही सत्य है। बस, इसी तरह वह ज्ञान होता है।'

पिता आरुणिके ये वचन सुनकर श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी! निश्चय ही मेरे विद्वान् गुरु इस वस्तुको नहीं जानते हैं; क्योंकि यदि वे जानते होते तो मुझे वतलाये विना कभी नहीं रहते। अतएव भगवन्! अब आप ही मुझे उस वस्तुका उपदेश कीजिये जिस एकके जाननेसे सव वस्तुएँ जानी जाती हैं।'

आरुणिने कहा—'अच्छा, सावधान होकर सुन,

गुरुभक्तिसे ब्रह्मज्ञान

परम शिक्षा—'तत्त्वमसि'

प्रियदर्शन! यह नाम, रूप और क्रियास्वरूप दृश्यमान जगत् उत्पन्न होनेसे पहले केवल एक, अद्वितीय, सत् ही था। उस सत् ब्रह्मने संकल्प किया कि 'मै एक बहुत हो जाऊँ'। ऐसा संकल्प करके उसने पहले तेज उत्पन्न किया, फिर उससे जल उत्पन्न किया और तदनन्तर उससे अन्न उत्पन्न किया। इन्ही तीन तत्त्वोसे सब पदार्थ उत्पन्न हुए। जगत्मे जितनी वस्तुएँ हैं, सब तेज, जल और अन्न—इन तीनोके मिश्रणसे ही बनी है। जहाँ प्रकाश या गरमी है वहाँ तेजतत्त्वकी प्रधानता है, जहाँ द्रव या प्रवाही भाव है वहाँ जलकी प्रधानता है और जहाँ कठोरता है वहाँ अन्न या पृथ्वीकी प्रधानता है। अग्निमे जो लाल, श्वेत और कृष्ण वर्ण है उसमे ललाई तेजकी, सफेदी जलकी और श्यामता पृथ्वीकी है। यही बात सूर्य, चन्द्रमा और बिजलीमे है। यदि अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और बिजलीमेसे तेज, जल और पृथ्वीको निकाल लिया जाय तो अग्निमे अग्निपन, सूर्यमे सूर्यपन, चन्द्रमामे चन्द्रपन और विद्युत्मे विद्युत्पन कुछ भी नहीं रह जायगा। इसी प्रकार सभी वस्तुओमे समझना चाहिये। खाये हुए अन्नके भी तीन रूप हो जाते हैं, स्थूल भागसे विष्ठा बन जाता है, मध्यम भाग मांस बनता है और सूक्ष्म भाग मनरूप हो जाता है। इसी तरह जलके स्थूल भागसे मूत्र बनता है, मध्यम भागसे रक्त बनता है और सूक्ष्म भागसे प्राण बनता है। इसी प्रकार तेल, घृत आदि तैजस पदार्थोके स्थूल भागसे हड्डी बनती है, मध्यम भाग मज्जारूप हो जाता है और सूक्ष्म भाग वाणीरूप होता है। अतएव मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजमय है अर्थात् मन अन्नसे बनता है, प्राण जलसे बनता है और वाणी तेजसे बनती है।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी! मुझे यह विषय और स्पष्ट करके समझाइये।' उद्दालक आरुणि बोले—'सौम्य! जैसे दही मथनेसे उसका सूक्ष्म सार-तत्त्व नवनीत ऊपर तैरता है इसी प्रकार जो अन्न खाया जाता है, उसका सूक्ष्म सार अंश मन बनता है। जलका सूक्ष्म अंश प्राण और तेजका सूक्ष्म अंश वाक् बनता है। वास्तवमे ये मन, प्राण और वाणी तथा इनके कारण अन्नादि कार्य-कारणपरम्परासे मूलमें एक ही सत् वस्तु ठहरते हैं। सबका मूल कारण सत् है, वही परम आश्रय और अधिष्ठान है। सत्के कार्य नाना प्रकारकी आकृतियाँ सब वाणीके विकार हैं, नाममात्र है। यह सत् अणुकी भाँति सूक्ष्म है, समस्त जगत्का आत्मारूप है। जैसे सर्पमे रस्सी कल्पित है, इसी प्रकार जगत् इस 'सत्'में कल्पित है। श्वेतकेतो! वह 'सत्' वस्तु तू ही है—**'तत्त्वमसि।'**

'सौम्य! जैसे शहदकी मक्खी अनेक प्रकारके वृक्षोके रसको एकत्र करके उसे एकरस करके शहदके रूपमे परिणत करती है, शहदरूपको प्राप्त रस जैसे यह नही जानता कि मैं आमके पेड़का रस हूँ या कटहलके वृक्षका, इसी प्रकार सुषुप्तिकालमें जीव 'सत्' वस्तुके साथ एकीभावको प्राप्त होकर यह नहीं जानते कि हम सत्मे मिल गये हैं। सुषुप्तिसे जागकर पुनः वे अपने-अपने पहलेके बाघ, सिह, वृक, शूकर, कीट, पतंग और मच्छरके शरीरको प्राप्त हो जाते हैं। यह जो सूक्ष्म तत्त्व है यही आत्मा है, यह सत् है और श्वेतकेतो! वह तू ही है—**'तत्त्वमसि।'**

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' आरुणि बोले—'सौम्य! जैसे समुद्रके जलसे ही बादलोके द्वारा पुष्ट हुई गङ्गा आदि नदियाँ अन्तमे समुद्रमें ही मिलकर अपने नाम-रूपको त्याग देती हैं, वे यह नहीं जानतीं कि मैं गङ्गा हूँ, मैं नर्मदा हूँ। सर्वथा समुद्रभावको प्राप्त हो जाती हैं और फिर मेघके द्वारा वृष्टिरूपसे समुद्रसे बाहर निकल आती हैं, किंतु यह नहीं जानतीं कि हम समुद्रसे निकली हैं, इसी प्रकार ये जीव भी सत्मेसे निकलकर सत्मे ही लीन होते हैं और पुन उसीसे निकलते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि हम 'सत्'से आये हैं और यहाँ वही बाघ, सिंह, वृक, शूकर, कीट, पतंग या मच्छर जो-जो पहले होते हैं, वे हो जाते हैं। यह जो सूक्ष्म तत्त्व सबका आत्मा है, यह सत् है, यही आत्मा है और श्वेतकेतो! यह 'सत्' तू ही है—**'तत्त्वमसि।'**

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिरसे समझाइये।'

उद्दालक आरुणिने 'तथास्तु' कहकर समझाना आरम्भ किया—

'सौम्य! बड़े भारी वृक्षकी जड़पर कोई चोट करे तो वह एक ही चोटमे सूख नही जाता, वह जीता है और उस छेदमेसे रस झरता है। वृक्षके बीचमे छेद करनेपर भी वह सूखता नहीं, छेदमेसे रस झरता है, इसी प्रकार अग्रभागपर चोट करनेसे भी वह जीता है और उसमेंसे रस टपकता है। जबतक उसमें जीवात्मा व्याप्त रहता है तबतक वह मूलके द्वारा जल ग्रहण करता हुआ आनन्दसे रहता है। जब इस वृक्षकी शाखाओमे एक शाखासे जीव निकल जाता है तब वह सूख जाती है, दूसरीसे निकलनेपर दूसरी और तीसरीसे निकलनेपर तीसरी सूख जाती है और जब सारे वृक्षको जीव त्याग देता है तब वह सब-का-सब सूख जाता है। इसी प्रकार यह शरीर भी जब जीवसे रहित होता है तभी मृत्युको प्राप्त होता है। जीव कभी मृत्युको प्राप्त नहीं होता, यह जीवरूप सूक्ष्म तत्त्व ही आत्मा है। यह सत् है, यही आत्मा है और श्वेतकेतो! वह 'सत्' तू ही है—'**तत्त्वमसि**।'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' पिता आरुणिने कहा—'अच्छा, एक फल तोड़कर ला! फिर तुझे समझाऊँगा।' श्वेतकेतु फल ले आया। पिताने कहा—'इसे तोड़कर देख, इसमें क्या है?' श्वेतकेतुने फल तोड़कर कहा—'भगवन्! इसमे छोटे-छोटे बीज हैं।' ऋषि बोले—'अच्छा, एक बीजको तोडकर देख उसमे क्या है?' श्वेतकेतुने बीजको फोड़कर कहा—'इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता।' तब पिता आरुणि बोले—'सौम्य! तू इस वट-बीजके सूक्ष्म भावको नहीं देखता, इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वसे ही महान् वटका वृक्ष निकलता है। बस, जैसे यह अत्यन्त सूक्ष्म वट-बीज बडे भारी वटके वृक्षका आधार है, इसी प्रकार सूक्ष्म सत् आत्मा इस समस्त स्थूल जगत्का आधार है। सौम्य! मैं सत्य कहता हूँ, तू मेरे वचनमे श्रद्धा रख। यह जो सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है, वह सत् है और यही आत्मा है। श्वेतकेतो। वह 'सत्' तू ही है—'**तत्त्वमसि**।'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे पुनः दूसरे दृष्टान्तसे समझाइये।' उद्दालकने एक नमककी डली श्वेतकेतुके हाथमें देकर कहा—'वत्स! इस डलीको अभी जलसे भरे हुए लोटेमें डाल दे और फिर कल सबेरे उस लोटेको लेकर मेरे पास आना।' श्वेतकतुने ऐसा ही किया। दूसरे दिन प्रातःकाल जब श्वेतकेतु जलका लोटा लेकर पिताके पास गया, तब उन्होंने कहा—'सौम्य! रातमे तूने जो नमककी डली लोटेमें डाली थी, उसे जलमेंसे ढूँढ़कर निकाल तो दे, मैं उसे देखूँ।' श्वेतकेतुने देखा, पर नमककी डली उसे नहीं मिली; क्योंकि वह तो जलमें गलकर जलरूप हो गयी थी। तब आरुणिने कहा—'अच्छा, इसमेसे इस ओरसे थोड़ा-सा जल चखकर बता तो कैसा है?' श्वेतकेतुने आचमन करके कहा—'पिताजी! जल खारा है।' आरुणि बोले—'अच्छा, अब बीचमेंसे लेकर चखकर बता।' श्वेतकेतुने चखकर कहा—'पिताजी! यह भी खारा है।' आरुणिने कहा—'अच्छा! अब दूसरी ओरसे जरा-सा पीकर बता कैसा स्वाद है?' श्वेतकेतुने पीकर कहा—'पिताजी! इधरसे भी स्वाद खारा ही है।' अन्तमे पिताने कहा—'अब सब ओरसे पीकर, फिर जलको फेंक दे और मेरे पास चला आ?' श्वेतकेतुने वैसा ही किया और आकर पितासे कहा—'पिताजी! मैंने जो नमक जलमें डाला था, यद्यपि मैं अपनी आँखोसे उसे नहीं देख पाता परंतु जीभके द्वारा मुझे उसका पता लग गया है कि उसकी स्थिति उस जलमें सदा और सर्वत्र है।' पिताने कहा—'सौम्य! जैसे तू यहाँ उस प्रसिद्ध 'सत्' नमकको नेत्रोसे नहीं देख सका तो भी वह विद्यमान है, इसी प्रकार यह सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है। वह 'सत्' है और वही आत्मा है और श्वेतकेतो! वह आत्मा तू ही है—'**तत्त्वमसि**।'

श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी! मुझे फिर उपदेश कीजिये।' तब मुनि उद्दालक बोले—'सुन! जैसे चोर आँखोपर पट्टी बाँधकर किसी मनुष्यको बहुत दूरके गान्धार देशसे लाकर किसी जंगलमें—निर्जन प्रदेशमे छोड़ दे और वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओकी ओर देख-देखकर सहायताके लिये पुकार करके कहे कि

'मुझे ऑखोपर पट्टी बॉधकर चोरोने यहॉ लाकर छोड़ दिया है' और जैसे उसकी करुण-पुकारको सुनकर कोई दयालु पुरुष दयावश उसकी ऑखोकी पट्टी खोल दे और उससे कह दे कि 'गान्धारदेश इस दिशामे है, तू इस रास्तेसे चला जा, वहॉ पहुॅच जायगा।' और वह बुद्धिमान् अधिकारी पुरुष जैसे उस दयालु पुरुषके वचनोपर श्रद्धा रखकर उसके बताये मार्गपर चलने लगता है और एक गॉवसे दूसरा गॉव पूछता हुआ अन्तमे अपने गान्धार देशको पहुॅच जाता है, इसी प्रकार अज्ञानकी पट्टी बॉधे हुए काम, क्रोध, लोभादि चोरोके द्वारा संसाररूपी भयङ्कर वनमे छोड़ा हुआ जीव ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके दयापरवश हो बतलाये हुए मार्गसे चलकर अविद्याके फंदेसे छूटकर अपने मूल स्वरूप 'सत्' आत्माको प्राप्त हो जाता है। यह जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह आत्मा है। वह सत् है, वही आत्मा है, श्वेतकतो! वह सत् आत्मा तू ही है—'**तत्त्वमसि**।'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! कृपापूर्वक मुझे फिर उपदेश कीजिये।' तब मुनि उद्दालक बोले—'सुन, जैसे कोई एक रोगी मनुष्य मरनेवाला होता है, तब उसके सम्बन्धी लोग ऐसे घेरकर पूछते हैं कि तुम हमे पहचानते हो या नहीं? जबतक उस रोगी जीवकी वाणीका मनमे, मनका प्राणमे, प्राणका तेजमें और तेजका ब्रह्ममे लय नहीं हो जाता तबतक वह सबको पहचान सकता है, परंतु जब उसकी वाणीका मनमे, मनका प्राणमें, प्राणका तेजमे और तेजका ब्रह्ममे लय हो जाता है, तब वह किसीको नहीं पहचान सकता। यह जो सूक्ष्म भाव है वह आत्मा है, वह सत् है, वही आत्मा है, श्वेतकेतो! वह आत्मा तू ही है—'**तत्त्वमसि**।'

इस प्रकार पिता उद्दालक आरुणिके उपदेशसे श्वेतकेतु आत्माके अपरोक्ष ज्ञानको प्राप्त होकर कृतार्थ हो गया।

(छान्दोग्योपनिषद्)

महर्षि याज्ञवल्क्यका मैत्रेयीको ज्ञानोपदेश

महर्षि याज्ञवल्क्यकी दो पत्नियॉ थीं। एकका नाम था मैत्रेयी और दूसरीका कात्यायनी। दोनो ही सदाचारिणी और पतिव्रता थीं। इन दोनोमे मैत्रेयी अध्यात्मपरायणा थीं, पर कात्यायनीका मन संसारमे ही लगा रहता था। महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीको अपने पास बुलाकर कहा—'मैत्रेयि! मैं अब इस गृहस्थाश्रमको छोड़कर संन्यास ग्रहण करना चाहता हूॅ। तुम दोनो मेरे संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् आपसमे विवाद न कर सुखपूर्वक रह सको, इसलिये मै चाहता हूॅं कि तुम दोनोमे घरकी सम्पत्ति आधी-आधी बॉट दूॅ।'

महर्षिकी बात सुनकर मैत्रेयीने सोचा—'मनुष्य अपने पासकी किसी वस्तुको तभी छोड़नेको तैयार होता है जब उसे पहलीकी अपेक्षा कोई अधिक उत्तम वस्तु प्राप्त हो। महर्षि घर-बारको छोड़कर जा रहे हैं, अतएव इन्हे कोई ऐसी वस्तु दीखी होगी जिसके सामने घर-बार सब तुच्छ है। वह परम वस्तु जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति लाभकर अमृतत्वको—परमात्माको पाना ही है।'

ऐसा सोचकर मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! मुझे यदि धन-धान्यसे परिपूर्ण समस्त पृथ्वी मिल जाय तो क्या उससे मै अमृतत्वको पा सकती हूॅ?'

याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, नहीं। धनसहित पृथ्वीकी प्राप्तिसे तेरा धनिकोका-सा जीवन हो सकता है, परंतु उससे अमृतत्व नहीं मिल सकता।' मैत्रेयीने कहा—'जिससे मेरा मरना न छूटे, उस वस्तुको लेकर मैं क्या करूॅ? भगवन्! आप जो जानते हैं (जिस परम धनके सामने आपको यह घर-बार तुच्छ प्रतीत होता है और बड़ी प्रसन्नतासे आप सबका त्याग कर रहे हैं) वही परम धन मुझे दीजिये।'

'मैत्रेयि! पहले भी तू मुझे विशेष इष्ट थी, अब इन वाक्योसे वह प्रेम और भी बढ़ गया है। तू मेरे

पास आकर बैठ, मैं तुझे अमृतत्वका उपदेश करूँगा। मेरी बातोंको भलीभाँति सुनकर उनका मनन कर।' इतना कहकर महर्षि याज्ञवल्क्यने प्रियतमरूपसे आत्माका वर्णन आरम्भ किया। उन्होंने कहा—

'मैत्रेयि! (स्त्रीको) पति पतिके प्रयोजनके लिये प्रिय नहीं होता, परंतु आत्माके प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है।'

इस 'आत्मा' शब्दका अर्थ लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है, कुछ कहते हैं कि आत्मासे यहाँ शरीरका लक्ष्य है। कुछ कहते हैं कि जबतक अंदर जीव है तभीतक संसार है, मरनेके बाद कुछ भी नहीं, इसलिये यहाँ इसी जीवका लक्ष्य है। यह पुनर्जन्म न माननेवालोंका मत है। कुछ लोग आत्माके लिये ऐसा अर्थ करते हैं कि जिस वस्तु या जिस सम्बन्धीसे आत्माकी उन्नति हो, आत्मा अपने स्वरूपको पहचान सके, वही प्रिय है। इसीलिये कहा गया है—**'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'**— यह तीव्र मुमुक्षु पुरुषोंका मत है।

कुछ तत्त्वज्ञोंका मत है कि 'आत्माके लिये' इस अर्थमे कहा गया है कि इसमें आत्मतत्त्व है, यह आत्माकी एक मूर्ति है। मित्रकी मूर्तिको कोई उस मूर्तिके लिये नहीं चाहता, परंतु चाहता है मित्रके लिये। संसारकी समस्त वस्तुएँ इसीलिये प्रिय हैं कि उनमें केवल एक आत्मा ही व्यापक है या वे आत्माके ही स्वरूप हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

'स्त्री स्त्रीके लिये प्रिय नहीं होती, परंतु वह आत्माके लिये प्रिय होती है. पुत्र पुत्रोंके लिये प्रिय नहीं होते, परंतु वे आत्माके लिये प्रिय होते हैं, धन धनके लिये प्यारा नहीं होता, परंतु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, ब्राह्मण ब्राह्मणके लिये प्रिय नहीं होता, परंतु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, क्षत्रिय क्षत्रियके लिये प्रिय नहीं होता, परंतु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, लोक लोकोंके लिये प्रिय नहीं होते, परंतु आत्माके लिये प्रिय होते हैं। देवता देवताओंके लिये प्रिय नहीं होते, परंतु आत्माके लिये प्रिय होते हैं, वेद वेदोंके लिये प्रिय नहीं हैं, परंतु आत्माके लिये प्रिय हैं, भूत भूतोंके लिये प्रिय नहीं है, परंतु आत्माके लिये प्रिय होते हैं। अरी मैत्रेयि! सब कुछ उनके लिये ही प्रिय नहीं होते, परंतु सब आत्माके लिये ही प्रिय होते हैं। यह परम प्रेमका स्थान आत्मा ही वास्तवमें दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निरन्तर ध्यान करने योग्य है। मैत्रेयि! इस आत्माके दर्शन, श्रवण, मनन और साक्षात्कारसे ही सब कुछ जाना जा सकता है। यही ज्ञान है।'

इसके पश्चात् महर्षि याज्ञवल्क्यने सबका आत्माके साथ अभिन्न रूप बतलाते हुए इन्द्रियोंका अपने विषयोंमे अधिष्ठान बतलाया और तदनन्तर ब्रह्मकी अखण्ड एकरस सत्ताका वर्णन कर अन्तमें कहा—'जबतक द्वैतभाव होता है, तभीतक दूसरा दूसरेको देखता है, दूसरा दूसरेको सूँघता है, दूसरा दूसरेको सुनता है, दूसरा दूसरेसे बोलता है, दूसरा दूसरेके लिये विचार करता है और दूसरा दूसरेको जानता है, परंतु जब सर्वात्मभाव प्राप्त होता है, जब समस्त वस्तुएं आत्मा ही हैं ऐसी प्रतीति होती है, तब वह किससे किसको देखे? किससे किसको सूँघे? किससे किसके साथ बोले? किससे किसका स्पर्श करे तथा किससे किसको जाने? जिससे वह इन समस्त वस्तुओंको जानता है उसे वह किस तरह जाने?'

'वह आत्मा अग्राह्य है इससे उसका ग्रहण नहीं होता, वह अशीर्य है इससे वह शीर्ण नहीं होता, वह असंग है इससे कभी आसक्त नहीं होता, वह बन्धनरहित है इससे कभी दुःखी नहीं होता और उसका कभी नाश नहीं होता। ऐसे सर्वात्मरूप, सबके जाननेवाले आत्माको कोई किस तरह जाने? श्रुतिने इसीलिये उसे 'नेति-नेति' कहा है, वह आत्मा अनिर्वचनीय है। मैत्रेयि! बस, तेरे लिये यही उपदेश है, यही तो मोक्ष है।'

इतना कहकर याज्ञवल्क्यने संन्यास ले लिया और वैराग्यके प्रताप तथा ज्ञानकी उत्कट पिपासाके कारण स्वामीके उपदेशसे मैत्रेयी परम कल्याणको प्राप्त हुई। याज्ञवल्क्यद्वारा मैत्रेयीको दी हुई शिक्षा वस्तुतः सार्थक हुई। वस्तुतः शिक्षाका भारतीय आदर्श और वास्तविक लक्ष्य भी यही है। (बृहदारण्यक उपनिषद्के आधारपर)

सच्ची जिज्ञासा

ज्ञानार्जनमें बाधक तत्त्व

[ब्रह्मज्ञानी रैक्वका आख्यान]

प्रसिद्ध जनश्रुत राजाके पुत्रका पौत्र जानश्रुति नामक एक राजा था, वह बड़ी श्रद्धाके साथ आदरपूर्वक योग्य पात्रोको बहुत दान दिया करता था । अतिथियोके लिये उसके घरमे प्रतिदिन बहुत-सा भोजन बनवाया जाता था । वह अत्यधिक दक्षिणा देनेवाला था । वह चाहता था कि प्रत्येक शहर और गॉवमे रहनेवाले साधु, ब्राह्मण आदि सब मेरा ही अन्न खायॅ, इसलिये उसने जहॉं-तहॉ सर्वत्र धर्मस्थान, अन्नसत्र या छात्रावास खोल रखे थे जहॉ अतिथियोके ठहरने और भोजन करनेका सुप्रबन्ध था ।

राजाके अन्नदानसे संतुष्ट हुए ऋषि और देवताओने राजाको सचेत करके उसे ब्रह्मानन्दका सुख प्राप्त करानेके लिये हंसोका रूप धारण किया और राजाको दिखायी दे सके ऐसे समय वे उड़ते हुए राजाके महलकी छतके ऊपर जा पहुँचे । वहॉ पिछले हंसने अगले हंससे कहा—'भाई भल्लाक्ष! इस जनश्रुतके पुत्रके पौत्र जानश्रुतिका तेज दिनके समान सब जगह फैल रहा है । इसका स्पर्श न कर लेना, कहीं स्पर्श कर लिया तो यह तेज तुझे भस्म कर डालेगा ।' यह सुनकर अगले हंसने कहा—'भाई! तुम बैलगाड़ीवाले रैक्वको नहीं जानते, इसीसे तुम उस रैक्वसे इसका तेज बहुत ही कम होनेपर भी उसकी प्रशंसा कर रहे हो ।' पिछले हंसने कहा—'वह गाड़ीवाला रैक्व कौन है और कैसा है, सो तो बता ।' अगले हंसने कहा—'भाई! उस रैक्वकी महिमाका क्या वर्णन किया जाय । जैसे जुआ खेलनेके पासेके नीचेके तीनो भाग उसके अन्तर्गत होते हैं अर्थात् जब जुआरीका पासा पडता है तब वह तीनोको जीत लेता है, वैसे ही प्रजा जो कुछ भी शुभ कार्य करती है, वे सारे शुभ कर्म और उनका फल रैक्वके शुभ कर्मके अन्तर्गत है । अर्थात् प्रजाकी समस्त शुभ क्रियाओका फल उसे मिलता है । मैं उसी विद्वान् रैक्वके लिये ही ऐसा कह रहा हूँ ।'

महलपर सोये हुए राजा जानश्रुतिने हंसोकी ये बाते सुनीं और रातभर वह इन्हीं बातोंको स्मरण करता हुआ जागता रहा । प्रात:काल बन्दीजनोकी स्तुति सुनकर राजाने बिछौनेसे उठकर बन्दीजनोसे कहा—'वत्स! तुमलोग गाडीवाले रैक्वके पास जाकर उनसे कहो कि मैं आपसे मिलना चाहता हूँ ।' भाटोने कहा—'हे राजन्! वह गाड़ीवाला रैक्व कौन है? और कैसा है?' राजाने जो कुछ हंसोने कहा था, वह सब उन्हे कह सुनाया । राजाके आज्ञानुसार भाटोने बहुतसे नगरो और गॉवोमे रैक्वकी खोज की, परंतु कही उनका पता न लगा । तब लौटकर उन्होने राजासे कहा कि 'हमें तो रैक्वका कहीं पता नहीं लगा ।' राजाने विचार किया कि 'इन भाटोने रैक्वको नगरो और ग्रामोमें ही खोजा है । भला, ब्रह्मज्ञानी महापुरुष विषयी पुरुषोके बीचमे कैसे रहेंगे' और उनसे कहा— 'अरे! जाओ, ब्रह्मवेत्ता पुरुषोके रहनेके स्थानोमें (अरण्य, नदीतट आदि एकान्त स्थानोंमें) उन्हे खोजो ।'

राजाके आज्ञानुसार भाट फिर गये और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते किसी एक एकान्त निर्जन प्रदेशमे गाडीके नीचे बैठे हुए शरीर खुजलाते हुए एक पुरुषको उन्होने देखा । बन्दीजन उनके पास जाकर विनयके साथ पूछने लगे—'प्रभो! क्या गाड़ीवाले रैक्व आप ही हैं?' मुनिने कहा—'हॉ, मैं ही हूँ ।'

रैक्वका पता लगनेसे भाटोको बडा हर्ष हुआ और वे तुरंत राजाके पास जाकर कहने लगे कि हमने अमुक स्थानमे रैक्वका पता लगा लिया है ।

तदनन्तर राजा छ: सौ गाये, सोनेका कण्ठहार और खच्चरियोसे जुता हुआ एक रथ आदि लेकर रैक्वके पास गया और वहॉ जाकर हाथ जोड़कर उनसे बोला—'भगवन्! ये छ: सौ गाये, एक सोनेका हार और यह खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ, ये सब मैं आपके लिये लाया हूँ । कृपा करके आप इन्हे स्वीकार कीजिये और भगवन्! आप जिस देवताकी उपासना करते हैं, उस देवताका

मुझे उपदेश कीजिये ।'

राजाकी बात सुनकर रैक्वने कहा—'अरे शूद्र![1] ये गौएँ, हार और रथ तू अपने ही पास रख ।' यह सुनकर राजा घर लौट आया और विचारने लगा कि 'मुझे मुनिने शूद्र क्यो कहा? या तो हंसोकी वाणी सुनकर शोकातुर था, इसलिये शूद्र कहा होगा । अथवा थोड़ा धन देखकर उत्तम विद्या लेनेका अनुचित प्रयत्न समझकर भी मुनि मुझे शूद्र कह सकते हैं, परंतु बिना ज्ञानके तो मेरा शोक दूर होगा नहीं, अतएव मुनिको प्रसन्न करनेके लिये मुझे फिर वहाँ जाना चाहिये ।'

यह विचारकर राजा अबकी बार एक हजार गौएँ, एक सोनेका कण्ठहार, खच्चरियोसे जुता हुआ एक रथ और अपनी पुत्रीको लेकर फिर मुनिके पास गया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'भगवन्! यह सब मैं आपके लिये लाया हूँ, उन्हे आप स्वीकार कीजिये और धर्मपत्नीके रूपमे मेरी इस पुत्रीको और जहाँ आप रहते हैं इस गाँवको भी ग्रहण कीजिये । तदनन्तर आप जिस देवकी उपासना करते हैं उसका मुझे उपदेश कीजिये ।'

राजाके वचन सुनकर, कन्याकी करुणाभरी स्थिति देखकर मुनिने उसे आश्वासन दिया और कहा—'शूद्र! तू फिर यही सब वस्तुएँ मेरे लिये लाया है! क्या इन्हींसे ब्रह्मज्ञान खरीदा जा सकता है?' राजा चुप होकर बैठ गया । कुछ समय बाद मुनिने राजाको धनके अभिमानसे रहित हुआ जानकर ब्रह्मविद्याका उपदेश किया । मुनि रैक्व जहाँ रहते थे उस पुण्य प्रदेशका नाम रैक्वपर्ण हो गया ।

वेदान्तकी शिक्षा

(स्वामी श्रीभोलेबाबाजी)

मैं सर्वत्र भरपूर हूँ, न पास हूँ, न दूर हूँ, सर्वदा सम्मुख उपस्थित हूँ । मैं न मन हूँ, न प्राण हूँ, न तन हूँ, नित्यसिद्ध कूटस्थ सनातन हूँ । ममकारका मुझमे नाम नहीं है, अहंकारका भी कुछ काम नहीं है, मेरा शुद्ध स्वरूप आत्माराम ही है । मैं न कहीं आता हूँ, न कहीं जाता हूँ, न कभी कुछ करता-कराता हूँ, अवयवहीन अनङ्ग हूँ, चेतन प्रशान्त असङ्ग हूँ, नाशहीन अभंग हूँ, कायातीत हूँ, मायातीत हूँ, छायातीत हूँ, वृक्षके समान अच्छेद्य हूँ, पर्वतके समान अभेद्य हूँ, न शोष्य हूँ, न क्लेद्य हूँ, श्रोत्रका श्रोत्र हूँ, जातिहीन अगोत्र हूँ, न किसीका पुत्र हूँ, न पौत्र हूँ । सच्चिदानन्द हूँ, परमानन्द हूँ, पूर्णानन्द हूँ । दुःखका मुझमें नही है लेश, एक भी नहीं मुझमें क्लेश, न राग है मुझमें न द्वेष । इस प्रकारका विचार है, यही है वेदान्तकी शिक्षा, इस विचारका करनेवाला संत महान्त है, वही निर्द्वन्द्व है और वही शान्त है ।

यह बात सम्यक् सत्य है कि पारस लोहेको काञ्चन बना देता है, परंतु पारस नहीं बनाता, आप तो अपने अनुचरको अपना-सा ही बना देते हैं । आपकी सेवा करनेवाला पूज्योका पूज्य हो जाता है । आपके संसर्गमें आनेवाला कहीं भी पराजयको प्राप्त नहीं होता, किंतु सबको जीतनेवाले मृत्युको भी जीत लेता है । यद्यपि आनन्दस्वरूप ब्रह्म सबका आत्मा होनेसे प्रत्यक्षसे भी परम प्रत्यक्ष है, फिर भी जो भाग्यहीन आपके चरणोसे विमुख हैं उन्हे अपने आनन्दस्वरूप आत्माका दर्शन नहीं होता और जो भाग्यवान् स्त्री-पुत्रादिके स्नेहको त्यागकर आपके चरणोकी शरण लेता है, उसीको शान्तिमय अपने आत्माका दर्शन होता है और आत्माका दर्शन करनेसे वह कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे कुछ भी करना शेष नही रहता । सच कहा है कि जिसकी देवमे परमभक्ति है और जैसी देवमे भक्ति है, वैसी ही गुरुके चरण-कमलोमे भक्ति है, उसीको परम रहस्यका ज्ञान होता है, दूसरोको नहीं होता । इस आत्माको जानकर ही

---

१ शोकसे विकल होनेके कारण राजाको मुनिने शूद्र कहा ।

याज्ञवल्क्यने सब ब्राह्मणोको परास्त करके जनककी सभामेसे गोधन और सुवर्णका हरण किया था । इसी आनन्दस्वरूप आत्माको जानकर राजा जनकने अपना सारा राज-पाट गुरु याज्ञवल्क्यको अर्पण कर दिया था । इससे सिद्ध होता है कि आत्मधनके सिवा दूसरा धन नहीं है । इस धनको पाकर कंगाल भी मालामाल हो जाता है और अल्पज्ञ भी सर्वज्ञ हो जाता है । इस सच्चे धन—आत्माकी प्राप्ति आप-सरीखे गुरुकी शरण हुए बिना नहीं होती, इसलिये विद्वान् वेदान्तका अर्थ चाहे कुछ करे, विद्वानोको सब कुछ शोभन है । सद्‌गुरुकी शरणमें जाना—यही है वेदान्तकी शिक्षा । मेरा तो यही सिद्धान्त है । इसीसे दु:खान्त होता है ।

ब्रह्मतरङ्ग

यहाँ एक ही अद्वितीय, कूटस्थ, शाश्वत, शान्त आनन्द है । वह न पास है, न दूर है, अपने-आप सम्मुख उपस्थित है, अखण्ड आनन्दका अम्बुनिधि है, अक्षय शान्तिका पहाड़ है, निरुपम सुखका भण्डार है, न इसका वार है, न पार है, अपरम्पार है, सर्वाधार, निराधार है, गिरागोपार है । जो इस रसको चखता है वही याद रखता है । अनेक जन्मोतक जो कोई ईश्वरप्रीतिके लिये स्वधर्मका आचरण करता है, वही ईश्वर, गुरु, शास्त्र और आत्मकृपासे इसे जान पाता है, दूसरेको स्वप्नमे भी इसका दर्शन नहीं होता । जब दर्शन हीं नहीं होता, तब इसका प्राप्त करना और स्वाद लेना तो करोड़ों कोस दूर है । कोई विरला माईका लाल, गुरुका बाल ही इसका दर्शन करता है, प्राप्त करता है और स्वाद लेता है, दूसरे तो शास्त्रके जालमे पडे हुए, शुष्क तर्क करते हुए अपना माथा पचाते रहते हैं । पानीको बिलोनेसे घी नहीं निकल सकता, घी तो दही बिलोनेसे ही हाथ आता है । इसी प्रकार बाहर आनन्दकी खोज करनेवालोको इस अद्‌भुत आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती, जो भाग्यवान् विषयभोगोकी आसक्तिको छोड़कर अपने हृदयमे ही खोज करता है अर्थात् बहिर्मुखताको त्यागकर अन्तर्मुख हो जाता है, वही इस अपूर्व रसका स्वाद लेता है । विचित्र आनन्द है, अपूर्व सुख है, अनोखी शान्ति है । जैसे मछलीके ऊपर-नीचे दाये-बाये जल-ही-जल होता है, फिर भी जबतक वह उलटी नही होती तबतक उसके मुखमे पानीकी बूँद नही जाती, इसी प्रकार ब्रह्मानन्द सर्वत्र सर्वदा भरा हुआ है, फिर भी जबतक मनुष्य बाहरके संसारको देखना छोड़कर अपने भीतर नहीं देखता, तबतक ब्रह्मानन्दकी छायातक भी भाग्यहीन नर नही पा सकता ।

यह ब्रह्मरस अलौकिक है । लोकमे कही ऐसा रस नहीं है । लोकमे जहाँ-कहीं थोड़ा-बहुत सुख दृष्टिमे आता है, वह इस ब्रह्मरसके लेशका भी लेश है, अथवा लेश भी नही है, केवल छाया है । इस छायाका भी कभी-कभी किसी-किसीको अनुभव होता है, सर्वत्र सर्वदा अनुभव नहीं होता । यह छाया ब्रह्मरसकी है, ब्रह्मरस सबका स्वरूप ही है, परंतु देहासक्तिने उसे ढक दिया है । जो भाग्यवान् देहासक्तिका त्याग कर देता है, वह पुण्यशाली सर्वत्र सर्वदा सर्वथा इस ब्रह्मरसका रस लेता है, तब सब रस विरस हो जाते हैं । तत्पश्चात् ब्रह्मरसका रस लेनेवाला उसीमे रति करता है, उसीमे क्रीडा करता है, उसीमे तृप्त रहता है और उसीमे संतुष्ट रहता है, उससे बढकर दूसरा लाभ नहीं मानता, भारी-से-भारी कष्टमे भी प्रह्लाद आदिके समान सुखका ही अनुभव करता है, कष्टसे किंचित् भी चलायमान नही होता । वह वृक्षके समान अचल रहता है, न काँपता है, न कोप करता है, पर्वतके समान अटल रहता है, न हिलता है, न डोलता है । भला, अक्षय आनन्दके सागरमे डूबा हुआ तुच्छ, अनित्य, क्षणिक भोगोके सुखाभासकी क्यो इच्छा करेगा ? कभी नहीं करेगा । जैसे मीठी ईखका प्रेमी हाथी कभी नीम खानेकी इच्छा नहीं करता, इसी प्रकार ब्रह्मानन्दरस चखनेवालोको सब भोग फीके ही लगते है ।

यह चराचर जगत् ईश्वरसे पूर्ण है, फिर भी देहाभिमानी पुरुष उस सर्वव्यापी ईश्वरको नही देख सकता । जो भाग्यवान् देहाभिमानको त्याग देता है, वह ईश्वरको स्पष्ट देखता है । ईश्वरका ज्ञान अथवा दर्शन न होनेमे देहाभिमान ही आड़ है । जहाँ देहाभिमान गया, ईश्वरका दर्शन

हुआ। जहाँ ईश्वरका ज्ञान हुआ, वहीं शोक, मोह, भय गया। कोई कहे कि जगत्के होते हुए ईश्वरका दर्शन कैसे होगा और ईश्वरका दर्शन हुए बिना शोक, मोह, भय कैसे जायगा? तो इसका उत्तर यह है **'जगदेव हरिर्हरिरेव जगत्'**—इस न्यायके अनुसार ईश्वरसे जगत् भिन्न नहीं है, इसलिये जैसे घटके होते हुए भी मृत्तिकाका ज्ञान हो सकता है, उसी प्रकार जगत्के होते हुए भी ईश्वरका ज्ञान हो सकता है। कोई कहे कि जब ईश्वर और जगत् अभिन्न हैं, तब जगत्का नाश होनेसे ईश्वरका भी नाश हो जायगा, तो यह बात नहीं है; क्योंकि व्याप्य अंशका ही नाश होता है, व्यापीका नाश नहीं होता। जैसे व्याप्य अंश घटका नाश होनेपर भी व्यापी अंश पृथिवीका नाश नहीं होता, उसी प्रकार जगत्के व्याप्य अंश नाम-रूपका नाश होनेपर भी व्यापी ईश्वरका नाश नहीं होता। व्याप्य अंश मिथ्या होता है और व्यापी तत्त्व सच्चा होता है। इसलिये मिथ्या जगत्को त्यागकर सच्चे ईश्वरका ज्ञान हो सकता है। कोई कहे कि जगत् तो सत्य ही है, मिथ्या नही है, तो प्रश्नकर्ताको बताना चाहिये कि व्याप्य अंश नाम-रूपसे जगत् सत्य है अथवा व्यापी अंश सच्चिदानन्द-रूपसे सत्य है? व्याप्य अंशसे तो जगत् सत्य हो नहीं सकता; क्योंकि नाम-रूपका नाश सबके अनुभवसे अथवा प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है, व्यापी अंशसे जगत् सत्य है, यही कहना होगा, यह बात तो ठीक ही है, इसलिये सच्चिदानन्द-रूप ईश्वर ही सत्य है, यही है वेदान्तकी शिक्षा, यह सिद्ध हुआ। जो शास्त्र सदसत्का विवेक कराता है, उसीका नाम वेदान्त है।

जो भाग्यवान् अधिकारी अनेक जन्मोमें ईश्वरकी प्राप्तिके लिये कर्म करता है, उसका अन्त:करण शुद्ध हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरण होनेसे वह देह, देहके सम्बन्धी मिथ्या और तुच्छ पदार्थोंकी आसक्तिको त्यागकर और उन पदार्थोंकी प्राप्तिके साधन सब कर्मोंको त्यागकर सद्गुरुकी शरण लेता है। जैसे कहा है कि ब्राह्मण कर्मसे प्राप्त हुए लोगोकी परीक्षा करके वैराग्यको प्राप्त होता है; क्योंकि अकृत (क्रियारहित) परमात्मा कृत (क्रिया)से प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसा विचारकर समित्पाणि अर्थात् हाथमे समिधा लेकर शिष्य ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुके पास सत्य पदार्थको जाननेके लिये जाता है। गुरुके मुखसे महावाक्यका श्रवण करता है, श्रवण किये हुएके अर्थका मनन करता है, मनन किये हुएका निदिध्यासन करता है अर्थात् सजातीय वृत्तिकी आवृत्ति और विजातीय वृत्तिका तिरस्कार नित्य-निरन्तर करता है। निदिध्यासन करनेसे देहका अभिमान और जगत्की सत्यता निवृत्त हो ज़ाती है और परमात्मतत्त्वका अपने प्रत्यक् आत्मरूपसे साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् अधिकारी अपनेको और इस समस्त जगत्को ब्रह्मस्वरूप ही देखता है, ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ नहीं देखता। ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ न देखना, यही है वेदान्तकी शिक्षा।

बहुतसे मोहग्रस्त बुद्धिवाले 'वेदान्त शुष्क है'—ऐसा कहते हुए देखने और सुननेमे आते हैं। मुमुक्षुओंको इनकी बातोंपर ध्यान न देना चाहिये। ऐसे पुरुषोंने न तो गुरुके मुखसे वेदान्तका श्रवण किया है और न श्रवण किये हुएका अपनी युक्तियोंसे मनन ही किया है। जिन्होंने श्रवण-मनन ही नहीं किया वे निदिध्यासन तो करे ही कहाँसे? ऐसोने केवल वेदान्तकी प्रक्रिया सुन ली है और सुनकर वे 'हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं, किंतु असङ्ग आत्मा हैं'—ऐसा कथनमात्र मानने लगे हैं। इनकी वही कहावत है कि जब गायको मारा, तब तो हाथके देवता इन्द्रने मारा और जब आप पिटे, तब रोने-चिल्लाने लगे, तब यह नहीं समझते कि त्वचाके देवता वायु पिटे है, हम नहीं पिटे। ऐसोंकी बात प्रमाणरूप नहीं है। भला, जिस देवके आनन्दकी एक मात्रासे समस्त चराचर प्राणी आनन्दित होकर जीते हैं, जिसे श्रुति **'रसो वै सः'**—ऐसा कहती है, जिसे भगवान् गीतामे **'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'**—ऐसा कहते हैं, जिस शान्तरसके सामने शृंगारादि नवो रस नीरस हो जाते हैं, वह वेदान्तरस शुष्क कैसे हो सकता है? श्रवण-मनन करनेके पश्चात् चिरकालतक नित्य-निरन्तर प्रेमपूर्वक एकान्तमे बैठकर निदिध्यासन किये बिना और फिर उठते-बैठते, चलते-फिरते,

खाते-पीते निरन्तर वेदान्तका चिन्तन किये बिना तत्त्वज्ञान दृढ़ नहीं होता और तत्त्वज्ञानके दृढ़ हुए बिना मन निर्वासन नहीं होता, निर्वासन मन हुए बिना पूर्णानन्दका अनुभव नहीं होता, इसलिये श्रेयोऽभिलाषीको नित्य-निरन्तर 'मैं, यह सब जगत् अखण्डानन्दैकरस ब्रह्म ही है'—ऐसा अनुसधान करना चाहिये, ऐसा करनेमे परिश्रम कुछ नहीं है, सुखसे हो सकता है और दिन-प्रतिदिन अद्‌भुत आनन्दका अनुभव होता है ।

अखण्डानन्द ब्रह्मामृतरसका जो अनुसंधान करता है, उसे ऋषभदेव आदिके समान व्यवहार अच्छा नही लगता । सुन्दर-से-सुन्दर स्त्री भी मांस-हड्डी आदिकी पुतली दिखायी देती है, स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट भोजनको देखकर अथवा सूँघकर उसका मन नहीं चलता, विषय विषके समान प्रतीत होते हैं, देह भी भार मालूम होती है । **'तूष्णीमवस्था परमोपशान्तिः', 'मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्'**—इस न्यायके अनुसार वह सर्वदा कायासे, वाणीसे और मनसे मौन ही धारण करता है । ऐसे भाग्यशालीका योगक्षेम भगवान् अपने वचनानुसार आप वहन करते हैं । जिस सुखका वह अनुभव करता है, उसे वही जान सकता है, दूसरा नहीं जान सकता । सुनते हैं कि भगवान् ऋषभदेवके मुखमे किसी धूर्तने भोजन करानेके बहानेसे पत्थरका टुकडा रख दिया, तो वे उस टुकडेको कई मासतक मुखमे रखे रहे, बाहर नही निकाले । भला, आनन्दके अपूर्व सागरमें डूबे हुएको छोटे-मोटे पत्थरके टुकड़ेकी क्या खबर पड़े । टुकड़ेकी बात अलग रही, ऐसा पुरुष सिहसे, हाथीसे, तलवारसे अथवा अन्य किसीसे भी भय नही खाता; क्योंकि उसे सिवा ब्रह्मके अन्य कुछ भी दिखायी ही नही देता । जहाँ दूसरा होता है वहाँ दूसरा दूसरेको देखे । जहाँ एक ही है, दूसरा है ही नहीं, वहाँ किससे किसको देखे, किससे किसको सुने, किससे किसको जाने ? श्रुतिका यह कथन ठीक ही है । सामान्य मनुष्योकी समझमे यह बात नहीं आ सकती । हौजमे रहनेवाला मेढक समुद्रकी थाह नहीं पा सकता । अथाह सुख-सागर ब्रह्ममे मग्न हो जाना, यही है वेदान्तकी शिक्षा ।

भाद्रपदकी अँधेरी रात है, हाथको हाथ सूझता नही है, घटा घनघोर छायी है, मानो देवराजने दैत्योंपर चढाई की है । ऊँचे-नीचे टीलोका मैदान है, वहाँ काले-काले चार जवान बत्ती लिये हुए घूम रहे हैं, वे कभी टीलोंपर चढ़ते हैं, कभी उतरते हैं, लट्ठ सबके पास हैं, फिर भी उदास हो रहे हैं । अनुमान होता है कि वे किसी वस्तुकी खोजमे हैं, इसीसे सबके सब सोचमे हैं । पासके खेतकी झोपडीके आगे एक हृष्ट-पुष्ट जवान आसन लगाये बैठा हुआ है, क्षेत्रकी रखवाली कर रहा है, परतु मन उसका क्षेत्रज्ञमे लगा हुआ है । (ये अवधूत जडभरत थे ।) काले-काले जवान इसे सर्वाङ्गपूर्ण देखकर प्रसन्न होकर 'मिल गया ! मिल गया !' कहकर तालियाँ बजाते हैं और परस्पर यो बातचीत करते हैं—

एक—भाइयो ! यही वह नरपशु है, जो हमारी आँख बचाकर भाग आया है, अच्छा हुआ, जो मिल गया, नही तो हमारा राजा हम सबको बड़ा भारी दण्ड देता ।

दूसरा—नहीं ! उसमे और इसमे भेद है । वह इतना मोटा नहीं था, यह बहुत मोटा है, पर बलिदान देनेके लिये यह उससे भी अच्छा है, देवी इसका रक्त पीकर बहुत ही प्रसन्न होगी और हमारे राजाका मनोरथ पूर्ण करेगी । चलो, शीघ्र ले चलो, समय आ गया है, पुरोहितसहित राजा आनेवाला है या आ गया होगा, हमारी प्रतीक्षा कर रहा होगा, देर हो रही है, शीघ्रता करो, अभी मन्दिरतक पहुँचनेमे भी देर लगेगी, आधी रात हो गयी है । यह पुरुष भी (धीरेसे) बलवान् है, यदि लड़ने लगा, तो हम सबकी खोपड़ीसे खोपड़ी लड़ा देगा, यदि आसन जमाये बैठा रहा तो हम सबसे उठाया भी नही जायगा ।

तीसरा—अरे ! हम चार हैं, यह अकेला है । बेचारा अकेला क्या कर सकेगा ? बाँध लो । हम डाकुओसे यह जीत नहीं सकता ।

चौथा—भाई ! यदि बिना बाँधे ही चलनेको तैयार हो जाय तो बाँधनेकी क्या आवश्यकता है ? (हृष्ट-पुष्ट पुरुषसे) अरे भाई ! चल हमारे साथ, हम तुझे लड्डू-पेड़े खिलायेगे ।

मोटा पुरुष—मित्रो ! लड्डू-पेड़ोंका तो मैं भूखा नहीं

हूँ। हाँ, यदि मैं तुम्हारे कुछ काम आ सकता हूँ, तो मैं साथ चलनेको तैयार हूँ, यह शरीर सदा तो रहेगा नहीं, एक-न-एक दिन अवश्य ही इसे छोड़ना पड़ेगा। तुम्हारे काम आ जाय, तो अच्छा ही है।

इतना कहकर हमारा वीर खड़ा हो गया है। एकने इसका दायाँ हाथ, दूसरेने बायाँ हाथ पकड़ लिया है, तीसरेने इसकी कमरमें रस्सी बाँधकर पकड़ ली है, चौथा कंधेपर लट्ठ रखे हुए एक हाथमे बत्ती लिये आगे हो लिया है। इस प्रकार जैसे रामदूत पवनकुमारको मेघनाद ब्रह्मपाशमें बाँधकर रावणकी सभामें ले गया था, उसी प्रकार हमारे वीरको ले चले हैं। हमारा वीर भी जैसे हनुमान् निःशङ्क ब्रह्मपाशमें बँधे हुए जा रहे हो, ऐसे ही चला जा रहा है। कौन मुझे लिये जा रहे हैं, कहाँ ले जा रहे हैं, ले जाकर मेरा क्या करेगे आदि कोई भी संकल्प उसके मनमें नहीं उठता। गीताके गुणातीत पुरुषके लक्षण इसीपर घटते हैं।

थोड़ी दूर चलकर भद्रकालीका एक विशाल मन्दिर दिखायी देता है, हमारे वीरसहित चारो मनुष्य मन्दिरमे घुस गये है, वहाँपर बहुतसे मनुष्य एकत्र हैं, इन्हे देखकर सब-के-सब 'भद्रकालीकी जय हो' ऐसा वाक्य बड़े ऊँचे स्वरसे उच्चारण कर रहे हैं और इतने प्रसन्न है, मानो देवराज इन्द्रका राज्य ही उन्हे मिल गया हो। तत्पश्चात् सबने मिलकर देवीके नर-पशुका उबटन किया, जलसे स्नान कराया, तिलक-छापे लगाये, पुष्पोकी माला पहनायी, सुन्दर-सुन्दर नवीन वस्त्र पहनाये, उत्तम-उत्तम षट्रस भोजन कराये। हमारे वीरको कुछ यह खबर नहीं है कि ये मुझे अलंकृत कर रहे हैं अथवा किसी दूसरेको; क्योंकि दूसरी देहोके समान ही उसे अपनी भी देह है। जैसे हम दूसरे मनुष्यको अलंकृत देखकर अपनेको अलंकृत हुआ नहीं समझते वैसे ही वह भी ऐसा समझ रहा है कि दूसरा ही कोई अलंकृत किया जा रहा है, मैं नहीं।

पर कालीको यह सब क्यो पसंद आता। जब भीलोने उन्हे बलि देना चाहा, तब वे प्रकट होकर खड्गसे उन्हे ही काटने लगीं और क्षणभरमें वे नष्ट हो गये। महापुरुषोके प्रति किया हुआ अतिचार यो ही उलटे फल देता है, अतः सदा साध्वाचारका ही आश्रय लेना चाहिये।

कु॰—ब्रह्म सनातन वाच्य है, वाचक है वेदान्त।
पढ़त सुनत वेदान्तके होता है मन शान्त॥
होता है मन शान्त, अन्त दुःखोका होता।
जीव होयके ब्रह्म, नींद सुखकी है मोता॥
भोला, नाहीं विश्व, नहीं माया न मन तन।
तजकर सारे कार्य, नित्य भज ब्रह्म सनातन॥

श्रीशुकदेवमुनिके द्वारा राजा परीक्षित्को दिव्योपदेश

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

(श्रीमद्भा॰ १।१।१)

'जिससे इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं—क्योंकि वह सभी सद्रूप पदार्थोमे अनुगत है और असत् पदार्थोंसे पृथक् है, जड नहीं, चेतन है, परतन्त्र नही, स्वयंप्रकाश है, जो ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ नही प्रत्युत उन्हे अपने संकल्पसे ही जिसने उस वेदज्ञानका दान किया है, जिसके सम्बन्धमे बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, जैसे तेजोमय सूर्यरश्मियोमे जलका, जलमे स्थलका और स्थलमे जलका भ्रम होता है, वैसे ही जिसमे यह त्रिगुणमयी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूपा सृष्टि मिथ्या होनेपर भी अधिष्ठान-सत्तासे सत्यवत् प्रतीत हो रही है, उस अपनी स्वयंप्रकाश ज्योतिसे सर्वदा और सर्वथा माया और मायाकार्यसे पूर्णत. मुक्त रहनेवाले परम सत्यरूप परमात्माका हम ध्यान करते है।'

भगवान् श्रीकृष्णका अवतार द्वापरके अन्तमे हुआ था और उसी समय कौरव तथा पाण्डवोमे महाभारतका

श्रीशुकदेवमुनिद्वारा दिव्य ज्ञानकी शिक्षा

भीषण युद्ध भी । इस महायुद्धमे पाण्डवोकी विजय हुई, क्योंकि योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण उन्हींके पक्षमे थे । पाँच पाण्डव, सात्यकि, युयुत्सु, कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामाको छोड़कर दोनो पक्षोके प्राय: सभी वीर उस युद्धमे मारे गये । अर्जुनका पुत्र अभिमन्यु भी वीरगतिको प्राप्त हुआ; किंतु उसकी पत्नी उत्तरा गर्भवती थी । इसीसे एक बड़ा प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम परीक्षित् था ।

युद्ध समाप्त होनेपर महाराज युधिष्ठिरने तीन अश्वमेध यज्ञ किये, किंतु उसपर भी उनके हृदयका शोक नही मिटा । इसी बीच विदुरजी और राजा धृतराष्ट्र घर छोड़कर जंगलको चले गये तथा उन्होने वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण कर लिया । उधर द्वारिकासे समाचार आया कि गृहकलहके कारण यादववंशका संहार हो गया और भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने लोकको पधार गये । इन सब सूचनाओसे महाराज युधिष्ठिरको ज्ञात हो गया कि अब कलियुगका आगमन हो गया है, अतः उन्होने भी परम वैराग्ययुक्त होकर परीक्षित्को राज्य सौंप दिया तथा वे चारो भाइयो और द्रौपदीको साथ लेकर महायात्राके लिये विदा हो गये ।

महाराज परीक्षित् बड़े धर्मात्मा, शक्तिशाली और दिग्विजयी राजा थे । एक समय वे कुरुक्षेत्रकी यात्रा कर रहे थे, वहाँ उन्होने एक अद्भुत दृश्य देखा । वह यह था कि एक बूढ़े बैलके तीन पैर टूटे हुए थे और उसके साथ एक गाय थी जो अत्यन्त कृश और दीन हो रही थी । उन दोनोके पीछे एक काले रंगका भयावना पुरुष राजचिह्न धारण किये खड़ा था । वास्तवमे यह बूढ़ा बैल धर्म था, गाय पृथ्वी थी तथा पुरुष कलि था, जिसके भयसे वे दोनों (गाय-बैल) आपसमे यह कह रहे थे कि 'हाय, हाय ! अब कलियुग आ गया, भविष्यमे पृथ्वी शूद्रप्राय राजाओके अधिकारमे चली जायगी, देवताओका हविर्भाग नष्ट हो जायगा, इन्द्र वर्षा नहीं करेंगे, जिससे प्रजा भूखो मरेगी । ब्राह्मण कुकर्मी होगे या लोभवश सेवावृत्ति करेगे, अन्य सब प्राणी शास्त्रके विधि-निषेधको न मानकर मनमाना आचरण करेगे तथा धर्मके चार चरण—तप, शौच, दया और सत्यमेंसे पहले तीन चरण नष्ट हो जायँगे । केवल सत्य कुछ समयतक बचा रहेगा, किंतु अन्तमे वह भी नष्ट हो जायगा ।'

इस संवादको सुनकर राजा परीक्षित्ने उस राजदण्डधारी कलिकी ओर देखा और वे धनुषपर बाण चढ़ाकर उसे मारनेके लिये उद्यत हो गये । तबतक कलिने राजचिह्नोको त्याग दिया और वह दण्डके समान राजा परीक्षित्के चरणोमे जा गिरा । राजा परीक्षित् दीनवत्सल थे ही, उन्होने उसका वध नहीं किया । कलिने यह प्रार्थना की कि 'महाराज! आप मेरे रहनेयोग्य कोई स्थान बतला दीजिये, जहाँ मै आपकी आज्ञासे निश्चिन्त होकर रहूँ । मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ, वहाँ-वहाँ आप मेरे वधके लिये हाथमे धनुष-बाण धारण किये हुए दिखायी देते हैं ।'

ऐसी प्रार्थना करनेपर राजा परीक्षित्ने कहा—'द्यूत, मद्यपान, स्त्रीसंग और हिंसामे असत्य, मद, काम तथा क्रूरताका वास है । तुम इन्ही चार स्थानोमे निवास करो ।' इसपर कलियुगने फिर प्रार्थना की कि 'महाराज ! मुझे ऐसा स्थान भी बतलाइये, जहाँ उपर्युक्त चारो अधर्मोकी एक साथ स्थिति हो ।' तब राजा परीक्षित्ने ऐसा स्थान सुवर्ण बतलाया और कहा कि उसमे असत्य, मद, काम, क्रूरता, वैरभाव आदि सभी पाप बसते है ।

अस्तु, इस प्रकार कलियुगका निवास सुवर्ण (धन) आदि पाँच स्थानोमे रहता है । अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषोको चाहिये कि वे इन विषयोसे सर्वथा अनासक्त रहे । विशेषकर धर्मशील राजा और लोकरक्षक गुरुओको तो उनसे और भी बचना चाहिये; क्योंकि सर्वसाधारण जनता उन्हींका अनुकरण करती है ।

एक बार राजा परीक्षित् शिकार खेलनेके लिये किसी जंगलमे अकेले जा पहुँचे । वे चलते-चलते थक गये और प्याससे व्याकुल हो उठे । उन्होने एक ऋषिको कुछ दूरपर बैठे हुए देखा और उनके पास जाकर जलकी प्रार्थना की । मुनि ध्यानमग्न थे, अत. उन्होने कुछ भी नही सुना । राजा परीक्षित्को यह देखकर क्रोध आ गया । उन्होने सोचा, 'इस मुनिने मुझे बैठनेके लिये तृणका भी आसन नहीं दिया और न कुछ प्रिय भाषण ही किया ।'

एक तो राजा गर्मी, भूख, प्यास आदिसे व्याकुल थे, दूसरे उनके स्वर्ण-मुकुटमे कलिका निवास था, इससे उनकी बुद्धि विवेकशून्य हो गयी । वे वहाँसे चल दिये । इसी समय उनकी दृष्टि एक मरे हुए सर्पपर पड़ी । कलिप्रभावित और क्रोधके वशीभूत राजाने उस सर्पको अपने धनुषके अग्रभागसे उठा लिया और लौटकर उसे ध्यानमग्न ऋषिके गलेमे डाल दिया । उस समय राजाने यह कुछ भी नही सोचा कि ऋषि सचमुच ध्यानमे बैठे है या उन्होने लोगोको ठगनेके लिये झूठी समाधि लगा रखी है ।

ऋषिके गलेमे सर्प डालकर राजा चले गये, किंतु जब राजाके इस अपराधका पता ऋषिके प्रतापी पुत्र शृगीको मालूम हुआ, तब उसके क्रोधकी सीमा न रही । उसने झट जलका आचमन करके राजाको यह शाप दे दिया कि 'मेरे पिताके गलेमे मरा हुआ सर्प डालनेवाले और इस प्रकार लोकमर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले उस कुलाङ्गार परीक्षित्को आजके सातवे दिन तक्षक सर्प डस लेगा ।'

इतनेमे शमीक ऋषिकी समाधि टूटी और उनको इस सारी घटनाका पता चल गया । फिर तो वे बड़े खिन्न हुए और उन्होने अपने पुत्रसे डॉटकर कहा—'अरे मूर्ख ! तुमने यह बड़ा पाप किया जो बहुत थोड़े-से अपराधके कारण उस परमधार्मिक, महाकीर्तिमान्, भगवद्भक्त, अश्वमेधयागी सम्राट्को ऐसा भयानक शाप दे दिया ।' किंतु इसके सिवा अब ऋषि कर हीं क्या सकते थे । उन्होने अपने शिष्यके द्वारा शापका सारा वृत्तान्त राजाके पास भेजवा दिया ।

राजाको शापका पता लगनेपर वे अपने कुकृत्यपर अत्यन्त पश्चात्ताप और शोक करने लगे । उनका मन संसारसे विरक्त हो गया, परलोकके सम्पूर्ण भोगोसे भी उनका मन हट गया । उन्होने राज्यका भार अपने पुत्र जनमेजयको सौंप दिया और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके चरणोमे मन लगाकर, मृत्युकालपर्यन्त अनाहार-व्रतका संकल्प करके भगवती भागीरथीके पुनीत तटपर चले गये । यह हाल सुनकर वहाँ अनेक ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि और ऋषि-मुनि पहुँच गये तथा सबने राजाके साथ सहानुभूति दिखलायी । राजा परीक्षित्ने उन सबसे प्रार्थना की कि 'आपलोग मुझे तक्षकसे बचानेका कोई उपाय न सोचकर भगवान् श्रीकृष्णकी कथाओंको ही विस्तारके साथ सुनानेकी कृपा करें ।' राजा नदीके दक्षिण तटपर उत्तरकी ओर मुँह करके बैठ गये और उन्होंने महर्षियोंसे पूछा—'भगवन् ! ऐसा कौन-सा कर्म है, जिसे सब लोग सब अवस्थाओंमें—विशेषकर मृत्युके समय कर सकते हैं तथा जिसके करनेसे कुछ भी पाप नहीं लगता ?' इस प्रश्नको सुनकर वहाँ जितने ऋषि-मुनि थे सभी आपसमे वाद-विवाद करने लगे । कोई तपको श्रेष्ठ बतलाता था, कोई-कोई योग और यज्ञको ही सर्वश्रेष्ठ कर्म कहकर पुकार उठते थे ।

इतनेमे वहाँपर एक अवधूत आ पहुँचे । उनकी अवस्था सोलह वर्षकी थी, शरीर दिगम्बर था तथा मुखाकृति प्रसन्न और तेजयुक्त थी । वे और कोई नहीं, श्रीशुकदेवजी थे । राजाके द्वारा पूजा किये जानेके उपरान्त उन्होने कहा—'राजन् ! मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सर्वात्मा भगवान् श्रीहरिका कीर्तन करना चाहिये, सुनना चाहिये तथा स्मरण करना चाहिये । भगवान् श्रीहरिका कीर्तन यदि अन्तकालतकमें भी हो तो वह पुरुष मरकर श्रीहरिके रूपमें जा मिलता है । राजा खट्वाङ्गकी कथा तुम्हे मालूम होगी, वह दो घड़ीमे ही सम्पूर्ण विषयोंका त्याग करके मुक्त हो गया, तुम्हारे लिये तो अभी सात दिन शेष हैं । पहली बात यह कि तुम मृत्युका भय छोड़ दो, उसके बाद इस शरीर और शरीरके सभी सम्बन्धी जैसे स्त्री, पुत्र आदिकी ममतारूपी रस्सीको वैराग्यरूपी शस्त्रसे छिन्न-भिन्न कर दो और एकान्तमे बैठकर मनको भगवत्स्वरूपमे लगा दो । श्रीभगवान् सबके अन्त.करणमे अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं; क्योंकि श्रुति यही कहती है और अनुमानसे भी इसीकी पुष्टि होती है । जैसे कुल्हाड़ी आदि हथियार वृक्षको काटनेके साधन हैं, किंतु वे सभी हथियार किसी काटनेवाले चेतनके बिना अपना कार्य नहीं कर सकते, वैसे ही मन, बुद्धि आदि भी जड पदार्थ हैं और किसी चेतनके आश्रयसे
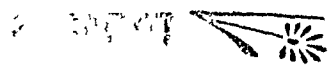
अश्विनीकुमारोंको आत्मज्ञानकी शिक्षा

ही काम करते हैं। वह चेतन ज्ञानस्वरूप ईश्वर ही है, जो प्रत्येक शरीरमे निवास करता है। इस प्रकारके अनुमानसे जब पुरुषको ईश्वरके अस्तित्वमे विश्वास हो जाता है, तब उसके हृदयमे भगवत्प्रेम उत्पन्न होना भी अशक्य नहीं होता, किंतु भगवान्‌मे प्रीति प्राप्त करनेके साधनोमे श्रीहरिकथाके श्रवणसे बढ़कर और कोई साधन नहीं है। श्रीहरिकथाके श्रवणसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और ज्ञानाग्निसे काम, क्रोध आदि दुर्वृत्तियोका नाश हो जाता है। तदनन्तर विषयोसे वैराग्य होकर चित्त प्रसन्न हो जाता है तथा मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला भक्तियोग प्राप्त हो जाता है।'

इस सुमधुर सम्भाषणको सुनकर राजा परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेवजीसे श्रीहरिकथामृतका पान करानेके लिये प्रार्थना की। श्रीशुकदेवजीने एक सप्ताहमे उनको श्रीमद्भागवतकी कथा सुना दी और उससे राजाको बड़ी सान्त्वना मिली। परमहंससंहिता श्रीमद्भागवतमे ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी जो त्रिभुवनपावनी त्रिवेणीका स्रोत बहा है वह सर्वथा अनिर्वचनीय है।

इस कथानकसे हमे यह शिक्षा मिलती है कि जीवनमे हरि-कथा सर्वोपरि है। अत· जीवन-निर्वाहके लिये कर्तव्योका पालन करते हुए भी भगवान्‌की कथाका श्रवण अवश्य करना चाहिये जिससे मनमे शान्ति आती है।
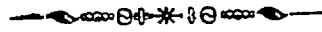
क्रोध-शमन और सत्यका पालन

[अश्विनीकुमारोको महर्षि दधीचिद्वारा वेदान्तका उपदेश]

अश्विनीकुमार देवताओके प्रसिद्ध चिकित्सक हैं। महर्षि दधीचि या दध्यङ् आथर्वण ऋषि महान् ब्रह्मज्ञानी एव परोपकारी थे। श्रीमद्‌भागवतके—**मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम्** (६। ९। ५१से ६। १०। १४) तकमे इनकी महत्ता एवं उदारतापर विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। उपनिषद्, शिवपुराण, महाभारत, स्कन्दपुराणमे इनका विस्तृत चरित्र एवं वंशपरम्परा अवलोकनीय है। इन्होने स्ववैद्यो— अश्विनीकुमारोको वेदान्तका उपदेश किया था। दध्यङ् ऋषि महान् पुरुष थे, उन्होने अश्विनीकुमारोको साधन-सम्पन्न हो सफलता प्राप्त करनेकी आज्ञा दी और यह कहा कि तुमलोग यदि हृदयके अभिमान तथा काम-क्रोधादि दोषोसे रहित और वैराग्ययुक्त होकर मुझसे पूछोगे तो मैं तुम्हे अधिकारी पाकर दुर्लभ ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा।

कालक्रमसे अश्विनीकुमारोने एक कुण्डमे स्नान कराकर तथा औषधके सहारे सुकन्याद्वारा नष्ट किये गये च्यवन ऋषिके नेत्र अच्छे कर दिये और उन्हे स्वस्थ एवं युवा भी बना दिया। महर्षि च्यवनने भी शर्यातिके यज्ञमें अश्विनीकुमारोको सोमपानके साथ यज्ञभाग दिलवा दिया।

कुछ दिन बाद इन दधीचि ऋषिके आश्रममे देवराज इन्द्र आये। अतिथिवत्सल ऋषिने इन्द्रसे कहा कि 'आप मेरे अतिथि हैं, अतः जो कुछ कहिये वह मै करूँ।' इन्द्रने कहा—'मुझे ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये।' दध्यङ् ऋषि दुविधामे पड़ गये। वचन देकर नही करते है तो वाणी असत्य होती है और उपदेशके योग्य अधिकारी इन्द्र है नही। अन्तमे उन्होने वचनको सत्य करनेके लिये उपदेश देनेका निश्चय किया और भलीभाँति ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। उपदेश करते समय ऋषिने प्रसगवश भोगोकी निन्दा की और भोगीको एक कुत्ता-सा सिद्ध किया। इन्द्रको स्वर्गादि भोगोकी निन्दा सुनकर क्रोध आ गया और उन्होने दध्यङ् ऋषिपर कई तरहसे संदेह करके निन्दा, शाप और हत्याके डरसे उन्हे मारनेकी इच्छा तो छोड़ दी, परंतु उनसे यह कहा कि 'यदि आप इस ब्रह्मविद्याका उपदेश किसी दूसरेको करेगे तो मैं उसी क्षण वज्रसे आपका सिर उतार लूँगा।'

क्षमाशील ऋषिने शान्त-हृदयसे इन्द्रकी बात सुनकर किसी क्षोभ या क्रोधके बिना ही यों कहा—'अच्छी बात है, हम किसीको उपदेश करे तब सिर उतार लेना।'

इस बर्तावका इन्द्रपर प्रभाव पड़ा और वे शान्त होकर स्वर्ग लौट गये ।

कुछ दिनो बाद अश्विनीकुमारोने वैराग्यादि साधनोंसे सम्पन्न होकर ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये गुरुके चरणोंमे उपस्थित होकर अपनी इच्छा जनायी और ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेके लिये प्रार्थना की । इसपर सत्यपरायण दध्यङ्ने सोचा कि 'इन्हे उपदेश न देनेसे मेरा वचन असत्य होगा और उपदेश करनेपर इन्द्र मेरा सिर उतार लेगा । वचन असत्य होनेकी अपेक्षा मर जाना उत्तम है । प्रतिज्ञा-भङ्ग और असत्यका जो महान् दोष होता है उसके सामने मृत्यु क्या वस्तु है । शरीरका नाश तो एक दिन होगा ही'—यह विचारकर उन्होने उपदेश देनेका निश्चय कर लिया और अश्विनीकुमारोको इन्द्रके साथ जो बातचीत हुई थी वह कहकर सुना दी । अश्विनीकुमारोने पहले तो कहा कि 'भगवन्! आप हमलोगोंको अव कैसे उपदेश देंगे । क्या आपको इन्द्रके वज्रसे मरनेका डर नहीं है ?' परंतु जब दध्यङ् ऋषिने कर्मवश शरीरधारीके मृत्युकी निश्चयता, परमार्थरूपसे नि.सारता और सत्यकी श्रेष्ठता सिद्ध कर दी तब अश्विनीकुमारोंने कहा—'भगवन्! आप किञ्चित् भी भय न करें । हम एक कौशल करते हैं, जिससे न आपकी मृत्यु होगी और न हमें ब्रह्मविद्यासे वञ्चित होना पड़ेगा । हम पृथक्-पृथक् हुए अङ्गोंको जोड़कर जीवित करनेकी विद्या जानते हैं । पहले हम इस घोड़ेका सिर उतारते हैं, फिर आपका सिर उतारकर इस घोड़ेके धड़पर रख देते हैं और घोड़ेका सिर आपके धड़से जोड़ देते हैं । आप घोड़ेके सिरसे हमें ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये । फिर जव इन्द्र आकर आपका घोड़ेवाला सिर काट देंगे तव हम पुनः उसका सिर उतारकर आपके धड़से जोड़ देंगे और इन्द्रके द्वारा काटा हुआ घोड़ेका सिर घोड़ेके धड़से जोड़ देंगे । न घोड़ा ही मरेगा और न आपको ही कुछ होगा ।' दध्यङ् ऋषिने इस प्रस्तावको स्वीकार करके उन्हें भलीभाँति ब्रह्मविद्याका उपदेश किया । जव इन्द्रको इस वातका पता लगा तव उन्होंने आकर वज्रसे दध्यङ् ऋषिके धड़से जोड़ा हुआ घोड़ेका सिर काट डाला । पश्चात् अश्विनीकुमारोंने संजीवनी-विद्याके प्रभावसे घोड़ेके धड़से जुड़ा हुआ ऋषिका सिर उतारकर उनके धड़से जोड़ दिया और घोड़ेके धड़पर घोड़ेका सिर रखकर उसे जोड दिया । यों दोनों जीवित हो गये ।
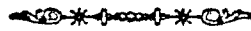
शिक्षाकी चरम उपलब्धि—सर्वत्र भगवद्दर्शन

[एक साधकका सच्चा अनुभव]

(श्रीअनुरागजी 'कपिध्वज')

स्वरूप-विस्मृतिके साथ ही द्वैतका आविर्भाव होता है तथा द्रष्टा, दर्शन और दृश्यकी त्रिपुटीके कारण भ्रमकी उत्पत्ति होती है । अद्वितीय आत्मतत्त्वमें विभिन्नता मान लेना ही भ्रम है, अज्ञान है । इस अज्ञानका अपनयन ही शिक्षाका मुख्य प्रयोजन है ।

प्राचीन भारतमे श्रेष्ठ मेधावी विद्यार्थी ब्रह्मचर्याश्रममे ही संसारकी नश्वरतासे परिचित हो जाते थे । मानव-जीवनका परम लक्ष्य सम्यग्दर्शन, वास्तविक दर्शन, आत्मदर्शन या भगवत्प्राप्ति है, इसे ही ध्यानमे रखते हुए तत्कालीन शिक्षाका अभ्यास किया जाता था । सत्सङ्ग भगवान्का प्रसाद है, इसके द्वारा मानवको संसारकी नश्वरताका बोध होता है और वह सोचता है कि मैं कौन हूँ? मुझे कहाँ जाना है? सत्सङ्गके ही प्रभावसे अपने हृदयका अज्ञान नष्ट करनेके लिये वह सद्ग्रन्थोंका सहारा लेता है तथा सद्ग्रन्थोके स्वाध्याय और गुरुकी शिक्षासे जपका सहारा लेकर साधनामे संलग्न होता है । अनवरत जप, श्रद्धा एवं गुरुकृपासे वाचिक, उपांशु जपकी श्रेणी पारकर जब वह मानसिक जप करनेका अभ्यासी होता है, तब

उसके द्वारा अपनाये गये मन्त्रके बलपर इष्टकी कृपा प्राप्त हो जाती है । यदि साधक इष्टकी कृपाका उपयोग अर्थ, धर्म और कामना-पूर्तिके लिये करता है तो वह अपने पथसे विचलित हो जाता है और अमृतत्वकी प्राप्तिमे बाधा उत्पन्न हो जाती है । इसके विपरीत जब साधक भौतिक सुख और समृद्धिकी चाहको त्यागकर मानसिक जपमे संलग्न रहता है, तब जपके दृढ़ अभ्याससे और गुरुकी सत्-शिक्षा तथा इष्टकृपासे वह यह समझनेमे समर्थ होता है कि यह संसार प्रभुकी एकसे अनेक होनेकी इच्छाका रूप है । ऐसी अवस्थामे प्रकृति और पुरुषको शक्ति और शक्तिमान् समझकर वह अपनी भावना और इष्टकी उपासनाके अनुरूप जगत्को प्रकृति और पुरुषका विलास मानकर गद्‌गद हो जाता है । गोस्वामीजीने इसी अवस्थाको प्राप्त कर मानसके आदिमे तत्त्वरूपसे कहा है—

सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

इस अवस्थामे साधक संसारको प्रकृति-पुरुषके रूपमे देखनेका प्रयास करता है और इस प्रयासकी दृढ़ अवस्था उसके हृदयमे निष्कामभावको उत्पन्न कर उसे जन-सेवा करनेको बाध्य करती है । उसकी विषय-वासना क्षीण हो जाती है और साधक निष्काम-कर्म करनेका अभ्यासी होने लगता है । मानसिक जपकी अधिकता, गुरुशिक्षा और इष्टकी कृपासे उसे ज्ञात होता है कि प्रकृति और पुरुष दो रूपमे पृथक् नहीं है । जिस तरह स्वर्णके विभिन्न आभूषण स्वर्णरूप ही हैं, उसी तरह मेरे इष्ट ही प्रकृति-रूपमे अनेकताको प्राप्त हो रहे है । वास्तवमे वे एक ही है । एकका ही अनेक रूप देखकर हमे भ्रमित नही होना चाहिये तथा भ्रमके निवारण-हेतु उनकी ही शरणमे जाकर आत्मसमर्पण करना चाहिये ।

बस, यही भावना 'भक्ति' है । साधक अनेकतामे एकताके दर्शनकर कृतार्थ हो जाता है । उसके हृदयसे द्वेष, कपट आदि असत्य-भाव नष्ट हो जाते है । तभी तो गोस्वामीजीने लिखा है—

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ।

इस अवस्थाको प्राप्त साधककी यह भावना कि संसार प्रभुके संकल्पसे **'एकोऽहं बहु स्याम्'**की इच्छासे उत्पन्न हुआ है—नष्ट हो जाती है । वह विचारता है कि संसार है ही नही । शरीर और संसारकी मिथ्या-प्रतीति केवल विषय-चिन्तन, पञ्चभूत और उसकी तन्मात्राके अस्तित्वको स्वीकार करनेसे हो रही है । वास्तवमे मैं स्वयं स्वरूपसे विचलित हो गया हूँ । मेरे अज्ञान और मेरी भावनाके कारण मेरे मनपर जो कर्मकृत सस्कारोकी छाया है, वही अस्तित्वहीन आकृतियोकी सत्यताका बोध कराकर मुझे भ्रमित कर रही है ।

साधक पञ्चभूतोकी सत्ता स्वीकार न कर ब्रह्ममयी दृष्टि हो जानेके कारण सत्य-सकल्प हो जाता है । भगवान्‌से भिन्न जगत्‌की सत्ता न मानना ही जगत्-भावनाका नाश कहलाता है । अतः पञ्चभूतोकी सत्ता नकारना या उन्हे प्रभुके रूपमे देखना निर्विकल्पता है । इसके पूर्व वह प्रकृतिके नाम-रूपोमे प्रभुको खोजता था । पर यह समझ जानेपर कि केलेके छिलकेकी तरह प्रकृतिके रूपोमे अलगसे प्रभुको खोजना नासमझी है तो वह समस्त नाम-रूपोको पूर्णरूपसे भगवान् मान लेता है ।

नाम-जपका अभ्यास, वैराग्य, प्रभु-कृपा और सतोकी शिक्षासे कुछ समय पश्चात् उसे ज्ञात होता है कि सर्वत्र एक ही आत्मा है । मै ही सर्वाधिष्ठान ब्रह्म हूँ । इस विचारधाराके परिपाक हो जानेपर चराचर-जगत्‌को ब्रह्मरूप जानकर साधकका हृदय ब्रह्ममय हो जाता है और उसके समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं । व्यावहारिक कालमे भी उसकी समदृष्टि हो जाती है । सर्वत्र, सर्वदा, सब नाम-रूपोमे एवं प्रकृतिके प्रत्येक कार्यकलापमे उसे भगवान्‌के दर्शन होने लगते है और जगत्‌का अस्तित्व नष्ट हो जाता है । वह समझता है कि यद्यपि ब्रह्ममय प्रकाशसे ब्रह्म-प्रकाश प्रकाशित है, तथापि यह स्थिति वाचिकमात्र होना सामान्य है । अधिकार, साधना, गुरूपसदन, ज्ञानदार्ढ्य, सच्चा भगवत्साक्षात्कार, सम्पूर्ण वेदान्तोका सानुष्ठान स्वाध्याय, निदिध्यासन परिपक्व या सच्चे रूपमे जबतक उपलब्ध नहीं होता तबतक सच्ची शान्ति, तृप्ति, जीवन्मुक्ति भी उपलब्ध नहीं होती, अत तदर्थ यत्न परमावश्यक है ।

सच्ची जिज्ञासा

उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुपका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवका पुत्र इन्द्रद्युम्र, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्विका पुत्र बुडिल—ये पॉचो महाशाल (अर्थात् जिनकी शालामे असख्य विद्यार्थी पढ़ते थे, ऐसी महान् शालाओवाले) एवं महान् श्रोत्रिय अर्थात् वेदका पठन-पाठन करनेवाले थे । एक दिन ये एकत्र होकर 'वास्तवमे आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है ?' इस विषयपर विचार करने लगे, परंतु जब किसी निर्णयपर नही पहुँचे, तब किसी दूसरे ब्रह्मवेत्ता विद्वान्के पास चलकर उनसे पूछनेका निश्चय कर आपसमे कहने लगे कि 'वर्तमान समयमे अरुणके पुत्र उद्दालक आत्मरूप वैश्वानरको भलीभाँति जानते है, यदि सबकी सम्मति हो तो हमे उनके पास चलना चाहिये ।' सबकी एक सम्मति हो गयी और वे उद्दालकके पास गये ।

उद्दालकने उन्हे दूरसे देखते ही उनके आनेका प्रयोजन जान लिया और वे विचार करने लगे—'ये महाशाल और महान् श्रोत्रिय आते ही मुझसे पूछेंगे और मै इनके प्रश्नोका पूर्ण समाधान कर नहीं सकूँगा । इससे उत्तम यही है कि मैं इन्हे किसी दूसरे योग्य पुरुषका नाम बतला दूँ ।' ऐसा विचारकर उद्दालकने उनसे कहा—'भगवन् ! मैं जानता हूँ कि आप मुझसे आत्माके विषयमे कुछ पूछनेके लिये पधारे हैं, परंतु इस समय केकयके पुत्र प्रसिद्ध राजा अश्वपति इस आत्मरूप वैश्वानरको भलीभाँति जानते हैं, यदि आप सबकी अनुमति हो तो हम सब उनके पास चले ।' फिर तो सर्वसम्मतिसे सब लोग राजा अश्वपतिके पास गये ।

अश्वपतिने उन छहो ऋषियों—अतिथियोंका अपने सेवकोद्वारा यथायोग्य अलग-अलग भलीभाँति पूजन-सत्कार करवाया और दूसरे दिन प्रात.काल वे सोकर उठते ही उनके पास गये और बहुत-सा धन सामने रखकर विनय-भावसे उसे ग्रहण करनेकी प्रार्थना करने लगे, परंतु वे तो धनकी इच्छासे वहाँ नहीं गये थे, इससे उन्होंने धनका स्पर्श भी नहीं किया और चुपचाप बैठे रहे । राजाने सोचा कि सम्भवतः ये मुझे अधर्मी या दुराचारी समझते हैं; इसीलिये मेरा धन (दूषित समझकर) नहीं ले रहे हैं । यह विचारकर राजा कहने लगे—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

'मुनियो ! मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है (क्योंकि किसीके पास किसी वस्तुका अभाव नहीं है), मेरे देशमें ऐसा कोई धनी नहीं है, जो कंजूस हो अर्थात् यथायोग्य दान न करता हो । न मेरे देशमें कोई शराब पीता है, न कोई ऐसा द्विज है जो अग्निहोत्र न करता हो, न कोई ऐसा ही व्यक्ति है जो विद्वान् न हो और न कोई व्यभिचारी पुरुष ही मेरे देशमें है, जब पुरुष ही व्यभिचारी नहीं है तो स्त्री व्यभिचारिणी कहाँसे होगी ? अतएव मेरा धन शुद्ध है, फिर आप इसे क्यों नहीं लेते ?' मुनियोंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया । तब राजाने सोचा कि सम्भवतः धन थोड़ा समझकर मुनि न लेते हों, अतएव वे फिर कहने लगे—

'भगवन् ! मैं एक यज्ञका आरम्भ कर रहा हूँ, उस यज्ञमे एक-एक ऋत्विक्को जितना धन दूँगा, उतना ही आपमेसे प्रत्येकको दूँगा । आप मेरे यहाँ ठहरिये और मेरा यज्ञ देखिये ।'

राजाकी यह बात सुनकर उन्होंने कहा—'राजन् ! मनुष्य जिस प्रयोजनसे जिसके पास जाता है, उसका वही प्रयोजन पूरा करना चाहिये । हमलोग आपके पास आत्मरूप वैश्वानरका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे आये हैं; क्योंकि इस समय आप ही उसे भलीभाँति जानते है, इसलिये आप हमें वही समझाइये । हमे धन नहीं चाहिये ।'

राजाने उनसे कहा—'मुनियो ! कल प्रात.काल मैं इसका उत्तर आपको दूँगा ।'

'ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अभिमानका त्याग करना परम आवश्यक है । केवल मुँहसे माँगनेपर ज्ञान नही मिलता ।

वह अधिकारीको ही मिलता है ।' राजाके उत्तरसे सच्ची जिज्ञासावाले मुनि इस बातको समझ गये और दूसरे दिन अभिमानको त्यागकर सेवावृत्तिका परिचय देनेवाले समिधाको हाथोमे लेकर मध्याह्नसे पहले ही विनयके साथ शिष्यभावसे सब राजाके पास पहुँचे और जाते ही उनके चरणोमे प्रणाम करने लगे । राजाने उन्हें अपने चरणोमें प्रणाम नहीं करने दिया; क्योकि प्रथम तो वे ब्राह्मण थे और दूसरे सद्गुरु मान-बड़ाई-पूजाकी इच्छा नहीं रखते । तदनन्तर राजाने उन्हे गुरुरूपसे नहीं, किंतु दाताके रूपसे वैश्वानररूप ब्रह्मविद्याका उपदेश किया ।

प्रवर्तनीया सद्विद्या

(श्रीमाधवप्रियदासजी शास्त्री)

आजका युग शिक्षाका युग है । शिक्षा शब्द संस्कृत भाषाके **'शिक्ष विद्योपादाने'** धातुसे निष्पन्न हुआ है । जिसका अर्थ है—मानवकी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एव आत्मिक शक्तियोका सर्वाङ्गीण विकास करना, जिससे मानव अपने जीवनके सर्वोच्च लक्ष्यको सिद्ध कर सके ।

मानव-जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य है शाश्वत सुखकी प्राप्ति । मानवकी सभी प्रवृत्तियॉ इसीलिये होती रहती हैं । शाश्वत सुखकी ओर अग्रसर करानेवाली शिक्षा-प्रणाली कैसी होनी चाहिये ? इसके उत्तरमे भगवान् स्वामिनारायणने शिक्षापत्रीमे लिखा है—

प्रवर्तनीया सद्विद्या भुवि यत् सुकृतं महत् ।

(शि॰ श्लो॰ १३२)

'पृथ्वीपर सद्विद्याका प्रवर्तन करना चाहिये, इससे महान् पुण्य होता है ।' यहाँ केवल विद्याके प्रवर्तनकी बात नही है, किंतु सद्विद्याके प्रवर्तनकी बात कही गयी है । सद्विद्याका अर्थ है—'सत् अर्थात् शाश्वत परमानन्द-स्वरूप परमात्माको लक्ष्य करनेवाली विद्या ।' सद्विद्याका लक्ष्य केवल भौतिक समृद्धि नहीं है; क्योंकि भौतिक सम्पत्ति तो असत् अर्थात् परिणामशील अतएव अल्प सुखमय एवं अनेक दु:खोसे भरी हुई है । भौतिक सम्पत्तिसे शाश्वत सुख कभी नही मिल सकता ।

हमारे भारतीय तत्त्वद्रष्टा महर्षियोने 'परा' एवं 'अपरा'—दो विद्याओका उपदेश दिया है—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥

(मुण्डक - उ॰ १ । १ । ४-५)

हमे शारीरिक, मानसिक एव बौद्धिक आदि भौतिक दृष्टिसे उन्नत बनानेवाली जो विद्या है, वह अपरा विद्या है । जिसे हम भौतिक विद्या भी कह सकते है । जिस विद्यासे हमे अपरिणामशील अक्षरपदकी उपलब्धि होती है वह परा विद्या है । जिसे हमारी आत्मिक चेतनाको विकसित करनेवाली अध्यात्म-विद्या भी कह सकते हैं । हमारे ऋषि-मुनियोने मानव-जीवनके सर्वाङ्गीण विकासके लिये इन दोनो विद्याओके प्रचार-प्रसारपर बल दिया है । वे अच्छी तरहसे जानते थे कि जबतक हम भौतिक जगत्मे बसते हैं एवं भौतिक शरीरसे बद्ध हैं, तबतक हमे कुछ मात्रामे भौतिक उन्नतिकी आवश्यकता रहेगी ही । केवल अध्यात्मविद्यासे काम नही चल सकता ।

जीवनमे भौतिक उन्नति एवं अध्यात्म-ज्ञान दोनोकी आवश्यकता है । अतएव हमारी शिक्षा-प्रणालीमे ऋषियोद्वारा उपदिष्ट परा विद्या एवं अपरा विद्या—दोनोका समन्वय नितान्त आवश्यक है । इतना ही नही 'अपरा विद्या' 'परा विद्या' से नियन्त्रित भी होनी चाहिये । अन्यथा कोरी भौतिक विद्या हमारे मानव-मूल्योकी विघातक ही सिद्ध होगी ।

आज सारे विश्वमे तीव्र गतिसे विद्याका प्रचार हो रहा है । हजारो विद्या-शाखाओका विकास हो चुका है । विज्ञान-विद्या प्राय अपनी चरम सीमापर पहुँच चुकी है । आज विश्व 'दिन दूना एवं रात चौगुना'के अनुसार बड़ी तीव्र गतिसे

प्रगति कर रहा है, किंतु हमारी इस प्रगतिकी अवदशा कैसी है ? मान लीजिये कि हम सभी सुविधासे सज्जित मोटरकारसे यात्रा कर रहे हैं । कार बड़ी आरामप्रद है, तीव्र गतिसे भागी जा रही है, सभी यन्त्र ठीक-ठाक हैं, किंतु केवल एक ब्रेक ही नहीं लगती है । अब कारकी और भीतर बैठनेवालोंकी क्या दशा होगी ? इसकी कल्पना कर लीजिये । हम जितनी तीव्र गतिसे भागे जा रहे हैं, उतनी ही तीव्र गतिसे मौतके मुँहमें पहुँच सकते हैं और अन्य अनेकको भी मौतके घाट उतार सकते हैं । ठीक यही परिस्थिति आज हमारे वैज्ञानिक विकासकी है । अध्यात्म-ज्ञानके अभावमे विज्ञान अभिशाप हो गया है । अनेक विनाशक आसुरी शस्त्रोंके आविष्कारसे पूरा विश्व खतरेमें है ।

अपरा विद्या हमें भौतिक समृद्धि तो अवश्य दे सकती है, किंतु इस समृद्धिसे प्राप्त होनेवाला सुख अशान्ति, अस्थिरता, असुरक्षिता एवं भयसे भरपूर सुखाभास मात्र होगा ।

अतः हमारी शिक्षाका लक्ष्य केवल भौतिक उन्नति ही नहीं होना चाहिये । उसका लक्ष्य भौतिक समृद्धिके साथ-साथ शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति होना चाहिये । इसके लिये हमारी शिक्षा-प्रणालीमें न केवल भौतिक विद्याका अपितु अध्यात्म-विद्याका प्राधान्य होना चाहिये । दूसरे शब्दोंमें हमारी शिक्षा-प्रणाली 'सद्विद्यामय' होनी चाहिये ।

हमारे ऋषि-मुनियोंने भौतिक विकासका विरोध नहीं किया है, प्रत्युत उन्होंने यह कहा है कि हमारा भौतिक विकास अध्यात्मकी नींवपर होना चाहिये । हमारी सभी विद्या-शाखाएँ—गणित-विद्या, शिल्प-विद्या, भौतिकी-विद्या, तकनीकी-विद्या, रसायन-विद्या, शरीर-विज्ञान आदि अध्यात्मनिष्ठ होनी चाहिये । तभी हमें ऐहिक एवं पारलौकिक शाश्वत सुखकी उपलब्धि हो सकती है । व्यष्टि एवं समष्टिका ऐसा सर्वाङ्गीण विकास सद्विद्यासे ही सम्भव है, अन्यथा नहीं ।
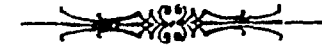
आदर्श बालक

(श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

किसने कहा देश-भक्तोंसे करना तुम सर्वस्व प्रदान ?
किसने कहा दानवीरोंसे दान करो तो होगा मान ?
किसने कहा संत तुलसीसे करो रामका तुम गुण-गान ?
कौन कभी कहता मातासे-समझो शिशुको अपना प्राण ?
किसने कहा कभी बादलसे-शान्त करो धरतीकी प्यास ?
किसके कहनेसे पुष्पोंसे निकला करती मधुर सुवास ?
कौन प्रेरणा रविको देता स्वर्ण-किरणका दे वह दान ?
कौन चन्द्रमासे कहता है, छवि छिटकाओ सुधा-समान ?
किसके कहनेसे दीपकसे अन्धकारका होता नाश ?
कौन कभी जलसे कहता है, शीतलता दो सुधा-समान ?
कोई कभी न कहता इनसे, ऐसे अनुपम काम करो ।
कोई कभी न कहता इनसे, यों सेवा निष्काम करो ॥
ये सज्जन हैं और सज्जनोंको निशि-दिन यह चिन्ता एक—
'दुखियोंको सुख मिले और वे फूलें-फले रहें सविवेक ॥'

भार्गवी वारुणी विद्या

[भृगु-वरुण-संवाद]

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वरुणके पुत्र सुप्रसिद्ध भृगु अपने पिताके समीप आकर विधिपूर्वक प्रणाम करके बैठ गये ।

वरुणने पूछा—'वत्स! क्या इच्छा है?'

भृगुने उत्तर दिया—'भगवन्! मुझे ब्रह्मका बोध करा दीजिये ।'

वरुणने कहा—

अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति ।

'अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी—ये ब्रह्म है ।'

भृगुने पूछा—'ब्रह्मका लक्षण क्या है?'

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति ॥

'जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे ये जीते हैं, फिर प्रयाण करते हुए अन्तमे जिसमे ये लीन होते हैं, उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करो, वही ब्रह्म है ।'

ऐसे उस ब्रह्मको जाननेकी भृगुने उत्कट इच्छा की । इस इच्छासे उन्होने मन और इन्द्रियोकी एकाग्रतारूप तप किया । उस तपसे क्या हुआ? तपसे भृगुने यह जाना कि अन्न ब्रह्म है, क्योंकि अन्नसे ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्नसे जीते है और प्रयाण करते हुए अन्नमे ही लीन होते हैं । यह जानकर भृगु पुन वरुणके पास गये और बोले—'भगवन्! मुझे ब्रह्मका बोध कराइये ।'

वरुणने कहा—'तपसे ब्रह्मको जानो । तप ही ब्रह्म है ।' भृगुने तप किया । उस तपसे क्या हुआ?

तपसे भृगुने जाना कि प्राण ब्रह्म है । कारण, प्राणसे ही सब प्राणी उत्पन्न होते है, उत्पन्न होकर प्राणसे ही जीते है, प्रयाण करते हुए अन्तमे प्राणमे ही लीन होते है ।

इस प्रकार प्राणको ब्रह्म जानकर भृगु पुन अपने पिता वरुणके पास गये और बोले—'भगवन्! ब्रह्मका बोध कराइये ।'

वरुणने कहा—'उसे तपसे जानो । तप ही ब्रह्म है ।' भृगुने तप किया । उस तपसे क्या हुआ?

तपसे भृगुने जाना कि मन ब्रह्म है । कारण, ये सब प्राणी मनसे उत्पन्न होते है, उत्पन्न होकर मनसे ही जीते हैं, प्रयाण करते हुए अन्तमे मनमे ही लीन होते हैं ।

इस प्रकार मनको ब्रह्म जानकर भृगु पुनः अपने पिताके पास गये और बोले—'भगवन्! ब्रह्मका बोध कराइये ।'

वरुणने कहा—'उसे तपसे जानो । तप ही ब्रह्म है ।' भृगुने तप किया । उस तपसे क्या हुआ?

तपसे भृगुने जाना कि विज्ञान ब्रह्म है । कारण, विज्ञानसे ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते है, उत्पन्न होकर विज्ञानसे ही जीते हैं और प्रयाण करते हुए अन्तमे विज्ञानमे ही लीन होते है ।

इस प्रकार विज्ञानको ब्रह्म जानकर भृगु पुन· अपने पिताके पास गये और बोले—'भगवन्! ब्रह्मका बोध कराइये ।'

वरुणने कहा—'उसे तपसे जानो । तप ही ब्रह्म है ।' भृगुने तप किया । उस तपसे क्या हुआ?

तपसे भृगुने जाना कि आनन्द ब्रह्म है । कारण, आनन्दसे ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्दसे ही जीते है और प्रयाण करते हुए अन्तमे आनन्दमे ही लीन होते हैं ।

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । स य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति, प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ।

यही वह भृगुद्वारा वरुणसे प्राप्त 'भार्गवी वारुणी' विद्या है । यह परमाकाशमे स्थित है । जो ऐसा जानता है वह ब्रह्ममे स्थित होता है, वह अन्नवान् और अन्नाद होता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मवर्चसके कारण तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है ।'

नम्र निवेदन और क्षमा-प्रार्थना

भगवत्कृपासे इस वर्ष 'कल्याण'का विशेषाङ्क—'शिक्षाङ्क' पाठकोकी सेवामे प्रस्तुत किया जा रहा है। मानव-जीवनकी सफलता उसकी सुशिक्षापर ही निर्भर करती है। कहते है कि मनुष्य-जन्म भगवत्कृपासे ही प्राप्त होता है। यही एक योनि है, जिसमे जीव अपने भविष्यका निर्माण कर सकता है अर्थात् वह चाहे तो स्वयंको संसारके प्रत्येक बन्धनसे मुक्त कर ले, अथवा इस भवाटवीके बन्धनमें डाल दे। इसीलिये ऋषि-महर्षियोंने कहा है—**'सा विद्या या विमुक्तये'**—विद्या वही है, जो हमे अज्ञानके बन्धनसे विमुक्त कर दे। इसी उद्देश्यसे आर्यजातिके पवित्रहृदय और समदर्शी त्रिकालज्ञ ऋषियोंने चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास) की सुन्दर व्यवस्था की थी। ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोंका पालन करता हुआ ब्रह्मचारी विद्यार्थी जब संयमकी व्यावहारिक शिक्षाके साथ-ही-साथ लौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी विद्याओको पढ़कर सब प्रकारसे स्वस्थ और सयमी होकर गुरुकुलसे निकलता था, तब वह गृहस्थ-आश्रममे प्रवेशकर क्रमश· जीवनको और भी संयममय, सेवामय और त्यागमय बनाता हुआ अन्तमें सर्व-त्याग करके परमात्माके स्वरूपमे निमग्न हो जाता था। यही आर्य-संस्कृतिका स्वरूप था। जबतक देशमे यह आश्रमसम्मत शिक्षा-पद्धति प्रचलित थी, तबतक आर्यसस्कृति सुरक्षित थी और सभी श्रेणीके लोग प्राय सुखी थे। जबसे अनेक प्रकारकी विपरीत परिस्थितियोमे पडकर मोहवश हमने अपनी इस आश्रमसम्मत शिक्षा-पद्धतिको ठुकराया तभीसे हमारी आदर्श आर्य-संस्कृतिमे विकार आने लगे।

आजकी शिक्षामे उपर्युक्त प्रक्रियाका सर्वथा अभाव है, फिर भी आधुनिक शिक्षाविद् सुशिक्षाकी खोज अवश्य कर रहे है। भारत जबसे स्वतन्त्र हुआ, तबसे आजतक शिक्षाकी विधाओपर केवल प्रयोग किये जा रहे हैं। वर्तमान सरकार भी नयी शिक्षा-नीति निर्धारित करना चाहती है। देशमे शिक्षाका स्वरूप क्या हो, कैसी शिक्षा छात्रोंको दी जाय, जिससे उनका जीवन समुन्नत हो सके—इसपर विशेष चर्चाएँ हो रही है, परंतु कोई सटीक समाधान निकल नहीं पा रहा है। कहा जाता है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणालीकी नींव लार्ड मैकालेने सन् १८३५ई०में अपने परिपत्रद्वारा भारतमें डाली थी। उन दिनों भारतवर्षपर अंग्रेजोंका आधिपत्य था—यहाँकी शिक्षा-नीतिके निर्धारणमें उनके कुछ आग्रहपूर्ण विशेष उद्देश्य थे। उन्होंने सर्वप्रथम यहाँके देशवासियोंको मातृभाषासे वञ्चित किया, शिक्षाका माध्यम विदेशी भाषा बनाया। इसमें उनका लक्ष्य था कि भारतवासियोंको तन-मनसे गुलाम बना दिया जाय। उस माध्यमसे जिन्होंने शिक्षा प्राप्त की उन्हें ही जीविकोपार्जनका साधन प्राप्त होना था। भारतकी प्राचीन शिक्षाकी एक दयनीय स्थिति बना दी गयी तथा इसका पठन-पाठन भी इसी दयनीय स्थितिमें उपेक्षित-भावसे पृथक् संस्कृत-विद्यालयोंमे चलाया जाने लगा। जिन लोगोंने सस्कृतका पठन-पाठन किया, वे जीवनपर्यन्त अभाव-ग्रस्त स्थितिमे रहने लगे। उनकी सम्पूर्ण सम्भावनाएँ स्वाभाविक रूपसे कुण्ठित हो गयी।

दुर्भाग्यवश आजतक हम उस शिक्षा-प्रणालीमें आमूल परिवर्तन नहीं कर पाये। हम इस विधासे इतने प्रभावित और अभ्यस्त हो गये है कि शिक्षाके सम्बन्धमें हमारा चिन्तन भारतीय संस्कृतिकी मूल धाराओंसे जुड नहीं पा रहा है। भारतीय शास्त्रोमे शिक्षाके सम्बन्धमे पूर्ण गहराईसे विचार हुआ है। शिक्षाका उद्देश्य लौकिक अभ्युदयके साथ-साथ परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति ही मुख्य है। वस्तुत· सुख-प्राप्तिकी इच्छा मनुष्यकी मूल प्रवृत्ति है, इसलिये आजकल मुख्यरूपसे शिक्षाका उद्देश्य भौतिक समुन्नति ही रह गया है, परंतु भौतिक समुन्नतिसे प्राप्त होनेवाले सुखमें कोई स्थायित्व न होनेके कारण मनुष्य वास्तवमें सुखी नही होता। भारतीय मनीषियोंने जीवको सदा-सर्वदाके लिये सुखी बनानेका मार्ग प्रशस्त किया है। यही कारण है कि भारतीय शास्त्रोमे विद्याके दो रूप प्रस्तुत किये गये है।

द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः.......... अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'— भगवती श्रुति कहती है कि ऐहिक-आमुष्मिक सुख-शान्ति एवं अभ्युदय प्रदान करनेवाली समस्त विद्या 'अपरा' है, पर परिपूर्ण अक्षरतत्त्व परमात्माकी उपलब्धि करानेवाली सर्वोत्तमा विद्या 'परा' नामसे आदृत है। उपर्युक्त विवरणसे यह सुस्पष्ट है कि भारतीय महर्षियोकी विचारधारामे नियन्त्रित भौतिक विज्ञान-कला-कौशलादिकी उन्नतिपूर्वक आध्यात्मिक उन्नयन करते हुए परमात्म-तत्त्वकी उपलब्धि जिस शिक्षाके द्वारा हो, वही शिक्षा सर्वाङ्गपूर्ण आदर्श शिक्षा है। इसीलिये भारतीय मनीषियोने विद्याके द्वारा मनुष्यको मृत्युसे अमृतत्वकी प्राप्ति करानेका सतत प्रयत्न किया है—**'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।'** (ईशोप० ११)।

शिक्षाके सम्बन्धमे आजकल देशमे विशेषरूपसे चर्चाएँ चल रही है। नयी शिक्षा-नीतिका निर्धारण किया जा रहा है। जिसके पक्ष-विपक्षमे समालोचनाएँ भी चल रही है। चूँकि शिक्षा देश, समाज और व्यक्तिके विकासकी मूल भित्ति है, इसलिये यह आवश्यक समझा गया कि इस वर्ष 'कल्याण'का विशेषाङ्क 'शिक्षाङ्क'के रूपमे प्रस्तुत किया जाय, जिसमे अर्वाचीन शिक्षाओके साथ-साथ अपनी प्राचीन और पुरातन भारतीय शिक्षाका पूर्ण दिग्दर्शन हो। साथ ही शिक्षाका वास्तविक स्वरूप तथा इसके मूल उद्देश्यकी भी जानकारी सर्वसाधारणको प्राप्त हो सके।

इस अङ्कमे शिक्षासे सम्बन्धित तात्त्विक निबन्धोके साथ-साथ अनादिकालसे प्रचलित भारतकी विभिन्न शिक्षा-पद्धतियाँ, गुरु-शिष्य-परम्पराका आदर्श, शिक्षाका मूल उद्देश्य, देशकी सस्कृति और सभ्यतापर शिक्षाका प्रभाव, मानवीय गुणोके विकासार्थ शिक्षाका महत्त्व, वर्तमान समयमे शिक्षाके वास्तविक स्वरूपका निर्धारण, सामाजिक और पारिवारिक जीवनमे परस्पर सौहार्दपूर्ण व्यवहार तथा कर्तव्यपालनकी पौराणिक एव वैदिक कथाओका संकलन, महान् शिक्षाविदोके चरित्र-चित्रण तथा शिक्षा-सम्बन्धी उनके विचार और भारत सरकारकी नयी शिक्षा-नीति आदि महत्त्वपूर्ण और सर्वजनोपयोगी विषयोपर सरल, सुगम और सारगर्भित सामग्री देनेका प्रयास किया गया है।

'शिक्षाङ्क'के लिये देशके वर्तमान शिक्षाविदो तथा लेखक महानुभावोने उत्साहपूर्वक जो सहयोग प्रदान किया है, वह अत्यन्त सराहनीय और अनुपम है। भगवत्कृपासे इतने लेख और अन्य सामग्रियाँ प्राप्त हुई कि उन सबको इस अङ्कमे समाहित करना सम्भव नही था, फिर भी विषयकी सर्वाङ्गीणतापर ध्यान रखते हुए अधिकतम सामग्रियोका सयोजन करनेका विशेष प्रयत्न अवश्य किया गया है।

उन शिक्षाविद् लेखक महानुभावोके हम अत्यधिक कृतज्ञ है, जिन्होने कृपापूर्वक अपना अमूल्य समय लगाकर शिक्षा-सम्बन्धी सामग्री तैयारकर यहाँ प्रेषित की है। हम उन सबकी सम्पूर्ण सामग्रीको इस विशेषाङ्कमे स्थान न दे सके, इसका हमे खेद है। इसमे हमारी विवशता ही कारण है, क्योंकि हम निरुपाय थे। इनमेसे कुछ तो एक ही विषयपर अनेक लेख होनेके कारण नही छप सके तथा कुछ विचारपूर्ण अच्छे लेख विलम्बसे आये। जिनमे कुछ लेखोको स्थानाभावके कारण पर्याप्त सक्षिप्त करना पडा और कुछ नही भी दिये जा सके। यद्यपि साधारण अङ्कोमे इनमेसे कुछ अच्छे लेखोको देनेका प्रयास किया जा सकता है, फिर भी बहुत-से लेख अप्रकाशित ही रहेगे। इसके लिये हम लेखक महानुभावोसे हाथ जोडकर विनीत क्षमा-प्रार्थी है।

विशेषाङ्कके प्रकाशनके समय प्राय कुछ कठिनाइयाँ और समस्याएँ भी आती है, पर उनका समाधान भी परमात्म-प्रभुकी कृपासे ही होता है। इस वर्ष 'कल्याण' की साइज तथा छपाई आदिमे कुछ मौलिक परिवर्तन किये गये है, जिसकी सूचना पूर्व अङ्कोमे पाठक महानुभावोको दी जा चुकी है।

'कल्याण'के ग्राहक इधर कुछ वर्षोसे लगातार बढ रहे है। पिछले वर्ष लगभग २५,००० ग्राहकोकी वृद्धि हुई। इसलिये दूसरा सस्करण भी छापना पडा, फिर भी सम्पर्णू माँग नही पूरी की जा सकी। हम भी 'कल्याण'का प्रकाशन-वितरण अधिक सख्यामे करना चाहते है, जिससे अधिकाधिक लोग लाभान्वित हो सके तथा सर्वसाधारणकी

आध्यात्मिक रुचिमे वृद्धि हो। इसी दृष्टिसे छपाई आदिकी आधुनिकतम (टेकनोलाजी) प्रक्रिया अपनायी गयी है। यह अङ्क आफसेट-प्रिंटिंग तथा फोटो-कम्पोज आदिकी नयी मशीनोद्वारा मुद्रित हुआ है। पिछले वर्षतक 'कल्याण' २०×३० इंच साइजके कागजपर छपता रहा है, परंतु इस अङ्कसे यह २२×३३ इंचकी साइजमे छापा जा रहा है। यह भी प्रयत्न किया जा रहा है कि कागज, छपाई और चित्र आदिके स्तरमें भी पर्याप्त विकास हो। कर्तव्यकी दृष्टिसे हम तो केवल प्रयत्न ही कर सकते हैं। विकास तो भगवत्कृपासे ही हो सकेगा।

अब हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों, परम सम्मान्य पवित्रहृदय संत-महात्माओ, आदरणीय शिक्षाविद्, विद्वान् लेखक महानुभावोंके श्रीचरणोमे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रणाम करते है, जिन्होने विशेषाङ्ककी पूर्णतामे किंचित् भी योगदान किया है। सद्विचारोके प्रचार-प्रयासमे वे ही निमित्त है, क्योंकि उन्हींके सद्भावपूर्ण तथा उच्च विचारयुक्त लेखोसे 'कल्याण'को सदा शक्तिस्रोत प्राप्त होता रहता है। हम अपने विभागके तथा प्रेसके अपने उन सभी सम्मान्य साथी-सहयोगियोंको भी प्रणाम करते है, जिनके स्नेहभरे सहयोगसे यह पवित्र कार्य सम्पन्न हो सका है। हम अपनी त्रुटियो और व्यवहार-दोषके लिये उन सबसे क्षमा-प्रार्थी है।

शिक्षाङ्कके सम्पादनमे जिन शिक्षाविदो, संतो और विद्वान् लेखकोसे हमे सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, उन्हे हम अपने मानसपटलसे विस्मृत नही कर सकते। सर्वप्रथम मैं वाराणसीके समादरणीय प० श्रीलालविहारीजी शास्त्रीके प्रति हृदयसे आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होने शिक्षाके अछूते विषयोपर सामग्री तैयारकर निष्कामभावसे अपनी सेवाएँ परमात्म-प्रभुके श्रीचरणोमे समर्पित की हैं। तदनन्तर मै डॉ० श्रीराजेन्द्ररजनजीके प्रति आभार व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता, जिन्होने अर्वाचीन शिक्षा-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध कराकर अङ्कके प्रकाशनमे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

डॉ० श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामी, आचार्य श्रीप्रतापादित्यजी एवं अन्य स्नेही महानुभावोंके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता, जिनका सत्परामर्श और सहयोग प्रारम्भसे ही प्राप्त होता रहा है। इस अङ्कके सम्पादनमे अपने सम्पादकीय विभागके पं० श्रीरामाधारजी शुक्ल 'शास्त्री', पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा एव अन्य महानुभावोंने अत्यधिक हार्दिक सहयोग प्रदान किया है। इसके सम्पादन, प्रूफ-संशोधन, चित्र-निर्माण आदि कार्योंमे जिन-जिन लोगोंसे हमें सहृदयता मिली है, वे सभी हमारे अपने हैं, उन्हे धन्यवाद देकर हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

पिछले दिनो परम श्रद्धेय स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज ब्रह्मीभूत हो गये, जिनका 'कल्याण'से अटूट सम्बन्ध था। पूर्वक्रममें वे 'श्रीशान्तनुविहारी द्विवेदी' के रूपमे 'कल्याण'के सम्पादन-विभागके माननीय सदस्य थे। संन्यासाश्रम-ग्रहण करनेके बाद भी 'कल्याण'पर उनका विशेष अनुग्रह बना रहा। सत्पुरुषोके अभावकी पूर्ति तो आजकलके समयमे हो नही पा रही है। भगवान्‌की कृपाका ही सम्बल है। वास्तवमें 'कल्याण'का कार्य भगवान्‌का कार्य है। अपना कार्य भगवान् स्वय करते है, हम तो केवल निमित्तमात्र है।

इस बार 'शिक्षाङ्क'के सम्पादन-कार्यके अन्तर्गत जगन्नियन्ता प्रभु तथा उनकी सत्-शिक्षाओंका चिन्तन, मनन और सत्संगका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा, यह हमारे लिये विशेष महत्त्वकी बात थी। हमे आशा है कि इस विशेषाङ्कके पठन-पाठनसे हमारे सहृदय पाठकोको भी यह सौभाग्य-लाभ अवश्य प्राप्त होगा।

अन्तमे हम अपनी त्रुटियोके लिये आप सबसे पुन क्षमा-प्रार्थना करते हुए दीनवत्सल अकारण-करुणा-वरुणालय परमात्म-प्रभुसे यह प्रार्थना करते है कि वे हमे तथा जगत्‌के सम्पूर्ण जीवोको सद्बुद्धि प्रदान करे, जिससे सभी सत्-शिक्षाकी ओर अग्रसर होकर जीवनके वास्तविक लक्ष्यको प्राप्त कर सके।

—राधेश्याम खेमका
सम्पादक